Printed & Pobiised by Pt. Ramswarup Sharma at the
Sanatan Dharm Press MORADABAD.

❀ श्रीहरिः ❀

महाभारत आश्वमेधिक-पर्वकी

विषयसूची

आश्वमेधिकपर्वकी विषयसूची समाप्त।



मिलने का पता—

सनातनधर्म यन्त्रालय

मुरादाबाद।

॥ श्रीहरिः ॥

महाभारत

आश्वमेधिकपर्व

अश्वमेधिकपर्व

नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीञ्चैव ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥

वैशम्पायन उवाच। कृतोदकन्तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः। पुरस्कृत्य महाबाहुरुत्ततारकुलेन्द्रियः॥ २॥ उत्तीर्य तु महाबाहुर्बाष्पव्याकुललोचनः। पपात तीरे गङ्गाया व्याधविद्ध इव द्विपः ३ तं सीदमानं जग्राह भीमः कृष्णेन चोदितः। मैवमित्यब्रवीच्चैनं कृष्णः परबलार्दनः॥ ४॥ तमार्त्तं पतितं भूमौ श्वसन्तं च पुनः पुनः। ददृशुः पार्थिवा राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ ५॥ तं दृष्ट्वा

श्रीनारायण, नरोंमें उत्तम नर तथा सरस्वती देवीको प्रणाम करके महाभारतकी कथाका कीर्त्तन करे॥ १॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–राजा धृतराष्ट्रके मृत पुरुषोंको जलदान करचुकने पर शोकसे व्याकुल हुई हैं इन्द्रियें जिनकी ऐसे राजा युधिष्ठिरने उनको अपने आगे कर लिया और फिर नदीके पट पर जाचढ़े २. किनारे पर आते २ इन महाबाहुके नेत्रोंमें आँसू भर आये और जैसे शिकारीका बींधा हुआ हाथी गिर पड़ता है तैसे ही गङ्गाके किनारे पर पछाड खाकर गिर पड़े॥ ३॥ यह देख कृष्णके कहनेसे भीमसेनने गिरे हुए युधिष्ठिरको बैठा किया, शत्रुओंके बलको चूर्ण करने वाले कृष्णने युधिष्ठिरसे कहा, कि–ऐसा नहीं होना चाहिये॥ ४॥ हे राजन्! धर्मपुत्र युधिष्ठिरको भूमि पर पड़े हुए, दुःखी होते हुए और बार २ श्वास लेते हुए राजा-

दीनमनसं गतसत्त्वं नरेश्वरम् । भूयः शोकसमाविष्टाः पाण्डवाः
समुपाविशन् ॥ ६ ॥ राजा तु धृतराष्ट्रश्च पुत्रशोकाभिपीड़ितः ।
वाक्यमाह महाबुद्धिः प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरम् ॥ ७ ॥ उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल
कुरु कार्य्यमनन्तरम् । क्षत्रधर्मेण कौन्तेय जितेयमवनी त्वया ॥८॥
भुंक्ष्व भोगान् भ्रातृभिश्च सुहृद्भिश्च मनोऽनुगान् । न शोचितव्यं
पश्यामि त्वया धर्म्मभृतांवर ॥ ९ ॥ शोचितव्यं मया चैव गान्धा-
र्य्या च महीपते । ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम् ॥१०॥
अश्रुत्वा हितकामस्य विदुरस्य महात्मनः । वाक्यानि सुमहार्थानि
परितप्यामि दुर्म्मतिः ॥ ११ ॥ उक्तवान् विदुरो यन्मां धर्मात्मा
दिव्यदर्शनः । दुर्योधनापराधेन कुलन्ते विनशिष्यति ॥ १२ ॥
स्वस्ति चेदिच्छसे राजन् कुलस्य कुरु मे वचः। वध्यतामेष दुष्टात्मा

ओंने देखा ॥ ५ ॥ उन राजा युधिष्ठिरको दीनमन और उत्साह-
हीन देखकर पाण्डव भी फिर शोकसे दबकर उनके पास बैठ
गए ॥६॥ यह देखकर अपने पुत्रोंके मरणसे दुःखित हुए महा-
बुद्धिमान् प्रज्ञाचक्षु राज धृतराष्ट्रने राजा युधिष्ठिरसे यह कहा,
कि–॥ ७ ॥ हे कुरुसिंह ! उठो और करने योग्य दूसरे कार्मोको
करो, हे कुन्तीनन्दन । तुमने इस पृथिवीको क्षत्रियधर्मके अनु-
सार जीता है ॥ ८ ॥ हे राजन् ! तू अपने मित्र और भाइयोंके
सहित अपने मनचाहे भोगोंको भोग, हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ ! मैं
नहीं देखता, कि–तेरे शोक करनेके योग्य कौनसी बात है ॥९॥
हे राजन् ! शोक तो मुझे और इस गान्धारीको करना चाहिये,
कि–जिनके सौ पुत्र स्वप्नमें मिले हुए धनकी समान नष्ट होगए१०
मेरा हित करना चाहने वाले इस महात्मा विदुरके परम अर्थभरे
वचनोंको न माननेसे मैं दुष्टबुद्धि आज चारों ओरसे दुःख पारहा
हूँ ॥ ११ ॥ दिव्य दृष्टिवाले धर्मात्मा विदुरने तो मुझसे कहा था,
कि–दुर्योधनके अपराधसे तुम्हारे कुलका नाश होजायगा॥१२॥

मन्दो राजा सुयोधनः ॥ १३ ॥ कर्णश्च शकुनिश्चैव नैनं पश्यतु कर्हिचित् । द्यूतसंघातमप्येषामप्रमादेन वारय ॥ १४ ॥ अभिषेचय राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् । स पालयिष्यति वशी धर्मेण पृथिवीमिमाम् ॥ १५ ॥ अथ नेच्छसि राजानं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् । मेढीभूतः स्वयं राज्यं प्रतिगृह्णीष्व पार्थिव ॥१६॥ समं सर्वेषु भूतेषु वर्त्तमानं नराधिप । अनुजीवंतु सर्वे त्वां ज्ञातयो भ्रातृभिः सह ।१७ एवं ब्रुवति कौन्तेय विदुरे दीर्घदर्शिनि । दुर्य्योधनमहं पापमन्ववर्त्तं वृथामतिः ॥ १८ ॥ अश्रुत्वा तस्य धीरस्य वाक्यानि मधुराण्यहम् । फलं प्राप्य महद्दुःखं निमग्नः शोकसागरे ॥ १९ ॥ वृद्धौ

हे राजन् ! यदि तुम अपने कुलका कल्याण चाहते हो तो मेरा कहना करो–इस दुष्टात्मा मन्दबुद्धि दुर्योधनको मारडालो॥१३॥ और कर्ण तथा शकुनिसे इसको कभी न मिलने दो और सब प्रकारसे प्रमादहीन (सावधान) रहकर इनके जुएके जमघटोंको रोको ॥ १४ ॥ और धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका राज्यसिंहासन पर तिलक करदो, वह इन्द्रियोंको वशमें रखकर इस पृथ्वीका धर्मसे पालन करेंगे ॥ १५ ॥ यदि तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका राज्य करना नहीं चाहते होओ तो हे राजन् ! तुम स्वयं यज्ञमें मेढ (यज्ञमें वधका पशु) बनकर राज्यको ग्रहण करो ॥१६॥ और हे राजन् ! तुम सबके ऊपर समदृष्टि रक्खो तथा सब तुम्हारे ज्ञाति भाई तुम्हारे आश्रयमें रहकर अपना जीवन निर्वाह करें१७ हे कुन्तीनन्दन ! लंबी दृष्टि वाले विदुरने मुझसे यह बात कही तब भी बुद्धिहीन मैंने पापी दुर्योधनका ही साथ दिया ॥ १८ ॥ उस धीर पुरुषके मधुर वाक्योंको न सुननेके कारण ही परिणाम में मुझे यह दुःख भोगना पडा है और मैं शोकसागरमें डूबगया हूँ ॥ १९ ॥ हे राजन् ! तू अपने मातापिता हम दोनोंको दुःखी

हि तेऽद्य पितरौ पश्य नौ दुःखितौ नृप । न शोचितव्यं भवता पश्यामीह जनाधिप ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु राज्ञा स धृतराष्ट्रेण धीमता । तूष्णींस्वभूव मेधावी तमुवाचाथ केशवः ॥ १ ॥ अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप । सन्तापयति चैतस्य पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥२॥ यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः । देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितॄनपि ॥ ३ ॥ अतिथीनन्नपानेन कामैरन्यैरकिञ्चनान् । विदितं वेदितव्यं ते कर्त्तव्यमपि ते कृतम् ॥ ४ ॥ श्रुताश्च राजधर्मास्ते भीष्माद्भागीरथीसुतात् । कृष्णद्वैपायनाच्चैव नारदाद्विदुरात्तथा ॥५॥ नेमामर्हसि मूढानां वृत्तिं त्वमनुवर्त्तितुम् ।

होते हुए देख, परन्तु हे राजन् ! तेरे शोक करने योग्य कोई बात तो लोकमें मैं देखता नहीं ॥ २० ॥ पहला अध्याय समाप्त ॥१॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहा, तब वह बुद्धिमान् जरा शान्त हुए तब श्रीकृष्णने उनसे यह बात कही, कि-॥ १ ॥ हे राजन् ! यदि चित्तमें अधिक शोक किया जाता है तो वह शोक करने वालेसे पहले मरे हुए पितामहोंको सन्ताप देता है॥२॥इसलिए तुम बडी २ दक्षिणाओं वाले अनेकों यज्ञोंको करो, देवताओंको सोमरससे और पितरोंको स्वधा (श्राद्धविधि) से तृप्त करो ॥ ३ ॥ अतिथिओंको अन्न जल दो (हे महाबुद्धिमान् ! तुम सरीखे पुरुषको ऐसा शोक करना शोभा नहीं देता) इससे समझा जायगा, कि तुमने जानने योग्य को जान लिया और करने योग्य काम किया ॥ ४ ॥ गङ्गानन्दन भीष्मसे तथा कृष्णद्वैपायन व्याससे और नारद तथा विदुरसे तुमने राजधर्म तो सुने ही हैं ॥ ५ ॥ इस प्रकार मूर्खों

पितृपैतामहं वृत्तमास्थाय धुरमुद्वह ॥ ६ ॥ युक्तं हि यशसा क्षात्रं स्वर्गं प्राप्तुमसंशयम् । न हि कश्चिद्धि शूराणां निहतोऽत्र पराङ्मुखः ॥ ७ ॥ त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा । न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन् रणे हताः ॥८॥ एतावदुक्त्वा गोविन्दो धर्म्मराजं युधिष्ठिरम् विरराम महातेजास्तमुवाच युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । गोविन्द मयि या प्रीतिस्तव सा विदिता मम । सौहृदेन तथा प्रेम्णा सदा मय्यनुकम्पसे ॥ १० ॥ प्रियन्तु मे स्यात् सुमहत् कृतं चक्रगदाधर । श्रीमान् प्रीतेन मनसा सर्वं यादवनन्दन ॥ ११ ॥ यदि मामनुजानीयाद्भवान् गन्तुं तपोधनम् । न हि शान्तिं प्रपश्यामि पातयित्वा पितामहम् ॥ १२ ॥

कैसा वर्त्ताव करना तुम्हें शोभा नहीं देता है तुम अपने बाप दादों कैसा वर्त्ताव करो और राज्यके भारको उठाओ ॥६॥ निःसन्देह तुमसरीखे क्षत्रिय पुरुषको योग्य स्वर्ग यश पराक्रम से प्राप्त करना चाहिये (क्यों कि-इस जगत्में शूरोंमें जो रणमेंसे मुख फेरकर भागा है वह कभी मारा ही नहीं गया अथवा जो मारा गया है वह कभी पीठ दिखाकर नहीं भागा) ॥७॥ हे महाराज! शोकको त्यागिये, जो होना था सो होगया, जो इस रणमें मारेगये उनको अब तुम नहीं देखसकते ॥ ८ ॥ महातेजस्वी गोविन्द धर्मराज युधिष्ठिरसे उतना कहकर चुप होगए, तब युधिष्ठिरने उनसे कहा ॥ ६ ॥ युधिष्ठिर बोले, कि-हे गोविन्द ! मेरे ऊपर आपकी जैसी प्रीति है, उसको मैं जानता हूँ, तुम मित्रभाव और प्रेमभावसे सदा ही मेरे ऊपर दया किया करते हो ॥ १० ॥ अब यदि आप मुझे तपोवनमें जानेकी आज्ञा देदें तो हे चक्र और गदाको धारण करनेवाले श्रीमन् यादवनन्दन ! जिसमें मेरा भला हो ऐसे सबकाम आपने मानो प्रेमयुक्त चित्तसे करदिये, पितामहको मारनेके बाद मुझे शान्ति मिलती नहीं

कर्णं च पुरुषव्याघ्रं संग्रामेष्वपलायिनम् । कर्म्मणा येन मुच्येयमस्मात् क्रूरादरिंदम ॥ १३ ॥ कर्म्मणा तद्वियत्स्वेह येन शुध्यति मे मनः । तमेवं वादिनं पार्थ व्यासः प्रोवाच धर्म्मवित् ॥ १४ ॥ सांत्वयन् सुमहातेजाः शुभं वचनमर्थवत् । अकृता ते मतिस्तात पुनर्बाल्येन मुह्यसे ॥१५॥ किमाकारा वयं तात प्रलपाम मुहुर्मुहुः । विदिताः क्षत्रधर्मास्ते येषां युद्धेन जीविका ॥ १६ ॥ यथा प्रवृत्तो नृपतिर्नाधिबन्धेन युज्यसे । मोक्षधर्माश्च निखिला याथातथ्येन ते श्रुताः ॥ १७ ॥ असकृच्चापि सन्देहाश्छिन्नास्ते कामजा मया । अश्रद्दधानो दुर्मेधा लुप्तस्मृतिरसि ध्रुवम् ॥ १८ ॥ मैवं भव न ते युक्तमिदमज्ञानमीदृशम् । प्रायश्चित्तानि सर्वाणि विदितानि च

दीखती ॥११॥१२॥ तथा संग्राममेंसे कभी भी न भागने वाले पुरुषोंमें सिंहसमान कर्णको मारकर मुझे शान्ति नहीं दीखती, हे वैरिनाशक ! जिस कर्मको करने पर मैं इस क्रूर कर्मसे मुक्त होजाऊँ ॥ १३ ॥ वह कर्म मुझे बताइये, मुझे वह कर्म बताइये, कि-जिससे मेरा मन शुद्ध होजाय. कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर जब इस प्रकार कहरहे थे, उस समय धर्मको जाननेवाले व्यासजीने उनसे कहा ॥१४॥ उन महातेजस्वीने समझाते हुए अर्थसे भराहुआ यह वचन कहा, कि-हे तात ! तुझे ऐसा विचार नहीं करना चाहिये, तू इस समय बालकोंकीसी बुद्धिसे मोहमें पडा हुआ है१५हे तात ! हमें बार२ ऐसा प्रलाप क्यों करना चाहिये ? तू क्षत्रियोंके धर्मोंको जानता है, कि-जिनका जीवन युद्धमें ही बीता करता है ॥१६॥ उस धर्मके अनुसार वर्त्ताव करनेवाले तुझे राजा होकर ऐसे मनके दुःखरूप बंधनोंमें नहीं बँधना चाहिये ॥ १७ ॥ और बार २ कामनाके कारणसे उत्पन्न होनेवाले तेरे सब सन्देहोंका मैंने नाश करदिया है, तो भी उसके ऊपर श्रद्धा न रखकर तू निःसन्देह दुर्बुद्धि बनगया है, इसलिए ही तेरी स्मृति नष्ट होगई है॥१८॥

तेऽनघ ॥ १९ ॥ राजधर्माश्च ते सर्वे दानधर्माश्च ते श्रुताः । स कथं सर्वधर्म्मज्ञः सर्वागमविशारदः । परिमुह्यसि भूयस्त्वमज्ञानादिव भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकेपर्वणि अश्वमेधिके पर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

व्यास उवाच । युधिष्ठिर तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः । न हि कश्चित् स्वयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रियाम् ॥ १ ॥ ईश्वरेण च च युक्तोऽयं साध्वसाधु च मानव । करोति पुरुषः कर्म्म तत्र का परिदेवना ॥ २ ॥ आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः । शृणु तत्र यथा पापमकृष्येत भारत ॥ ३ ॥ तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर । तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ४

परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये, तुझे ऐसा अज्ञान (उपदेशको भूल जाना) शोभा नहीं देता, हे निर्दोष ! तू सब प्रकारके प्रायश्चित्तको जानता है ॥ १९ ॥ तूने सब राजधर्म और सब दानधर्म भी सुने हैं, तो भी हे भारत ! सकल धर्मोंको जाननेवाला और सकल शास्त्रोंमें चतुर तू अज्ञानके कारणसे न जाने ऐसे मोह में वार२ क्यों पडजाता है ?॥२०॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥२॥

व्यासजीने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! मेरी समझमें तेरी बुद्धि ठीक काम नहीं देती है, कोई भी मरणके वशमें हुआ प्राणी स्वयं अपनी शक्तिसे कोई भी काम नहीं करता है जैसे अच्छे मनुष्योंको ईश्वर प्रेरणा करता है, ऐसे ही खोटे मनुष्योंको भी ईश्वर प्रेरणा करता है, उसके अनुसार ही पुरुष काम करता है, फिर उसमें शोक काहे का ?॥२॥ आदिसे अन्ततक तू अपने आपको ही पाप कर्म करनेवाला मानता है तो हे भारत ! जिसप्रकार यह पाप दूर होजाय यह बात मैं तुझे बताता हूँ सुन ॥ ३ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य पाप करते हैं वे नित्य तप, यज्ञ और दान करनेसे तर

यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप । पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः ॥५॥ असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम् । प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद्यज्ञाः परायणम् ॥६॥ यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः । ततो देवाः क्रियावन्तो दानवानभ्यधर्षयन् ७ राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत । नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर ॥८॥ यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता । बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥ ९ ॥ यथा च भरतो राजा दौष्यन्तिः पृथिवीपतिः । शाकुन्तलो महावीर्यस्तव पूर्वपितामहः ॥ १० ॥ युधिष्ठिर उवाच । असंशयं वाजिमेधः पावयेत् पृथिवीपतिम् । अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तन्त्वं श्रोतुमिहार्हसि ॥११॥

जाते हैं ॥ ४ ॥ हे राजन् ! हे नरशार्दूल ! यज्ञ, तप और दान से दुष्कर्म करने वाले मनुष्य पवित्र होजाते हैं ॥ ५ ॥ असुर और सुर भी पुण्य करनेके कारणसे यज्ञानुष्ठान किया करते हैं, इसलिए यज्ञको मुख्य मानकर महात्मा पुरुष यज्ञके लिए उद्योग करते हैं ॥ ६ ॥ यज्ञ करनेसे ही देवता अधिक महात्मा बने हैं और यज्ञ करनेवाले देवताओंने ही असुरोंको हराया है ॥ ७ ॥ हे भरतवंशी राजा युधिष्ठिर ! तू राजसूय, अश्वमेध और नरमेध यज्ञोंका आरम्भ कर ॥ ८ ॥ जिसमें बहुतसी दक्षिणायें दीजाती हैं, अनेकों कामनायें पूर्ण कीजाती हैं, अन्न और धन दिया जाता है, ऐसे अश्वमेधयज्ञको जिसप्रकार दशरथनन्दन रामने किया था, जिस प्रकार राजा दुष्यन्त और शकुन्तलाके पुत्र तथा तुम्हारे पूर्वपितामह महापराक्रमी पृथ्वीपति राजा भरतने किया था तैसे ही तू भी विधिपूर्वक कर ॥ ९ ॥ १० ॥ युधिष्ठिरने कहा,–निःसन्देह अश्वमेध यज्ञ पृथिवीको पवित्र करता है, परन्तु मेरे मनमें एक विचार उठा है उसको सुनलेना चाहिये ॥ ११ ॥ हे द्विजवर ! इस बड़े भारी ज्ञातिनाशको करनेके

इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम । दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तञ्च नास्ति मे ॥१२॥ न तु बालानिमान् दीनानुत्सहे वसु याचितुम् । तथैवार्द्रव्रणान कृच्छ्रे वर्त्तमानान्नृपात्मजान् १३ स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थं द्विजसत्तम । करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ॥१४॥ दुर्योधनापराधेन वसुधा वसुधाधिपाः । प्रनष्टा योजयित्वास्मानकीर्त्या मुनिसत्तम ॥ १५ ॥ दुर्योधनेन पृथिवी क्षयिता वित्तकारणात् । कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥ १६ ॥ पृथिवी दक्षिणा चात्र विधिः प्रथमकल्पितः । विद्वद्भिः परिदृष्टोऽयं शिष्टो विधिविपर्ययः ॥१७॥ न च प्रतिनिधिं कर्त्तुं चिकीर्षामि तपोधन । अत्र मे भगवन् सम्यक्

बाद मैं थोडासा भी दान नहीं करसकता,क्योंकि-मेरे पास धन नहीं है ॥ १२ ॥ तथा इन ताजे घाव वाले और संबन्धियोंका तथा मनुष्योंका नाश होजानेसे दुःखमें पड़े हुए इन बिचारे दीन राजाओंसे धन माँगनेकी भी मेरी हिम्मत नहीं पडती १३ हे द्विजवर ! स्वयं ही पृथिवीका नाश करके शोकमें डूबाहुआ मैं यज्ञ करनेके लिये कर भी कैसे ले सकता हूँ ? ॥ १४ ॥ हे मुनिवर ! दुर्योधनके अपराधसे पृथिवीके सब ही राजाओंका नाश होगया है और इसका अपयश हमे लगा है ॥ १५ दुर्योधनने धनके लिये पृथिवीका नाश करडाला और उस दुष्टबुद्धि दुर्योधनका खजाना भी तो खाली पडा है ॥ १६ ॥ इस यज्ञमें पृथिवीकी दक्षिणा देनी चाहिये, यह पहली मुख्य विधि है और इससे उलटी विधि भी विद्वानोंने विचारी है और उसको शिष्ट माना है ॥ १७ ॥ हे तपोधन ! इसमें प्रतिनिधिसे (एकके स्थानमें दूसरी वस्तु देकर जैसे कि-पृथिवीके स्थानमें उसका मूल्य देकर) काम चलानेकी मेरी इच्छा नहीं है, इसलिये हे भगवन् ! इस विषयमें मुझे उचित संमति दीजिये ॥ १८ ॥

साचिव्यं कर्त्तुमर्हसि ॥ १८ ॥ एवमुक्तस्तु पार्थेन कृष्णो द्वैपायनस्तदा । मुहूर्त्तमनुसञ्चिन्त्य धर्म्मराजानमब्रवीत् ॥१९॥ व्यास उवाच । कोशश्चापि विशीर्णोऽयं परिपूर्णो भविष्यति । विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितम् ॥ २० ॥ उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महात्मनः । तदानयस्व कौन्तेय पर्य्याप्तं तद्भविष्यति २१ युधिष्ठिर उवाच । कथं यज्ञे मरुत्तस्य द्रविणं तत् समाचितम् कस्मिंश्च काले स नृपो बभूव वदताम्वर ॥ २२ ॥ व्यास उवाच । यदि शुश्रूषसे पार्थ शृणु कारन्धमं नृपम् । यस्मिन् काले महावीर्य्यः स राजासीन्महाधनः ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच । शुश्रूषे तस्य धर्म्मज्ञ राजर्षेः परिकीर्त्तनम् ।

युधिष्ठिरने कृष्ण द्वैपायन (व्यासजी) से इस प्रकार कहा तब एक मुहूर्त्त तक अनुकूल विचार करके उन्होंने धर्मराजसे यह बात कही, कि-॥ १९ ॥ दुर्योधनका यह खाली हुआ खजाना भी छलाछल भरजायगा, हे युधिष्ठिर ! हिमालय पर्वत पर धन पड़ा है॥२०॥महात्मा मरुत्तके यज्ञके समय ब्राह्मणोंने उसको तहाँ डालदिया था, (क्योंकि-ब्राह्मणोंसे चल नहीं सका था) हे कुन्तीनन्दन उसको मँगवालो तो तुम्हारा काम सधजायगा ॥ २१ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-मरुत्तके इस यज्ञमें तहाँ इतना धन कैसे इकट्ठा कियागया था ? हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! यह राजा किस समय हुआ था ? ॥ २२ ॥ व्यासजीने कहा, कि-हे पार्थ ! राजा करन्धमके पुत्र अविक्षित्के विषयमें सुननेकी तेरी इच्छा है तो सुन, महापराक्रमी और महाधनी वह राजा जिस समय राज्य करता था उसको भी सुन ॥ २३ ॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-मैं उस धर्मात्मा राजर्षिके यशको सुनना

द्वैपायन मरुत्तस्य कथां प्रब्रूहि मेऽनघ ॥ १ ॥ व्यास उवाच ।
आसीत् कृतयुगे तात मनुर्दण्डधरः प्रभुः । तस्य पुत्रो महाबाहुः
प्रसन्धिरिति विश्रुतः ॥२॥ प्रसन्धेरभवत् पुत्रः क्षुप इत्यभिविश्रुतः ।
क्षुपस्य पुत्र इक्ष्वाकुर्महीपालोऽभवत् प्रभुः ॥ ३ ॥ तस्य पुत्रशतं
राजन्नासीत् परमधार्मिकम् । तांस्तु सर्वान् महीपालानिक्ष्वाकुर-
करोत् प्रभुः ॥४॥ तेषां ज्येष्ठस्तु विंशोऽभूत् प्रतिमानं धनुष्मताम् ।
विंशस्य पुत्रः कल्याणो विविंशो नाम भारत ॥ ५ ॥ विविंशस्य
सुता राजन् बभूवुर्दश पञ्च च । सर्वे धनुषि विक्रान्ता ब्रह्मण्याः
सत्यवादिनः ॥ ६ ॥ दानधर्मरताः शान्ताः सततं प्रियवादिनः ।
तेषां ज्येष्ठः खनीनेत्रः स तान् सर्वानपीडयत् ॥ ७ ॥ खनीनेत्रस्तु
विक्रान्तो जित्वा राज्यमकण्टकम् । नाशकद्रक्षितुं राज्यं नान्वर-

---

चाहता हूँ, हे निर्दोष द्वैपायन ! उस मरुत्तकी कथा सुनाइये॥१॥
व्यासजीने कहा, कि-हे तात ! सत्ययुगमें राजदण्डको धारण
करनेवाला मनु नामका एक राजा था, उसका पुत्र महाबाहु
प्रसन्धि बड़ा विद्वान् था ॥ २ ॥ प्रसन्धिका पुत्र क्षुप इस नाम
से प्रसिद्ध हुआ, क्षुपका पुत्र इक्ष्वाकु पृथ्वीका पालन करनेवाला
राजा हुआ ॥ ३ ॥ हे राजन् ! उसके परमधर्मात्मा सौ पुत्र हुए,
उन सबोंको राजा इक्ष्वाकुने महीपाल बनाया ॥४॥ उन सबोंमें
बड़ा पुत्र विंश धनुषधारियोंका उदाहरण था, हे भरत ! विंशका
पुत्र मङ्गलरूप विविंश हुआ ॥ ५ ॥ हे राजन् ! विविंशके दश
और पाँच (पन्द्रह) पुत्र थे, वे सब धनुषविद्याके पारगामी,
ब्राह्मणोंका सन्मान करनेवाले, सत्यवादी ॥६॥ दानधर्मके प्रेमी,
शान्त और नित्य प्रिय बोलनेवाले थे, उन सबोंमें बड़ा पुत्र
खनीनेत्र सब भाइयोंको पीडा दिया करता था ॥ ७ ॥ पराक्रमी
खनीनेत्र उन सबोंको जीतकर निष्कण्टक राज्य करने लगा,
परन्तु राज्यकी रक्षा नहीं कर सका और प्रजाके लोग भी उससे

व्ययन्त तं प्रजाः ॥८॥ तमपास्य च तद्राज्ये तस्य पुत्रं सुवर्चसम् । अभ्यषिञ्चन्त राजेन्द्र मुदिता ह्यभवंस्तदा ॥ ९ ॥ स पितुर्विक्रियां दृष्ट्वा राज्यान्निरसनञ्च तत् । नियतो वर्त्तयामास प्रजाहितचिकीर्षया ॥१०॥ ब्रह्मण्यः सत्यवादी च शुचिः शमदमान्वितः । प्रजास्तं चान्वरज्यन्त धर्मनित्यं मनस्विनम् ॥११॥ तस्य धर्मप्रवृत्तस्य व्यशीर्यत् कोशवाहनम् । तं क्षीणकोशं सामन्ताः समन्तात् पर्य्यपीडयन् १२ स पीड्यमानो बहुभिः क्षीणकोशाश्ववाहनः । आर्त्तिमार्च्छत् परां राजा सह भृत्यैः पुरेण च ॥१३॥ न चैनमभिहन्तुं ते शक्नुवन्ति बलक्षये । सम्यग्वृत्तो हि राजा स धर्मनित्यो युधिष्ठिर ॥ १४ ॥ यदा तु परमामार्त्तिं गतोऽसौ सपुरो नृपः । ततः प्रदध्मौ स करं

प्रसन्न नहीं रहते थे ॥८॥ हे राजेन्द्र ! प्रजाओंने उसको हटाकर उस राज्यमें उसके पुत्र सुवर्चसका अभिषेक करदिया तब वे सब प्रसन्न हुए ॥ ९ ॥ अपने पिताकी उलटी दशाको देखकर और उसको प्रजाओंने राज्यमेंसे बाहर निकालदिया, यह देखकर वह सुवर्चस प्रजाओंका हित करनेकी इच्छासे इन्द्रियोंको वशमें रखकर बर्त्ताव करता था ॥ १० ॥ वह ब्राह्मणोंका पूजक, सत्यवादी, पवित्र, शान्त और जितेन्द्रिय था, उस नित्य धर्मका पालन करनेवाले, उदारचित्त राजासे प्रजाके लोग प्रसन्न रहते थे ।११॥ परन्तु धर्माचरणमें लगे हुए उस राजाके यहाँ खजानेकी और वाहनोंकी कमी होगई और जिसके खजानेमें कमी आगई थी ऐसे उस राजाको उसके सामन्त राजे सतानेलगे ॥१२॥ जिसका खजाना और वाहन क्षीण होगये थे ऐसे उस राजाको जब बहुतसे लोग सताने लगे तो वह अपने सेवक और पुरवासियोंसहित बड़ा ही दुःखी हुआ ॥१३॥ हे युधिष्ठिर ! इस राजाके (धन वाहनादि न रहनेसे) बलका नाश होगया था, तो भी दूसरे राजे उसको मार नहीं सके, क्योंकि-यह राजा नित्य धर्म

प्रादुरासीत्ततो बलम् ॥ १५ ॥ ततस्तानजयत् सर्वान् प्रातिसीमा-
न्नराधिपान् । एतस्मात् कारणाद्राजन् विश्रुतः स करन्धमः १६
तस्य कारन्धमः पुत्रस्त्रेतायुगमुखेऽभवत् । इन्द्रादनवरः श्रीमान् देवै-
रपि सुदुर्जयः ॥ १७ ॥ तस्य सर्वे महीपाला वर्त्तन्ते स्म वशे
तदा । स हि सम्राडभूत्तेषां वृत्तेन च बलेन च ॥१८॥ अविक्षिन्नाम
धर्मात्मा शौर्य्येणेन्द्रसमोऽभवत् । यज्ञशीलो धर्म्मरतिर्धृतिमान
संयतेन्द्रियः ॥ १९ ॥ तेजसादित्यसदृशः क्षमया पृथिवीसमः ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या हिमवानिव सुस्थिरः ॥ २० ॥ कर्म्मणा
मनसा वाचा दमेन प्रशमेन च । मनांस्याह्ल । दयामास प्रजानां स
महीपतिः ॥ २१ ॥ य ईजे हयमेधानां शतेन विधिवत् प्रभुः ।

का पालन करनेवाला और सदाचारी था ॥१४॥ जब वह राजा अपने नगरवासियों सहित बहुत दुःखी होने लगा, तब उसने अपने हाथकी मुट्ठीमें फूँक मारकर बजाया और उसमेंसे सेना प्रकट होगई ॥१५॥ तब उसने अपनी सीमा परके सब राजाओं को जीत लिया, हे राजन् ! इस कारण वह राजा करन्धम नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१६॥ उसका पुत्र कारन्धम त्रेतायुगके आरम्भ में उत्पन्न हुआ था, वह इन्द्रसे कम श्रीमान् नहीं था और उसको देवता भी कठिनसे जीत सकते थे ॥ १७ ॥ उस समय सब राजे उसके वशमें रहते थे, वह सदाचारसे और बलसे भी उन सबों का चक्रवर्त्ती बनगया था ॥ १८ ॥ उस धर्मात्माका नाम अविक्षित् था और शूरतामें इन्द्रकी समान था, वह यज्ञ करनेवाला, धर्म पर प्रेम करनेवाला, धैर्यधारी और इन्द्रियोंको वशमें रखने वाला था ॥ १९ ॥ वह प्रतापमें सूर्यकी समान, क्षमा (सहन शीलता) में पृथिवीकी समान, बुद्धिमानीमें बृहस्पतिकी समान और स्थिरतामें हिमालयकी समान था ॥ २० ॥ वह राजा मनसा, वाचा, कर्मणा, इन्द्रियोंको वशमें करके शान्तिके द्वारा

याजयामास यं विद्वान् स्वयमेवाङ्गिराः प्रभुः ॥ २२ ॥ तस्य पुत्रोऽतिचक्राम पितरं गुणवत्तया । मरुत्तो नाम धर्म्मज्ञश्चक्रवर्ती महायशाः ॥ २३ ॥ नागायुतसमप्राणः साक्षाद्विष्णुरिवापरः । स यक्ष्यमाणो धर्मात्मा शातकुम्भमयान्युत ॥ २४ ॥ कारयामास शुभ्राणि भाजनानि सहस्रशः । मेरुं पर्वतमासाद्य हिमवत्पार्श्व उत्तरे ॥ २५ ॥ कांचनः सुमहान् पादस्तत्र कर्म्म चकार सः । ततः कुण्डानि पात्रीश्च पिठराण्यासनानि च ॥ २६ ॥ चक्रुः सुवर्णकर्त्तारो येषां संख्या न विद्यते । तस्यैव च समीपे तु यज्ञवाटो बभूव ह ॥ २७ ॥ ईजे तत्र स धर्मात्मा विधिवत् पृथिवीपतिः । मरुत्तः सहितैः सर्वैः प्रजापालैर्नराधिपः ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि सम्वर्त्त-मरुत्तीये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

प्रजाओंके मनोंको प्रसन्न रखता था ॥ २१ ॥ जिस राजाने विधिपूर्वक सौ अश्वमेध यज्ञ किये थे और विद्वान् तथा समर्थ अङ्गिरा ऋषिने स्वयं उसको यज्ञ कराए थे ॥ २२ ॥ उसका पुत्र गुणोंमें अपने पितासे बढ़गया उसका नाम मरुत्त था और वह चक्रवर्ती था, धर्मको जाननेवाला और बड़ा यशस्वी था॥ २३॥ उसमें हजारों हाथियोंका बल था अर्थात् उसकी सेनामें हजारों हाथी थे, वह मानो साक्षात् दूसरा विष्णु था, उस महात्माको यज्ञ करनेकी इच्छाहुई, इसलिए उसने सुवर्णके चमकदार हजारों पात्र बनवाए और हिमालयके उत्तरी भागमें सुमेरु पर्वत पर जाकर, जहाँ बड़े, पादवाली कांचनकी भूमि है तहाँ अपने काम का आरम्भ किया, तहाँ इतने तौले, लोटे, पटले और चौकी सुनारोंने बनाये कि जिनकी गिनती नहीं होसकी, उसके समीपमें ही यज्ञका मण्डप बनवाया गया ॥ २४–२७ ॥ उस धर्मात्मा पृथिवीपति राजा मरुत्तने तहाँ सब राजाओंको साथमें लेकर एक यज्ञ किया ॥ २८ ॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं वीर्य्यः समभवत् स राजा वदताम्वर । कथञ्च जातरूपेण समयुज्यत स द्विज ॥ १ ॥ क च तत् साम्प्रतं द्रव्यं भगवन्नवतिष्ठते । कथञ्च शक्यमस्माभिस्तदवाप्तुं तपोधन ॥२॥ व्यास उवाच । असुराश्च सुराश्चैव दक्षस्यासन् प्रजापतेः। अपत्यं बहुलं तात तेऽस्पर्द्धन्त परस्परम् ॥ ३ ॥ तथैवाङ्गिरसः पुत्रौ व्रततुल्यौ बभूवतुः। बृहस्पतिर्बृहत्तेजाः सम्वर्त्तश्च तपोधनः ४ तावतिस्पर्द्धिनौ राजन् पृथगास्तां परस्परम्। बृहस्पतिः स सम्वर्त्तं बाधते स्म पुनः पुनः ॥ ५ ॥ स बाध्यमानः सततं भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत । अर्थानुत्सृज्य दिग्वासा वनवासमरोचयत् ॥ ६ ॥ वासवोऽप्यसुरान् सर्वान् विजित्य च निपात्य च। इन्द्रत्वं प्राप्य लोकेषु ततो वव्रे पुरोहितम् ।७॥ पुत्रमङ्गिरसो ज्येष्ठं विप्रज्येष्ठं बृहस्पतिम् ।

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! वह राजा ऐसा शक्तिमान् कैसे होगया और हे द्विज! उसने इतना अधिक सुवर्ण कैसे पाया ? ॥ १ ॥ और हे भगवन् ! इस समय वह द्रव्य कहाँ है ? हे तपोधन ! हम उस धनको कैसे पासकते हैं ? ॥ २ ॥ व्यासजीने कहा कि-दक्ष प्रजापतिके देवता और असुर नामकी बहुतसी सन्तान थी, हे तात ! ये आपसमें हिरस रखते थे ।३। तथा अङ्गिराके दो पुत्र थे, जो आचरणमें एक समान थे, उनमें बृहस्पति महातेजस्वी था और संवर्त्त तपोधन था ॥४॥ ये दोनों भी आपसमें हिरस रखते थे, हे राजन्! इनमें बृहस्पति संवर्त्तको बार २ सताता था ॥ ५ ॥ हे राजन् ! बड़े भाईके बार २ सतानेसे सम्वर्त्तने अपनी संपत्तिको छोड़कर केवल दिगम्बर होकर वनमें रहना अच्छा समझा ॥६॥ इस समय इन्द्रने भी सब असुरोंको जीतकर और उनका नाश करके त्रिलोकीमें इन्द्र पद पाया और पुरोहितरूपसे, अङ्गिराके बड़े पुत्र ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ बृहस्पतिको स्वीकार किया, पहले राजा करन्धम अङ्गिराका

याज्यस्त्वङ्गिरसः पूर्वमासीद्राजा करन्धमः ॥ ८ ॥ वीर्य्येणाप्रतिमो लोके वृत्तेन च बलेन च । शतक्रतुरिवौजस्वी धर्मात्मा संशितव्रतः ॥ ९ ॥ वाहनं यस्य योधाश्च मित्राणि विविधानि च । शयनानि च मुख्यानि महार्हाणि च सर्वशः ॥ १० ॥ ध्यानादेवाभवद्राजन् मुखवातेन सर्वशः । स्वगुणैः पार्थिवान् सर्वान् वशे चक्रे नराधिपः ॥ ११ ॥ संजीव्य कालमिष्टं च सशरीरो दिवङ्गतः । बभूव तस्य पुत्रस्तु ययातिरिव धर्मवित् ॥ १२ ॥ अविक्षिन्नाम शत्रुजित् स्ववशे कृतवान्महीम् । विक्रमेण गुणैश्चैव पितेवासीत् स पार्थिवः ॥ १३ ॥ तस्य वासवतुल्योऽभून्मरुत्तो नाम वीर्य्यवान् । पुत्रस्तमनुरक्ताभूत् पृथिवी सागराम्बरा ॥ १४ ॥ स्पर्द्धते स स्म

यजमान था ॥ ७ ॥ ८ ॥ वह जगत्में पराक्रम, आचार और बलमें अनुपम था, इन्द्रकी समान ओजस्वी धर्मात्मा और दृढ़-व्रतका पालन करनेवाला था ॥ ९ ॥ हे राजन् ! उसने ध्यान धरकर केवल मुखके पवनके बलसे ही चारों दिशाओंमेंसे वाहन, योधा, नानाप्रकारके मित्र और मुख्य तथा बहुमूल्य नानाप्रकारके बिस्तर पालिये थे और उस राजाने अपने गुणके बलसे चारों ओरके राजाओंको वशमें करलिया था ॥ १०—११ ॥ उसने जबतक चाहा तबतक जीवित रहकर इस लोकके शरीरके सहित ही वह स्वर्गमें चलागया और उसका पुत्र अविक्षित् धर्मको जाननेवाले ययातिकी समान राजा हुआ ॥ १२ ॥ वैरियोंको जीतनेवाले अविक्षित्ने पृथिवीको अपने वशमें करलिया, वह इन्द्रकी समान पराक्रमी राजा पराक्रम और गुणोंमें अपने पिताकी समान ही था ॥ १३ ॥ उसके मरुत्त नामका पुत्र हुआ, उसके ऊपर सागररूप वस्त्रवाली पृथिवी प्रेम रखती थी अर्थात् वह संसारभरका प्यारा था ॥ १४ ॥ वह सदा देवराज इन्द्रके साथ स्पर्धा रखता था तथा हे पाण्डुनन्दन ! इन्द्र भी मरुत्तके साथ

सततं देवराजेन नित्यदा । वासवोऽपि मरुत्तेन स्पर्द्धते पाण्डुनंदन ॥ १५ शुचिः स गुणवानासीन्मरुत्तः पृथिवीपतिः । यतमानोऽपि यं शक्रो न विशेषयति स्म ह ॥ १६ ॥ सोऽशक्नुवन् विशेषाय समाहूय बृहस्पतिम् । उवाचेदं वचो देवैः सहितो हरिवाहनः ॥ १७ ॥ बृहस्पते मरुत्तस्य मास्म कार्षीः कथञ्चन । दैवं कर्माथ पित्र्यं वा कर्तासि मम चेत् प्रियम् ॥ १८ ॥ अहं हि त्रिषु लोकेषु सुराणां च बृहस्पते । इन्द्रत्वं प्राप्तवानेको मरुत्तस्तु महीपतिः ॥ १९ ॥ कथं ह्यमर्त्यं ब्रह्मंस्त्वं याजयित्वा सुराधिपम् । याजये मृत्युसंयुक्तं मरुत्तमविशङ्कया ॥ २० ॥ मां वा वृणीष्व भद्रन्ते मरुत्तं वा महीपतिम् । परित्यज्य मरुत्तं वा यथाजोषं भजस्व माम् ॥ २१ ॥ एवमुक्तः स कौरव्य देवराज्ञा बृहस्पतिः । मुहूर्त-

---

स्पर्धा रखता था ॥१५॥ राजा मरुत्त पवित्र और गुणवान् था, इन्द्र उद्योग करने पर भी उससे बढकर नहीं होसका ॥१६॥ उससे बढकर होनेमें असमर्थ होनेके कारण एक समय इन्द्रने देवताओंकी संमतिसे बृहस्पतिको बुलवाकर यह बात कही ॥१७॥ इन्द्रने कहा, कि—बृहस्पति ! मुझे प्रसन्न करना हो तो किसी प्रकार भी मरुत्तका दैवकर्म (यज्ञादि) और पितृकर्म (श्राद्ध आदि) तुम न कराओ ॥१८। हे बृहस्पति ! अकेले मैंने ही त्रिलोकीमें इन्द्रपद पाया है और यह मरुत्त तो केवल पृथिवीका ही एक राजा है ॥ १९ ॥ हे ब्राह्मण ! अमर सुरराजको यज्ञ कराकर, तू मरणधर्मा मरुत्तको निःसन्देह होकर कैसे यज्ञ कराता है ? अर्थात् बडोंकी पुरोहिताई करनेवालेको छोटोंकी पुरोहिताई करना शोभा नहीं देता है ॥ २० ॥ तुम अपना कल्याण समझो तो मुझे छोडकर राजा मरुत्तको यजमान बनालो और अच्छा मालूम हो तो मरुत्तको सर्वथा त्यागकर आनन्दसे मुझे यजमान बनाओ ॥ २१ ॥ हे युधिष्ठिर ! देवराज इन्द्रने बृहस्पतिसे इस

पित्र संचिन्त्य देवराजानमब्रवीत् ॥ २२ ॥ त्वं भूतानामधिपति-
स्त्वयि लोकाः प्रतिष्ठिताः । नमुचेर्विश्वरूपस्य निहन्ता त्वं बलस्य
च ॥ २३ ॥ त्वमाजहर्थ देवानामेको वीरः श्रियं पराम् । त्वं
बिभर्षि भुवं द्यां च सदैव बलसूदन ॥२४॥ पौरोहित्यं कथं कृत्वा
तव देव गणेश्वर । याजयेयमहं मर्त्यं मरुत्तं पाकशासन ॥२५॥
समाश्वसिहि देवेन्द्र नाहं मर्त्यस्य कर्हिचित् । ग्रहीष्यामि स्रुवं
यज्ञे शृणु चेदं वचो मम ॥ २६ ॥ हिरण्यरेता नोष्णः स्यात्
परिवर्तेत मेदिनी । भासन्तु न रविः कुर्यान्न तु सत्यं चलेन्मयि २७
वैशम्पायन उवाच । बृहस्पतिवचः श्रुत्वा शक्रो विगतमत्सरः ।
प्रशंस्यैनं विवेशाथ स्वमेव भवनं तदा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि
सम्वर्तमरुत्तीये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

प्रकार कहा, तब मुहूर्तभर विचार करके उन्होंने देवराजसे इस
प्रकार कहा, कि–॥ २२ ॥ तुम भूतोंके पति हो, ये सब लोक
तुम्हारे ही आधार पर ठहरेहुए हैं, नमुचि, विश्वरूप और बलका
नाश करनेवाले तुम ही हो ॥ २३ ॥ देवताओंमें एक तुमने ही
वीरश्री (पराक्रमरूप धन) को हरलिया है, हे बल दैत्यके
नाशक ! तुम ही सदा भूमि और स्वर्गको धारण करते हो २४
हे देवगणोंके स्वामी इन्द्र ! तुम्हारा पुरोहित बनकर मैं मरण-
धर्मी मरुत्तको कैसे यज्ञ करासकता हूँ ? ॥ २५ ॥ हे देवेन्द्र !
आप विश्वास रखिये–मैं आजसे मरणधर्मा मनुष्योंके यज्ञमें
कभी स्रुवा नहीं लूँगा, इसके सिवाय मेरी इस बातको भी
सुनो–॥ २६ ॥ अग्नि चाहे ठण्डा पडजाय, पृथिवी चाहे उलट
पुलट होजाय और चाहे सूर्य प्रकाश करना छोड देय, परन्तु मेरा
सत्य वचन नहीं टलेगा ॥ २७ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि–बृह-
स्पतिकी बात सुनकर इन्द्रका मत्सर जाता रहा और बृहस्पतिकी
प्रशंसा करके अपने मन्दिरको लौटगया॥२८॥ पाँचवाँ अध्याय

व्यास उवाच। अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। बृहस्पतेश्च संवादं मरुत्तस्य च धीमतः॥ १॥ देवराजस्य समयं कृतमाङ्गिरसेन ह। श्रुत्वा मरुत्तो नृपतिर्यज्ञमाहारयत् परम्॥ २॥ सङ्कल्प्य मनसा यज्ञं करन्धमसुतात्मजः। बृहस्पतिमुपागम्य वाग्मी वचनमब्रवीत्॥ ३॥ भगवन् यन्मया पूर्वमभिगम्य तपोधन। कृतोऽभिसन्धिर्यज्ञस्य भवतो वचनाद् गुरो॥ ४ तमहं यष्टुमिच्छामि सम्भाराः सम्भृताश्च मे। याज्योऽस्मि भवतः साधो तत् प्राप्नुहि विधत्स्व च॥ ५॥ बृहस्पतिरुवाच। न कामये याजयितुं त्वामहं पृथिवीपते। वृतोऽस्मि देवराजेन प्रतिज्ञातञ्च तस्य मे॥ ६॥ मरुत्त उवाच। पित्र्यमस्मि तव क्षेत्रं बहु मन्ये च ते भृशम्। तवास्मि

व्यासजीने कहा, कि इस विषयमें बृहस्पति और बुद्धिमान् मरुत्तके संवादरूप इस इतिहासका उदाहरण देते हैं॥१॥ अङ्गिराके पुत्र बृहस्पतिने इन्द्रको वचन देदिया है, यह सुनकर राजा मरुत्तने एक बड़े यज्ञका आरम्भ किया॥ २॥ करन्धमके पुत्रका पुत्र मनमें यज्ञ करनेका सङ्कल्प करके बृहस्पतिके पास गया और बोलनेमें चतुर उस राजाने बृहस्पतिसे यह बात कही, कि—॥३॥ हे भगवन्! हे तपोधन! हे गुरो! आपने मुझसे पहले कहा था, उस आपके कहनेके अनुसार ही मैंने यज्ञ करनेका निश्चय किया है॥ ४॥ अब मैं उस यज्ञको करना चाहता हूँ, मैंने सब सामग्रियें इकट्ठी करली हैं, हे साधो! मैं आपका यजमान हूँ (तुम मेरे पुरोहित हो) इसलिये इन सामग्रियोंको लीजिये और मुझे यज्ञ कराइये॥५॥ बृहस्पतिने कहा, कि—हे राजन्! मैं तुम्हें यज्ञ कराना नहीं चाहता, इन्द्रने मुझे अपना पुरोहित बना लिया है और उनसे मैंने भी प्रतिज्ञा करली है॥६॥ मरुत्तने कहा, कि—अपने बाप दादाओंके समयसे मैं आपका यजमान हूँ (तुम मेरे पुरोहित हो) और मैं आपका बड़ा मान्य करता हूँ, इसलिये मैं

याज्यतां, मासो भजमानं भजस्व माम् ॥ ७ ॥ बृहस्पतिरुवाच ।
अमर्त्यं याजयित्वाहं याजयिष्ये कथं नरम् । मरुत्त गच्छ वा मा वा
निवृत्तोऽस्म्यद्य याजनात् ॥ ८ ॥ न त्वां याजयिताऽस्म्यद्य वृणु त्वं
यमिहेच्छसि । उपाध्यायं महाबाहो यस्ते यज्ञं करिष्यति ॥ ९ ॥
व्यास उवाच । एवमुक्तस्तु नृपतिर्मरुत्तो व्रीडितोऽभवत् ॥ प्रत्या-
गच्छन् सुसंविग्नो ददर्श पथि नारदम् ॥ १० ॥ देवर्षिणा समा-
गम्य नारदेन स पार्थिवः । विधिवत् प्राञ्जलिस्तस्थावथैनं नार-
दोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥ राजर्षे नातिहृष्टोऽसि कच्चित् क्षेमं तवानघ ।
क्व गतोऽसि कुतश्चेदमप्रीतिस्थानमागतम् ॥ १२ ॥ श्रोतव्यं
चेन्मया राजन् ब्रूहि मे पार्थिवर्षभ । व्यपनेष्यामि ते मन्युं सर्व-

---

आपका यज्ञ कराने योग्य यजमान हूँ, मैं आपका आश्रय रखता हूँ; इसलिये आप मुझे अपनाइये ॥ ७ ॥ बृहस्पतिने कहा, कि-जो मृत्युके वशमें नहीं होता ऐसे अमर्त्यको यज्ञ करानेके बाद मृत्युके वशमें होनेवाले (मनुष्य) को मैं कैसे यज्ञ करासकता हूँ ? इसलिये हे मरुत्त ! तुम जाओ चाहे मत जाओ, मैंने तो अब मृत्युके वशमें होनेवालोंको यज्ञ कराना छोडदिया ॥ ८ ॥ मैं अब तुम्हें यज्ञ करानेवाला (पुरोहित) नहीं रहा, अब जिसको जी चाहे तुम अपना उपाध्याय बनालो हे महाबाहो ! वही तुम्हें यज्ञ करावेगा ॥ ९ ॥ व्यासजीने कहा, कि-बृहस्पतिके ऐसा कहने पर राजा मरुत्त लज्जित होगया और इसप्रकार दिक होकर घरको लौटा आरहा था, कि-मार्गमें नारदजीका दर्शन होगया १० देवर्षि नारदजीसे मिलकर यह राजा विधिपूर्वक हाथ जोड़े हुए खड़ा होगया, तब नारदजीने इससे बूझा ॥ ११ ॥ नारदजी बोले, कि-हे राजन् ! तू अधिक प्रसन्न नहीं मालूम होता, हे निर्दोष ! तेरे यहाँ सब कुशल तो हैं ? तू कहाँ गया था ? और यह अप्रसन्न होनेका कारण कहाँ बनगया ? ॥ १२ ॥ हे उत्तम

यत्नेनैर्नराधिप ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तो मरुत्तस्तु नारदेन महर्षिणा । विप्रलम्भमुपाध्यायात् सर्वमेव न्यवेदयत् १४ मरुत्त उवाच । गतोऽस्म्यङ्गिरसः पुत्रं देवाचार्य्यं बृहस्पतिम् । यज्ञार्थमृत्विजं द्रष्टुं स च मां नाभ्यनन्दत ॥ १५ ॥ मत्याख्यातश्च तेनाहं जीवितं नाद्य कामये परित्यक्तश्च गुरुणा दूषितश्चास्मि नारद ॥ १६ ॥ व्यास उवाच । एवमुक्तस्तु राज्ञा स नारदः प्रत्युवाच ह । अविक्षितं महाराज वाचा संजीवयन्निव ॥ १७ ॥ नारद उवाच । राजन्नङ्गिरसः पुत्रः सम्वर्त्तो नाम धार्मिकः चंक्रमीति दिशः सर्वा दिग्वासा मोहयन् प्रजाः ॥ १८ ॥ तं गच्छ यदि याज्यं त्वान्न वाञ्छति बृहस्पतिः । प्रसन्नस्त्वां महातेजाः

राजन् ! यदि मेरे सुनने योग्य होय तो मुझे बता, हे राजन् ! सब प्रकारसे उद्योग करके मैं तेरे शोकको दूर करूँगा ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—महर्षि नारदजीने मरुत्तसे इस प्रकार कहा तथा उसने अपना उपाध्यायकी ओरसे जो तिरस्कार हुआ था वह सब कह सुनाया॥१४॥मरुत्तने कहा, कि—मैं अङ्गिराके पुत्र, देवताओंके आचार्य बृहस्पतिके पास यज्ञ करानेको अपना ऋत्विज् बनानेको कहने गया था, परंतु उन्होंने स्वीकार नहीं किया ॥१५॥ उनसे तिरस्कार पाकर अब मैं जीवित रहना नहीं चाहता, हे नारद ! गुरुने मुझे मर्त्यपनेका दोष लगाकर सर्वथा त्याग दिया॥ १६ ॥व्यासजी कहते हैं, कि—हे महाराज ! राजाके ऐसा कहने पर नारदजीने मानो अविक्षित्के पुत्र मरुत्तको जीवन देते हों. इसप्रकार यह बात कही ॥ १७ ॥ नारदजीने कहा, कि—अङ्गिराका संवर्त्त नामका दूसरा धार्मिक पुत्र है, वह प्रजाओंको मोहमें डालता हुआ दिगम्बर बनकर सब दिशाओंमें घूमता फिरता है ॥ १८ ॥ यदि बृहस्पति तुम्हें यजमान बनाना नहीं चाहते तो तुम उनके पास जाओ, यदि संवर्त्त तेरे ऊपर प्रसन्न

सम्वर्त्तो याजयिष्यति ॥ १९ ॥ मरुत्त उवाच । संजीवितोऽहं भवता वाक्येनानेन नारद । पश्येयं क्व नु संवर्त्तं शंस मे वदताम्वर ॥ २० ॥ कथं च तस्मै वर्त्तेयं कथं मां न परित्यजेत् । प्रत्याख्यातश्च तेनापि नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥ नारद उवाच । उन्मत्तवेशं बिभ्रत् स चंक्रमीति यथासुखम् । वाराणस्यां महाराज दर्शनेप्सुर्महेश्वरम् ॥ २२ ॥ तस्या द्वारं समासाद्य न्यसेथा कुणपं क्वचित् । तं दृष्ट्वा यो निवर्त्तेत स सम्वर्तः स महीपतेः । तं पृष्ठतोऽनुगच्छेथा यत्र गच्छेत् स वीर्य्यवान् । तमेकान्ते समासाद्य प्रांजलिः शरणं व्रजेः ॥ २४ ॥ पृच्छेत्त्वां यदि केनाहं तवाख्यात इति स्म ह । ब्रूयास्त्वं नारदेनेति सम्वर्त्तः कथितोऽसि मे ॥ २५ ॥ स चेत्त्वामनुयुञ्जीत ममानुगमनेच्छया । शंसेथा वन्हिमारूढं मामपि

होजायगा तो वह महात्मा तुझे यज्ञ करादेगा ॥ १९ ॥ मरुत्तने कहा, कि–हे नारद ! तुमने यह बात कहकर मानो मुझे जीवित करदिया, परन्तु हे बोलने वालोंमें श्रेष्ठ ! मुझे यह भी बताइये, कि–मैं संवर्त्तको कहाँ देखूँ ? ॥ २० ॥ और उनके साथ कैसा वर्त्ताव करूँ ? ऐसी युक्ति बताइये, कि–वह मुझे त्यागें नहीं, क्योंकि–यदि उन्होंने भी त्यागदिया तो फिर मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ २१ ॥ नारदजीने कहा, कि–हे महाराज ! वह शिवजीके दर्शनकी इच्छासे काशीमें पागलकेसा वेश धर कर जीमें आवे तहाँ घूमते फिरते हैं ॥ २२ ॥ काशीके द्वार पर पहुँचते ही तू कहींको मुरदा रखदेना, उसको देखते ही जो पीछेको लौटे, हे राजन् ! उसको ही संवर्त्त जानना ॥ २३ ॥ फिर वह वीर्यवान् पुरुष जहाँ जाय उसके पीछे २ जाना और एकान्त स्थान आते ही उनके पासमें जा हाथ जोड कर शरण लेना ॥ २४ ॥ कदाचित् वह तुझसे बूझें, कि–मेरी पहचान तुझे किसने बताई थी तो तू कहदेना, कि–नारदजीने बताया था, कि–आप संवर्त्त हैं ॥ २५ ॥

त्वमशङ्कया ॥ २६ ॥ व्यास उवाच । स तथेति प्रतिश्रुत्य पूज-
यित्वा च नारदम् । अभ्यनुज्ञाय राजर्षिर्ययौ वाराणसीं पुरीम् २७
तत्र गत्वा यथोक्तं स पुर्या द्वारे महायशाः । कुणपं स्थापयामास
नारदस्य वचः स्मरन् ॥ २८ ॥ यौगपद्येन विप्रश्च पुरीद्वारमथा-
विशत् । ततः स कुणपं दृष्ट्वा सहसा संन्यवर्तत ॥ २९ ॥ स तं
निवृत्तमालोक्य प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् आविक्षितो महीपालः
सम्वर्त्तमुपशिक्षितुम् ॥ ३० ॥ स च तं विजने दृष्ट्वा पांसुभिः कर्द-
मेन च । श्लेष्मणा चैव राजानं ष्ठीवनैश्च समाकिरत् ॥ ३१ ॥
स तथा बाध्यमानो वै सम्वर्त्तेन महीपतिः । अन्वगादेव तमृषिं

कदाचित् वह मेरे पास आनेकी इच्छासे तुमसे मेरा पता बूझें तो
निःशङ्क होकर कहदेना, कि—नारद अग्निमें प्रवेश करगया ॥२६॥
व्यासजी कहते हैं, कि—उस राजर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर यह
संमति मानली, नारदजीकी पूजा की और उनकी आज्ञा लेकर
वाराणसी नगरीको चलागया ॥ २७ ॥ तहाँ जाकर उस महा-
यशस्वीने नारदजीके कहनेके अनुसार उनकी बातको याद करते
हुए नगरके द्वार पर एक मुरदा डालदिया ॥२८॥ और अचानक
उसी समय वह ब्राह्मण नगरीके द्वार पर आपहुँचे, तहाँ मुरदा
पड़ा हुआ देखते ही एकदम पीछेको लौट गए ॥ २९ ॥ संवर्त्तको
पीछेको लौटते देखकर राजा मरुत्त हाथ जोडकर उनसे शिक्षा
लेनेके निमित्त पीछे २ चलागया ॥ ३० ॥ फिर एक निर्जन
स्थानमें राजाको पीछे २ आते देखकर उन्होंने उसके ऊपर
धूलि, कीच, खखार और थूक डालना आरम्भ करदिया ॥३१॥
इसप्रकार संवर्त्तके पीडा देनेपर भी वह राजा तो हाथ जोडकर
उनको प्रसन्न करनेके लिये परिश्रम करता हुआ उनके पीछे२
ही चलागया ॥ ३२ ॥ तब तो थकेहुए संवर्त्त बहुतसी शाखाओं

प्रांजलिः समसादयन् ॥ ३२ ॥ ततो निवृत्य सम्वर्त्तः परिश्रान्त उपाविशत् । शीतलच्छायमासाद्य न्यग्रोधं वहुशाखिनम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधपर्वणि
संवर्त्तमरुत्तीये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सम्वर्त्त उवाच । कथमस्मि त्वया ज्ञातः केन वा कथितोऽस्मि ते । एतदाचक्ष्व मे तत्त्वमिच्छसे चेन्मम प्रियम् ॥ १ ॥ सत्यं ते ब्रुवतः सर्वे संपत्स्यन्ते मनोरथाः । मिथ्या च ब्रुवतो मूर्द्धा शतधा ते स्फुटिष्यति ॥ २ ॥ मरुत्त उवाच । नारदेन भवान्मह्यमाख्यातो ह्यटता पथि । गुरुपुत्रो ममेति त्वं ततो मे प्रीतिरुत्तमा ॥ ३ ॥ सम्वर्त्त उवाच । सत्यमेतद्भवानाह स मां जानाति सत्रिणम् । कथयस्व तदेतन्मे क्व नु सम्प्रति नारदः ॥४॥ मरुत्त उवाच । भवन्तं कथयित्वा स मम देवर्षिसत्तमः । ततो मामभ्यनुज्ञाय प्रविष्टो

वाले एक बड़की शीतल छायामें जाकर बैठगए ॥ ३३ ॥
छठा अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥ छ ॥ छ ॥

संवर्त्तने कहा, कि-तूने मुझे कैसे पहचाना? अथवा तुझे मेरा पता किसने बताया? यदि तू मुझसे कुछ मनचीता काम कराना चाहता हो तो यह सत्य बता ॥ १ ॥ यदि तू मुझसे सत्य कह देगा तो तेरे सब मनोरथ पूरे होजायँगे और यदि तू मिथ्या बोलेगा तो तेरे शिरके फूटकर सौ टुकड़े होजायँगे ॥ २ ॥ मरुत्तने कहा, कि-मार्गमें फिरते २ मुझे नारदजी मिलगए थे, उन्होंने मुझे आपका पता दिया, कि-आप मेरे गुरुके पुत्र हैं, इसलिये आपके ऊपर मेरी बड़ी भारी प्रीति हुई ॥ ३ ॥ संवर्त्तने कहा, कि-तूने यह बात सत्य कही है, नारद जानता है, कि-मैं यज्ञ करानेवाला हूँ परन्तु यह बता, कि-इस समय वह नारद कहाँ है ॥ ४ ॥ मरुत्तने कहा, कि-देवर्षियोंमें श्रेष्ठ नारदजीने मुझे आपका पता बताया और फिर मुझे जानेकी आज्ञा देकर अग्निमें प्रवेश कर

हव्यवाहनम् ॥ ५ ॥ व्यास उवाच। श्रुत्वा तु पार्थिवस्यैतत् सम्वर्त्तः प्रमुदं गतः। एतावदहमप्येवं शक्नुयामिति सोऽब्रवीत् ६ ततो मरुत्तमुन्मत्तो वाचा निर्भर्त्सयन्निव। रूक्षया ब्राह्मणो राजन् पुनः पुनरथाब्रवीत् ॥ ७ ॥ वातप्रधानेन मया स्वचित्तवशवर्त्तिना। एवं विकृतरूपेण कथं याजितुमिच्छसि ॥ ८ ॥ भ्राता मम समर्थश्च वासवेन च सङ्गतः। वर्त्तते याजने चैव तेन कर्माणि कारय ॥ ९ ॥ गार्हस्थ्यञ्चैव याज्याश्च सर्वा गृह्याश्च देवताः। पूर्वजेन समाक्षिप्तं शरीरं वर्जितन्त्विदम् ॥ १० ॥ नाहन्तेनाननुज्ञातस्त्वामाविक्षित कर्हिचित्। याजयेयं कथञ्चिद्वै स हि पूज्यतमो मम ॥ ११ ॥ स त्वं बृहस्पतिं गच्छ तमनुज्ञाप्य चाव्रज ।

गए ॥ ५ ॥ व्यासजी कहते हैं, कि—राजासे यह बात सुनकर संवर्त्तको बड़ा आनन्द हुआ और वह कहने लगा, कि इतना तो मैं भी करसकता हूँ ॥ ६ ॥ फिर एक पागलकी समान बड़बड़ाते हुए और मानो तिरस्कार करते हों, इस प्रकार वह ब्राह्मण हे राजन्! क्रोधमें भरकर मरुत्तसे वारर कहने लगे, कि—॥ ७ ॥ मुझसरीखे वायुसे पीड़ित (पागल) हुए, अपने चित्तके वशमें चलने वाले (मनमौजी) और विकृत रूपवालेसे क्यों यज्ञ कराना चाहता है? ॥ ८ ॥ मेरा भाई बृहस्पति समर्थ है और वह इन्द्रके पक्षमें चलागया है, वह यज्ञ करानेका धन्धा करता है, इस लिये तू उससे ही यज्ञकर्म करवाले ॥ ९ ॥ गृहस्थका सब सामान, यज्ञ करानेके सब साधन तथा सब गृह्य देवता यह सब मेरे बड़े भाईने लेलिया है, मेरे पास तो मेरा यह शरीर ही छोड़ा है १० हे मरुत्त! इसलिये वह अधिक पूजनीय है और उसने मुझे आज्ञा नहीं दी है (यज्ञ करानेका अधिकार नहीं दिया है) इसलिये मैं किसी प्रकार भी और कहीं भी यज्ञ नहीं कराऊँगा ॥ ११ ॥ इसलिये तू बृहस्पतिके पास जा और उसकी आज्ञा लेकर लौट आ

ततोऽहं याजयिष्ये त्वां यदि यष्टुमिहेच्छसि ॥१२॥ मरुत्त उवाच ।
बृहस्पतिं गतः पूर्वमहं सम्वर्त तच्छृणु । न मां कामयते याज्यमसौ
वासवकाम्यया ॥ १३ ॥ अमरं याज्यमासाद्य याजयिष्ये न मानु-
षम् । शक्रेण प्रतिषिद्धोऽहं मरुत्तं मा स्म याजयेः ॥१४॥ स्पर्द्धते
हि मया विप्र सदा हि स तु पार्थिवः । एवमस्त्विति चाप्युक्तो
भ्राता ते बलसूदनः ॥ १५ ॥ स मामभिगतं प्रेम्णा याज्यत्वेन
बुभूषति । देवराजं समाश्रित्य तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥ १६ ॥ सोऽह-
मिच्छामि भवता सर्वस्वेनापि याजितुम् । कामये समतिक्रान्तुं
वासवं त्वत्कृतैर्गुणैः ॥ १७ ॥ न हि मे वर्त्तते बुद्धिर्गन्तुं ब्रह्मन्
बृहस्पतिम् । प्रत्याख्यातो हि तेनास्मि तथानपकृते सति ॥ १८ ॥

तब तू चाहेगा तो मैं तुझे यज्ञ कराऊँगा ॥ १२ ॥ मरुत्तने कहा, कि-हे सम्वर्त! पहले मैं बृहस्पतिके पास गया था, उसका समाचार सुनिये-इन्द्रको प्रसन्न रखनेके लिये वह मुझे यज्ञ कराना नहीं चाहते ॥ १३ ॥ मुझे देवताओंको यज्ञ करानेका पद मिलगया है, अब मैं मनुष्योंको यज्ञ नहीं कराऊँगा, इन्द्रने मुझे ऐसा करनेका निषेध करदिया है, कि-तुम मरुत्तको यज्ञ न कराना ॥ १४ ॥ हे विप्र ! वह राजा मुझसे सदा डाह रखता है और वह पार्थिव (पृथिवी पर उत्पन्न हुआ) है,इसलिये तुम उसको यज्ञ न कराना इसपर तुम्हारे भाई बृहस्पतिने तथास्तु, कहकर इन्द्रकी बात मानली है ॥१५॥ मैं यज्ञ करवानेके लिये उनके पास बड़े प्रेमसे गया था, परन्तु हे मुनिराज ! आपको मालूम हो, कि-उन्होंने मुझसे कहा मैं यज्ञ कराना नहीं चाहता, क्योंकि-मैंने देवराज इन्द्रका आश्रय लेलिया है ॥ १६ ॥ इस लिये मैं अपना सर्वस्व लगाकर भी आपसे यज्ञ कराना चाहता हूँ और आपके गुणोंके सहारेसे इन्द्रसे भी बढ जाना चाहता हूँ ॥ १७ ॥ हे ब्रह्मन् ! अब मैं बृहस्पतिके पास नहीं जाना चाहता, क्योंकि-उन्होंने मेरा

सम्वर्त्त उवाच । चिकीर्षसि यथाकामं सर्वमेतत्त्वयि ध्रुवम् । यदि सर्वानभिप्रायान् कर्त्तासि मम पार्थिव ॥ १९ ॥ याज्यमानं मया हि त्वां बृहस्पतिपुरन्दरौ । द्विषेतां समभिक्रुद्धावेतदेकं समर्थये ॥ २० स्थैर्यमत्र कथं मे स्यात् स त्वं निःसंशयं कुरु । कुपितस्त्वां न हीदानीं भस्मीकुर्यां सबान्धवम् ॥ २१ ॥ मरुत्त उवाच । यावत्तपेत् सहस्रांशुस्तिष्ठेरंश्चापि पर्वताः । तावल्लोकान्न लभेयं त्यजेयं सङ्गतं यदि ॥ २२ ॥ मा चापि शुभबुद्धिर्त्वं लभेयमिह कर्हिचित् । विषयैः सङ्गतश्चास्तु त्यजेयं संगतं यदि ॥ २३ ॥ सम्वर्त्त उवाच । आविक्षित शुभा बुद्धिः ध्रुवतां तव कर्मसु । याजनं हि ममाप्येव वर्त्तते हृदि पार्थिव ॥ २४ ॥ अभिधास्ये च ते राजन्नक्षयं द्रव्य-

---

तिरस्कार किया है, यद्यपि मैंने उनका कोई अपराध नहीं किया था ॥ १८ ॥ संवर्त्तने कहा, कि-हे राजन् ! यदि तू मेरी सब बातें मानना स्वीकार करे तो मैं निःसन्देह जैसा तू चाहता है वह सब करनेको तयार हूँ ॥ १९ ॥ परन्तु मैं तुझे यज्ञ करानेवाला हूँ यह समाचार पाते ही बृहस्पति और इन्द्र क्रोधमें भर जायँगे, तुझसे द्वेष करेंगे और वह तुझे अकेलेको सहना पड़ेगा ॥ २० ॥ उस समय मेरी स्थिरता कैसे रहसकेगी, इस बातका तू निश्चय करले, क्योंकि-उस समय यदि मुझे क्रोध आगया तो मैं तत्काल भाइयों सहित तुझे भस्म करडालूँगा ॥ २१ ॥ मरुत्त कहता है, कि-जब तक यह सहस्र किरणोंवाला सूर्य तपता है और जबतक ये पर्वत स्थिर हैं तबतक मैं आपका सङ्ग छोड़ूँ तो मुझे स्वर्गलोक न मिले ॥ २२ ॥ यदि मैं आपका सङ्ग छोड़ूँ तो मुझे किसी प्रकारकी भी शुभ बुद्धि प्राप्त न हो और इस जगत्के विषयोंका सङ्ग ही मुझे लगारहे ॥ २३ ॥ संवर्त्तने कहा, कि-हे मरुत्त ! ऐसे कर्मोंमें तेरी शुभ बुद्धि हो, राजन् ! अब मुझे यज्ञ करानेकी शक्ति आगई है ॥ २४ ॥ हे राजन् ! मैं

मुत्तमम् । येन देवान् सगन्धर्वान् शक्रञ्चाभि भविष्यसि ॥२५॥
न तु मे वर्त्तते बुद्धिर्धने याज्येषु वा पुनः । विप्रियन्तु करिष्यामि
भ्रातुश्चेन्द्रस्य चोभयोः ॥ २६ ॥ गमयिष्यामि शक्रेण समतामपि
ते ध्रुवम् । प्रियञ्च ते करिष्यामि तथ्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि
संवर्त्तमरुत्तीये सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

संवर्त्त उवाच । गिरेर्हिमवतः पृष्ठे मुञ्जवान्नाम पर्वतः । तप्यते
यत्र भगवांस्तपो नित्यमुमापतिः॥वनस्पतीनां मूलेषु शृङ्गेषु विषमेषु च ।
गुहासु शैलराजस्य रमते स्म यथासुखम् ॥१॥ उमासहायो भग-
वान् यत्र नित्यं महेश्वरः । आस्ते शूली महातेजा नानाभूतगणा-
वृतः ॥ ३ ॥ तत्र रुद्राश्च साध्याश्च विश्वेऽथ वसवस्तथा । यमश्च
वरुणश्चैव कुबेरश्च सहानुगः ॥ ४ ॥ भूतानि च पिशाचाश्च नास-

तुझे अक्षय और उत्तम द्रव्य देता हूँ जिससे तू इन्द्रको, उसके
देवताओंको और गन्धर्वोंको भी हरासकेगा ॥ २५ ॥ न मैं धन
चाहता हूँ और न तुझे यज्ञ करानेके अनन्तर और किसीको यज्ञ
कराना चाहता हूँ, परन्तु इन्द्रका और अपने भाई बृहस्पतिका
अप्रिय अवश्य करूँगा ॥ ३६ ॥ निःसन्देह मैं तुझे इन्द्रकी बरा-
बरीमें पहुँचा दूँगा और तेरा प्रियकार्य करूँगा, यह मैं तुझसे
निश्चय कहता हूँ ॥ २७ ॥ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

संवर्त्तने कहा, कि–हिमालयकी पीठ पर मुञ्जवान् नामका
पर्वत है, तहाँ भगवान् शिव सदा तपस्या करते हैं ॥ १ ॥
वनस्पतियोंकी जड़ोंमें, अगम्य शिखरों पर तथा शैलराज हिमा-
लयकी गुफाओंमें इच्छानुसार जैसे सुख मिले तिसप्रकार ॥ २ ॥
भगवती पार्वतीको साथमें लियेहुए, भूतगणोंसे घिरे हुए, महा-
तेजस्वी, शूलपाणि शिवजी नित्य रहते हैं ॥ ३ ॥ और तहाँ
रुद्र साध्य, विश्वेदेवा और वसु तथा यम, वरुण, और अनुचरों

त्यावश्विनौ तथा । गन्धर्वाप्सरसश्चैव यक्षा देवर्षयस्तथा ॥ ५ ॥
आदित्या मरुतश्चैव यातुधानाश्च सर्वशः । उपासन्ते महात्मानं बहु-
रूपमुमापतिम् ॥ ६ ॥ रमते भगवांस्तत्र कुबेरानुचरैः सह । विकृतै-
र्विकृताकारैः क्रीडद्भिः पृथिवीपते ॥ ७ ॥ श्रिया ज्वलन् दृश्यते
वै बालादित्यसमद्युतिः । न रूपं शक्यते तस्य संस्थानं वा कथ-
ञ्चन ॥ ८ ॥ निर्देष्टुं प्राणिभिः कैश्चित् प्राकृतैर्मांसलोचनैः ।
नोष्णं न शिशिरं तत्र न वायुर्न च भास्करः ॥ ९ ॥ न जरा
क्षुत्पिपासे वा न मृत्युर्न भयं नृप । तस्य शैलस्य पार्श्वेषु सर्वेषु
जयतांवर ॥ १० ॥ धातवो जातरूपस्य रश्मयः सवितुर्यथा ।
रक्ष्यन्ते ते कुबेरस्य सहायैरुद्यतायुधैः ॥ ११ ॥ चिकीर्षद्भिः प्रियं

सहित कुबेर, ॥ ४ ॥ भूत, पिशाच, दोनों नासत्य, दोनों अश्वि-
कुमार, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, देवता, ऋषि ॥ ५ ॥ आदित्य,
मरुत् और यातुधान चारों ओरसे घेरकर बहुरूपधारी महात्मा
उमापतिकी उपासना करते हैं ॥ ६ ॥ हे राजन् ! जिनका स्वरूप
बदलगया है ऐसे विकृत और जिन्होंने अपना आकार बडौल कर
लिया है ऐसे कुबेरके क्रीडा करने वाले अनुचरोंके साथ भगवान्
शिव तहाँ क्रीडा करते हैं ॥ ७ ॥ मानो बाल-सूर्यकी समान
कान्तिसे प्रज्वलित हो रहा हो ऐसा पर्वत मालूम होता है, मांसके
नेत्रोंवाला कोई भी संसारी प्राणी उस रूपको नहीं देखसकता
और न उसको बतला ही सकता है, तहाँ न गरमी है, न ठण्डक
ही है, तहाँ पवन नहीं चलता है, सूर्य नहीं तपता है ॥ ८ ॥ ९ ॥
हे राजन् ! तहाँ जरा (बुढापा) नहीं है, भूख वा प्यास नहीं
है, तहाँ मृत्यु भी नहीं पहुँचता है और भय भी नहीं लगता है ।
हे विजय पाने वालोंमें श्रेष्ठ! उस पर्वतके सब ओर सूर्यकी किरणों
से चमकती हुई सुवर्ण धातुकी खाने हैं, हे राजन् ! महात्मा
कुबेरका प्रिय करना चाहनेवाले कुबेरके अनुचर आयुध उठाये हुए

राजन् कुबेरस्य महात्मनः । तस्मै भगवते कृत्वा नमः शर्वाय वेधसे ॥ १२ ॥ रुद्राय शितिकण्ठाय पुरुषाय सुवर्चसे । कपर्दिने करालाय हर्यक्ष्णे वरदाय च ॥ १३ ॥ त्र्यक्ष्णे पूष्णो दन्तभिदे वामनाय शिवाय च । याम्यायाव्यक्तरूपाय सद्वृत्ते शङ्कराय च ॥ १४ ॥ क्षेम्याय हरिकेशाय स्थाणवे पुरुषाय च । हरिनेत्राय मुण्डाय क्रुद्धायोत्तरणाय च ॥ १५ ॥ भास्कराय सुतीर्थाय देवदेवाय रंहसे । उष्णीषिणे सुवक्त्राय सहस्राक्षाय मीढुषे ॥ १६ ॥ गिरिशाय प्रशान्ताय यतये चीरवाससे । बिल्वदण्डाय सिद्धाय सर्वदण्डधराय च ॥ १७ ॥ मृगव्याधाय महते धन्विनेऽथ भवाय च । वराय सोमवक्त्राय सिद्धमन्त्राय चक्षुषे ॥ १८ ॥ हिरण्यबाहवे राजन्नुग्राय पतये दिशाम् । लेलिहानाय गोष्ठाय सिद्धमन्त्राय वृष्णये ॥ १९ ॥ पशूनां पतये चैव भूतानां पतये नमः । वृषाय मातृभक्ताय सेनान्ये मध्यमाय च ॥ २० ॥ स्रुवहस्ताय पतये धन्विने भार्गवाय च । अजाय कृष्णनेत्राय विरूपाक्षाय चैव ह २१

उन खानोंकी रक्षा करते हैं, उन भगवान् शङ्कर वेधाको नमस्कार करके ॥ १०-१२ ॥ रुद्र, शितिकण्ठ, पुरुष, सुवर्चस, कपर्दी, कराल, हर्यक्ष, वरद ॥१३॥ त्रिनेत्र, पूषा देवताके दाँत तोड़ने वाले, वामन, शिव, याम्य, अव्यक्तरूप, सद्वृत्त, शंकर ॥ १४ ॥ क्षेम्य हरिकेश, स्थाणु, पुरुष, हरिनेत्र, मुण्ड, क्रुद्ध और उत्तरण ॥ १५ ॥ भास्कर, सुतीर्थ, देवदेव, रंहस, उष्णीषी, सुवक्त्र, सहस्राक्ष, मीढुष ॥१६॥ गिरिश, प्रशान्त, यति, चीरवासा, बिल्वदण्ड, सिद्ध और सर्वदण्डधर ॥ १७ ॥ मृगव्याध, महत्, धनुषधारी, भव, वर, सोमवक्त्र, सिद्धमंत्र चक्षुष् ॥ १८ ॥ हिरण्यबाहु, उग्र दिशाओंके पति, लेलिहान, गोष्ठ, सिद्धमंत्रवाले, वृष्णि ॥१९॥ पशुओंके पति और भूतोंके पतिको नमस्कार हो, वृष, मातृभक्त, सेनानी, मध्यम ॥ २० ॥ स्रुवहस्त, पति, धन्वी,

तीक्ष्णदंष्ट्राय तीक्ष्णाय वैश्वानरमुखाय च । महाद्युतयेऽनङ्गाय सर्वाय पतये विशाम् ॥ २२ ॥ विलोहिताय दीप्ताय दीप्ताक्षाय महौजसे । वसुरेतःसुवपुषे पृथवे कृत्तिवाससे ॥ २३ ॥ कपालमालिने चैव सुवर्णमुकुटाय च । महादेवाय कृष्णाय त्र्यम्बकायानघाय च ॥ २४ ॥ क्रोधनाय नृशंसाय मृदवे बाहुशालिने । दण्डिने तप्ततपसे तथैवाक्रूरकर्मणे ॥ २५ ॥ सहस्रशिरसे चैव सहस्रचरणाय च । नमः स्वधास्वरूपाय बहुरूपाय दंष्ट्रिणे ॥२६॥ पिनाकिनं महादेवं महायोगिनमव्ययम् । त्रिशूलहस्तं वरदं त्र्यम्बकं भुवनेश्वरम् ॥ २७ ॥ त्रिपुरघ्नं त्रिनयनं त्रिलोकेशं महौजसम् । प्रभवं सर्वभूतानां धारणं धरणीधरम् ॥२८॥ ईशानं शङ्करं सर्वं शिवं विश्वेश्वरं भवम् । उमापतिं पशुपतिं विश्वरूपं महेश्वरम् ॥२९॥ विरूपाक्षं दशभुजं दिव्यगोवृषभध्वजम् । उग्रं स्थाणुं शिवं रौद्रं शर्वं गौरीशमीश्वरम् ॥ ३० ॥ शितिकण्ठमजं शुक्रं

भार्गव, अज, कृष्णनेत्र और विरूपाक्ष ॥ २१ ॥ तीक्ष्णदंष्ट्र, तीक्ष्ण, वैश्वानरमुख, महाद्युति, अनङ्ग, सर्व, विशांपति ॥२२॥ विलोहित, दीप्त, दीप्ताक्ष, महौजस, वसुरेता, सुवपुष्, पृथु, कृत्तिवासा ॥२३॥ कपालमाली, सुवर्णमुकुट, महादेव, कृष्ण, त्र्यम्बक और अनघ ॥ २४ ॥ क्रोधन, आनृशंस, मृदु, बाहुशाली, दण्डी, तप्ततपन तथा क्रूरकर्मा ॥२५॥ सहस्रशिरा, सहस्रचरण, स्वधास्वरूप, बहुरूप और दंष्ट्रीको नमस्कार हो ॥२६॥ पिनाकी, महादेव, महायोगी, अव्यय, त्रिशूलहस्त, वरद, त्र्यम्बक, भुवनेश्वर ॥२७॥ त्रिपुरघ्न, त्रिनयन, त्रिलोकेश, महौजस, सकल भूतों के उत्पत्तिस्थान सकल भूतोंको धारण करनेवाले, धरणीधर ॥२८॥ ईशान, शङ्कर, शर्व, शिव, विश्वेश्वर, भव, उमापति, पशुपति, विश्वरूप, महेश्वर ॥२९॥ विरूपाक्ष, दशभुज, दिव्यगोवृषभध्वज, उग्र, स्थाणु, शिव, रौद्र, शर्व, गौरीश, ईश्वर ॥३०॥ शितिकण्ठ,

पृथुं पृथुहरं वरम् । विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥३१॥
प्रणम्य शिरसा देवमनङ्गाङ्गहरं हरम् । शरण्यं शरणं याहि महा-
देवं चतुर्मुखम् ॥ ३२ ॥ एवं कृत्वा नमस्तस्मै महादेवाय रंहसे ।
महात्मने क्षितिपते तत्सुवर्णमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ सुवर्णमाहरिष्य-
न्तस्तत्र गच्छन्तु ते नराः । इत्युक्तं स वचस्तेन चक्रे कारन्धमा-
त्मजः ॥ ३४ ॥ ततोऽतिमानुषं सर्वं चक्रे यज्ञस्य सन्निधिम् ।
सौवर्णानि च भाण्डानि सञ्चक्रुस्तत्र शिल्पिनः ॥ ३५ ॥ बृह-
स्पतिस्तु तां श्रुत्वा मरुत्तस्य महीपतेः । समृद्धिमतिदेवेभ्यः संताप-
मकरोद् भृशम् ॥३६॥स तप्यमानो वैवर्ण्यं कृशत्वं चागमत् परम् ।
भविष्यति हि मे शत्रुः संवर्त्तो वसुमानिति ॥ ३७ ॥ तं श्रुत्वा
भृशसंतप्तं देवराजो बृहस्पतिम् । अभिगम्यामरवृतः प्रोवाचेदं
वचस्तदा ॥३८॥ आश्वमेधिकपर्वणि अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥८॥

अज, शुक्र, पृथु, पृथुहर, वर, विश्वरूप, विरूपाक्ष, बहुरूप उमा-
पति ॥३१॥ अनङ्गाङ्गहर, हर, शरण्य, महादेव और चतुर्मुखको
मस्तकसे प्रणाम करके उनकी शरणमें जा ॥ ३२ ॥ हे राजन् !
इसप्रकार उन महात्मा वेगरूप महादेवको प्रणाम करनेके अनन्तर
तुम्हें यह सुवर्ण मिलेगा ॥ ३३ ॥ इसलिये सुवर्ण लेनेके लिये
अपने मनुष्योंको तहाँ भेजदो. संवर्त्तके ऐसा कहने पर करन्धमके
पुत्र मरुत्तने ऐसा ही किया ॥ ३४ ॥ फिर यज्ञकी सब प्रकारकी
विधिके लिये उसने ऐसा प्रबन्ध किया, कि-जो मनुष्योंकी शक्ति
के बाहर था. तहाँ उसके कारीगरोंने सोनेके पात्र बनाये ॥३५॥
राजा मरुत्तकी ऐसी देवताओंसे भी अधिक समृद्धिकी बात सुनकर
बृहस्पतिको तो बडा ही दुःख हुआ ॥३६॥ हिमालय पर उसका
शत्रु संवर्त्त बडा धनवान् होजायगा, ऐसी चिन्तासे उसका रङ्ग
बदलगया और वह बडा ही दुर्बल होगया३७बृहस्पति बड़े दुःखी
होरहे हैं, यह सुनकर देवराज इन्द्र अपने देवताओंको साथमें
लेकर उनके पास आकर उस समय उनसे यह कहने लगा॥३८॥

इन्द्र उवाच । कच्चित् सुखं स्वपिषि त्वं बृहस्पते कच्चिन्मनोज्ञाः परिचारकास्ते । कच्चिद्देवानां सुखकामोसि विप्र कच्चिद्देवास्त्वां परिपालयन्ति ॥ १ ॥ बृहस्पतिरुवाच । सुखं स्वपे शयने देवराज तथा मनोज्ञाः परिचारका मे । तथा देवानां सुखकामोस्मि नित्यं देवाश्च मां सुभृशं पालयन्ति ॥ २ ॥ इन्द्र उवाच । कुतो दुःखं मानसं देहजं वा पाण्डुर्विवर्णश्च कुतस्त्वमद्य । आचक्ष्व मे ब्राह्मण यावदेतान्निहन्मि सर्वांस्तव दुःखकर्तॄन् ॥ ३ ॥ बृहस्पतिरुवाच । मरुत्तमाहुर्मघवन् यक्ष्यमाणं महायज्ञेनोत्तमदक्षिणेन । तं संवर्त्तो याजयतीति मे श्रुतं तदिच्छामि न स तं याजयेत ॥ ४ ॥ इन्द्र उवाच । सर्वान् कामाननुयातोऽसि विप्र यस्त्वं देवानां मन्त्रवित्

इन्द्रने कहा, कि–हे बृहस्पति ! तुम्हें सुखकी नींद तो आती है ? तुम्हारे सेवक तो तुम्हारे मनके अनुकूल काम करते हैं ? हे विप्र ! तुम देवताओंके सुखको तो चाहते हो ? और देवता तुम्हारा पालन तो करते हैं ? ॥ १ ॥ बृहस्पतिने कहा, कि–हे देवराज ! मैं शय्या पर सुखसे सोता हूँ और मेरे सेवक मेरे मनके अनुकूल हैं तथा मैं नित्य देवताओंके सुखको ही चाहता हूँ और देवता भी मेरा अच्छे प्रकारसे पालन करते हैं ॥ २ ॥ इन्द्रने कहा, कि–तो आपको मानसिक वा शारीरिक दुःख क्यों होरहा है ? तुम आज पीले क्यों पडगए हो ? तुम्हारा रङ्ग क्यों बदल गया है ? हे ब्राह्मण ! तुम मुझे बतलाओ तो मैं तुम्हें दुःख देनेवाले सबोंका नाश करदूँ ॥ ३ ॥ बृहस्पतिने कहा, कि–हे इन्द्र ! लोग ऐसा कहते हैं, कि–जिसमें अच्छी २ दक्षिणायें दीजायँगी, ऐसा महायज्ञ करना चाहनेवाले मरुत्तको संवर्त्त यज्ञ कराता है, यह बात मैंने सुनी है, इसलिये मैं चाहता हूँ, कि–तुम ऐसा उद्योग करो, कि–संवर्त्त उसको यज्ञ न करावे ॥४॥ इन्द्रने कहा, कि–हे विप्र ! आप तो सब कामनाओंके पीछे२ जाचुके हो

सुपुरोधाः । उभौ च ते जरामृत्यू व्यतीतौ किं सम्वर्त्तस्तव कर्त्ताद्य विप्र ॥ ५ ॥ बृहस्पतिरुवाच । देवैः सह त्वमसुरान् प्रणुद्य जिघांससे चाप्युत सानुबन्धान् । यं यं समृद्धं पश्यसि तत्र तत्र दुःखं सपत्नेषु समृद्धिभावः ॥ ६ ॥ अतोऽस्मि देवेन्द्र विवर्णरूपः सपत्नो मे वर्द्धते तं निशम्य । सर्वोपायैर्मघवन् सन्निगच्छ सम्वर्त्तं वा पार्थिवं वा मरुत्तम् ॥ ७ ॥ इन्द्र उवाच । एहि गच्छ प्रहितो जातवेदो बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते । अयं वै त्वां याजयिता बृहस्पतिस्तथाऽमरञ्चैव करिष्यतीति ॥ ८ ॥ अग्निरुवाच । अहं गच्छामि मघवन् दूतोऽद्य बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते । वाचं सत्यां पुरुहूतस्य कर्त्तु

(तुम्हारी सब कामनायें पूरी होगई हैं) तुम देवताओंके मंत्रवेत्ता पुरोहित बनगये हो तथा तुम जरा और मृत्यु दोनोंके पार होगए हो, हे विप्र ! फिर आज संवर्त्त तुम्हारा क्या कर सकता है ? ॥ ५ ॥ बृहस्पतिने कहा, कि-तुम देवताओंको साथमें लेकर बान्धव और सेवकोंसहित असुरोंको पीडा दे २ कर मारनेकी घात लगाते रहते हो, यह काम क्यों करते हो ? तुम जब किसी को सम्पत्तिवाला देखते हो तब तुमको दुःख होता है, क्योंकि-शत्रुओंका समृद्धिमान् होना ही दुःखका कारण होता है ॥ ६ ॥ हे देवेन्द्र ! इसलिये ही मेरा रङ्ग बदलगया है, मेरा शत्रुरूप भाई सम्पत्तिमान् हुआ जाता है, इसलिये तू उसको शान्त करदे, हे मघवन् ! जैसे भी होसके वैसे सब प्रकारके उपाय करके संवर्त्त को वा राजा मरुत्तको दबादे ॥ ७ ॥ इन्द्रने कहा, कि-हे अग्निदेव ! यहाँ आओ, बृहस्पतिको मरुत्तके पास पहुँचानेके लिये मैं तुम्हे भेजता हूँ, तू जा और उससे कहना, कि-यह बृहस्पति तुम्हे यज्ञ करावेंगे और अमर (देवता) करदेंगे ॥ ८ ॥ अग्निने कहा कि-हे मघवन् ! दूत बनकर बृहस्पतिको राजा मरुत्तके पास पहुँचा आनेको, इंद्रकी बात सत्य करनेको और बृहस्पतिका भला करनेको

बृहस्पतेश्चापचितिं चिकीर्षुः ॥ ९ ॥ व्यास उवाच । ततः प्रायाद्धूमकेतुर्महात्मा वनानि सर्वाणि वीरुधश्चावमृद्नन् । कामाद्धिमान्ते परिवर्त्तमानः काष्ठातिगो मातरिश्वेव नर्दन् ॥१०॥ मरुत्त उवाच । आश्चर्यमद्य पश्यामि रूपिणं वह्निमागतम् । आसनं सलिलं पाद्यं गाञ्चोपानय वै मुने ॥ ११ ॥ अग्निरुवाच । आसनं सलिलं पाद्यं प्रतिनन्दामि तेऽनघ । इन्द्रेण तु समादिष्टं विद्धि मां दूतमागतम् १२ मरुत्त उवाच । कच्चित् श्रीमान् देवराजः सुखी च कच्चिच्चास्मान् प्रीयते धूमकेतो । कच्चिद्देवा अस्य वशे यथावत् प्रब्रूहि त्वं मम कात्स्र्न्येन देव ॥ १३ ॥ अग्निरुवाच । शक्रो भृशं सुसुखी पार्थिवेन्द्र प्रीतिं चेच्छत्यजरां वै त्वया सः । देवाश्च सर्वे वशगास्तस्य राजन् सन्देशं त्वं शृणु मे देवराज्ञः ॥ १४ ॥ यदर्थं मां

मैं जाता हूँ ॥ ९ ॥ व्यासजी कहते हैं, कि—तदनन्तर धुआँ जिस की ध्वजारूप है ऐसा वह महात्मा अग्नि सकल वन और लताओं को भस्म करता२ शिशिर ऋतुके अन्तमें इच्छानुसार फैलनेवाले, काष्ठोंमेंसे बाहर निकलते हुए पवनकी समान चलदिया ॥ १० ॥ मरुत्तने उसको आते हुए देखकर कहा, कि—आश्चर्य है, कि—आज साक्षात् अग्निदेवको आते हुए देखरहा हूँ, हे मुने ! इन के लिये आसन, जल, पाद्य और एक गौ लाइये ॥ ११ ॥ अग्नि ने कहा कि—हे निर्दोष ! तेरे आसन, जल और पाद्यसे मैं प्रसन्न होगया, तुझे मालूम हो, कि—मैं इन्द्रके कहनेसे दूत बनकर आया हूँ ॥ १२ ॥ मरुत्तने कहा, कि—श्रीमान् देवराज सुखी तो हैं ? हे अग्ने ! वह मेरे ऊपर प्रीति तो रखते हैं ? दूसरे देवता उनके वशमें तो हैं ? हे देव ! यह सब तुम मुझे ठीकर बताओ ॥ १३ ॥ अग्निने कहा, कि हे राजेन्द्र ! इन्द्र बड़े सुखमें हैं, वह तो तेरे साथ सदा नई बनी रहनेवाली प्रीतिको चाहते हैं, सब देवता उनके वशमें हैं, हे राजन् ! उन देवराजने तेरे पास एक सन्देशा

माङ्गिरोऽग्निसकाशं बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते। अयं गुरुर्याजयतां नृप त्वां मर्त्यं सन्तममरं त्वां करोतु ॥ १५ ॥ मरुत्त उवाच। सम्वर्त्तोऽयं याजयिता द्विजो मां बृहस्पतेरञ्जलिरेष तस्य। न चैवासौ याजयित्वा महेन्द्रं मर्त्यं सन्तं याजयन्नद्य शोभेत् ॥१६॥ अग्निरुवाच। ये वै लोका देवलोके महान्तः संप्राप्स्यसे तान् देवराजप्रसादात्। त्वाञ्चेदसौ याजयेद्वै बृहस्पतिर्नूनं स्वर्गं त्वं जयेः कीर्त्तियुक्तः॥ १७ ॥ तथा लोका मानुषा ये च दिव्याः प्रजापतेश्चापि ये वै महान्तः। ते ते जिता देवराज्यञ्च कृत्स्नं बृहस्पतिर्याजयेच्चेन्नरेन्द्र ॥ १८॥ सम्वर्त्त उवाच। मास्मैवं त्वं पुनरागाः कथञ्चिद्द बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते। मा त्वां धक्ष्ये चक्षुषा दारु-

भेजा है, उसको सुन ॥ १४ ॥ उन्होंने मुझे जिसलिये तेरे पास भेजा है, हे मरुत्त! वह यह काम है, कि-इन बृहस्पतिको मैं तुम्हें सौंपता हूँ, हे राजन्! यह तेरे गुरु तुझे यज्ञ करावेंगे और यद्यपि तू मर्त्य (मृत्युका वशीभूत) है परन्तु यह तुझे अमर करदेंगे १५ मरुत्तने कहा, कि-यह द्विज संवर्त्त मेरा याजयिता (यज्ञ करानेवाला) है, अब बृहस्पतिको मेरा प्रणाम है, इन्होंने महेन्द्रको यज्ञ कराया है, इसलिये अब यह मर्त्य प्राणीको यज्ञ करावें, यह इनको शोभा नहीं देगा ॥ १६ ॥ देवराजने कहा कि-यदि यह बृहस्पति तुझे यज्ञ करावेंगे तो देवराजके अनुग्रहसे देवलोकमें भी जो बडे२ लोक हैं वे तुझे मिलेंगे और तू कीर्तिमान् होकर स्वर्गको भी जीत लेगा ॥ १७ ॥ और हे राजन्! यदि यह बृहस्पति यज्ञ करावेंगे तो ये मनुष्यलोक तथा दिव्य लोक और प्रजापतिके जो बड़े २ लोक हैं उनको तथा सकल देवताओंके राज्यको भी तू जीतलेगा ॥ १८ ॥ संवर्त्तने कहा, कि-हे अग्ने! बृहस्पतिको मरुत्तके पास पहुँचानेके लिये अब तू किसी प्रकार भी लौटकर न आना, यह जाने रहना, कि-मुझे कोप आगया तो अपने

णेन संक्रुद्धोऽहं पावक त्वं निबोध ॥ १९ ॥ व्यास उवाच । ततो देवानगमद्धूमकेतुर्दाहाद्भीतो व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् । तं वै दृष्ट्वा प्राह शक्रो महात्मा बृहस्पतेः सन्निधौ हव्यवाहम् ॥ २० ॥ इन्द्र उवाच । यत्त्वं गतः प्रहितो जातवेदो बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते । तत् किं प्राह स नृपो यक्ष्यमाणः कच्चिद्वचः प्रतिगृह्णाति तच्च २१ अग्निरुवाच । न ते वाचं रोचयते मरुत्तो बृहस्पतेरञ्जलिं प्राहिणोत् सः । संवर्त्तो मां याजयितेत्युवाच पुनः पुनः स मया याच्यमानः ॥ २२ ॥ उवाचेदं मानुषा ये च दिव्याः प्रजापतेर्ये च लोका महान्तः । तांश्चेल्लभेयं संविदं तेन कृत्वा तथापि नेच्छेयमिति प्रतीतः ॥२३॥ इन्द्र उवाच । पुनर्गत्वा पार्थिवं त्वं समेत्य वाक्यं

दारुण नेत्रसे तुझे भस्म करडालूँगा ॥ १९ ॥ व्यासजी कहते हैं,कि-तदनन्तर (शापसे) जलजानेके भयको प्राप्त हुआ अग्नि, पीपलके पत्तेकी समान दुःख पाता (काँपता) हुआ देवताओंके पासको लौट आया, उसको देखते ही महात्मा इन्द्र बृहस्पतिके सामने ही अग्निसे बूझनेलगे ॥ २० ॥ इन्द्रने कहा, कि-हे जात-वेदा ! तू तो यहाँसे भेजाहुआ बृहस्पतिको मरुत्तके पास पहुँचाने गया था, तहाँ यज्ञ करना चाहनेवाले उस राजाने तुझसे क्या कहा और उसने बृहस्पतिको स्वीकार किया या नहीं ? ॥२१॥ अग्निने कहा, कि-मरुत्तको तुम्हारी बात अच्छी नहीं लगी,उसने बृहस्पतिको हाथ जोडकर प्रणाम कहदिया है, मैंने उसको वारंवार समझाया, परन्तु वह कहता है, कि-संवर्त्त ही मुझे यज्ञ करा-वेंगे ॥ २२ ॥ और उसने कहा है, कि-इस मनुष्यलोकको तथा दिव्य लोकोंको और प्रजापतिके बड़े २ लोकोंको लेनेकी मेरी इच्छा होगी तो तुम्हारे पास आकर संमति करलूँगा, परन्तु मुझे इन लोकोंकी इच्छा नहीं है, इस बातको मैं निश्चितरूपसे कहता हूँ ॥ २३ ॥ इन्द्रने कहा, कि-उस राजाके पास फिर जा

मदीयं प्रापयस्वार्थयुक्तम् । पुनर्यद्युक्तो न करिष्यते वचस्ततो वज्रं संप्रहर्तास्मि तस्मै ॥ २४ ॥ अग्निरुवाच । गन्धर्वराड् यात्वयं तत्र दूतो बिभेम्यहं वासव तत्र गन्तुम् । संरब्धो मामब्रवीत् तीक्ष्णरोषः सम्वर्त्तो वाक्यञ्चरितब्रह्मचर्यः ॥ २५ ॥ यद्यागच्छेः पुनरेवं कथञ्चिद् बृहस्पतिं परिदातुं मरुत्ते । दहेयन्त्वाञ्चक्षुषा दारुणेन संक्रुद्ध इत्येतदवेहि शक्र ॥ २६ ॥ शक्र उवाच । त्वमेवान्यान्दहसे जातवेदो न हि त्वदन्यो विद्यते भस्मकर्त्ता । त्वत्संस्पर्शात् सर्वलोको बिभेति अश्रद्धेयं वदसे हव्यवाह ॥ २७ ॥ अग्निरुवाच । दिवं देवेन्द्र पृथिवीञ्चान्तरीक्षं संवेष्टयेस्त्वं स्वबलेनैव शक्र । एवम्विधस्येह सतस्तवासौ कथं वृत्रस्त्रिदिवं प्राग्जहार ॥ २८ ॥

और मेरे स्वार्थकी बात उसके पास पहुँचा, तेरे द्वारा फिर कहलाने पर भी यदि वह स्वीकार नहीं करेगा तो मैं उसके वज्र मारूँगा ॥ २४ ॥ अग्निने कहा, कि–हे इन्द्र ! इस गन्धर्वराजको दूत बनाकर तहाँ भेजिये, मुझे तो तहाँ जातेहुए डर लगता है, तीक्ष्ण क्रोधवाले और ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले संवर्त्तने क्रोधमें होकर मुझसे कहा है, कि–॥२५॥ मरुत्तके पास बृहस्पतिको पहुँचानेके लिये अब तू किसीप्रकार भी आवेगा तो क्रोधमें भराहुआ मैं अपने दारुण नेत्रसे भस्म करडालूँगा, हे इन्द्र ! इस बातको तुम समझलो ॥ २६ ॥ इन्द्रने कहा, कि तू अग्नि ही दूसरोंको जलाकर भस्म करदेता है तेरे सिवाय दूसरे किसी भस्म करनेवालेको तो मैं जानता हीनहीं, तेरे जरा स्पर्शसे भी सब लोग डरते हैं, इस लिये हे हव्यवाहन ! तू ऐसी बात कहरहा है कि–जिस पर विश्वास नहीं होता ॥ २७ ॥ अग्निने कहा, कि–हे देवेन्द्र ! इस स्वर्ग और सब पृथिवीको अपने बलसे तूने लपेट रक्खा है, हे इन्द्र ! ऐसा होतेहुए भी उस वृत्रासुरने तेरे स्वर्गको कैसे छीन लिया था ? ॥ २८ ॥ इन्द्रने कहा, कि–मैं पर्वतको

इन्द्र उवाच । नगपिडकाकारयोगं करेणु न चारिसोमं प्रपिबामि वन्हे । न दुर्बले वै प्रहरामि वज्रं को मे सुखाय प्रहरेत मर्त्यः २६ प्रव्राजयेयं कालकेयान् पृथिव्यामपाकर्षन्दानवानन्तरीक्षात् । दिवः प्रह्लादमवसानमानयं को मे सुखाय प्रहरेत मानवः ॥ ३० ॥ अग्निरुवाच । यत्र शर्यातिं च्यवनो याजयिष्यन् सहाश्विभ्यां सोममगृह्णदेकः । तं त्वं क्रुद्धः प्रत्यपेधीः पुरस्ताच्छर्यातियज्ञं स्मर तं महेन्द्र ॥ ३१ ॥ वज्रं गृहीत्वा च पुरन्दर त्वं समाहार्षीश्च्यवन-स्यातिघोरम् । स ते विप्रः सह वज्रेण बाहुमपागृह्णात्तपसा जात-मन्युः ॥ ३२ ॥ ततो रोषात् सर्वतो घोररूपं सपत्नं ते जनया-मास भूयः । मदं नामानमसुरं विश्वरूपं यं त्वं दृष्ट्वा चक्षुषी संम्य-

तो इस हाथमें मक्खीकी समान आकारवाला छोटासा बनादेता हूँ, परन्तु हे अग्ने ! मैं शत्रुके दिये हुए सोमको नहीं पीता हूँ तथा मैं क्षीण शक्तिवालेके ऊपर वज्रका प्रहार भी नहीं करता हूँ, फिर कोई मर्त्य प्राणी तो मेरे सुखका नाश कर ही कैसे सकता है ? ॥ २६ ॥ कालकेय जैसे दानवोंको भी अन्तरिक्षमेंसे खेंचकर पृथिवीमेंको ढकेल सकता हूँ और मैं चाहूँ तो स्वर्गके प्रह्लाद (आनन्द) का भी अन्त करडालूँ, फिर मेरे सुखका कोई मनुष्य तो नाश कर ही कैसे सकता है ? ॥ ३० ॥ अग्निने कहा, कि—जब पहले समयमें शर्यातिको यज्ञ कराना चाहने वाले च्यवनने दोनों अश्विनी कुमारोंके साथ अकेले ही सोमरस पिया था, उस समय उसके ऊपर क्रुद्ध हुए तूने शर्यातिके यज्ञको रोक दिया था, हे महेन्द्र ! उसको तू याद कर ॥ ३१ ॥ हे इन्द्र ! तूने उस समय अपने महाभयानक वज्रको उठाकर च्यवनको मारना चाहा था, तब उस ब्राह्मणने क्रोध करके अपने तपोबलसे बज्रसहित तेरे हाथको जकड दिया था ॥ ३२ ॥ फिर अपने क्रोधमेंसे उसने चारों ओर घोररूपवाले और विश्व-

मीजः ॥ ३३ ॥ हनुरेका जगतिस्था तथैका दिवं गता महतो दान-
वस्य । सहस्रं दन्तानां शतयोजनानां सुतीक्ष्णानां घोररूपं बभूव
॥ ३४ ॥ वृत्ता स्थूला रजतस्तम्भवर्णा दंष्ट्राश्चतस्रो द्वे शते योज-
नानाम् । स त्वां दन्तान् विदशन्नभ्यधावज्जिघांसया शूलमुद्यम्य
घोरम् ॥ ३५ ॥ अपश्यस्त्वं तं तदा घोररूपं सर्वे वै त्वां ददृशु-
र्दर्शनीयम् । यस्माद्भीतः प्राञ्जलिस्त्वं महर्षिमागच्छेथाः शरणं दान-
वघ्न ।३६। क्षात्राद्बलाद् ब्रह्मबलं गरीयो न ब्रह्मतः किञ्चिदन्यद्ग-
रीयः।सोऽहं जानन् ब्रह्मतेजो यथावन्न संवर्त्तं जेतुमिच्छामि शक्र ३७

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि
संवर्त्तमरुत्तीये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

रूप मालूम होनेवाले मद नामके असुरको तेरे शत्रुरूपसे उत्पन्न करदिया था, कि-जिसको देखते ही तूने अपनी आँखे मूँदली थीं ॥ ३३ ॥ उस बड़ेभारी दानवका एक जावड़ा पृथिवी पर था और दूसरा स्वर्गसे जालगा था, उसके सैंकड़ों योजन लम्बे और अतितीक्ष्ण हजारों दाँत थे, इसकारण उसका रूप बड़ा ही भयानक मालूम होता था ॥ ३४ ॥ उसकी चार दाढ़ें गोल, स्थूल (मोटी और कड़ी) तथा चाँदीके खंभोंकी समान थीं और दोसौ योजन लम्बी थीं, वह दाँतोंको कचकचाकर अपना भयानक शूल उठायेहुए तुझे मारनेकी इच्छासे तेरे पीछे दौड़ा था ॥ ३५ ॥ उस समय तू उसके घोर रूपको देख नहीं सका था और उस समय सबने तेरे देखने योग्य मुखको देखा था, हे दानवोंका नाश करनेवाले ! तू उस दैत्यसे भयभीत हो दोनों हाथ जोड़ेहुए उन महर्षिकी ही शरणमें गया था ॥ ३६ ॥ क्षात्रबलसे ब्रह्मबल श्रेष्ठ है, ब्रह्मबलसे श्रेष्ठ दूसरा कोई है ही नहीं, हे इन्द्र ! ब्रह्मतेजको यथार्थरूपसे जानता हुआ मैं संवर्त्तके पास नहीं जाना चाहता ३७

नवम अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ छ ॥ छ ॥

इन्द्र उवाच। एवमेनद्ब्रह्मबलं गरीयो न ब्राह्मणात् किञ्चिदन्यद्गरीयः। आविक्षितस्य तु बलं न मृष्ये वज्रमस्मै प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र गच्छ प्रहितो मरुत्तं सम्वर्त्तेन सङ्गतं तं वदस्व। बृहस्पतिं त्वमुपशिक्षस्व राजन् वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम् ॥ २ ॥ व्यास उवाच। ततो गत्वा धृतराष्ट्रो नरेन्द्रं प्रोवाचेदं वचनं वासवस्य ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच। गन्धर्वं मां धृतराष्ट्रं निबोध त्वामागतं वक्तुकामं नरेन्द्र। ऐन्द्रं वाक्यं शृणु मे राजसिंह यत् प्राह लोकाधिपतिर्महात्मा ॥ ४ ॥ बृहस्पतिं याजकं त्वं वृणीष्व वज्रं वा ते प्रहरिष्यामि घोरम्। वचश्चेदेतन्न करिष्यसे मे प्राहैतदेतावदचिन्त्यकर्मा ॥ ५ ॥ मरुत्त उवाच। त्वं चैवैत-

इन्द्रने कहा, कि—यह ब्राह्मण भले ही बडा हो और ब्राह्मणोंसे बडा दूसरा कोई न सही, परन्तु अविक्षित्के पुत्र मरुत्तके बलको तो मैं सह नहीं सकता, उसके तो मैं घोर वज्र मारूँगा ही ॥ १ ॥ हे गन्धर्वराज धृतराष्ट्र! तू मेरे कहनेसे मरुत्तके पास जा और संवर्त्तसे मेल रखनेवाले उस राजासे कहदे, कि—हे राजन्! तू बृहस्पतिको (यज्ञ करानेके लिये) स्वीकार करले, नहीं तो इन्द्र तेरे ऊपर घोर वज्रका प्रहार करेगा ॥ २ ॥ व्यासजी कहते हैं कि—धृतराष्ट्र तहाँसे मनुष्योंमें इन्द्र समान उस राजाके पास गया और इन्द्रकी बात सुनाई ॥ ३ ॥ गन्धर्वने कहा, कि—हे राजन्! आपको मालूम हो, कि—मैं धृतराष्ट्र नामका गन्धर्व आपके पास कुछ कहनेको आया हूँ, हे राजसिंह! लोकपति इन्द्रने आपके लिये जो कुछ कहा, है महात्मा इन्द्रके उस वचनको आप सुनिये।४। जिसके पराक्रमका चिन्तवन नहीं होसकता, ऐसे इन्द्रने आपसे कहनेके लिये इतनी बात कही है, कि—आप मेरी इस बातको मान जाइये और बृहस्पतिको अपना याजक बना लीजिये, यदि तुम मेरी इस बातको नहीं मानोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर घोर वज्रका

द्रस्थ पुरन्दरश्च विश्वेदेवा वसवश्चाश्विनौ च। मित्रद्रोहे निष्कृति-र्नास्ति लोके महत् पापं ब्रह्महत्यासमन्तत् ॥ ६ ॥ बृहस्पतिर्या-जयतां महेन्द्रं देवश्रेष्ठं वज्रभृतां वरिष्ठम्। सम्वर्त्तो मां याजयिताद्य राजन्न ते वाक्यं तस्य वा रोचयामि ॥ ७ ॥ गन्धर्व उवाच । घोरो नादः श्रूयतां वासवस्य नभस्तले गर्जतो राजसिंह । व्यक्तं वज्रं मोक्ष्यते ते महेन्द्रः । क्षेमं राजंश्चिन्त्यतामेष कालः ॥ ८ ॥ व्यास उवाच । इत्येवमुक्तो धृतराष्ट्रेण राजन् श्रुत्वा नादं नदतो वासवस्य । तपोनित्यं धर्मविदां वरिष्ठं सम्वर्त्तं तं ज्ञापयामास कार्यम् ॥ ९ ॥ मरुत्त उवाच । इममात्मानं प्लवमानमाराद्ध्वा दूरं तेन न दृश्य-तेद्य । प्रपद्येहं शर्म्म विप्रेन्द्र त्वत्तः प्रयच्छ तस्माद् भयं विप्रमुख्य १०

प्रहार करूँगा ॥ ५ मरुत्तने कहा, कि–तू ! इन्द्र, विश्वेदेवा, वसु और दोनों अश्विनीकुमार इस बातको जानते हो, कि–इस लोकमें मित्रद्रोह करनेवालेका उद्धार नहीं होता है, मित्रद्रोह ब्रह्म-हत्याकी समान एक बडाभारी पाप है॥६॥देवताओंमें श्रेष्ठ और वज्रधारियोंमें श्रेष्ठ इन्द्रके याजक (पुरोहित) रूपसे बृहस्पतिको काम करने दो, अब मेरे याजक तो संवर्त्त ही हैं, इसलिये हे गन्धर्वराज ! तुम्हारी या इन्द्रकी कोई भी बात मैं नहीं मान सकता ॥७॥ गन्धर्वने कहा, कि–हे राजसिंह ! आकाशमें गरजते हुए इन्द्रके भयानक शब्दको सुनिये, यह महेन्द्र ! निःसन्देह तुम्हारे ऊपर वज्र फेंकेगा, इसलिये हे राजन् ! यह समय है, कि–तुम अपने कल्याणका विचार करलो ॥८॥ व्यासजी कहते हैं कि–हे राजन् ! धृतराष्ट्र ऐसा कह रहा था, कि–इतनेमें ही वह गरजते हुए इन्द्रके शब्दको सुनकर मरुत्तने नित्य तपमें लगे रहनेवाले, धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ संवर्त्तसे यह बात कही ९ मरुत्तने कहा, कि–यह अपने आपको दूरसे ही गडगडा रहा है, उसका मार्ग दूर है,इसलिये वह इससमय दीखता नहीं है,हे विप्रेंद्र!

अयमायाति वै वज्री दिशो विद्योतयन् दश । अमानुषेण घोरेण सदस्यास्त्रासिता हि नः ॥ ११ । सम्वर्त्त उवाच । भयं शक्राद्व्येतु ते राजसिंह प्रणोत्स्येऽहं भयमेतत् सुघोरम् । संस्तम्भिन्या विद्यया क्षिप्रमेव मा भैस्त्वमस्याभिभवात् प्रतीतः ॥ १२ ॥ अहं संस्तम्भयिष्यामि माभैस्त्वं शक्रतो नृप । सर्वेषामेव देवानां क्षयितान्यायुधानि मे ॥ १३ ॥ दिशो वज्रं व्रजतां वायुरेतु वर्षं भूत्वा वर्षतां काननेषु । आपः प्लवं त्वन्तरिक्षे वृथा च सौदामिनी दृश्यते मा बिभैस्त्वम् १४ वह्निर्देवस्त्रातु वा सर्वतस्ते कामान् सर्वान् वर्षतु वासवो वा । वज्रं तथा स्थापयतां बधाय महाघोरं प्लवमानं जलौघैः ॥ १५ ॥ मरुत्त उवाच । घोरः शब्दः श्रूयते वै महास्वनो वज्रस्यैष सहितो मारुतेन । आत्मा हि मे प्रव्यथते मुहुर्मुहुर्न

मैं आपसे शरण (रक्षा) माँगता हूँ इसलिये हे विप्रोंमें मुख्य ! मुझे इससे अभय दीजिये ॥ १० ॥ दशों दिशाओंमें प्रकाश करता हुआ यह वज्रवाला आरहा है, इस घोर और अमानुषी स्वरसे मेरे मनुष्य भयभीत होगये हैं ॥ ११ ॥ संवर्त्तने कहा, कि हे राजसिंह ! इन्द्रसे तेरा भय दूर हो, इस संस्तंभिनी विद्याके बलसे मैं महाघोर भयको एक पलमें दूर करता हूँ, इसकी धमकीसे तू हारजानेका भय न कर ॥ १२ ॥ हे राजन् ! मैं इसको अभी खंभासा करे देता हूँ, तू इन्द्रसे भय न कर, मैंने सब देवताओंके आयुधोंका नाश करडाला है ॥ १३ ॥ वज्र भले ही दिशाओंमेंको जाय, वायु भले ही चले, मेघ घुमडाकर भले ही जङ्गलोंमें वर्षा करे, जल भले ही उफन आवे और अन्तरिक्षमें बिजलियें भले ही निरर्थक चमकें, परन्तु तू इससे न घबडा १४ वह्नि देवता तेरी सब ओरसे रक्षा करें अथवा वह इन्द्र तेरी सब कामनाओंको पूरी करे और वह तेरे बधके लिये जलके प्रवाहमें तैरतेहुए महाघोर वज्रको रोकदेय ॥ १५ ॥ मरुत्तने कहा, कि—बड़ा

स्वास्थ्यं जायते चाद्य विप्र ॥ १६ ॥ सम्वर्त्त उवाच । वज्राद्
ग्राद्व्येतु भयं तवाद्य वातो भूत्वा हन्मि वज्रं नरेन्द्र । भयं त्य-
क्त्वा वरमन्यं वृणीष्व कन्ते कामं मनसा साधयामि ॥१७॥ मरुत्त
उवाच । इन्द्रः साक्षात् सहसाभ्येतु विप्र हविर्यज्ञे प्रतिगृह्णातु
चैव । स्वं स्वं धिष्ण्यं चैव जुषन्तु देवा हुतं सोमं प्रतिगृह्णन्तु चैव१८
सम्वर्त्त उवाच । अयमिन्द्रो हरिभिरायाति राजन् देवैः सर्वैस्त्व-
रितैः स्तूयमानः । मन्त्राहूतो यज्ञमिमं मयाद्य पश्यस्वैनं मन्त्रविस्र-
स्तकायम् ॥ १९ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो देवैः सहितो देव-
राजो रथे युक्त्वा तान् हरीन् वाजिमुख्यान् । आयाद्यज्ञमथ राज्ञः
पिपासुराविक्षितस्याप्रमेयस्य सोमम् ॥ २० ॥ तमायान्तं सहितं

भारी शब्द करते हुए वज्रका वायुकी सनसनाहटके साथ यह
घोर शब्द सुनायी आरहा है,इसलिये मेरे मनमें वार२ बड़ी व्यथा
होती है, इसलिये हे विप्र! आज मेरा मन स्वस्थ नहीं रहता १६
संवर्त्तने कहा, कि-हे राजन्! तुझे वज्रका जो भय है यह आज
ही जाता रहेगा, मैं वायुरूप बनकर इस वज्रका नाश किये देता
हूँ, इसलिये भयको छोड़कर अब तू कोई दूसरा वर माँगले, तेरे
मनमें जो इच्छा होगी मैं उसको ही पूरी करूँगा १७मरुत्तने कहा,
कि-हे विप्र!इन्द्र साक्षात् एक साथ यहाँ चला आवे यज्ञमें हविको
स्वीकार करे तथा दूसरे देवता भी यहाँ आकर अपने२ स्थान पर
विराजें और हवि तथा सोमको ग्रहण करें१८संवर्त्तने कहा, कि-
हे राजन्! यह इन्द्र शीघ्रता करते हुए सब देवताओंसे स्तुति पाता
हुआ अपने घोड़ोंके साथ आरहा है, मैंने आज उसको इस यज्ञमें
मंत्रके बलसे बुलाया है, मंत्रके बलसे शिथिल हुई कायावाले उस
इन्द्रको तू देख ॥ १९ ॥ व्यासजी कहते हैं, कि-तदनन्तर देव-
ताओंके सहित देवराज इन्द्र, रथमें उत्तम घोड़ोंको जोतकर
जिसकी तुलना नहीं होसकती ऐसे मरुत्तके यज्ञमें सोमपान

देवसंघैः मत्युग्रयौ सपुरोधा मरुत्तः । चक्रे पूजां देवराजाय चाग्र्यां यथाशास्त्रं विधिवत् प्रीयमाणः ॥ २१ ॥ सम्वर्त्त उवाच । स्वागतन्ते पुरुहूतेह विद्वन् यज्ञोऽद्यायं सन्निहिते त्वयीन्द्र । शोशुभ्यते बलवृत्रघ्न भूयः पिबस्व सोमं सुतमुद्यतं मया ॥२२॥ मरुत्त उवाच। शिवेन मां पश्य नमश्च तेऽस्तु प्राप्तो यज्ञः सफलं जीवितं मे । अयं यज्ञं कुरुते मे सुरेन्द्र बृहस्पतेरवरजो विप्रमुख्यः ॥ २३ ॥ इन्द्र उवाच । जानामि ते गुरुमेतं तपोधनं बृहस्पतेरनुजं तिग्मतेजसम् । यस्याह्वानादागतोऽहं नरेन्द्र प्रीतिर्मेऽद्य त्वयि मन्युः प्रनष्टः ॥२४॥ सम्वर्त्त उवाच । यदि प्रीतस्त्वमसि वै देवराज तस्मात् स्वयं शाधि यज्ञे विधानम् । स्वयं सर्वान् कुरु भागान् सुरेन्द्र जानात्वयं सर्व-

---

करनेकी इच्छासे आगया॥२०॥ देवताओंके समूहके साथ उसको आतेहुए देखकर राजा मरुत्त अपने पुरोहितके सहित उनको लेनेके लिये गया और प्रीतिके साथ शास्त्रानुसार विधिपूर्वक देवराजकी पहली पूजा की२१संवर्त्तने कहा,कि-हे इन्द्र देव! आप यहाँ भले आये,हे विद्वन् इन्द्र! आपके पधारनेसे इस यज्ञकी बडी शोभा है, हे बल और वृत्रका नाश करनेवाले ! मैंने सोमरस निचोडा है, उसको तू खूब पी ॥ २२ ॥ मरुत्तने कहा, कि- हे सुरेन्द्र ! मेरे ऊपर कल्याणकी दृष्टि करो, आपको मेरा प्रणाम है, आज मेरा यज्ञ पूरा होगया और मेरा जीवन सफल होगया, बृहस्पतिके छोटे भाई यह विप्रवर संवर्त्त मेरा यज्ञ करा रहे हैं॥ २३ ॥ इन्द्रने कहा, कि-इन बृहस्पतिके छोटे भाई, तपस्वी और महातेजस्वी तेरे गुरुको मैं जानता हूँ, हे राजन् ! इनके ही बुलानेसे मैं आया हूँ और आज मेरा क्रोध दूर होकर तेरे ऊपर प्रीति होगई है२४ संवर्त्तने कहा, कि-हे देवराज ! यदि तुम प्रसन्न हुए हो तो इस यज्ञका विधान स्वयं ही बनाइये, हे सुरेन्द्र ! आप ही सब भागोंका निश्चय करिये और हे देव ! इस बातको सब लोग जान

लोकश्च देव ॥ २५ ॥ व्यास उवाच । एवमुक्तस्त्वाङ्गिरसेन शक्रः
समादिदेश स्वयमेव देवान् । सभाः क्रियन्तामावसथाश्च मुख्याः
सहस्रशश्चित्रभूताः समृद्धाः ॥ २६ ॥ क्लृप्ताः स्थूणाः कुरुतारो-
हणानि गन्धर्वाणामप्सरसाञ्च शीघ्रम् । यत्र नृत्येरन्नप्सरसः
समस्ताः स्वर्गोपमः क्रियतां यज्ञवाटः ॥ २७ ॥ इत्युक्तास्ते चक्रु-
राशु प्रतीता दिवौकसः शक्रवाक्यान्नरेन्द्र । ततो वाक्यं माह
राजानमिन्द्रः प्रीतो राजन् पूज्यमानो मरुत्तम् ॥ २८ ॥ एष
त्वयाहमिह राजन् समेत्य ये चाप्यन्ये तव पूर्वे नरेन्द्र । सर्वाश्चा-
न्या देवताः प्रीयमाणा हविस्तुभ्यं प्रतिगृह्णन्तु राजन् ॥ २९ ॥
आग्नेयं वै लोहितमालभन्तां वैश्वदेवं बहुरूपं हि राजन् । नीलं

लें ॥ २५ ॥ व्यासजीने कहते हैं, कि- अङ्गिराके पुत्र (संवर्त)
के ऐसा कहने पर इन्द्रने अपने आप ही देवताओंको आज्ञा दी,
कि-सभास्थान बनाओ और उसमें मुख्य २ हजारों कमरे ऐसे
बनाओ, जो समृद्धिसे भरेहुए हों और देखनेमें चित्रसे मालूम हों २६
उनमें खुदाईके कामके खम्भे लगाओ और गन्धर्वोंके तथा अप्स-
राओंके लिये ऊँची चौकियें शीघ्र ही बनाओ कि-जिससे सब
अप्सरायें तहाँ नाचने लगें और तहाँ स्वर्गकी उपमाके योग्य यज्ञ
का बाडा बनाओ ॥ २७ ॥ (व्यासजी कहते हैं, कि-) इस प्रकार
जिनसे कहा गया था ऐसे देवताओंने हे राजन्! इन्द्रकी आज्ञासे
सब काम वैसा ही तयार करदिया, तब मरुत्तकी पूजा करते और
प्रसन्न होते हुए इन्द्रने उस राजासे कहा ॥ २८ ॥ इन्द्र बोला,
कि-हे राजन्! यहाँ तेरे पास विद्यमान मैं और तेरे सामने जो
दूसरे हैं ये सब तथा सब देवता भी प्रसन्न होगए हैं, हे राजन्!
ये सब तेरे हविको ग्रहण करेंगे ॥ २९ ॥ हे राजन्! अब मुख्य
ब्राह्मणोंके द्वारा अग्निके लिए लाल और विश्वदेव (सूर्य) के लिए
चित्रवर्ण पुरुषजातिका पशु और हे राजन्! मरुतोंके लिए

चोक्षाणं मेध्यमथालभन्तां चलच्छिश्नं संप्रदिष्टं द्विजाग्र्याः ३०
ततो यज्ञो ववृधे तस्य राजन् यत्र देवाः स्वयमन्नानि जह्रुः ।
यस्मिन् शक्रो ब्राह्मणैः पूज्यमानः सदस्योऽभूद्धरिमान् देवराजः ३१
ततः संवर्त्तश्चैत्यगतो महात्मा यथा वह्निः प्रज्वलितो द्वितीयः ।
हवींष्युच्चैराह्वयन् देवसंघान् जुहावाग्नौ मन्त्रवत् सुप्रतीतः ॥३२॥
ततः पीत्वा बलभित् सोममग्र्यं ये चाप्यन्ये सोमपा देवसंघाः ।
सर्वेऽनुज्ञाताः प्रययुः पार्थिवेन यथाजोषं तर्पिताः प्रीतिमन्तः॥३३॥
ततो राजा जातरूपस्य राशीन् पदे पदे कारयामास हृष्टः । द्विजा-
तिभ्यो विसृजन् भूरि वित्तं रराज वित्तेश इवारिहन्ता ॥ ३४ ॥
ततो वित्तं विविधं सन्निधाय यथोत्साहं कारयित्वा च कोषम् ।

काले रङ्गका पशु, जो पवित्र हो और जिसको स्नान कराकर शुद्ध करलिया हो तथा जो चलच्छिश्न हो उसको हे राजन् ! वधवेदी पर लाओ ॥ ३० ॥ व्यासजी कहते हैं, कि हे राजन् ! तदनन्तर जिसमें देवताओंने स्वयं अन्न लिया था और जिसमें ब्राह्मणोंके पूज्य देवराज घोड़ोंवाले इन्द्र स्वयं यज्ञके मुख्य सभासद बने थे वह मरुत्तका यज्ञ आगेको चलने लगा ॥ ३१ ॥ फिर मानो दूसरा अग्नि प्रज्वलित होरहा हो ऐसे महात्मा संवर्त्त जागृत हुए और सब देवताओंके समूहको पुकार कर परम श्रद्धाके साथ मंत्र बोलते हुए अग्निमें हवि होमने लगे ॥ ३२ ॥ फिर बल दैत्यको मारनेवाले इन्द्रने पहले सोम पिया तथा सोमपान करनेवाले सब देवसमाजने भी पिया, इस प्रकार खूब संतुष्ट प्रसन्न हुए वे राजा मरुत्तकी आज्ञा लेकर तहाँसे चले गए ॥ ३३ ॥ तदनन्तर सन्तुष्ट हुए उस राजाने पग२ पर सुवर्ण के ढेर लगवा दिये और फिर ब्राह्मणोंको बहुतसा धन देकर विदा किया, वह राजा शत्रुओंका नाश करनेवाले धनपति कुबेरकी समान शोभा पाने लगा ॥ ३४ ॥ तदनन्तर वह अपने खजाने

अनुज्ञातो गुरुणा सन्निवृत्य शशास गामखिलां सागरान्ताम् ३५
एवंगुणः सम्बभूवेह राजा यस्य क्रतौ तत्सुवर्णं प्रभूतम् । तत्
त्वं समादाय नरेन्द्र वित्तं यजस्व देवांस्तर्पयानो निकामैः ॥३६॥
वैशम्पायन उवाच । ततो राजा पाण्डवो हृष्टरूपः श्रुत्वा वाक्यं
सत्यवत्याः सुतस्य । मनश्चक्रे तेन वित्तेन यष्टुं ततोऽमात्यैर्म-
न्त्रयामास भूयः ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि
सम्वर्तमरुत्तीये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच । इत्युक्ते नृपतौ तस्मिन् व्यासेनाद्भुत-
कर्मणा । वासुदेवो महातेजास्ततो वचनमाददे ॥१॥ तं नृपं दीन-
मनसं निहतज्ञातिबान्धवम् । उपप्लुतमिवादित्यं सधूममिव पावकम् २

को उत्साहके साथ भरवाकर और नानाप्रकारका धन वहाँ ही दबाकर गुरुकी आज्ञा ले पीछेको लौट आया और समुद्र जिसकी हद है ऐसी सब पृथिवी पर राज्य करने लगा ॥ ३५ ॥ इस पृथिवी पर वह राजा ऐसे गुणोंवाला होगया है, उसके ही यज्ञमें सुवर्ण इकट्ठा हुआ था, हे राजन् ! तू उस धनको मँगवाकर यहाँसे देवताओंको तृप्त कर और निवापाञ्जलिसे पितरोंको तृप्त कर ॥ ३६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—तदनन्तर सत्यवती के पुत्र व्यासजीकी इस बातको सुनकर पाण्डुके पुत्र राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए और उस द्रव्यसे यज्ञ करनेका विचार किया तथा अपने मंत्रियोंके साथ इस विषयमें बारंबार संमति करने लगे॥ ३७ ॥ दशम अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—अद्भुतकर्म वाले व्यासजीने राजासे इसप्रकार कहा, तब महातेजस्वी श्रीकृष्ण यह बात कहने लगे॥१॥ भाई बान्धवोंके मारेजानेसे जिसका चित्त खिन्न होरहा है, इस कारण राहुसे ढकेहुए सूर्यकी समान और धुएँसे ढके हुए अग्निकी

निर्विण्णमनसं पार्थं ज्ञात्वा वृष्णिकुलोद्वहः । आश्वासयन् धर्मसुतं प्रवक्तुमुपचक्रमे ३ वासुदेव उवाच । सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् । एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति ॥ ४ ॥ नैव ते निष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः । कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मनो नावबुध्यसे ॥ ५ ॥ अत्र ते वर्तयिष्यामि यथाधर्मं यथाश्रुतम् । इन्द्रस्य सह वृत्रेण यथा युद्धमवर्त्तत ॥ ६ ॥ वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता पुरा किल नराधिप । स दृष्ट्वा पृथिवीं व्याप्तां गन्धस्य विषये हृते ७ धराहरणदुर्गन्धो विषयः समपद्यत । शतक्रतुश्चुकोपाथ गन्धस्य

समान मालूम होते थे, उन कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको खिन्नमन जानकर वृष्णिवंशकी टेकरूप श्रीकृष्णने उनको ढाढस देतेहुए यह बात कही ॥ २ ॥ ३ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कपटमय (वा वासना वाला) यह सब संसार मृत्युके स्थानमें पहुंचता है (नाशवान् है) केवल सरलता (निष्कपटता वा निष्कामभाव)से ब्रह्मपद (मोक्ष) मिलता है, इतनी ही समझनेकी बात है केवल प्रलाप (बकवाद) करनेसे क्या होगा ?॥४॥ न तुम्हारे कर्मका ही नाश हुआ है और न तुमने शत्रुओंको ही जीता है,क्यों कि-तुम अपने शरीरमें विद्यमान शत्रुको ही नहीं जानते ॥ ५ ॥ इसलिये मैं तुमसे इन्द्र (चिदात्मा) का वृत्र (काम आदि धर्म वाले चित् अचित्की ग्रन्थिरूप अहङ्कार) के साथ जिसप्रकार युद्ध हुआ है और उसको मैंने जैसा सुना है वैसा ही धर्मानुसार आज कहूँगा ॥ ६ ॥ हे राजन् ! पहले एक समय सब पृथिवी (स्थूल शरीर) वृत्त (अहङ्कार) से व्याप्त होगई थी, इस पृथिवीका स्वाभाविक विषय जो गन्ध (आत्मतत्त्व) वह उसमेंसे हरलिया गया था अर्थात् ऐसा अहङ्कार व्याप गया था, कि-उस आत्मतत्त्वका विस्मरण होगया था॥७॥ इस लिये पृथिवीको पीडा देनेवाला (अनात्मभूत) दुर्गन्ध ही विश्वका विषय होगया

विषये हृते ॥ ८ ॥ वृत्रस्य स ततः क्रुद्धो घोरं वज्रमवासृजत् । स
वध्यमानो वज्रेण सुभृशं भूरितेजसा ॥ ९ ॥ विवेश सहसा तोयं
जग्राह विषयन्ततः । अप्सु वृत्रगृहीतासु रसे च विषये हृते॥१०॥
शतक्रतुरतिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् । स वध्यमानो वज्रेण तस्मि-
न्नमिततेजसा ॥ ११ ॥ विवेश सहसा ज्योतिर्जग्राह विषयन्ततः।
व्याप्ते ज्योतिषि वृत्रेण रूपेऽथ विषये हृते ॥ १२ ॥ शतक्रतुरति-
क्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् । स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमितते-

---

था, पृथिवी (स्थूल शरीर) में से गन्ध (रूप आत्मा) खेंच लिया गया था, इसलिये शतक्रतु (इन्द्र-आत्मा) कुपित होगया (चिन्मात्र होता हुआ भी अनित्यत्वसे आघ्रात होगया) ॥ ८ ॥ फिर क्रोधमें भरेहुए इन्द्रने वृत्रके ऊपर अहङ्कारास्पद इन्द्रियोंके ऊपर अपना घोर वज्र छोडा (विवेक-ज्ञानसे विचार करना आरम्भ करदिया) और अतितेजस्वी वज्र (ज्ञान) से वृत्र (अज्ञानरूप इन्द्रियबल) को घायल करदिया ॥ ९ ॥ तब उस वृत्र (अज्ञान) ने एक साथ जलमें (पञ्चीय भोग शरीर)में प्रवेश किया और उसका विषय (आत्मा-सार रस चूँसलिया (अर्थात् इन्द्रियोंका इतना अधिक उपयोग करना आरम्भ कर दिया, कि-कुछ तत्त्व रहा ही नहीं) तब तो वृत्रके ग्रहण किये हुए जलमें कुछ विषय (सार) नहीं रहा ॥ १० ॥ तब इन्द्र (आत्मा) अतिकुपित हुआ और उसके ऊपर फिर वज्रका प्रहार करने लगा, उस अधिक तेजवाले वज्रसे घायल हुआ वह वृत्र ॥ ११ ॥ एक साथ ज्योतिमें (तैजस प्रपञ्चमें) घुसा और उसके सारको चूँसलिया, (कुछ रूपको आत्मा मान लिया और कुछ पर ममता करबैठा)इस प्रकार ज्योति वृत्रसे व्याप्त होगया और उसका रूप, रङ्ग तथा प्रकाश खिंचगया ॥ १२ ॥ तब इन्द्र (आत्मा) बहुत ही क्रुद्ध हुआ और तहाँ भी वज्र

जसा ॥ १३ ॥ विवेश सहसा वायुं जग्राह विषयन्ततः । व्याप्ते वायौ तु वृत्रेण स्पर्शेऽथ विषये हृते ॥ १४ ॥ शतक्रतुरतिक्रुद्ध-स्तत्र वज्रमवासृजत् । स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा १५ आकाशमभिदुद्राव जग्राह विषयन्ततः । आकाशे वृत्रभूतेऽथ शब्दे च विषये हृते ॥ १६ ॥ शतक्रतुरभिक्रुद्धस्तत्र वज्रमवासृजत् । स वध्यमानो वज्रेण तस्मिन्नमिततेजसा ॥ १७ ॥ विवेश सहसा शक्रं जग्राह विषयन्ततः । तस्य वृत्रगृहीतस्य मोहः समभवन्महान् ॥१८॥ रथन्तरेण तं तात वशिष्ठः प्रत्यबोधयत् । ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ । शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम् १९

फेंकने लगा, अमित तेज वाले वज्रसे घायल हुआ वृत्र (अज्ञान) तहाँसे निकलकर ॥ १३ ॥ एक साथ वायुमें (समष्टिलिङ्गमें) घुसगया और उसका सार (स्पर्श) मानस विषयसङ्ग खेंचलिया (उसका साररूप बनगया) जब वृत्र वायुमें व्याप्त होगया तब उसका स्पर्श विषय जाता रहा (स्पर्शका मोह नहीं रहा) ।१४। तब शतक्रतुको बड़ा क्रोध आया और तहाँ वज्रका प्रहार करने लगा, तब अमित तेजसे घायल हुआ वह ॥ १५ ॥ आकाशमेंको दौड़ा और उसका विषय बनगया, जब तक आकाश वृत्रभूत होगया, तब उसका शब्दरूप विषय नष्ट होगया ॥ १६ तब तो विशेष क्रोधमें भरकर इन्द्रने फिर वज्रका प्रहार किया, तब अमित तेजवाले वज्रसे घायल हुए उस वृत्रने ॥१७॥ एक साथ इन्द्रमें ही प्रवेश किया और उसका विषयरूप बनगया, इसप्रकार जब वृत्र इन्द्रके शरीरमें घुसगया तब इन्द्रको महामोह (अभिमान) हुआ ॥ १८ ॥ हे तात ! फिर रथन्तरसे (अर्थात् यह मायामय शरीर रथ है उसको तरनेका अर्थात् शरीराभिमानको त्यागनेका साधन जो अहं ब्रह्मास्मि, वाक्य उसके यथार्थज्ञानसे) इन्द्र (आत्मा) को जाग्रत् किया ; द्वैतभावका निषेध करके अद्वैत

इदं धर्मरहस्यं वै शक्रेणोक्तं महर्षिषु। ऋषिभिश्च मम प्रोक्तं तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

वासुदेव उवाच। द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा। परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥ शरीरे जायते व्याधिः शारीरः स निगद्यते। मानसे जायते व्याधिर्मानसस्तु निगद्यते ॥ २ ॥ शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणा राजन् शरीरजाः। तेषां गुणानां साम्यञ्च तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ३ ॥ उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णञ्च बाध्यते। सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रय

स्वरूप समझाया) तदनन्तर हे भरतसत्तम ! शरीरमेंके वृत्र (अज्ञान) का ब्रह्मरूप वज्र (ज्ञान) से इन्द्रने नाश कर दिया (आत्मा और चित् ब्रह्म एक है, यह सिद्ध कर दिया) ऐसा मेरे सुननेमें आया है ॥ १९ ॥ हे राजन् ! यह धर्मसे भरा रहस्य इन्द्रने स्वयं महर्षियोंसे कहा था और ऋषियोंने मुझसे कहा, उसको तुम ठीक २ समझ लो ॥ २० ॥ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

वासुदेवने कहा, कि व्याधि दो प्रकारकी होती है; एक शारीरिक और दूसरी मानसिक, इनमेंसे एककी उत्पत्ति दूसरीसे होती है, एकके बिना दूसरीका जन्म नहीं होता ॥ १ ॥ जो व्याधि शरीरमें होती है उसको शारीरिक कहते हैं और जो व्याधि मनमें होती है उसको मानसिक कहते हैं ॥ २ ॥ हे राजन् ! शीतता (कफ) और उष्णता (पित्त) तथा वायु ये तीन गुण शरीरोंमें उत्पन्न होते हैं, जब ये सब गुण एकसमान होते हैं, तब उसको लोग स्वस्थता (आरोग्य) का लक्षण कहते हैं ॥ ३ ॥ गरमीसे सरदी दब जाती है और गरमी होने पर सरदी दब

आत्मगुणाः स्मृताः ॥ ४ ॥ तेषां गुणानां साम्यं चेत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् । तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ॥५॥ हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते । कश्चिद् दुःखे वर्त्तमानः सुखस्य स्मर्त्तुमिच्छति । कश्चित् सुखे वर्त्तमानो दुःखस्य स्मर्त्तुमिच्छति ॥ ६ ॥ स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी स सुखस्य च । स्मर्त्तुमिच्छसि कौन्तेय किमन्यद् दुःखविभ्रमात् ॥ ७ ॥ अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थावकृष्यसे । दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम् । मिषतां पाण्डवेयानां न तस्य स्मर्त्तुमिच्छसि । प्राव्रजनञ्च नगरादजिनैश्च निवासनम् । महारण्यनिवासश्च न तस्य

जाती है तथा इसीप्रकार सत्त्व, रज, और तम ये तीन आत्माके गुण कहलाते हैं ॥ ४ ॥ जब ये तीन गुण समान होते हैं तब आत्मा स्वस्थ रहता है, परन्तु इन तीनोंमेंके एकका जोर बढता है तब उसका विधान (उपाय) करना पड़ता है ॥ ५ ॥ हर्षसे शोक दबजाता है और शोकसे हर्षमें बाधा पडती देखते हैं दुःखमें पडाहुआ हरएक मनुष्य सुखका स्मरण करना चाहता है और सुख पानेवाला हरएक मनुष्य (पुत्रमरणादि) दुःखके स्मरणकी इच्छा करता है (इसप्रकार सुखका नाश करलेता है)६ सो तुम तो दोनों प्रकारके दुःखसे हीन होजाओ, तुम दुःखी होकर दुःखके स्मरणकी और सुखी होकर सुखके स्मरणकी इच्छा न करो, हे कुन्तीनन्दन ! तुम तो इस दुःखके जञ्जालसे अन्य अकाम अशोक ब्रह्मका स्मरण करो ॥ ७ ॥ अथवा हे पार्थ ! तुम्हारा यह कैसा स्वभाव है कि-जिसके कारणसे तुम सूखे जाते हो ? (दुःखित रहते हो ?) मैं समझता हूँ, कि-सभामें घसीट कर लाई गई, एक वस्त्रवाली और रजस्वला द्रौपदीको देखकर पाण्डवोंने आँखें मीच ली थीं उसका स्मरण करना तुम नहीं चाहते हो । ८॥ मैं समझता हूँ, कि तुम नगरमेंसे बाहर निकाल

स्मर्त्तुमिच्छसि ॥ ९ ॥ जटासुरात् परिक्लेशश्चित्रसेनेन चाहवे । सैन्धवाच्च परिक्लेशो न तस्य स्मर्त्तुमिच्छसि ॥ १० ॥ पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधः । याज्ञसेन्यास्तदा पार्थ न तस्य स्मर्त्तुमिच्छसि ॥ ११ ॥ यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिन्दम। मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ १२ ॥ तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ । परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्वा स्वकर्मभिः॥१३ यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः । आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥१४॥ तस्मिन्न निर्जिते युद्धे कामवस्थां गमि-

दियेगए, केवल मृगचर्म ओढकर रहे और घोर वनोंमें निवास किया उसका स्मरण करना तुम नहीं चाहते हो ॥ ९ ॥ मेरी समझमें तुम्हें जो जटासुरने दुःख दिया था और तुम्हारा जो चित्रसेनसे युद्ध हुआ था तथा सिंधु देशके सैंधवोंने तुम्हें जो दुःख दिया था, उसको तुम ताजा करना नहीं चाहते हो ॥१०॥ और हे पार्थ ! मैं समझता हूँ, कि-अज्ञातवासमें कीचकने द्रौपदीके लात मारीथी और उस यज्ञसेनकी पुत्रीके लात मारी थी उसको तुम स्मरण करना नहीं चाहते हो ॥ ११ ॥ और हे शत्रुओंका दमन करनेवाले ! मैं समझता हूँ, कि-द्रोण और भीष्मके साथ तुम्हारा जो युद्ध हुआ था उसको याद करना नहीं नहीं चाहते हो (उनके साथ तुम्हारा जो युद्ध हुआ वह तो एक युद्ध था ही, परन्तु) अब तो तुम्हें अकेलेको, जो युद्ध (तुम्हारे अंतःकरणमें होने लगा है) उसमें मनके साथ लडना है ॥१२॥ इसलिये हे भरतसत्तम ! अव्यक्त स्वरूपके परंपारको पहुँचनेके लिये युक्ति (योग) से और अपने कर्मोंसे युद्धमें सन्मुख भिड़ना है ॥ १३ ॥ कि-जिसमें बाणोंसे, सेवकोंसे, या भाइयोंसे कुछ काम नहीं पड़ेगा, यह जो युद्ध आरम्भ हुआ है, इसमें तो तुम्हें अकेले ही मनके साथ लडना है ॥ १४ ॥ यदि तुम इस युद्धमें

ष्यसि । एतज्ज्ञात्वा तु कौन्तेय कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ १५ ॥ एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् । पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि कृष्णधर्मसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वासुदेव उवाच । न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत । शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥ बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृध्यतः । यो धर्मो यत् सुखञ्चैव द्विषतामस्तु तत्तथा ॥ २ ॥ द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म

नहीं जीतोगे तो तुम्हारी क्या दशा होगी ? (बुरी दशा होजायगी) हे कुन्तीनन्दन ! इस बातको जाने रहोगे तो तुम कृतार्थ होजाओगे ॥ १५ ॥ सब प्राणी ऐसे ही आया और जाया करते हैं (जन्मते हैं और मरते हैं) इस बातको निश्चयरूपसे समझकर तुम अपने पिता और पितामहके मार्गमें चलतेहुए उचित रीतिसे राज्यका शासन करो ॥ १६ ॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त॥

श्रीकृष्णने कहा, कि–हे भरतवंशी ! बाहरके पदार्थोंको(राज्य आदिको) त्याग देनेसे कुछ सिद्धि नहीं होती है और शरीरके (लिङ्ग शरीरमें उत्पन्न होनेवाले कामादि) पदार्थोंको त्यागनेसे सिद्धि होती भी है और (विवेकशून्य सूखे वैराग्यवालेको) नहीं भी होती है ॥१॥ बाहरी पदार्थोंसे विलग हुए और शरीर सम्बन्धी पदार्थोंमें आसक्त हुए मनुष्यका जो धर्म और सुख होता है वह द्वेष करानेवाला (तुच्छ) होता है ॥ २ ॥ जिसमें दो अक्षरोंका गुण है (जिसमें मम–मेरा लगाहुआ है) उसकी मृत्यु होती है,परन्तु जिसमें तीन अक्षर ("न मम"–मेरा नहीं है, ये) हैं वह शाश्वत–सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है, 'मम–मेरा' कहलाने वाली वस्तुका नाश होजाता है और जिसमें 'मेरा' यह

शाश्वतम् । ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ३ ॥ ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ । अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ४ ॥ अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत । भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसा प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥ लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां सह स्थावरजङ्गमाम् । मम त्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥ ६ ॥ अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः । ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्त्तते ॥ ७ ॥ बाह्यान्तराणां शत्रूणां स्वभावं पश्य भारत । यन्न पश्यति तद् भूतं मुच्यते स महाभयात् ॥ ८ ॥ कामात्मानं न प्रशंसंति लोके नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः । सर्वे कामा मनसोऽङ्गप्रभूता यान्

भाव नहीं रहता वह अमर होजाता है ॥ ३ ॥ इसलिये हे राजन्! ब्रह्म और मृत्यु (निःसङ्गभाव और आसक्ति) इन दोनोंकी व्यवस्था आत्मामें ही है और ये दोनों अदृश्य रहकर निःसंदेह भूतोंको लड़ाते हैं (एक वस्तु पर बहुतोंका ममत्व होनेसे अवश्य ही युद्ध होगा) ॥४॥ सत् पदार्थके अविनाशीपनेका यदि निश्चय होजाय तो हे भारत ! तो प्राणियोंके शरीरोंको काटनेके कामको भी अहिंसा ही समझना चाहिये ॥ ५ ॥ स्थावर और जङ्गम पदार्थोंसे भरी हुई यह सब पृथिवी मिलजाने पर जिसका उसमें ममत्व नहीं होता है उसके वे पदार्थ कर ही क्या सकते हैं?॥६॥ अथवा हे युधिष्ठिर ! वनमें रहनेवाले और वनमें उत्पन्न हुए फल आदिसे निर्वाह करनेवाले मनुष्यको यदि पदार्थों पर ममता हो तो निःसन्देह उसको मृत्युके मुखमें पड़ हुआ ही समझो ।७। हे भारत ! तुम अपने बाहरी और भीतरी शत्रुओंके स्वरूपको देखो जो (मायाके बन्धनमें पड़जाने पर भी) इन बाहरी और भीतरी शत्रुओंसे उत्पन्न हुए कार्यको नहीं देखता है वह बड़े भारी भयमेंसे मुक्त होजाता है ॥८॥ इस जगत्में जिसका आत्मा

पण्डितः संहरते विचिन्त्य ॥ ९ ॥ भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगात् योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्य । दानञ्च वेदाध्ययनं तपश्च काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि ॥ १० ॥ व्रतं यज्ञान्नियमान् ध्यानयोगान् कामेन यो नारभते विदित्वा। यद्यच्चायं कामयते स धर्मो न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम् ॥ ११ ॥ अत्र गाथाः कामगीताः कीर्त्तयन्ति पुराविदः । शृणु संकीर्त्यमानास्ता अखिलेन युधिष्ठिर । नाहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित् ॥ १२ ॥ यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम् । तस्य तस्मिन् प्रह-

कामनावाला है, लोग उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं तथा इस लोकमें कोई भी प्रवृत्ति निष्काम नहीं है, सब कामनायें मनकी अङ्गरूप हैं, और पण्डित इस विषयमें विचार करके कामनाओं का नाश करते हैं ॥ ९ ॥ योगी जन्म जन्ममें वारम्बार कियेहुए अभ्याससे योगको ही एक सार मार्ग विचारकर कामनाओंका नाश करडालता है, दान, वेदोंका अध्ययन, तप और कामनाओंवाले वैदिक कर्म१०व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यानयोग इनमेंसे किसी कर्मका भी योगी कामनासे आरम्भ नहीं करता है, क्यों कि-वह जानता है, कि-जिस २ की वह कामना करता है वह धर्म नहीं है, वास्तविक धर्म तो वह है, कि-जिसकी मूल नियमों के पालनमें (इच्छाओंको अंकुशमें रखनेमें) है ॥ ११ ॥ इस विषयमें पूर्वकालके विद्वानोंने कामगीता नामकी गाथा कही है, हे युधिष्ठिर ! उसको तुम सुनो-काम कहता है, कि-कोई भी मनुष्य उपाय किये विना (अपने मनमें अहंपनेके त्यागका योगाभ्यास किये विना) अहंभावका नाश नहीं करसकता है १२ अहम्भावका नाश करनेके लिये जितना बल चाहिये उसका विचार करके जो मेरे (अहम्भावके) नाशका उद्योग करता है, उसके शस्त्रमें, भुजामें, जब वह नाश करनेका उद्योग करता है,

रणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १३ ॥ यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्वि-
विधदक्षिणैः । जङ्गमेष्विव धर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १४ ॥
यो मां प्रयतते नित्यं वेदैर्वेदान्तसाधनैः । स्थावरेष्विव भूतात्मा
तस्य प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १५ ॥ यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्य-
पराक्रमः । भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते ॥ १६ ॥
यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा शंसितव्रतः । ततस्तपसि तस्याथ पुनः
प्रादुर्भवाम्यहम् ॥ १७ ॥ यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय
पण्डितः । तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च । अवध्यः
सर्वभूतानामहमेकः सनातनः ॥ १८ ॥ तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञै-

उस समय में अहंभाव प्रकट होता है अर्थात् उसको बाहुबलका अभिमान आजाता है ॥ १३ ॥ जो अनेकों प्रकारकी दक्षिणाओं वाले यज्ञोंसे मेरा (अहम्भावका) नाश करना चाहता है, और वह समझता है कि-मैं जङ्गमोंमें एक धर्मात्मा होजाऊँ उस समय उसमें फिर उसके चित्तमें प्रकट होजाता हूँ ॥ १४ ॥ जो कोई वेदोंके द्वारा और वेदान्तके साधनोंके द्वारा मारनेका उद्योग करता है, वह यह समझता है, कि-मैं स्थावरोंमें भूतात्मा होजाऊँ उस समय मैं उसमें फिर प्रकट होजाता हूँ ॥ १५ ॥ जो कोई सत्यपराक्रमी पुरुष धृति (धीरज) से मेरे मारनेका उद्योग करता है मैं उसका भाव (मानसिक विचार) बनजाता हूँ और वह मुझे पहचानता ही नहीं है ॥ १६ ॥ जो कोई उत्तम व्रतवाला तप करके मुझे मारना चाहता है, उसके मनमें मैं तपोभावरूपसे प्रकट होजाता हूँ ॥ १७ ॥ जो कोई पण्डित मोक्षके ऊपर श्रद्धा रख कर मुझे मारनेका उद्योग करता है, उस मोक्ष पर प्रीति रखने वाले को देखकर मैं नाचता हूँ और हँसता हूँ कि-सब भूतोंमें सनातन मैं एक अवध्य हूँ १८ श्रीकृष्णने कहा, कि-इसलिये हे युधिष्ठिर ! तुम भी अनेकों दक्षिणाओंवाले यज्ञोंसे उस कामको जीतनेका

र्विविधदक्षिणैः । धर्मं कुरु महाभाग तत्र ते स भविष्यति ॥१९॥
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता । अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धै-
राप्तदक्षिणैः ॥ २० ॥ मा ते व्यथास्तु निहतान् बन्धून् वीक्ष्य
पुनः पुनः । न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं ये हतास्मिन्रणाजिरे ॥ २१ ॥
स त्वमिष्ट्वा महायज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः । कीर्त्तिं लोके परां
प्राप्य गतिमग्र्यां गमिष्यसि ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि
कृष्णधर्मसंवादे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच । एवं बहुविधैर्वाक्यैर्मुनिभिस्तैस्तपोधनैः ।
समाश्वास्यत राजर्षिर्हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ॥ सोऽनुनीतो भगवता विष्टर-
श्रवसा स्वयम् । द्वैपायनेन कृष्णेन देवस्थानेन वा विभुः ॥ २ ॥

धर्माचरण करो, इससे तुम्हारा यह काम सिद्ध होजायगा १९
इसलिये दक्षिणाओं वाला अश्वमेध तथा ऐसे ही दूसरे समृद्धि-
वाले और दक्षिणाओंवाले बहुतसे यज्ञ करो ॥ २० ॥ मरणको
प्राप्त हुए बन्धुओंका बारम्बार स्मरण आनेसे होनेवाला दुःख
इसप्रकार दूर होजायगा, जो इस रणमें मारेगये हैं, उनका फिर
दर्शन होना कठिन है ॥ २१ ॥ समृद्धिवाले और बड़ी बड़ी
दक्षिणाओंवाले महायज्ञोंके करनेसे इस लोकमें तुम्हें बडीभारी
कीर्त्ति मिलेगी और परलोकमें उत्तम गति प्राप्त होगी ॥ २२ ॥
तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—इसप्रकार उन तपोधन मुनियोंने
अनेकों प्रकारके वाक्योंसे जिनके भाई बन्धु मारेगये थे उन राजर्षि
युधिष्ठिरको ढाढस दिया हे राजन् ! स्वयं भगवान् विष्टरश्रवाने,
द्वैपायन व्यासने, कृष्णने, देवस्थानने, नारदने, भीमने, नकुलने,
द्रौपदीने, सहदेवने और बुद्धिमान् अर्जुनने तथा पुरुषोंमें व्याघ्र-
समान दूसरे बड़े बड़ोंने और शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मणोंने राजा

नारदेनाथ भीमेन नकुलेन च पार्थिव । कृष्णया सहदेवेन विज-
येन च धीमता ॥३॥ अन्यैश्च पुरुषव्याघ्रैर्ब्राह्मणैः शास्त्रदृष्टिभिः॥
व्यजहात् शोकजं दुःखं सन्तापश्चैव मानसम् ॥ ४ ॥ अर्चयामास
देवांश्च ब्राह्मणांश्च युधिष्ठिरः । कृत्वाथ प्रेतकार्याणि बन्धूनां स
पुनर्नृपः । अन्वशास्ति स्म धर्मात्मा पृथिवीं सागराम्बराम् ॥ ५ ॥
प्रशान्तचेताः कौरव्यः स्वराज्यं प्राप्य केवलम् । व्यासञ्च नारदं
चैव तांश्चान्यानब्रवीन्नृपः ॥ ६ ॥ आश्वासितोऽहं प्राग्वृद्धैर्भवद्भि-
र्मुनिपुङ्गवैः । न सूक्ष्ममपि मे किञ्चिद्व्यलीकमिह विद्यते ॥ ७ ॥
अर्थश्च सुमहान् प्राप्तो येन यक्ष्यामि देवताः । पुरस्कृत्याद्य भवतः
समानेष्यामहे मखम् ॥८॥ हिमवन्तं त्वया गुप्ता गमिष्यामः पिता-
मह । बह्वाश्चर्यो हि देशः स श्रूयते द्विजसत्तम ॥ ९ ॥ तथा भग-

युधिष्ठिरको समझाया तब उनका शोकसे उत्पन्न हुआ दुःख
और मानसिक सन्ताप दूर हुआ ॥ २–४ ॥ फिर युधिष्ठिरने
देवताओंका और ब्राह्मणोंका पूजन किया तथा उन राजा युधि-
ष्ठिरने अपने संबन्धियोंकी प्रेतक्रिया की और उन धर्मात्माने समुद्ररूप
वस्त्रवाली पृथिवी पर राज्य करना आरम्भ करदिया ॥ ५ ॥
अतिशान्त चित्तवाले उस कुरुवंशके राजाने केवल अपने राज्यको
पाकर व्यासजी, नारदजी, तथा दूसरोंसे इसप्रकार कहा ॥ ६ ॥
युधिष्ठिर बोले, कि–आपसरीखे मेरी अपेक्षा वृद्ध पुरुषोंने और
श्रेष्ठ मुनियोंने मुझे धीरज तो बँधाया परन्तु अब इस लोकमें
मुझे कोई जरासा भी दुःख नहीं रहा है ॥ ७ ॥ मुझे बहुतसा
धन भी मिलगया है, कि–जिससे मैं देवताओंका यजन करसकूँगा,
इसलिये अब मैं आप सबोंके सामने यज्ञोंका आरम्भ करूँगा ८
हे पितामह ! आपकी रक्षामें हम हिमालय पर जायँगे, हे द्विज-
सत्तम ! यह देश बड़े ही आश्चर्यमें डालने वाला है, यह हमने
सुना है ॥ ९ ॥ और तुमने, देवर्षि नारदजीने तथा देवस्थानने

वता चित्रं कल्याणं बहु भाषितम् । देवर्षिणा नारदेन देवस्थानेन चैव ह ॥ १० ॥ नाभागधेयः पुरुषः कश्चिदेवंविधान् गुरून् । लभते व्यसनं प्राप्य सुहृदः साधुसम्मतान् ॥ ११ ॥ एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सर्व एव महर्षयः । अभ्यनुज्ञाप्य राजानं तथोभौ कृष्णफाल्गुनौ ॥ १२ ॥ पश्यतामेव सर्वेषां तत्रैवादर्शनं ययुः । ततो धर्मसुतो राजा तत्रैवोपाविशत् प्रभुः ॥ १३ ॥ एवं नातिमहान् कालः स तेषामभ्यवर्त्तत । कुर्वतां शौचकार्याणि भीष्मस्य निधने तदा ॥१४॥ महादानानि विप्रेभ्यो ददतामौर्ध्वदेहिकम् । भीष्मकर्णपुरोगाणां कुरूणां कुरुसत्तम ॥१५॥ सहितो धृतराष्ट्रेण स ददावौर्ध्वदेहिकम् । ततो दत्त्वा बहुधनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः ॥१६ धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयम् । स समाश्वास्य पितरं

भी इस विषयमें नई २ और कल्याण करनेवाली बहुतसी बातें कही हैं ॥१०॥ जब दुःख आपडता है, उस समय किसी भाग्यशाली पुरुषको भी आपसरीखे गुरु और साधुओंसे सम्मान पायेहुए मित्र नहीं मिलते हैं (मुझे मिलगए, यह मेरा अहोभाग्य है) ॥ ११ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार कहने पर सब महर्षियोंने उन राजा युधिष्ठिरको, कृष्णको, और अर्जुनको तहाँ जानेकी आज्ञा दी ॥१२॥ और स्वयं सबके देखतेहुए तहाँ ही अन्तर्धान होगए, तदनन्तर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर थोडी देरतक तहाँ ही बैठे रहे ॥ १३ ॥ इसप्रकार भीष्मजी की मृत्युके बाद शौचकर्म करते २ उनको थोडासा समय बीत गया ॥१४॥ कुरुकुलके भीष्म, कर्ण आदि जो पहले मरचुके थे, उनके निमित्तसे और्ध्वदेहिक क्रिया करके हे कुरुसत्तम ! उन्होंने ब्राह्मणोंको बड़े२ दान दिये ॥१५॥ और धृतराष्ट्रसहित पांडवों में बड़े युधिष्ठिरने और्ध्वदेहिक कर्म करके ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दिया ॥ १६ ॥ और धृतराष्ट्रको आगे करके हस्तिनापुरमें

प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्। अन्वशाद्वै स धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह१७
इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच । विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते द्विजसत्तम ।
राष्ट्रे किं चक्रतुर्वीरौ वासुदेवधनञ्जयौ ॥१॥ वैशम्पायन उवाच ।
विजिते पाण्डवै राजन् प्रशान्ते च विशाम्पते । राष्ट्रे बभूवतुर्हृष्टौ
वासुदेवधनञ्जयौ ॥२॥ विजहाते मुदा युक्तौ दिवि देवेश्वराविव ।
तौ वनेषु विचित्रेषु पर्वतानाञ्च सानुषु ॥ ३ ॥ तीर्थेषु चैव पुण्येषु
पल्वलेषु नदीषु च । चंक्रम्यमाणौ संहृष्टावश्विनाविव नन्दने ॥४॥
इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमतुः कृष्णपाण्डवौ । प्रविश्य तां सभां रम्यां
विजहाते च भारत ॥ तत्र युद्धकथाश्चित्राः परिक्लेशांश्च पार्थिव ।

चलेगए तथा प्रज्ञाचक्षु अपने ताऊ धृतराष्ट्रको ढाढस दिया और अपने भाइयोंके साथ वह धर्मात्मा राज्य करनेलगे ॥ १७ ॥
चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥ छ ॥ छ ॥

जनमेजयने कहा, कि–हे द्विजवर ! पाण्डवोंने विजय पाकर राज्यमें शान्ति फैलादी, उसके बाद उन वीर श्रीकृष्णने और अर्जुनने क्या किया ? ॥ १ ॥ वैशम्पायनने उत्तर दिया कि–हे राजन् ! पाण्डवोंने विजय करके राज्यमें शान्ति फैलादी तब श्रीकृष्ण और अर्जुनको बड़ा आनन्द हुआ ॥ २ ॥ स्वर्गमें के दो इन्द्रकी समान वे दोनों आनन्दमें रहकर विचित्र वनोंमें और पर्वतोंके शिखरों पर विहार करनेलगे ॥ ३ ॥ जैसे दो अश्विनीकुमार पवित्र तीर्थों पर सरोवरों पर नदियों पर और नन्दन वनमें विचरते हों तैसे ही अति आनन्द पाते हुए वे दोनों विचरनेलगे ॥ ४ ॥ वे दोनों महात्मा कृष्ण और अर्जुन इन्द्रप्रस्थमें रमण कररहे थे, हे भारत ! वहाँकी रमणीय सभामें जाकर वे विहार किया करते थे ॥ ५ ॥ हे राजन् ! वहाँ युद्धकी नयी २

कथायोगे कथायोगे कथयामासतुः सदा॥६॥ ऋषीणां देवतानाञ्च वंशांस्तावाहतुस्तदा। प्रीयमाणौ महात्मानौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥७॥ मधुरास्तु कथाश्चित्राश्चित्रार्थपदनिश्चिताः। निश्चयज्ञः स पार्थाय कथयामास केशवः ॥८॥ पुत्रशोकाभिसंतप्तं ज्ञातीनां च सहस्रशः। कथाभिः शमयामास पार्थं शौरिर्जनार्दनः ॥ ९ ॥ स समाश्वास्य विधिवत् विज्ञानज्ञो महातपाः। अपहृत्यात्मनो भारं विशश्रामेव सात्वतः ॥१०॥ ततः कथान्ते गोविन्दो गुडाकेशमुवाच ह। सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा हेतुयुक्तमिदं वचः ॥ ११॥ वासुदेव उवाच। विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन् परन्तप। त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह ॥ १२ ॥ असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधि-

कथायें और दुःखकी कहानियें वे बात २ में नित्य कहा करते थे ॥ ६ ॥ वे ऋषियोंमें श्रेष्ठ, प्रसन्न चित्तवाले दोनों पुरुष महात्मा नित्य ऋषियोंके और देवताओंके वंशोंकी बातें किया करते थे ॥ ७ ॥ निश्चय (तत्त्व) को जाननेवाले केशव, अर्जुन को भिन्न अर्थ, पद और निश्चयोंवालीं विलक्षण तथा मधुर कथायें सुनाते थे ॥ ८ ॥ तहाँ शूरवंशमें उत्पन्न हुए श्रीकृष्णने पुत्रमरणके शोकसे अतिसन्ताप पातेहुए तथा सहस्रों ज्ञातिवालों के मरणसे दुःखी होते हुए अर्जुनको कथा वार्त्ताओंसे शान्त किया ॥ ९ ॥ व्यवहारको जाननेवाले महातपस्वी कृष्णने उचित रीतिसे उसको आश्वासन दिया और सत्त्वगुणके बलसे अपने आत्माके भारको भी घटाकर तहाँ विश्राम लिया ॥१०॥ फिर कथाके अन्तमें कोमल और युक्तिभरी वाणीसे समझाते हुए श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह बात कही।११।वासुदेव बोले, कि—हे अर्जुन ! हे शत्रु-मर्दन ! राजा युधिष्ठिरने तेरे बाहुबलका आश्रय लेकर सब पृथिवी जीत ली है॥१२॥ हे नरोत्तम ! भीमसेनके और नकुल सहदेवके बलसे धर्मराज युधिष्ठिर इस शत्रुशून्य पृथिवीको भोगरहे हैं।१३।

ष्ठिरः । भीमसेनानुभावेन यमयोश्च नरोत्तम ॥१३॥ धर्मेण राज्ञा धर्मज्ञ प्राप्तं राज्यमकण्टकम् । धर्मेण निहतः संख्ये स च राजा सुयोधनः ॥ १४ ॥ अधर्मरुचयो लुब्धाः सदा चाप्रियवादिनः । धार्त्तराष्ट्रा दुरात्मानः सानुबन्धा निपातिताः ॥ १५ ॥ प्रशान्तामखिलां पार्थ पृथिवीं पृथिवीपतिः । भुङ्क्ते धर्मसुतो राजा त्वया गुप्तः कुरूद्वह ॥ १६ ॥ रमे चाहं त्वया सार्द्धमरण्येष्वपि पाण्डव । किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्षण ॥ १७ ॥ यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः । यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम ॥ १८ ॥ तथैव स्वर्गकल्पेषु सभोद्देशेषु कौरव । रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयानघ॥१९॥कालो महांस्त्वतीतो मे शूरसूनुमपश्यतः । बलदेवञ्च कौरव्य तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान् ॥ २० ॥

हे धर्मके ज्ञाता ! धर्मराजने इस राज्यको निष्कंटकरूपसे पालिया है और राजा दुर्योधन युद्धमें धर्मसे मारा गया है ॥ १४ ॥ धृतराष्ट्रके पुत्र अधर्म पर रुचि रखनेवाले, लोभी, सदा मिथ्या और कटुवचन बोलनेवाले बड़े ही दुष्टात्मा थे, वे अपने सब साथी और प्रेमियोंके सहित मारेगए॥१५॥ हे पार्थ! हे कुरूद्वह ! अब तेरी रक्षा की हुई सम्पूर्ण शान्त पृथिवीको पृथिवीपति राजा धर्मपुत्र भोगते हैं ॥ १६ ॥ और हे पाण्डव ! मैं तेरे साथ वनोंमें रमण करता हूँ, हे शत्रुओंको मारनेवाले ! जहाँ मैं और यह पृथा हों तहाँ और विशेष क्या चाहिये ? ॥१७॥ जहाँ राजा धर्मपुत्र, जहाँ महाबली भीम और जहाँ माद्रीके दोनों पुत्र हों तहाँ मुझे बड़ा आनन्द मालूम होता है ॥१८॥ तथा हे कुरुवंशी ! स्वर्गकी समान रमणीय और पुण्यवान् इस सभास्थानमें हे अनघ ! तेरे साथ रहतेहुए मुझे बहुत समय बीतगया है, इतने दिनों हे कुरुवंशी ! मुझे वसुदेवजी, बलदेवजी तथा दूसरे वृष्णिवंशी महापुरुषोंका दर्शन नहीं मिला है ॥ १९–२० ॥ इसलिये अब मैं

सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारावतीं प्रति । रोचतां गमनं मह्यं तवापि पुरुषर्षभ ॥२१॥ उक्तो बहुविधं राजा तत्र तत्र युधिष्ठिरः॥ सह भीष्मेण यद्युक्तमस्माभिः शोककारिते ॥२२॥ शिष्टो युधिष्ठिरोऽस्माभिः शास्ता सन्नपि पण्डितः। तेन तत्तु वचः सम्यग् गृहीतं सुमहात्मना ॥ २३ ॥ धर्मपुत्रे हि धर्मज्ञे कृतज्ञे सत्यवादिनि । तस्य धर्मो मतिश्चाग्र्या स्थितिश्च सततं स्थिरा ॥ २४ ॥ तत्र गत्वा महात्मानं यदि ते रोचतेऽर्जुन । अस्मद्गमनसंयुक्तं वचो ब्रूहि जनाधिपम् ॥ २५ ॥ न हि तस्याप्रियं कुर्य्यां प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते । कुतो गन्तुं महाबाहो पुरीं द्वारवतीं प्रति २६ सर्वं त्विदमहं पार्थ त्वत्प्रीतिहितकाम्यया । ब्रवीमि सत्यं कौरव्य न

द्वारकाकी ओरको जाना चाहता हूँ, हे पुरुषसत्तम! यह मेरी बात तुझे भी अच्छी मालूम होनी चाहिये ॥ २१ ॥ शोक करते हुए राजा युधिष्ठिरसे उस समय भीष्मजीने तथा हमने युक्तियोंके साथ सब बातें बहुत प्रकारसे समझाईं थीं ॥ २२ ॥ पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर यद्यपि राज करहे थे तो भी हमने उनको उपदेश दिया था और उन महात्माने हमारी बातोंको स्वीकार किया था॥२३॥ क्योंकि-धर्मको जाननेवाले, कृतज्ञ सत्यवादी धर्मपुत्रकी ऐसी ही वृत्ति है, कि-सत्य, धर्म और उत्तम बुद्धि उनमें सदा स्थिर रहती है ॥ २४ ॥ अब हे अर्जुन ! यदि तुझे रुचता हो तो तू उन महात्माके पास जा और उन राजा युधिष्ठिरसे मेरी जानेकी बात कहदे ॥ २५ ॥ चाहे प्राण जानेका अवसर आजाय तो भी मैं उनके मनको अच्छा न लगने वाला काम नहीं करना चाहता, तो फिर हे महाबाहो ! उनके चित्तको अच्छा न लगने पर मैं द्वारकाको तो जा ही कैसे सकता हूँ,?॥२६॥ हे पार्थ ! तेरे ऊपर मेरी प्रीति है और मैं तेरा हितैषी हूँ,इसलिये यह सब मैं तुझसे सत्य ही कहरहा हूँ हे कौरव ! इसमें जरा भी मिथ्या नहीं है२७

मिथ्यैतत् कथञ्चन ॥२७॥ प्रयोजनञ्च निर्वृत्तमिह वासे ममार्जुन ।
धार्त्तराष्ट्रो हतो राजा सबलः सपदानुगः ॥ २८ ॥ पृथिवी च
वशे तात धर्म्मपुत्रस्य धीमतः । स्थिता समुद्रवलया सशैलवन
कानना ॥ २९ ॥ जिता रत्नैर्बहुविधैः कुरुराजस्य पाण्डव । धर्मेण
राजा धर्मज्ञः पातु सर्वां वसुन्धराम् ॥ ३० ॥ उपास्यमानो बहुभिः
सिद्धैश्चापि महात्मभिः । स्तूयमानश्च सततं वन्दिभिर्भरतर्षभ ३१
त्वं मया।सह गत्वाद्य राजानं कुरुवर्द्धन । आपृच्छ कुरुशार्दूल
गमनं द्वारकां प्रति ॥ ३२ ॥ इदं शरीरं वसु यच्च मे गृहे निवे-
दितं पार्थ सदा युधिष्ठिरे । प्रियश्च मान्यश्च हि मे युधिष्ठिरः सदा
कुरूणामधिपो महामतिः ॥ ३३ ॥ प्रयोजनञ्चापि ।निवासकारणे
न विद्यते मे त्वहते नृपात्मज । स्थिता हि पृथ्वी तव पार्थ शासने

हे अर्जुन! मेरा यहाँ रहनेका प्रयोजन पूरा होगया, वह धृतराष्ट्रका
पुत्र अपनी सेना और साथियोंके सहित मारागया ॥ २८ ॥
और हे तात ! समुद्रसे घिरी हुई तथा पर्वत, वन और काननों
सहित, कुरुदेशके राज्योंके अनेकों प्रकारके रत्नोंसे भरी हुई सब
पृथिवी पाण्डव बुद्धिमान् धर्मपुत्रके अधिकारमें आगई है, हे भरत-
सत्तम ! जिनकी अनेकों सिद्ध और महात्मा उपासना करते हैं
और बन्दीजन निरन्तर स्तुति गाया करते हैं वह धर्मको जानने
वाले राजा युधिष्ठिर इस सब पृथिवीकी धर्मानुसार रक्षा करते
हैं ॥ २९-३१ ॥ हे कुरुसिंह ! उन कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले
राजाके पास आज मेरे साथ चलकर मुझे द्वारका जानेकी आज्ञा
दिलादे ॥ ३२ ॥ हे पार्थ ! यह मेरा शरीर और मेरे घरमें जो
कुछ भी संपत्ति है वह सदा युधिष्ठिरकी सेवामें हाजिर है, क्योंकि-
कुरुओंमें मुख्य महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर मुझे सदा प्यारे और मान्य
हैं ॥३३॥ हे राजपुत्र ! मेरे यहाँ रहनेका कारण अब तेरे सिवाय
और कुछ नहीं है, क्योंकि हे पार्थ ! तेरे बड़े और अच्छे वर्त्ताव

गुरोः सुवृत्तस्य युधिष्ठिरस्य च ॥ ३४ ॥ इतीदमुक्तः स तदा महात्मना जनार्दनेनामितविक्रमोऽर्जुनः । तथेति दुःखादिव वाक्यमैरयज्जनार्दनं सम्प्रतिपूज्य पार्थिव ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अश्वमेधिकपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

समाप्तं च अश्वमेधिकं पर्व

अनुगीतापर्व

जनमेजय उवाच । सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन्महात्मनोः। केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद्द्विज॥१॥ वैशम्पायन उवाच । कृष्णेन सहितः पार्थः स्वराज्यं प्राप्य केवलम् । तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः॥२॥ ततः किञ्चित् सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसं नृप । यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ ॥ ३ ॥

वाले युधिष्ठिरके शासनमें पृथिवी तो आ ही चुकी है ॥ ३४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–जब महात्मा श्रीकृष्णने महापराक्रमी अर्जुनसे ऐसा कहा, तब हे राजन् ! श्रीकृष्णकी बातको मानकर दुःखितसे होते हुए अर्जुनने कहा कि–बहुत अच्छा ॥ ३५ ॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ अश्वमेधिकपर्व समाप्त ॥

❀ अनुगीता पर्व ❀

जनमेजयने बूझा, कि–शत्रुओंका संहार होजाने पर हे द्विज ! इन्द्रप्रस्थकी सभामें रहते समय इन दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुनमें क्या बातचीत हुई थी ? ॥ १ ॥ वैशम्पायनने उत्तर दिया, कि–अपने राज्यको निष्कण्टकरूपसे पाकर अर्जुन उस दिव्य सभामें श्रीकृष्णके साथ आनन्दमें विहार किया करता था २ हे राजन् ! एक समय अपने स्वजनोंसे घिरेहुए ये दोनों जने आनन्दके साथ विचरतेर उस स्वर्गसमान सभाके एक हिस्सेमें

ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः । निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥ विदितं मे महाबाहो संग्रामे समुपस्थिते । माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम् ॥ ५ ॥ यत्तद्भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् । तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥ ६ ॥ मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः । भवांश्च द्वारकां गन्ता न चिरादिव माधव ॥ ७ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत । परिष्वज्य महातेजा वचनं वदताम्वरः ॥ ८ ॥ वासुदेव उवाच । श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम् । धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वांल्लोकांश्च शाश्वतान् ९ अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।

जापहुँचे ॥ ३ ॥ तहाँ श्रीकृष्णके साथ प्रसन्न हुआ पाण्डुकुमार अर्जुन, उस रमणीय सभाको देखकर यह बात कहनेलगा ॥४॥ हे महाबाहु देवकीनन्दन ! जब संग्रामका अवसर आलगा था उस समय में आपके माहात्म्य और आपके ईश्वरीय सत्तावाले स्वरूपको जानचुका हूँ ॥ ५ ॥ हे पुरुषसिंह केशव ! हे भगवन् ! आपने पहले मुझसे मित्रभावसे जो कुछ कहा था, वह सब आज भ्रष्टचित्तवाला मैं भूलगया हूँ ॥६॥ परन्तु हे माधव ! उन बातोंको जाननेके लिये मुझे बार २ उत्कण्ठा हुआ करती है और आप शीघ्र ही द्वारकाको जानेवाले हैं,इस लिये (वह सब) मुझे फिर सुनादीजिये ॥ ७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–ऐसा कहने पर महातेजस्वी और वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने अर्जुनको हृदयसे लगाकर उत्तर दिया ॥ ८ ॥ वासुदेव बोले, कि–हे पार्थ ! मैंने उस समय तुझे गोपनीय सनातन ज्ञान सुनाया था, स्वस्वरूप वाला धर्म और नित्य लोकोंका रहस्य भी सुनाया था, ॥ ९ ॥ परन्तु तू ने ध्यान देकर उसको याद नहीं रक्खा, यह बात मुझे बहुत बुरी मालूम होरही है, क्योंकि–वे बातें अब दुबारा कर

न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति ॥ १० ॥ नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव । न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय ॥ ११ ॥ स हि धर्म्मः सुपर्य्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने । न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥ १२ ॥ परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया। इतिहासन्तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम् ॥ १३ ॥ यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि । शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे ॥१४॥ आगच्छद् ब्राह्मणः कश्चित् स्वर्गलोकादरिन्दम । ब्रह्मलोकाच्च दुर्द्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत् ॥ १५ ॥ अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ। दिव्येन विधिना पार्थ तत् शृणुष्वाविचारयन् ॥ १६ ॥ ब्राह्मण उवाच । मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः । भूतानामनु-

---

मुझे याद आती नहीं मालूम होती ॥ १० ॥ हे पाण्डव ! वास्तव में तू श्रद्धाहीन है और तेरी बुद्धि ठीक नहीं है, हे धनंजय ! अब फिरसे उन बातोंको पूरी २ दुहरा देना अशक्य है ॥११॥ ब्रह्मपदको जाननेके लिये वह धर्म इतना पर्याप्त (काफी) है, कि-उस धर्मको दुसराकर पूर्ण रीतिसे कहनेमें मैं असमर्थ हूँ १२ उस समय मैंने योग साधकर तुझसे परब्रह्मका रहस्य कहा था और अब मैं तुझसे उस विषयमें एक पुराना इतिहास कहता हूँ १३ इसलिये हे धर्मपालनेवालोंमें श्रेष्ठ ! मेरे सब कथनको तू सुन, कि-जिसप्रकार विचार करनेपर तू परमश्रेष्ठ गतिको प्राप्त होजायगा १४ हे शत्रुओंका दमन करनेवाले ! पहले कोई एक ब्राह्मण स्वर्गमें से उतर आया था, ब्रह्मलोकमेंसे उतरकर आयाहुआ वह ब्राह्मण किसीसे हारनेवाला नहीं था, हमने उसकी पूजा की ॥ १५ ॥ हे भरतसत्तम पार्थ ! हमारे प्रश्न करने पर उसने जो कुछ उत्तर दिया था तू अपने मनमें किसीप्रकारकी कुतर्क न उठाकर दिव्य रीतिसे हमारे सुनेहुए उस संवादको सुन ॥ १६ ॥ ब्राह्मणने

कम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो ॥ १७ ॥ तत्तेहं संप्रवक्ष्यामि यथा-
वन्मधुसूदन । शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव ॥ १८ ॥
कश्चिद्विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः।आससाद द्विजं कश्चिद्ध-
र्माणामागमागमम् ॥ १९ ॥ गतागतेषु बहुशो ज्ञानविज्ञानपार-
गम् । लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातारं सुखदुःखयोः ॥ २० ॥ जाती-
मरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः ।द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्दे-
हिनां गतिम् ॥ २१ ॥ चरन्तं मुक्तवत् सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रि-
यम् । दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणञ्च सर्वशः ॥ २२ ॥
अन्तर्द्धानगतिज्ञञ्च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः । तथैवान्तर्हितैः सिद्धै-
र्यान्तं चक्रधरैः सह ॥ २३ ॥ सम्भाषमाणमेकान्ते समासीनञ्च

कहा, कि-प्राणियोंके ऊपर दया करनेके लिये मोहका नाश करनेवाले मोक्षधर्मके विषयमें जो प्रश्न किया है ॥ १७ ॥ हे मधुसूदन ! इस विषयको मैं यथार्थ रूपसे कहूँगा, हे माधव ! मेरी बातको आप सावधान होकर सुनिये ॥ १८ ॥ तप करने वाला और धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ एक काश्यप नामका ब्राह्मण धर्मोंके रहस्यको जाननेवाले एक दूसरे ब्राह्मणसे मिला १९ वह दूसरा ब्राह्मण भूत और भविष्यको जाननेमें बड़ा प्रवीण था, ज्ञान और विज्ञानके पारको पहुँचा हुआ था,लौकिक और पारलौकिक विषयमें कुशल था, वह सुख और दुःखके रहस्यको समझा हुआ था ॥ २० ॥ वह जन्म और मरणके तत्त्वको जानता था, पाप और पुण्यको समझनेमें पण्डित था उच्च और नीच देहधारियोंकी कर्मोंसे होनेवाली गतिका द्रष्टा था ॥ २१ ॥ वह मुक्तकेसा बर्ताव करता था, सिद्ध था, परमशान्त था उसने अपनी इन्द्रियोंको वशमें कररक्खा था, वह ब्रह्मतेजसे दिपरहा था और सर्वत्र विचरनेवाला था ॥ २२ ॥ तथा वह अन्तर्धानकी गति (शक्ति) को भी जानता था अदृश्य रहनेवाले सिद्धोंके

तैः सह । यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा ॥ २४ ॥ तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः । चरणौ धर्म्मकामस्य तपस्वी सुसमाहितः। प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् २५ विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तं द्विजोत्तमम् । परिचारेण महता गुरुं तं पर्य्यतोषयत् ॥ २६ ॥ उपपन्नञ्च तत् सर्वं श्रुतचारित्र-संयुतम् । भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परन्तप ॥ २७ ॥ तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत् । सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन ॥ २८ ॥ सिद्ध उवाच । विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः । गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थि-

---

साथ विचरा करता था, चक्रधारियोंके साथ बातें किया करता और एकान्तमें बैठा करता था और जैसे वायु किसीमें आसक्त न होकर चला करता है, तैसे ही इच्छानुसार विचरा करता था, ऐसी उस ब्राह्मणके विषयमें काश्यपने मुख्य २ बातें सुनी थीं ॥२३॥२४॥ उस ही ब्राह्मणसे वह बुद्धिमान् तथा ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ काश्यप मिला और उस परम अद्भुत ब्राह्मणको देखकर, धर्मको जाननेकी इच्छावाला तपस्वी काश्यप अच्छे प्रकारसे सावधान होकर नियमानुसार उनके चरणोंमें झुकगया अद्भुत गुणोंवाले और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ उस ब्राह्मणको देखकर काश्यप आश्चर्यमें होगया और बड़ीभारी सेवा करके उन गुरुको परम सन्तुष्ट किया ॥२६॥ जिसने सेवा मान आदि पाये थे और जो शास्त्रोंका ज्ञाता और उत्तम चरित्रवाला था उस गुरुको परन्तप काश्यपने भक्तिपूर्वक गुरुभावका वर्त्ताव करके सन्तुष्ट करलिया२७ उस शिष्यके ऊपर सन्तुष्ट हुए और सेवासे प्रसन्न हुए उस ब्राह्मणने नीचे लिखी बात कही,उस बातको (श्रीकृष्ण अर्जुन का ध्यान खैंचते हुए) कहते हैं, कि–हे जनार्दन ! उसमें परमसिद्धिका रहस्य है, यह जानकर तू मुझसे सुन ॥ २८ ॥

तिम् ॥ २९ ॥ न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचित् शाश्वती
स्थितिः । स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः ३०
अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात् । काममन्युपरीतेन
तृष्णया मोहितेन च ॥ ३१ ॥ पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः
पुनः । आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ३२
मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः । सुखानि च विचि-
त्राणि दुःखानि च मयानघ ॥ ३३ ॥ प्रियैर्विवासो बहुशः संवा-
सश्चाप्रियैः सह । धननाशश्च सम्प्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद्धनम् ३४
अवमानाः सुकष्टाश्च राजतः स्वजनात्तथा । शारीरा मानसाश्चापि
वेदना भृशदारुणाः ॥ ३५ ॥ प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च

सिद्धने (काश्यपसे) कहा. कि–हे तात ! अनेकों प्रकारके कर्म तथा केवल पुण्यके प्रभावोंसे मनुष्य इस लोकमें फल पाते हैं तथा देवलोकमें भी जाकर निवास करते हैं ॥ २९ ॥ किसी भी स्थानमें अत्यन्त सुख नहीं है तथा कहीं सदाकालके लिये स्थिति भी नहीं है, तथा परिश्रमसे मिलेहुए बड़े२ स्थानोंमेंसे वार वार पतन हुआ ही करता है ३० पापकर्मोंको करने पर, काम क्रोधसे लिपटे हुए तथा तृष्णासे मोहित हुए मैंने दुःखदायक अशुभ गतियें पाई थीं ३१ मेरा वार२ मरण हुआ है और वार२ जन्म हुआ है, मैंने नाना प्रकारके भोजन पाये हैं और अनेकों माताओंके दूध पिये हैं ३२ हे निष्पाप ! अनेकों प्रकारकी मातायें और भाँतिर के पिता मैंने देखे हैं, मैंने विचित्र सुख दुःखोंका अनुभव किया है ॥ ३३ ॥ अनेकों वार प्रिय पुरुषोंका वियोग सहना पड़ा है और मनको न भाने वाले पुरुषोंके साथ गाढरूपसे रहना पड़ा है तथा जो धन मैंने बड़े दुःखसे इकट्ठा किया था, उसका नाश होतेहुए भी मैंने देखा है ॥ ३४ ॥ राजा (राजपुरुष) तथा कुटुम्बी आदिके हाथसे भी अपमान और बड़ाभारी कष्ट सहा है. शारीरिक तथा मान-

दारुणाः । पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये ॥ ३६ ॥ जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः । लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया ॥ ३७ ॥ ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च । लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया ॥३८॥ लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितम् । ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया ॥ ३९ ॥ नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम् । आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गतिः शुभाः ॥ ४० ॥ उपलब्ध्वा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा । इतः परं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः ॥ ४१ ॥ ब्रह्मणः पदग-

---

सिक दोनों प्रकारकी महादारुण पीडायें भी मैंने सही हैं ॥३५॥ भयानक अपमान, भयानक मार और जेलखानोंका अनुभव भी मैंने किया है, मैं नरकमें पड चुका हूँ और यमकी राजधानीके दुःख भी भोगे हैं ॥ ३६ ॥ वृद्धावस्था, रोग और नित्य बड़ी २ आपत्तियोंका भी अनुभव किया है, इस लोकमें द्वैतभावसे होने वाले सकल दुःख मैंने बहुत अनुभव किये हैं।३७।इसके अनंतर एक समय अत्यन्त दुःखी हुए मैंने उकता कर निराकारका आश्रय लिया और लोकतन्त्र (तन, मन और वाणीके व्यवहारवाले संसार) को पूर्णरूपसे त्याग दिया ॥ ३८ ॥ फिर इस लोकमें अनुभव करके मैं इस मार्गमें आ पहुँचा हूँ, तब (परम) आत्मा के प्रसादसे मुझे यह बुद्धि प्राप्त हुई है ॥ ३९ ॥ अब फिर मैं यहाँ नहीं आउँगा और इन लोकोंको मैं दुखी कर नहीं देखूँगा, क्योंकि-जन्म और उत्पत्ति (वृद्धि और मरणकी आपत्ति) मेंसे बचाने वाली सिद्धि (मोक्ष) मुझे मिलगई है और मेरे आत्मा की भी शुभ गति होगयी है ॥ ४० ॥ हे द्विजवर ! यह उत्तम सिद्धि मैंने पाई है, अब मैं इससे ऊपरके लोकमें और फिर उससे भी ऊपरके लोकमें जाऊँगा ॥४१॥ ऐसा करते २ मैं ब्रह्मके धाम

व्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः । नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परन्तप ॥ ४२ ॥ प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते । यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः ॥ ४३ ॥ अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः । अचिरात्तु गमिष्यामि येनाहं त्वामचूचुदम् ४४ भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण। परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत्तवेप्सितम् ॥ ४५ ॥ बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं संपूजयामि च । येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच । ततस्तस्योपसंगृह्य पादौ प्रश्नान् सुदुर्वचान् । पप्रच्छ तांश्च धर्मान् स प्राह धर्मभृतांवरः ॥१॥ काश्यप उवाच ।

में पहुँच जाऊँगा, इसमें तू जरा भी सन्देह न कर, हे परन्तप ! मैं इस मृत्युलोकमें फिर नहीं आऊँगा ॥४२॥ हे महाबुद्धिमान् ! मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ, बता मैं तेरे लिये क्या करूँ ? तू जिस बातकी इच्छा करके यहाँ आया है, उसको पूरी करनेका यह अवसर आलगा है ॥ ४३ ॥ जिस कारणसे तू मेरे पास आया है, उसको मैं जानता हूँ, मैं थोड़े समयमें चला जाऊँगा, इसलिये मैं तुझे यह सूचित करता हूँ॥४४॥हे विचक्षण ! मैं तेरे चरित्रसे बड़ा प्रसन्न हूँ, इसलिये तुझे पूछना हो सो पूछले, तू जो चाहेगा, मैं तुझे वही बताऊँगा ॥ ४५ ॥ मुझे तेरी बुद्धि बड़ी मालूम होती है और मैं उसकी बड़ी सराहना करताहूँ, क्योंकि-उसके द्वारा तू मुझे पहचान सका है, हे काश्यप ! तू वास्तवमें बुद्धिमान् है ॥ ४६ ॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥१६॥

ब्राह्मण कहता है- कि-तदनन्तर काश्यपने उस सिद्धके चरण पकड़कर जो वाणीसे सहजमें नहीं कहे जासकते ऐसे प्रश्नपूछे और धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उस सिद्धने उत्तर रूपसे उन

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते। कथं कष्टाच्च संसारात् संसरन् परिमुच्यते ॥ २ ॥ आत्मा च प्रकृतिं मुक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति। शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत् प्रपद्यते ॥३॥ कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः। उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते ॥ ४॥ ब्राह्मण उवाच। एवं सञ्चोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान् प्रत्यभाषत। आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय तन्मे निगदतः शृणु ॥ ५॥ सिद्ध उवाच। आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते। शरीरग्रहणेऽस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः ॥ ६ ॥ आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते। बुद्धिर्व्यावर्त्तते चास्य विनाशे प्रत्युप-

---

धर्मोंका उपदेश दिया ॥ १ ॥ काश्यपने कहा—यह शरीर क्यों गिरजाता है? और वह फिर कैसे प्राप्त होता है? तथा इस कष्टमय संसारसे जन्ममरणके चक्करमें पड़ाहुआ जीव कैसे मुक्त होता है? ॥ २ ॥ आत्मा प्रकृति (माया) को भोगकर उस शरीरको कैसे त्याग देता है? और एक शरीरमेंसे छूटाहुआ जीवात्मा दूसरा शरीर कैसे पाता है? ॥ ३ ॥ एक मनुष्य अपने स्वयं कियेहुए शुभ और अशुभ कर्मोंके फलको क्यों और कैसे भोगता है? और देहको छोड़ देने पर उसके कर्म कहाँ रहते हैं? ॥ ४ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि—हे कृष्ण! जब काश्यपने सिद्धसे प्रश्न किया तब सिद्धने उन प्रश्नोंका जो कुछ उत्तर दिया था, उसको मैं क्रमसे कहता हूँ, सुनिये ॥ ५ ॥ सिद्धने कहा, कि—शरीरको धारण करनेमें मनुष्य आयु और कीर्त्तिको देनेवाले जिन कर्मोंका सेवन करता है, उन कर्मोंका जब सब प्रकारसे क्षय होजाता है ॥ ६ ॥ तब जिसकी आयुका क्षय होगया है ऐसा आत्मा विपरीत (आयु और कीर्त्तिको घटाने वाले) कर्मोंका सेवन करता है (जन्म मरणके चक्रको बढानेवाले कर्म करता है) जब विनाशकाल समीप आजाता है तब उसकी बुद्धि उलटी हो

स्थिते ॥ ७ ॥ सत्त्वं बलञ्च कालञ्च विदित्वा चात्मनस्तथा ।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान् ॥ ८ ॥ यदायमतिक-
ष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते । अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते
कदाचन ॥ ९ ॥ दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च ।
गुरु चाप्यमितं भुङ्क्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः ॥ १० ॥
व्यायाममतिमात्रञ्च व्यवायञ्चोपसेवते । सततं
प्राप्तं वेगं विधारयेत् ॥ ११ ॥ रसाभियुक्तमन्नं वा दिवास्व

जाती है७अपने आत्माके सत्त्व, बल और कालको जान लेने पर अनात्मवान् (नासमझ) मनुष्य (अपने सत्त्व, बल और काल के) विरुद्ध समय कुसमयमें काम करने लगता है (अपनी शक्ति बल और कालके विरुद्ध अन्न खाता है, यहाँ कालके दो अर्थ लिये जाते हैं-एक तो ऋतु अर्थात् मौसम और दूसरा बालकपन जवानी और बुढापा, अपनी पाचनशक्ति, नैसर्गिक काम करने की शक्ति और समय इन सबका विचार करके मनुष्यको काम करना चाहिये, वृद्धावस्थामें अतिसंयोग या अतिभोजन करना अथवा नियमविरुद्ध बारम्बार खाना, इससे हानि होती है, इस बातको जानतेहुए भी मनुष्य ऐसा ही करते हैं, इस दशामें उन को नासमझ या अनात्मवान् कहना ठीक ही है) ॥ ८ ॥ जब ऐसा मनुष्य सब प्रकारके महादुःखोंको पाता है, तब वह कभी बहुत ही अधिक खाने लगता है और कभी २ खाना बिल-कुल छोडदेता है (किन्तु मध्यम मार्गको लेकर अपने शरीरकी रक्षा नहीं करता) ॥ ९ ॥ वह दूषित अन्न, दूषित मांस और दूषित पीने की वस्तु तथा एक दूसरेसे विरुद्ध गुणोंवाले पदार्थ और भारी पदार्थ खाता है, बेतोल (अधिक) खाता है तथा पहला खाया हुआ पचने भी नहीं पाता तब भी खालेता है १० अधिक व्यायाम (कसरत) करता है, अधिक संभोग करता है

न्नञ्च सेवते । अपक्वानागते काले स्वयं दोषान् प्रकोपयेत् ॥ १२ ॥ स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम् । अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ॥ १३ ॥ तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा । जीवितं मोच्यमानं यत्तद्यथावदुपधारय ॥ १४ ॥ ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः । शरीरमनुपर्येत्य सर्वान् प्राणान् रुणद्धि वै ॥ १५ ॥ अत्यर्थं बलवानूष्मा शरीरे परिकोपितः । भिनत्ति जीवस्थानानि मर्माणि विद्धि तत्त्वतः ॥१६॥ ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरात्। शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु ॥ १७ ॥ वेदनाभिऽपरीतात्मा

और कर्म करनेके लोभसे उसको नित्य मल मूत्र आदिका वेग लगा होता है तो भी उसको रोके रहता है ॥११॥ अथवा वह बहुत ही रसीले (वा परिणाममें अधिक रस बनानेवाले) पदार्थोंका भोजन करता है, दिनमें सोया करता है,तदनन्तर न पचा हुआ अन्न (अथवा ठीक २ न पकायाहुआ अन्न) थोड़े ही समयमें अपने (शरीरमेंके) दोषोंको कुपित करदेता है ॥ १२ ॥ इस प्रकार दोषोंके कुपित (उत्तेजित) होनेसे ऐसा रोगी होता है, कि-अन्तको मर ही जाता है अथवा गलेमें फाँसी लगालेना तथा विष खालेना आदि विपरीत कर्मोंको करता है ॥ १३ ॥ ऐसे२ कारणोंसे उस प्राणीके शरीरका नाश होजाता है, इसप्रकार उसके जीवनकी जो यह दशा कही है इसको खूब अच्छे प्रकारसे विचार कर ॥ १४ ॥ शरीरमें तीव्र वायुकी प्रेरणासे पित्त कुपित होजाता है और वह पित्त शरीरमें फैलकर सब प्राणोंको रोक देता है १५जब पित्त अत्यन्त बलवान् होकर कोपायमान होताहुआ सब शरीरमें फैलजाता है तब वह उस जीवके स्थानोंको और मर्मस्थानोंको तोडदेता है,इस बातको तू ठीक ही जान॥१६॥फिर महाकष्ट पाताहुआ जीव जड शरीरको त्यागदेता है,जहाँ मर्मस्थान

तद्विद्धि द्विजसत्तम । जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः ॥१८॥
दृश्यन्ते संत्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ । गर्भसंक्रमणे चापि
मर्माणामतिसर्पणे ॥१६॥ तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः ।
भिन्नसन्धिरथ क्लेदमद्भिः स लभते नरः ॥ २० ॥ यथा पञ्चसु
भूतेषु संभूतत्वं नियच्छति । शैत्यात् प्रकुपितः काये तीव्रवायुसः
मीरितः ॥२१॥ यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः । स
गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणः ॥ २२ ॥ शरीरञ्च
जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते। स निरूष्मा निरुच्छ्वासो निःश्रीको
हतचेतनः२३ब्रह्मणा सम्परित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरैः स्रोतोभिर्यैः

टूटे, कि-प्राणी शरीरको त्याग देता है ॥ १७ ॥ हे द्विजवर ! तु
इस बातको जाने रह, कि-यह जीवात्मा वेदनाओंसे जकड़ा
हुआ है, सब ही प्राणियोंको जन्म और मरण सदा लगा हुआ
है ॥१८॥ और हे द्विजवर ! प्राणी शरीरोंको त्यागतेहुए देखनेमें
आते हैं, गर्भमें प्रवेश करते समय तथा गर्भोंमेंसे बाहर निकलते
समय ॥ १६ ॥ मनुष्योंको बार२ वैसी ही वेदना भोगनी पड़ती
है (अन्त समयमें) मनुष्यको जोड़ोंके टूटनेके और जन्मके समय
गर्भाशयके जलमें भीगनेके दुःख सहने पड़ते हैं ॥ २० ॥ (अन्त
समयमें) जब शरीरमें शीतका प्रकोप होकर श्वास बड़े जोरसे
चलने लगता है,उस समय ऐसा मालूम होता है मानो पंच महा-
भूतोंको तोड कर अलग २ कर रहा है ॥ २१ ॥
जो वायु पंच भूतोंमें प्राण अपानके रूपमें रहता है, वह वायु
बड़े कष्टके साथ शरीरको छोड़कर ऊपरको चलने लगता है२२
इस प्रकार शरीरको छोडदेता है और श्वास रहित होजाता है,
उस समय गरमीसे हीन, श्वासशून्य तथा सुन्दरता और चेतनता
से रहित होजाता है ॥ २३ ॥ ब्रह्म (जीव) का त्यागा हुआ
(वह शरीर) मनुष्य मरगया इस प्रकार कहा जाता है, शरीर

भिजानातिइन्द्रियार्थान् शरीरभृत्२४तैरेव न विजानाति प्राणाना हारसम्भवान् । तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः२५ तथा यद्यदङ्गेयुक्तं सन्निपाते क्वचित् क्वचित्।तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्र-दृष्टं हि तत्तथा ॥ २६ ॥ तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन्। आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणद्धि वै । ततः सचेतनो जन्तु-र्नाभिजानाति किञ्चन ॥ २७ ॥ तमसा संवृतज्ञानः संवृतोष्वेव कर्मसु । स जीवो निरधिष्ठानश्चाल्यते मातरिश्वना ॥ २८ ॥ ततः स तं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम् । निष्क्रामन् कम्पय-त्याशु तच्छरीरमचेतनम् ॥ २९ ॥ स जीवः प्रच्युतः कायात् कर्मभिः स्वैः समावृतः । अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाप्युपप-

धारी जिन स्रोतों (इन्द्रियों) के द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंको जान सकता है (भोगता है) ॥ २४ ॥ उन ही इन्द्रियोंसे वह मनुष्य भोजनमेंसे उत्पन्न होनेवाले प्राणोंको नहीं जान सकता है, उस शरीरमें जो काम करता है वह सनातन जीव है ॥ २५ ॥ फिर जो कुछ कहीं२ पंचभूतोंके संघाममें लगा हुआ दीखे उसको मर्मस्थान जानो, क्योंकि- शास्त्रमें ऐसा ही विचार कियागया है ॥२६॥ जब ये मर्मस्थान टूटते हैं तब यह जागता है और प्राणीके हृदयमें प्रवेश करके एक साथ सत्त्वको रोकलेता है, उस समय वह चेतना वाला भी प्राणी किसी भी वस्तुको नहीं जान सकता है ॥२७॥ तम (अविद्या) से जिसका ज्ञान घिरजाता है वह जीव, जब उसके मर्मस्थान रुकजाते हैं तब स्थानरहित होजाता है और केवल पवन ही उसको चलाता है ॥ २८ ॥ फिर वह बड़े२ श्वास लेने लगता है, जो कि-बड़े ही भयानक होते हैं उन श्वासोंके बाहरको निकलने पर काँपता है और एकसाथ उसका शरीर चेतनाशून्य होजाता है ॥२९॥ वह जीव कायामेंसे जुदा होजाने पर अपने कर्मोंसे घिरा रहता है, उसके अपने शुभ पुण्यवाले

घ्नते ॥ ३० ॥ ब्राह्मणा ज्ञानसम्पन्ना यथावत् श्रुतनिश्चयाः। इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः ॥ ३१ ॥ यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः। चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषा ३२ पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा। च्यवन्तं जायमानञ्च योनिञ्चानुप्रवेशिनम् ॥ ३३ ॥ तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः। कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः ॥ ३४ ॥ ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः। इहैवोच्चावचान् भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः ॥ ३५ ॥ इहैवाशुभकर्माणः कर्मभिर्निरयं गताः। अवागगतिरियं कष्टा यत्र पच्यन्ति मानवाः तस्मात् सुदुर्लभो मोक्षो रक्ष्यश्चात्मा ततो भृशम् ॥ ३६ ॥

कर्म अथवा पापकर्म उसको चारों ओरसे घेरे रहते हैं ॥ ३० ॥ श्रुतियोंके ठीक२ निर्णयको जाननेवाले ज्ञानी ब्राह्मण लक्षणोंको देखकर जानलेते हैं, कि-यह पुण्यात्मा है अथवा पापात्मा है ३१ जैसे नेत्रसे देखनेवाले मनुष्य प्रकाश करतेहुए पटबीजनेको अन्धकारमें देखलेते हैं, ऐसे ही ज्ञानदृष्टिवाले उसको देखलेते हैं ।३२। इसप्रकार सिद्ध पुरुष दिव्य चक्षुसे मरतेहुए, जन्म लेतेहुए और योनिमें प्रवेश करतेहुए जीवको देख लेते हैं३३शास्त्रदृष्टिसे देखने पर जीवके (येही,) तीन प्रकारके स्थान देखनेमें आते हैं, यह भूमि कर्मभूमि है, कि-जहाँ प्राणी रहते हैं ॥ ३४ ॥ सकल देहधारी अच्छे वा बुरे कर्म करके इसलोकमें जन्म लेते हैं और इस लोक में ही अपने कर्मोंके अनुसार घटिया बढ़िया भोग पाते हैं ॥३५॥ इस लोकमें ही अशुभ कर्म करनेवाले अपने कर्मोंसे नरकमें जाते हैं, इस जन्म मरणकी दुःखदायक दशाको वाणीसे कहकर नहीं बताया जासकता; कि-जिसमें मनुष्य पकायेजाते हैं इसमेंसे छूटना बड़ा ही कठिन है,इसलिये उससे आत्माकी रक्षा करनी चाहिये ३६

ऊर्ध्वन्तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः। कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः सन्निबोध मे ॥ ३७ ॥ तच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुध्येथाः कर्मनिश्चयम्। तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतच्चन्द्रमण्डलम्॥३८॥यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम्। स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥३९॥ कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः। तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः ॥ ४० ॥ न च तत्रापि सन्तोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम्। इत्येता गतयः सर्वाः पृथक् ते समुदीरिताः ॥ ४१ ॥ उपपत्तिन्तु वक्ष्यामि गर्भस्याहमतः परम्। तथा तन्मे निगदतः शृणुष्वावहितो द्विज ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

प्राणी ऊपर जाकर जिन२ स्थानोंमें स्थिति करके रहते हैं, उन लोकोंको मैं तुझसे कहता हूँ, तू मुझसे यथावत् सुन ॥ ३७ ॥ उसको सुनकर तुझे अपनी श्रद्धावाली बुद्धि और कर्मोंका निश्चय होजायगा, वे सब स्थान तारारूप हैं, जहाँ कि-यह चन्द्रमण्डल है ॥ ३८ ॥ इस लोकमें सूर्य मण्डल अपने तेजसे प्रकाशित होता है, ये स्थान पुण्यकर्म करनेवाले मनुष्योंके हैं, ऐसा जान ॥ ३९ ॥ कर्मोंका क्षय होनेपर वे फिर बार२ यहाँ आते हैं, स्वर्गमें भी उत्तम, मध्यम और नीचका भेद है॥४०॥तहाँ भी अपनेसे अधिक प्रकाशमानकी लक्ष्मीको देखकर सन्तोष नहीं होता है, ये सब गतियें हैं जो मैंने तुझे अलग २ बतायी हैं ॥ ४१ ॥ अब आगे मैं तुझे, जीव गर्भमें कैसे आता है,यह बताऊँगा, हे द्विज! मैं कहता हूँ, उसको तू सावधान होकर ठीक२ सुन ॥ ४२ ॥ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ छ ॥

ब्राह्मण उवाच । शुभानामशुभानाञ्च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम् । प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा ॥ १ ॥ यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात् फलं बहु । तथा स्याद्विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम् ॥ २ ॥ पापञ्चापि तथैव स्यात् पापेन मनसा कृतम् । पुरोधाय मनो हीह कर्मण्यात्मा प्रवर्त्तते ॥ ३ ॥ यथा कर्मसमाविष्टः काममन्युसमावृतः । नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि शृणु चोत्तरम् ॥ ४ ॥ शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम् । क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥ ५ ॥ सौक्ष्म्यादव्यक्तभावाच्च न च क्वचन सज्जति । सम्प्राप्य ब्राह्मणः कामं तस्मात्तद् ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६ ॥ तद्बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः । स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः ॥ ७ ॥ दधाति चेतसा सद्यः

ब्राह्मणने कहा, कि-शुभ और अशुभ कर्मोंका नाश इस लोकमें नहीं होता है. एकके बाद एक, इस प्रकार अनेकों शरीर धारण करने पर कर्मका फल मिलता है ॥ १ ॥ फल देनेवाला एक वृक्ष जैसे बहुतसे फल देता है, ऐसे ही शुद्ध मनसे किया हुआ कर्म बड़े पुण्यवाला फल देता है ॥ २ ॥ इस प्रकार ही पापी मनसे किया हुआ कर्म बड़ेभारी पाप वाला फल देता है, क्योंकि-आत्मा मनको आगे करके कर्म करनेमें प्रवृत्त होता है ॥ ३ ॥ कर्ममें लिपटा हुआ, काम और क्रोधसे घिरा हुआ मनुष्य गर्भमें किस प्रकार प्रवेश करता है, उसको भी अब तू सुन ॥ ४ ॥ स्त्रीके गर्भमें गया हुआ वीर्य रुधिर (रज) के साथ मिलजाता है और कर्मके अनुसार होनेवाले शुभ वा अशुभ क्षेत्र (शरीर) को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥ उस अपने सूक्ष्मभाव और अव्यक्तभावके कारण से ब्रह्मको जाननेवाला जीव, शरीरको पाजाने पर भी जबतक किसीमें आसक्त नहीं होता है तबतक वह शाश्वत ब्रह्म है ॥ ६ ॥ वह सब भूतोंका बीज है, उससे सब प्राणी जीवित रहते हैं, वह

प्राणस्थानेष्ववस्थितः । ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि स गर्भश्चेतनान्वितः ॥ ८ ॥ यथा लोहस्य निस्पन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम् । उपैति तद्विजानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम् ॥ ९ ॥ लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत् । तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम् ॥ १० ॥ यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते । एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना ॥ ११ ॥ यद्यच्च कुरुते कर्म

जीव विभक्तरूपसे गर्भके सब अङ्गोंमें प्रवेश करके ॥ ७ ॥ चेतनासे प्राणके सब स्थानोंमें एकसाथ स्थिति करके इन्द्रियोंके गोलकोंमें अभिमान करता है, फिर (इन्द्रियोंके स्थानोंमें रहनेवाला मनरूप—चेतनारूप उपाधिवाला जीव) चेतनावाले उस गर्भके अङ्गोंको हिलाता है ॥८॥ (जीव सूक्ष्म होने पर भी देहमें व्याप रहा है और वह अव्यक्त व्यक्त होता है, या असङ्गी सङ्गी होता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि–(जैसे गलाये हुए लोहेका रस घड़ियामें पड़ते ही उसके ही रूपको धारण करलेता है, ऐसे ही गर्भमें जीवका प्रवेश होने पर गर्भमें भी होता है, यह जान ले (इस प्रकार-सूक्ष्मकी व्यापकता कही है) ॥ ९ ॥ जैसे अग्नि (स्वयं अव्यक्त होने पर) लोहेके गोलेमें पहुँच कर उसको खूब तपाता है (व्यक्त होजाता है) इस प्रकार ही जीवके आने पर होता है, ऐसा जान (इस प्रकार अव्यक्तसे व्यक्त होता है)॥१०॥ और जैसे घरमें जलाया हुआ दीपक घरमें प्रकाश करता है, ऐसे ही चेतन (उपाधिवाला जीव) शरीरके सब अङ्गोंमें प्रकाश करता है (दीपक घरकी सब वस्तुओंसे असङ्ग रहता है तो भी सङ्गीसा मालूम होता है, क्योंकि-दीपकके प्रकाशके फैलनेमें पदार्थ रुकावट डालते हैं, इसलिये छाया पड जाती है, इसप्रकार दीपक स्वयं दूर होने पर भी प्रकाशरूप किरणोंसे सङ्गी बनजाता है)ऐसे ही जीवके विषयमें जानो॥११॥जीव जो कुछ भी शुभ वा अशुभ

शुभं वा यदि वाशुभम् । पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते ॥ १२ ॥
ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत् प्रचीयते । यावन्मोक्षयोगस्थं
धर्मं नैवावबुध्यते॥१३॥ तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै ।
आवर्त्तमानो जातीषु यथान्योन्यासु सत्तम ॥ १४ ॥ दानं व्रतं ब्रह्म-
चर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम् । दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्प-
नम् ॥१५॥ संयमश्चानृशंस्यञ्च परस्वादानवर्जनम् । व्यलीका-
नामकरणं भूतानां मनसा भुवि ॥ १६ ॥ मातापित्रोश्च शुश्रूषा
देवतातिथिपूजनम् । गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः१७
प्रवर्त्तनं शुभानां च तत् सतां वृत्तमुच्यते । ततो धर्मः प्रभवति यः
प्रजाः पाति शाश्वतीः ॥ १८ ॥ एवं सत्सु सदा पश्येत्तत्राप्येषा

कर्म करता है,वे उस पूर्वदेहमें किये हुए जीवको भोगने पड़ते हैं १२
उन कर्मोंका भोगते २ ही क्षय होजाता है और फिर दूसरे कर्म
इकट्ठे होजाते हैं (यह सिलसिला चलता ही रहता है) जबतक
उसका मोक्षयोग नहीं होता है (विशेष कर्म होना नहीं रुकता है)
तबतक यह धर्म जीवकी समझमें नहीं आता है ॥ १३ ॥ इस
विषयमें जन्मोंकी आपसकी उलझनमें पड़ाहुआ जीव, जिन
कर्मोंको करनेसे सुखी होता है वे कर्म मैं तुझे बताता हूँ। १४ ॥
दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रमें कही हुई रीतिसे ब्रह्मको धारण
करना (ध्यान धरना), दम, शान्ति और सब प्राणियोंके ऊपर
दया ॥ १५ ॥ संयम (चित्तकी एकाग्रता), कोमलता, दूसरेकी
वस्तुको लेनेका त्याग, भूमिपरके प्राणिमात्रका मनसे भी बुरा न
चीतना ॥ १६ ॥ माता पिताकी सेवा करना, देवता और अति-
थिका पूजन करना, गुरुका पूजन करना, दया, पवित्रता, सदा
इन्द्रियोंको नियममें रखना ॥ १७ ॥ और शुभ कर्मोंका प्रचार
करना, यह साधु पुरुषोंका आचार कहलाता है.इससे धर्म उत्पन्न
होता है, जोकि-नित्य प्रजाओंकी रक्षा करता है ॥ १८ ॥ ऐसा

ध्रुवा स्थितिः। आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिन् शान्ता व्यवस्थिताः१९
तेषु तत् कर्म निक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः। यस्तं समभिपद्येत न
स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥ २० ॥ अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन् धर्म-
वर्त्मसु। यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते ॥ २१ ॥
वर्त्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा। संसारतारणं ह्यस्य कालेन
महता भवेत् ॥ २२ ॥ एवं पूर्वकृतं कर्म नित्यं जन्तुः प्रपद्यते। सर्वं
तत् कारणं येन विकृतोयमिहागतः ॥ २३ ॥ शरीरग्रहणञ्चास्य
केन पूर्वं प्रकल्पितम्। इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतः परम्२४
शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वलोकपितामहः। त्रैलोक्यमसृजत् ब्रह्मा

आचरण साधु पुरुषोंमें सदा देखनेमें आता है, उनमें ही यह दशा अटल रहती है, जिस आचारमें शान्तचित्त पुरुष रहते हैं, उस आचारको ही धर्म कहा जाता है ॥ १९ ॥ साधु पुरुषोंको ही वह कर्म सौंपागया है, वह सनातनधर्म है और जो मनुष्य उसका पालन करता है उसकी दुर्गति नहीं होती है ॥ २० ॥ इसलिये ही धर्मभ्रष्ट होनेवाले लोगोंको धर्ममार्गमेंको लाया जाता है, जो योगी और मुक्त होता है वह इनसे विशेष होता है ॥२१॥ धर्मके अनुसार वर्त्ताव करनेवालेका शुभ उसके कर्मके अनुसार होता है और वह अधिक समय बीतने पर संसारसे तरजाता है॥२२॥इस प्रकार जीवको पहले जन्ममें कियेहुए कर्मोंका फल मिलता है, जो कुछ भी होता है सब कर्मवश ही होता है, कर्म करके ही यह आत्मा (परब्रह्म होने पर भी) विकार पाकर (जीवभाव पाकर) इस जगत्में जन्म लेता है ॥२३॥ इस जीवका शरीरको धारण करना सबसे पहले किसने नियत किया ? ऐसा सन्देह लोकमें होता है, इसके विषयमें मैं आगे कहूँगा ॥२४॥ कोई ऐसी शङ्का करें, कि-ये बहुतसे चेतन जीव तो स्वतंत्र ही हैं, ब्रह्मके विकार नहीं हैं, (इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-) सब लोकोंके पितामह

कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ॥ ततः प्रधानमसृजत् प्रकृतिं स शरीरिणाम् । यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः ॥२६॥ इदं तत् क्षरमित्युक्तं परन्त्वमृतमक्षरम् । त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥ असृजत् सर्वभूतानि पूर्वदृष्टः प्रजापतिः । स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः ॥ २८ ॥ तस्य कालपरीमाणमकरोत् स पितामहः । भूतेषु परिवृत्तिश्च पुनरावृत्तिमेव च॥२९॥यथात्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि । यत् प्रवक्ष्यामि तत् सर्वं यथावदुपपद्यते ॥ ३० ॥ सुखदुःखे यथा-

ब्रह्माजीने (पहले) अपना (शुद्ध ब्रह्मका) आकाशरूप शरीर रचा और फिर सम्पूर्ण स्थावर तथा जङ्गम तीनों लोकोंको उत्पन्न किया ॥ २५ ॥ फिर उसने प्रधानको उत्पन्न किया, यह प्रधान ही सब शरीरधारियोंकी वह प्रकृति (माया-मन) है, कि-जिससे यह सब व्याप्त होरहा है और जो लोकोंमें सबसे श्रेष्ठ कही जाती है ॥ २६ ॥ (यह जो देखनेमें आता है) इसको नाशवान् कहते हैं और जो दूसरा (इसके विरुद्ध) है वह अमृत तथा अक्षर है (देह क्षर है, जीव अक्षर है और ब्रह्म शुद्ध है) इन तीनोंमें सब मिथुन (द्वंद्व अर्थात् क्षर और अक्षर) हरएक जीवका जुदा२ है ॥२७॥ जिसने पहले श्रुतिमें जगत्की उत्पत्तिका विषय देखा है ऐसे प्रजापतिने सकल भूतोंको और स्थावरोंको उत्पन्न किया, ऐसी एक प्राचीन श्रुति है ॥ २८ ॥ उस शरीरके कालका परिणाम किया और उन भूतोंमें (देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भूतोंमें) शरीरको त्यागनेकी और फिर शरीरमें आनेकी व्यवस्था करदी २९ इस विषयमें पहले जन्ममें जिसने अपने आत्माको देखा था ऐसे किसी बुद्धिमान्ने जो कुछ देखा और कहा है तथा जो कुछ घटना हुई है वह सब मैं कहता हूँ ३० सुख और दुःख इन दो अनित्य विषयोंमें जो समान दृष्टिसे

सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति । कायं चामेध्यसंघातं विनाशं कर्म संहितम् ॥ ३१॥ यच्च किञ्चित् सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन्। संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥३२॥ जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित् । चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति ३३ निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम् । तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम ॥ ३४ ॥ शाश्वतस्याव्ययस्याथ यदस्य ज्ञान-मुत्तमम् । प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

ब्राह्मण उवाच । यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन् । पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद्भवेत् ॥१॥ सर्वमित्रः

देखता है, जो कायाको अपवित्रताकी समूहरूप, नाशवान् और कर्मसे बनी हुई देखता है ३१ और जो कुछ सुख है वह सब दुःखरूप ही है, इस बातको जो याद रखता है वह इस दुस्तर घोर संसाररूप सागरके पार होजाता है ॥ ३२ ॥ जन्म मरण और रोगसे घिरा हुआ, परन्तु मायाको जाननेवाला जो पुरुष चेतनावाले प्राणियोंमें अपनी समान ही चैतन्यको देखता है ॥ ३३ ॥ और समस्त परमपदको खोजता है, वह पुरुष सब पदार्थोंमें उदासीन होजाता है (वह केवल कर्त्तव्य मानकर कर्म करता है, फल पानेके लिये कर्म नहीं करता है) हे सत्तम ! उसका उपदेश जैसा है वैसा ही कहूँगा ॥ ३४ ॥ हे ब्राह्मण ! उसके जिस शाश्वत और अविनाशी उत्तम ज्ञानको मैं कहता हूँ, उसको तू पूरा२ मुझसे सुन ॥ ३५ ॥ अठारहवाँ अध्याय ॥ समाप्त १८॥

ब्राह्मणने कहा, कि–जो पुरुष एक ही स्थानमें छाया हुआ रहकर किसी प्रकारका भी विचार न करता हुआ शान्त रहता है और धीरे२ पहले२ को त्याग देता है वह बन्धनमेंसे तरजाता

सर्वंसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान्मुच्यते नरः ॥ २ ॥ आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः। अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः ॥ ३ ॥ जीवितं मरणञ्चोभे सुखदुःखे तथैव च। लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ४ न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किञ्चन। निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ५ ॥ अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित्। त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकांक्षी च मुच्यते ॥ ६ ॥ नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहापकः। धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः

है ॥ १ ॥ जो मनुष्य सबका मित्र है, जो सब दिशाओंको सह लेता है जिसकी शान्तिमें प्रीति है जो जितेन्द्रिय है, जिसका भय और क्रोध दूर हो गया है वह आत्मवान् मनुष्य मोक्ष पाता है ॥ २ ॥ जब सब प्राणियोंको अपनी समान मानकर उनके साथ व्यवहार करता है, जो वासनाको नियममें रखता है, जो पवित्र रहता है, सन्मान नहीं चाहता है और निरभिमानी होता है, वह सब प्रकारसे मुक्त ही है ॥ ३ ॥ जीवन और मरण सुख और दुःख, लाभ और हानि तथा प्रिय और द्वेष्य, इन सब द्वन्द्वोंको समान दृष्टिसे देखता है, उसका मोक्ष होजाता है ॥ ४ ॥ जो किसीकी वस्तुकी इच्छा नहीं करता है, जो किसी का अपमान नहीं करता है, जो आपसमें विरोध रखनेवाले सब द्वन्द्वोंसे रहित है और जिसके आत्मामें राग नहीं है उस की सर्वथा मुक्ति होजाती है ॥ ५ ॥ जिसका कोई शत्रु नहीं है, जिसका कोई बान्धव नहीं है, जिसका कोई बालक नहीं है, जिसने धर्म, अर्थ और कामको त्यागदिया है, और जिसका कुछ आकांक्षा नहीं है वह मुक्त होजाता है ६ जो न धर्मी है, न अधर्मी है, जिसने पूर्वकालमें इकट्ठे कियेहुए पापपुण्यरूप कर्मोंको त्याग दिया है, जिसके धातुओंका क्षय

स निमुच्यते ॥७॥ अकर्मवान् विकांक्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम् । अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम् ॥ ८ ॥ वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः । आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव ९ अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् । अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वात्मानं विमुच्यते १० पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्त्तिमदहेतुकम् । अगुणं गुणभोक्तारं यःपश्यति स मुच्यते ११ विहाय सर्वसंकल्पान् बुद्ध्या शारीरमानसान् शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः ॥१२॥ सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः । तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः १३ विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम् । परमाप्नोति संशान्त-

---

होनेसे आत्मा शान्त पड़गया है, जो विरुद्ध द्वन्द्वोंसे रहित है, उसका मोक्ष होजाता है ॥ ७ ॥ जो कोई भी कर्म नहीं करता है, जो आकांक्षासे रहित है, जो इस जगत्को पलायमान पीपलकी समान जन्म मरण और जरावाला है ॥८॥ वैराग्यका बुद्धिमान् और नित्य अपने ही दोषोंको देखनेवाला पुरुष शीघ्र ही अपने आत्माके बन्धनोंको तोड़सका है ॥९॥ जो पुरुष अपने आत्माको गन्ध, रस, स्पर्श और शब्दशून्य शरीरशून्य, रूपहीन और समझमें न आने योग्य मानता है उसका मोक्ष होजाता है ॥१०॥ जो अपने आत्माको पञ्चभूतके गुणोंसे शून्य, मूर्तिरहित कारण से हीन और गुणोंसे रहित परन्तु गुणोंका भोक्तारूप देखता है वह मुक्त होजाता है ॥ ११ ॥ जो विचार करके शारीरिक और मानसिक सब सङ्कल्पोंको त्याग देता है वह ईंधनसे रहित अग्निकी समान शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होजाता है ॥ १२ ॥ जो सब संस्कारोंसे छूटजाता है जिसको शीतोष्ण सुख दुःखादि द्वन्द्व बाधा नहीं देते हैं जो कुटुम्ब परिवारमें आसक्त नहीं रहता है और जो तपस्याके द्वारा सकल इन्द्रियोंको वशमें रखकर वर्त्ताव करता है वह मुक्त ही है ॥ १३ ॥ सकल संस्कारोंसे छूटा हुआ

पचलं नित्यमक्षरम् ॥ १४ ॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम् । युञ्जन्तः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः ॥१५॥ तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत्तं निबोध मे। यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ १६ ॥ इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत् । तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥ १७ ॥ तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत् । मनीषी मनसा विप्र पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ १८ ॥ स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि । तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥१९॥ संयतः सततं युक्त आत्मवान् विजितेन्द्रियः । तथा य आत्मनात्मानं

जीव सनातन, परमशान्त, अचल, नित्य और अक्षर ब्रह्मको पाता है ॥ १४ ॥ अब मैं सबसे श्रेष्ठ योगशास्त्रका विषय और योगी पुरुष ध्यान धरकर जिसप्रकार सिद्ध आत्माको देखते हैं वह रीति भी तुझे सुनाऊँगा ॥ १५ ॥ इन्द्रियोंका निग्रह करके जिन उपायोंसे योगी मनको शरीरमें अन्तर्मुख करता है उसका उपदेश मैं तुझे देता हूँ, उसको तू मुझसे यथावत् सुन ॥ १६ ॥ इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर मनको आत्मामें जुटादेय, फिर पहले तीव्र तपस्या करके मोक्ष देनेवाले योगकी साधनामें लग जाय ॥ १७ ॥ मनको जीतनेवाला, नित्य आत्माको मनमें लगाये रहनेवाला, तपस्वी और चतुर ब्राह्मण योगशास्त्रमें कही हुई रीतिके अनुसार योग-साधना करता है, वह रोके हुए मनके द्वारा अपने आत्मामें आत्माका दर्शन करता है ॥ १८ ॥ वह साधु पुरुष यदि आत्मामें आत्माको जुटा देनेमें समर्थ होजाता है तो फिर वह एकान्तमें रहने वाला साधक परम आत्माका अपने आत्मामें दर्शन करता है ॥ १९ ॥ संयमी, निरन्तर योगसाधना में लगा हुआ, जितेन्द्रिय, आत्मावाला और योगबलको प्राप्त

संप्रयुक्तः प्रपश्यति ॥ २० ॥ यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति । तथारूपमिवात्मानं साधुयुक्तः प्रपश्यति ॥ २१ ॥ इषीकाञ्च यथा मुञ्जात् कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत् । योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः ॥ २२ ॥ मुंजं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनि श्रिताम् । एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्भिरनुत्तमम् २३ यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत् । न तस्येहेश्वरः कश्चित्त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः ॥ २४ ॥ अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते । विनिवृत्य जरामृत्यू न शोचति न हृष्यति २५ देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी । ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा

हुआ साधक आत्मासे आत्माको देखता है ॥ २० ॥ जैसे कोई पुरुष स्वप्नमें किसी न देखे हुए पुरुषको देखनेके अनन्तर जाग जाने पर उसको देखते ही कहने लगता है, कि—यह वही है, ऐसे ही समाधिमें आत्माका दर्शन करनेके अनन्तर योगको जानने वाला साधु पुरुष अपने आत्माको विश्वरूपमें देखता है ॥२१॥ जैसे कोई मूँज घासमेंसे सींकको खेंचकर दिखा देय, ऐसे ही योगी देहमेंसे आत्माको खेंचकर देखता है ॥ २२ ॥ योगी मूँज को शरीर कहते हैं और इषीका (सींक) आत्माके आश्रयसे (आत्माके आश्रयसे रहनेवाली माया जगत्‌रूपमें भास रही है ऐसा) कहते हैं, योगको जाननेवालोंने यह एक बडा अच्छा दृष्टान्त कहा है ॥ २३ ॥ जब देहको धारण करनेवाला युक्त हुए आत्माको ठीकर देखता है, तब इस लोकमें उससे अधिक शक्तिमान् कोई नहीं होता है चाहे वह तीनों लोकोंका स्वामी ही क्यों न हो (अर्थात् वह त्रिलोकीके स्वामीसे भी अधिक बलवान् होता है) ॥२४॥ वह अपनी इच्छानुसार (देवता, गन्धर्व मनुष्य आदिका जिसको भी चाहता है वही) शरीर धारण करलेता है और फिर (अपने असली देहमें) आता है तब जरा

देहमशाश्वतम् ॥ २६ ॥ विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते । क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित् ॥२७॥ दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः । न विचाल्यति युक्तात्मा निस्पृहः शान्तमानसः ॥ २८ ॥ नैनं शस्त्राणि वध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते । नातः सुखतरं किञ्चिल्लोके क्वचन दृश्यते २९ सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते । विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः ॥ ३० ॥ देहान् यथेष्टमभ्येति हित्वेमां मानुषीं तनुम् । निर्वेदस्तु न कर्त्तव्यो भुञ्जानेन कथञ्चन ॥३१॥ सम्यग्युक्त्वा यदात्मानमात्मन्येव प्रपश्यति । तदैव न स्पृहयति

और मृत्युका शोक नहीं करता और हर्ष भी नहीं मानता है ॥ २५ ॥ इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला योगी देवताओंके देवत्वको भी उत्पन्न कर देता है और नाशवान् शरीरको त्याग कर अविनाशी ब्रह्मको भी पाजाता है ॥ २६ ॥ सकल प्राणियोंका नाश होतेहुए देखकर उसको भय नहीं लगता है और सकल प्राणियोंको क्लेश पातेहुए देखकर उसको किसीसे क्लेश नहीं होता है ॥ २७ ॥ किसीप्रकारकी इच्छा न रखनेवाला शान्तचित्त योगी, सङ्ग और स्नेहसे उत्पन्न हुई घोर दुःखभरी तथा शोकभरी घटनाओंसे चलायमान नहीं होता है ॥ २८ ॥ उसको शस्त्र काटते नहीं और मृत्यु उसको पहचानता नहीं, इससे अधिक सुखकारक लोकमें कहीं कोई दीखता ही नहीं ॥ २९ ॥ जो आत्मामें आत्माको ठीक २ लगाकर उस आत्मामें प्रतिष्ठित रहता है वह जरा अवस्था और दुःखसे बचकर सुखसे सोता है ॥३०॥ इस मनुष्यदेहको छोडकर वह जीमें आवे तिस शरीरमें चलाजाता है, इसप्रकार योगैश्वर्यके भोगनेवालेको किसीप्रकारका शोक नहीं करना चाहिये योगसे विरक्त नहीं होना चाहिये ३१ जब वह आत्मामें ठीक २ युक्त हुआ देखता है तब वह साक्षात्

साक्षादपि शतक्रतोः ॥ ३२ ॥ योगमेकान्तशीलस्तु यथा विन्दति तच्छृणु । दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन् सन्निवसेत् पुरे ॥ ३३ ॥ पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनः स्थाप्यं न बाह्यतः । पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन् यस्मिन्नावसथे वसेत् । तस्मिन्नावसथे धार्य्यं सबाह्याभ्यन्तरे मनः ॥३४॥ प्रचिन्त्यावसथे कृत्स्नं यस्मिन् काले स पश्यति । तस्मिन् काले मनश्चास्य न च कञ्चन बाह्यतः ॥ ३५ ॥ संनियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषे निर्ज्जने वने । कायमभ्यन्तरं कृत्स्नमेकाग्रः परिचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥ दन्तांस्तालु च जिह्वाञ्च गलं ग्रीवां तथैव

इन्द्रके पदको भी चाहना नहीं करता है ॥ ३२ ॥ एकान्तशील मनुष्य योगको जिसप्रकार जानता है, उसको तू सुन-जो उपदेश पहलेसे ही (वेदान्त और श्रुतिमें) देखनेमें आया उसका चिन्तवन करके जीव जिस शरीररूप पुरमें निवास करे ॥ ३३ ॥ उस शरीररूप पुरके भीतर ही मनको स्थिर करे बाहर नहीं (अर्थात् बाहरके पदार्थोंमें मनको न रोके) उस शरीरपुरके भीतर स्थिर हुआ मन जब आवसथ (मूलाधार चक्र नामक स्थान) में निवास करता है, उस मूलाधारमें भीतरी और बाहरी दोनों प्रकारके मनको रक्खे ॥ ३४ ॥ आवसथ स्थानमें रहकर चिन्तवन करने पर जब उन सब वस्तुओंको (ब्रह्ममय) देखता है उस समय इसके मनको रहनेके लिये भीतरका या बाहरका कोई स्थान नहीं होता है (क्योंकि-उस समय मनका कोई विषय ही नहीं होता है) ॥ ३५ ॥ एकाग्र मनवाला पुरुष निर्जन वनमें किसी प्रकारका शब्द न करके और सब इन्द्रियोंके समूहको वशमें रखकर शरीरके बाहरके और भीतरके सब पदार्थोंका चिन्तवन करे ॥ ३६ ॥ दाँत, तालु, जीभ, गला, गर्दन, हृदय और हृदयके बन्धनोंका चिन्तवन करे (इस श्लोकमें योग साधन कहे हैं, दाँतोंसे चबा २ कर अन्न खानेसे अन्नकी

च । हृदयं चिन्तयेच्चापि तथा हृदयबन्धनम् ॥ ३७ ॥ इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन । पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम् ॥३८॥ भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथमन्नं विपच्यते । कथं रसत्वं व्रजति शोणितत्वं कथं पुनः ॥ ३९ ॥ तथा मांसञ्च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च पोषति । कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम् ॥ ४० ॥ वर्द्धन्ते वर्द्धमानस्य वर्द्धते च कथं बलम् । निरोधानां निर्गमनं मलानां च पृथक् पृथक् ४१ कुतो वायं प्रश्वि-

शुद्धि होती है, उससे सत्त्वकी शुद्धि होती है, ऐसा होनेपर अचल स्मृति होती है तब बन्धनोंसे छूटजाता है, श्रुतिमें लिखा है, कि-आहारशुद्धि मोक्षका कारण है । तालु आधार है और जीभ आधेय है, जिह्वाकी जडसे नीचेका स्थान कण्ठ है, उसके अनन्तर कण्ठकूप है और जो कण्ठकूपसे भी नीचे स्थान है तहाँ ध्यान करे और यत्नके साथ उस धारणाका अभ्यास करे । कण्ठकूपके वशमें होते ही भूख और प्यास दूर होसकती है, हर एकका चिन्तवन करते २ उसका फल मालूम होता है, तब योग पर विश्वास होता है, जब तक इननेमेंके एकके भी फलका अनुभव नहीं होता है, तबतक योगपर श्रद्धा नहीं होती है) ३७ ब्राह्मण कहता है, कि-हे मधुसूदन ! उस बुद्धिमान् शिष्यसे मैंने ऐसा कहा तब वह, जिस मोक्षधर्मको समझना बडा ही कठिन है, उसके विषयमें फिर इसप्रकार बूझनेलगा ॥ ३८ ॥ काश्यपने बूझा, कि-वारंवार खायाहुआ यह अन्न पेटमें कैसे पचता है ? यह रस कैसे बनजाता है और फिर वह रुधिर कैसे बनजाता है ? ॥ ३९ ॥ और वह मांस, मेद, स्नायु और हड्डियोंका पोषण कैसे करता है ? शरीरधारियोंके ये सब शरीर कैसे बढते हैं और बढनेवाले मनुष्यका बल कैसे बढजाता है ? और निरोध करने वालोंका मल अलग२ बाहर कैसे निकलजाता है ॥ ४० ॥ ४१ ॥

सिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः । कञ्च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्मा-यमात्मनि ॥ ४२ ॥ जीवः कथं वहति च चेष्टमानः कलेवरम् । किं वर्णः कीदृशश्चैव निवेशयति वै पुनः ॥ ४३ ॥ याथातथ्येन भगवन् वक्तुमर्हसि मेऽनघ । इति सम्परिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव ४४ प्रत्यब्रुवं महाबाहो यथाश्रुतमरिन्दम । यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत् ॥ ४५ ॥ तथा स्वकायं प्रक्षिप्य मनोद्वारैरनिश्चलैः । आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्ज्जयेत् ॥ ४६ ॥ एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा न चिरादिव । आसादयति तद् ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित् ॥ ४७ ॥ न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च

श्वास भीतरको कैसे लिया जाता है और फिर बाहरको कैसे छोड़ाजाता है? और यह आत्मा शरीरमें कौनसे भागका आश्रय लेकर रहता है? ॥४२॥ जीव चेष्टा करता हुआ शरीरको कैसे धारण करता है? जीवके शरीरका वर्ण कैसा है और उसका स्वरूप कैसा है तथा वह (एकमेंसे निकलकर दूसरे शरीरमें) कैसे घुसजाता है? ॥४३॥ हे निर्दोष! हे भगवन्! यह सब मुझे ठीक २ बताइये? हे माधव! उस ब्राह्मणने मुझसे ऐसा प्रश्न किया ॥ ४४ ॥ तब हे शत्रुनाशन महाबाहो! इस विषयमें जैसा सुना था, तैसा ही उसको उत्तर देदिया, जैसे अपने कोठेमें कुछ कीमती पदार्थ डालकर मनुष्य भाण्डमय बनजाता है (उन वस्तुओंका ही विचार किया करता है) ॥४५॥ ऐसे ही अपनी काया में इन्द्रियोंरूप चलायमान द्वारोंसे मनको रोकता हुआ (इन्द्रियोंका संयम करता हुआ) प्रमादको त्याग देता है और आत्माकी खोज करता है ॥४६॥ इसप्रकार निरन्तर ध्यानका उद्योग करनेवाला अपने ही आत्मासे प्रसन्न रहता है वह शीघ्र ही उस ब्रह्मको प्राप्त करलेता है, कि-जिसको जानकर प्रकृतिका ज्ञाता होजाता है ॥ ४७ ॥ उस ब्रह्मको कोई आँखोंसे नहीं ग्रहण करसकता

सर्वैरपीन्द्रियैः । मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते ॥ ४८ ॥
सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः । सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके
सर्वमावृत्य तिष्ठति ४६ ॥ जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात् संप्र-
पश्यति । स तमुत्सृज्य देहं स्वं धारयन् ब्रह्म केवलम् ॥ ५० ॥
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव । तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं
याति ततो मयि ॥५१॥ इदं सर्वरहस्यन्ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम ।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम् ॥ ५२ ॥ इत्युक्तः
स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः। अगच्छत् यथाकामं ब्राह्मणः
संशितव्रतः ॥ ५३ ॥ वासुदेव उवाच । इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं

तथा और सब इन्द्रियोंसे भी उसको कोई नहीं पकड़सकता, वह महान् आत्मा केवल मनरूप दीपकसे ही देखनेमें आता है ४८ उसके हाथ और पैर सब दिशाओंमें हैं, उसकी आँखें, माथा और मुख सब ओर हैं, उसके कान सब दिशाओंमें हैं और वह इस लोकमें सबको लपेटे रहता है४६शरीरमेंसे बाहर निकलते हुए आत्माको जीव देखता है, वह ऊपर कहे अवयवोंवाले कारण ब्रह्मको त्यागकर देहमें उसके स्वरूपका ध्यान करता हुआ मनमें केवल निर्गुण ब्रह्मको देखता है ॥५०॥ मनमें ही मानो जोरसे हँसकर (मैं तो इसको बाहर मृगतृष्णाकी समान ढूँढरहा था, परन्तु यह तो मुझमें ही था, ऐसे आश्चर्यभावसे) आत्माको देखता है, उसका ही आश्रय लेकर अन्तमें वह मुझमें ही मोक्ष पाता है ॥ ५१ ॥ हे ब्राह्मणवर्य ! यह सब रहस्य मैंने तुझसे कहदिया है, अब मैं आज्ञा माँगता हूँ, कि–मैं जाऊँगा, हे विप्र ! अब तू भी आनन्दसे जा ॥ ५२ ॥ हे कृष्ण ! मैंने उससे ऐसा कहा, तब उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाला, मेरा महातपस्वी शिष्य वह ब्राह्मण अपनी इच्छानुसार चलागया ॥ ५३ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि–हे अर्जुन ! वह ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ महात्मा मोक्षधर्म देने

मां पार्थ द्विजसत्तम॥मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत ५४
कच्चिदेतत्त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा । तदापि हि रथस्थस्त्वं
श्रुतवानेतदेव हि ॥ ५५ ॥ नैतत् पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे
मतिः । नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना॥५६॥ सुरहस्यमिदं
प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ । कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हि-
चित् ॥ ५७ ॥ न ह्येतत् श्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ । नैत-
दद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना ॥ ५८ ॥ क्रियावद्भिर्हि
कौन्तेय देवलोकः समावृतः । न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरूपनिवर्त्त-
नम् ॥ ५९ ॥ परा हि सा गतिः पार्थ यत्तद् ब्रह्म सनातनम् ।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी । ६० ॥ इमं धर्मं

वाले शब्द यथावत् कहकर तहाँ ही अन्तर्धान होगए ॥ ५४ ॥
हे अर्जुन ! तूने चित्तको एकाग्र करके यह सब सुनलिया ना ?
उस समय युद्धमें जब तू रथके ऊपर बैठाहुआ था, उस समय भी
तुझे यही बात सुनायी थी ॥ ५५ ॥ हे अर्जुन ! मेरी समझमें
जिसकी बुद्धि नियमानुसार उपदेशसे खिली नहीं है उसकी
समझमें यह रहस्य सहजमें नहीं आता है, जिसने सङ्गको त्याग
दिया है और जिसका अन्तरात्मा शुद्ध है वही इस रहस्यको
समझसकता है ॥५६॥ हे भरतसत्तम ! मैंने तुझसे यह देवताओं
का बड़ा भारी रहस्य कहा है, हे अर्जुन ! इस लोकमें किसी
ने कहीं भी इस रहस्यको नहीं सुना है ॥ ५७ ॥ हे निर्दोष !
इसको सुननेकी योग्यता तेरे सिवाय दूसरे किसीमें नहीं है, जिसका
अन्तरात्मा जगत्जालमें उलझाहुआ है वह आज इसको सहजमें
नहीं समझसकता ॥ ५८ ॥ हे कुन्तीनन्दन ! कर्म करनेवालोंसे
देवलोक भरगया है, मृत्युरूपमें लौट आना देवताओंको इष्ट नहीं
है ॥ ५९ ॥ हे अर्जुन ! जो सनातन ब्रह्म है वह ही परमगति
है, कि-जिसके ध्यानमें शरीरको त्यागने पर अमरपद मिलता है

समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ६१ ॥ किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः। स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः ॥६२॥ हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चास्य साधने। सिद्धिं फलञ्च मोक्षञ्च दुःखस्य च विनिर्णयः। नातः परं सुखं त्वन्यत् किञ्चित् स्याद्भरतर्षभ। बुद्धिमान् श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव ॥६४॥ यः परित्यजते मर्त्यो लोकसारमसारवत्। एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुयात् ॥६५॥ एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किञ्चन। षण्मासान्नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्त्तते ॥६६॥ एकोनविंशोऽध्यायः

(संसारमें मरना नहीं पड़ता है) और जिसमें सदा सुख मिलता है ॥ ६० ॥ स्त्रियें, वैश्य, शूद्र और दूसरे भी जो पापयोनियोंमें उत्पन्न हुए हों वे भी इन धर्मको ग्रहण करने पर परमगति पाजाते हैं ॥६१॥ तो फिर हे पार्थ! ब्राह्मण वा शास्त्रके तत्त्वको जानने वाले क्षत्रिय तथा अपने धर्ममें प्रेम रखनेवाले और ब्रह्मलोकको पानेकी इच्छा करनेवालोंका तो कहना ही क्या है ? (उनको तो परमगति मिलती ही है) ॥ ६२ ॥ यह जो उपदेश दिया है यह हेतुवाला (युक्तियुक्त) है, इसके साधनके उपाय भी युक्तियुक्त हैं, सिद्धि, फल, मोक्ष और दुःखके कारणका निर्णय इनमें भी हेतु है, यह सब तुमसे कह ही दिया है ॥६३॥ हे भरतसत्तम! इसकी अपेक्षा कोई और परमसुखवाला है ही नहीं, हे पाण्डव! बुद्धिमान्, श्रद्धालु और पराक्रमी जो कोई भी मनुष्य इस लोकके सारको असार जानकर त्याग देता है वह इन उपायोंसे शीघ्र ही उस परमगतिको पाजाता है ॥६४-६५॥ जो कुछ कहनेके योग्य है वह इतना ही है, इससे अधिक और कुछ नहीं है, जो कोई निरन्तर छः महीने तक उद्योग करता है, हे पार्थ! उसको योगकी प्राप्ति होती है ॥ ६६ ॥ उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । दम्पत्योः पार्थ सम्वादो योऽभवद्भरतर्षभ १ ब्राह्मणी ब्राह्मणं कञ्चिज्ज्ञानविज्ञानपारगम् । दृष्ट्वा विविक्त आसीनं भार्या भर्त्तारमब्रवीत् २ कन्नु लोकं गमिष्यामि त्वामहं पतिमाश्रिता । न्यस्तकर्माणमासीनं कीनाशमविचक्षणम् ॥३॥ भार्याः पतिकृताल्लोकानाप्नुवन्तीति नः श्रुतम् । त्वामहं पतिमासाद्य कां गमिष्यामि वै गतिम्४ एवमुक्तः स शान्तात्मा तामुवाच हसन्निव । सुभगे नाभ्यसूयामि वाक्यस्यास्य तवानघे ॥ ५ ॥ ग्राह्यं दृश्यञ्च सत्यं वा यदिदं कर्म्म विद्यते । एतदेव व्यवस्यन्ति कर्म्म कर्मेति कर्मिणः ॥ ६ ॥ मोहमेव नियच्छन्ति कर्मणा ज्ञानवर्ज्जिताः । नैष्कर्म्यं न च लोके-

श्रीकृष्णने कहा, कि—हे भरतसत्तम अर्जुन ! इस विषयमें भी लोग इस पुराने इतिहासका दृष्टान्त देते हैं जो कि—एक स्त्री पुरुषोंमें संवाद हुआ था ॥ १ ॥ किसी एक ब्राह्मणीने यह देखकर कि—मेरा पति ज्ञान विज्ञानका पारगामी है, एकान्तमें बैठे हुये उस अपने पतिसे कहा, कि—॥२॥ जिसने कर्म करना छोडदिया है जो अपनी स्त्रीके साथ कठोरता वर्त्ताव करता है और जिसमें कुछ भी बुद्धि नहीं है ऐसे आप सरीखे पतिके आश्रयमें रहने वाली मैं किस लोकमें जाऊँगी ? ॥ ३ ॥ स्त्रियें पतियोंके रचेहुए लोकोंमें जाती हैं यह बात मैंने सुनी है, तो आपको पतिरूपसे पाकर मेरी क्या गति होगी ? ॥ ४ ॥ स्त्रीके ऐसा कहने पर वह शान्त आत्मावाला हँसता हुआसा कहने लगा, कि—हे सुभगे ! हे पापरहिते ! मैं तेरी इस बातका बुरा नहीं मानता हूँ५ जो कुछ ग्रहण करने योग्य हो,देखने योग्य हो सत्य (सुनने योग्य) हो वह ही कर्मरूप माना जाता है, उसको ही कर्म करनेवाले लोग 'कर्म, कर्म' कहकर पुकारते हैं ॥ ६ ॥ जिनको ज्ञान नहीं होता है वे मनुष्य ही कर्मोंका संग्रह करते हैं,वह मोह ही है तथा

ऽस्मिन्मुहूर्त्तमपि लभ्यते ॥ ७ ॥ कर्म्मणा मनसा वाचा शुभं वा यदि वाशुभम्। जन्मादिमूर्त्तिभेदान्तं कर्म्म भूतेषु वर्त्तते ॥ ८ ॥ रक्षोभिर्वध्यमानेषु दृश्यद्रव्येषु वर्त्मसु। आत्मस्थमात्मना तेभ्यो दृष्टमायतनं मया ॥ ९ ॥ यत्र तद्ब्रह्म निर्द्वन्द्वं यत्र सोमः सहाग्निना। व्यवायं कुरुते नित्यं धीरो भूतानि धारयन् ॥ १० ॥ यत्र ब्रह्मादयो युक्तास्तदक्षरमुपासते। विद्वांसः सुव्रता यत्र शांतात्मनो जितेन्द्रियाः ॥ ११ ॥ घ्राणेन न तदाघ्रेयं नास्वाद्यञ्चैव जिह्वया। स्पर्शनेन न तदस्पृश्यं मनसा त्ववगम्यते ॥ १२ ॥ चक्षुषामविषह्यञ्च यत् किञ्चित् श्रवणात् परम्। अगन्धमरस-

इस लोकमें एक मुहूर्त्तको भी नैष्कर्म्य देखनेमें नहीं आता है ७ मनसे, वाणीसे, कर्मसे शुभ या अशुभ जन्म स्थिति और मरणसे लेकर मनुष्य, जलचर, खेचर आदि पर्यन्त कर्म ही कर्म हैं॥८॥ दृश्य पदार्थों वाले (जिनमें सोमरसका पान होता है और घीकी आहुतियें दीजाती हैं ऐसे) मार्गोंका जब राक्षसोंने नाश करदिया तब उन मार्गोंसे विरक्त होकर आत्माके द्वारा मैंने शरीरमें स्थित आत्माके स्थानको देखा ॥९॥ कि–जहाँ किसी भी प्रकारके विरुद्ध भाववाले द्वन्द्वगुणोंसेरहित ब्रह्म रहता है, जहाँ सोम अग्निके साथ रहता है और जहाँ सब भूतोंको धारण करके धीर (बुद्धिका प्रेरक वायु) नित्य चलता रहता है१०उसके लिये योगके ध्यानवाले होकर ब्रह्मा आदि उस अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उसके लिये विद्वान् और व्रतधारी, शान्त आत्मावाले जितेन्द्रिय पुरुष मथन करते हैं ॥११॥ उसको नाकसे सूँघा नहीं जासकता, जिह्वासे चाखा नहीं जासकता, त्वचासे उसको छुआ नहीं जासकता, उसको तो केवल मनसे ही समझा जासकता है ॥ १२ ॥ जिसको नेत्रोंसे देखा नहीं जासकता, वह जो कुछ भी है, परन्तु उसको सुना नहीं जासकता, उसमें गन्ध,

स्पर्शरूपशब्दलक्षणम् ॥ १३ ॥ यतः प्रवर्त्तते तन्त्रं यत्र च प्रतितिष्ठति । प्राणोऽपानः समानश्च व्यानश्चोदान एव च ॥१४॥ तत एव प्रवर्त्तन्ते तदेव प्रविशन्ति च । समानव्यानयोर्मध्ये प्राणापानौ विचेरतुः ॥ १५ ॥ तस्मिन् लीने प्रलीयेत् समानो व्यान एव च । अपानप्राणयोर्मध्ये उदानो व्याप्य तिष्ठति । तस्मात् शयानं पुरुषं प्राणापानौ न मुञ्चतः ॥ १६ ॥ प्राणानायायतत्वेन तमुदानं प्रचक्षते । तस्मात्तपो व्यवस्यन्ति मद्गतं ब्रह्म-

---

रस, स्पर्श, रूप और शब्द नहीं है ॥ १३ ॥ उसमेंसे ही यह सृष्टि आदिका फैलाव फैलता है और उसमें ही रहता है, प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान वायु ॥ १४ ॥ उसमेंसे ही निकलते हैं और उसमें ही फिर प्रवेश करजाते हैं, समान और इन दोके मध्यमें प्राण और अपान ये दो वायु फिरते हैं (प्राण और अपान वायुकी प्रवृत्तिसे सृष्टि चलती है और नाभिमण्डलमें रहनेवाला समान वायु प्रलय करता है और व्यान वायु सब शरीरमें व्याप्त रहता है) ॥ १५ ॥ उस अपानसहित प्राणके भौं और नासिकाके मध्यमें रुकजाने पर उस समय समान और व्यान भी लीन होजाते हैं,(यदि कहो, कि-तो उस समय मरण क्यों नहीं होजाता ? इसका उत्तर यह है, कि-) अपान वायु और प्राणवायुके मध्यमें अपान वायु व्यापकर रहता है, इसलिये सोतेहुए पुरुषको प्राण और अपान वायु छोड़ते नहीं हैं ॥ १६ ॥ प्राणोंका स्थान होनेसे उसको उदान कहते हैं, इसलिये ब्रह्मवादियोंने मेरी प्राप्ति करानेवाले तपकी व्यवस्था की है ॥१(उदानका अर्थ है-"उत्कर्षेण आनयति" जो प्राणोंको चेष्टा कराता है वह उदान कहलाता है, ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है, कि-प्राणवायुओंसे ही जगत् चलता है, वह आत्मामें रहता है और उससे सब व्यक्तियें प्रतीत

चादिनः ॥ १७ ॥ तेषामन्योन्यभक्षाणां सर्वेषां देहचारिणाम् । अग्निर्वैश्वानरो मध्ये सप्तधा दीप्यतेऽन्तरा ॥ १८ ॥ घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रं च पञ्चमम् । मनो बुद्धिश्च सप्तैता जिह्वा वैश्वानरार्चिषः ॥ १९ ॥ घ्रेयं दृश्यञ्च पेयञ्च स्पृश्यं श्राव्यं तथैव च । मन्तव्यमथ बोद्धव्यं ताः सप्त समिधो मम ॥ २० ॥ घ्राता भक्षयिता द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता च पञ्चमः । मन्ता बोद्धा च सप्तैते भवन्ति परमर्त्विजः ॥ २१ ॥ घ्रेये पेये च दृश्ये च स्पृश्ये श्रव्ये तथैव च । मन्तव्येऽप्यथ बोद्धव्ये सुभगे पश्य सर्वदा ॥२२॥ हवींष्यग्निषु होतारः सप्तधा सप्त सप्तसु।सम्यक् प्रक्षिप्य विद्वांसो

होती हैं, उदानवायु सब वायुओंको वशमें रखता है उदान वायु तपस्या करनेसे वशमें होता है अर्थात् तपसे पुनर्जन्मकी समाप्ति होती है और ब्रह्ममें लीन होजाता है ॥ १७ ॥ परस्पर एक दूसरेमें सटे हुए और सब देहमें घूमनेवाले उन सब वायुओंके मध्यमें वैश्वानर नामका अग्नि सात प्रकारका होकर प्रकाशित होरहा है ॥ १८ ॥ नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और पाँचवें कान, मन तथा बुद्धि ये सात वैश्वानर अग्निकी ज्वालायें हैं ॥ १९ ॥ सूँघने योग्य, देखनेयोग्य, पीने योग्य, स्पर्श करने योग्य, सुनने योग्य तथा मनन करने योग्य और समझने योग्य ये सात वैश्वानर अग्निकी समिधा हैं ॥२०॥ जो सूँघता है, जो भक्षण करता है, जो देखता है, जो स्पर्श करता है, जो पाँचवाँ सुनता है जो मनन करता है और जो समझता है ये सात) वैश्वानरके श्रेष्ठ ऋत्विज हैं, ॥२१॥ (सूँघने योग्य, पीने योग्य, देखने योग्य, स्पर्श करने योग्य, सुनने योग्य, तथा मनन करने योग्य और समझने योग्य इनके ऊपर तू सदा दृष्टि रख॥२२॥ घ्राणादिके अभिमानी सात अग्नियोंमें सूँघने योग्य, पीने योग्य आदिकी सात) हवियों (आहुतियों) को सात प्रकारके होता

जनयन्ति स्वयोनिषु ॥ २३ ॥ पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् । मनो बुद्धिश्च सप्तैता योनिरित्येव शब्दिताः ॥२४॥ हविर्भूता गुणाः सर्वे प्रविशन्त्यग्निजं गुणम् । अन्तर्वासमुषित्वा च जायन्ते स्वासु योनिषु ॥ २५ ॥ तत्रैव च निरुध्यन्ते प्रलये भूतभावने । ततः संजायते गंधस्ततः संजायते रसः ॥ २६ ॥ ततः संजायते रूपं ततः स्पर्शोऽभिजायते । ततः संजायते शब्दः संशयस्तत्र जायते ॥ २७ ॥ ततः संजायते निष्ठा जन्मैतत् सप्तधा विदुः ।

छोड़ते हैं (मैं अमुक सूँघता हूँ देखता हूँ, पीता हूँ इत्यादिकी आहुतियें घ्रेय, दृश्य, पेय आदिके अभिमानी देवताओंको अर्पण करदेते हैं, सूँघनेवाला सूँघने योग्यकी आहुति घ्राणके अभिमानीकी है, मेरी नहीं है. ऐसा मानता है, इस प्रकार पृथ्वीके गुण गन्धको त्यागकर इच्छानुसार पृथिवीको उत्पन्न करता है) विद्वान् इस प्रकार आहुति देकर अपनी ही योनि (ब्रह्म) में त्यागे हुए सबको उत्पन्न करते हैं ॥ २३ ॥ पृथिवी, वायु, आकाश, जल, और पाँचवाँ तेज मन और बुद्धि ये सात प्रकारकी योनि हैं, ऐसा कहा है ॥ २४ ॥ हविरूप बनेहुए (घ्रेय, पेय, स्पर्श्य आदि) सब गुण अग्निमेंसे उत्पन्न हुए गुणमें प्रवेश करते हैं और उसमें रहकर अपनी २ योनिमें जन्मते हैं ॥ २५ ॥ और तहाँ भी जबतक भूतोंकी भावनाका प्रलय होता है तबतक वे सब गुण रुके रहते हैं (भूतकी भावनाका जन्म होने पर जन्मते हैं) उसमेंसे ही गन्ध होता है, उसमेंसे ही रस उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥ उसमेंसे ही रूप उत्पन्न होता है, उसमेंसे ही स्पर्शका जन्म होता है, उसमेंसे ही शब्द उत्पन्न होता है, उसमें से ही संशय (मन) उत्पन्न होता है, उसमेंसे ही निष्ठा (श्रद्धा निश्चयवाली बुद्धि) होती है, यह सात प्रकारका जन्म कहलाता है ॥२७॥ इसप्रकार ही पुरातन ऋषि आदिकोंने समझा

अनेनैव प्रकारेण प्रगृहीतं पुरातनैः। पूर्णाहुतिभिरापूर्णास्त्रिभिः पूर्यन्ति तेजसा ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

ब्राह्मण उवाच। अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। निबोध दशहोतॄणां विधानमथ यादृशम् ॥ १ ॥ श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चरणौ करौ। उपस्थं पायुरिति वा होतॄणि दश भामिनि ॥ २ ॥ शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो वाक्यं क्रिया गतिः। रेतोमूत्रपुरीषाणां त्यागो दश हवींषि च ॥ ३ ॥ दिशो वायू रविश्चन्द्रः पृथ्व्यग्नी विष्णुरेव च। इन्द्रः प्रजापतिर्मित्रमग्नयो दश भामिनि ॥ ४ ॥ दशेन्द्रियाणि होतॄणि हवींषि दश भामिनि। विषया नाम समिधो हूयन्ते तु दशाग्निषु ॥ ५ चित्तं स्रुवञ्च

था (मान, मेय, मातृ इन) तीन प्रकारकी पूर्णाहुतियोंसे सब लोक तेजसे पूर्ण होते रहते हैं ॥ २८ ॥ बीसवाँ अध्याय समाप्त।

ब्राह्मणने कहा, कि-इस विषयमें भी एक पुरातन इतिहास का उदाहरण है, दश होताओंके कर्मका विधान जैसा है, वैसा ही तू सुन ॥ १ ॥ कान, त्वचा, आँख, जीभ, नासिका, पैर, हाथ, स्त्री पुरुषका उपस्थ और गुदा ये दश हे भाविनी! होता हैं॥ २ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वाणी, हाथोंकी क्रिया, चरणोंकी गति, वीर्य, मूत्र और विष्ठाका त्याग ये दश हवि (आहुतियें) ॥ ३ ॥ दश दिशायें, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, प्रजापति और मित्र ये दश हे भामिनी! अग्नि हैं॥४॥ हे भामिनी! (पाँच कर्मेन्द्रियें और पाँच ज्ञानेन्द्रियें मिलकर) दश होता हैं उनकी दश इन्द्रियें उनके दश आहुतियें हैं,विषयरूप समिधाओंको उन दश अग्नियोंमें होमाजाता है॥५॥

चित्रं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् । सुविभक्तमिदं सर्वं जगदासीदिति श्रुतम् ॥ ६ ॥ सर्वमेवाथ विज्ञेयं चित्तं ज्ञानमवेक्षते । रेतः शरीरभृत् काये विज्ञाता तु शरीरभृत् ॥७॥ शरीरभृद् गार्हपत्यस्तस्मादन्यः प्रणीयते । मनश्चाहवनीयस्तु तस्मिन् प्रक्षिप्यते हविः ॥ ८ ॥ ततो वाचस्पतिर्जज्ञे तं मनः पर्यवेक्षते । रूपं भवति वैवर्ण्यं समनुद्रवते मनः ॥ ९ ॥ ब्राह्मण्युवाच । कस्माद्वागभवत् पूर्वं कस्मात्

चित्त(हवि छोड़नेकी कलछीरूप) सुवा है, और वित्त उत्तम ज्ञान (चित्त) द्रव्य है, श्रुतिमें कहा है, कि–यह सब जगत् (पहले) उत्तम प्रकारसे विभक्त था ॥ ६ ॥ अब सब ही विज्ञेय (जानने योग्य) है, वह विज्ञेय चित्तरूप है, वह ज्ञान (प्रकाशक) की अपेक्षा रखता है दूसरा अर्थ यह है, कि–सब विज्ञेय जो चित्त है, उसको ज्ञान–प्रकाशक देखता है) (पिछले श्लोकमें "उत्तम प्रकारसे विभक्त हुआ जगत्" ऐसा कहा था, उसपर यदि कोई शङ्का करे, कि–उत्तम प्रकारसे विभक्त होने पर ज्ञान और ज्ञेयकी एकता कैसे है?इसके उत्तरमें कहते हैं, कि–" तप्तायःपिण्डवत्सान्निध्यमात्रात्" तपेहुए लोहेके पिण्डकी समान केवल समीपतामात्र से । इस न्यायके अनुसार कहते हैं, कि–) रेत (वीर्य) शरीर का अभिमानी है,शरीरके अभिमानी शरीरके विज्ञाता (जानने वाला) जीव है ॥ ७ ॥ वह शरीरभृत् गार्हपत्य (हृदय) है, उस हृदयसे अन्य (मन) उत्पन्न होता है, मन आहवनीय अग्नि का मुख है,उसमें हवि डालाजाता है ("अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्"मुखमें अग्नि या अन्नको डालते ही वह वाणीका रूप-धारण करलेता है) ॥ ८ ॥ फिर वाचस्पति (वेद वा शब्द) उत्पन्न हुआ है (फिर,प्राथिव मन उत्पन्न हुआ) और मन वेदको चाहता है, फिर रूप (रङ्ग) हुआ, वह (नील पीत आदि भेदसे रहित) रङ्ग मनकी ओरको दौड़ता

पश्चान्मनोऽभवत् । मनसा चिन्तितं वाक्यं यदा समभिपद्यते ॥१०॥ केन विज्ञानयोगेन मतिश्चित्तं समास्थिता । समुन्नीता नाध्यगच्छत् को वै तां प्रतिबाधते ॥ ११ ॥ ब्राह्मण उवाच । तामपानः पतिर्भूत्वा तस्मात् प्रेष्यत्यपानताम् । तां गतिं मनसः प्राहुर्मनस्तस्मादपेक्षते ॥ १२ ॥ प्रश्नन्तु वाङ्मनसोर्मां यस्मात्त्वमनुपृच्छसि । तस्मात्ते वर्त्तयिष्यामि तयोरेव समाह्वयम् ॥ १३॥ उभे वाङ्मनसी गत्वा भूतात्मानमपृच्छताम् । आवयोः श्रेष्ठमाचक्ष्व छिन्धि नौ

है ॥९। ब्राह्मणीने कहा, कि-वाणी पहले किसमेंसे उत्पन्न हुई ? फिर मन किसमेंसे उत्पन्न हुआ ? क्योंकि-मनसे विचारा हुआ वाक्य व्यवहारमें लाया जाता है ॥ १० ॥ कौनसे विज्ञान योग (प्रमाण) से मति (प्राण) की चित्तमें स्थिति कीजाती है ? सुषुप्ति अवस्थामें (स्वप्नरहित निद्रामें मनसे विलग होने पर) प्राण (सब विषयोंको) क्यों नहीं पहचानता है ? उसको रोकने वाला कौन है ? (कहा गया है,कि-प्राण मनके आश्रयसे रहता है, तो स्वप्नरहित निद्रामें जब मन नहीं होता है तब प्राण भी नहीं होना चाहिये, परन्तु प्राण मनसे अलग रहता हुआ मालूम होता है तो फिर प्राण उस समय विषयोंको पहचान क्यों नहीं सकता ? उसको रोकने वाला कौन है ?) ॥ ११ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि-अपान वायु उस (मति-प्राण) का पति बनजाता है, इस कारण उसको अपानभावमें पहुँचा देता है, (प्राणकी) वह अपानतावाली गति मनकी गति कहलाने लगती है, इसलिये मन प्राणकी अपेक्षा रखता है (अर्थात्) तू कहता है तिस प्रकार प्राण मनकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये स्वप्न रहित निद्रामें मनका लय होने पर भी प्राणका लय नहीं होता है)१२ परन्तु तूने मुझसे वाणी और मनके विषयमें प्रश्न किया है, इस लिए मैं तुझसे इन दोनोंका ही संवाद कहूँगा ॥ १३ ॥ वाणी

संशयं विभो ॥ १४ ॥ मन इत्येव भगवांस्तदा प्राह सरस्वती ।
अहं वै कामधुक् तुभ्यमिति तं प्राह वागथ ॥ १५ ॥ ब्राह्मण
उवाच । स्थावरं जङ्गमञ्चैव विद्ध्यु भे मनसी मम । स्थावरं मत्
सकाशे वै जङ्गमं विषये तव ॥ १६ ॥ यस्तु तं विषयं गच्छेन्मन्त्रो
वर्णः स्वरोऽपि वा । तन्मनो जङ्गमं नाम तस्मादसि गरीयसी १७
तस्मादपि समाधिस्ते स्वयमभ्येत्य शोभने । तस्मादुच्छ्वासमा-
साद्य प्रवक्ष्यामि सरस्वति ॥ १८ ॥ प्राणापानान्तरे देवी वाग्वै

और मन दोनोंने भूतात्माके पास जाकर बूझा, कि-बताओ हम दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है ? हे विभो ! तुम हमारे सन्देहको दूर करो ॥१४॥ इस पर भगवान्ने उत्तर दिया, कि-मन (श्रेष्ठ है), तब वाणीने उससे कहा, कि-तो मैं कामदुघा हूँ (यह वाणीने अपनी श्रेष्ठता दिखाई है) ॥१५॥ ब्राह्मण कहता है, भूतात्माने उत्तर दिया, जानले कि-स्थावर और जङ्गम यह दो प्रकारका मेरा मन है, स्थावर मन मेरे पास है और जङ्गम मन तेरे वशमें है(स्थावर मनको बाहरी इन्द्रियें पकड सकती हैं, जङ्गम मन इन्द्रियोंके विषयोंसे पर स्वर्गादिका विचार करता है अर्थात् जो विषय इन्द्रियोंसे दूर रहते हैं वही मन और वही जङ्गम मन कहलाता है) ॥ १६ ॥ जो मंत्र या वर्ण या स्वर भी उस स्वर्गादि प्रदेश में जाता है वह भी जङ्गम मनके नामसे पुकारा जाता है, इसलिए हे वाणी ! तू श्रेष्ठ है (क्योंकि-स्थावर मन तो बाहरी इन्द्रियोंसे ग्रहण किया जा सकता है और तू तो मंत्र आदिसे प्रकाशित हो कर तहाँ जाती है) ॥ १७ ॥ हे शोभने ! (तूने यह कहा, कि-मैं कामदुघा हूं इसलिए मन कहता है, कि-मैं मूर्छितसा होगया हूं) इसलिए क्योंकि-तुझे स्वयं समाधि प्राप्त होगयी है, इस कारण हे वाणी ! मैं उच्छ्वास लेकर प्रवचन करूँगा ॥ १८ ॥ हे महाभाग ! वाणी देवी नित्य प्राण और अपानके मध्यमें रहती

नित्यं स्म तिष्ठति। गेर्यमाणा महाभागे विना प्राणानपानती॥१६॥
प्रजापतिमुपाधावत् प्रसीद भगवन्निति। ततः प्राणः प्रादुरभूद्वा-
चमाप्याययन् पुनः। तस्मादुच्छ्वासमासाद्य न वाग्वदति कर्हि-
चित् ॥ २० ॥ घोषिणीजातनिर्घोषा नित्यमेव प्रवर्त्तते। तयोरपि
च घोषेण निर्घोषैव गरीयसी ॥ २१ ॥ गौरिव प्रसवत्यर्थान् रस-
मुत्तमशालिनी। सततं स्यन्दते ह्येषा शाश्वतं ब्रह्मवादिनी ॥२२॥
दिव्यादिव्यप्रभावेन भारती गौः शुचिस्मिते। एतयोरन्तरं पश्य
सूक्ष्मयोः स्यन्दमानयोः ॥ २३ ॥ ब्राह्मण उवाच। अनुत्पन्नेषु

हे अपानवाली, प्राणको अपानकी प्रेरणा हुए विना ही वह वाचा देवी दौडी हुयी प्रजापतिके पास जाकर कहने लगी, कि-हे भगवन्! कृपा करो (वाचाका अपानके साथ संबन्ध होने पर भी जब तक अपान प्राणको चेतनावाला न करे तबतक अकेली वाचा कुछ नहीं कर सकती) ॥ १६ ॥ (जब उसने प्रजापतिसे ऐसा कहा) तब वाचाको फिर आश्रय देता हुआ प्राण प्रकट होगया, इसलिए जब उच्छ्वास लिया जाता है तब वाचा कुछ भी नहीं बोलती है ॥ २० ॥ वाणी दो प्रकारकी है-घोषवाली और घोषशून्य, इनमें घोषवाली (श्वासको बाहर निकालनेमें होने वाली) वाणीकी अपेक्षा घोष शून्य (भीतरको श्वास लेने पर होने वाली) वाणी श्रेष्ठ है (क्योंकि—घोषवाली वाणी को प्राणका आश्रय लेना पडता है और घोष-शून्य वाणी केवल अपानके आश्रयसे रहती है और प्राणसे अपान श्रेष्ठ है) ॥ २१ ॥ एक उत्तम चरित्र वाली गौकी समान उत्तम चरित्रवाली निर्दोष वाणी अर्थरूप रस (दूध) को उत्पन्न करती है, ब्रह्मवादीकी वाणी नित्य मोक्षरस को ही टपकाया करती है ॥ २२ ॥ हे पवित्र हास्यवाली! दिव्य और अदिव्य प्रभावके कारणसे भारती वाणी एक गौकी समान

वाक्येषु चोद्यमाना विवक्षया । किन्तु पूर्वं तदा देवी व्याजहार सरस्वती ॥ २४ ॥ ब्राह्मण उवाच । प्राणेन या सम्भवते शरीरे प्राणादपानं प्रतिपद्यते च । उदानभूता च विसृज्य देहं व्यानेन

है, सूक्ष्म और टपकाने वाली इन दोनोंके अन्तरको तू देख २३ ब्राह्मणीने कहा, कि-जब वाक्य बाहरको नहीं निकले उस समय बोलनेकी इच्छा वाली सरस्वती देवीने क्या कहा था ? २४ब्राह्मण ने उत्तर दिया, कि–शरीरमें जो प्राणके द्वारा उत्पन्न होती है और फिर प्राणमेंसे अपानमें पहुँच जाती है और तदनन्तर उदानरूप हुई वह शरीरको त्यागकर व्यानरूपसे सब दिशाओंमें फैल जाती है (पाणिनीय शिक्षामें लिखा है, कि "आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया । मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥" आत्मा बुद्धिके साथ संमति करके अर्थों (वाक्यों) को कहनेकी इच्छासे मनको प्रेरणा करता है, तब मन शरीरमें रहनेवाले अग्निको प्रेरणा करता है, तब वह शरीर में रहनेवाले वायुको प्रेरणा करता है तब वाणी व्यक्त होती है। इस शिक्षाके कथनानुसार मनकी प्रेरणासे ही प्राण आदि वाणी को उत्पन्न करते हैं, यही बात इस श्लोकमें कही है । एक मनुष्य बोलते २ थक जाता है तब बाहरके वायुको पीता है, वह प्राण नाभिके स्थानमें, कि––जो प्राण और अपानका एक स्थानरूप गिनाजाता है उसके साथ जाकर मिलजाता है, फिर मनकी प्रेरणासे शरीरमेंका अग्नि वायुको प्रेरणा करता है तब वह वायु नाभिमेंसे ऊपरको चढ़कर छातीमें कण्ठमें तथा मस्तिकके स्थानोंमें टकराता है और मन्द्र, मध्यम तथा तार (लम्बे) ध्वनिको उत्पन्न करता है । तदनन्तर वह वायु नीचे मुखरूपी बिलमें पहुँचकर तहाँसे तालु आदि स्थानों में घूमता है और मन्द्र ध्वनिवाले, वर्णोंको प्रगट करके अपने

सर्वं दिवमाप्नोति ॥ २५ ॥ ततः समाने प्रतितिष्ठतीह इत्येव पूर्वं

वेगवान् स्वभावके कारण तहाँसे बाहर निकलकर कानके स्थान में संस्कार देताहुआ उसको वर्णोंका अनुभव कराता है और उसका अपना वेग क्षीण होजाता है, तब वह पहलेकी समान अपने स्थान पर ही आजाता है) ॥ २५ ॥ फिर वह इस लोक में समानमें वास करता है, इसप्रकार वाणीने उस समय कहा था, इसलिये मनका स्थावरपनेके गुणसे विशेष भाव है और वाणीका जङ्गमपनेके गुणसे विशेषभाव है (इसप्रकार वाणीने ही पहले अपनी उत्पत्तिके विषयमें कहा है और वाणीके कहनेसे ही जाननेमें आता है, कि-वाणी प्राणके अधीन है। श्रुतिमें कहा है, कि-"सोमः सहाग्निना" वे सोम और अग्नि इड़ा तथा पिङ्गलाके अधिपति हैं। इनमें अग्नि वाणीका देवता है और सोम मनका देवता है। इस श्लोकमें मन और वाणीके विषयमें कह कर अध्यायकी समाप्ति की है। एक श्रुतिमें ऐसा कहा है, कि-"किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे, वाचि हि प्राणं जुहुमः प्राणा वाचयोर्हत्र प्रभवः स एवाव्ययः" हम परलोकमें जानेके लिये वेदोंका अध्ययन क्यों करें ? और यज्ञ क्यों किया करें वाणी में ही प्राणोंका होम करते हैं, क्योंकि- मनको और वाणीको उत्पन्न करनेवाला भी प्राण ही है और वाणीके लय होनेका स्थान भी प्राण ही है। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है, कि-यह सब व्यवहार वाणीके कारणसे ही चलता है, अतः उस व्यवहारको बन्द करनेके लिये वाणीका प्राणमें होम करनेसे अनिष्ट होना रुकजायगा और परलोक सुधर जायगा। जैसे मैदानमेंका अग्नि वायुसे बढ़जाता है और बटलोईमेंका वायु अग्निसे बढ़ता है, परन्तु इन दोनोंमेंसे यदि एकका नाश होजाता है तो दोनोंका ही नाश होजाता है। इस

प्रजल्प वाणी । तस्मान्मनः स्थावरत्वाद्विशिष्टं तथा देवी जङ्गमत्वाद्विशिष्टा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

ब्राह्मण उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । सुभगे सप्तहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ॥ १ ॥ घ्राणं चक्षुश्च जिह्वा च त्वक् श्रोत्रं चैव पञ्चमम् । मनो बुद्धिश्च सप्तैते होतारः पृथगाश्रिताः ॥ २ ॥ सूक्ष्मेऽवकाशे तिष्ठन्तो न पश्यन्तीतरेतरम् । एतान् वै सप्तहोतॄंस्त्वं स्वभावाद्विद्धि शोभने ॥ ३ ॥ ब्राह्मणधु-

---

प्रकार ही स्वर्ग देनेवाले अर्थवादोंको सुनकर मन यज्ञ आदि करनेको उत्साहित होता है और फिर वह वाणी आदिको कर्म करनेमें लगाता है, इसलिये वाणीके प्रवर्त्तक वायुको रोकनेसे मन रुकजाता है और उससे वाणी रुकजाती है, वाणी रुकी, कि–संसारका नाशरूप इष्टसिद्धि (मोक्ष) का लाभ होजाता है, इसलिये "यज्ञादि क्यों किये जायँ" ऊपरकी श्रुतिमें वाक् शब्द कहा है, उसका अर्थ मन है । इसप्रकार वाणी और मन ये दोनों पुरुषार्थ (मोक्ष) में हेतु हैं, इसलिये दोनों ही समान हैं)२६ इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥ छ ॥ छ

ब्राह्मण कहता है, कि–इस लोकमें सात होताओंका जैसा विधान है, उस विषयमें हे सुभगे ! पुराने इतिहासका यह दृष्टान्त देते हैं ॥ १ ॥ नासिका, चक्षु, जिह्वा, त्वचा और पाँचवें कान, मन तथा बुद्धि, ये सात होता हैं, जो परस्परमें एक २ से जुदे रहते हैं ॥२॥ यद्यपि ये सूक्ष्म स्थानमें रहते हैं तथापि एक दूसरे को देखते नहीं हैं, हे शोभने ! इन सात होताओंको तो तू अपने स्वभावसे ही समझले ॥३॥ ब्राह्मणीने कहा, कि–सूक्ष्म स्थानमें

वाच । सूक्ष्मेऽवकाशे सन्तस्ते कथं नान्योऽन्यदर्शिनः । कथं स्वभावा भगवन्नेतदाचक्ष्व मे प्रभो ॥ ४ ॥ ब्राह्मण उवाच । गुणाज्ञानमविज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता । परस्परं गुणानेते नाभिजानन्ति कर्हिचित् ॥५॥ जिह्वा चक्षुस्तथा श्रोत्रं त्वङ् मनो बुद्धिरेव च । न गन्धानधिगच्छन्ति घ्राणं तानधिगच्छन्ति ॥६॥ घ्राणं चक्षुस्तथा श्रोत्रन्त्वङ् मनो बुद्धिरेव च । न रसानधिगच्छन्ति जिह्वा तानधिगच्छति ॥ ७ ॥ घ्राणं जिह्वा तथा श्रोत्रं त्वङ् मनो बुद्धिरेव च । न रूपाण्यधिगच्छन्ति चक्षुस्तान्यधिगच्छति ॥ ८ ॥ घ्राणं जिह्वा ततश्चक्षुः श्रोत्रं बुद्धिर्मनस्तथा । न स्पर्शानधिगच्छन्ति त्वक् च तानधिगच्छति ॥ ९ ॥ घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वङ्मनो बुद्धिरेव च । न शब्दानधिगच्छन्ति श्रोत्रं तानधिगच्छति॥ १० ॥घ्राणं

रहने पर भी वे एक दूसरेको क्यों नहीं देखते ? हे प्रभो ! हे भगवन् ! मुझे बताइये, कि-उनका स्वभाव कैसा है ? ॥ ४ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि-गुणोंका अज्ञान अविज्ञान और गुणोंका ज्ञान अभिज्ञान कहलाता है, ये सातों गुण परस्परमें एक दूसरेको कभी नहीं जानते ॥ ५ ॥ जीभ, चक्षु, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये गन्धोंको नहीं परख सकते, केवल नासिका ही उनको पहचानती है ॥ ६ ॥ नासिका, नेत्र, कान, त्वचा, बुद्धि और मन ये रसोंको नहीं पहचान सकते, केवल जिह्वा ही रसोंको पहचानती है ॥७॥ नासिका, जीभ, कान, त्वचा, मन और बुद्धि ये रूपोंको नहीं परख सकते, केवल नेत्र ही उनको पहचानता है ॥८॥ नासिका, जीभ, चक्षु, कान, बुद्धि और मन ये स्पर्शोंको नहीं परख सकते, केवल त्वचा ही उनको पहचान सकती है ९ नासिका, जीभ, नेत्र, त्वचा, मन और बुद्धि ये शब्दोंको नहीं पहचान सकते, केवल कान ही उनको पहचान सकते हैं ॥१०॥

जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं बुद्धिरेव च । संशयं नाधिगच्छन्ति मनस्तमधिगच्छति ॥ ११ ॥ घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं मन एव च । न निष्ठामधिगच्छन्ति बुद्धिस्तामधिगच्छति ॥ १२ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । इन्द्रियाणाञ्च सम्वादं मनसश्चैव भामिनी ॥ १३ ॥ मन उवाच । न घ्राति मामृते घ्राणं रसं जिह्वा न वेत्ति च । रूपं चक्षुर्न गृह्णाति त्वक् स्पर्शं नावबुध्यते ॥ १४ ॥ न श्रोत्रं बुध्यते शब्दं मया हीनं कथञ्चन । प्रवरं सर्वभूतानामहमस्मि सनातनम् ॥ १५ ॥ अगाराणीव शून्यानि शान्तार्चिष इवाग्नयः । इन्द्रियाणि न भासन्ते मया हीनानि नित्यशः ॥ १६ ॥ काष्ठानीवार्द्रशुष्काणि यतमानैरपीन्द्रियैः । गुणार्थान्नाधिगच्छन्ति मामृते सर्वजन्तवः ॥ १७ ॥ इन्द्रियाण्यूचुः । एवमेतद्भवेत् सत्यं यथैतन्मन्यते भवान् । ऋतेऽस्मान

नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वचा, कान और बुद्धि ये सन्देहोंको नहीं समझ सकते, केवल मन ही उनको समझ सकता है ॥ ११ ॥ नासिका, जीभ, नेत्र, त्वचा, कान और मन ये निष्ठाको नहीं जानसकते, केवल बुद्धि ही उसको जानती है ॥१२॥ हे भामिनी ! इस विषयमें भी इस पुरातन इतिहासका दृष्टान्त देते हैं, जोकि-इन्द्रियोंका और मनका संवाद हुआ था ॥ १३ ॥ मनने कहा, कि-मेरे बिना नासिका सूँघ नहीं सकती जीभ रस नहीं चाख सकती, नेत्र रूपरङ्गको ग्रहण नहीं करसकते, त्वचा स्पर्शको नहीं परख सकती ॥ १४ ॥ मेरे बिना कान किसीप्रकार भी शब्दको नहीं समझसकते, मैं सनातनसे सब भूतोंमें श्रेष्ठ हूँ ॥१५॥ सूने घरोंकी समान वा जिसकी लपटें शान्त होगई हैं ऐसे अग्निकी समान मेरे बिना इन्द्रियें सदा ही कान्तिहीन पड़ी रहती हैं ।१६। गीले सूखे काठोंकी समान सब प्राणी इन्द्रियोंके यत्न करने पर भी मेरे बिना गुणोंको और उनके अर्थोंको नहीं जानसकते १७

स्मदर्थांश्च भोगान् भुङ्क्ते भवान् यदि ॥ १८ ॥ यद्यस्मासु प्रलीनेषु तर्पणं प्राणधारणम् । भोगान् भुङ्क्ते भवान् सत्यं यथैतन्मन्यते तथा ॥ १९ ॥ अथवास्मासु लीनेषु तिष्ठत्सु विषयेषु च । यदि संकल्पमात्रेण भुङ्क्ते भोगान् यथार्थवत् ॥ २० ॥ अथ चेन्मन्यसे सिद्धिमस्मदर्थेषु नित्यदा । घ्राणेन रूपमादत्स्व रसमादत्स्व चक्षुषा । श्रोत्रेण गन्धमादत्स्व स्पर्शानादत्स्व जिह्वया । त्वचा च शब्दमादत्स्व बुद्ध्या स्पर्शमथापि च ॥ २२ ॥ बलवन्तो ह्यनियमा नियमा दुर्बलीयसाम् । भोगानपूर्वानादत्स्व नोच्छिष्टं भोक्तुमर्हसि ॥ २३ ॥ यथा हि शिष्यः शास्तारं श्रुत्यर्थमभिधावति । ततः श्रुतिमुपादाय

इन्द्रियोंने कहा, कि जैसा आप मानते हैं, यह तब ही ठीक होसकता है, कि-जब आप हमारे विना हमारे विषयोंको भोगसकें । १८। यदि हमारा लय होजाने पर सन्तोष हो और प्राण धारण किये जासकें तथा आप भोगोंको भोग लें तो आप जैसा मानते हैं वह सत्य होसकता है ॥ १९ ॥ अथवा हमारा लय होजाने पर यदि विषय वर्त्तमान रहें और आप उनको सङ्कल्पमात्रसे भोग सकें तो आपका कहना सत्य होसकता है ॥ २० ॥ और यदि आप यह समझते हों, कि-हमारे विषयों पर आपका सदा शासन रहता है तो नाकसे रूपको ग्रहण करो और चक्षुसे रसको चखो ॥ २१ ॥ कानोंसे गन्धोंको सूँघो, जीभसे स्पर्शोंको ग्रहण करो, त्वचासे शब्दको सुनो और बुद्धिसे स्पर्शको स्वीकार करो ॥ २२ ॥ क्योंकि-बलवानोंके लिये कोई नियम नहीं होते, नियम तो दुर्बलोंके लिये ही होते हैं, तुम तो अपूर्व भोगोंको भोगो, तुम्हें उच्छिष्ट भोगोंको भोगना शोभा नहीं देता ॥ २३ ॥ जैसे कोई शिष्य श्रुतिको जाननेके लिये शास्त्रके जानकारोंके पास जाता है और श्रुतिको जानलेने पर स्वयं ही उसके अर्थका विचार

श्रुत्यर्थमुपतिष्ठति ॥ २४ ॥ विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानभिमन्यसे । अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ॥ २५ ॥ वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम् । अस्मदर्थे कृते कार्य्ये दृश्यते प्राणधारणम् ॥ २६ ॥ बहूनपि हि सङ्कल्पान्मत्वा स्वप्नानुपास्य च । बुभुक्षया पीड्यमानो विषयानेव धावति ॥२७॥ अगारमद्वारमिव प्रविश्य संकल्पभोगान् विषये निबद्धान् । प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं दारुक्षयेऽग्निर्ज्वलितो यथैव ॥ २८ ॥ काममन्तु नः स्वेषु गुणेषु सङ्गः कामञ्च नान्योऽन्यगुणोपलब्धिः । अस्मान् विना नास्ति तवोपलब्धिस्तावदृते त्वां न भजेत् प्रहर्षः ॥ २९ ॥

करता है ॥ २४ ॥ ऐसे ही तुम भी भोगेहुए और भोगनेमें आनेवाले, स्वप्नमें या जाग्रत् अवस्थामें जो विषय हमने दिखाये हैं, उनको ही तुम अपने मानते हो ॥ २५ ॥ अल्प बुद्धिवाले प्राणी कि-जिनका मन मरासा होता है, उनमें भी हमारे लिये कियेहुए कार्य्यमे ही प्राण टिकाहुआ मालूम होता है ॥ २६ ॥ क्योंकि-बहुतसे सङ्कल्पोंका मनन करनेके और स्वप्नोंको देखनेके बाद उन२ पदार्थोंको भोगनेकी इच्छासे पीडा पाताहुआ मनुष्य विषयोंके पीछे ही दौड़ता है (मनकी तरङ्गोंसे या स्वप्नसे उसको सन्तोष नहीं होता है) ॥ २७ ॥ सङ्कल्पमें से उत्पन्न हुए भोग (इच्छायें) जोकि-विषयों (वासनाओं) के साथ बँधेहुए होते हैं, उनको भोगनेके बाद, (हृदयाकाशरूप) मानो बिना द्वारके स्थानमें प्रवेश करके, जैसे लकड़ियोंके जलचुकने पर बलताहुआ अग्नि शान्त पडजाता है, तैसे ही प्राणोंका क्षय होने पर भी शान्ति ही मिलती है ॥ २८ ॥ हमारा अपने गुणोंके साथ सङ्ग है, यह ठीक है, हमारे एक दूसरेके गुण नहीं मिलते यह भी ठीक है, परन्तु हमारे बिना तपका साधन नहीं होसकता और इतनेके बिना तुझे (मनको) हर्ष भी प्राप्त नहीं होगा। २९। बाईसवाँ अध्याय समाप्त।

ब्राह्मण उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । सुभगे पञ्चहोतॄणां विधानमिह यादृशम् ।१ प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च । पंचहोतॄंस्तथैतान् वै परं भावं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥ ब्राह्मण्युवाच । स्वभावात् सप्त होतार इति मे पूर्विका मतिः । यथा वै पंच होतारः परो भावस्तदुच्यताम् ॥३॥ ब्राह्मण उवाच । प्राणेन संभृतो वायुरपाने जायते ततः । अपाने संभृतो वायुस्ततो व्यानः प्रवर्त्तते ॥ ४ ॥ व्यानेन सम्भृतो वायुस्ततोदानः प्रवर्त्तते । उदाने संभृतो वायुः समानो नाम जायते ५ तेऽपृच्छन्त पुरा सन्तः पूर्वजातं पितामहम् । यो नः श्रेष्ठस्तमाचक्ष्व स नः श्रेष्ठो भविष्यति ॥ ६ ॥ ब्रह्मोवाच । यस्मिन् प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे । यस्मिन् प्रचीर्णे च

ब्राह्मणने कहा, कि–हे सुभगे ! इस विषयमें भी, इस लोकमें पाँच होताओंका जिसप्रकारका विधान कहा है,उसके इस पुरातन इतिहासका दृष्टान्त देते हैं॥१॥प्राण,अपान, उदान, समान और व्यान ये पाँच प्राण पाँच होता हैं और ज्ञानी पुरुष इस ही एक परम भावको जानते हैं ॥ २ ॥ ब्राह्मणीने कहा, कि–मैं पहले समझती थी, कि–स्वभावसे सात होता हैं, अब पाँच होता हैं, यह परम भाव (सूत्र) किस प्रकार है, मुझे बताइये ॥ ३ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि–प्राणसे बढा हुआ वायु अपान बनजाता है, अपानसे भराहुआ वायु फिर व्यान बनकर चलने लगता है, ४ व्यानसे भरपूर वायु फिर उदान होकर चलने लगता है और उदानमें भराहुआ वायु फिर समान नामसे उत्पन्न होता है ।५। एक समय अपनेसे पहले जन्मे हुए पितामह ब्रह्मासे ये साधु (वायु) बूझने लगे, कि–हममें जो श्रेष्ठ हो उसको बताइये,वही हम सबोंका नेता होगा ॥ ६ ॥ ब्रह्माने कहा, कि–जिसका लय होने पर प्राणधारियोंके शरीरोंमेंके सब प्राणोंका लय होजाय

पुनश्चरन्ति स वै श्रेष्ठो गच्छत यत्र कामः ॥ ७ ॥ प्राण उवाच।
मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे । मयि
प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ ८ ॥
ब्राह्मण उवाच । प्राणः प्रालीयत ततः पुनश्च प्रचचार ह ।
समानश्चाप्युदानश्च वचोऽब्रूतां पुनः शुभे ॥ ९ ॥ न त्वं सर्व-
मिदं व्याप्य तिष्ठसीह यथा वयम् । न त्वं श्रेष्ठो हि नः प्राण
अपानो हि वशे तव । प्रचचार पुनः प्राणस्तमपानोऽभ्यभाषत १०
अपान उवाच । मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राण-
भृतां शरीरे । मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां
प्रलीनम् ॥ ११ ॥ ब्राह्मण उवाच । व्यानश्च तमुदानश्च भाष-

और जिसका उदय होने पर फिर सब चलने लगें वही श्रेष्ठ है, अब तुम्हारी इच्छा हो तहाँ जाओ ॥ ७ ॥ प्राणने कहा, कि-प्राणधारियोंके शरीरोंमें मेरा लय होने पर सब प्राणोंका प्रलय होजाता है और मेरी प्रवृत्ति होनेपर उन सबोंकी गतिका आरम्भ होजाता है, इसलिये मैं श्रेष्ठ हूँ, अब तुम मेरे प्रलयको देखो ८ ब्राह्मणने कहा, कि-तदनन्तर प्राणका लय होगया और वह फिर चलने लगा, उस समय हे शुभे! समान और उदान उससे इसप्रकार कहने लगे, कि-॥ ९ ॥ इस शरीरमें जैसे हम सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं तैसे तू नहीं रहता है, इसलिये तू श्रेष्ठ नहीं है, केवल यह अपान तेरे वशमें है, इसके बाद प्राण फिर चलने लगा, तब उससे अपानने कहा, ॥ १० ॥ अपान बोला, कि-मेरा प्रलय होने पर प्राणियोंके शरीरोंमेंके सब प्राणोंका प्रलय होजाता है जब मैं चलने लगता हूँ, तब वे सब फिर चलने लगते हैं इसलिये मैं श्रेष्ठ हूँ, अब तुम मेरा प्रलय देखो ॥ ११ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि-इस प्रकार कहनेवाले अपानसे व्यान और उदान दोनों इस प्रकार कहने लगे, कि-हे अपान! तू कुछ श्रेष्ठ नहीं है,

प्राणमथोचतुः । अपान न त्वं श्रेष्ठोसि प्राणो हि वशगस्तव १२
अपानः प्रचचाराथ व्यानस्तं पुनरब्रवीत् । श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १३ ॥ मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे । मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् । १४ ॥ ब्राह्मण उवाच । प्रालीयत ततो व्यानः पुनश्च प्रचचार ह । प्राणापानावुदानश्च समानश्च तमब्रुवन् ॥ १५ ॥ न त्वं श्रेष्ठोऽसि नो व्यान समानस्तु वशे तव । प्रचचार पुनर्व्यानः समानः पुनरब्रवीत् । श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन हेतुना ॥ १६ ॥ मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे । मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥ १७ ॥ समानः प्रचचाराथ उदानस्तमुवाच ह । श्रेष्ठोऽहमस्मि सर्वेषां श्रूयतां येन

केवल प्राण ही तेरे वशमें है ॥ १२ ॥ तदनन्तर अपान चलने लगा, तब व्यान उससे फिर कहने लगा, कि—मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसका कारण तुम सुनो ॥१३॥ मेरे लीन होते ही प्राणधारियोंके देहोंमेंके सब प्राणोंका लय होजाता है और मैं चलने लगता हूँ तो सब फिर चलने लगते हैं, इसलिये मैं श्रेष्ठ हूं. अब तुम मेरा लय होते हुए देखो ॥ १४ ॥ ब्राह्मण कहता है, कि—तदनन्तर व्यानका लय होगया और वह फिर चलने लगा, तब तो प्राण, अपान, उदान, और समान उससे कहने लगे, कि—॥ १५ ॥ हे व्यान ! तू कुछ श्रेष्ठ नहीं है, केवल समान तेरे वशमें है, तदनन्तर व्यान फिर चलने लगा, तब समानने कहा, कि—मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, इसका कारण तुम सुनो ॥१६॥ मेरा लय होजाने पर प्राणधारियोंके शरीरोंमेंके सब प्राणोंका लय होजाता है और जब मैं चलने लगता हूँ तो सब चलने लगते हैं इसलिये मैं श्रेष्ठ हूँ, अब तुम मेरे लयको देखो ॥ १७ ॥ तदनन्तर समान (लीन

हेतुना ॥१८॥ मयि प्रलीने प्रलयं व्रजन्ति सर्वे प्राणाः प्राणभृतां शरीरे। मयि प्रचीर्णे च पुनश्चरन्ति श्रेष्ठो ह्यहं पश्यत मां प्रलीनम् ॥१९॥ ततः प्रालीनतोदानः पुनश्च प्रचचार ह। प्राणापानौ समानश्च व्यानश्चैव तमब्रुवन् । उदान न त्वं श्रेष्ठोऽसि व्यान एव वशे तव ॥ २० ब्राह्मण उवाच। ततस्तानब्रवीद् ब्रह्मा समवेतान् प्रजापतिः। सर्वे श्रेष्ठा न वा श्रेष्ठाः सर्वे चान्योऽन्यधर्मिणः ॥ २१ ॥ सर्वे स्वविषये श्रेष्ठाः सर्वे चान्योऽन्यधर्मिणः। इति तानब्रवीत् सर्वान् समवेतान् प्रजापतिः ॥ २२ ॥ एकस्थिरश्चास्थिरश्च विशेषात् पञ्च वायवः। एक एव ममैवात्मा बहुधाप्युपचीयते ॥ २३ ॥ परस्परस्य सुहृदो भावयन्तः

होगया और वह फिर) चलने लगा, तब उदानने उससे कहा, कि-(केवल व्यान तेरे वशमें है)सबसे श्रेष्ठ तो मैं हूँ; तुम इसका कारण सुनो ॥१८॥ मेरा लय होने पर प्राणियोंके देहोंमेंके सब प्राणोंका लय होजाता है और मैं चलने लगता हूँ तो सब फिर चलने लगते हैं, इसलिये मैं श्रेष्ठ हूँ, अब मैं लीन होता हूँ, देखो १९ तदनन्तर उदानका लय हुआ और वह फिर चलनेलगा, तब प्राण, अपान, समान और व्यान उससे कहनेलगे, कि-हे उदान ! तू कुछ श्रेष्ठ नहीं है, केवल व्यान ही तेरे वशमें है ॥२०॥ ब्राह्मण कहता है, कि-तदनन्तर इकट्ठेहुए उन सबोंसे प्रजापति ब्रह्माने कहा, कि-तुम सब श्रेष्ठ हो और तुममें कोई श्रेष्ठ नहीं है, परन्तु तुम सब एक दूसरेके धर्मके सहारे पर हो ॥ २१ ॥ सब अपने२ विषयमें श्रेष्ठ हो, सब परस्परके धर्मका आधार रखनेवाले हो, इसप्रकार उन इकट्ठे हुए सबोंसे प्रजापतिने कहा ॥ २२ ॥ एक स्थिर है और अस्थिर भी है, विषयविशेषके कारणसे वायु पाँच प्रकारका है, केवल मेरा आत्मा ही एक है, परन्तु वह बहुतसे रूपोंमें प्रकट होता है ॥ २३ ॥ एक दूसरेके मित्र बनजाओ,

परस्परम् । स्वस्ति व्रजत भद्रं वो धारयध्वं परस्परम् ॥ २४ ॥
इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

ब्राह्मण उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । नारदस्य च संवादमृषेर्देवमतस्य च ॥ १ ॥ देवमत उवाच । जन्तोः सञ्जायमानस्य किन्नु पूर्वं प्रवर्तते । प्राणोऽपानः समानो वा व्यानो वोदान एव च ॥२॥ नारद उवाच । येनायं सृज्यते जन्तुस्ततोऽन्यः पूर्वमेति तम् । प्राणद्वन्द्वं हि विज्ञेयं तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥ ३ ॥ देवमत उवाच । केनायं सृज्यते जन्तुः कश्चान्यः पूर्वमेति तम् । प्राणद्वन्द्वं च मे ब्रूहि तिर्यगूर्ध्वमधश्च यत् ॥ ४ ॥ नारद उवाच । संकल्पाज्जायते हर्षः शब्दादपि च जायते । रसात्

आपसमें प्रेम रक्खो, तुम्हारा कल्याण हो, आनन्दसे पधारो, और एक दूसरेको धारण करो ॥२४॥ तेईसवाँ अध्याय समाप्त॥

ब्राह्मणने कहा, कि-इस विषयमें भी नारद और देवमत ऋषिके संवादरूप इस पुरातन इतिहासका दृष्टान्त देते हैं ॥ १ ॥ देवमतने कहा, कि—जन्म लेनेहुए प्राणीसे पहले किसकी प्रवृत्ति होती है? प्राणकी, अपानकी, समानकी, व्यानकी या उदानकी १२ नारदजीने कहा, कि—यह जन्तु जिसके द्वारा रचाजाता है उससे दूसरा ही इसके पास पहले आता है, क्योंकि प्राणका जोड़ा होता है जो तिरछा और ऊपर नीचेको जाता है॥ ३॥देवमतने कहा, कि—इस जन्तुको कौन रचता है? दूसरा कौन उसके पास पहले आताहै, प्राणोंका जोड़ा जो तिरछा और ऊपर नीचेको जाताहै, बताओ वह क्या है? ॥४॥ नारदजीने कहा, कि—सङ्कल्पमेंसे हर्ष (जन्तु) उत्पन्न होता है तथा वह (वैदिक) शब्दमेंसे भी ("सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इस श्रुतिके अनुसार उसने अनेक रूपोंमें बलात्कारसे जन्मनेकी इच्छाकी इसलिये) जन्मता है, वह रसमेंसे

संजायते चापि रूपादपि च जायते ॥५॥ शुक्राच्छोणितसंसृष्टात् पूर्वं प्राणः प्रवर्त्तते । प्राणेन विकृते शुक्रे तथापानः प्रवर्त्तते ॥६॥ शुक्रात् सञ्जायते चापि रसादपि च जायते । एतद्रूपमुदानस्य हर्षो मिथुनमन्तरा ॥ ७ ॥ कामात् सञ्जायते शुक्रं शुक्रात् संजायते रजः । समानव्यानजनिते सामान्ये शुक्रशोणिते ॥ ८ ॥ प्राणापानाविदं द्वन्द्वमर्वाक् चोर्ध्वश्च गच्छतः । व्यानः समानश्चै-

(वर्षामेंसे) भी जन्मता है और रूपमेंसे (बीजमेंसे) भी जन्मता है ॥५॥ शोणित वाले शुक्रमेंसे पहले प्राण(लिङ्गात्मा)की प्रवृत्ति होती है, तदनन्तर जब प्राणके कारणसे शुक्रमें (जन्म आदिका) विकार होता है, तब (मृत्युका अन्तिम विकारवाला) अपान उसमें प्रवृत्त होता है (इस श्लोकमें शुक्र शब्द अदृष्टका वाचक है और शोणित शब्द राग आदिका वाचक है, इसलिये यह अर्थ होता है, कि–प्राण कहिये लिङ्गात्मा वासनायुक्त अदृष्टके कारणसे जगत्को उत्पन्न करनेकी प्रवृत्ति करता है, जन्म आदि छः विकारयुक्त शुक्ररूप होता है, उसमेंसे वासना और कर्मानुसार देह उत्पन्न होता है, फिर अपान कहिये मृत्यु नामका अन्तिम विकार उत्पन्न होता है अर्थात् शरीरपात होजाता है, तात्पर्य यह है, कि–प्राण अदृष्टको लेकर शुक्ररूप होकर देहरूप होजाता है और वह देह जन्म आदि छः विकारोंको प्राप्त होता हुआ अन्तमें नष्ट होजाता है) ॥ ६ ॥ शुक्रमेंसे भी हर्ष (जन्तु) उत्पन्न होता है, तथा रसमेंसे भी उत्पन्न होता है, यह रूप उदान का है, हर्ष (जन्तु) कार्य और कारण इन दोके मध्यमें मिथुन (समागम) में रहता है, श्रुतिभी कहती है "ते यदन्तरा तद् ब्रह्म" ॥ ७ ॥ काम (इच्छा) मेंसे शुक्र उत्पन्न होता है और शुक्रमेंसे रज उत्पन्न होता है शुक्र और रज ये दोनों समान और व्यानसे उत्पन्न होते हैं और सामान्य हैं ॥ ८ ॥ प्राण और अपान इन दोका

योगौ तिर्यक् द्वन्द्वत्वमुच्यते ॥९॥ अग्निर्वै देवताः सर्वा इति वेदस्य शासनम् । सञ्जायते ब्राह्मणस्य ज्ञानं बुद्धिसमन्वितम् ॥ १० ॥ तस्य धूमस्तमो रूपं रजो भस्मसु तेजसः । सर्वं सञ्जायते तस्य यत्र प्रक्षिप्यते हविः ॥ ११ ॥ सत्त्वात् समानो व्यानश्च इति यज्ञविदो विदुः । प्राणापानावाज्यभागौ तयोर्मध्ये हुताशनः ॥१२ ॥

(कामवृत्ति नामका) जोड़ा है, वह ऊपर नीचेको जाता है, व्यान और समान इन दोका जो जोड़ा है, उसको तिरछा जानेवाला जोडा कहते हैं ॥ ९ ॥ "अग्निर्वै देवताः सर्वाः" अग्निही सकल देवतारूप है, ऐसा देव (वेद) का शासन (शिक्षा) है. (इस वेदमेंसे ही) ब्राह्मणका (अग्निस्वरूप परमात्माका) बुद्धिवाला सम्पूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है ॥१०॥ उसका धुआँ तो तमरूप है उसकी भस्म रजरूप है, जहाँ अग्निके तेजमें (भोक्तामें) हवि छोडाजाता है, उसमेंसे सब उत्पन्न होता है ॥११॥ सत्त्वगुणमेंसे समान और व्यान उत्पन्न होता है, ऐसा जाननेवाले जनाते हैं, प्राण और अपान तो घृतका भाग है, उनके मध्यमें अग्नि है (जीव तथा ब्रह्मका समागम करने वाले योगका नाम यज्ञ है, समान और व्यान यह सकल दृष्ट-देखेहुए और श्रुत सुनेहुएका वाचक है और वह बुद्धिसत्त्वसे उत्पन्न होता है, यहबात योगियोंने अनुभवसे सिद्ध की है। इस श्लोकका तात्पर्य यह है, कि-वेदमें श्येनयाग कहा है, ज्योतिष्टोम याग करना कहा है और परब्रह्मकी उपासना करनी भी कही है। जो तमोगुणी है वह श्येनयाग करता है, रजोगुणी ज्योतिष्टोम याग करता है और सत्त्वगुणी ब्रह्मकी उपासना करता है, उनमें जो यज्ञवेत्ता कहिये योगके ज्ञाता होते हैं वे सात्त्विक साधनको ही श्रेष्ठ मानते हैं, दूसरे साधनोंको श्रेष्ठ नहीं मानते हैं, जैसे घीके दो भाग होमनेसे अग्नि प्रज्वलित होता है, ऐसे ही पहली उपाधिको विलीन करनारूप प्राण और

एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः । निर्द्वन्द्वमिति यत्त्वेतत्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १३ ॥ अहोरात्रमिदं द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः । एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः॥१४॥ सच्चासच्चैव तद्द्वन्द्वं तयोर्मध्ये हुताशनः । एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः॥१५॥ ऊर्ध्वं समानो व्यानश्च व्यस्यते कर्म तेन तत् । तृतीयन्तु समानेन पुनरेव व्यवस्यते ॥ १६ ॥ शान्त्यर्थं व्यानमेकञ्च शान्तिर्ब्रह्म सनातनम् । एतद्रूपमुदानस्य परमं ब्राह्मणा विदुः ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि ब्राह्मणगीतासु चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।

अपानका जय किया जाता है तब उदान नामके परब्रह्मका भ्रकुटीके मध्यमें दर्शन होकर साधक प्रकाशित होता है) ॥१२॥ उदानके इस परमरूपको ब्राह्मण (वेद) जानते हैं, अब जो निर्द्वन्द्व है उसके विषयमें कहता हूँ, तू सुन ॥ १३ ॥ दिन और रात्रिका एक जोडा है, इनके मध्यमें हुताशन है, ब्राह्मण जानते हैं, उसके अनुसार उदानका (उत्कर्षसे चेतना करनेवाले परमानन्दका) यह परमरूप है ॥१४॥ सत् और असत्का एक जोड़ा है, इनके मध्यमें हुताशन है, ब्राह्मण जानते हैं, उसके अनुसार उदानका यह परम रूप है ॥ १५ ॥ समान और व्यान ऊपरको रहते हैं तथा व्यानसे कर्मका विस्तार होता है, फिर भी समान तीसरेकी व्यवस्था करता है ॥१६॥ शान्तिके लिये एक व्यान ही है, शान्ति सनातन ब्रह्म है, ब्राह्मण (वेद) जानते हैं, तिसप्रकार उदानका (उत्कर्षसे चेतना करानेवाले परमानन्द परब्रह्मका) यह रूप है ॥ १७ ॥ चौवीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ छ ॥

ब्राह्मण कहता है, कि-इस विषयमें भी चार होताओंके विधान का जैसा स्वरूप इस लोकमें कहा है, उसके पुराने इतिहासका

चातुर्होत्रविधानस्य विधानमिह यादृशम् ॥१॥ तस्य सर्वस्य विधि-वद्विधानमुपदिश्यते । शृणु मे गदतो भद्रे रहस्यमिदमद्भुतम् ॥२॥ करणं कर्म कर्ता च मोक्ष इत्येव भाविनी । चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ॥ ३ ॥ हेतूनां साधनञ्चैव शृणु सर्वमशेषतः । घ्राणं जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् च श्रोत्रञ्च पञ्चमम् । मनो बुद्धिश्च सप्तैते विज्ञेया गुणहेतवः ॥ ४ ॥ गन्धो रसश्च रूपञ्च शब्दः स्पर्शश्च पञ्चमः । मन्तव्यमथ बोद्धव्यं सप्तैते कर्महेतवः ॥ ५ ॥ घ्राता भक्षयिता द्रष्टा वक्ता श्रोता च पञ्चमः । मन्ता बोद्धा च सप्तैते विज्ञेया कर्तृहेतवः ॥ ६ ॥ स्वगुणं भक्षयन्त्येते गुणवन्तः

यह उदाहरण देते हैं ॥ १ ॥ इन सबको विधिपूर्वक विधानका उपदेश कियाजाता है, उस विषयमें कहता हूँ, हे भद्रे ! तू सुन, यह एक अद्भुत रहस्य है ॥ २ ॥ हे भाविनी ! करण (ज्ञान) कर्म, कर्ता और मोक्ष ये चार होता हैं, कि-जिनसे यह जगत् छाया हुआ है ॥ ३ ॥ इस विषयके हेतुओंके सब साधनोंको तू पूर्णरूपसे सुन-नासिका, जीभ, चक्षु, त्वचा और पाँचवें कान और मन तथा बुद्धि इन सातोंको ज्ञानके हेतु जान ॥ ४ ॥ गन्ध, रस, रूप शब्द पाँचवाँ स्पर्श, मन्तव्य (विचार) और बोद्धव्य (ज्ञान) इन सातको कर्मके हेतु जान ॥५॥ सूँघनेवाला, भक्षण करनेवाला, देखनेवाला, बोलनेवाला, पाँचवाँ सुननेवाला, मनन करनेवाला और जाननेवाला इन सातको कर्ताके हेतु जान॥६॥इन गुणोंवाले अपने २ भले बुरे गुणोंको भोगते हैं,अब मैं निर्गुण और अनन्त हूँ,ये सात मोक्षके हेतु हैं घ्राता और घ्रेयमें अभेद किस प्रकार है,यही बात इस श्लोकमें कही है) घ्राता (सूँघनेवाला) भक्षयिता (खानेवाला) आदि गुणोंवाला होकर अर्थात् घ्राण आदि औपाधिक रूपोंवाला होकर घ्राण आदि साधनके द्वारा अपने गन्ध आदि गुणोंको भोगता है । इसका तात्पर्य यह है, कि-

शुभाशुभम् । अदृश्च निर्गुणोनन्तः स्मृते मोक्षहेतवः ॥ ७ ॥

जैसे आकाश कानकी शष्कुली (परदा) रूप उपाधिको धारण करके कानरूप बनजाता है और उसके ही द्वारा अपने गुणरूप शब्दका प्रकाश करता है । इसप्रकार ही घ्राता आदि भी घ्राण रूप होकर उसके द्वारा गन्धरूप गुणका प्रकाश करता है इस विषयमें एक श्रुतिमें कहा है, कि-"अथ यो वेदेदं जिघ्रति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्" जो जानता है, कि-मैं सूँघता हूँ, वह आत्मा है और वह गन्धको ग्रहण करनेके लिये घ्राण-नासिका इन्द्रियरूप होजाता है, आत्मा स्वयं ही घ्राण आदि रूप होजाता है और आप ही जिसका उपादान कारण है ऐसे गन्ध शब्द आदिका उपभोग करता है । मेय (प्रकाश होने योग्य) और माता (प्रकाश करनेवाला) इन दोनोंका उपादान कारण कौन है ? इस प्रश्नके उत्तरमें मूलमें ही कहा है, कि-"अदृश्च निर्गुणोऽनन्तः" घ्राण और घ्राताआदि गुणोंसे रहित मैं ही उन दोनोंका उपादान कारण हूँ । यह श्लोक यजुर्वेदके एक मंत्रका अनुवाद है । शास्त्रमें कहा है-"इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्" इतिहास और पुराणकी कथाओंसे वेदके अर्थका विस्तार करे । यहाँ भी व्यासजीने चार होतावाले नीचेके मंत्रका अर्थ इस श्लोकमें कहा है और वह मंत्र इसप्रकार है-"पृथ्वी होता द्यौरध्वर्युः रुद्रोऽग्नीन् बृहस्पतिरुपवक्ता" पृथ्वी होता है, आकाश अध्वर्यु है, रुद्र आग्नीध्र है और बृहस्पति उपवक्ता है । मंत्रमेंका पृथिवी शब्द घ्राण आदिका वाचक है और होता शब्दसे होताके द्वारा प्रकाश करनेयोग्य देवताका समानपना कहा है, जैसे होताके द्वारा प्रकट होनेवाला देवता अतीन्द्रिय होता है तैसे ही घ्राण इन्द्रिय भी अतीन्द्रिय है । मंत्रमेंके द्यु शब्दसे शब्दसुखके साधनरूप गन्ध आदि कहे गये

विदुषां वध्यमानानां स्वं स्वं स्थानं यथा विधि । गुणास्ते देवता- भूताः सततं भुञ्जते हविः ॥ ८ ॥ अदन्नन्नान्यथो विद्वान्ममत्वेनो-

हैं । अध्वर्यु यज्ञमें तण्डुलोंमेंसे निर्वाप करता है अर्थात् चार २ मुट्ठी लेता है और तण्डुल आदिके कूटना आदि कर्म भी करता है, वह जैसे दृष्टफल वाला कर्म है, ऐसे ही गन्ध आदि भी दृष्ट फलवाले कर्म हैं, घ्राता आदि गन्ध आदिके मिलनेसे उसका अनुसरण करता है और न मिलनेसे रुदन करता है, इसलिये वह रुद्र शब्दसे कहाजाता है, कामके प्राप्त होने पर कामरूप अग्नि में वह बढता है, यह बात अग्निकी वृद्धि करनेवाले 'अगीत्' शब्दसे कही गयी है । मंत्रमेंके बृहस्पति शब्दसे कारण ब्रह्मको कहा है वह कारण ब्रह्म भी अधिष्ठानरूपसे पालक है और उपवक्ता शब्दसे उस कारण ब्रह्मका निर्गुणपना कहा है । जैसे उपवक्ता कुछ भी नहीं बोलता है, किन्तु साक्षीरूपसे खडा२ देखा सुना करता है ऐसे ही कारण ब्रह्म भी इस शरीरमें साक्षिरूपसे खडा खडा सब देखा करता है, यह बात उपवक्ता शब्दसे कही है । घ्राता, घ्राण गन्ध आदिसे निर्गुण जो कहा, इसमें प्रश्न होता है, कि–ऐसे अनन्तका छुटकारा कैसे होता है ? इसका उत्तर मूलमें ही देदिया है, कि–" सप्तैते मोक्षहेतवः" इन्द्रियें और विषय ग्रह तथा अतिग्रहके नामसे कहेजाते हैं और ये ही बन्धन रूप हैं, इनका वियोग होनेसे शब्दका और कानका भी अभाव होनेसे तथा आकाशका भी अभाव होनेसे एक निरुपाधिक आत्मा रहजाता है, घ्राता आदि चैतन्यरूपमें रहता है, तब निर्गुण अनन्तके मोक्षका हेतु होजाता है अर्थात् घ्रातापने आदि के अभिमानका त्याग ही मोक्ष है) ॥७॥ जाननेवाले और जानने योग्योंके देवतारूप हुए गुण अपने२ स्थानपर रहकर यथाविधि निरन्तर हवि (बलिदान) को खाते हैं ॥ ८ ॥ नासमक्ष-

पपद्यते । आत्मार्थे पाचयन्नन्नं ममत्वेनोपहन्यते ॥ ६ ॥ अभक्ष्य-
भक्षणञ्चैव मद्यपानञ्च हन्ति तम् । स चान्नं हन्ति तं चान्नं स
हत्वा हन्यते पुनः ॥ १० ॥ हन्ता ह्यन्नमिदं विद्वान् पुनर्जनय-
तीश्वरः । न चान्नाज्जायते तस्मिन् सूक्ष्मो नाम व्यतिक्रमः॥११।
मनसा गम्यते यच्च यच्च वाचा निगम्यते । श्रोत्रेण श्रूयते यच्च
चक्षुषा यच्च दृश्यते । स्पर्शेन स्पृश्यते यच्च घ्राणेन घ्रायते च
यत् । मनःषष्ठानि संयम्य हवींष्येतानि सर्वशः ॥ १३ ॥ गुणवत्
पावको मह्यं दिव्यतेऽन्तःशरीरिणः । योगयज्ञः प्रवृत्तो मे ज्ञानवह्नि-
प्रदोद्भवः । प्राणस्तोत्रोपानशस्त्रः सर्वत्यागसुदक्षिणः ॥ १४ ॥

मनुष्य अनेकों अन्नोंको खाते २ ममत्ववाला बनजाता है (मैं खाता हूं, मैं सुनता हूं, ऐसा भाव धारण करता है) फिर आत्माके लिये अन्नको पचाता २ उस ममत्व (के अभिमान) से नष्ट होजाता है ॥ ६ ॥ अभक्ष्यका भक्षण तथा मद्यपान उस का नाश करदेता है, वह अन्नका नाश करता है और अन्न उसका नाश करता है, वह नासमझ दूसरेका नाश करके फिर अपना भी नाश करडालता है ॥ १० ॥ परन्तु विद्वान् नष्ट करनेवाला इस अन्नको फिर उत्पन्न करता है, ईश्वर कुछ अन्नमेंसे उत्पन्न नहीं होता है (स्वयं ही अन्नरूप बनकर अन्न आदिका उत्पादक होता है) अग्निसे उसमें जरासा भी लौट बदल नहीं होता है ॥ ११ ॥ मनसे जो समझा जाता है, वाणी से जो बोलाजाताहै, कानसे जो सुनाजाता है, नेत्रसे जो देखा-जाता है ॥ १२ ॥ त्वचासे जो स्पर्श होता है, नाकसे जो सूंघा जाता है, इन छः हवियोंको सब प्रकारसे वशमें रखकर ॥१३॥ शरीरके भीतर रहनेवाला गुणवान् अग्नि 'मम' इस योग (भाव) को प्रकट करता है (जलाता है), मेरा योगयज्ञ चलरहा है, वह ज्ञानरूप अग्निमेंसे उत्पन्न हुआ है, प्राण उसका स्तोत्र है, अपान

कर्त्तानुमन्ता ब्रह्मात्मा ततोध्वर्युः कृतस्तुतिः । ऋतं प्रशास्ता तच्छ-
स्त्रमपवर्गोस्य दक्षिणा ॥ १५ ॥ ऋचश्चाप्यत्र शंसन्ति नारायण-
विदो जनाः । नारायणाय देवाय यद्विन्दन् पशून् पुरा ॥१६॥
तत्र सामानि गायन्ति तत्र चाहुर्निदर्शनम् । देवं नारायणं भीरु
सर्वात्मानं निबोध तम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

ब्राह्मण उवाच । एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता यो
हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि । तेनैव युक्तः प्रवणादिवोदकं यथा नियु-
क्तोऽस्मि तथा वहामि॥१॥ एको गुरुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छ-
यस्तमहमनुब्रवीमि। तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोके द्विष्टाः पनगाः

शस्त्र (वा सत्र) है और सबका त्याग उसकी बड़ीभारी दक्षिणा
है ॥ १४ ॥ कर्त्ता (अहङ्कार), अनुमन्ता (मन), आत्मा
(बुद्धि) ये सब ब्रह्म है, होता है, अध्वर्यु है और स्तुति करने
वाला (उद्गाता) है,उसका शस्त्र प्रशास्ता सत्य है और अपवर्ग
(कैवल्य-मोक्ष) उसकी दक्षिणा है ॥ १५ ॥ इस विषयमें भी
नारायणको जाननेवाले मनुष्य कितनी ही ऋचाओंका गान
करते हैं, नारायणको न पहचान कर पहले समयमें नारायण
देवको पशुओंका बलि दियाजाता था ॥ १६ ॥ उसमें सामका
गान करते हैं और उसका दृष्टान्त भी देते हैं,हे भीरु ! नारायण
देवको तू सबका आत्मा जान ॥१७॥ पचीसवाँ अध्याय समाप्त

ब्राह्मण कहता है, कि-शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा
कोई आज्ञा चलानेवाला है ही नहीं, जो शासन करनेवाला हृदय
में रहता है, उसके विषयमें अब मैं कहता हूँ, जैसे ढालू स्थानमें
पानी बहता है, तैसे ही उसकी आज्ञाके अनुसार मैं चलता
हूँ॥ १ ॥ गुरु एक ही है, उसके सिवाय दूसरा कोई गुरु है ही

सर्व एव ॥ २ ॥ एको बन्धुर्नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्त-
महमनुब्रवीमि । तेनानुशिष्टाः बान्धवा बन्धुमन्तः सप्तर्षयः
पार्थ दिवि प्रभान्ति ॥ ३ ॥ एकः श्रोता नास्ति ततो द्वितीयो यो
हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि । तस्मिन् गुरौ गुरुवासं निरुष्य शक्रो
गतः सर्वलोकामरत्वम् ॥ ४ ॥ एको द्वेष्टा नास्ति ततो द्वितीयो
यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमि । तेनानुशिष्टा गुरुणा सदैव लोके
द्विष्टा पन्नगाः सर्व एव ॥ ५ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरा-
तनम् । प्रजापतौ पन्नगानां देवर्षीणां च संविदम् ॥ ६ ॥ देव-
र्षयश्च नागाश्चाप्यसुराश्च प्रजापतिम् । पर्यपृच्छन्नुपासीनाः श्रेयो

नहीं, जो गुरु हृदयमें रहता है, उसके विषयमें अब
मैं कहता हूँ, पहले उसकी आज्ञासे नित्य सकल दानवोंको मार
डाला जाता था ॥ २ ॥ बान्धव एक ही है, उसके सिवाय दूसरा
कोई बन्धु नहीं है, जो बन्धु हृदयमें रहता है, उसके विषयमें
अब मैं कहता हूँ, उस बन्धुकी आज्ञाको माननेसे हे पार्थ! बान्धव
बन्धुवाले हुए हैं और सप्तर्षि आकाशमें प्रकाशित होरहे हैं ॥३॥
श्रोता (श्रुतिका ज्ञाता–सन्देहोंका नाश करनेवाला) एक ही है,
उसके सिवाय दूसरा कोई श्रोता नहीं है, वह हृदयमें रहता है,
उसके विषयमें मैं कहता हूँ । उस गुरुके यहाँ, रहने
के नियमसे रहकर इन्द्रने सब लोकोंका अमरपद पाया है ॥ ४ ॥
शत्रु एक ही है, एकके सिवाय दूसरा कोई नहीं है, वह हृदयमें
रहता है, उसके विषयमें मैं कहता हूँ, उस गुरुकी आज्ञाका पालन
करनेसे इस लोकमें सब सदा द्वेषस्वभाववाले सर्पोंकी समान
हैं ॥ ५ ॥ इस विषयमें भी प्रजापतिको जताये हुए सर्प और
देवर्षियोंके संवादरूप इस पुरातन इतिहासका दृष्टांत देते हैं ॥६॥
प्रजापतिके आसपास बैठे हुए देवता और ऋषि तथा नाग और
अप्सराओंने (आसन पर बैठेहुए) प्रजापतिसे प्रश्न किया, कि-

नः प्रोच्यतामिति ॥ ७ ॥ तेषां प्रोवाच भगवान् श्रेयः समनुपृच्छताम् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ते श्रुत्वा प्राद्रवन् दिशः ॥८॥ तेषां प्रद्रवमाणानामुपदेशार्थमात्मनः । सर्पाणां दंशने भावः प्रवृत्तः पूर्वमेव तु ॥ ९ ॥ असुराणां प्रवृत्तस्तु दम्भभावः स्वभावजः । दानं देवा व्यवसिता दममेव महर्षयः ॥ १० ॥ एकं शास्तारमासाद्य शब्देनैकेन संस्कृताः । नाना व्यवसिताः सर्वे सर्पदेवर्षिदानवाः ॥ ११

जिसमें हमारा कल्याण हो वह बात हमसे कहिये ॥ ७ ॥ अपने कल्याणका प्रश्न करनेवाले उनसे भगवान् प्रजापतिने कहा, कि-"एक अक्षर वाला ॐ है,, यह सुन कर वे चारों दिशाओंमेंको (अनेकों मार्गोमेंको) दौडगए ॥ ८ ॥ अपने आत्माके उपदेशके लिये दौडनेवालोंमें सर्पोंका सबसे पहले काटनेका भाव प्रकट हुआ (जब प्रजापतिने कहा, कि-ॐ मंत्र कल्याण करने वाला है, तब वे सब ॐ ॐ का उच्चारण करने लगे, सर्पोंने उस प्रणव मंत्रके उच्चारणका सबसे पहले उद्योग किया और मुखको खोलते भेड़ते हुए अपने स्वभावके अनुसार डङ्क मारने-काटनेको ही उन्होंने श्रेय समझा) ॥ ९ ॥ असुरोंका स्वाभाविक दम्भभाव प्रवृत्त होगया, देवताओंने दानका और महर्षियोंने दम (संयम)का निश्चय किया (असुरोंने प्रणव मंत्रका उच्चारण करनेमें केवल होठ हिलाना अर्थात् जप आदिका अभिनय दिखाना, इस भावके दम्भको श्रेय समझा और देवताओंने, लोकोंमें ॐकी चाहना है यह जानकर उसकी शिक्षा देना, इसको ही कल्याणकारक समझा और महर्षियोंने ओठोंकी प्रवृत्तिके रुकने में सब प्रवृत्तियें रुकजाती हैं, इसलिये दम अर्थात् संयमको श्रेय माना) ॥ १० ॥ एक ही शास्ता (उपदेशक अथवा आज्ञा देने वाले) को पाकर एक ही शब्दसे सर्प, देवता, ऋषि और दानवोंने भिन्न२ संस्कार पाकर भिन्न२ निश्चय किये ॥ ११ ॥ जो

शृणोत्ययं प्रोच्यमानं गृह्णाति च यथातथम् । पृच्छतस्तद्‌तो भूयो गुरुरन्यो न विद्यते ॥१२॥ तस्य चानुमते कर्म ततः पश्चात् प्रवर्त्तते । गुरुर्बोद्धा च श्रोता च द्वेष्टा च हृदि निःसृतः ॥ १३ ॥ पापेन विचरँल्लोके पापचारी भवत्ययम्।शुभेन विचरँल्लोके शुभचारी भवत्युत ॥ १४ ॥ कामचारी तु कामेन य इन्द्रियसुखे रतः । ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजये रतः ॥ १५ ॥ अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः । ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्।१६। ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्मसम्भवः । आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥१७॥ एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्य्यं विदुर्बुधाः । विदित्वा चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः ॥ १८ ॥

कुछ कहाजाता है, उसको वह सुनता है और उसको ठीक २ ग्रहण करता है, पूछनेवाले शिष्योंको उससे अधिक दूसरा और कोई गुरु नहीं मिलता है ॥ १२ ॥ उसकी आज्ञा होजाने पर कर्म किया जाता है, गुरु, समझनेवाला श्रोता और शत्रु, तिसी प्रकार हृदयमें रहता है ॥ १३ ॥ इस लोकमें पापमार्गमेंको चलकर पाप करनेवाला होता है और शुभमार्गमेंको चलकर शुभ आचरण वाला होता है ॥ १४ ॥ जो सकाम भावसे इन्द्रियोंके सुखमें आसक्त रहता है वह कामचारी है और जो सदा इन्द्रियोंका विजय करनेमें तत्पर रहता हैं वह ब्रह्मचारी है ॥ १५ ॥ जो व्रत और कर्मोंको छोडकर केवल ब्रह्मका ही आश्रय लेता है,वह इस लोकमें ब्रह्मभूत होकर विचरता है और वही ब्रह्मचारी होता है ॥ १६ ॥ ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही उसका अग्नि है, ब्रह्म ही उसकी मूल है, ब्रह्म ही उसका जल है, ब्रह्म ही उसका गुरु है और ब्रह्ममें ही उसकी समाप्ति होती है ॥ १७ ॥ चतुर मनुष्य इसको ही सूक्ष्म ब्रह्मचर्य जानता है और तत्त्वदर्शियोंके उपदेशसे उसको जानकर तैसा ही वर्त्ताव करता है ॥ १८ ॥ छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥ छ छ

ब्राह्मण उवाच । संकल्पदंशमशकं शोकहर्षहिमातपम् । मोहान्धकारतिमिरं लोभव्याधिसरीसृपम् ॥ १ ॥ विषयैकात्ययाध्वानं कामक्रोधविरोधकम् । तदतीत्य महादुर्गं प्रविष्टोऽस्मि महद्वनम् ॥२॥ ब्राह्मण्युवाच । क्व तद्वनं महाप्राज्ञ के वृक्षाः सरितश्च काः । गिरयः पर्वताश्चैव कियत्यध्वनि तद्वनम् ॥३॥ ब्राह्मण उवाच । नैतदस्ति पृथग्भावः किञ्चिदन्यत्ततः सुखम् । नैतदस्त्यपृथग्भावः किञ्चिद्दुःखतरं ततः ॥ ४ ॥ तस्माद्ध्रस्वतरं नास्ति न ततोऽस्ति

ब्राह्मणने कहा, कि-जिसमें सङ्कल्परूप डाँस और मच्छर हैं, शोक और हर्षरूप सरदी गरमी है, मोहरूप गाढ़ अन्धकार है और व्याधिरूप सर्प हैं ॥ १ ॥ विशेष-रूपसे बंधनमें डालनेवाला और जिसमें पुत्र धन आदि कोई सहायता नहीं करसकता किंतु अकेले ही जाना पड़ता है ऐसा संसार-रूप मार्ग है और जिसमें काम तथा क्रोधरूप विरोधी हैं ऐसे बड़े भारी किलेको लाँघकर मैं एक (ब्रह्मरूप) महावनमें पहुँचगया हूँ २ ब्राह्मणीने कहा, कि-हे महाबुद्धिमान् ! वह वन कहाँ है ? उसमें कौनसे वृक्ष हैं ? कौनसी नदियें हैं, कौनसे पहाड़ हैं और किस मार्गमेंको जाने पर वह वन आता है ? ॥३॥ ब्राह्मणने कहा, कि इस वनमें भेदभाव नहीं है (अर्थात् वह ब्रह्मरूप वन विश्वव्यापी है, इसलिये उसको यहाँ या वहाँ नहीं कहा जासकता), उससे अन्य कोई सुखरूप नहीं है (क्योंकि-उसमें सब काम ब्रह्ममय हैं, इसलिये सर्वत्र एक ही प्रकारका सुख मिलता है) तथा इस वनमें अपृथक् (अभेद) भाव नहीं है (अर्थात् उस ब्रह्ममें आकाश, जल पृथिवी, वायु और तेज रूप भेद भासता है) और उससे विशेष दुःखतर (दुःखसे तारने वाला) कोई नहीं है (अर्थात् अभेदभाव सुखदायक है और भेदभाव दुःखदायक है, इसलिये मनुष्यको महादुःख सह कर भी संसारमार्गके पार हो ब्रह्मवनमें पहुँचना चाहिये ॥ ४ ॥ उसकी अपेक्षा अधिक

महत्तरम् । नास्ति तस्मात् सूक्ष्मतरं नास्त्यन्यत् तत्समं सुखम् ५
न तत्राविश्य शोचन्ति न महृष्यन्ति च द्विजाः । न च बिभ्यति
केषांचित्तेभ्यो बिभ्यति केचन ॥ ६ ॥ तस्मिन् वने सप्त महाद्रुमाश्च
फलानि सप्तातिथयश्च सप्त । सप्ताश्रमाः सप्त समाधयश्च दीक्षाश्च
सप्तैतदरण्यरूपम् ॥ ७ ॥ पंच वर्णानि दिव्यानि पुष्पाणि च
फलानि च । सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥ ८ ॥
सुवर्णानि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च । सृजन्तः पादपा-

छोटा कोई नहीं है, और उससे अधिक बडा भी कोई नहीं है उससे अधिक सूक्ष्म कोई नहीं है और उसकी समान सुखरूप भी कोई नहीं है ॥ ५ ॥ द्विज उसमें प्रवेश करके शोक नहीं करते हैं और हर्षसे पागल भी नहीं बनजाते हैं, वे किसीसे डरते नहीं हैं, और उनसे भी कोई नहीं डरता है ॥६॥ उस वनमें सात (मन, अहङ्कार और पाँच इन्द्रियें) बड़े वृक्ष हैं, उसके सात (मन, अहङ्कार और पाँच इन्द्रियोंके द्वारा मिलनेवाले) फल हैं और उसके सात (मन अहङ्कार और पाँच इन्द्रियोंके अधिष्ठाता) अतिथि हैं (जो सुख दुःख अनुभव करते हैं), उस वनमें सात (मन अहङ्कार और पाँच इन्द्रियोंके आश्रयस्थान) आश्रम हैं उसमें सात (मन, अहङ्कार और पाँच इन्द्रियोंका नाश करनारूप योगीकी) समाधियें हैं और उसमें (मन अहङ्कार और पाँच इन्द्रियोंके कर्मोंका एकके अनन्तर एकका नाश करनारूप) सात दीक्षायें लीजाती हैं, वह ऐसा वन है॥७॥ पाँच प्रकारके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) दिव्य (अनुभवरूप पुष्प) और (उससे होनेवाली प्रीति आदिरूप) फलोंको उत्पन्न करनेवाले (मनरूप) वृक्ष उस (ब्रह्मरूप) वनमें व्याप्त होरहे हैं ॥ ८ ॥ सु कहिये श्रेष्ठ (सफेद, पीले आदि) रङ्गके (सुख और दुःख-रूप) दो गुणोंवाले और पुष्प तथा फलोंको उत्पन्न करते

स्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥९॥ सुरभीणि द्विवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च । सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम्॥१०॥ सुरभीण्येकवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च । सृजन्तः पादपास्तत्र व्याप्य तिष्ठन्ति तद्वनम् ॥११॥ बहून्यव्यक्तवर्णानि पुष्पाणि च फलानि च । विसृजन्तौ महावृक्षौ तद्वनं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १२ ॥ एको वह्निः सुमना ब्राह्मणोऽत्र पंचेन्द्रियाणि समिधश्चात्र सन्ति ।

हुए वे (चक्षुरूप) वृक्ष उस वनमें व्याप्त होकर स्थित हैं ॥९॥ (स्वर्गादिरूप) सुगन्ध वाले, दो गुणोंवाले, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करते हुए वे(यज्ञरूप) वृक्ष उस वनमें व्याप्त होकर खड़े हैं ॥ १० ॥ सुगन्धवाले एक ही वर्णके (सुखरूप) पुष्प और फलोंको उत्पन्न करते हुए वे (ध्यानरूप) वृक्ष उस वनमें व्याप्त होकर खड़े हैं ॥ ११ ॥ बहुतसे और अव्यक्त वर्णके पुष्प और फलोंको उत्पन्न करने वाले दो (बुद्धि और मन रूप) वृक्ष उस वनमें व्याप्त होकर खड़े हैं ॥१२॥ अग्नि एक ही है तथा सुन्दर मन और ब्राह्मण (बुद्धि) सुवा और सुक्रूप हैं, इसमें पाँच इन्द्रियें समिधा रूप हैं (जब मनके साथ पाँच इन्द्रियें और ज्ञान होता है तथा बुद्धि कुछ काम नहीं करती है तब उसकी परमगति श्रुतिमें कही है "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥" मन अहङ्कार और पञ्चेन्द्रियोंसे होम किया जाय अर्थात् उन सबोंको अपने वशमें कर लिया जाय तब) उनमेंसे मोक्षरूप सात प्रकारकी दीक्षा (अभ्यास) के फल मिलते हैं, गुण ही फल है और अतिथि (मन, अहङ्कार और पाँच इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता) गुणरूप फलकी आशा रखते हैं (वह फलोंको खाते हैं-भोगते हैं। मूलमें जो वह्नि शब्द है वह आत्माका वाचक है और सुमना शब्द बुद्धि तथा मनका वाचक है, यहाँ अग्निका वर्णन किया है, इस

तेभ्यो मोक्षाः सप्त फलंति दीक्षा गुणाः फलाग्यतिथयः फलाशाः१३

लिये बुद्धि और मनको सुक् तथा सुवारूप जानो, इन्द्रियोंको समिधारूप जानो,क्योंकि-उनका अग्निरूप आत्मामें होम करना है, श्रुतिमें कहा है,कि-"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥" जब पाँच ज्ञाननेन्द्रियें, मन और बुद्धि अपना काम नहीं करते हैं तब उसको परमगति कहते हैं, सब इन्द्रियोंका आत्मामें लय करनेका नाम होम है तथा बुद्धि और पाँच इन्द्रियोंका आत्मामें होम करने पर उन सातसे आत्माकी मुक्ति होजाती है। 'मोक्षाः' यहाँ बहुवचन कहनेका यह अभिप्राय है, कि-जिनसे आत्माकी मुक्ति होनी है वे इन्द्रियें बहुतसी हैं, इसलिये ही मोक्ष शब्दको बहुवचनान्त दिया है। विद्वान् मनुष्यको ज्ञान होजानेके बाद, देहका आत्मामें जो अध्यास होरहा है वह रहता है या नहीं ? यदि अध्यास नहीं रहता हो तब तो ज्ञान हुआ, कि-उसी समय देहपात होजाना चाहिये। यदि कहो, कि-अध्यास रहता है तो मरणके बाद दूसरा देह प्राप्त होना चाहिये। ऐसी शङ्का करके समाधान किया है, कि-" फलन्ति दीक्षा।" मुक्त पुरुषोंके-ज्ञानी पुरुषोंके कर्म फलवाले होते हैं, परन्तु वे कर्म ज्ञानीको दूसरा देह नहीं देते हैं। यदि कहो, कि-क्यों ? तो इसका उत्तर यह है, कि-"गुणाः फलन्ति" उसके कर्मके फल बीजके उपयोगी होते हैं। विद्वानके देह आदि होता है तो भी उसको उनके ऊपर कर्त्ता-पनेका अभिमान नहीं होता है, इसलिये वह होम आदि करता है, उससे अपूर्व उत्पन्न होता है, परन्तु वह अपूर्व दूसरे देहको उत्पन्न नहीं करता है, इसलिये ज्ञानीके अपूर्व गुणरूप ही होते हैं। तो वे अपूर्व कहाँ काममें आते हैं ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि-" अतिथयः फलाशाः" देवताओंके कर्म जैसे स्वार्थके लिये

आतिथ्यं प्रतिगृह्णन्ति तत्र तत्र महर्षयः। अर्चितेषु प्रलीनेषु तेष्वन्यद्रोचते वनम् ॥१४॥ प्रज्ञावृक्षं मोक्षफलं शान्तिच्छायासमन्वितम्। ज्ञानाश्रयं तृप्तितोयमन्तःक्षेत्रज्ञभास्करम् ॥ १५ ॥ येऽधिगच्छन्ति तं सन्तस्तेषां नास्ति भयं पुनः। ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च तस्य नान्तोऽधिगम्यते १६ सप्त स्त्रियस्तत्र वसन्ति सद्यस्त्ववाङ्मुखा भानुमत्यो

नहीं होते हैं, किन्तु दूसरोंके लिये होते हैं अर्थात् ईश्वरके कर्मों की समान ज्ञानीके कर्म भी स्वार्थके लिये नहीं होते किन्तु दूसरों के लिये ही होते हैं, इसलिये ही श्रुतिमें कहा है,कि–"तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्।" ज्ञानीके पुत्र उसकी चराचर सम्पत्तिको लेते हैं, ज्ञानीके सुहृद उसके पुण्य कर्मोंके फलको भोगते हैं और ज्ञानीके शत्रु उसके पापकर्मोंके फलको भोगते हैं) ॥ १३ ॥ उन२ गुणोंके महर्षि उन २ गुणोंके आतिथ्यको स्वीकार करते हैं,जब उन महर्षियोंका पूजन होता है तब वे शान्त होजाते हैं और उस समय दूसरे वनको सुशोभित करते हैं (एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी इच्छा करते हैं॥१४॥(उस वनमें) प्रज्ञारूप वृक्ष,मोक्षरूप फल,और शान्तिरूप उसकी छाया है, ज्ञानरूप उसका आश्रय है, तृप्तिरूप उसका जल है) अन्तररूप क्षेत्रको जाननेवाला सूर्य है ॥१५॥ जो साधु पुरुष उसके ऐसे स्वरूपको समझते हैं,उनको फिर कुछ भय नहीं रहता है, ऊपर, नीचे या आजूबाजू कहीं भी उस वनका छोर नहीं मिलता ॥ १६ ॥ तहाँ नित्य सात स्त्रियें (प्राण आदि वृत्तियें) रहती हैं (उन स्त्रियोंका जन्म सङ्कल्पमेंसे होता है और जीवन्मुक्तको वशमें न करसकनेके कारण लज्जित होकर नीचेको मुख कियेहुए (अथवा कुछ भी न बोलकर चुपचाप) रहती हैं. वे प्रकाशवाली और उत्पन्न करनेकी शक्ति वाली हैं, चेतन ज्योतिर्मयी हैं, प्रजायें जिस सत्य और अनित्यपनाको भोगती हैं,

जनित्र्यः । ऊर्ध्वं रसानाददते प्रजाभ्यः सर्वान् यथा सत्यमनित्यता च ॥ १७ ॥ तत्रैव प्रतितिष्ठन्ति पुनस्तत्रोपयन्ति च । सप्त सप्तर्षयः सिद्धा वशिष्ठप्रमुखैः सह ॥ १८ ॥ यशो वर्चो भगश्चैव विजयः सिद्धतेजसः । एतमेवानुवर्त्तन्ते सप्त ज्योतींषि भास्करम् ॥ १९ ॥ गिरयः पर्वताश्चैव सन्ति तत्र समासतः । नद्यश्च सरितो वारि वहन्त्यो ब्रह्मसम्भवम् ॥ २० ॥ नदीनां सङ्गमश्चैव वैताने समुपह्वरे । स्वात्मतृप्ता यतो यान्ति साक्षादेव पितामहम् ॥ २१ ॥ कृशाशाः सुव्रताशाश्च तपसा दग्धकिल्बिषाः । आत्मन्यात्मानमावेश्य ब्रह्माणं समुपासते ॥ २२ ॥ शममप्यत्र शंसन्ति विद्यारण्यविदो जनाः । तदरण्यमभिप्रेत्य यथाधीरभिजायत ॥ २३ ॥ एत-

उनसे उत्तम;विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले आनन्दरूप रसको भोगती हैं ॥ १७ ॥ तहाँ ही वसिष्ठ आदि सप्तर्षि और सिद्ध (पाँच प्राण, मन और अहङ्कार) रहते हैं और तहाँ ही लय पाते हैं ॥ १८ ॥ यश, प्रभा, भग (महत्त्व), विजय, ओज, सिद्धि और तेज ये सात जिसप्रकार ज्योतियें (किरणें) सूर्यके पीछे २ जाती हैं तैसे ही इस वृक्षके पीछे २ फिरते हैं ॥ १९ ॥ तहाँ गिरि और पर्वत आसपास इकट्ठे होरहे हैं, नदियें और ब्रह्ममेंसे उत्पन्न हुए जलको लेजानेवाली सरितायें भी हैं ॥ २० ॥ वितान (यागयज्ञके स्थान) के अतिगूढ प्रदेशमें तहाँ नदियोंका सङ्गम भी होता है, तहाँसे, जो अपने आत्मासे सन्तुष्ट होजाते हैं वे साक्षात् पितामहके पास जाते हैं ॥ २१ ॥ थोडी आशावाले, श्रेष्ठ व्रतकी आशावाले और जिनके पाप तपसे जलगए हैं वे आत्मामें आत्माको प्रविष्ट करके ब्रह्मकी उपासना करते हैं ॥ २२ ॥ विद्यारूप अरण्यको जाननेवाले मनुष्य यहाँ शान्तिकी प्रशंसा करते हैं, उस वनमें जाकर वे मस्तिष्कको ठीक रखनेवाले और धैर्यवान् बनजाते हैं ॥ २३ ॥ ब्राह्मण कहते हैं,कि-

देवेदशं पुण्यमरण्यं ब्राह्मणा विदुः । विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिना ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

ब्राह्मण उवाच । गन्धान्न जिघ्रामि रसान्न वेद्मि रूपं न पश्यामि न च स्पृशामि । न चापि शब्दान् विविधान् शृणोमि न चापि संकल्पमुपैमि कंचित् ॥ १ ॥ अर्थानिष्टान् कामयते स्वभावः सर्वान् द्वेष्यान् प्रद्विषते स्वभावः । कामद्वेषावुद्भवतः स्वभावात् प्राणापानौ जन्तुदेहान्निवेश्य ॥ २ ॥ तेभ्यश्चान्यांस्तेषु नित्यांश्च

यह (ब्रह्मरूप) वन ऐसा पुण्यवाला है, वे ठीक (शास्त्रोक्त रीति से, शुष्क ज्ञानवाले न होकर) जानते हुए क्षेत्रज्ञके बतानेके अनुसार (शमादिसम्पन्न होकर) रहते हैं ॥ २४ ॥ सत्ताईसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २७ ॥ छ ॥ छ ॥

ब्राह्मणने कहा, कि मैं गन्धोंको नहीं सूँघता हूँ, रसोंको नहीं जानता हूँ, रूपको नहीं देखता हूँ, किसी वस्तुका स्पर्श नहीं करता हूँ, नानाप्रकारके शब्दोंको नहीं सुनता हूँ तथा किसी प्रकारका सङ्कल्प भी नहीं करता हूँ ॥ १ ॥ स्वभाव ही प्रिय लगनेवाले पदार्थोंकी कामना करता है, स्वभाव ही न रुचनेवाले पदार्थोंसे द्वेष करता है प्राण और अपान वायु जैसे प्राणियोंके देहमें प्रवेश करके अन्नपाक आदि करते हैं, तिसीप्रकार स्वभावमेंसे ही काम और द्वेषकी उत्पत्ति होती है (तथा जाग्रत् और स्वप्नमें बुद्धि पदार्थोंमें कामनावाली होती है, मैं नहीं होता हूँ) २ तिन (बाहरी प्राण प्रेय आदि) से भिन्न दूसरोंको (वासनामय स्वप्नोंको) तथा उनमें (स्वप्नोंमें) के नित्य भावोंको (अर्थात् स्वप्नकी समान जगत्‌मेंकी कामनायें सत्य हैं नित्य हैं इन भावोंको) तथा सकल भूतोंके आत्माको योगी शरीरमें ही देखें, उस शरीरमें

भावान् भूतात्मानं लक्षयेरन् शरीरे । तस्मिंस्तिष्ठन्नास्मि सक्तः कथञ्चित् कामक्रोधाभ्यां जरया मृत्युना च ॥ ३ ॥ अकामयानस्य च सर्वकामा न विद्विषाणस्य च सर्वदोषान् । न मे स्वभावेषु भवन्ति लोपास्तोयस्य बिन्दोरिव पुष्करेषु ॥ ४ ॥ नित्यस्य चैतस्य भवन्ति नित्या निरीक्ष्यमाणस्य बहुस्वभावः । न सज्जते कर्म्मसु भोगजालं दिवीव सूर्य्यस्य मयूखजालम् ॥ ५ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । अध्वर्य्यु यतिसंवादं तन्निबोध यशस्विनि ॥ ६ ॥ प्रोक्ष्यमाणं पशुं दृष्ट्वा यज्ञकर्म्मण्यथाब्रवीत् । यतिरध्वर्युमासीनो हिंसेयमिति कुत्सयन् । तमध्वर्युः प्रत्युवाच नायं छागो विनश्यति । श्रेयसा योक्ष्यते जन्तुर्यदि श्रुतिरियं तथा ॥ ८ ॥ यो ह्यस्य पार्थिवो भागः पृथिवीं

रहताहुआ भी मैं काम, क्रोध, जरा और मृत्यु इनमेंसे किसीसे भी बँधाहुआ नहीं हूँ ॥ ३ ॥ मैं किसी भी कामनाकी चाहना नहीं करता, सकल दोषोंसे मेरा द्वेष नहीं है, जैसे कमलके पत्तों पर जलकी बूँदका लेप नहीं होता, तैसे ही मेरे स्वभावमें काम आदिका लेप नहीं होता है ॥ ४ ॥ इस नित्यके कारणसे सब वस्तुएँ नित्य होती हैं, जैसे आकाशमें सूर्यकी किरणोंका समूह लिप्त नहीं होता है, ऐसे ही साक्षिरूपसे देखनेवाले मेरे कर्म करने पर भी मुझमें अनेकों स्वभाववाला, दृश्यरूप भोगजाल लिप्त नहीं होता है ॥५॥ इस विषयमें भी अध्वर्यु और यतिके संवादरूप पुरातन इतिहासका दृष्टान्त देते हैं हे यशवाली ! तू उसको सुन ॥ ६ ॥ एक यज्ञमें पशुको जलसे प्रोक्षण कियाहुआ देखकर तहाँ बैठेहुए अध्वर्यु (यज्ञ करानेवाले) से एक यतिने धिक्कार देतेहुए कहा, कि–अरे ! यह तो हिंसा है ॥७॥ अध्वर्युने उसको उत्तर दिया, कि–इस बकरेका नाश नहीं होता है, यदि वेद सच्चा है तो इस प्राणीका कल्याण ही होगा ॥ ८ ॥ क्योंकि–इसका

स गमिष्यति । यदस्य वारिजं किंचिदपस्तत् सम्प्रवेक्ष्यति ॥ ९ ॥
सूर्यं चक्षुर्दिशः श्रोत्रं प्राणोऽस्य दिवमेव च । आगमे वर्त्तमानस्य
न मे दोषोऽस्ति कश्चन ॥ १० ॥ यतिरुवाच । प्राणैर्वियोगे
छागस्य यदि श्रेयः प्रपश्यसि । छागार्थे वर्त्तते यज्ञो भवतः किं
प्रयोजनम् ॥ ११ ॥ अत्र त्वां मन्यतां भ्राता पिता माता सखेति
च । मन्त्रयस्वैनमुन्नीय परवन्तं विशेषतः ॥ १२ ॥ एवमेवानुमन्येरंस्तान्
भवान् द्रष्टुमर्हति । तेषामनुमतं श्रुत्वा शक्या कर्त्तुं विचारणा
॥ १३ ॥ प्राणा अप्यस्य छागस्य प्रापितास्ते स्वयोनिषु ।
शरीरं केवलं शिष्टं निश्चेष्टमिति मे मतिः ॥ १४ ॥ इन्धनस्य तु
तुल्येन शरीरेण विचेतसा । हिंसा निर्वेष्टुकामानामिन्धनं पशु-

जो पार्थिव भाग है वह पृथिवीमें मिलजायगा और इसका जो
कुछ जलीय भाग है वह जलमें प्रवेश करजायगा ॥ ९ ॥ इसके
नेत्र सूर्यमें मिलजायँगे, कान दिशाओंमें मिलजायँगे और इसका
प्राण आकाश (वायु) में मिलजायगा, शास्त्रके अनुसार चलने
वाले मुझे (इस पशुवधसे) कुछ दोष नहीं लगसकता ॥ १० ॥
यतिने कहा, कि-इसप्रकार प्राणवियोग करनेमें यदि तुझे
बकरेका कल्याण मालूम होता हो तब तो यह यज्ञ
बकरेके लिये है इसमें तेरा क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥
इस विषयमें इसके भाई, माता, पिता और सखाओंकी संमति
ले, विशेष कर यह पराधीन है, इसलिये इसको साथ लेजाकर
उनकी आज्ञा ले ॥ १२ वे ऐसा ही करनेकी संमति दें, इसके
लिये तुझे उनसे मिलना चाहिये, उनकी संमति मिलजाने पर
(जैसा तू कहता है ऐसा ही) विचार करना ठीक होगा ॥ १३ ॥
इस बकरेके प्राणोंको अपनी२ योनि (मूल-कारण) में पहुँचा
दिया है केवल शरीर शेष रह गया है, वह तो मेरी समझसे
चेष्टाशून्य है ॥ १४ ॥ चेतनाशून्य शरीर लकडीकी समान है,

सङ्गतिम् ॥ १५ ॥ अहिंसा सर्वधर्माणामिति वृद्धानुशासनम् । यदि हिंस्रं भवेत् कर्म तत् कार्य्यमिति विद्महे ॥ ॥ १६ ॥ अहिंसेति प्रतिज्ञेयं यदि वक्ष्याम्यतः परम् । शक्यं बहुविधं कर्तुं भवता कार्य्यदूषणम् ॥ १७ ॥ अहिंसा सर्वभूतानां नित्यमस्मासु रोचते । प्रत्यक्षतः साधयामो न परोक्षमुपास्महे ॥ १८॥ अध्वर्य्युरुवाच । भूमेर्गन्धगुणान् भुंक्ष पिबस्यापोमयान् रसान् ज्योतिषां पश्यसे रूपं स्पृशस्यनिलजान् गुणान् ॥ १९ ॥ शृणोष्याकाशजान् शब्दान् मनसा मन्यसे मतिम् । सर्वाण्येतानि भूतानि प्राणा इति च मन्यसे ॥ २० ॥ प्राणादाने निवृत्तोऽसि हिंसायां वर्त्तते भवान् । नास्ति चेष्टा विना हिंसां किं

यह तो यज्ञ करना चाहनेवालेकी हिंसा ही मानी जायगी, क्योंकि—यज्ञमें पशु तो इन्धन है ॥ १५ ॥ वृद्धोंकी आज्ञा है, कि—सब धर्मोंमें अहिंसा श्रेष्ठ है, जो कर्म हिंसा किये विना होता है, हमारी समझमें तो उसको ही करना चाहिये ॥ १६ ॥ यदि इससे अधिक कहूँ तो हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा करलेनी चाहिये नहीं तो तेरे हाथसे अनेकों प्रकारके दुष्कर्म बन जायँगे ॥ १७ ॥ हमें तो सदा यही अच्छा लगता है, कि-किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, हम तो इस बातको प्रत्यक्ष सिद्ध कर सकते हैं, हम परोक्षकी उपासना नहीं करते(यह जैनमत है)॥ १८ ॥ अध्वर्यु ने कहा, कि तू भूमिके गन्धरूप गुणोंको भोगता है, जलके रसों को पीता है, तेजस्वी पदार्थोंके रूपको देखता है, पवनोंमेंसे निकले हुए गुणोंका स्पर्श करता है ॥१९॥ आकाशमेंसे निकले हुए शब्दगुणोंको सुनता है, मनसे मतिका मनन करता है और तू यह मानता है, कि—ये सब भूत प्राणरूप हैं ॥२०॥ तू किसी के प्राण लेनेके तो विरुद्ध है, परन्तु हिंसा करनेमें लगा ही रहता है, हिंसाके विना तो कोई चेष्टा हो ही नहीं सकती, हे द्विज !

वा त्वं मन्यसे द्विज ॥ २१ ॥ यतिरुवाच । अक्षरञ्च क्षरञ्चैव द्वैधीभावोऽयमात्मनः । अक्षरं तत्र सद्भावः स्वभावः क्षर उच्यते २२ प्राणो जिह्वा मनः सत्त्वं सद्भावो रजसा सह । भावैरेतैर्विमुक्तस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ॥२३॥ समस्य सर्वभूतेषु निर्ममस्य जितात्मनः । समन्तात् परिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २४ ॥ अध्वर्युरुवाच । सद्भिरेवेह सम्वासः कार्य्यो मतिमताम्वर । भवतो हि मतं श्रुत्वा प्रतिभाति मतिर्मम ॥२५॥ भगवन् भगवद्बुद्ध्या प्रतीपन्नो ब्रवीम्यहम् । व्रतं मन्त्रकृतं कर्तुर्नापराधोऽस्ति मे द्विज २६ ब्राह्मण उवाच । उपपत्त्या यतिस्तूर्ण्णीं वर्त्तमानस्ततः परम् । अध्य-

बता तो सही, तू इस विषयमें क्या विचार रखता है? ॥ २१ ॥ यतिने कहा, कि-अक्षर (अविनाशी) और क्षर (विनाशी) ऐसे दो भावों वाला यह आत्मा है; सद्भाव (जिसका भाव अर्थात् अस्तित्व नित्य है वह) अक्षर आत्मा है और स्वभाव (सु = अभाव जिसका त्रिकालमें अच्छे प्रकारसे अभाव है वह क्षर आत्मा है ॥२२॥ प्राण, जीभ, मन, सत्त्व गुण और रजस् (माया) के गुणों सहित सद्भाव इन भावोंसे मुक्त हुआ, रागद्वेष हानिलाभ आदि द्वन्द्वोंसे शून्य, किसीप्रकारकी आशा न रखनेवाला ॥२३॥ सब प्राणियोंके ऊपर समदृष्टि रखनेवाला, ममतारहित, इन्द्रियोंको जीतनेवाला और चारों ओरसे जो सर्वदा मुक्त होता है उसको कुछ भय नहीं होता है ॥२४॥ अध्वर्युने कहा, कि-हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! इस विषयमें साधु पुरुषोंके साथ संवाद करना चाहिये, क्योंकि-तेरे मतको सुनकर मेरी बुद्धि सचेत होगई है ॥ २५ ॥ हे भगवन् ! आपकी बुद्धिसे सचेत हुआ मैं कहता हूँ, कि-हे द्विज ! मैं वेदोक्त कर्म करता हूँ, इसलिये मेरा कोई अपराध नहीं है २६ ब्राह्मण कहता है, कि-इस युक्तिसे वह यति शान्त होगया और वह अध्वर्यु भी मोहरहित होकर उस यज्ञका काम आगेको

यु रवि निर्मोहः प्रचचार महामखे ॥ २७ ॥ एवमेतादृशं मोक्षं सुसूक्ष्मं ब्राह्मणा विदुः । विदित्वा चानुतिष्ठन्ति क्षेत्रज्ञेनार्थदर्शिना ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

ब्राह्मण उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । कार्त्तवीर्य्यस्य सम्वादं समुद्रस्य च भामिनि ॥ १ ॥ कार्त्तवीर्य्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रवान् । येन सागरपर्य्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ॥ २ ॥ स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन् बलदर्पितः । अवाकिरच्छरशतैः समुद्रमिति नःश्रुतम् ॥ ३ ॥ तं समुद्रो नमस्कृत्य कृताञ्जलिरुवाच ह । मा मुंच वीर नाराचान् ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ४ ॥ ममाश्रयाणि भूतानि त्वद्विसृष्टैर्महेषुभिः । वध्यन्ते राजशार्दूल तेभ्यो देह्यभयं विभो ॥ ५ ॥ अर्जुन उवाच ।

करनेलगा ॥ २७ ॥ ब्राह्मण इसप्रकार इस अति सूक्ष्ममोक्षको जानते हैं और उसको जानकर अर्थ बतानेवाले क्षेत्रज्ञकी सूचना के अनुसार अनुष्ठान करते हैं ॥२८॥ अट्ठाईसवाँ अध्याय समाप्त

ब्राह्मणने कहा, कि—हे भामिनी ! इस विषयमें भी कार्त्तवीर्य और समुद्रके संवादरूप पुरातन इतिहासका दृष्टान्त देते हैं ॥१॥ सहस्र भुजाओंवाला कार्त्तवीर्य अर्जुन नामका एक राजा था, उसने समुद्रपर्यन्तकी पृथिवी धनुषसे जीतली थी ॥ २ ॥ हमने सुना है कि—एक समय समुद्रके किनारे पर फिरते२ उसने अपने बलके घमण्डमें सैंकड़ों बाणोंसे समुद्रको छादिया था ॥ ३ ॥ समुद्रने उसको प्रणाम कर हाथ जोड़ेहुए कहा, कि—हे वीर ! तू अपने नाराच बाणोंको न छोड़, बता मैं तेरा कौनसा काम करूँ? ४ हे राजसिंह ! तेरे छोड़ेहुए बड़े२ बाणोंसे मेरे आश्रयमें रहनेवाले प्राणी मरेजाते हैं, हे विभो ! तू उनको अभय दे ॥ ५ ॥ कार्त्त-

मत्समो यदि संग्रामे शरासनधरः क्वचित् । विद्यते तं समाच-
क्ष्व यः समासीत मां मृधे ॥ ६ ॥ समुद्र उवाच । महर्षिर्जमदग्नि-
स्ते यदि राजन् परिश्रुतः । तस्य पुत्रस्तवातिथ्यं यथावत् कर्त्तु-
मर्हति ॥ ७ ॥ ततः स राजा प्रययौ क्रोधेन महता वृतः । स
तमाश्रममागम्य राममेवान्वपद्यत ॥ ८ ॥ स रामप्रतिकूलानि
चकार सह बन्धुभिः । आयासं जनयामास रामस्य च महात्मनः ९
ततस्तेजः प्रजज्वाल रामस्यामिततेजसः । प्रदहन् रिपुसैन्यानि तदा
कमललोचने ॥ १० ॥ ततः परशुमादाय स तं बाहुसहस्रिणम् ।
चिच्छेद सहसा रामो बहुशाखमिव द्रुमम् ॥ ११ ॥ तं हतं पतितं
दृष्ट्वा समेताः सर्वबान्धवाः । असीनादाय शक्तीश्च भार्गवं पर्य-

---

वीर्यने कहा कि-संग्राममें मेरी समान धनुष बाण धारण करने वाला कदाचित् ही कोई हो, कि-जो रणमें मेरे सामने खड़ा होसके, यदि तू किसीको जानता हो तो बता ॥६॥ समुद्रने कहा, कि-हे राजन ! यदि तूने महर्षि जमदग्निका नाम सुना हो तो उनका पुत्र तेरा ठीकर अतिथिसत्कार करसकेगा ॥७॥ तदनन्तर वह राजा बड़े क्रोधमें भरकर वहाँसे चलागया और उनके आश्रममें पहुँचकर साक्षात् परशुरामसे ही मिला ॥ ८ ॥ तहाँ उसने अपने संबंधियोंको साथमें लेकर परशुरामकी प्रति-कूलता करना आरम्भ करदिया और महात्मा रामको व्याकुल करडाला ॥ ९ ॥ हे कमलनयनी ! तब तो अमिततेजस्वी राम का शत्रुओंकी सेनाको भस्म करडालनेवाला तेज प्रकाशित हुआ ॥१०॥ फिर उन परशुरामजीने अपना फरसा लेकर, जैसे बहुत सी शाखाओंवाले वृक्षको काट डालते हैं, ऐसे ही एक साथ सहस्रबाहुवाले अर्जुनको चीरडाला ॥ ११ ॥ उसको मरा हुआ देखकर उसके सब बान्धव तलवार और शक्तियें लेकर

धावयन् ॥ १२ ॥ रामोपि धनुरादाय रथमारुह्य सत्वरः । विसृजन् शरवर्षाणि व्यधमत् पार्थिवं बलम् ॥ १३ ॥ ततस्तु क्षत्रियाः केचिज्जामदग्न्यभयार्दिताः । विविशुर्गिरिदुर्गाणि मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ १४ ॥ तेषां स्वविहितं कर्म्म तद्भयान्नानुतिष्ठताम् । प्रजा वृषलतां प्राप्ता ब्राह्मणानामदर्शनात् ॥ १५ ॥ एवं ते द्रविडाभीराः पुण्ड्राश्च शबरैः सहः । वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिणः ॥ १६ ॥ ततश्च हतवीरासु क्षत्रियासु पुनः पुनः । द्विजैरुत्पादितं क्षत्रं जामदग्न्यो न्यकृन्तत ॥ १७ ॥ एकविंशतिमेधान्ते रामं वागशरीरिणी । दिव्या प्रोवाच मधुरा सर्वलोकपरिश्रुता १८ राम राम निवर्त्तस्व कं गुणं तात पश्यसि । क्षत्रबन्धूनिमान् प्राणै-

इकट्ठे परशुरामजीके ऊपर जा चढे ॥ १२ ॥ रामने भी शीघ्र ही रथ पर धनुष बाण लेकर बाणोंकी वर्षा करते हुए उस राजाके लश्करको कम्पायमान करडाला ॥१३॥ उस समय परशुरामके भयसे दुःखी हुए कितने ही क्षत्रिय, सिंहके भयसे घबडाये हुए मृगोंकी समान पहाड़ोंकी गुफाओंमें जादुबके ॥ १४ ॥ परशुरामके भयके मारे अपनी२ जातिके लिये निश्चित हुए कर्मोंका अनुष्ठान उनमेंसे जिन्होंने नहींकिया,उनकी प्रजा ब्राह्मणके न मिलनेसे वृषल (शूद्र) की दशामें पहुँचगयी ॥ १५ ॥ इसप्रकार क्षत्रियके धर्मसे भ्रष्ट होजानेके कारण वे द्रविड़, आभीर, पुण्ड्र और शबरोंके साथ वृषल (शूद्र) की दशामें पहुँच गए ॥ १६ ॥ और फिर मारेगए वीर क्षत्रियोंकी स्त्रियोंमें ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको उत्पन्न किया, तब परशुरामजीने उनको भी मारडाला १७ इस प्रकार इक्कीसवार युद्धरूप यज्ञ हुए, फिर शरीरहीन, दिव्य, मधुर और सब लोगोंके सुननेमें आवे ऐसी वाणी (आकाश वाणी) ने परशुरामसे कहा, कि-॥ १८ ॥ हे राम ! हे राम ! बहुत हो लिया ! हे तात ! इन क्षत्रबन्धुओं (अधम क्षत्रियों)

विमयोज्य पुनः पुनः ॥ १९ ॥ तथैव तं महात्मानमृषीकप्रमुखा-
स्तदा । पितामहा महाभागे निवर्तस्वेत्यथाब्रुवन् । पितुर्वधममृष्यं-
स्तु रामः प्रोवाच तानृषीन् । नार्हन्तीह भवन्तो मां निवारयितुमि-
त्युत ॥ २१ ॥ पितर ऊचुः । नार्हसे क्षत्रबन्धूंस्त्वं निहन्तुं जयतां
वर । नेह युक्तं त्वया हन्तुं ब्राह्मणेन सता नृपान् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि

ब्राह्मणगीतासु ऊनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

पितर ऊचुः । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । श्रुत्वा
च तथा कार्यं भवता द्विजसत्तम ॥ १ ॥ अलर्को नाम राज-
र्षिरभवत् सुमहातपाः । धर्मज्ञः सत्यवादी च महात्मा सुदृढव्रतः २
स सागरान्तां धनुषा विनिर्जित्य महीमिमाम् । कृत्वा सुदुष्करं कर्म

को बार२ मारनेमें तुम्हें क्या लाभ दीखता है ? ॥१९॥ हे महा-
भाग ! इस प्रकार ही ऋचीक आदि मुख्य२ पितामहोंने भी उस
महात्मासे कहा, कि—अब इस कामको बन्द करो अपने पिताके
वधको न सहनेवाले परशुरामने उन ऋषियोंसे कहा, कि—इस
विषयमें आप मुझे रोकें, यह उचित नहीं है ॥ २१ ॥ पितरोंने
कहा, कि—हे विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ ! तुम्हें इन विचारे क्षत्रियों
का वध नहीं करना चाहिये, और इस विषयमें तुमसरीखे उत्तम
ब्राह्मणोंको राजाओंका वध करना उचित नहीं है ॥ २२ ॥
उनतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ छ ॥

पितरोंने कहा, कि-हे द्विजसत्तम ! इस विषयमें एक पुराने
इतिहासका दृष्टान्त दियाजाता है, उसको सुनकर तुम्हें उसके
अनुसार ही करना चाहिये ॥ १ ॥ बड़ा भारी तप करनेवाला
एक अलर्क नामका राजर्षि था, वह धर्मको जाननेवाला, सत्य
बोलनेवाला, महात्मा और दृढ़ व्रतधारी था ॥२॥ समुद्रपर्यन्तकी
पृथ्वीको अपने धनुषसे जीतकर और इसप्रकार अतिदुष्कर कर्म

मनः सूक्ष्मे समाधत्ते ३ स्थितस्य वृक्षमूलेषु तस्य चिन्ता बभूव हाउत्सृज्य सुमहत् कर्म्म सूक्ष्मं प्रति महामते ॥४॥ अलर्क उवाच । मनसो मे बलं जातं मनो जित्वा ध्रुवो जयः । अन्यत्र बाणान् धास्यामि शत्रुभिः परिवारितः५यदिदं चापलात् कर्म्म सर्वान् मर्त्यांश्चिकीर्षति । मनः प्रति सुतीक्ष्णाग्रानहं मोक्ष्यामि सायकान् ॥ ६ ॥ मन उवाच । नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथञ्चन । तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ ७ ॥ अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि । तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥ अलर्क उवाच । आघ्राय सुबहून् गन्धांस्तानेव प्रतिगृध्यति । तस्माद् घ्राणं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं

करके उसने अपना मन सूक्ष्म (ब्रह्मकी खोज) में लगादिया था ॥३॥ हे महामति ! (एक समय) वह एकवृक्षके नीचे बैठा हुआ था, उस समय शत्रुओंको जीतना आदि बड़ेभारी कामको छोड़कर सूक्ष्म (ब्रह्म) की (खोजके लिये) उसको चिन्ता होनेलगी ॥ ४ ॥ अलर्क कहनेलगा, कि-मेरे मनमें बल उत्पन्न होगया है, मनको जीतलूँगा तो मेरी सच्ची विजय होजायगी, मैं इन्द्रियरूप शत्रुओंसे घिराहुआ हूँ, अब मैं अपने बाण दूसरी ओर (मनकी ओर) को फेंकूँगा ॥ ५ ॥ यह मन अपनी चपलताके कारणसे, मृत्युके वशमें हुए सकल कर्मोंकी इच्छा कराता है, इसलिये अब मैं मनके ऊपर अतितीखी नोकवाले बाण छोड़ूँगा ॥६॥ मनने कहा, कि-हे अलर्क ! ये बाण मुझे किसीप्रकार भी नहीं बींधसकते, ये तो तेरे ही मर्मस्थानोंको काटेंगे और मर्मस्थानोंके कटजाने पर तू मरजायगा ॥७॥ दूसरे बाण ढूँढ, कि-जिनसे तू मुझे मारसके, यह सुन, इसके ऊपर विचार करके उसको उत्तर दिया ॥ ८ ॥ अलर्कने कहा, कि-बहुतसे गन्धोंको सूँघकर उनके लिये ही मनुष्य लोभ करता है,

शितान् ॥ ९ ॥ घ्राण उवाच । नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथञ्चन । तवैव मर्म्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १० ॥ अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि । तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥ अलर्क उवाच । इयं स्वादून् रसान् भुक्त्वा तानेव प्रतिगृध्यति । तस्माज्जिह्वां प्रति शरान् प्रतिमोचयाम्यहं शितान् ॥ १२ ॥ जिह्वोवाच । नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथञ्चन । तवैव मर्म्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १३ ॥ अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि । तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥ अलर्क उवाच। स्पृष्ट्वा त्वग्विविधान् स्पर्शांस्तानेव प्रतिगृध्यति । तस्मात्त्वचं पाटयिष्ये विविधैः कङ्कपत्रिभिः ॥ १५ ॥ त्वगुवाच ।

इसलिये मैं नाकके ऊपर तीखे बाण मारूँगा ॥९॥ नाकने कहा कि-हे अलर्क ! ये बाण मुझे किसीप्रकार भी नहीं बींधसकते, ये तो तेरे ही मर्मस्थानोंको काट डालेंगे और मर्म स्थानोंके कट जाने पर तू मरजायगा॥१०॥ इसलिए तू दूसरे बाणोंको खोज, कि-जिनसे तू मुझे मारसके, यह सुन उसने इस बातके ऊपर विचार करके उत्तर दिया ॥११॥ अलर्कने कहा, कि-स्वादवाले रसोंको भोगनेके अनन्तर यह जीभ उनका ही लोभ करती है, इसलिए मैं जीभके ऊपर ही तीखे बाण छोड़ूँगा ॥ १२ ॥ जीभने कहा,कि-हे अलर्क ! ये बाण मुझे किसी प्रकार भी नहीं बींधसकेंगे, ये तो तेरे ही मर्मस्थानोंको काटडालेंगे, और मर्म स्थानोंके कटजाने पर तू मरजायगा ॥ १३ ॥ इसलिये तू दूसरे बाणोंको ढूँढ, कि-जिनसे तू मुझे मारसके, यह सुनकर और इस बातके ऊपर विचार करके उत्तर दिया ॥१४॥ अलर्कने कहा, कि-यह चमड़ा अनेकों स्पर्शोंको करके उसका ही लोभ करता है, इसलिये कङ्कपक्षीके परोंवाले नाना प्रकारके बाणोंसे

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथञ्चन । तवैव मर्म्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ १६ ॥ अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि । तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् १७ अलर्क उवाच । श्रुत्वा तु विविधान् शब्दांस्तानेव प्रतिगृध्यति । तस्माच्छ्रोत्रंप्रति शरान् प्रतिमुञ्चाम्यं शितान् १८ श्रोत्र उवाच । नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथञ्चन । तवैव मर्म भेत्स्यन्ति ततो हास्यसि जीवितम् ॥ १९ ॥ अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि । तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥ अलर्क उवाच । स्पृष्ट्वा रूपाणि बहुशस्तान्येव प्रतिगृध्यति । तस्माच्चक्षुर्हनिष्यामि निशितैः सायकैरहम् ॥ २१ ॥ चक्षुरुवाच ।

मैं चमड़ेको छीलडालूँगा ॥१५॥ चमड़ेने कहा, कि–हे अलर्क ! इन बाणोंसे मुझे किसीप्रकार भी नहीं बींधसकेगा, ये बाण तो तेरे ही मर्मस्थानोंको काटडालेंगे और मर्मस्थानोंके कटजाने पर तू मरजायगा ॥ १६ ॥ इसलिये तू दूसरे बाणोंको ढूँढ, कि–जिनसे तू मुझे मारसके, यह सुनकर और इस बात पर विचार करके उसने उत्तर दिया ॥ १७ ॥ अलर्कने कहा, कि–ये कान अनेकों शब्दोंको सुनकर फिर उनका ही लोभ करते हैं, इसलिये इन कानोंके ऊपर ही मैं तीखे बाण मारूँगा ॥ १८ ॥ कानोंने कहा, कि–हे अलर्क ! ये बाण किसीप्रकार भी मुझे नहीं बींधसकेंगे, ये तो तेरे ही मर्मस्थानोंको काटडालेंगे और इससे तेरे ही प्राण जायँगे ॥ १९ ॥ इसलिये तू दूसरे बाण देख, कि–जिनसे मुझे मारसके, यह सुनकर उसने इस बात पर विचार किया और यह बात कही ॥ २० ॥ अलर्क बोला, कि–चक्षु बहुतसे रूपोंको देखकर यह उनका ही लोभ करता है, इसलिये इस चक्षुका ही मैं तीखे बाणोंसे नाश करूँगा ॥ २१ ॥ चक्षुने कहा, कि–हे

नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथञ्चन । तवैव मर्म्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि ॥ २२ ॥ अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि । तच्छ्रुत्वा स विचिन्त्याथ ततो वचनमब्रवीत् २३ अलर्क उवाच । इयं निष्ठा बहुविधा प्रज्ञया त्वध्यवस्यति । तस्माद् बुद्धिं प्रति शरान् प्रतिमोक्ष्याम्यहं शितान् ॥ २४ ॥ बुद्धिरुवाच । नेमे बाणास्तरिष्यन्ति मामलर्क कथञ्चन । तवैव मर्म भेत्स्यन्ति भिन्नमर्मा मरिष्यसि । अन्यान् बाणान् समीक्षस्व यैस्त्वं मां सूदयिष्यसि ॥२५॥ ब्राह्मण उवाच । ततोलर्कस्तपो घोरं तत्रैवास्थाय दुष्करम् । नाध्यगच्छत्परं शक्त्या बाणमेतेषु सप्तसु ॥ २६ ॥ सुसमाहितचेतास्तु स ततोऽचिन्तयत् प्रभुः । स विचिन्त्य चिरं कालमलर्को द्विजसत्तम ॥ २७ ॥ नाध्यगच्छत् परं श्रेयो योगान्मति-

---

अलर्क ! ये बाण मुझे किसीप्रकार भी नहीं बींधसकेंगे, किन्तु तेरे ही मर्मस्थानोंको काटडालेंगे और मर्मस्थान कटजाने पर तू ही मरजायगा ॥ २२ ॥ इसलिये तू दूसरे बाणोंको देख, कि-जिनसे तू मुझे मारसके, यह सुनकर अलर्कने विचार किया और फिर उसने यह बात कही ॥ २३ ॥ अलर्क बोला, कि-बुद्धि प्रज्ञाके द्वारा अनेकों प्रकारका निश्चय करती है,इसलिये इस बुद्धिके ऊपर ही मैं तीखे बाण छोड़ूँगा ॥ २४ ॥ बुद्धिने कहा, कि-हे अलर्क! ये बाण मुझे किसीप्रकार भी नहीं बींधसकेंगे,ये तो तेरे ही मर्मस्थानोंको चीरडालेंगे और मर्मस्थानोंके घायल होने पर तू ही मरजायगा, इसलिये तू दूसरे बाणोंको देख, कि-जिनसे तू मुझे मारसके ॥ २५ ॥ ब्राह्मण कहता है, कि-तहाँ अलर्कने घोर और दुष्कर तप करना आरम्भ करदिया, परन्तु इन सातके ऊपर फेंकनेको उत्तम बाण तपःशक्तिसे नहीं मिला ॥ २६ ॥ फिर जिसका चित्त उत्तम प्रकारसे सावधान था ऐसा वह राजा निरन्तर विचार करनेलगा, हे द्विजवर ! विचार करनेमें भी

मतात्सरः । स एकाग्रं मनः कृत्वा निश्चलो योगमास्थितः ॥२८॥
इन्द्रियाणि जघानाशु बाणेनैकेन वीर्यवान् । योगेनात्मानमाविश्य
सिद्धिं परमिकां गतः ॥ २९ ॥ विस्मितश्चापि राजर्षिरिमां गाथां
जगाद ह । अहो कष्टं यदस्माभिः सर्वं बाह्यमनुष्ठितम् ॥ ३० ॥
भोगतृष्णा समायुक्तैः पूर्वं राज्यमुपासितम् । इति पश्चान्मया ज्ञातं
योगान्नास्ति परं सुखम् ॥ ३१ ॥ इति त्वमनुजानीहि राम मा
क्षत्रियाञ्जहि । तपो घोरमुपातिष्ठ ततः श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥ ३२ ॥
इत्युक्तः स तपो घोरं जामदग्न्यः पितामहैः । आस्थितः सुमहाभागो
ययौ सिद्धिञ्च दुर्गमाम् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

अलर्कको बहुत काल बीतगया ॥ २७ ॥ परन्तु बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ उस राजाने योगसे बढ़कर कल्याणकारी किसी साधनाको नहीं पाया, तब वह मनको एकाग्र कर निश्चल होकर राजयोगका साधन करनेलगा ॥ २८ ॥ उस वीर्यवान्ने एक ही बाणसे एक साथ इन्द्रियोंको मारडाला और योगसे आत्मामें प्रवेश करके परम सिद्धिको प्राप्त होगया ॥ २९ ॥ फिर आश्चर्यमें हुए उस राजर्षिने यह गाथा गाई, कि–अहो ! कैसे कष्टकी बात है, कि–हम सब बाहरी रूपोंमें ही लगेरहे ॥ ३० ॥ भोगकी तृष्णामें बँधकर मैं पहले राज्यकी उपासना ही करता रहा, परन्तु पीछेसे मुझे मालूम हुआ, कि–योगसे बढ़कर कोई सुख है ही नहीं ॥ ३१ ॥ हे परशुराम ! तू इस बातको समझले और क्षत्रियोंको न मार, घोर तपस्या कर, उससे ही तेरा कल्याण होगा ॥३२॥ पितामहोंने जमदग्निके पुत्रसे ऐसा कहा, तब उस महाभागने घोर तप करना आरम्भ करदिया और बड़ी कठिनतासे मिलनेवाली सिद्धिको प्राप्त होगये ॥ ३३ ॥ तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३० ॥ ॥

ब्राह्मण उवाच । त्रयो मे रिपवो लोके नवधा गुणतः स्मृताः । प्रहर्षः प्रीतिरानन्दस्त्रयस्ते सात्त्विका गुणाः ॥ १ ॥ तृष्णा क्रोधोऽभिसंरम्भो राजसास्ते गुणाः स्मृताः । श्रमस्तन्द्रा च मोहश्च त्रयस्ते तामसा गुणाः ॥ २ ॥ एतान्निकृत्य धृतिमान् बाणसंघैरतन्द्रितः । जेतुं परानुत्सहते प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥ अत्र गाथाः कीर्तयन्ति पुराकल्पविदो जनाः । अम्बरीषेण या गीता राज्ञा पूर्वं प्रशाम्यता ॥ ४ ॥ समुदीर्णेषु दोषेषु बध्यमानेषु साधुषु । जग्राह तरसा राज्यमम्बरीषो महायशाः ॥ ५ ॥ स निगृह्यात्मनो

ब्राह्मणने कहा, कि-लोकमें तीन शत्रु मानेजाते हैं, और गुणोंके कारणसे उनके नौ भेद कहे हैं, प्रहर्ष, प्रीति (सन्तोष) और आनन्द ये तीन सात्त्विक गुण हैं, (ये तीनों एक ही गुणके अंश हैं-वस्तु मिलजायगी, ऐसा निश्चय होने पर मनमें जिस भावका उदय होता है वह प्रहर्ष है, वस्तु मिलने पर जो सन्तोष होता है वह प्रीति है और उस वस्तुके मिलनेके बाद उसके भोगनेमें जो भाव होता है वह आनन्द कहलाता है ॥१॥ तृष्णा (लोभ), क्रोध और अभिसंरम्भ (तिरस्कार) ये राजस गुण हैं, श्रम, तन्द्रा और मोह ये तीन तामस गुण हैं ॥ २ ॥ बाणोंके समूहसे इन गुणोंको काटडालने पर धैर्यवान्, तन्द्राशून्य, परम शान्त अन्तःकरणवाला और जितेन्द्रिय (हुआ साधक) दूसरों को जीतनेमें उत्साही होजाता है ॥ ३ ॥ पुराने कल्पके ज्ञाता मनुष्य इस विषयमें इन पुरानी गाथाओंको कहा करते हैं, जो पहले परमशान्त आत्मावाले राजा अम्बरीषने भी गायी थीं ॥ ४ ॥ जब (राग आदि) दोषोंका बल बढ़ा और (शम आदि) सद्गुण दबनेलगे तब महायशस्वी अम्बरीषने एकदम राज्यकी लगाम अपने हाथमें लेली ॥ ५ ॥ अपने दोषोंको दबाकर और साधु गुणोंका अच्छे प्रकारसे

दोषान् साधून् समभिपूज्य च । जगाम महतीं सिद्धिं गाथाश्चेमां जगाद ह ॥६॥ भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः । एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ॥ ७ ॥ यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति । तृष्णार्त्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते ८ अकार्य्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः । तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृन्तत निकृन्तत ॥६॥ लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्त्तते । स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान् । तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान् ॥ १० ॥ स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः पुनः पुनर्जायति कर्म्म चेहते । जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो मृत्युं पुनर्गच्छति जन्म चैव ॥ ११॥ तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं निगृह्य

सत्कार करके उसने बडीभारी सिद्धि पाई थी और इन गाथाओं को गाया था, कि-॥ ६ ॥ मैंने बहुतसे दोषोंको जीता है और सब शत्रुओंका नाश करडाला है, परन्तु मुझमें एक बड़ेसे बडा दोष रहगया है, कि-जो मारडालने योग्य था उसको मैंने नहीं मारा ॥ ७ ॥ उस दोषके कारणसे यह जीव तृष्णाशून्य दशामें नहीं पहुँचसकता है, तृष्णासे व्याकुल हुआ यह जीव इस लोकमें नीच कर्मोंकी ओरको दौडता है और अपने इस कामको समझता नहीं है ॥ ८ ॥ इस दोषका उकसाया हुआ मनुष्य अकार्य भी करडालता है उस लोभको तीखी तलवारोंसे फाडडालो, काटडालो६ लोभसे ही तृष्णा (कामना) होती है और उससे ही चिन्ता होती है, तृष्णावाला मनुष्य राजस गुणोंको पाजाता है ॥१०॥ उन गुणोंके कारणसे देहके बन्धनमें जकड जानेके कारण वारंवार जन्म लेता है और वारम्वार कर्म करता है, जीवनका अन्तसमय आते ही उसके देहके तत्त्व जुदे २ होकर बिखर जाते हैं, मरणको प्राप्त होजाता है और फिर जन्म लेता है ॥ ११ ॥ इसलिये इसको ठीक २ समझकर, लोभको

धृत्यात्मनि राज्यमिच्छेत् । एतद्राज्यं नान्यदस्तीह राज्यमात्मैव राजा विदितो यथावत् ॥ १२ ॥ इति गाथाम्बरीषेण गाथा गीता यशस्विना । आधिराज्यं पुरस्कृत्य लोभमेकं निकृन्तता ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

ब्राह्मण उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । ब्राह्मणस्य च संवादं जनकस्य च भामिनी ॥१॥ ब्राह्मणं जनको राजा सन्नं कस्मिंश्चिदागसि । विषये मे न वस्तव्यमिति शिष्ट्यर्थमब्रवीत् ॥२॥ इत्युक्तः प्रत्युवाचाथ ब्राह्मणो राजसत्तमम् । आचक्ष्व विषयं राजन् यावांस्तव वशे स्थितः ॥ ३ ॥ सोऽन्यस्य विषये राज्ञो वस्तुमिच्छाम्यहं विभो । वचस्ते कर्तुमिच्छामि यथाशास्त्रं महीपते ॥ ४ ॥ इत्युक्तस्तु तदा राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।

धैर्यसे दबाकर अपने आत्मामें राज्यकी इच्छा करे, यही असली राज्य है, इस लोकमें दूसरा कोई (श्रेष्ठ) राज्य है ही नहीं, ठीकर समझाजाय तो आत्मा ही राजा है ॥ १२ ॥ अधिराज्य को आगे रखकर एक लोभरूप महादोषको काट डालने वाले कीर्त्तिमान् राजा अम्बरीषने यह आगेकी गाथा गाई थी ॥१३॥ इकतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ ⁂ ॥ ⁂

ब्राह्मणने कहा, कि–हे भामिनी ! इस विषयमें भी एक ब्राह्मण और जनकके संवादरूप इस पुराने इतिहासका दृष्टान्त देते हैं ? (एक समय) राजा जनकने किसी एक अपराधी ब्राह्मणको दंड देनेके लिये उससे कहा कि–तू मेरे राज्यमें न बस ॥ २ ॥ इस प्रकार कहने पर उस ब्राह्मणने उस श्रेष्ठ राजाको उत्तर दिया, कि–हे राजन् ! तेरे वशमें कितना देश है ? ॥३॥ हे राजन्! यह बात मुझे मालूम होजाय तो मैं दूसरे राजाके राज्यमें रहना चाहता हूँ हे राजन् ! शास्त्रकी आज्ञानुसार मैं तेरा कहा करना

मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य न किंचित् प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥ तमासीनं ध्यायमानं राजानममितौजसम् । कश्मलं सहसागच्छद्भानुमन्तमिव ग्रहः॥६॥ समाश्वस्य ततो राजा विगते कश्मले तदा । ततो मुहूर्तादिव तं ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ७ ॥ जनक उवाच । पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति । विषयं नाधिगच्छामि विचिन्वन् पृथिवीमहम् ॥ ८ ॥ नाधिगच्छं यदा पृथ्व्यां मिथिला मार्गिता मया । नाध्यगच्छं यदा तस्यां स्वप्रजा मार्गिता मया ॥ ९ ॥ नाध्यगच्छं यदा तस्यां तदा मे कश्मलोऽभवत् । ततो मे कश्मलस्यान्ते मतिः पुनरुपस्थिता ॥ १० । तदा न विषयं मन्ये सर्वो वा विषयो मम । आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी

चाहता हूँ ॥४॥ उस यशस्वी ब्राह्मण की इस बातको सुनकर उस राजाने बारम्बार गरम श्वास लिया और उस समय उस ब्राह्मण को कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ ५ ॥ जैसे राहु ग्रह सूर्यको एकसाथ काला करडालता है तैसे ही विचारमें पड़कर बैठाहुआ वह परमतेजस्वी राजा एकायकी काला पड़गया ॥ ६ ॥ जब उसके मुख परसे कलौंस जाती रही तब वह राजा कुछ शान्त पड़ा फिर और एक मुहूर्त्त चुप रहकर उस ब्राह्मणसे कहनेलगा ॥ ७ ॥ जनकने कहा, कि—पिता पितामहके समयसे जो यह राज्य चला आरहा है, इसमेंका सब देश मेरे वशमें है, तो भी सब पृथिवीको खोजने पर भी इसमें मुझे अपना कोई देश नहीं दीखता ॥ ८ ॥ जब भूमण्डल भरमें मुझे अपना कोई देश न मालूम हुआ, तब मैंने मिथिलामें ढूँढ़भाल की जब उसमें भी अपना देश नहीं पाया, तब मैंने अपनी प्रजा (बालबच्चों) में देखा ॥९॥ जब उनमें भी अपना कुछ नहीं मिला, तब मैं काला पड़गया, फिर उस कलौंस के दूर होजाने पर मेरी बुद्धि ठिकाने आई ॥ १० ॥ अब मेरा निश्चय यह है, कि—मेरा कोई देश नहीं है अथवा सब देश मेरा

मम ॥ ११ ॥ यथा मम तथान्येषामिति मन्ये द्विजोत्तम । उष्यतां यावदुत्साहो भुज्यतां यावदुष्यते ॥ १२ ॥ ब्राह्मण उवाच । पितृपैतामहे राज्ये वश्ये जनपदे सति । ब्रूहि कां मतिमास्थाय ममत्वं वर्जितं त्वया ॥ १३ ॥ कां वै बुद्धिं समाश्रित्य सर्वो वै विषयस्तव । नावैषि विषयं येन सर्वो वा विषयस्तव ॥ १४ ॥ जनक उवाच । अन्तवन्त्य इहावस्था विदिताः सर्वकर्मसु । नाध्यगच्छमहं तस्मान्ममेदमिति यद्भवेत् ॥ १५ ॥ कस्येदमिति कस्य स्वमिति वेदवचस्तथा । नाध्यगच्छमहं बुद्ध्या ममेदमिति यद्भवेत् ॥ १६ ॥ एतां बुद्धिं समाश्रित्य ममत्वं वर्जितं मया । शृणु बुद्धिं च यां ज्ञात्वा

है, यह आत्मा भी मेरा नहीं है और यह सब पृथिवी भी मेरी नहीं है ॥ ११ ॥ हे द्विजवर ! मेरी समझमें जो बात मेरे विषय में है वही दूसरोंके विषयमें भी है, इसलिये जहाँ तक तेरा उत्साह हो वहाँ तक बस और जहाँ तक रहे तहाँ तक भले ही भोग ॥ १२ ॥ ब्राह्मणने कहा कि—जब सब ग्राम तेरे पिता और पितामहके राज्यमें वशहुए हैं तो तू किस विचारसे उनके ऊपरकी ममता को त्यागरहा है, यह मुझे बता ॥ १३ ॥ वह कौनसी बुद्धि है, कि—जिसके आश्रयसे तू सब देशको अपना बनाता है ? अथवा सब देश तेरा होतेहुए भी किस विचारसे तू उसको अपना नहीं समझता ? ॥ १४ ॥ जनकने कहा, कि—मुझे मालूम हुआ है, कि—सब कर्मोंकी अवस्थाओंका अन्त है (किसी कर्मकी कोई अवस्था सदा एकसी नहीं रहसकती) इसलिए यह जो कुछ है वह सब मेरा है, ऐसा मैं नहीं समझता ॥ १५ ॥ यह किसका है ? धन किसका है ? इस वेदके वचनका मैंने बुद्धिमे विचार किया है, इसलिये यह जो कुछ है,मेरा है,ऐसा मैं नहीं मानता १६ ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर मैंने ममत्वको त्यागदिया, अब सर्वत्र ही मेरा देश है, यह बात मैंने जिस विचारसे कही है उसको

सर्वत्र विषयो मम ॥१७॥ नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राण-
गतानपि । तस्मान्मे निर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ १८ ॥
नाहमात्मार्थमिच्छामि रसानास्येऽपि वर्त्ततः । आपो मे निर्जिन-
तास्तस्माद्वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ १९ ॥ नाहमात्मार्थमिच्छामि
रूपं ज्योतिश्च चक्षुषः । तस्मान्मे निर्जितं ज्योतिर्वशे तिष्ठति
नित्यदा ॥२०॥ नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शान् त्वचि गताश्च ये ।
तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा ॥ २१ ॥ नाहमात्मा-
र्थमिच्छामि शब्दान् श्रोत्रगतानपि । तस्मान्मे निर्जिताः शब्दा
वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ॥ २२ ॥ नाहमात्मार्थमिच्छामि मनो नित्यं
मनोऽन्तरे । मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा ॥२३॥

सुनो-॥ १७ ॥ मेरी नासिकामें जो गन्ध हैं, उनको मैं अपने लिए नहीं चाहता, इसलिए मैंने (गन्धवाली) पृथिवीको जीत लिया है और वह सदा मेरे वशमें रहती है ॥ १८ ॥ मुखमें (जीभमें) रहनेवाले रसोंको मैं अपने लिये नहीं चाहता, इस लिये (रसके गुणवाले) जलोंको मैंने जीतलिया है और वे नित्य मेरे वशमें रहते हैं ॥ १९ ॥ अपने नेत्रमेंके रूप (रङ्ग) और ज्योतिको मैं अपने लिए नहीं चाहता, इसलिए मैंने ज्योति (तेज) को जीतलिया है और वह सदा मेरे वशमें रहता है २० मेरी त्वचामें जो स्पर्शसुख रहते हैं, उनकी मैं अपने लिये इच्छा नहीं करता, इसलिए (स्पर्श गुणवाले) वायुको मैंने जीतलिया है और वह सदा मेरे वशमें रहता है ॥ २१ ॥ कानोंमें जो शब्द (स्वर) रहते हैं उनकी मैं अपने लिए इच्छा नहीं करता, इस लिए (शब्द गुणवाले) आकाशको मैंने जीतलिया है और वह नित्य मेरे वशमें रहता है ॥ २२ ॥ मेरे भीतर जो मन रहता है, उसकी मैं अपने लिए इच्छा नहीं करता हूँ. इसलिए यह मन मेरा जीता हुआ है और वह नित्य मेरे वशमें रहता है ॥ २३ ॥

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह । इत्यर्थं सर्व एवेति समारम्भा भवन्ति वै ॥ २४॥ ततः प्रहस्य जनकं ब्राह्मणः पुनरब्रवीत् । त्वज्जिज्ञासार्थमद्येह विद्धि मां धर्ममागतम् ॥२५॥ त्वमस्य ब्रह्मनाभस्य दुर्वारस्यानिवर्तिनः । सत्वनेमिनिरुद्धस्य चक्रस्यैकः प्रवर्तकः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण उवाच । नाहं तथा भीरु चरामि लोके यथा त्वं मां तर्जयसे स्वबुद्ध्या । विप्रोऽस्मि मुक्तोऽस्मि वनेचरोऽस्मि गृहस्थधर्मा व्रतवांस्तथास्मि१ नाहमस्मि यथा मां त्वं पश्यसे च शुभाशुभे । मया व्याप्तमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगतीगतम्॥२॥ ये केचिज्जन्तवो लोके

देवता, पितर, भूत तथा अतिथि इन सबोंके लिये यह सब कार्य होते हैं ॥ २४ ॥ उस समय ब्राह्मणने जोरसे हँसकर राजा जनकसे फिर कहा, कि-तुझे मालूम हो, तेरी परीक्षा लेनेके लिए ही मैं धर्म आज इस लोकमें आया हूँ ॥ २५ ॥ ब्रह्म ही है नाभि जिसकी, बुद्धि ही है अरे जिसके और सत्त्वगुण ही है घेरा जिसका (अथवा सत्त्वरूप मार्गमें बँधेहुए) तथा कभी पीछेको न लौटनेवाले इस चक्रको चलानेवाला एकमात्र तू ही है ॥ २६॥ बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ ॥

ब्राह्मण कहता है, कि-हे भीरु ! तू अपनी बुद्धिके अनुसार मेरे ऊपर कटाक्ष करती है, उस प्रकारसे मैं इस जगत्में नहीं फिरता रहता हूँ मैं ब्राह्मण हूँ, मुक्त हूँ वनमें घूमनेवाला हूँ, गृहस्थके धर्मोंका पालन करनेवाला और व्रतोंका पालन करनेवाला हूँ १ तू मुझे शुभ और अशुभ कर्मोंमें जैसा देखती है, मैं वैसा नहीं हूँ, जो कुछ सब इस जगत्में है वह सब मुझसे व्याप्त है। । २ ॥ इस जगत्में स्थावर और जङ्गम जो कुछ जन्तु हैं, उन सबका

जङ्गमाः स्थावराश्च ह। तेषां मामन्तकं विद्धि दारूणामिव पावकम् ३
राज्यं पृथिव्यां सर्वस्यामथ वापि त्रिविष्टपे। तथा बुद्धिरियं वेत्ति
बुद्धिरेव धनं मम ४ एकः पन्था ब्राह्मणानां येन गच्छन्ति तद्विदः।
गृहेषु वनवासेषु गुरुवासेषु भिक्षुषु ॥ ५ ॥ लिङ्गैर्बहुभिरव्यग्रैरेका
बुद्धिरुपास्यते। नानालिङ्गाश्रमस्थानां येषां बुद्धिः शमात्मिका ६
ते भावमेकमायान्ति सरितः सागरं यथा। बुद्ध्यायं गम्यते मार्गः
शरीरेण न गम्यते। आद्यन्तवन्ति कर्माणि शरीरं कर्मबन्धनम् ७
तस्मात्ते सुभगे नास्ति परलोककृतं भयम्। तद्भावभावनिरता
ममैवात्मानमेष्यसि ॥ ८ ॥ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

मुझे इसप्रकार अन्त करनेवाला जान, जैसे अग्नि लकड़ियोंका अन्त करडालता है ॥ ३ ॥ सब पृथिवी परके अथवा सब स्वर्गमेंके राज्यको यह बुद्धि जानती है (अनुभव करती है), इसलिए यह बुद्धि ही मेरा धन है ॥ ४ ॥ ब्राह्मणोंका एक मार्ग है, कि–जिस मार्गसे, उसको जाननेवाले पुरुष, घरोंमें (गृहस्थाश्रममें) वनवासोंमें (वानप्रस्थ आश्रममें) गुरुओंके साथके वासमें (ब्रह्मचर्याश्रममें) और भिक्षुओंमें (संन्यासाश्रममें) जाता है(ब्राह्मणको उत्तरोत्तर चारों आश्रमोंके पालनका अधिकार है) ॥ ५ ॥ बहुतसे स्पष्ट चिह्नोंसे केवल एक बुद्धिकी ही उपासना होती है, भिन्न २ चिह्न और आश्रमोंको माननेवालोंकी बुद्धि तो शान्तिरूप आत्मावाली है ॥ ६ ॥ जैसे अनेकों नदियें एक समुद्रमें जाकर मिलजाती हैं, तैसे ही उनकी बुद्धिमें एक ही भावका उदय होता है, यह मार्ग बुद्धिसे जाना जाता है, शरीरसे नहीं जाना जाता, कर्मोंका आदि और अन्त होता है तथा शरीरको कर्मका बन्धन होता है ॥ ७ ॥ इसलिए हे सुभगे! परलोकके विषयमें तू मत डरे, उसके भक्तिभावको रखती हुई तू मेरे ही आत्माको प्राप्त होगी ॥ ८ ॥ तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥

ब्राह्मण्युवाच । नेदमल्पात्मना शक्यं वेदितुं नाकृतात्मना । बहु चाल्पञ्च संक्षिप्तं विप्लुतञ्च मतं मम ॥ १ ॥ उपायं तं मम ब्रूहि येनैषा लभ्यते मतिः । तन्मन्ये कारणं त्वत्तो यत एषा प्रवर्तते ॥ २ ॥ ब्राह्मण उवाच । अरणीं ब्राह्मणीं विद्धि गुरुरस्योत्तरारणिः । तपःश्रुतमभिमथ्नीतो ज्ञानाग्निर्जायते ततः ॥ ३ ॥ ब्राह्मण्युवाच । यदिदं ब्रह्मणो लिङ्गं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितम् । ग्रहीतुं येन यच्छक्यं लक्षणं तस्य तत् क्व नु ॥ ४ ॥ ब्राह्मण उवाच । अलिङ्गो निर्गुणश्चैव कारणं नास्य लक्ष्यते । उपायमेव वक्ष्यामि

ब्राह्मणीने कहा, कि-मुझसरीखी छोटे आत्मा (मन) वाली या जिसने सत्कर्म नहीं किये हैं ऐसे आत्मावाली मैं इस बातको नहीं समझसकती, मेरी बुद्धि बहुत थोड़ी, संक्षिप्त और उलझनमें पड़ीहुई है ॥ १ ॥ इसलिए मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये, कि-जिससे आपकी कहीहुई बातको समझनेकी मति प्राप्त होजाय, जिसमेंसे यह मति प्रकट होती है उस कारण (उपाय) को मैं आपसे जानना चाहती हूँ ॥ २ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि-ब्रह्मको जाननेवाली (जो बुद्धि है उस) को (नीचे की) अरणी जान, गुरु उसकी ऊपरकी अरणी है, तप और श्रुत (वेदविषयक ज्ञान) इन दोसे मथने पर (उन अरणियोंमेंसे) ज्ञानरूप अग्नि प्रकट होती है ॥ ३ ॥ ब्राह्मणीने कहा, कि-इस ब्रह्मका जो (अपरोक्ष) चिह्न है, जिसको क्षेत्रज्ञ (जीव) कहते हैं, कि-जिस क्षेत्रज्ञसे परोक्ष ब्रह्मका ग्रहण किया जासकता है, उसका वह चिह्न कहाँ है ॥ ४ ॥ ब्राह्मणने कहा, कि-वह लिङ्ग (चिन्ह वा स्वरूप) से शून्य है, (क्योंकि-वह) निर्गुण है, ऐसा होनेका कारण जाननेमें नहीं आता. परन्तु मैं केवल उपाय बताऊँगा, कि-जिससे वह जाननेमें आजाय अथवा न भी जानाजाय (वह अलिंग है, निर्गुण है और निश्चिन्त है,

येन गृहीत वा न वा ॥५॥ सम्यगुपायो दृष्टश्च भ्रमरैरिव लक्ष्यते।
कर्म्मबुद्धिरबुद्धित्वाज्ज्ञानलिंगैरिवाश्रितम् ॥६॥ इदं कार्यमिदं नेति
न मोक्षेपूपदिश्यते। पश्यतः शृण्वतो बुद्धिरात्मनो येषु जायते ७
यावन्त इह शक्येरंस्तावन्तोऽशान् प्रकल्पयेत्। अव्यक्तान् व्यक्त-
रूपांश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८ ॥ सर्वान्नानार्थयुक्तांश्च सर्वान्
प्रत्यक्षहेतुकान्। यतः परं न विद्येत ततोऽभ्यासे भविष्यति ॥९॥

वह सगुण और सलिङ्ग तो कारणके बिना भ्रान्तिसे प्रतीत होता है; उस भ्रान्तिको दूर करदेने पर उसको जाननेका उपाय मालूम होता है और यदि चित्तशुद्धि न हो तो उसको जाननेका उपाय बनता ही नहीं) ॥ ५ ॥ (उसको जाननेके लिये) एक अच्छा उपाय देखनेमें आया है,वह यह है,कि-भौंरे (जैसे नीचे सुगन्ध-रूप पदार्थ पुष्पोंमें देखते हैं, उन) की समान (श्रवण आदि पूर्वोक्त साधनोंसे) देखनेमें आता है, वह उपाय (कर्मसे शुद्ध हुई बुद्धि) कर्मबुद्धि है (यदि कर्मसे बुद्धि शुद्ध नहीं होसकती है तो श्रवण मनन आदिसे वह जाननेमें नहीं आता) अबुद्धिके कारण (कर्मसे बुद्धि शुद्ध हुई नहीं होती है तब मूर्ख मनुष्य) असङ्ग क्षेत्रज्ञको ज्ञान (बुद्धि) रूप लिङ्गका आश्रय (कहते हैं) ६ यह करना चाहिये और यह न करना चाहिये, ऐसा उपदेश मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रोंमें नहीं किया है, मोक्षके विषयमें (निरन्तर) देखते रहनेवालेकी और सुनते रहनेवालेकी बुद्धि अपने आप ही उत्पन्न होजाती है ॥ ७ ॥ इस जगत्में जहाँतक बनसके तहाँतक (मोक्षकी इच्छा करनेवालेको) प्रत्येक अव्यक्त और व्यक्त रूपोंके सैंकडों और सहस्रों भागोंकी कल्पना करनी चाहिये॥८॥नाना-प्रकारके अर्थोंवाले सबोंकी और प्रत्यक्ष हेतुवाले सबोंकी(रहस्य समझनेके लिये) कल्पना करनी चाहिये, ऐसा अभ्यास करते२ जिससे पर कोई है ही नहीं उस स्थितिमें पहुँचजायगा९श्रीभगवान्

भगवानुवाचाततस्तु तस्या ब्राह्मण्या मतिः क्षेत्रज्ञसंक्षये । क्षेत्रज्ञानेन परतः क्षेत्रज्ञेभ्यः प्रवर्त्तते ॥ १० ॥ अर्जुन उवाच । क्व नु सा ब्राह्मणी कृष्ण क्व चासौ ब्राह्मणर्षभः । याभ्यां सिद्धिरियं प्राप्ता तावुभौ वद मेऽच्युत ॥ ११ ॥ श्रीभगवानुवाच । मनो मे ब्राह्मणं विद्धि बुद्धिं मे विद्धि ब्राह्मणीम् । क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेव धनञ्जय ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
ब्राह्मणगीतासु चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

अर्जुन उवाच । ब्रह्म यत् परमं ज्ञेयं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि । भवतो हि प्रसादेन सूक्ष्मे मे रमते मतिः ॥ १ ॥ वासुदेव उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । संवादं मोक्षसंयुक्तं शिष्यस्य गुरुणा सह ॥ २ ॥ कश्चिद् ब्राह्मणमासीनमाचार्य्यं शंसित-

कहते हैं, कि–तदनन्तर क्षेत्रज्ञके संक्षयमें (जीवके परमात्मामें विलीन करनेमें) उस ब्राह्मणीकी मति, क्षेत्रज्ञका ज्ञान होजानेके कारणसे क्षेत्रज्ञके परले पार जानेलगी ॥१०॥ अर्जुनने कहा, कि–हे कृष्ण ! वह ब्राह्मणी कहाँ है ? और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कहाँ हैं ?, कि–जिन्होंने यह सिद्धि पाई थी, हे अच्युत ! वह मुझे बताइये ।११। भगवान्‌ने कहा, कि–मेरे मनको ब्राह्मण जान और मेरी बुद्धिको ब्राह्मणी जान, जिसको क्षेत्रज्ञ नामसे कहा है, हे धनञ्जय ! वह मैं स्वयं ही हूँ ॥ १२ ॥ चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥

अर्जुनने कहा, कि–जो ब्रह्म परमज्ञेय है, मुझे उसकी व्याख्या करके सुनाइये, आपकी कृपासे मेरी बुद्धि सूक्ष्म विषयमें आनन्द माननेलगी है ॥१॥ श्रीकृष्णने कहा, कि–इस विषयमें भी, गुरु और शिष्यमें जो मोक्ष–सम्बन्धी संवाद हुआ था, उस पुरातन इतिहासको दृष्टान्तरूपसे कहते हैं ॥२॥ आसन पर बैठेहुए प्रसिद्ध व्रतवाले एक ब्राह्मण आचार्यसे किसी एक बुद्धिमान् शिष्यने

व्रतम् । शिष्यः पप्रच्छ मेधावी किं स्वित् श्रेयः परन्तप ॥ ३ ॥
भगवन्तं प्रपन्नोऽहं निःश्रेयसपरायणः । याचे त्वां शिरसा विप्र यद्
ब्रूयां ब्रूहि तन्मम ॥ ४ ॥ तमेवं वादिनं पार्थ शिष्यं गुरुरुवाच ह ।
सर्वं तु ते प्रवक्ष्यामि यत्र वै संशयो द्विज ॥ ५ ॥ इत्युक्तः स कुरु-
श्रेष्ठ गुरुणा गुरुवत्सलः । प्रांजलिः परिपप्रच्छ यत्तत् शृणु महा-
मते ॥ ६ ॥ शिष्य उवाच । कुतश्चाहं कुतश्च त्वं तत् सत्यं ब्रूहि
यत् परम् । कुतो जातानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥७॥
केन जीवन्ति भूतानि तेषामायुश्च किं परम् । सत्यं किं किं तपो विप्र
के गुणाः सद्भिरीरिताः ॥ ८ ॥ के पन्थानः शिवाश्च स्युः किं
सुखं किं च दुष्कृतम् । एतान् मे भगवन् प्रश्नान् याथातथ्येन

बूझा, कि—हे परन्तप ! श्रेय क्या पदार्थ है ? श्रेय पर प्रीति रखनेवाला मैं आपके पास आया हूँ, हे विप्र ! शिरसे प्रणाम करके मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ, इसलिये मैं जो कुछ आपसे बूझता हूँ, उसका उत्तर दीजिये ॥ ४ ॥ हे पार्थ ! इसप्रकार कहते हुए उस शिष्यसे गुरुने कहा, कि हे द्विज ! जिस विषयमें तुझे सन्देह होरहा है, वह सब मैं तुझसे कहूँगा ॥ ५ ॥ हे कुरु-श्रेष्ठ ! गुरुने, गुरुके ऊपर प्रीति रखनेवाले उस शिष्यसे इसप्रकार कहा, तब उसने हाथ जोडकर जिसप्रकार बूझा, उसको हे महामते ! तू सुन ॥ ६ ॥ शिष्यने कहा, कि—मैं कहाँसे आया हूँ और तुम कहाँसे आये हो ? इस विषयमें जो परमसत्य हो वह बताइये तथा यह भी कहिये, कि—ये स्थावर जङ्गम भूत कहाँसे आये हैं ? ॥ ७ ॥ सब प्राणी किस कारणसे जीवित रहते हैं ? इनकी आयु कहाँ तक है ? हे विप्र ! सत्य क्या है ? तप क्या है ? तथा सत्पुरुषोंने कितने गुण बताये हैं ? ॥८॥ कल्याणरूप मार्ग कौनसे हैं ? सुख क्या है ? और दुष्कर्म क्या है ? हे भगवन् ! ये ही मेरे प्रश्न हैं, हे सुव्रत ! इनका यथार्थरूपसे उत्तर दीजिये

सुव्रत ॥ ९ ॥ वक्तुं महसि विमर्षं यथावदिह तत्वतः । त्वदन्यः कश्चन प्रश्नानेतान् वक्तुमिहार्हति ॥ १० ॥ ब्रूहि धर्म्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं मम । मोक्षधर्मार्थकुशलो भवांल्लोकेषु गीयते ॥ ११ ॥ सर्वसंशयसंच्छेत्ता त्वदन्यो न च विद्यते । संसारभीरवश्चैव मोक्षकामास्तथा वयम् ॥ १२ ॥ वासुदेव उवाच । तस्मै संप्रतिपन्नाय यथावत् परिपृच्छते । शिष्याय गुणयुक्ताय शान्ताय प्रियवर्त्तिने १३ छायाभूताय दान्ताय यतये ब्रह्मचारिणे । तान् प्रश्नानब्रवीत् पार्थ मेधावी स धृतव्रतः । गुरुः कुरुकुलश्रेष्ठ सम्यक् सर्वानरिन्दम ॥ १४ ॥ गुरुरुवाच । ब्रह्मणोक्तमिदं सर्वमृषिप्रवरसेवितम् । वेदविद्यां समाश्रित्य तत्वभूतार्थभावनम् ॥ १५ ॥ ज्ञानं त्वपरं विद्म

और लोकमें इनका जो तरह हो है विमर्ष । उसको भी कहिये, इस लोकमें आपके सिवाय और कौन इन प्रश्नोंका उत्तर देसकता है ? ॥१०॥ हे धर्मको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! आप यह सब कहिये, इन बातोंको सुननेके लिये मुझे बड़ा चाव होरहा है, लोग कहते हैं, कि-आप मोक्षके धर्मोंका अर्थ समझनेमें चतुर हैं ॥११॥ और आपके सिवाय दूसरा कोई भी सब सन्देहोंको दूर करनेवाला नहीं मिलता तथा हम संसारसे डररहे हैं और मोक्षके अभिलाषी हैं ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण कहते हैं, कि-हे शत्रुनाशी कुरुकुलश्रेष्ठ अर्जुन ! विनयके साथ शरणमें आयेहुए, यथार्थ रीतिसे प्रश्न बूझनेवाले गुणवान्, शान्त, प्यारा वर्त्ताव करनेवाले, छायाकी समान अनुगामी, दम और यमके साधक ब्रह्मचारी शिष्यको, उन बुद्धिमान्, व्रतधारी गुरुने उन सब प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर दिया ॥१३-१४॥ गुरुने कहा, कि-तत्त्वभूत अर्थवाली भावना से भराहुआ यह सब विषय, कि-जिसका उत्तम ऋषियोंने भी सेवन किया है, ब्रह्माने वेदविद्याका आधार लेकर पहले कहा था ॥ १५ ॥ ब्रह्मविषयक ज्ञानको ही हम उत्तम मानते हैं और

संन्यासं तप उत्तमम् । यस्तु वेदनिराबाधं ज्ञानतत्वं विनिश्चयात्।
सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ॥ १६ ॥ यो विद्वन् सह-
सवासं विवासं चैव पश्यति । तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात्
परिमुच्यते ॥ १७ ॥ यो न कामयते किंचिन्न किंचिदभिमन्यते ।
इह लोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १८ ॥ प्रधानगुणतत्वज्ञः
सर्वभूतविधानवित् । निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः १९
अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्। महाहङ्कारविटप इन्द्रियां-
कुरकोटरः २० महाभूतविशेषश्च विशेषप्रतिशाखवान् । सदापर्णः

संन्यास ही उत्तम तप है, जो मनुष्य किसीप्रकारकी भी बाधाके बिना सकल भूतोंमें रहनेवाले आत्मारूप ज्ञानतत्त्वको निश्चयके साथ जानता है,वह मनुष्य सर्वगति मानाजाता है (अर्थात् सकल कामनाओंको भोगनेवाला होता है) ॥ १५ ॥ जो कोई विद्वान् (आगे कहेहुए भेदको जानता है वह, चित् और जडके एकसाथ) निवासको तथा इनके विवासको (भेद) को जानता है तथा (सब वस्तुओंके ईश्वरसे) एकत्व (अभेद) और (व्यवहारमें) अनेकत्वको जानता है वह दुःखसे छूटजाता है ॥ १७ ॥ जो किसी पदार्थकी कामना नहीं करता है, जो किसी वस्तुके लिये अभिमान नहीं करता है, वह इस लोकमें रहताहुआ भी ब्रह्मरूप होता है ॥ १८ ॥ माया और सत्त्वादि गुण इन दोनोंके तत्त्वको जाननेवाला; सकल भूतोंकी उत्पत्तिको जाननेवाला, ममताशून्य और निरहङ्कार पुरुष निःसन्देह मुक्ति पाजाता है ॥ १९ ॥ अव्यक्तरूप बीजसे उत्पन्न हुआ, बुद्धिरूप गुदेवाला, महाअहङ्कार-रूप शाखाओंवाला, इन्द्रियरूप अंकुर और छिद्र (खखोडल) वाला, बडाभारी ॥ २० ॥ महाभूतरूप विशेषतावाला (स्थूल कार्यरूप), विशेष (स्थूलकार्यरूप) टहनियोंवाला सदा सङ्कल्प रूप पत्तोंवाला, सदा कर्मरूप फलोंवाला, सदा शुभ फलरूप

सदापुष्पः सदाशुभफलोदयः ॥ २१ ॥ आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मबीजः सनातनः। एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना २२ छित्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी। भूतभव्यभविष्यादिधर्म्मकामार्थनिश्चयम् ॥२३॥ सिद्धसंघपरिज्ञातं पुराकल्पं सनातनम्। प्रवक्ष्येऽहं महाप्राज्ञ पदमुत्तममद्य ते। बुध्वा यदिह संसिद्धा भवन्तीह मनीषिणः ॥ २४ ॥ उपगम्यर्षयः पूर्वं जिज्ञासन्तः परस्परम्। प्रजापतिभरद्वाजौ गौतमो भार्गवस्तथा। वशिष्ठः कश्यपश्चैव विश्वामित्रोऽत्रिरेव च। मार्गान् सर्वान् परिक्रम्य परिश्रान्ताः स्वकर्मभिः ॥ २६ ॥ ऋषिमाङ्गिरसं वृद्धं पुरस्कृत्य तु ते द्विजाः। ददृशुर्ब्रह्मभवने ब्रह्माणं वीतकल्मषम् ॥ २७ ॥ तं प्रणम्य

उदयवाला ॥ २१ ॥ सदा सकल भूतोंका जीवनरूप और ब्रह्मरूप बीजवाला यह सनातन (वृक्ष) है, ऐसा जानकर ज्ञानरूप तलवारसे सकल तत्त्वोंके रहस्यको काटकर (जानकर) अमरपद पाता है ॥ २२ ॥ जिसमें भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्का तथा धर्म, काम और अर्थका निश्चय होगया है, जिसको सिद्धोंके समूहने भलीप्रकार जानलिया है, जिसकी पहले समयमें कल्पना हुई है और जो सनातन है ॥ २३ ॥ हे महाप्राज्ञ ! उस उत्तम पदका रहस्य आज मैं तुझे सुनाऊँगा, इस लोकमें उस तत्त्वको जानकर चतुर मनुष्य संसिद्ध (मुक्त) होते हैं ॥ २४ ॥ पहले आपसमें जाननेकी इच्छावाले ऋषि इकट्ठे हुए थे,उनमें प्रजापति भरद्वाज और गौतम ॥ २५ ॥ वसिष्ठ और कश्यप, विश्वामित्र और अत्रि ये सब ऋषि सब मार्गोंकी परिक्रमा करके (अर्थात् सब मार्गोंको ठीक२ जानकर अपने२ कर्मोंको करतेहुए) थकगए थे ॥ २६ ॥ वे सब ब्राह्मण वृद्ध अङ्गिरा ऋषिको आगे करके ब्रह्मलोकमें गए और तहाँ निष्पाप ब्रह्माजीका दर्शन किया २७

महात्मानं सुखासीनं महर्षयः । पप्रच्छुर्विनयोपेता नैःश्रेयसमिदं परम् ॥ २८ ॥ कथं कर्म्म क्रियात् साधुः कथं मुच्येत किल्बिषात् । के नो मार्गाः शिवाश्च स्युः किं सत्यं किञ्च दुष्कृतम् । कौ चोभौ कर्म्मणां मार्गौ प्राप्नुयुर्दक्षिणोत्तरौ । प्रलयञ्चापवर्गञ्च भूतानां प्रभवाप्ययौ॥३०॥इत्युक्तः स मुनिश्रेष्ठैर्यदाह प्रपितामहः । तत्तेहं संप्रवक्ष्यामि शृणु शिष्य यथागमम्३१ ब्रह्मोवाच । सत्याद् भूतानि जातानि स्थावराणि चराणि च । तपसा तानि जीवन्ति इति तद्विद्ध सुव्रताः । स्वां योनिं समतिक्रम्य वर्त्तन्ते स्वेन कर्म्मणा३२ सत्यं हि गुणसंयुक्तं नियतं पञ्चलक्षणम् ॥ ३३ ॥ ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यञ्चैव प्रजापतिः । सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥ ३४ ॥ तस्मात् सत्यमया विप्रा नित्यं योगपरायणाः ।

सुखसे बैठेहुए उन महात्माको महर्षियोंने विनयके साथ प्रणाम किया और इस उत्तम श्रेयके विषयमें प्रश्न कियाकि–२८मनुष्य उत्तम कर्मोंको कैसे करे? पापसे कैसे छूटे? हमारे कल्याणकारी मार्ग कौनसे हैं? सत्य क्या है? और दुष्कर्म क्या है? ॥२९॥ (जन्म मरणरूप कर्मसे प्राप्त होनेवाले) उत्तर और दक्षिणरूप दो मार्ग कैसे प्राप्त होते हैं? प्रलय क्या है? मोक्ष क्या है? भूतोंके जन्म और मरण क्या हैं? ॥ ३० ॥ उन श्रेष्ठ मुनियोंने ऐसा कहा, तब उन पितामहने जो कुछ उत्तर दिया था, हे शिष्य! उसको शास्त्रानुसार कहता हूँ, सुन ॥३१॥ ब्रह्माने कहा, स्थावर और जङ्गम भूत सत्यमेंसे उत्पन्न हुए हैं और वे तप (कर्म) से जीते हैं, हे सुव्रतो! ऐसा जानो, वे अपनी योनि (मूल–ब्रह्म) को छोडकर अपने कर्मके बलसे जीते हैं ॥ ३२ ॥ क्योंकि–गुण युक्त सत्य सदा पाँच प्रकारका होता है ॥ ३३ ॥ ब्रह्म सत्य है, तप सत्य है, और प्रजापति सत्य है, सत्यमेंसे भूत उत्पन्न हुए हैं और भूतमय यह जगत् सत्य है ॥३४॥ इसलिये योगमें लगे

अतीतक्रोधसन्तापा नियता धर्म्मसेविनः ॥ ३५ ॥ अन्योन्यनियतान् वैद्यान् धर्म्मसेतुप्रवर्त्तकान्। तानहं संप्रवक्ष्यामि शाश्वतांल्लोकभावनान् ॥३६॥ चातुर्विध्यं तथा वर्णांश्चातुराश्रमिकान् पृथक्। धर्म्ममेकं चतुष्पादं नित्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ३७ ॥ पन्थानं वः प्रवक्ष्यामि शिवं क्षेमकरं द्विजाः। नियतं ब्रह्मभावाय गतं पूर्वं मनीषिभिः ॥ ३८ ॥ गदन्तस्तं मयाद्येह पन्थानं दुर्विदं परम्। निबोधत महाभागा निखिलेन परं पदम् ॥ ३९ ॥ ब्रह्मचारिकमेवाहुराश्रमं प्रथमं पदम्। गार्हस्थ्यन्तु द्वितीयं स्याद्वानप्रस्थमतः परम्। ततः परन्तु विज्ञेयमध्यात्मं परमं पदम् ॥ ४० ॥ ज्योतिराकाशमादित्यो वायुरिन्द्रः प्रजापतिः। नोपैति यावदध्यात्मं तावदेतान्न

रहनेवाले, क्रोध और सन्तापशून्य, नियमोंका पालन करनेवाले धर्मसेवी ब्राह्मण सत्यका आश्रय लेते हैं॥३५॥आपसमें एक दूसरेको नियममें रखनेवाले, धर्मरूप सेतुके प्रवर्त्तक, जो विद्यावान् और शाश्वत हैं तथा लोकोंको कल्याणमार्गमें चलाते हैं, उनके विषय में मैं कहूँगा ॥ ३६ ॥ चार विद्या और चार आश्रमोंवाला, चार वर्ण और चार पगोंवाला, एक धर्म नित्य है, ऐसा चतुर पुरुष कहते हैं॥ ३७ ॥ हे ब्राह्मणो ! (अब) मैं तुम्हें कल्याणकारी क्षेम करनेवाला मार्ग बताऊँगा, जो मार्ग नित्य है और जिस मार्गसे पहले चतुर पुरुष ब्रह्मभावको प्राप्त होगए हैं ॥ ३८ ॥ हे महाभागो ! हे वेदका प्रवचन करनेवालो ! इस लोकमें बड़ी कठिनतासे जाननेमें आनेवाले उस महान मार्गके विषयमें आज मैं कहूँगा, परमपदके विषयमें उस मेरे कथनको पूर्ण रीतिसे सुनो ॥ ३९ ॥ कहते हैं, कि–ब्रह्मचारियोंका आश्रम पहला है, गृहस्थोंका आश्रम दूसरा है, वानप्रस्थका आश्रम उसके बाद है और उसके बाद परमपदरूप संन्यासाश्रम हैं, उसको ही अध्यात्म जानो ॥ ४० ॥ ज्योति, आकाश, आदित्य, वायु, इन्द्र

पश्यति ॥४१॥ तस्योपायं प्रवक्ष्यामि पुरस्तात्तन्निबोधत । फल-मूलानिलभुजां मुनीनां वसतां वने ॥ ४२ ॥ वानप्रस्थं द्विजातीनां-त्रयाणामुपदिश्यते । सर्वेषामेव वर्णानां गार्हस्थ्यं तद्विधीयते ॥ ४३ ॥ श्रद्धालक्षणमित्येवं धर्म्मं धीराः प्रचक्षते । इत्येवं देवयाना वः पन्थानः परिकीर्त्तिताः । सद्भिरध्यासिता धीरः कर्म्मभिर्धर्म्मसेतवः ॥ ४४ ॥ एतेषां पृथगध्यास्ते यो धर्म्मं शंसितव्रतः । कालात् पश्यति भूतानां सदैव प्रभवाप्ययौ ॥४५॥ अतस्तत्त्वानि वक्ष्यामि याथातथ्येन हेतुना । विषयस्थानि सर्वाणि वर्त्तमानानि भागशः ॥ ४६ ॥ महानात्मा तथाव्यक्तमहङ्कारस्तथैव च । इन्द्रियाणि दशैकं च महाभूतानि पंच च ॥ ४७ ॥ विशेषा

प्रजापति ये सब जबतक अध्यात्मज्ञान नहीं होता है तब तक ही देखनेमें आते हैं-(अध्यात्मज्ञान होते ही ये सब मिथ्या मालूम होने लगते हैं) ॥ ४१ ॥ उस अध्यात्मज्ञानका उपाय मैं पहले कहूँगा, उसको तुम सुनो–फल, मूल और वायुका भोजन करने वाले मुनि जब वनमें रहते हैं ॥४२॥ तब वानप्रस्थ कहलाता है, उसका तीन द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) के लिये उपदेश किया है और गृहस्थाश्रमका विधान सब (चारों) ही वर्णोंके लिये है ॥ ४३ ॥ धीर पुरुष कहते हैं, कि–धर्मका लक्षण श्रद्धा है, इसप्रकार तुम्हें देवलोकमें जानेके मार्ग सुनादिये हैं, साधु और धीर पुरुष कर्मोंके द्वारा धर्मरूप पुल पर (मार्गमें) चलते हैं ॥ ४४ ॥ जो पुरुष श्रेष्ठ व्रतको धारण करके ऊपरके धर्मोंमेंसे एक२ धर्मका भी दृढ़तासे सेवन करता है वह कुछ समयमें प्राणियोंके जन्म मरणके स्वरूपको जानजाता है ॥ ४५ ॥ इसलिये जैसा है तैसा, हेतुसहित, सकल वर्त्तमान विषयोंमें थोड़े२ भागसे वर्त्तमान तत्त्वोंके विषयमें मैं कहूँगा ॥४६॥ महान् आत्मा, अव्यक्त, अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियें और पञ्चमहाभूत ॥४७॥ पंचभूतोंके

पञ्चभूतानामिति सर्गः सनातनः । चतुर्विंशतिरेका च तत्त्व-संख्या प्रकीर्तिता ॥ ४८ ॥ तत्त्वानामथ यो वेद सर्वेषां प्रभवाप्ययौ । स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ४९ ॥ तत्त्वानि यो वेदयते यथातथं गुणांश्च सर्वानखिलाश्च देवताः । विधूतपाप्मा प्रविमुच्य बन्धनं स सर्वलोकानमलान् समश्नुते ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मोवाच । तदव्यक्तमनुद्रिक्तं सर्वव्यापि ध्रुवं स्थिरम् । नवद्वारं पुरं विद्यात् त्रिगुणं पञ्चधातुकम् ॥ १ ॥ एकादशपरिक्षेपं मनोव्याकरणात्मकम् । बुद्धिस्वामिकमित्येतत् परमेकादशं भवेत् ॥ २ ॥ त्रीणि स्रोतांसि यान्यस्मिन्नाप्यायन्ते पुनः पुनः । प्रणाड्यस्तिस्र एवैताः प्रवर्त्तन्ते गुणात्मिकाः ॥ ३ ॥ तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणाने-

---

विशेष अर्थात् शब्दादि गुण, इन चौबीस तत्त्वोंकी उत्पत्ति सनातन कालकी है, और इनके सिवाय एक पुरुष, इसप्रकार गिनतीमें पचीस तत्त्व कहे हैं ॥ ४८ ॥ जो मनुष्य सब तत्त्वोंकी उत्पत्ति और लयको समझता है वह सब भूतोंमें धीर मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता है ॥ ४९ ॥ जो मनुष्य तत्त्वोंके सब गुणोंको और सब (अधिष्ठात्री) देवताओंको ठीक२ जानता है वह पापसे छूटजाता है, बन्धनोंसे छूटाहुआ वह मनुष्य सकल दिव्य लोकोंको भोगता है ॥ ५० ॥ पतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ ॥

ब्रह्माने कहा, कि–वह अव्यक्त, अस्पष्ट, सर्वव्यापी, ध्रुव, स्थिर, सत्त्व–रज–तम इन तीन गुणोंवाले, पञ्चभूतमय नौ द्वारवाले पुरमें रहता है ॥ १ ॥ वह ग्यारह इन्द्रियोंसे घिराहुआ है, उसमें मन व्यक्तिभाव (भेदभाव) करनेवाला है, उसमें बुद्धि स्वामी है, यह एकादशवाला पुर परब्रह्म है ॥ २ ॥ इसमें जो तीन सोते हैं वे वार२ भरते हैं, वे तीन नाडियें हैं और गुणरूप

तान् प्रचक्षते । अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः ॥४॥
अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्त्तिनः। अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च
त्रिगुणाः पञ्च धातवः ॥ ५ ॥ तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं
रजः । रजसश्चापि सत्त्वं स्यात् सत्त्वस्य मिथुनं तमः ॥ ६ ॥
नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्त्तते । नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं
तत्र प्रवर्त्तते ॥ ७ ॥ नैशात्मकं तमो विद्यात् त्रिगुणं मोह-
संज्ञितम् । अधर्मलक्षणश्चैव नियतं पापकर्म्मसु ॥ ८ ॥ तामसं
रूपमेतत्तु दृश्यते चापि सङ्गतम् । प्रकृत्यात्मकमेवाहू रजः
पर्य्यायकारकम् । प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यन्युत्पत्तिलक्षणम् ॥ ९ ॥

हैं ॥ ३ ॥ तम, रज तथा सत्त्व इनको गुण कहते हैं, ये सब एक दूसरेके साथ होकर रहते हैं और एक दूसरेके आधारसे जीवित रहते हैं ॥४॥ एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली, तथा एक दूसरेके पीछे जानेवाली तथा एक दूसरीके साथ रहनेवाली इन तीन गुणोंवाली पाँच धातु हैं ॥ ५ ॥ तमका जोडा सत्त्व है (तमके बढ़ने पर सत्त्वका नाश होजाता है और सत्त्वके बढ़ने पर तमका नाश होजाता है) सत्त्वका जोडा रज है, रज का जोडा सत्त्व है और सत्त्वका जोडा तम है (यहाँ जोड़ेका अर्थ परस्पर प्रतिद्वन्द्वी है, क्योंकि—ये एक दूसरेका उद्दीपन तथा नाश करनेवाले हैं) ॥६॥ जहाँ तमोगुणको नियममें कियाजाता है वहाँ रजोगुण बढ़ने लगता है और जहाँ रजोगुणको नियममें कियाजाता है वहाँ सत्त्वगुण बढ़ने लगता है ॥७॥ तम रात्रिरूप (अन्धकारमय) है, त्रिगुणवाला है और इसका नाम मोह भी है, अधर्मरूप है और पापकर्मोंकी ओरको लेजाता है, यही तमो-गुणका रूप है तथा इसको दूसरेका सङ्ग भी होता है ॥ ८ ॥ रजोगुणको लोग प्रकृतिरूप कहते हैं, यह पर्याय (कार्यपरम्परा) का करनेवाला है, सकल भूतोंमें इसकी प्रवृत्ति मालूम होती है

प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता । सात्त्विकं रूपमेवन्तु लाघवं साधुसम्मितम् ॥ १० ॥ एतेषां गुणतत्त्वानि प्रचयन्ते तत्त्वहेतुभिः। समासव्यासयुक्तानि तत्त्वतस्तान्निबोधत ॥ ११ ॥ सम्मोहोऽज्ञान-मत्यागः कर्मणामविनिर्णयः । स्वप्नः स्तम्भो भयं लोभः शोकः सुकृतदूषणम् ॥ १२ ॥ अस्मृतिश्चाविपाकश्च नास्तिक्यं भिन्न-वृत्तिता । निर्विशेषत्वमन्धत्वं जघन्यगुणवृत्तिता ॥ १३ ॥ अकृते कृतमानित्वमज्ञाने ज्ञानमानिता । अमैत्री विकृताभावो ह्यश्रद्धा मूढभावना॥१४॥अनार्जवमसज्ञत्वं कर्म पापमचेतना। गुरुत्वं सन्न-भावत्वमवशित्वमवाग्गतिः ॥ १५ ॥ सर्व एते गुणा वृत्तास्तामसाः संप्रकीर्तिताः।ये चान्ये विहिता भावा लोकेऽस्मिन भावसंज्ञिताः१६

और यह सबकी उत्पत्ति करनेवाला है ॥ ९ ॥ सकल भूतोंमें प्रकाश, हलकापन (धर्म ज्ञान आदिरूप अच्छापन) और श्रद्धालुपना यह सत्त्वगुणका रूप है, इसको लघु तथा श्रेष्ठ माना है ॥ १० ॥ इन तीनों गुणोंके कार्य, कारणोंके सहित संक्षेपमें और विस्तारसे कहेजायँगे, तुम उनको गुनो ॥ ११ ॥ संमोह, अज्ञान, दान न करना, कर्मोंका निर्णय न करना, स्वप्न, गर्व, भय, लोभ, शोक, पुण्य कर्मोंमें दोष लगाना ॥ १२ ॥ स्मरण न रहना, बुद्धिरहितपना, नास्तिकता, शीलभङ्ग करना,निर्विशेषता (यह काम योग्य है या नहीं इस पर ध्यान न रखना), अंधापन, निन्दित गुणों पर प्रेम होना ॥१३॥ न कियेहुए कामको किया हुआ मानना, अज्ञानमें ज्ञान मानना,किसीसे मित्रभाव न रखना, हरएक बातको उलटदेना, अश्रद्धा, मूर्खताभरे विचार ॥ १४ ॥ सरलता न होना, संज्ञा न होना, पापकर्म, अचेतपना, आलस्य आदिसे शरीरका भारी रहना, देवता साधु आदिके ऊपर भक्ति न होना, इन्द्रियोंका वशमें न रहना,नीच कर्मोंके ऊपर अनुराग१५ ये सब लक्षण तमोगुणसे होनेवाले कहे हैं तथा इस लोकमें और

तत्र तत्र नियम्यन्ते सर्वे ते तामसा गुणाः । परिवादकथा नित्यं देव ब्राह्मणवैदिकी ॥ १७ ॥ अत्यागश्चाभिमानश्च मोहो मन्युस्तथाऽक्षमा । मत्सरश्चैव भूतेषु तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १८ ॥ वृथारम्भा हि ये केचित् वृथा दानानि यानि च । वृथाभक्षणमित्येतत् तामसं वृत्तमिष्यते ॥ १९ ॥ अतिवादोऽतितिक्षा च मात्सर्यमभिमानिता । अश्रद्दधानता चैव तामसं वृत्तमिष्यते ॥ २० ॥ एवंविधाश्च ये केचिल्लोकेऽस्मिन् पापकर्मिणः । मनुष्या भिन्नमर्यादास्ते सर्वे तामसाः स्मृताः ॥ २१ ॥ तेषां योनीः प्रवक्ष्यामि नियताः पापकर्मणाम् । अवाङ् निरयभावाय तिर्यङ्निरयगामिनः ॥ २२ ॥

भी जो ऐसे ही पदार्थ हों उनको तमोगुणी जानो ॥ १६ ॥ जिन२ पदार्थोंमें नियमके साथ तमोगुण रहता है, वे सब पदार्थ तामस वा तमोगुणी कहलाते हैं, नित्य देवता, ब्राह्मण और वेदकी निन्दा करना, दान न करना, अभिमान, मोह, क्रोध, क्षमा न करना, और देखजलनापन यह प्राणियोंमें तमोगुणी आचरण कहलाता है ॥१७-१८॥ बिना प्रयोजनके किसी कामको करने लगना, अनुचित समय पर अयोग्य वस्तुका अपनी योग्यतासे अधिक अपात्रको दान देना, देवताको बिना अर्पण किये और बिना भूखके भोजन करना, यह भी तामस आचरण कहलाता है ॥१९॥ अधिक विवाद करना, असहनशीलता, देखजलनापन, अभिमानीपन, और अश्रद्धालुपना यह तमोगुणी आचरण कहलाता है ॥ २० ॥ लोकमें ऐसे दोषोंवाले, पापकर्म करनेवाले और मर्यादा तोडनेवाले जो कोई हों वे सब तमोगुणी कहलाते हैं ॥२१॥ ऐसे पाप कर्म करनेवाले मनुष्य जहाँ नित्य उत्पन्न होते हैं, उन योनियोंको मैं कहूँगा, उनका जन्म नरकमें पड़नेके लिये नियत होता है, ऐसे प्राणी पक्षीयोनिमें जन्मते हैं और नरकमें पडते हैं ॥ २२ ॥ वे वृक्ष पहाड आदि स्थावरोंमें जन्म

स्थावराणि च भूतानि पशवो वाहनानि च। क्रव्यादा दन्दशूकाश्च कृमिकीटा विहङ्गमाः ॥ २३ ॥ अण्डजा जन्तवश्चैव सर्वे चापि चतुष्पदाः। उन्मत्ता बधिरा मूका ये चान्ये पापरोगिणः॥२४॥ मग्नास्तमसि दुर्वृत्ताः स्वकर्मकृतलक्षणाः अवाक्स्रोतस इत्येते मग्नास्तमसि तामसाः ॥ २५ ॥ तेषामुत्कर्षमुद्रेकं वक्ष्याम्यहमतः परम्। यथा ते सुकृतांल्लोकांल्लभन्ते पुण्यकर्मिणः ॥२६॥ अन्यथा प्रतिपन्नास्तु विवृद्धा ये च कर्मणः। स्वकर्मनिरतानां च ब्राह्मणानां शुभैषिणाम्॥२७॥ संस्कारेणोर्ध्वमायान्ति यतमानाः सलोकताम्। स्वर्गं गच्छन्ति देवानामित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥ २८ ॥ अन्यथा प्रतिपन्नास्ते विवृद्धाः स्वेषु कर्मसु। पुनरावृत्तधर्माणस्ते

होते हैं, पशुओंमें उत्पन्न होते हैं, बोझा ढोनेवाले वाहन होते हैं, मांसभक्षी होते हैं, साँप होते हैं, कृमि, कीड़े, और पक्षी होते हैं।२३। अण्डेमेंसे जन्म लेनेवाले जन्तु होते हैं, चौपाये पशु, पागल, बहरे, गूँगे और कोढी आदि पापरोगी होते हैं ॥२४॥ अपने२ कर्मोंके अनुसार जिनके ऐसे२ लक्षण होते हैं उनको दुष्ट आचरणवाले, जिनके चित्तका प्रवाह नीचकर्मोंकी ओरको ढलता है ऐसे अवाक् स्रोतस् कहते हैं, ये तामस प्राणी तमस्में डूबे रहते हैं ॥ २५ ॥ अब आगेको इनका उत्कर्ष और उद्रेक (पुण्यका आविर्भाव कैसे होता है) तथा पुण्यकर्म करनेवालोंको जो उत्तम लोक मिलते हैं वे लोक इनको कैसे मिलते हैं, यह कहूँगा ॥२६॥ पशु पक्षीकी तथा स्थावरोंकी योनिमें उत्पन्न होनेवालोंको, अपने कर्मानुष्ठान में लगे रहनेवाले और जगत्का कल्याण चाहनेवाले ब्राह्मण यज्ञ कर्ममें बलिरूपसे काममें लाते हैं, तब वे वैदिक संस्कारोंसे संस्कारवाले होकर देवताओंके स्वर्गलोकमें जाते हैं, यह वेदकी श्रुति है ॥ २७-२८ ॥ (मनुष्यके सिवाय) दूसरी योनियोंमें उत्पन्न हुए और अपने कर्मोंको अच्छे प्रकारसे जाननेवाले इस

भवन्तीह मानुषाः ॥ २९ ॥ पापयोनिं समापन्नाश्चाण्डाला मूकचूचुकाः । वर्णान् पर्य्यायशश्चापि प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥ ३० ॥ शूद्रयोनिमतिक्रम्य ये चान्ये तामसा गुणाः । स्रोतोमध्ये समागम्य वर्त्तन्ते तामसे गुणे ॥ ३१ ॥ अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः । ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः ॥ ३२ ॥ तमो मोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः । मरणं त्वन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते ॥ ३३ ॥ वर्णतो गुणतश्चैव योनितश्चैव तत्त्वतः । सर्वमेतत्तमो विप्रा कीर्तितं वो यथाविधि ॥ ३४ ॥ कोऽन्वेतद्बुध्यते साधु कोऽन्वेतत् साधु पश्यति । अतत्त्वे तत्त्वदर्शी यस्तमस-

लोकमें बार २ (जन्म मरणकी) आवृत्तिरूप धर्मवाले मनुष्य बनते हैं ॥ २९ ॥ वे पापियोंकी योनियोंमें जन्म लेते हैं और चाण्डाल, गूँगे तथा हकले, तोतले होते हैं, तदनन्तर एकके बाद दूसरेमें, इसप्रकार उत्तरोत्तर ऊँचे वर्णमें जन्म लेते चलेजाते हैं ३० शूद्रयोनिको लाँघकर अर्थात् मनुष्य जन्म होते ही वैश्य आदिकी योनिमें आनेवाले दूसरे जो तामसोंके गुण हैं वे तमोगुणके प्रवाहमें इकट्ठे होकर तामस गुणोंमें रहते हैं (इसलिये उनसे अपनी रक्षा करे । यह श्लोक कूट है और इसका अर्थ स्पष्ट समझमें नहीं आता) ॥ ३१ ॥ कामके विषयोंमें आसक्तिको महामोह कहते हैं, सुख चाहनेवाले ऋषि मुनि और देवता इस विषयमें मोहित होजाते हैं ॥ ३२ ॥ तम (अविद्या), मोह (अहंरूप), महामोह (अहं ब्रह्मास्मिरूप), क्रोध नामवाला तामिस्र और मरण नामवाला अन्धतामिस्र (ये पाँच महाक्लेश हैं) क्रोध पदसे तामिस्र ही कहा है (द्वेषको नहीं लिया है) ॥ ३३ ॥ हे विप्रो! वर्ण, गुण, योनि और तत्त्व (रहस्य) के अनुसार जो तामस हैं उन सबोंको मैंने कहदिया ॥ ३४ ॥ इसको ठीक २ कौन समझता है ? और ठीक २ कौन देखता है ? जो अतत्त्वमें तत्त्वको

स्तत्तस्य लक्षणम् ॥ ३५ ॥ तमो गुणा बहुविधाः प्रकीर्त्तिता यथावदुक्तं च तमः परावरम् । नरो हि यो वेद गुणानिमान् सदा स तामसैः सर्वगुणैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

ब्रह्मोवाच । रजोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तमाः । निबोधत महाभागा गुणवृत्तं च राजसम् ॥ १ ॥ संतापो रूपमायासः सुखदुःखे हिमातपौ । ऐश्वर्य्यं विग्रह-सन्धिर्हेतुवादोऽरतिः क्षमा ॥ २ ॥ बलं शौर्य्यं मदो रोषो व्यायामकलहावपि । ईर्ष्येप्सा पैशुनं युद्धं ममत्वं परिपालनम् ॥ ३ ॥ वधबन्धपरिक्लेशो क्रयो विक्रय एव च । निकृन्त छिन्धि भिन्धीति परवर्मापकर्त्तनम् ॥४॥ उग्रं दारुणमाक्रोशः परच्छिद्रानुशासनम् । लोकचिन्तानुचिन्ता च

देखता है वही तामस है और यही उसका लक्षण है ॥ ३५॥ तम के अनेकों प्रकारके गुण कहदिये हैं, उत्तम और हलका तमोगुण भी यथार्थ रीतिसे कहदिया है, जो मनुष्य इन गुणोंको जानता है वह सदा तमके सकल गुणोंसे मुक्त रहता है ॥३६॥ छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ ॥ छ ॥

ब्रह्माने कहा कि—हे सत्तमो ! अब तुम्हें रजोगुणका जैसा स्वरूप है वह सुनाऊँगा, हे महाभागो ! तुम रजोगुणके इतिहास को समझो ॥ १ ॥ सन्तापरूप परिश्रम, सुख और दुःख, सरदी और गरमी, ऐश्वर्य, विग्रह, सन्धि, हेतुवाद (कारण दिखाकर विवाद करना, अरति (प्रेमभाव न होना) क्षमा ॥ २ ॥ बल, शूरता, मद रोष, कसरत, कलह, ईर्षा, इच्छा, शठता युद्ध, ममता, परिपालन ॥ ३ ॥ वध, बन्ध, परिक्लेश, खरीदना, बेचना टुकड़े २ करना, तोडदो, काटदो, कहकर दूसरेके पहरे हुए वख्तर को तोडदेना ॥ ४ ॥ उग्रता और कठोरताके साथ चिल्लाना,

मत्सरः परिपालनम् ॥ ५ ॥ मृषावादो मृषादानं विकलः परिभाषणम् । निन्दा स्तुतिः प्रशंसा च प्रतापः परिधर्षणम् ॥ ६ ॥ परिचर्य्यानुशुश्रूषा सेवा तृष्णा व्यपाश्रयः । व्यूहो नयः प्रमादश्च परिवादः परिग्रहः ॥ ७ ॥ संस्कारा ये च लोकेषु प्रवर्त्तन्ते पृथक् पृथक् । नृषु नारीषु भूतेषु द्रव्येषु शरणेषु च ॥ ८ ॥ सन्तापोऽप्रत्ययश्चैव व्रतानि नियमाश्च ये । आशीर्युक्तानि कर्माणि पौर्त्तानि विविधानि च ॥ ९ ॥ स्वाहाकारो नमस्कारः स्वधाकारो वषट्क्रिया । याजनाध्यापने चोभे यजनाध्ययने अपि ॥ १० ॥ दानं प्रतिग्रहश्चैव प्रायश्चित्तानि मङ्गलम् । इदं मे स्यादिदं मे स्यात् स्नेहो गुणसमुद्भवः ॥ ११ ॥ अभिद्रोहस्तथा माया निकृतिर्मान

दूसरोंके छिद्रोंकी चर्चा, संसारकी चिन्ता करना, दूसरेको चिन्तामें देखकर चिन्ता करना, मत्सरता, ललकारके साथ बातें करना ५ मिथ्या विवाद, मिथ्या दान, निर्बल विचार, अधिक बक २ करना, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रौढि दिखाना, धमकाना ॥६॥ रोगीकी परिचर्या, बड़ोंकी आज्ञाका पालन, सेवा, तृष्णा, खोटोंका आश्रय, व्यूह (व्यवहारमें) चतुरता, नय (विनय या काम करनेकी नीति) प्रमाद, परिवाद (झगड़ा), परिग्रह (स्वीकार) ७ लोकोंमें, पुरुषोंमें स्त्रियोंमें, भूतोंमें, और घरोंमें द्रव्योंमें अलग२ जो संस्कार होते हैं वे ॥ ८ ॥ सन्ताप, अविश्वास, व्रत, नियम, आशीर्वादयुक्त कर्म और नानाप्रकारके पूर्त्त (वापी, कूप, तडाग आदि पुण्य) कर्म ॥ ९ ॥ स्वाहाकार, नमस्कार, स्वधाकार, वषट्कार यज्ञ कराना, पढ़ाना, यज्ञ करना और स्वयं शास्त्र पढ़ना १० दान देना, दान लेना, प्रायश्चित्त करना, मङ्गलकर्म करना, मुझे यह भी मिलजाय, मुझे यह भी मिलजाय—ऐसी इच्छा, सद्गुणोंकी उत्पत्तिमें प्रेम ॥ ११ ॥ हरएकसे द्रोह, धोखा, ठगई, मान और अपमान, चोरी, हिंसा, छुपानेकी इच्छा, स्वजनके

एव च । स्तैन्यं हिंसा जुगुप्सा च परितापः प्रजागरः ॥ १२ ॥
दम्भो दर्पोऽथ रागश्च भक्तिः प्रीतिः प्रमोदनम् । द्यूतञ्च जनवादश्च सम्बन्धाः स्त्रीकृताश्च ये ॥ १३ ॥ नृत्यवादित्रगीतानां प्रसङ्गा ये च केचन । सर्वे एते गुणा विप्रा राजसाः संप्रकीर्त्तिताः ॥ १४ ॥
भूतभव्यभविष्याणां भावना भुवि भावनाः । त्रिवर्गनिरता नित्यं धर्मोऽर्थे काम इत्यपि ॥ १५ ॥ कामवृत्ताः प्रमोदन्ते सर्वकामसमृद्धिभिः । अर्वाक्स्रोतस इत्येते मनुष्या रजसावृताः ॥ १६ ॥
अस्मिँल्लोके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः । प्रेत्य भाविकमीहन्ते ऐहलौकिकमेव च । ददति प्रतिगृह्णन्ति तर्पयन्त्यथ जुह्वति । रजो

वियोगसे दुःख, अधिक जागना ॥ १२ ॥ दम्भ, दर्प, प्रीति, भक्ति, सन्तोष दूसरोंको प्रसन्न करना, जुआ, जनवाद (दूसरोंका चकरवा करना) स्त्रियोंके कारणसे होनेवाले संबन्ध ॥ १३ ॥ नाचने, बजाने और गानेके सब प्रकारके प्रसङ्ग हे ब्राह्मणो ! ये सब गुण राजस कहलाते हैं ॥ १४ ॥ जो भूमिपर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कालके विचार करते हैं तथा जिनकी धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग पर नित्य प्रीति रहती है ॥ १५ ॥ जो कामनावाला आचरण करते हैं, जो कामना पूरी करनेवाली सम्पदासे बड़े ही प्रसन्न होते हैं, उनको अर्वाक्स्रोतस् (स्वर्गसे नीचेको गिरनेके प्रवाहवाला) कहते हैं, ऐसे मनुष्योंका वर्त्ताव राजस कहलाता है ॥ १६ ॥ ऐसे प्राणी इस लोकमें बार २ जन्म लेकर मौज करते हैं, वे इस लोकमें मृत्युके वशमें होनेवाले मनुष्योंकी और इस लोककी भावनाओंकी इच्छा करते हैं, दान देते हैं और दान लेते हैं, तर्पण और यज्ञ करते हैं ॥ १७ ॥ रजसके गुण तुम्हें बहुत प्रकारसे सुनादिये तथा जिसप्रकार इस मार्गमें पहुँचते हैं वह भी तुमको यथार्थरूपसे बता दिया जो

गुणा वो बहुधा प्रकीर्त्तिताः यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च। नरोपि यो वेद गुणानिमान् सदा स राजसैः सर्वगुणैर्विमुच्यते ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मोवाच। अतः परं प्रवक्ष्यामि तृतीयं गुणमुत्तमम्। सर्वभूतहितं लोके सतां धर्म्ममनिन्दितम् ॥ १ ॥ आनन्दः प्रीतिरुद्रेकः प्राकाश्यं सुखमेव च। अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः श्रद्धानता २ क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्। अक्रोधश्चानसूया च शौचं दाक्ष्यं पराक्रमः३मुधाज्ञानं मुधावृत्तं मुधासेवा मुधाश्रमः। एवं यो युक्तधर्म्मः स्यात् सोऽमुत्रात्यन्तमश्नुते ॥ ४ ॥ निर्ममो निरहङ्कारो निराशीः सर्वतः समः। अकामभूत इत्येव सतां धर्म्मः

मनुष्य इन गुणोंको जानता है, वह सदा रजसके सब गुणोंसे मुक्त रहता है ॥ ॥ १८ ॥ सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥

ब्रह्माजीने कहा, कि—अब मैं तीसरे उत्तम गुणके विषयमें कहूँगा, कि—जो इस लोकमें सकल भूतोंका हित करनेवाला है, जो साधुओंका धर्म है और जिस की निन्दा नहीं होसकती १ आनन्द, प्रीति (सन्तोष), उद्रेक (उन्नति), प्रकाश और सुख, कृपण न होना, झंझटसे वचे रहना, सन्तोष, श्रद्धा रखना२ क्षमा, धीरज, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, क्रोध न होना, देखजलनापन न होना, पवित्रता, चतुरता और पराक्रम (ये सत्त्वके गुण हैं) ॥३॥ शास्त्रोंका बहुतसा ज्ञान निरर्थक है, चरित्रवान् बननेका यत्न करना निरर्थक है, सेवा निरर्थक है, श्रम निरर्थक है, ऐसा जानकर जो योगधर्मवाला होता है वह, अन्य लोकमें जो अत्यन्त अविनाशी स्थान है उसमें जाता है ॥ ४ ॥ ममतारहित, अहङ्काररशून्य, आशारहित (जिसकी आशायें पूर्ण होचुकी हैं वह) सब ओर समदृष्टि रखना और कामना

सनातनः ॥५॥ विस्रम्भो ह्रीस्तितिक्षा च त्यागः शौचमतन्द्रिता । आनृशंस्यमसंमोहो दया भूतेष्वपैशुनम् ॥ ६ ॥ हर्षस्तुष्टिर्विस्मयश्च विनयः साधुवृत्तिता । शान्तिकर्मणि शुद्धिश्च शुभा बुद्धिर्विमोचनम् ॥ ७ ॥ उपेक्षा ब्रह्मचर्यं च परित्यागश्च सर्वशः । निर्ममत्वमनाशीष्ट्वमपरिक्षतधर्मता ॥ ८ ॥ मुधा दानं मुधा यज्ञो मुधाधीतं मुधा व्रतम् । मुधा प्रतिग्रहश्चैव मुधा धर्मो मुधा तपः ॥ ९ ॥ एवं वृत्तास्तु ये केचिल्लोकेऽस्मिन् सत्त्वसंश्रयाः। ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ १० ॥ हित्वा सर्वाणि पापानि निःशोका ह्यथ मानवाः । दिवं प्राप्य तु ते धीराः कुर्वते वै ततस्तनूः ॥११॥ ईशित्वञ्च वशित्वञ्च लघुत्वं मनसश्च ते । विकुर्वते महात्मानो

का लेशमात्र भी न होना यह सकल साधुओंका सनातनधर्म है॥५॥ विश्वास, लज्जा, क्षमा, त्याग, शुद्धता, आलस्यरहित होना, क्रूर न होना, मोहमें न पड़ना, प्राणियोंके ऊपर दया करना, किसीकी निन्दा न करना ॥६॥ हर्ष, सन्तोष, विस्मय, विनय, साधुओंका वर्त्ताव, शान्तिकर्ममें शुद्धि, शुभबुद्धि, आसक्तिमेंसे छूटना ॥७॥ उदासीनता, ब्रह्मचर्य, सब प्रकारसे त्याग, निर्ममता, आशारहितपना इसप्रकार धर्मका पालन करना, कि-जिसमें जरा भी क्षति न होनेपावे ॥ ८ ॥ दान मिथ्या है, यज्ञ मिथ्या है, अभ्यास मिथ्या है, व्रत मिथ्या है, दानलेना मिथ्या है, धर्मका पालन मिथ्या है और तप मिथ्या है, ऐसा मानकर आत्मविचारमें मग्न रहनेवालोंको सत्त्वगुणी जानो ॥ ९ ॥ ऐसे वर्त्तावाले जो कोई लोग इस लोकमें होते हैं वे सत्त्वगुणका आश्रय लेनेवाले ब्राह्मण, परब्रह्म पर श्रद्धा रखनेवाले होते हैं, वे धीर और साधुदर्शी (ज्ञानी) होते हैं ॥ १० ॥ ऐसे मनुष्य सकल पापोंको त्याग कर शोकरहित होते हैं और वे धीर मनुष्य स्वर्गमें पहुँचकर तहाँ अपने २ शरीरोंको गढ़ते हैं ॥ ११ ॥ ईशित्व (आज्ञा चलाने

देवास्त्रिदिवगा इव ॥१२॥ ऊर्ध्वस्रोतस इत्येते देवा वैकारिकाः स्मृताः। विकुर्वंतः प्रकृत्या वै दिवं प्राप्तास्ततस्ततः ॥१३॥ यद्यदिच्छन्ति तत् सर्वं लभन्ते विभजन्ति च। इत्येतत् सात्त्विकं वृत्तं कथितं वो द्विजर्षभाः॥ १४॥ एतद्विज्ञाय विधिवल्लभते यद्यदिच्छति। प्रकीर्त्तिताः सत्त्वगुणा विशेषतो यथावदुक्तं गुणवृत्तमेव च। नरस्तु यो वेद गुणानिमान् सदा गुणान् स भुंक्ते न गुणैः स युज्यते॥ १५॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे अष्टत्रिंशोऽध्यायः॥ ३८॥

ब्रह्मोवाच। नैव शक्या गुणा वक्तुं पृथक्त्वेनैव सर्वशः।

की शक्ति), वशित्व (वशमें करलेने की शक्ति तथा मनकी लघुता (हलकापन) तथा स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंकी समान वे महात्मा अनेकों रूप बनालेते हैं॥ १२॥ इन मनुष्योंको ऊर्ध्व स्रोतस् (ऊँचे मार्गमेंको जानेवाले) कहते हैं, ये वैकारिक (नए रूपोंको गढ़नेवाले) देवता कहलाते हैं, नए रूपोंको गढनेवाले ये वार २ अपने प्रकृतिबलसे स्वर्गमें जाते हैं॥१३॥ वे जिस २ पदार्थको चाहते हैं उन सब पदार्थोंको भोगते हैं और चाहे तब उनको त्यागदेते हैं, हे द्विजवरो! मैंने यह सत्त्वगुणका स्वरूप कहा है, इसको विधिपूर्वक जानकर मनुष्य जो २ चाहता है वह वह ही पाजाता है॥ १४॥ सत्त्वके गुण विशेष रूपसे कहदिये तथा इन गुणोंसे जो वर्त्ताव होता है वह भी यथावत् कहदिया, जो मनुष्य इन गुणोंको समझता है, वह सदा इनका अनुभव करता है और इन गुणोंसे बँधता नहीं है॥१५॥अडतीसवाँ अध्याय समाप्त॥ ३८॥

ब्रह्माजीने कहा, कि-इन गुणोंके विषयमें सब प्रकारसे पृथक् २ कहना कठिन है, क्योंकि-रज, सत्त्व और तम ये गुण

अविच्छिन्नानि दृश्यन्ते रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥ १ ॥ अन्योऽन्य-
मथ रज्यन्ते ह्यन्योन्यं चार्थजीविनः । अन्योन्यमाश्रयाः सर्वे
तथान्योन्यानुवर्तिनः ॥ २ ॥ यावत् सत्त्वं रजस्तावद्वर्त्तते नात्र
संशयः । यावत् तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते ॥३॥ संहत्य
कुर्वते यात्रां सहिताः संघचारिणः । संघातवृत्तयो ह्येते वर्त्तंते हेत्व-
हेतुभिः ॥ ४ ॥ उद्रेकव्यतिरिक्तानां तेषामन्योन्यवर्त्तिनाम् । वर्ण्यते
तद्यथा न्यूनं व्यतिरिक्तं च सर्वशः ॥ ५ व्यतिरिक्तं तमो यत्र
तिर्यग्भावगतं भवेत् । अल्पं तत्र रजो ज्ञेयं सत्त्वमल्पतरं तथा ६
उद्रिक्तञ्च रजो यत्र मध्यस्रोतोगतं भवेत् । अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं
सत्त्वमल्पतरं तथा ॥ ७ ॥ उद्रिक्तं च यदा सत्त्वमूर्ध्वस्रोतोगतं

अविच्छिन्न (मिलेहुएसे) मालूम होते हैं ॥ १ ॥ ये सब एक दूसरेके विषय पर जीवित रहते हैं, एक दूसरेके आश्रय पर रहते हैं और ये सब एक दूसरेके पीछे चलने वाले हैं ॥ २ ॥ जहाँ तक सत्त्वगुण होता है वहाँ तक रजोगुण भी रहता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, जहाँ तक तम और सत्त्व रहते हैं तहाँ तक इस लोकमें रज भी कहलाता है ॥३॥ ये इकट्ठे होकर यात्रा करते हैं, व साथमें फिरते हैं और किसी कारणको लेकर अथवा स्वाभाविक रीतिसे संघकी वृत्तिवाले हैं ॥ ४ ॥ उन्नतिको प्राप्त होनेवाले और बढनेवाले तथा एक दूसरेके पीछे चलनेवाले इन सबोंकी अन्यूनता (उद्रेक) और व्यतिरेक (वृद्धि) के विषय में पूर्ण रीतिसे कहाजायगा ॥ ५ ॥ जहाँ तिर्यक् (कुत्ते बिल्ली जैसे प्राणियों) के भावकी ओरको तम जाता है तो तमका व्यति-रेक (वढाव) होता है और तहाँ रज अल्प होता है और सत्त्व उससे भी कम होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६ ॥ जहाँ मध्यम प्राणियोंमें रजोगुण उन्नत (बढाहुआ) होता है तहाँ तम कम होता है और सत्त्वगुण उससे भी कम होता है, ऐसा

भवेत् । अल्पं तत्र तमो ज्ञेयं रजश्चाल्पतरं तथा ॥ ८ ॥ सत्त्वं वैकारिकी योनिरिन्द्रियाणां प्रकाशिका । न हि सत्त्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते ॥ ९ ॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणसंयुक्ता यान्त्यधस्तामसा जनाः १० तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम् । इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्त्तन्ते गुणास्त्रयः ॥ ११ ॥ दूरादपि हि दृश्यन्ते सहिताः संघचारिणः । तमः सत्त्वं रजश्चैव पृथक्त्वेनानुशुश्रुम ॥ १२ ॥ दृष्ट्वा त्वादित्यमुद्यन्तं कुचराणां भयं भवेत् । अध्वगाः परितप्येयु-रुष्णतो दुःखभागिनः ॥१३॥ आदित्यः सत्त्वमुद्रिक्तं कुचरास्तु तथा तमः । परितापोऽध्वगानां च रजसो गुण उच्यते ॥ १४ ॥ प्राकाश्यं सत्त्वमादित्यः सन्तापो रजसो गुणः । उपप्लवस्तु विज्ञे-

---

जानो ॥ ७ ॥ जब ऊँचे मार्गमें जानेवाले प्राणियोंमें सत्त्वगुण की उन्नति होती है तब वहाँ रजोगुण कम और तमोगुण उससे भी कम होता है ॥ ८ ॥ सत्त्व सबसे विकार करानेवाला मूल है, यह इन्द्रियोंको प्रकाशमें लाता है, इस लिये सत्त्वसे उत्तम कोई भी दूसरा धर्म नहीं कहा है ॥ ९ ॥ सत्त्वगुणवाले ऊँचे चढते हैं, रजोगुणवाले मध्यमें रहते हैं और तमोगुणवाले हलके और निन्दित पुरुष नीचेको जाते हैं ॥१०॥ शूद्रमें तम, क्षत्रिय में रज और ब्राह्मणमें उत्तम सत्त्वगुण होता है इसप्रकार तीनों वर्णोंमें तीन गुण रहते हैं॥११॥साथ २ फिरनेवाले ये दूरसे भी इकट्ठे ही दीखते हैं, तम, सत्त्व और रज ये तीनों जुदे हुए हों, ऐसा हमने कभी सुना ही नहीं ॥ १२ ॥ सूर्यको उदय होताहुआ देख कर दुराचरणी मनुष्योंको भय लगता है, धूपसे दुःख भोगने वाले सब बटोही दुःखित होते हैं ॥ १३ ॥ सूर्य खिलाहुआ सत्त्व गुण है, दुराचरणी तम हैं और मार्गमें चलनेवालोंको जो धूप लगती है वह रजोगुण कहलाती है ॥ १४ ॥ प्रकाश देनेवाला

यस्तामसस्तस्य पर्वसु ॥ १५ ॥ एवं ज्योतिष्षु सर्वेषु निवर्त्तंते गुणास्त्रयः । पर्य्यायेण च वर्त्तंते तत्र तत्र तथा तथा ॥ १६ ॥ स्थावरेषु तु भावेषु तिर्य्यग्भावगतं तमः । राजसास्तु विवर्त्तंते स्नेह-भावस्तु सात्त्विकः ॥ १७ ॥ अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रि-र्विधीयते । मासार्द्धमासवर्षाणि ऋतवः संधयस्तथा ॥ १८ ॥ त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्त्तते । त्रिधा लोकास्त्रिधा देवास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ॥ १९ ॥ भूतं भव्यं भविष्यं च धर्मोर्थः काम एव च । प्राणापानावुदानश्चाप्येत एव त्रयो

आदित्य सत्त्व है, सन्ताप देनेवाली धूप रज है और ग्रहण रूप पर्वकालमें उपप्लव (पीडा) करनेवालेको तम जानो १५ इसप्रकार सब ज्योतियोंमें तीन गुण रहते हैं, वे वारी २ से तहाँ तहाँ तिस २ प्रकारसे काम करते हैं ॥ १६ ॥ स्थावर भावोंमें तम तिर्यक् भावको प्राप्त होता है (अधिक होता है), तहाँ काल आदिके कारणसे बदलजानेवाले धर्मोंको रजोगुण जानो, उनमें जो स्नेहभाव होता है उसको सत्त्वगुण जानो (स्थावर पदार्थ अत्यन्त मूढ होते हैं,इसलिये उनमें तमोगुण अधिक होता है, कालके कारणसे अथवा अन्य पदार्थके संयोगसे उनमें कडवा, खट्टा, खारा आदि धर्म बदलजाते हैं वह रजोगुणका स्वरूप है और अग्नि आदिको दीप्त करनेवाला तैल आदि चिकना भाग होता है वह सत्त्वगुणका स्वरूप है)१७तीन प्रकारका दिन होता है और तीनकी ही रात्रि होती है,मास,पक्ष,वर्ष, ऋतु और संधियें भी तीन प्रकारकी होती हैं ॥ १८ ॥ तीन प्रकारके दान दियेजाते हैं, यज्ञ तीन प्रकारके होते हैं, लोक तीन प्रकारके हैं, देवता तीन प्रकारके हैं, विद्या तीन प्रकारकी हैं और गति भी तीन प्रकारकी है ॥ १९ ॥ भूत वर्त्तमान और भविष्य, धर्म अर्थ और काम, प्राण अपान और उदान ये सब तीन गुणों

गुणाः ॥ २० ॥ पर्यायेण प्रवर्त्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा । यत्
किंचिदिह लोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः॥ २१ ॥ त्रयो गुणाः
प्रवर्त्तते ह्यव्यक्ता नित्यमेव तु। सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणसर्गः सना-
तनः ॥ २२ ॥ तमोऽव्यक्तं शिवं धाम रजो योनिः सनातनः ।
प्रकृतिर्विकारः प्रलयः प्रधानं प्रभवाप्ययौ ॥ २३ ॥ अनुद्रिक्तम-
नूनं वाप्यकम्पमचलं ध्रुवम् । सदसच्चैव तत् सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं
स्मृतम् ॥ २४ ॥ ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकैः॥२५॥
अव्यक्तनामानि गुणांश्च तत्त्वतो यो वेद सर्वाणि गतीश्च केवलाः ।
विमुक्तदेहः प्रविभागतत्त्ववित् स मुच्यते सर्वगुणैर्निरामयः॥२६॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

ब्रह्मोवाच । अव्यक्तात् पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः ।

वाले हैं ॥ २० ॥ जो कुछ भी वस्तु इस लोकमें क्रमसे जहाँ २ जिस २ प्रकारसे प्रवृत्त होती है, तहाँ सर्वत्र ही इस लोकमें तीन गुण कहे हैं ॥ २१ ॥ सदा तीन गुण ही प्रवृत्त होते हैं, वे तीनों गुण अव्यक्त हैं, सत्त्व, रज और तम इन गुणोंकी उत्पत्ति सनातन है ॥ २२ ॥ प्रकृतिको तम, शिव, धाम, रज, योनि, सनातन, प्रकृति, विकार, प्रलय, प्रधान, प्रभव, लय, अनुद्रिक्त, अन्यून, अकम्प, अचल, ध्रुव, सत्, असत् कहते हैं, यह सब त्रिगुणमयी प्रकृति है; ये सब नाम अध्यात्म चिन्तवन करनेवालोंको जानने चाहियें ॥ २३ ॥ २४ ॥ जो प्रकृतिके इन सब नामोंको, सत्त्वादि गुणोंको और उनके सब निज २ गतियोंको तत्त्वरूपसे जानता है, वह सकल गुणोंसे मुक्त होकर देहको त्यागने पर मुक्ति पाता है ॥ २५ ॥ उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ३९ ॥ ॥ छ ॥

ब्रह्माजीने कहा, कि–पहले अव्यक्तसे महामतिवाला, सब गुणोंका मूल महान् आत्मा (महत्त्व) उत्पन्न हुआ, जो कि–

आदिरुत्तानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते ॥ १ ॥ महानात्मा मति-
र्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्। बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्याति-
र्धृतिः स्मृतिः ॥२॥ पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते।
तं जानन् ब्राह्मणो विद्वान् प्रमोहं नाधिगच्छति ॥ ३ ॥ सर्वतः
पाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः। सर्वतः श्रुतिमाल्लोके सर्वं व्याप्य
स तिष्ठति ॥ ४ ॥ महाप्रभावः पुरुषः सर्वस्य हृदि निश्रितः।
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ ५ ॥ तत्र बुद्धि-
विदो लोके सद्भावनिरताश्च ये। ध्यानिनो नित्ययोगाश्च सत्यसन्धा
जितेन्द्रियाः ॥ ६ ॥ ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः।
प्रसन्नमनसो धीरा निर्ममा निरहंकृताः ॥ ७ ॥ विमुक्ताः सर्व
एवैते महत्त्वमुपयान्त्युत। आत्मनो महतो वेद यः पुण्यां गति-

सब सृष्टिकी आदिरचना कहलाता है ॥ १ ॥ महान् आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शम्भु, वीर्यवान्, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति, और स्मृति इन पर्यायवाचक शब्दोंसे उस महान् आत्माको पहचाना जाता है, उसको जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण मोहमें नहीं पड़ता है ॥ २ ॥ ३ ॥ सब दिशाओंमें उसके हाथ पैर हैं, सब ओर उसके नेत्र, शिर और मुख हैं वह सब ओरसे सुनता हैं और वह सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है ॥ ४ ॥ महा-प्रभाववाला वह पुरुष सबके हृदयोंमें रहता है, वह अणिमारूप (सूक्ष्मसे सूक्ष्म), लघिमारूप (हलकेसे हलका), प्राप्तिरूप, ईशानरूप (सबका शासक), ज्योतिर्मय और अव्यय है ॥५॥ इस लोकमें जो पुरुष ज्ञानी हैं, जो निर्मल भाववाले, ध्यान धरने वाले, निरन्तर योगके साधक, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, ज्ञानवान्, निर्लोभ, क्रोधको जीतनेवाले, प्रसन्नचित्त, धीरस्वभाव और ममता तथा अहङ्कारसे शून्य हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ ये सब मुक्त होते हैं और परब्रह्मको पाते हैं, जो पुरुष आत्माके महत्त्वको जानता

ग्रुत्तमाम् ॥ ८ ॥ अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पंच वै । पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥९॥ तेषु भूतानि युज्यन्ते महाभूतेषु पञ्चसु । ते शब्दस्पर्शरूपेषु रसगन्धक्रियासु च ॥१०॥ महाभूतविनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते । सर्वप्राणभृतां धीरा महदुत्पद्यते भयम् ॥ ११ ॥ स धीरः सर्वलोकेषु न मोहमधिगच्छति । विष्णुरेवादिसर्गेषु स्वयम्भुर्भवति प्रभुः ॥ १२ ॥ एवं हि यो वेद गुहाशयं प्रभुं परं पुराणं पुरुषं विश्वरूपम् । हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

है वह पुण्यदायक और उत्तम गतिको पाता है॥८॥ पञ्चमहाभूत अहङ्कारमेंसे उत्पन्न हुए हैं, पृथिवी वायु, आकाश, जल और पाँचवाँ तेज ये पञ्चमहाभूत हैं ॥ ९ ॥ इन पंचमहाभूतोंमें प्राणी जुड़े हुए हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी क्रियाओंमें सब भूतोंको देखते हैं ॥ १० ॥ महाभूतोंके विनाशके अन्तमें जब प्रलय सामने आकर खड़ा होजाता है, उस समय हे धीर पुरुषों! प्राणधारी सब प्राणियोंको महाभय लगने लगता है ॥ ११ ॥ परन्तु सब प्राणियोंमें उस धीरको मोह नहीं होता है, वही विष्णु है और आदिसृष्टिमें वह प्रभु स्वयम्भू होता है ॥ १२ ॥ जो मनुष्य इस प्रकार, उस गुहामें रहनेवाले, सबसे श्रेष्ठ, पुराण पुरुष, विश्वरूप, हिरण्मय, और बुद्धिमानोंकी परमगति रूप प्रभु को जानता है, वह बुद्धिके पार पहुँचकर रहता है ॥ १३ ॥ चालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥

ब्रह्मोवाच । य उत्पन्नो महान् पूर्वमहंकारः स उच्यते ।
अहमित्येव संभूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते १ अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः । तेजसश्चेतना धातुः प्रजा सर्गः प्रजापतिः॥२॥
देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत् । अहमित्येव तत् सर्वमभिमन्ता स उच्यते ॥ ३ ॥ अध्यात्मज्ञानतृप्तानां मुनीनां भावितात्मनाम् । स्वाध्यायक्रतुसिद्धानामेष लोकः सनातनः ४
अहंकारेणाहरतो गुणानिमान् भूतादिरेवं सृजते स भूतकृत् ।
वैकारिकः सर्वमिदं विचेष्टते स्वतेजसा रंजयते जगत्तथा ॥ ५ ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥

ब्रह्मोवाच । अहङ्कारात् प्रसूतानि महाभूतानि पंच वै । पृथिवी

ब्रह्माजी कहते हैं, कि—जो महान् पहले उत्पन्न हुआ वह अहङ्कार कहलाता है, वह अहं रूपसे उत्पन्न हुई दूसरी सृष्टि कहलाती है ॥१॥ अहङ्कार प्राणियोंका आदि (मूल) है और वह वैकारिक (विकार जो महत्तत्त्व उससे उत्पन्न हुआ) कहलाता है, वह प्रवृत्ति रूप रजोगुणका विकार होनेसे तैजस कहलाता है, चैतन्ययुक्त होने पर प्रजाकी सृष्टि करनेवाला प्रजापति कहलाता है ॥ २ ॥ देवताओंको और मनको उत्पन्न करनेवाला तथा तीनों लोकोंको रचनेवाला अहं इस प्रकारसे वह सबमें अभिमान करनेवाला कहलाता है ॥ ३ ॥ अध्यात्मज्ञानसे तृप्त हुए, जिन्होंने आत्माका चिन्तवन किया है, जिनका स्वाध्याय और यज्ञ सिद्ध होगया है ऐसे मुनियोंको मिलने योग्य यह सनातन लोक है (अर्थात् ऐसे मुनि अहंकारमें लीन होजाते हैं)॥४॥ अहङ्कारसे सब गुणोंको भोगनेकी इच्छावाला, भूतोंका आदिरूप भूतोंको रचनेवाला वह(भूतादिको)रचता है, विकार करनेवाला वह इन सबोंको चेष्टावाले करता है तथा अपने तेजसे जगत्को रजोमय (भोगकी इच्छावाला)बनाता है५इकतालीसवाँ अध्याय समाप्त४१

ब्रह्माजीने कहा, कि—अहंकारमेंसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए

वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम् ॥ १ ॥ तेषु भूतानि मुह्यन्ति महाभूतेषु पंचसु । शब्दस्पर्शनरूपेषु रसगन्धक्रियासु च महाभूत-विनाशान्ते प्रलये प्रत्युपस्थिते । सर्वप्राणभृतां धीरा महदभ्युद्यते भयम् ॥ ३ ॥ यद्यस्माज्जायते भूतं तत्र तत् प्रविलीयते । लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम् ॥ ४ ॥ ततः प्रलीने सर्वस्मिन् भूते स्थावरजङ्गमे । स्मृतिमन्तस्तदा धीरा न लीयन्ते कदाचन ५ शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः । क्रियाकरणनित्याः स्युरनित्या मोहसंज्ञिताः ॥ ६ ॥ लोभप्रजनसम्भूता निर्विशेषा ह्यकिंचनाः । मांसशोणितसंघाता अन्योऽन्यस्योपजीविनः ॥७॥

हैं, पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज ये पञ्च महाभूत हैं ॥ १ ॥ इन पंचमहाभूतोंमें अर्थात् इनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध और क्रियाओंमें प्राणी मोहित होजाते हैं २५ हे धीर पुरुषों ! इन पञ्चमहाभूतोंका नाश होते २ अन्तमें जब प्रलयकाल आता है, उस समय सब प्राणियोंको वडाभारी भय लगता है ॥ ३ ॥ जो भूत जिसमेंसे उत्पन्न होता है, उसमें ही उसका लय होता है, भूतोंकी उत्पत्ति उत्तरोत्तर अनुलोम (सूधे) क्रमसे होती है और लय प्रतिलोम (उलटे) क्रमसे होता है ४ इसप्रकार स्थावर और जङ्गम सब भूतोंके विलीन होजाने पर उस समय स्मरणशक्तिवाले धीर पुरुष (योगी) विलीन नहीं होते हैं (सूक्ष्म शरीर धारण करके ब्रह्मलोकमें रहते हैं) ॥ ५ ॥ शब्द, स्पर्श रस, और पाँचवाँ गन्ध ये सब क्रियाएँ (मनरूप) करणस्वरूपसे नित्य हैं और स्थूल पदार्थ अनित्य हैं और उन को मोह नामसे कहा जाता है ॥६॥ फलके लोभके साथ किये हुए कर्मसे उत्पन्न होनेवाले, पंच भूतोंसे उत्पन्न होनेके कारण जिनमें विशेषता नहीं है, जिनमें जरा भी सत् नहीं है (रज्जुमें भासनेवाले सर्पकी समान तुच्छ), मांस और रुधिरके लोथड़े

बहिरात्मान इत्येते दीनाः कृपणवृत्तयः। प्राणापानावुदानश्च समानो व्यान एव च ॥ ८ ॥ अन्तरात्मनि चाप्येते नियताः पञ्चवायवः। वाङ्मनोबुद्धिभिः सार्द्धमिदमष्टात्मकं जगत् ॥ ९ ॥ त्वक्घ्राणश्रोत्रचक्षूंषि रसना वाक् च संयता। विशुद्धं च मनो यस्य बुद्धिश्चाव्यभिचारिणी ॥ १० ॥ अष्टौ यस्याग्नयो ह्येते न दहन्ते मनः सदा। स तद् ब्रह्म शुभं याति तस्माद्भूयो न विद्यते ११ एकादश च यान्याहुरिन्द्रियाणि विशेषतः। अहङ्कारात् प्रसूतानि तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः ॥१२॥ श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पादौ वायुरुपस्थश्च हस्तौ वाग् दशमी भवेत् १३ इन्द्रियग्राम इत्येष मन एकादशं भवेत्। एतं ग्रामं जयेत् पूर्वं ततो ब्रह्म प्रकाशते ॥ १४ ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चाहुः पंच कर्मेन्द्रि-

---

रूप, एक दूसरेको खाकर जीनेवाले ॥ ७ ॥ आत्माके बाहर रहने वाले ये सब, दीन और बाहरी साधन पर जीनेवाले (स्थूल) पदार्थ हैं ॥ ८ ॥ अन्तरात्मामें (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान ये) पाँच वायु नियमसे रहते हैं, वाणी, मन और बुद्धिके सहित यह अष्टात्मक (सूक्ष्म) जगत् बनाहुआ है ॥९॥ त्वचा, नासिका, कान, नेत्र, जीभ और वाणी जिसके नियममें हों, जिसका मन विशुद्ध हो और जिसकी बुद्धि उलटी न चलती हो ॥ १० ॥ जिसके मनको ये आठ अग्नियें सदा जलाती न हों वह पुरुष शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त होता है, कि-जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ ११ ॥ जिनको लोग विशेषरूपसे कहते हैं ऐसी ग्यारह इन्द्रियें अहङ्कारमेंसे उत्पन्न हुई हैं, हे द्विजो ! उनको मैं कहता हूँ ॥ १२ ॥ कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और पाँचवीं नासिका, पैर गुदा, उपस्थ (स्त्री और पुरुषकी जननेन्द्रिय), हाथ और दशवीं वाणी ॥ १३ ॥ तथा ग्यारहवाँ मन यह ग्यारह इन्द्रियों का समूह है, इस इन्द्रियोंके समूहको पहले जीत लेय तब ब्रह्मका

याणि च । श्रोत्रादीन्यपि पञ्चाहुर्बुद्धियुक्तानि तत्त्वतः ॥१५॥ अविशेषाणि चान्यानि कर्म्मयुक्तानि यानि तु । उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिस्तु द्वादशी भवेत् ॥ १६ ॥ इत्युक्तानीन्द्रियाण्येतान्येकादश यथाक्रमम् । मन्यन्ते कृतमित्येवं विदित्वा तानि पण्डिताः ॥१७॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् । आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते ॥ १८ ॥ अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम् । द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुतम् ॥ १९ ॥ स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत्तत्राधिदैवतम् । तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते ॥ २० ॥ अधिभूतं ततो रूपं सूर्य्यस्तत्राधिदैवतम्।

प्रकाश होता है ॥ १४ ॥ ज्ञानकी इन्द्रियें पाँच हैं और कर्मकी इन्द्रियें भी पाँच हैं श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियें तो वास्तवमें बुद्धिके साथ जुडी हुई हैं॥१५॥दूसरी जो सामान्य इन्द्रियें हैं वे कर्मके साथ जुडी हुई हैं, मनको दोनोंमें जानना चाहिये और बुद्धि बारहवीं है ॥ १६ ॥ इसप्रकार क्रमसे ग्यारह इन्द्रियें कही हैं, पण्डित इनको जानकर अपनेको कृतकृत्य मानते हैं ॥ १७ ॥ अब आगे मैं अनेकों प्रकारकी सब इन्द्रियोंके विषयमें कहूँगा, आकाश प्रथमभूत (उत्पन्न हुआ) है और उसका अध्यात्म (आकाशके आत्माके रहनेका स्थान इन्द्रिय कान है) ॥१८॥ उसका अधिभूत (जिस वस्तुको कान स्वीकार करता है वह) विषय शब्द है और उसका अधिदैवत (अधिष्ठात्री देवता) दिशायें हैं, वायु दूसरा भूत (उत्पन्न हुआ) है और उसका अध्यात्म (आत्माके साथ सम्बन्ध)-त्वचा है ॥ १९ ॥ उसका अधिभूत (वस्तुके साथका संबन्ध) स्पर्श है और विद्युत् उसका अधिदेवता (शक्ति) है, तीसरा भूत ज्योति तेज है, उसका अध्यात्म चक्षु है ॥ २० ॥ अधिभूत रूप है और उसका अधिदैवत सूर्य है,चौथा भूत जल को जानना चाहिये,उसका अध्यात्म

चक्षुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते ॥ २१ ॥ अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम् । पृथिवी पंचमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते ॥ २२ ॥ अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम् । एषु पंचसु भूतेषु त्रिषु यश्च विधिः स्मृतः ॥ २३ ॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वं विविधमिन्द्रियम् । पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः ॥ २४ ॥ अधिभूतन्तु गन्तव्यं विष्णुस्तत्राधिदैवतम् । अवागगतिरपानश्च पायुरध्यात्ममुच्यते ॥ २५ ॥ अधिभूतं विसर्गश्च मित्रस्तथाधिदैवतम् । प्रजनः सर्वभूतानामुपस्थोऽध्यात्ममुच्यते ॥ २६ ॥ अधिभूतं तथा शुक्रं दैवतं च प्रजापतिः । हस्तावध्यात्ममित्याहुरध्यात्मविदुषो जनाः ॥ २७ ॥ अधिभूतं च कर्माणि शक्रस्तत्राधिदैवतम् । वैश्वदेवी ततः पूर्वा वागध्यात्ममि-

जीभ कहलाती है ॥ २१ ॥ उसका अधिभूत रस और उसका अधिदेवता चन्द्रमा है, पृथिवी पाँचवाँ भूत है, नासिका उसका अध्यात्म कहलाती है ॥ २२ ॥ उसका अधिभूत गन्ध है तथा वायु अधिदैवत, ये पंच भूतोंमें तीन विधि कही हैं ॥ २३ ॥ अब आगे सब प्रकारकी विविध इन्द्रियोंके विषयमें कहूँगा, तत्त्वदर्शी ब्राह्मणोंने दोनों चरणोंको अध्यात्म (इन्द्रिय) कहा है ॥ २४॥ उनका अधिभूत (विषय) गन्तव्य (गमन) है तथा अधिदेवता विष्णु है, वायुकी नीचेको गति अपान कहलाती है, उसका अध्यात्म पायु (गुदा) है ॥ २५ ॥ उसका अधिभूत मलत्याग है और जिसका अधिदेवता मित्र है, सकल प्राणियोंको उत्पन्न करने वाला उपस्थ अध्यात्म कहलाता है ॥२६॥ उसका अधिभूत वीर्य है और देवता प्रजापति है, अध्यात्मको जाननेवाले पुरुष हाथोंको अध्यात्म कहते हैं ॥ २७ ॥ कर्म उसका अधिभूत और देवता इन्द्र है, तदनन्तर वैश्वदेवी (विश्वकी देवी) पहली वाणी

होच्यते२८वक्तव्यमधिभूतञ्च वन्हिस्तत्राधिदैवतम् । अध्यात्मं मन इत्याहुः पञ्चभूतात्मचारकम्॥२६॥ अधिभूतञ्च संकल्पश्चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् । अहङ्कारस्तथाध्यात्मं सर्वसंसारकारकम् ॥३०॥ अभिमानोऽधिभूतञ्च रुद्रस्तत्राधिदैवतम् । अध्यात्मं बुद्धिरित्याहुः षडिन्द्रियविचारिणी ॥३१॥ अधिभूतन्तु मन्तव्यं ब्रह्म तत्राधिदैवतम् । त्रीणि स्थानानि भूतानां चतुर्थं नोपपद्यते ॥ ३२ ॥ स्थलमापस्तथाकाशं जन्म चापि चतुर्विधम् । अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजरायुजमथापि च ॥ ३३ ॥ चतुर्द्धा जन्म इत्येतत् भूतग्रामस्य लक्ष्यते । अपराण्यथ भूतानि खेचराणि तथैव च ॥३४॥ अण्डजानि विजानीयात् सर्वांश्चैव सरीसृपान् । स्वेदजाः क्रमशः प्रोक्ता

इस लोकमें अध्यात्म कहलाती है२८वक्तव्य (बातचीत) उसका अधिभूत और अग्नि अधिदेव है,पञ्चभूतोंके आत्माको चलानेवाले मनको अध्यात्म कहते हैं ॥ २६ ॥ उसका विषय सङ्कल्प और और देवता चन्द्रमा है, सब संसारका रचनेवाला अहङ्कार अध्यात्म है ॥३०॥ उसका विषय अभिमान और देवता रुद्र है, छः इन्द्रियोंको विचार करने वाली बुद्धिको भी अध्यात्म (आत्माके साथ संबन्धवाली) कहते हैं ॥ ३१ ॥ उसका अधिभूत मन्तव्य है और अधिदेवता ब्रह्म है, भूतों (प्राणियों) के ये तीन ही स्थान हैं, चौथा नहीं है ॥३२॥ ये तीन स्थान पृथिवी जल और आकाश हैं तथा जन्म चार प्रकारका है-अण्डज (अण्डेको फोड़कर उत्पन्न होना), उद्भिज्ज (पृथिवीको फोडकर बाहर निकलना); स्वेदज (पसीनेसे उत्पन्न होना) और जरायुज (झिल्लीमेंसे निकलना) ॥ ३३ ॥ भूतमात्रमें यह चार प्रकारका जन्म देखनेमें आता है, इनके सिवाय और भी छोटी जातिके खेचर हैं॥३४॥ इनको तथा पेटसे चलने वाले सत्रोंको अण्डज प्राणी जानो, कीड़े ऐसे ही दूसरे (पसीने और मैलमें उत्पन्न होनेवाले)

जन्तवश्च यथाक्रमम् ॥३५॥ जन्म द्वितीयमित्येतज्जघन्यतरमुच्यते। भित्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्य्ययात् ॥३६॥ उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः। द्विपादबहुपादानि तिर्य्यग्गतिमतीनि च ॥ ३७ ॥ जरायुजानि भूतानि विकृतान्यपि सत्तमाः। द्विविधा खलु विज्ञेया ब्रह्मयोनिः सनातनी ॥ ३८ ॥ तपः कर्म च यत् पुण्यमित्येष विदुषां नयः। विविधं कर्म विज्ञेयमिज्या दानञ्च तन्मुखे ॥ ३९ ॥ जातस्याध्ययनं पुण्यमितिवृद्धानुशासनम्। एतद्यो वेत्ति विधिवद्युक्तः स स्याद् द्विजर्षभाः ॥४०॥विमुक्तः सर्वपापेभ्य इति चैव निबोधत। यथावदध्यात्मविधिरेष वः कीर्त्तितो मया ४१ ज्ञानमस्य हि धर्मज्ञाः प्राप्तं ज्ञानवतामिह। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च

जन्तुओंको स्वेदज कहते हैं ॥ ३५ यह दूसरे प्रकारका जन्म है और यह अतिनीचा कहलाता है, जो कुछ समय बीतजाने पर पृथिवीको फोड़कर उत्पन्न होते हैं॥३६॥ उनको, हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों! उद्भिज्ज भूत कहते हैं, दो पैरवाले, बहुतसे चरणोंवाले तथा टेढ़े बेंढ़े चलनेवाले प्राणी ॥ ३७ ॥ जरायुज कहलाते हैं, हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों!भयानक आकार वाले प्राणी भी जरायुज हैं, वास्तवमें ब्रह्मयोनि (ब्राह्मणों) को दो प्रकारकी और सनातन जानो॥३८॥ तप और (यज्ञादि)पुण्यकर्म यह विद्वानोंका धर्म है, कर्म अनेकों प्रकारके हैं, जैसे कि-यज्ञमें होम करना, दान करना ॥ ३९ ॥ जन्म लेनेवालेका (यज्ञोपवीत संस्कार कराकर) अध्ययन कराना भी पुण्यकर्म है, ऐसा वृद्धोंका उपदेश है, हे श्रेष्ठ द्विजों! जो इसको विधिपूर्वक जानता है वह योगी होता है ॥ ४० ॥ वह सब पापोंसे सर्वथा मुक्त होजाता है, ऐसा तुम समझो, इस प्रकार अध्यात्मकी (इन्द्रियोंके साथके आत्माके विषयकी) यह विधि है, जो मैंने तुमसे यथावत् कहदी है ॥ ४१ ॥ हे धर्मके जाननेवालों ज्ञानवालोंको ही इस लोकमें इसका ज्ञान होना है,

महाभूतानि पंच च। सर्वाण्येतानि सन्धाय मनसा संप्रधारयेत् ४२
क्षीणे मनसि सर्वस्मिन् न जन्मसुखमिष्यते। ज्ञानसम्पन्नसत्त्वानां
तत् सुखं विदुषां मतम् ॥ ४३ ॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि सूक्ष्मभा-
वकरीं गिरम्। निवृत्तिं सर्वभूतेषु मृदुना दारुणेन च ॥ ४४ ॥
गुणागुणमनासङ्गमेकचर्यमनन्तरम्। एतद्ब्रह्ममयं वृत्तमाहुरेकपदं
सुखम् ॥ ४५ ॥ विद्वान् कूर्म इवांगानि कामान् संहृत्य सर्वतः।
विरजाः सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा॥४६॥ कामानात्मनि
संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः। सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयाय

इन्द्रियें, इन्द्रियोंके विषय और पंच महाभूत, इन सर्वोंको एक करके (अर्थात् इनसे बाहर कुछ नहीं है ऐसा निश्चय करके) मनसे उनकी धारणा करे ॥ ४२ ॥ सब वस्तुओंका मनमें क्षय होजाने पर (अर्थात् जब इनमेंसे किसी विषयमें भी आसक्त न होकर निर्विकल्प दशामें पहुँचजाय तब) मनुष्य जन्मके सुखको नहीं चाहता है, जिनकी बुद्धि आत्मज्ञानमें लगजाती है, उनको (यह निर्विकल्प) सुख मिलता है यह विद्वानोंका मत है॥४३॥ अब आगे सूक्ष्म (ब्रह्म) में भाव उत्पन्न करानेवाली, पवित्र कोमल और दारुणरूपसे सकल प्राणियोंमें होनेवाली निवृत्तिके विषयमें मैं कहता हूँ ॥ ४४ ॥ गुण और अवगुणको न माननेवाला (वस्तुमें, मैं करता हूँ, यह मेरा हैं, ऐसी) आसक्तिसे रहित, एकान्तवासवाला और भेदभाव रहित ऐसा जो ब्रह्ममय वर्त्ताव है, उसको एकपद सुख (सब सुखोंका मूल) कहते हैं ॥४५॥ जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे सकोड़कर अपने सब शरीरके भीतर करलेता है,ऐसे ही विद्वान् पुरुषको चाहिये, कि–सब कामनाओंको सब ओरसे खेंचकर अपने भीतर लेजाय, ऐसा जो मनुष्य रजो गुणसे रहित और सब कामनाओंसे मुक्त है वह सदा सुखी रहता है॥४६॥ आत्मामें

कल्पते ॥ ४७ ॥ इन्द्रियाणां निरोधेन सर्वेषां विषयैषिणाम् । मुनेर्जनपदत्यागादध्यात्माग्निः समिध्यते॥४८॥यथाग्निरिन्धनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते । तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते ४६ यदा पश्यति भूतानि प्रसन्नात्मात्मनो हृदि । स्वयंज्योतिस्तदा सूक्ष्मात् सूक्ष्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ५० ॥ अग्नी रूपं पयः स्रोतो वायुः स्पर्शनमेव च । मही पंकधरं घोरमाकाशं श्रवणं तथा ।५१। रोगशोकसमाविष्टं पंचस्रोतःसमावृतम् । पञ्चभूतसमायुक्तं नवद्वारं द्विदैवतम् ॥ ५२ ॥ रजस्वलमथादृश्यं त्रिगुणं च त्रिधातुकम् । संसर्गाभिरतं मूढं शरीरमिति धारणा॥५३॥ दुश्चरं सर्वलोकेऽस्मिन्

कामनाओंका संयम करके और तृष्णाओंको क्षीण करके सावधान हुआ सकल भूतोंका हितचिंतक मनुष्य ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है ॥ ४७ ॥ सब विषयोंको चाहनेवाली इन्द्रियोंका निरोध करने से तथा मनुष्योंके निवास स्थानोंको त्यागदेनेसे मुनियोंका अध्यात्मरूप अग्नि(विज्ञान)प्रज्वलित होता है४८ जैसे लकड़ियोंसे बलता हुआ अग्नि बड़ी २ लपटोंसे प्रकाश करता है ऐसे ही इन्द्रियोंके निरोधसे महान् आत्मा भी सूक्ष्म और उत्तम ज्योतिको पाता है४६जब प्रसन्नचित्त हुआ आत्मा अपने हृदयमेंही प्राणियों को देखता है तब वह सूक्ष्म और परमोत्तम स्वयंज्योतिरूप होजाता है और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म परमोत्तम ज्योतिको पाता है ॥५०॥ अग्नि जिसका रूप है जल (वा रुधिर)जिसका प्रवाह है पवन जिसका स्पर्श है, गन्धवाली पृथिवी जिसका प्राण है और आकाश जिसके कान हैं ॥५१॥ रोग और शोकसे जो चारों ओरसे घिरा हुआ है, पाँच प्रवाह (इन्द्रियोंके गोलकों) से जो लिपटा हुआ है, पञ्चभूतोंसे जो अच्छे प्रकारसे युक्त है, जिसके नौ (दो कान, दो आँख, दो नासिकाके छिद्र, मुख, गुदा और उपस्थ) द्वार हैं, जिसके दो (जीव और ईश्वर) देवता हैं ॥ २५ ॥ जो रजो-

सत्त्वं मतिममाश्रितम् । एतदेव हि लोकेऽस्मिन् कालचक्रं प्रवर्त्तते ५४
एतन्महार्णवं घोरमगाधं मोहसंज्ञितम् । विक्षिपेत् संक्षिपेच्चैव
बोधयन् स्वापयन् जगत् ॥५५॥ कामं क्रोधं भयं लोभमभिद्रोहम-
थानृतम् । इन्द्रियाणां निरोधेन सततस्त्यजति दुस्त्यजान् ॥ ५६ ॥
यस्यैते निर्जिता लोके त्रिगुणाः पंच धातवः । व्योम्नि तस्य परं
स्थानमानन्त्यमथ लभ्यते ॥ ५७ ॥ पंचेन्द्रियमहाकूलां मनोवेगम-
होदकाम् । नदीं मोहहृतां तीर्त्वा कामक्रोधावुभौ जयेत् ॥ ५८ ॥
स सर्वदोषनिर्मुक्तस्ततः पश्यति तत्परम् । मनो मनसि सन्धाय

मय है, (अमङ्गल होनेके कारण) देखने योग्य नहीं है, जो तीन (सुख दुःख और मोहरूप) गुणोंवाला है, जो तीन (वात, पित्त और कफरूप) धातुवाला है, जो संसर्गमें आनन्द मानता है और मूढ है, उसको शरीर जानो ॥ ५३ ॥ इस जीवलोकमें उसको बडी कठिनतासे चलाया जा सकता है और बुद्धिके आश्रयसे रहता है, क्योंकि—इस लोकमें (बाल्य आदि अवस्थारूप) कालचक्रको चलाता है ५४ यह शरीर घोर अगाध और मोह नामसे कहा जानेवाला बड़ाभारी समुद्र रूप है यह शरीर विस्तार करता है तथा जगत्को जगाता है और शयन कराता है५५ काम, क्रोध, भय, लोभ, द्रोह तथा असत्य इन बराबर रहनेवाले और कठिनसे त्यागने योग्य दोषोंको इन्द्रियोंका निरोध करके वह शरीर त्याग देता है ॥ ५६ ॥ इस लोकमें जिसने इन तीन गुण और पाँच धातुओं को जीत लिया है उसको स्वर्गमें ऊंचेसे ऊंचा स्थान मिलता है और जिसका अंत नहीं है ऐसी मुक्तिरूप सिद्धि मिलती है॥५७॥ पाँच इन्द्रियें रूप बड़े भारी तटवाली, मनकी समान वेगवती, बड़े भारी जलवाली और मोहरूप धारावाली नदीको लाँघजानेसे मनुष्य काम और क्रोध दोनोंको जीतलेता है ॥५८॥ वह सकल दोषोंसे मुक्त हुआ मनुष्य उससे भी ऊपरको देखता है मनको

पश्यन्नात्मानमात्मनि ॥ ५९ ॥ सर्ववित् सर्वभूतेषु विन्दत्यात्मान-
मात्मनि । एकधा बहुधा चैव विकुर्वाणस्ततस्ततः ॥६० ध्रुवं पश्यति
रूपाणि दीपाद्दीपशतं यथा । स वै विष्णुश्च मित्रश्च वरुणोऽग्निः
प्रजापतिः ॥६१॥ स हि धाता विधाता च स प्रभुः सर्वतोमुखः ।
हृदयं सर्वभूतानां महानात्मा प्रकाशते ॥ ६२ ॥ तं विप्रसंघाश्च
सुरासुराश्च यक्षाः पिशाचाः पितरो वयांसि । रक्षोगणा भूतगणाश्च
सर्वे महर्षयश्चैव सदा स्तुवन्ति ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

ब्रह्मोवाच । मनुष्याणान्तु राजन्यः क्षत्रियो मध्यमो गुणः ।
कुंजरो वाहनानां च सिंहश्चारण्यवासिनाम् ॥ १ ॥ अविः पशूनां

मनके साथ जोडकर और आत्माको आत्माके साथ जोडकर (उससे भी ऊपरको देखता है) ॥५९॥ वह सबको देखनेवाला, सब प्राणियोंमें आत्मामें आत्माकी समान कभी सबको एक-रूप और कभी बहुरूप करता हुआ देखता है ॥ ६० ॥ जैसे एक दीपकमेंसे सैंकड़ों दीपोंको देखता है, तैसे ही वह अपने सैंकड़ों रूपोंको देखता है,वास्तवमें वही विष्णु है,वही सूर्य है, वही वरुण है,वही अग्नि है वही प्रजापति है६१वही धाता है और विधाता है, वही सब दिशाओंमेंको मुखवाला प्रभु है, वही सब भूतोंका हृदय है और वही महात्मा प्रकाश देता है ॥६२॥ ब्राह्मणोंके समूह, सुर और असुर, यक्ष, पिशाच, पितर, वृद्ध, राक्षसोंके टोले, भूतोंके टोले और सब महर्षि सदा उसकी स्तुति करते हैं ॥ ६३ ॥ बयालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥

ब्रह्माने कहा, कि-मनुष्योंमें क्षत्रिय मध्यम गुण राजस है (क्षत्रियोंमें रजोगुण मुख्य है), वाहनोंमें हाथी और वनवासी पशुओंमें सिंह ॥ १ ॥ (यज्ञके) सब पशुओंमें भेड, बिलमें रहने

सर्वेषामहिस्तु बिलवासिनाम् । गवां गोवृषभश्चैव स्त्रीणां पुरुष एव च ॥ २ ॥ न्यग्रोधो जम्बुवृक्षश्च पिप्पलः शाल्मलिस्तथा । शिंशपा मेषशृंगश्च तथा कीचकवेणवः ॥३॥ एते द्रुमाणां राजानो लोकेऽस्मिन्नात्र संशयः । हिमवान् पारियात्रश्च सह्यो विन्ध्यस्त्रिकूटवान् ॥ ४ ॥ श्वेतो नीलश्च भासश्च कोष्ठवांश्चैव पर्वतः । गुरुस्कन्धो महेन्द्रश्च माल्यवान् पर्वतस्तथा ॥ ५ ॥ एते पर्वतराजानो गणानां मरुतस्तथा । सूर्यो ग्रहाणामधिपो नक्षत्राणां च चन्द्रमाः६ यमः पितृणामधिपः सरितानामथ सागरः । अम्भसां वरुणो राजा मरुतामिन्द्र उच्यते ॥ ७ ॥ अर्कोऽधिपतिरुष्णानां ज्योतिषामिन्दुरुच्यते । अग्निर्भूतपतिर्नित्यं ब्राह्मणानां बृहस्पतिः ॥८॥ ओषधीनां पतिः सोमो विष्णुर्बलवतां वरः । त्वष्टाऽधिराजो रूपाणां पशूनामीश्वरः शिवः ॥९॥ दीक्षितानां तथा यज्ञो देवानां मघवा तथा ।

वालोंमें सर्प, गौओं साँड और स्त्रियोंमें पुरुष (राजस है) ॥२॥ जामन, पीपल, सैंमल, सीसम, मेढासिंगी तथा मोटे २ पोले बड़ बाँस ॥ ३ ॥ इतने वृक्ष इस लोकमें वृक्षोंके राजा कहलाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, हिमालय, पारियात्र, सह्याद्रि, विंध्य, त्रिकूटवान् ॥ ४ ॥ श्वेत, नील, भास, कोष्ठवान् पर्वत, गुरुस्कंध, महेन्द्र तथा माल्यवान् पर्वत ॥ ५ ॥ ये सब पर्वतोंके राजा हैं, ऐसे ही मरुत् गणोंका राजा है, ग्रहोंका स्वामी सूर्य और नक्षत्रोंका राजा चन्द्रमा है ॥ ६ ॥ पितरोंका स्वामी यम और नदियोंका स्वामी सागर है, जलोंका राजा वरुण और मरुतोंका राजा इन्द्र कहलाता हैं ॥ ७ ॥ गरमीका अधिपति सूर्य और ज्योतियोंका अधिपति चन्द्रमा कहलाता है, अग्नि नित्य भूतोंका पति है और ब्राह्मणोंका पति बृहस्पति है ॥ ८ ॥ औषधियोंका पति सोम, बलवानोंमें श्रेष्ठ विष्णु, रूपोंका राजा त्वष्टा और पशुओंका ईश्वर शिव है ॥ ९ ॥ दीक्षावालोंका राजा

दिशामुदीची विप्राणां सोमो राजा प्रतापवान् ॥ १० ॥ कुवेरः सर्वरत्नानां देवतानां पुरन्दरः । एष भूताधिपः सर्गः प्रजानां च प्रजापतिः ॥ ११ ॥ सर्वेषामेव भूतानामहं ब्रह्ममयो महान् । भूतं परतरं मत्तो विष्णोर्वापि न विद्यते ॥ १२ ॥ राजाधिराजः सर्वेषां विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् । ईश्वरत्वं विजानीध्वं कर्त्तारमकृतं हरिम् १३ नरकिन्नरयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् । देवदानवनागानां सर्वेषामीश्वरो हि सः ॥१४॥ भगदेवानुयातानां सर्वासां वामलोचना । माहेश्वरी महादेवी प्रोच्यते पार्वती हि सा ॥ १५ ॥ उमां देवीं विजानीध्वं नारीणामुत्तमां शुभाम् । रतीनां वसुमत्यस्तु स्त्रीणामप्सरसस्तथा ॥१६॥ धर्म्मकामाश्च राजानो ब्राह्मणा धर्म्मसेतवः । तस्माद्राजा द्विजातीनां प्रयतेत स्म रक्षणे ॥१७॥ राज्ञां हि विषये

यज्ञ और देवताओंका राजा इन्द्र, दिशाओंमें पूर्व दिशा और ब्राह्मणोंमें प्रतापवान् सोम राजा है ॥ १० ॥ सब रत्नोंका राजा कुवेर और देवताओंका राजा पुरन्दर है, यह भूतोंके अधिपतियों की उत्पत्ति कही है,प्रजाओंका स्वामी प्रजापति है ॥ ११ ॥ सब भूतोंमें मैं ब्रह्ममय महान् हूँ,मुझसे तथा विष्णुसे बड़ा कोई भूत नहीं है ॥ १२ ॥ ब्रह्ममय महान् विष्णु सबका राजाधिराज है, हरि है,सबका कर्त्ता है, उसका कर्त्ता कोई नहीं है, उसको सबका ईश्वर जानो॥१३॥ वह मनुष्य,किन्नर,यक्ष,गन्धर्व, सर्प, राक्षस, देव, दानव, और नाग सबका ईश्वर है ॥ १४ ॥ भगदेव(कामी) जिनके पीछे२ फिरते हैं ऐसी सब स्त्रियोंमें वामलोचना पार्वती श्रेष्ठ (अधिक रूपवती) है और उसको महेश्वरी महादेवी कहते हैं ॥ १५ ॥ नारियोंमें उमादेवीको पवित्र और श्रेष्ठ जानो, रतिका सुख देनेवाली स्त्रियोंमें धनवाली अप्सरायें श्रेष्ठ हैं १६ राजे धर्मलाभके अभिलाषी होते हैं, ब्राह्मण धर्मके सेतुरूप हैं, इसलिये राजा ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेका उद्योग करे ॥ १७ ॥

येषामवसीदन्ति साधवः। हीनास्ते स्वगुणैः सर्वैः प्रेत्य चोन्मार्गगामिनः ॥ १८ ॥ राज्ञां हि विषये येषां साधवः परिरक्षिताः। तेऽस्मिंल्लोके प्रमोदन्ते सुखं प्रेत्य च भुंजते ॥ १९ ॥ प्राप्नुवन्ति महात्मान इति विप्र द्विजर्षभाः। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नियतं धर्म्मलक्षणम् ॥२०॥ अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्म्मलक्षणा। प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ॥ २१ ॥ शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षणम्। ज्योतिषां लक्षणं रूपमापश्च रसलक्षणाः ॥२२॥ धारिणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा। स्वरव्यंजनसंस्कारा भारती शब्दलक्षणा ॥२३॥ मनसो लक्षणं चिन्ता चिन्तोक्ता बुद्धिलक्षणा। मनसा चिन्तितानर्थान् बुद्ध्या चेह व्यवस्यति ॥२४॥ बुद्धिर्हि व्यवसायेन लक्ष्यते नात्र संशयः।

जिन राजाओंके देशमें ब्राह्मण पीडा पाते हैं, वे राजे अपने (वर्ण के) गुणोंसे हीन होजाते हैं और मरनेके बाद नरकमें पडते हैं १८ जिन राजाओंके देशमें साधु-ब्राह्मणोंकी रक्षा होती है वे राजे इस लोकमें आनन्द करते हैं और मरकर स्वर्गसुख भोगते हैं २० अहिंसा परम धर्म है, हिंसा अधर्मका लक्षण है, देवताओंका प्रकाश (तेज) रूप है और मनुष्योंका लक्षण कर्म है ॥२१॥ आकाशका लक्षण शब्द है, वायुका लक्षण स्पर्श है, तेजका लक्षण रूप है, जलका लक्षण रस है ॥ २२ ॥ सकल भूतोंको धारण करनेवाली पृथिवीका लक्षण गन्ध है, स्वर और व्यञ्जनों से संस्कार पाई हुई वाणीका लक्षण शब्द है ॥ २३ ॥ मनका लक्षण विचार है, बुद्धिका लक्षण चिन्ता है, मनसे विचारे हुए अर्थोंका इस लोकमें बुद्धिसे निश्चय किया जाता है ॥ २४ ॥ क्योंकि-बुद्धि निश्चय करनेसे ही जानी जाती है, इसमें सन्देह नहीं है, मनका लक्षण ध्यान है (लोकदृष्टिसे, शास्त्रदृष्टि या अनुभवसे जानेहुए विषय, उद्बोधक हो या न हो, वारंवार स्फुरण होना मनका

लक्षणं मनसो ध्यानमव्यक्तं साधुलक्षणम् ॥२५॥ प्रवृत्तिलक्षणो योगो ज्ञानं संन्यासलक्षणम् । तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ २६ ॥ संन्यासी ज्ञानसंयुक्तः प्राप्नोति परमां गतिम् । अतीतो द्वन्द्वमभ्येति ततो मृत्युजरातिगः ॥ २७ ॥ धर्मलक्षणसंयुक्तमुक्तं वो विधिवन्मया । गुणानां ग्रहणं सम्यक् वक्ष्याम्यहमतः परम् ॥ २८ ॥ पार्थिवो यस्तु गन्धो वै घ्राणेन स हि गृह्यते । घ्राणस्थश्च तथा वायुर्गन्धज्ञाने विधीयते ॥२९॥ अपां धातू रसो नित्यं जिह्वया स तु गृह्यते । जिह्वास्थश्च तथा सोमो रसज्ञाने विधीयते ॥ ३० ॥ ज्योतिषश्च गुणो रूपं चक्षुषा तच्च गृह्यते । चक्षुष्यश्च सदादित्यो रूपज्ञाने विधीयते ॥ ३१ ॥ वायव्यस्तु

लक्षण) साधु पुरुषका लक्षण अव्यक्त है (उसको कोई दूसरा पुरुष नहीं पता सकता, क्योंकि-वे बाहरका दिखावा नहीं करते हैं) ॥२५॥ योगका लक्षण प्रवृत्ति है, संन्यासका लक्षण ज्ञान है इसलिये बुद्धिमान् पुरुष इस लोकमें ज्ञानको आगे करके संन्यासी होते हैं ॥ २६ ॥ ज्ञानवान् संन्यासी परमगतिको पाता है, शीत उष्ण आदि विरुद्ध द्वंद्वोंके पार होकर तथा तम, मृत्यु और जरा के पार पहुँच कर परमगतिको पाता है ॥२७॥ जो धर्मके लक्षणों से युक्त है उसको मैंने तुमसे विधिपूर्वक कहदिया, अब मैं इन्द्रियों से गुणोंको ग्रहण करनेके विषयमें यथावत् कहूँगा ॥ २८ ॥ गन्ध जो पृथिवीका विषय है वह घ्राण (नासिका) इन्द्रियसे ग्रहण कियाजाता है और गन्धका ज्ञान प्राप्त करनेमें नासिकाके वायुसे काम लिया जाता है ॥ २९ ॥ जलका धातु (सार-गुण) रस है, उसका जीभसे ग्रहण किया जाता है और जीभमें स्थित सोम (देवता) रसका ज्ञान पानेमें सहायता करता है ॥ ३० ॥ तेजका गुण रूप है और वह चक्षुसे ग्रहण कियाजाता है तथा चक्षुमें स्थित सूर्य सदा रूपका ज्ञान-प्राप्त करनेमें सहायता देता है ।३१।

सदा स्पर्शस्त्वचा प्रज्ञायते च सः । त्वक्स्थश्चैव सदा वायुः स्पर्शने स विधीयते ॥३२॥ आकाशस्य गुणो घोष श्रोत्रेण च स गृह्यते । श्रोत्रस्थाश्च दिशाः सर्वाः शब्दज्ञाने प्रकीर्तिताः ॥३३॥ मनसश्च गुणश्चिन्ता प्रज्ञया सा तु गृह्यते । हृदिस्थश्चेतनो धातुर्मनो ज्ञाने विधीयते ॥३४॥ बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा । निश्चित्य ग्रहणाद् व्यक्तमव्यक्तं नात्र संशयः ॥३५॥ अलिङ्गग्रहणो नित्यं क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः । तस्मादलिङ्गः क्षेत्रज्ञः केवलं ज्ञानलक्षणः ॥ ३६ ॥ अव्यक्तं क्षेत्रमुद्दिष्टं गुणानां प्रभवाप्ययम् । सदा पश्याम्यहं लीनं विजानामि शृणोमि च ॥ ३७ ॥ पुरुषस्तद्विजानीते तस्माद् क्षेत्रज्ञ उच्यते । गुणवृत्तं तथा वृत्तं क्षेत्रज्ञः

वायुका गुण स्पर्श है और वह त्वचासे जानाजाता है तथा त्वचामें स्थित वायु सदा स्पर्शका ज्ञान प्राप्त करनेमें सहायता देता है३२ आकाशका गुण शब्द है और वह श्रोत्र इन्द्रियसे ग्रहण किया जाता है तथा श्रोत्रमें स्थित जो सब दिशायें हैं वे शब्दके ज्ञानमें सहायता देती हैं ॥ ३३ ॥ मनका गुण चिन्तवन है और वह प्रज्ञा (बुद्धि) से ग्रहण कियाजाता है तथा हृदयमें रहनेवाला चेतन रूप गुण मनको ज्ञान प्राप्त करनेमें सहायता करता है३४ बुद्धि अध्यवसाय (निश्चलता) से और महान् (ब्रह्म) ज्ञानसे जानाजाता है, इसप्रकार गुणोंको ग्रहण करके व्यक्त और अव्यक्तका निश्चय करे, इसमें सन्देह नहीं है ॥३५॥ वह क्षेत्रज्ञ लिङ्ग (चिह्न) को ग्रहण नहीं करता है,नित्य है और निर्गुणात्मक है, इसलिये वह अलिङ्ग और निर्गुण क्षेत्रज्ञ केवल ज्ञानरूप है॥३६॥अव्यक्तको ही क्षेत्र कहते हैं, उसमें गुणोंकी उत्पत्ति होती है और लय होता है, मैं नित्य लीन हुएको देखता,जानता हूँ, और सुनता हूँ ॥ ३७॥ पुरुष उसको जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है, क्षेत्रज्ञ गुणोंकी क्रिया और सङ्कोच-लयको सब

परिपश्यति ॥ ३८ ॥ आदिमध्यावसानान्तं सृज्यमानमचेतनम् ।
न गुणा विदुरात्मानं सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥ ३९ ॥ न च तं
विन्दते कश्चित् क्षेत्रज्ञस्त्वेव विन्दति । गुणानां गुणभूतानां यत्
परं परमं महत् ॥ ४० ॥ तस्माद् गुणांश्च सत्त्वं च परित्यज्येह
धर्मवित् । क्षीणदोषो गुणातीतः क्षेत्रज्ञं प्रविशत्यथ ॥ ४१ ॥
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च । अचलश्चानिकेतश्च
क्षेत्रज्ञः स परो विभुः ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

ब्रह्मोवाच । यदादिमध्यपर्यन्तं ग्रहणोपायमेव च । नामलक्षण-
संयुक्तं सर्वं वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥१॥ अहः पूर्वं ततो रात्रिर्मासाः

प्रकारसे देखता है ॥३८॥ बारंबार उत्पन्न होतेहुए गुण आदि,
मध्य और अन्तवाले, उत्पत्ति और लयके गुणवाले, चेतनाशून्य
अपने स्वरूप (आत्मा) को नहीं जानते ॥ ३९ ॥ कोई भी सत्य
(आत्मा) को नहीं जानता, केवल क्षेत्रज्ञ ही गुण और गुण-
भूतोंकी अपेक्षा जो श्रेष्ठ और परम महत् है उसको जानता है ४०
इसलिये इस लोकमें धर्मको जानने वाला, कि-जिसके दोष क्षीण
होगये हैं और जो गुणोंके पार पहुँचगया है वह गुणोंको और
सत्त्व (बुद्धि) को त्यागकर क्षेत्रज्ञमें प्रवेश करता है ॥ ४१ ॥
सुख दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, किसीको नमस्कार न करनेवाला,
स्वाहाकारसे शून्य (सकाम कर्म न करनेवाला), अचल और
जिसका कोई नियत स्थान नहीं है वह क्षेत्रज्ञ महान् प्रभु है ४२
तैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ छ ॥

ब्रह्माने कहा, कि-जो आदि, मध्य और अन्तवाला है, जिसको
पानेका उपाय है, जिसका नाम और लक्षण है उस सबको मैं तत्त्व-
रूपसे कहूँगा ॥१॥ पहले दिन है और फिर रात्रि है, महीनोंका

शुक्लादयः स्मृताः। श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः २
भूमिरादिस्तु गन्धानां रसानामाप एव च। रूपाणां ज्योतिरादित्यः
स्पर्शानां वायुरुच्यते ॥ ३ ॥ शब्दस्यादिस्तथाकाशमेष भूतकृतो
गुणः। अतः परं प्रवक्ष्यामि भूतानामादिमुत्तमम् ॥४॥ आदित्यो
ज्योतिषामादिरग्निर्भूतादिरुच्यते। सावित्री सर्वविद्यानां देवतानां
प्रजापतिः ॥ ५ ॥ ओंकारः सर्ववेदानां वचसां प्राण एव च।
यदस्मिन्नियतं लोके सर्वं सावित्रिरुच्यते ॥ ६ ॥ गायत्री छन्दसा-
मादिः प्रजानां सर्ग उच्यते। गावश्चतुष्पदामादिर्मनुष्याणां द्विजा-
तयः ॥७॥ श्येनः पतत्रिणामादिर्यज्ञानां हुतमुत्तमम्। सरीसृपाणां
सर्वेषां ज्येष्ठः सर्पो द्विजोत्तमाः ॥८॥ कृतमादिर्युगानाञ्च सर्वेषां

आरम्भ शुक्लपक्षसे होता है, नक्षत्रोंका आरम्भ श्रवणसे है और ऋतुओंका आरम्भ शिशिरसे होता है ॥ २ ॥ गन्धोंका आदि कारण भूमि है, रसोंका आदिकारण जल है, रूपोंका तेजःस्वरूप सूर्य है और स्पर्शोंका आदिकारण वायु कहलाता है ॥ ३ ॥ तथा शब्दोंका आदि आकाश है, ये सब भूतोंके गुण हैं, अब मैं भूतोंमें जो प्रथम और उत्तम है उसको कहता हूँ ॥ ४ ॥ ज्योतियोंमें आदित्यको आदि कहते हैं, भूतोंमें अग्निको आदि कहते हैं, सब विद्याओंमें सावित्री और देवताओंमें प्रजापति आदि है ॥ ॥५॥ सब वेदोंमें ॐकार और वचनोंमें प्राण आदि है, इस लोकमें यह सब जिसमें रहता है वह सविता ब्रह्म, सबका उपास्य देव है (अर्थात् उपास्यदेवोंमें आदिदेव सविता है) ॥ ६ ॥ छन्दोंमें गायत्री आदि है, प्रजाओंका आदि सर्ग (सृष्टिकाल) है चौपायोंमें गौ और मनुष्योंमें द्विजाति आदि है ॥ ७ ॥ पंखवालोंमें बाजपक्षी, यज्ञोंमें उत्तम आहुति और हे द्विजवरो ! पेटसे चलने वाले प्राणियोंमें सर्प श्रेष्ठ है ॥८॥ सब युगोंमें सतयुग आदि है इसमें सन्देह नहीं है, सब रत्नोंमें सुवर्ण, फल आते ही पकजाने

नात्र संशयः । हिरण्यं सर्वरत्नानामोषधीनां यवास्तथा ॥ ९ ॥
सर्वेषां भक्ष्यभोज्यानामन्नं परममुच्यते । द्रवाणाञ्चैव सर्वेषां पेया-
नामपि उत्तमाः ॥१०॥ स्थावराणान्तु भूतानां सर्वेषामविशेषतः ।
ब्रह्मक्षेत्रं सदा पुण्यं प्लक्षः प्रथमतः स्मृतः ॥ ११ ॥ अहं प्रजाप-
तीनाञ्च सर्वेषान्नात्र संशयः। मम विष्णुरचिन्त्यात्मा स्वयम्भूरिति
स स्मृतः ॥ १२ ॥ पर्वतानां महामेरुः सर्वेषामग्रजः स्मृतः ।
दिशाञ्च प्रदिशाञ्चोर्ध्वं दिक् पूर्वा प्रथमा तथा ॥ १३ ॥ तथा
त्रिपथगा गङ्गा नदीनामग्रजा स्मृता । तथा सरोदपानानां सर्वेषां
सागरोऽग्रजः ॥ १४ ॥ देवदानवभूतानां पिशाचोरगरक्षसाम् ।
नरकिन्नरयक्षाणां सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १५ ॥ आदिर्विश्वस्य
जगतो विष्णुर्ब्रह्ममयो महान् । भूतं परतरं यस्मात्त्रैलोक्ये नेह
विद्यते ॥ १६ ॥ आश्रमाणां च सर्वेषां गार्हस्थ्यं नात्र संशयः ।

वाले पौधोंमें जौ आदि है ॥९॥ सब भक्ष्य और भोज्य पदार्थोंमें अन्न श्रेष्ठ है और सब बहने वाले पीनेके पदार्थोंमें जल श्रेष्ठ है ॥ १० ॥ सकल स्थावरोंमें किसी भी विशेष भावको छोड़कर ब्रह्माका निवासस्थान, पवित्र प्लक्ष (पिलखन) के पेड़को सबसे पहले गिना है ॥ ११ ॥ सकल प्रजापतियोंमें मैं 'अहम्' प्रथम हूँ, इसमें सन्देह नहीं है,मुझसे विष्णु श्रेष्ठ हैं, वह अचिन्त्य आत्मा वाले हैं और स्वयंभू कहलाते हैं ॥ १२ ॥ सब पर्वतोंमें सुमेरु सबसे पहले उत्पन्न हुआ कहलाता है, दिशाओं और दिशाओंके कोनोंमें पूर्व दिशा पहले उत्पन्न हुई कहलाती है ॥१३॥ नदियोंमें स्वर्गंगी गङ्गा सबसे पहले उत्पन्न हुई है, सकल सरोवर और कूपोंमें सागर प्रथम है ॥१४॥ देव, दानव और भूतोंमें, पिशाच, सर्प और राक्षसोंमें तथा नर, किन्नर और यक्षोंमें भगवान् विष्णु हैं ॥ १५ ॥ विश्वके आदि और जगत्की अपेक्षा महान् विष्णु ब्रह्ममय हैं, इस त्रिलोकीमें उनसे बड़ा कोई प्राणी नहीं है ।१६।

लोकानामादिरव्यक्तं सर्वस्यान्तस्तदेव च ॥ १७ ॥ अस्तान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी। सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम् ॥ १८॥ सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः। संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम् ॥ १९ ॥ सर्वं कृतं विनाशान्तं जातस्य मरणं ध्रुवम्। अशाश्वतं हि लोकेऽस्मिन् सदा स्थावरजङ्गमम् ॥ २०॥ इष्टं दत्तं तपोऽधीतं व्रतानि नियमाश्च ये। सर्वमेतद्विनाशान्तं ज्ञानस्यान्तो न विद्यते ॥ २१ ॥ तस्माज् ज्ञानेन शुद्धेन प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः। निर्म्ममो निरहङ्कारो मुच्यते सर्वपाप्मभिः ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

सब आश्रमोंमें गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं है लोकोंका आदि प्रकृति है और सबका अन्त भी वही है ॥१७॥ सूर्यका अस्त होना दिनका अन्त है, सूर्योदय रात्रिका अन्त है, सुखका अन्त सदा दुःख है और दुःखका अन्त सदा सुख है ॥१८॥ क्षय सब संग्रहोंका अन्त है और पतन सब उन्नतियोंका अन्त है, संयोगोंका अन्त वियोगोंमें और जीवनका अन्त मरणमें है ॥ १९ ॥ जो कुछ रचा गया है उसका विनाशरूप अन्त है, जिसका जन्म हुआ है उसका मरण अवश्य होगा, क्या स्थावर क्या जङ्गम कोई सदा रहनेवाला नहीं है ॥ २० ॥ यज्ञ दान, तप, अध्ययन, व्रत और नियम ये सब विनाशरूप हैं परन्तु ज्ञानका अन्त कभी नहीं होता ॥ २१ ॥ इसलिये शुद्ध ज्ञानसे परमशान्त चित्तवाला, जितेन्द्रिय, ममताशून्य और अहङ्कारहीन मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २२ ॥ चौवालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥ छ ॥ छ ॥

ब्रह्मोवाच । बुद्धिसारं मनःस्तम्भमिन्द्रियग्रामबन्धनम् । महाभूत-
परिस्कन्धं निवेशपरिवेशनम् ॥ १ ॥ जराशोकसमाविष्टं व्याधि-
व्यसनसम्भवम् । देशकालविचारीदं श्रमव्यायामनिःस्वनम् ॥२॥
अहोरात्रपरिक्षेपं शीतोष्णपरिमण्डलम् । सुखदुःखान्तसंश्लेषं
क्षुत्पिपासावकीलकम् ॥३॥ छायातपविलेखञ्च निमेषोन्मेषविह्व-
लम् । घोरमोहजलाकीर्णं वर्तमानमचेतनम् ॥४॥ मासार्धमासगणितं
विषमं लोकसञ्चरम् । तमोनियमपङ्कञ्च रजोवेगप्रवर्तकम् ॥ ५ ॥
महाहङ्कारदीप्तञ्च गुणसञ्जातवर्तनम् । अरतिग्रहणानीकं शोक-
संहारवर्तनम् ॥ ६ ॥ क्रियाकारणसंयुक्तं रागविस्तारमायतम् ।

ब्रह्माने कहा, कि-बुद्धिरूप सार (ग्रहण करने योग्य भाग) वाला, मनरूप स्तम्भवाला, इन्द्रियसमूहरूप बन्धनवाला, पञ्चभूतके समूहरूप, स्त्रीरूप घेरेवाला ॥ १ ॥ वृद्धावस्था और शोकसे घिरा हुआ, रोग और दुर्व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाला, देश और कालके अनुसार विचरनेवाला, परिश्रम और व्यायामरूप शब्द करनेवाला ॥२॥ दिन और रात्रिको चलानेवाला, सरदी गरमीसे घिरा हुआ, सुख और दुःखके सङ्गवाला, भूख प्यासकी कीलोंसे जड़ा हुआ ॥ ३ ॥ छाया और धूप जिसमें कुरेदनेवाले हैं, आँखके खुलने मिचनेमें व्याकुल होनेवाला, घोर मोहजाल आँसुओंसे भरा, नित्य फिरनेवाला और जड ॥ ४ ॥ महीने और पक्षोंसे गिना हुआ, स्वरूपको बदलनेवाला, लोगोंको ऊपर नीचे लेजानेवाला, तमसे कर्म और ज्ञानको रोकनारूप कीचड़ वाला, रजोगुणकी (निषिद्ध कर्मोंमें) प्रवृत्ति करनेवाला ॥५॥ महा अहङ्कारसे दीप्त, सत्वादि गुणोंसे घूमनेवाला इच्छित वस्तुओंके न मिलनेके सन्तापरूप पत्तरोंसे बँधाहुआ, शोक और संहारके लिये ही घूमनेवाला ॥६॥ क्रिया और कारणसे युक्त, आसक्तिसे विस्तार पानेवाला, खोखला, लोभ और तृष्णासे

लोभेप्सापरिविक्षोभं विचित्राज्ञानसम्भवम् ॥७॥ भयमोहपरीवारं भूतसम्मोहकारकम् । आनन्दप्रीतिचारञ्च कामक्रोधपरिग्रहम् ८ महदादिविशेषान्तमसक्तं प्रभवाव्ययम् । मनोजवं मनःकान्तं कालचक्रं प्रवर्तते ॥ ९ ॥ एतद् द्वन्द्वसमायुक्तं कालचक्रमचेतनम् । विसृजेत् संक्षिपेच्चापि बोधयेत् सामरं जगत् ॥ १० ॥ कालचक्रप्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्चैव तत्त्वतः । यस्तु वेद नरो नित्यं न स भूतेषु मुह्यति ॥११॥ विमुक्तः सर्वसंस्कारैः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः । विमुक्तः सर्वपापेभ्यः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १२ ॥ गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः॥१३॥यः कश्चिदिह लोकेऽस्मिन्नागमः परिकीर्तितः । तस्यान्तगमनं श्रेयः कीर्तिरेषा सनातनी ॥१४॥ संस्कारैः संस्कृतः

खब हिलनेवाला, विचित्र अज्ञानको उत्पन्न करनेवाला ॥ ७ ॥ भय और मोहरूप परिवार वाला, प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला, आनन्द और प्रीतिको फैलानेवाला, काम और क्रोधको चारों ओरसे समेटनेवाला ॥ ८ ॥ महत्तत्त्वादि चौवीस तत्त्वोंका परिणामरूप, कहीं न रुकनेवाला, उत्पत्ति और लयसेयुक्त,मनके वेगवाला और मनको प्यारा लगनेवाला यह कालचक्र चलता ही रहता है।९ सुखदुःखादि द्वन्द्वोंवाला और चेतनाशून्य यह कालचक्र जगत्को उत्पन्न करता है और इसको सकोडता है, जगत्को जगाता है और इसको उधाडता है ॥ १० ॥ कालचक्रकी प्रवृत्ति और निवृत्तिको जो कोई मनुष्य जानता है वह भूतोंमें कभी मोह नहीं पाता ॥११॥ वह सब संस्कारोंसे छूट जाता है, सुख दुःख आदि सकल द्वन्द्वोंसे मुक्त रहता है तथा सकल पापोंसे छूटकर परमगतिको प्राप्त होजाता है ॥१२॥ गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार आश्रम कहे हैं इन सबोंका मूल गृहस्थाश्रम है।। १३ ॥ इस लोकमें जिस विधि निषेधकी अधिक प्रशंसा की है, उसके अन्तमें पहुँचना ही श्रेय है और यही सनातन कीर्ति

पूर्वं यथावच्चरितव्रतः। जातौ गुणविशिष्टायां समावर्तेत तत्त्ववित् १५
स्वदारनिरतो नित्यं शिष्टाचारो जितेन्द्रियः। पञ्चभिश्च महायज्ञैः
श्रद्दधानो यजेदिह ॥१६॥ देवतातिथिशिष्टाशी निरतो वेदकर्मसु।
इज्यादानयुक्तश्च यथाशक्ति यथासुखम् ॥१७॥ न पाणिपाद-
चपलो न नेत्रचपलो मुनिः। न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः१८
नित्यं यज्ञोपवीती स्याच्छुक्लवासाः शुचिव्रतः। नियतो यमदानाभ्यां
सदा शिष्टैश्च संविशेत् ॥ १९ ॥ जितशिश्नोदरो मैत्रः शिष्टाचार-
समन्वितः। वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकञ्च कमण्डलुम् ॥ २० ॥
अधीत्याध्यापनं कुर्यात् तथा यजनयाजने। दानं प्रतिग्रहं वापि

है ॥ १४ ॥ पहले संस्कारोंसे शुद्ध हुआ, ठीक २ व्रतोंका पालन करनेवाला और श्रेष्ठ गुणोंवाली जातिमें उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञानी गुरुके घरसे लौटकर आवे ॥ १५ ॥ सदा अपनी स्त्रीपर प्रेम रखनेवाला, अच्छे पुरुषोंके आचरणका पालन करनेवाला, जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् पुरुष पञ्चमहायज्ञोंसे देवताओंका पूजन करे ॥ १६ ॥ देवताको भोग लगाये हुए और अतिथिसे शेष रहे अन्नको खानेवाला, वैदिक कर्मोंमें प्रेम रखनेवाला, अपनी शक्तिके अनुसार इसप्रकार यज्ञ और दान करे, कि जिसमें सुख प्राप्त हो॥१७॥ निषिद्ध वस्तुको ग्रहण न करनेवाला, निषिद्ध स्थान पर न जानेवाला, निषिद्ध पदार्थोंको न देखनेवाला, वाणी और शरीरसे निषिद्ध व्यवहार न करनेवाला और परमात्माका मनन करनेवाला हो, यह शिष्ट पुरुषका लक्षण है ॥१८॥ (द्विज) सदा यज्ञोपवीतको धारण करे, स्वेत वस्त्र पहरे, पवित्र व्रतोंका पालन करे, नियमसे यमोंका आचरण और दान करे तथा सदा शिष्ट पुरुषोंके पास बैठे ॥१९॥ शिश्न और पेटको जीते (मनमाना स्त्रीसहवास और भोजन न करे), सबसे मित्रभाव रक्खे, शिष्टाचारका पालन करे, बाँसकी लकड़ी और जलका पात्र पास

षड्गुणां वृत्तिमाचरेत् ॥२१॥ त्रीणि कर्माणि जानीत ब्राह्मणानां तु जीविका। याजनाध्यापने चोभे शुद्धाच्चापि प्रतिग्रहः ॥ २२ ॥ अथ शेषाणि चान्यानि त्रीणि कर्माणि यानि तु। दानमध्ययनं यज्ञो धर्मयुक्तानि तानि तु ॥ २३ ॥ तेष्वप्रमादं कुर्वीत त्रिषु कर्मसु धर्मवित्। दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः सर्वभूतसमो मुनिः ।२४। सर्वमेतद्यथाशक्ति विप्रो निर्वर्तयन् शुचिः। एवं युक्तो जयेत्स्वर्गं गृहस्थः संशितव्रतः ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

ब्रह्मोवाच। एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि। अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान् ॥ १ ॥ स्वधर्मनिरतो विद्वान्

रक्खे ॥ २० ॥ वेद पढे, पढावे तथा यज्ञ करे और करावे, दान देय और लेय, इन छः गुणोंवाले जीवनको चलावे ॥ २१ ॥ इनमेंसे यज्ञ कराना, अध्ययन कराना और पवित्र मनुष्योंसे दान लेना इन तीन कर्मोंको ब्राह्मणोंकी जीविका जानो ॥ २२ ॥ और दान देना, अध्ययन करना तथा यज्ञ करना ये शेष तीन कर्म ब्राह्मणोंके धर्मरूप हैं ॥ २३ ॥ धर्मका ज्ञाता, दमका पालन करने वाला, सब प्राणियोंके साथ मित्रभाव रखनेवाला, क्षमावान्, सब प्राणियोंके ऊपर समान भाव रखनेवाला मुनि, इन तीन कर्मोंको करनेमें कभी प्रमाद न करे ॥ २४ ॥ ऐसे गुणों वाला और यथाशक्ति इन सब बातोंका पालन करने वाला, दृढव्रत धारी और पवित्र रहने वाला गृहस्थी ब्राह्मण स्वर्गको जीत लेता है ॥ २५ ॥ पैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४५ ॥ छ ॥

ब्रह्माने कहा, कि-इसप्रकार पहले कहेहुए नियमके अनुसार यथाविधि और यथाशक्ति अध्ययन करनेवाला, ब्रह्मचर्य व्रतका पालक ॥ १ ॥ अपने धर्मका प्रेमी, विद्यावान्, सब इन्द्रियोंको

सर्वेन्द्रिययतो मुनिः। गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्यधर्मपरः शुचिः २
गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन्। हविष्यभैक्ष्यभुक् चापि
स्थानासनविहारवान् ॥ ३ ॥ द्विकालमग्निं जुह्वानः शुचिर्भूत्वा
समाहितः। धारयीत सदा दण्डं वैल्वं पालाशमेव वा ॥४॥ क्षौमं
कार्पासिकं चापि मृगाजिनमथापि वा। सर्वं काषायरक्तं वा वासो
वाऽपि द्विजस्य ह ॥५॥ मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः ॥ ६ ॥ पूताभिश्च
तथैवाद्भिः सदा दैवततर्पणम्। भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी
प्रशस्यते ॥ ७ ॥ एवंयुक्तो जयेल्लोकान् वानप्रस्थो जितेन्द्रियः।
न संसरति जातीषु परमं स्थानमाश्रितः ॥८॥ संस्कृतः सर्वसंस्का-

नियममें रखनेवाला, परमात्माका ध्यान करनेवाला, गुरुका प्रिय और हित करनेमें तत्पर, सत्य धर्मका आचरण करनेवाला, पवित्र मनुष्य ॥ २ ॥ गुरुकी अच्छे प्रकारसे आज्ञा लेकर, अन्नका तिरस्कार न करता हुआ भोजन करे, हविष्यरूप भिक्षा माँगकर लाया हुआ अन्न खाय, एक स्थान पर आसन लगाकर बैठे अथवा विचरता फिरे ॥ ३ ॥ (नित्य स्नान कर) पवित्र और सावधान होकर प्रातःकाल और सायङ्कालके समय अग्निमें होम करे, बेलका या ढाकका दण्डा सदा हाथमें रक्खे ॥ ४ ॥ रेशमका, सूतका अथवा मृगचर्मका, संपूर्ण गेरुआ रङ्गमें रँगाहुआ वस्त्र द्विज पहरे ॥ ५ ॥ मूँजकी मेखला पहरे, जटा रक्खे और नित्य स्नान करे, यज्ञोपवीत पहरे, स्वाध्याय करे, लोभ न करे और नियम कियेहुए व्रतोंका पालन करे ॥६॥ तथा पवित्र जलसे सदा देवताओंका तर्पण करे, श्रद्धाके साथ इन सब नियमोंका पालन करके वर्त्ताव करनेवाले ब्रह्मचारीकी प्रशंसा होती है ॥७॥ इसप्रकार गुणोंसे युक्त हुआ जितेन्द्रिय,वानप्रस्थ पुरुष सब लोकोंको जीतलेता है और परम स्थानका आश्रय मिलजाने पर किसी

रैस्तथैव ब्रह्मचर्य्यवान् । ग्रामान्निष्क्रम्य चारण्ये मुनिः मन्त्रजितो वसेत् ॥ ९ ॥ चर्म्मवल्कलसंवासी सायं प्रातरुपस्पृशेत् । अरण्य-गोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत् पुनः ॥१०॥ अर्चयन्नतिथीन्काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम् । फलपत्रावरैर्मूलैः श्यामाकेन च वर्त्तयन् ११ प्रवृत्तमुदकं वायुं सर्वं वानेयमाश्रयेत् । प्राश्नीयादानुपूर्व्येण यथा-दीक्षमतन्द्रितः ॥ १२ ॥ स मूलफलभिक्षाभिरर्चेदतिथिमागतम् । यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्भिक्षां नित्यमतन्द्रितः ॥१३॥ देवतातिथि-पूर्वञ्च सदा प्राश्नीत वाग्यतः । अस्पर्धितमनाश्चैव लघ्वाशी देवताश्रयः॥१४॥ दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशान् श्मश्रु च धारयन् ।

भी जातिमें जन्म नहीं लेता है ॥८॥ तथा सब संस्कारोंसे शुद्ध हुआ ब्रह्मचारी भी (नहीं जन्मता है) सबका त्याग करनेवाले मुनि को गाँवमेंसे बाहर निकलकर अरण्यमें निवास करना चाहिये ९ मृगचर्म और वृक्षोंकी छाल ओढे, सायंकाल और प्रातःकालके समय स्नान करे, वनमें रहे और (वानप्रस्थ) फिर बसतीमें लौटकर न आवे ॥१०॥ अतिथियोंकी समय पर पूजा करे और उनको आश्रय भी देय तथा स्वयं फल, पत्ते, मूल और श्यामाक अन्नसे निर्वाह करे ॥ ११ ॥ बहता हुआ जल, वायु यह सब वनका ही काममें लावे, अपने व्रतके अनुसार सावधानीके साथ क्रमसे भोजन करे ॥१२॥ घर आये हुए अतिथिका कन्द, फल और भिक्षा(अन्न) आदि देकर पूजन करे तथा असावधानी न न करके जो कुछ भी भोजन होय उसमेंसे भिक्षा देय ॥ १३ ॥ वाणीको नियममें रखकर नित्य पहले देवता और अतिथिको भोजन अर्पण करे, पीछे स्वयं खाय, मनमें हिरस न रक्खे, हलका भोजन करे, देवताओंका भरोसा रक्खे ॥१४॥ मन और इन्द्रियों का दमन करनेवाला, सबके साथ मित्रता रखनेवाला, क्षमावान्, जटा और दाढी मूछ रखनेवाला, यज्ञ करनेवाला, स्वाध्याय-

कुर्वन्स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः ॥१५॥ शुचिर्देहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः । एवंयुक्तो जयेत् स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रियः ॥१६॥ गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथवा पुनः । य इच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥१७॥ अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् । सर्वभूतसुखो मैत्रः सर्वेन्द्रिययतो मुनिः १८ अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया । कृत्वा प्राह्णे चरेद्भैक्ष्यं विधूमे भुक्तवज्जने ॥१९॥ वृत्ते शरावसम्पाते भैक्ष्यं लिप्सेत मोक्षवित् । लाभेन न च हृष्येत नालाभे विमना भवेत् । न चातिभिक्षां भिक्षेत केवलं प्राणयात्रिकः ॥ २० ॥ यात्रार्थी कालमाकांक्षंश्चरेद्भैक्ष्यं

शील, सत्यधर्मपरायण ॥१५॥ पवित्र शरीरवाला, सदा प्रवीण, नित्य वनका निवासी और सावधान, ऐसे गुणोंवाला, जितेन्द्रिय वानप्रस्थ स्वर्गको जीतलेता है ॥ १६ ॥ गृहस्थ, ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ जो कोई भी मोक्ष पाना चाहे उसको उत्तम जीवनका आश्रय करना चाहिये ॥ १७ ॥ सब प्राणियोंको अभय देकर कोई भी कर्म न करनेका व्रत लेय, सब प्राणियोंको सुख देय, सबके साथ मित्रता रक्खे, सब इन्द्रियोंको नियममें रक्खे और मुनि होजाय ॥ १८ ॥ विना याचनाके मिले हुए और विना इच्छाके मिले हुए अन्न पर आधार रक्खे, लोग प्रातःकाल कृत्य कररहे हों, चूल्हेमेंसे धुआँ न निकलता हो (चूल्हा ठण्डा कर दिया गया हो) और लोग भोजन कर चुके हों तब संन्यासी भिक्षा माँगने जाय ॥ १९ ॥ जब भोजन बनानेके पात्र माँज धो कर उलटे करके धर दिये हों, उस समय मोक्षको जाननेवाला संन्यासी भिक्षा माँगनेकी इच्छा करे, भिक्षा मिलजाय ॥ १९ ॥ तो प्रसन्न न होय और न मिले तो दुःख न माने, निर्वाहसे अधिक भिक्षा न माँगे, जितनीसे अपना प्राण धारण होजाय उतनी ही माँगे ॥२०॥ अपना प्राणधारण चाहनेवाला और योग्य समय

समाहितः । लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुंजीताभिपूजितः ॥२१॥
अभिपूजितलाभाद्धि विजिगुप्सेत भिक्षुकः। भुक्तान्यन्नातितिक्तानि
कषायकटुकानि च ॥ २२ ॥ नास्वादयीत भुञ्जानो रसांश्च
मधुरांस्तथा । यात्रामात्रं च भुञ्जीत केवलं प्राणधारणम् ॥२३॥
असंरोधेन भूतानां वृत्तिं लिप्सेत मोक्षवित् । न चान्यमन्नं लिप्सेत
भिक्षमाणः कथञ्चन ॥ २४ ॥ न सन्निकाशयेद्धर्मं विविक्ते चार-
जाश्चरेत् । शून्यागारमरण्यं वा वृक्षमूलं नदीं तथा ॥ २५ ॥
प्रतिश्रयार्थं सेवेत पार्वतीं वा पुनर्गुहाम् । ग्रामैकरात्रिको ग्रीष्मे
वर्षास्वेकत्र वा वसेत् ॥ २६ ॥ अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवच्च
चरेन्महीम् । दयार्थं चैव भूतानां समीक्ष्य पृथिवीं चरेत् ॥ २७ ॥

की बाट देखनेवाला संन्यासी सावधान होकर भिक्षा माँगे साधा-
रणसे भी लाभकी इच्छा न करे और जहाँ अधिक पूजन किया
जाता हो तहाँ भोजन न करे ॥२१॥ संन्यासीको चाहिये, कि-
प्रतिष्ठाके साथ जो लाभ होता हो उससे घृणा करे, खाकर छोडा
हुआ अन्न, अधिक चरपरा अन्न, कसैला अन्न, कड़वा अन्न और
मधुर रसवाले अन्नका संन्यासी स्वाद न लेय, जिसको खाकर
चल फिर सके और जीवन धारण होसके उतना ही खाय२२॥२३
मोक्ष मार्गको जाननेवाला संन्यासी इस प्रकार भिक्षावृत्ति करे,
कि-जिसमें दूसरे प्राणियोंको पीडा न होय और भिक्षाके लिये
जाकर दूसरे भिक्षुकके अन्नकी इच्छा न करे ॥२४॥ अपने धर्म
को दिखानेके लिये जोर न देय, रजोगुणरहित होकर एकान्तमें
विचरे, सूने घरमें, जंगलमें, वृक्षके नीचे, नदी पर, अथवा किसी
पहाडकी गुफामें आराम करनेको रहे, गरमीके दिनोंमें एक ग्राम
में एक ही रात रहे, वर्षाऋतुमें एक ही स्थान पर रहे२५-२६
सूर्यके दिखाये हुए मार्गसे कीड़ेकी समान भूमिपर विचरे, प्राणियों
पर दया करनेके लिये पृथिवी पर चारों ओरको देखता हुआ

सञ्चयांश्च न कुर्वीत स्नेहवासञ्च वर्जयेत् । पूताभिरद्भिर्नित्यं वै कार्यं कुर्वीत मोक्षवित् ॥ २८॥ उपस्पृशेदुद्धृताभिरद्भिश्च पुरुषः सदा । अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च सत्यमार्जवमेव च ॥ २९ ॥ अक्रोधश्चानसूया च दमो नित्यमपैशुनम् । अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः ॥ ३० ॥ अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत् । जोषयेत सदा भोज्यं ग्रासमागतमस्पृहः ॥ ३१ ॥ यात्रामात्रञ्च भुञ्जीत केवलं प्राणयात्रिकम् । धर्मलब्धमथाश्नीयान्न काममनुवर्त्तयेत् ॥ ३२ ॥ ग्रासाच्छादनादन्यन्न गृह्णीयात्कथञ्चन । यावदाहरयेत्तावत्प्रतिगृह्णीत नाधिकम् ॥३३॥ परेभ्यो न प्रतिग्राह्यं

चले ॥ २७ ॥ किसी प्रकारका सञ्चय न करे, किसीसे प्रेमभाव करके कहीं न रहे, मोक्षको जाननेवाला नित्य पवित्र जलसे अपना काम करे ॥ २८ ॥ पुरुष सदा (कूप, तालाब, नदी आदियोंसे) निकालेहुए जलसे (भरकर रक्खेहुए जलसे नहीं) स्नान आचमन आदि करे, अहिंसा ब्रह्मचर्य,. सत्य सरलता, क्रोध न करना ईर्षा न करनी, मनको वशमें रखना, कभी किसीकी निन्दा न करना, इन आठ व्रतोंका पालनेवाला पुरुष इन्द्रियोंको नियममें रख सकता है ॥२९-३०॥ पापरहित, शठताशून्य और प्रमाणिक आचरणका मनुष्यको सदा पालन करना चाहिये, सदा ग्रासर करके मिला हुआ भोजन करना चाहिये, परन्तु उसकी भी चाहना नहीं करनी चाहिये, ॥ ३१ ॥ जिसमें शरीरका निर्वाह होसके उतना ही प्राण-धारणका उपयोगी अन्न खाय, धर्मसे मिला हुआ खाय, परन्तु अपनी इच्छामें आवे सो न खाय, ॥ ३२ ॥ खाने योग्य अन्न और शरीर ढकने योग्य वस्त्र, इससे अधिकका संग्रह कभी न करे, जितना खाया जासके उतना लेय, उससे अधिक न लेय, ॥ ३३ ॥ दूसरोंसे प्रतिग्रह न लेय, किसीको देय भी नहीं चतुर मनुष्य नित्य प्राणियोंकी दीनताको देखकर

न च देयं कदाचन। दैन्यभावाच्च भूतानां संविभज्य सदा बुधः ३४
नाददीत परस्वानि न गृह्णीयादयाचितः। न किञ्चिद्विषयं भुक्त्वा स्पृहयेत्तस्य वै पुनः ॥३५॥ मृदमापस्तथान्नानि पत्रपुष्पफलानि च। असंवृतानि गृह्णीयात्प्रवृत्तानि च कार्यवान् ॥३६॥ न शिल्पजीविकां जीवेद्धिरण्यं नोत कामयेत्। न द्वेष्टा नोपदेष्टा च भवेच्च निरुपस्कृतः ॥३७॥ श्रद्धापूतानि भुंजीत निमित्तानि च वर्जयेत्। सुधावृत्तिरसक्तश्च सर्वभूतैरसंविदम् ॥ ३८ ॥ आशीर्युक्तानि सर्वाणि हिंसायुक्तानि यानि च। लोकसंग्रहधर्मञ्च नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ३९ ॥ सर्वभावानतिक्रम्य लघुमात्रः परिव्रजेत्। समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ॥४०॥ परं नोद्विजयेत् कञ्चिन्न च

समान विभाग करदेय ॥ ३४ ॥ दूसरोंकी वस्तुएँ न लेय, विना माँगे कुछ न लेय, किसी विषयको भोगकर उसकी फिर इच्छा न करे ॥ ३५ ॥ केवल मृत्तिका, जल पत्थर, पत्ते, फूल और फल कि-जिनके ऊपर किसीकी प्रभुता नहीं है, ये चीजें नीचे पड़ी हों तो अपने कामके लिये लेलेय ॥३६॥ शिल्पकारीकी जीविकासे न जिये, सुवर्णकी चाहना न करे, किसीसे द्वेष न करे, किसीको उपदेश देनेवाला न बने, किसीका उपकार न लेय ॥ ३७ ॥ श्रद्धासे पवित्र हुई वस्तु खावे और निमित्तका त्याग करे, अमृतकी समान वृत्ति रक्खे, किसीमें आसक्त न होवे और सब भूतोंके सम्बन्धसे दूर रहे ॥ ३८ ॥ जो कर्म आशिष (फल) वाले हों, जो कर्म हिंसावाले हों और जो धनसंग्रह करानेवाले कर्म हों इन सबोंको न करे और न दूसरोंसे करावे ॥ ३९ ॥ सब भावोंका पार पाकर थोड़ेसेही सन्तुष्ट रहता हुआ, जंगम और स्थावर पर समान दृष्टि रखता हुआ चारों ओर फिरता रहे ॥ ४० ॥ किसी दूसरेको उद्विग्न न करे और स्वयं भी किसीसे उद्विग्न न हो, जो सब भूतोंका विश्वासपात्र बन जाता है वह सबसे प्रथम मोक्षको

कस्यचिदुद्विजेत् । विश्वास्यः सर्वभूतानामग्र्यो मोक्षविदुच्यते ४१
अनागतन्न ध्यायेन्नातीतमनुचिन्तयेत् । वर्तमानमुपेक्षेत कालाकाङ्क्षी समाहितः४२न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत् क्वचित् । न प्रत्यक्षं परोक्षं वा किंचिद् दुष्टं समाचरेत४३इन्द्रियाण्युपसंहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः । क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धिर्निरीहः सर्वतत्ववित्४४ निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वाहाकार एव च । निर्ममो निरहङ्कारो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥ निराशीर्निर्गुणः शान्तो निरासक्तो निराश्रयः । आत्मसंगी च तत्त्वज्ञो मुच्यते नात्र संशयः ४६ अपाणिपादपृष्ठन्तदशिरस्कमनूदरम् । प्रहीणगुणकर्माणं केवलं विमलं स्थिरम् ॥ ४७ ॥ अगन्धमरसस्पर्शमरूपाशब्दमेव च ।

जाननेवाला कहाता है ॥४१॥ जो आया नहीं है उसका विचार न करे, जो बीत गया है उसकी भी चिन्ता न करे, वर्त्तमानकी उपेक्षा करे और (संन्यासीको) काल (मृत्युकाल) की आकांक्षा रखते हुए सावधान रहना चाहिये ॥४२॥ चक्षुसे, मनसे अथवा वाणीसे किसीको कभी दोष न देय, तैसे ही कभी प्रत्यक्षमें वा परोक्षमें कोई दूषित काम न करे ॥ ४३ ॥ जैसे कछुआ सब ओरसे अपने अंगोंको संकोड लेता है, तैसे ही इन्द्रियोंका विषयों मेंसे उपसंहार करनेके पीछे जिसकी इन्द्रिय, मन और बुद्धि क्षीण होगई हैं ऐसा, चेष्टारहित, सब तत्त्वोंको जाननेवाला ४४ सब प्रकारके विरुद्ध द्वन्द्वोंसे रहित, किसीको नमस्कार न करने वाला और, स्वाहाकारको त्यागने वाला, ममतारहित, अहंकार-शून्य, योग और क्षेमरहित, आत्माका हित चाहनेवाला ।४५। आशारहित, निर्गुण, शान्त, आसक्तिशून्य, आश्रयशून्य आत्माके संग वाला और तत्त्वको जानने वाला मुक्त होजाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है४६ हाथ पैर और पीठरहित, शिररहित, उदररहित, गुण और कर्मरहित, केवल, विमल (मलशून्य)

अनुगम्यमनासक्तममांसमपि चैव तत् ॥ ४८ ॥ निश्चिन्तमव्ययं दिव्यं गृहस्थमपि सर्वदा । सर्वभूतस्थमात्मानं ये पश्यन्ति न ते मृताः ॥ ४९ ॥ न तत्र क्रमते बुद्धिर्नेन्द्रियाणि न देवताः । वेदा यज्ञाश्च लोकाश्च न तपो न व्रतानि च ॥ ५० ॥ यत्र ज्ञानवतां प्राप्तिरलिंगग्रहणा स्मृता । तस्मादलिङ्गधर्मज्ञो धर्मतत्त्वमुपाचरेत् ५१ गूढधर्माश्रितो विद्वान् विज्ञानचरितं चरेत् । अमूढो मूढरूपेण चरेद्धर्ममदूषयन् ॥ ५२ ॥ यथैनमवमन्येरन् परे सततमेव हि । तथावृत्तश्चरेच्छान्तः सतां धर्मानकुत्सयन् ॥५३॥ य एवं वृत्तसम्पन्नः स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च महाभूतानि पंच च५४

हियर ॥ ४७ ॥ गन्धरहित, रस और स्पर्शरहित, रूप और शब्द रहित, अनुगम्य (समझने योग्य) आसक्तिरहित, मांसरहित४८ चिन्ताशून्य, अव्यय, दिव्य सर्वदा गृहस्थ और सब भूतोंमें स्थित आत्माको जो देखते हैं उनका मरण नहीं होता है ॥ ४९ ॥ तहाँ बुद्धि नहीं पहुँचती है, इन्द्रियें नहीं पहुँचती हैं, देवता नहीं जाते हैं, वेद, यज्ञ, लोक नहीं पहुँचते, तप और व्रत भी तहाँ नहीं पहुँचते ॥ ५० ॥ ज्ञान वालोंकी जहाँ प्राप्ति होसकती है तहाँ वह सब प्रकारके चिन्होंसे रहित कही है, इसलिये लिङ्ग (चिन्ह) रहित धर्मको जाननेवाला (ब्रह्मतत्त्वको जाननेवाला) धर्मके तत्त्वका आचरण करता है ॥५१॥ गूढधर्मका आश्रय लेने वाले विद्वानको विज्ञानके अनुकूल आचरण करना चाहिये, वह मूढ न हो तो भी वह धर्मको दूषित किये विना मूढ (मूर्ख) की समान आचरण करे ॥५२॥ जिसप्रकार दूसरे उसका सदा अपमान करते रहें, ऐसा आचरण करता हुआ, साधुपुरुषोंके धर्मोंकी निन्दा किये विना शान्त रहकर वर्ताव करे ॥ ५३ ॥ जो मनुष्य इस प्रकार व्रतोंसे सम्पन्न होता है, वह मुनियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है, इन्द्रिय और इन्द्रियोंके अर्थ (विषय), पञ्चमहाभूत, ॥५४॥

मनोबुद्धिरहङ्कारमव्यक्तं पुरुषं तथा । एतत् सर्वं प्रसंख्याय यथावत्तत्त्वनिश्चयात् ॥ ५५ ॥ ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः। एतावदन्तवेलायां परिसंख्याय तत्त्ववित् ॥ ५६ ॥ ध्यायेदेकान्तमास्थाय मुच्यतेऽथ निराश्रयः । निर्मुक्तः सर्वसंगेभ्यो वायुराकाशगो यथा॥५७॥क्षीणकोशो निरातंकस्तथेदं प्राप्नुयात् परम् ५८

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

ब्रह्मोवाच । संन्यासं तप इत्याहुर्वृद्धा निश्चितवादिनः । ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ज्ञानं ब्रह्म परं विदुः ॥ १ ॥ अविदूरात्मकं ब्रह्म वेदविद्याव्यपाश्रयम् । निर्द्वन्द्वं निर्गुणं नित्यमचिन्त्यगुणमु-

मन, बुद्धि अहङ्कार, अव्यक्त तथा पुरुष, इन सबकी यथार्थ रीति से गणना करके तत्त्वका निश्चय करे ॥ ५५ ॥ फिर वह इस तत्त्वज्ञानसे सब बन्धनोंसे मुक्त हो तत्काल स्वर्गको पाता है, तत्त्वको जाननेवाला अन्तसमयमें इन सबकी गिनती करके ५६ एकान्तमें जाकर ध्यान करता है और फिर आश्रय आदिसे मुक्त होजाता है, आकाशमें विचरनेवाले वायुकी समान सकल सङ्गोंसे मुक्त हुआ वह ॥५७॥ कि-जिसके (अन्नमयादिक) कोश नष्ट होगए हैं तथा जिसकी (अध्यात्मादिक) पीड़ा दूर होगई है,ऐसा तत्त्ववेत्ता परमपदको पाता है ॥ ५८ ॥ छियालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ ॥ छ ॥ छ ॥

ब्रह्माजी कहते हैं कि-संन्यास ही तप है, ऐसा निश्चयपूर्वक कहनेवाले वृद्ध पुरुष कहते हैं, ब्रह्मरूप योनिमें रहनेवाले ब्राह्मण ज्ञानको परब्रह्म कहते हैं ॥ १ ॥ ब्रह्म अविदूर रहने वाला है, वेद-विद्याका आश्रयवाला है, उसमें कोई विरुद्ध द्वन्द्व-गुण नहीं है वह निर्गुण है, नित्य, उसके गुणोंका चिन्तवन नहीं होसकता

त्तमम् ॥ २ ॥ ज्ञानेन तपसा चैव धीराः पश्यन्ति तत् परम् । निर्णिक्तमनसः पूता व्युत्क्रान्तरजसोऽमलाः ॥ ३ ॥ तपसा क्षेममध्वानं गच्छन्ति परमेश्वरम् । संन्यासनिरता नित्यं ये च ब्रह्मविदो जनाः ॥ ४ ॥ तपः प्रदीप इत्याहुराचारो धर्मसाधकः । ज्ञानं वै परमं विद्यात् संन्यासं तप उत्तमम् ॥ ५ ॥ यस्तु वेद निराधारं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयात् । सर्वभूतस्थमात्मानं स सर्वगतिरिष्यते ।६। यो विद्वान् सहवासं च विवासं चैव पश्यति । तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् प्रतिमुच्यते ॥७॥ यो न कामयते किंचिन्न किञ्चिदवमन्यते । इहलोकस्थ एवैष ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ८ ॥ विधानगुणतत्त्वज्ञः सर्वभूतप्रधानवित् । निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र

वह उत्तम है ॥ २ ॥ जिसका मन दोषरहित है जो पवित्र है, जिन्होंने रजस्को त्याग दिया है,जो मलरहित हैं, जो धीर हैं,वे उस परब्रह्मको ज्ञान और तपसे देखते हैं ॥ ३ ॥ जो संन्यासमें नित्य परायण रहने वाले हैं तथा ब्रह्मको जाननेवाले हैं वे तपसे परमेश्वरके पास सकुशल पहुँच जाते हैं ॥ ४ ॥ तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि–तप दीपक है, आचार धर्मका साधक है और ज्ञानको परम (श्रेष्ठ), संन्यासको उत्तम तप जानना चाहिये ॥५॥ जो तत्त्वका पूर्ण निश्चय करके आत्माको आधाररहित, ज्ञानरूप और सब भूतोंमें रहनेवाला जानता है, वह सर्वगतिको पाता है ॥६॥ जो विद्वान् सहवास और विवास तैसे ही एकत्व और नानात्वको (आत्मामें) देखता है, वह दुःखमेंसे मुक्त होजाता है ॥७॥ जो किसी वस्तुको नहीं चाहता है तथा किसीका अपमान भी नहीं करता है, वह इस लोकमें रहने पर भी ब्रह्मस्वरूप हुआ कहाता है ॥ ८ ॥ जो प्रधानरूप गुणके तत्त्वको जाननेवाला है, सब भूतोंमें जो प्रधान है उसको जाननेवाला है और जो ममत्व तथा अहंकारसे रहित है, वह निःसन्देह मुक्ति पाता है ॥ ९ ॥ पर-

संशयः ॥ ९ ॥ निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च । निर्गुणं नित्यमद्वन्द्वं प्रशमेनैव गच्छति ॥ १० ॥ हित्वा गुणमयं सर्वं कर्म जन्तुः शुभाशुभम् । उभे सत्यानृते हित्वा मुच्यते नात्र संशयः ॥ ११ ॥ अव्यक्तयोनिप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् । महाहङ्कारविटप इन्द्रियांकुरकोटरः ॥ १२ ॥ महाभूतविशालश्च विशेषप्रति शाखिनः । सदापत्रः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः १३ आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः । एवं छित्वा च भित्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः ॥ १४ ॥ हित्वा संगमयान् पाशान्मृत्युजन्मजरोदयान् । निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः ॥ १५ ॥ द्वावेतौ पक्षिणौ नित्यौ सखायौ चाप्यचेतनौ । एताभ्यान्तु परो

इतर विरुद्ध द्वन्द्वगुणोंसे रहित किसीको नमस्कार न करनेवाला, किसीके नमस्कारको ग्रहण न करनेवाला, स्वधाकार न करनेवाला, मनुष्य शान्तिसे निर्गुण, नित्य और द्वन्द्वरहित परमात्मा को प्राप्त करता है ॥ १० ॥ गुणवाले, शुभ अथवा अशुभ सब कर्मोंको त्याग देनेसे और सत्य तथा असत्य दोनोंको त्यागदेने से प्राणीको मुक्ति मिलती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ११ ॥ अव्यक्त योनिमेंसे उत्पन्न हुआ, बुद्धिरूप स्कन्ध (धुड़े) वाला महान् महाअहंकाररूप डालियोंवाला इन्द्रियरूप अंकुर और खखोडलोंवाला ॥ १२ ॥ महा (पञ्च) भूतसे विशाल, सकल शाखाओंवालोंमें श्रेष्ठ, नित्य पत्रवाला, नित्य पुष्प वाला, शुभ और अशुभ फल देनेवाला ॥ १३ ॥ सब भूतोंकी जीविका वाला एक ब्रह्मरूप वृक्ष सनातन है, इस वृक्षको तत्त्वज्ञानरूप कुल्हाडीसे काट कर बुद्धिमान् मनुष्य ॥ १४ ॥ मृत्यु, जन्म और जरावस्थासे उत्पन्न हुए सङ्गरूप पाशोंको त्यागकर ममत्व और अहङ्कारशून्य होकर मोक्षको पाता है ॥ १५ ॥ (जीवरूप और ईश्वररूप) ये दो पक्षी हैं, वे नित्य हैं, सखा हैं, और चेतन-

योऽन्यश्चेतनावान् स उच्यते ॥ १६ ॥ अचेतनः सत्त्वसंख्याविमुक्तः सत्त्वात् परं चेतयतेऽन्तरात्मा । स क्षेत्रवित् सर्वसंख्यातबुद्धिर्गुणातिगो मुच्यते सर्वपापैः ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

ब्रह्मोवाच । केचिद् ब्रह्ममयं वृक्षं केचिद् ब्रह्मवनं महत् । केचित्तु ब्रह्म चाव्यक्तं केचित् परमनामयम् । मन्यन्ते सर्वमित्येतदव्यक्तप्रभवाव्ययम् ॥१॥ उच्छ्वासमात्रमपि चेत् योऽन्तकाले समो

रहित हैं (अर्थात् उनकी उपाधि बुद्धि और माया अचेतन हैं) इन दोनोंसे जो पर है वह चेतनावाला (साक्षीरूप) कहलाता है १६ अचेतन (अर्थात् जीव चेतना वाला होने पर भी उपाधिसे अचेतन भासता है अर्थात् अज्ञानतावाला है वह) और सत्त्व (प्राणियों) की संख्या (शरीररूप उपाधिवाली गणना) से रहित हुआ (अर्थात् सकल प्राणिरूप होकर अथवा सकल प्राणियोंको अपना रूप करके और जो सत्त्व (बुद्धि) से पर है, ऐसे अन्तरात्मा (बुद्धि आदि जड़ पदार्थों) को चेतना वाला बनाता है, वह (अर्थात् जिस अन्तरात्माने बुद्धिसे परका ज्ञान पाया वह क्षेत्र (शरीर) को जानने वाला, जो सबकी बुद्धियोंका साक्षी है और गुणोंके पार पहुँचा हुआ है, वह सकल पापोंसे मुक्त होजाता है ॥ १७ ॥ सैंतालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥

ब्रह्माजीने कहा कि-कितने ही वृक्ष (संसार) को ही ब्रह्ममय मानते हैं,कितने ही ब्रह्मको अव्यक्तमय मानते हैं, कितने ही उसको परम और अनामय (विकार अथवा रोगरहित) मानते हैं यह सब अव्यक्तमेंसे उत्पन्न हुआ है और अव्यक्तमें ही लय होजाता है ॥१॥ जो मनुष्य अंतकालमें श्वास लिया जाय और छोडा जाय इतने समय भी आत्माकी उपासना करके सम (किसी

भवेत् । आत्मानमुपसंगम्य सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ २ ॥ निमेषमात्रमपि चेत् संयम्यात्मानमात्मनि । गच्छत्यात्मप्रसादेन विदुषां प्राप्तिमव्ययाम् ॥ ३ ॥ प्राणायामैरथ प्राणान् संयम्य स पुनः पुनः । द्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः ॥४॥ एवं पूर्वं प्रसन्नात्मा लभते यद्यदिच्छति। अव्यक्तात् सत्त्वमुद्रिक्तममृतत्वाय कल्पते॥५ सत्त्वात् परतरं नान्यत् प्रशंसन्तीह तद्विदः । अनुमानाद्विजानीमः पुरुषं सत्त्वसंश्रयम् ॥ ६ ॥ न शक्यमन्यथा गन्तुं पुरुषं द्विजसत्तमाः । क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् । ज्ञानं त्यागोऽथ संन्यासः सात्त्विकं वृत्तमिष्यते ॥ ७ ॥ एतेनैवानुमानेन मन्यन्ते वै मनीषिणः । सत्त्वञ्च पुरुषश्चैव तत्र नास्ति विचारणा॥८॥

प्रकारकी भी विशेषता रहित) बनता है, वह अमृत (जहाँ मृत्यु नहीं है ऐसे) स्थानको पानेमें समर्थ होता है ॥२॥ निमेष (पलक मारने मात्र समयमें भी) मात्र भी आत्मामें आत्माका संयम करने वाला, आत्माके प्रसादसे विद्वान् (ज्ञान वालों) को मिलने वाली अव्यय (कैवल्य) गतिको पाता है ॥ ३ ॥ चौबीस प्राणायामोंसे प्राणोंका पुनः पुनः संयमन करने वाला चौबीस तत्त्वोंसे भी पर अर्थात् पच्चीसवें पुरुष(परब्रह्मको) पाता है॥४॥ इस प्रकार वह प्रसन्न आत्मावाला (शुद्ध सत्त्ववाला) जोर चाहता है, उसरको पाता है, अव्यक्तमेंसे निकला हुआ सत्त्व जब उभरता है, तब वह अमृतपनेको पाता है, ॥५॥ इस लोकमें सत्त्वको जाननेवाले, सत्त्वसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है, ऐसी प्रशंसा करते हैं, पुरुष सत्त्वके आश्रय है ऐसा हम अनुमानसे जानते हैं; हे उत्तम ब्राह्मणों ! (सत्त्वके सिवाय) दूसरे किसी और मार्गसे पुरुषके पास नहीं पहुँचाजा सकता ॥ ६ ॥ क्षमा, धृति, अहिंसा समता,सत्य,आर्जव, ज्ञान, त्याग, (दान) और संन्यास इतनोंको सात्त्विक आचरण कहा है ॥७॥ इस ही अनुमानसे चतुर मनुष्य

आहुरेके च विद्वांसो ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः । क्षेत्रज्ञसत्त्वयोरैक्यमित्येतन्नोपपद्यते ॥ ९ ॥ पृथग् भूतं ततः सत्त्वमित्येतदविचारितम्। पृथग्भावश्च विज्ञेयः सहजश्चापि तत्त्वतः ॥१०॥ तथैवैकत्वनानात्वमिष्यते विदुषां नयः । मशकोदुम्बरे चैक्यं पृथक्त्वमपि दृश्यते ११ मत्स्यो यथान्यः स्यादप्सु संप्रयोगस्तथा तयोः । सम्बन्धस्तोयबिन्दूनां पर्णे कोकनदस्य च ॥ १२ ॥ गुरुरुवाच । इत्युक्तवन्तस्ते विप्रास्तदा लोकपितामहम् । पुनः संशयमापन्नाः पप्रच्छुर्मुनिसत्तमाः ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि गुरुशिष्यसंवादे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

ऋषय ऊचुः । को वा स्विदिह धर्माणामनुष्ठेयतमो मतः ।

सत्त्व और पुरुषका विचार करते हैं, और इसमें कुछ विचारने का काम नहीं है ॥८॥ ज्ञानमें ही सारी निष्ठा रखनेवाले कितने ही विद्वान् कहते-हैं कि–क्षेत्रज्ञ और सत्त्व एक ही है, परन्तु यह उचित नहीं है ॥ ९ ॥ तथा क्षेत्रज्ञसे सत्त्व पृथक् है ऐसा कहना भी विचारहीनता है,तत्त्वदृष्टिसे उनमें पृथक्त्व (समुद्र और तरंग की समान)सहज है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १० ॥ एकत्व और नानात्व यह तो विद्वानोंकी युक्ति (अथवा दृष्टिके अनुसार निश्चय)है, भुनगे और गूलड़के फलमें पृथक्त्व और ऐक्य प्रतीत होता है ॥११॥ मछली जलसे भिन्न है तो भी जलमें उन दोनों का सम्बंध है, तैसे ही सत्त्व और पुरुषका सम्बंध है, उनका सम्बन्ध कमलके पत्र पर स्थित जलबिंदुकी समान है ॥ १२ ॥ गुरु कहते हैं कि-लोकपितामह उन ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कह रहे थे, इतनेमें वे उत्तम मुनि फिर संशय होनेसे उनसे फिर बूझने लगे ॥ १३ ॥ अड़तालीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥ छ

ऋषियों ने कहा, कि–इसलोकके धर्मोंमें कौनसे धर्मका पालन

व्याहतामिव पश्यामो धर्मस्य विविधां गतिम् ॥ १ ॥ ऊर्ध्वं देहा-द्वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे। केचित् संशयितं सर्वं निःसंशयम-थापरे ॥ २ ॥ अनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे। एकरूपं द्विधेत्येके व्यामिश्रमिति चापरे ॥ ३ ॥ मन्यन्ते ब्राह्मणा एव ब्रह्मज्ञास्तत्त्वदर्शिनः। एकमेके पृथक् चान्ये बहुत्व-मपि चापरे ॥४॥ देशकालावुभौ केचित् नैतदस्तीति चापरे। जटाजिनधराश्चान्ये मुण्डाः केचिदसंवृताः ॥ ५ ॥ अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमप्यपरे जनाः। मन्यन्ते ब्राह्मणा देवा ब्रह्म-

श्रेष्ठ मानागया है ? हमें तो धर्मकी बहुतसी गतियें एक दूसरेसे विरुद्ध मालूम होती हैं ॥१॥ कोई कहते हैं कि—देहका नाश होने पर देहमेंसे ऊपरको जाता है, कोई कहते हैं, कि—आत्मा है ही नहीं, कोई कहते हैं, कि—इसमें सबको शङ्का है और दूसरे कहते हैं, कि—इसमें शङ्का करनेकी कोई बात है ही नहीं ॥२॥ कितने ही (तार्किक) अनित्य कहते हैं, कितने ही (मीमांसक) नित्य कहते हैं, कितने ही (शून्यवादी) कहते हैं, कि—है ही नहीं, कोई (सौगत) कहते हैं, कि—है, कोई(योगाचारी) एकरूपवाला कहते हैं, कोई दो रूपवाला कहते हैं और कोई (उहुलोमी) कहते हैं, कि—वह मिलेहुए रूपवाला है ॥ ३ ॥ ब्रह्मको जानने वाले, तत्त्वको देखनेवाले (सगुणोपासक) ब्राह्मण एक ही मानते हैं, दूसरे (मीमांसक) उसको पृथक् मानते हैं,तीसरे(पर-माणुवादी) अनेकरूप मानते हैं, ॥ ४ ॥ कितने ही कहते हैं, कि—देश और काल दोनों हैं, कोई कहते हैं, कि—ऐसा नहीं है, कोई जटा और मृगछाला रखते हैं,कोई शिर मुँडाते हैं और कोई नंगे फिरते हैं ॥ ५ ॥ कोई (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी स्नानकी इच्छा नहीं करते (अर्थात् समावर्त्तनकालका स्नान करके गृहस्थाश्रम में नहीं जाना चाहते, किन्तु जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन

ज्ञास्तत्त्वदर्शिनः ॥ ६ ॥ आहारं केचिदिच्छन्ति केचिच्चानशने रताः। कर्म केचित् प्रशंसन्ति प्रशान्तिश्चापरे जनाः ७ केचिन्मोक्षं प्रशंसन्ति केचिद्भोगान् पृथग्विधान्। धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वमथापरे। उपास्यसाधनन्त्वेके नैनदस्तीति चापरे ॥ ८ ॥ अहिंसानिरताश्चान्ये केचिद्धिंसापरायणाः। पुण्येन यशसा चान्ये

करते हैं) तो कितने ही (गृहस्थ) स्नानको मानते हैं (तीन प्रकारके ब्रह्मचारी होते हैं—विद्यास्नात, व्रतस्नात, विद्याव्रतस्नात, जो विद्या पढ़नेके लिये ब्रह्मचर्यका पालन करता है और फिर स्नान नामका कर्म करके गृहस्थाश्रममें जाता है वह विद्यास्नात ब्रह्मचारी कहलाता है जो केवल ब्रह्मचर्यका व्रत पालन करके ही स्नान करता है और फिर गृहस्थाश्रममें जाता है वह व्रतस्नात ब्रह्मचारी कहलाता है तथा जो विद्या पढ़ना और ब्रह्मचर्यका पालन करना दोनोंके लिये व्रत पालकर स्नान करता है वह विद्याव्रतस्नात कहलाता है, स्नान एक कर्म है और वह गृहस्थाश्रममें आनेसे पहले ब्रह्मचारीको करना पडता है, परन्तु जो आजन्म ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी है उसको स्नान कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि—उसको गृहस्थाश्रममें जाना ही नहीं है) ब्रह्मको जाननेवाले और तत्त्वको देखनेवाले ब्राह्मण और देवता ऐसा मानते हैं ॥ ६ कितने ही भोजनकी इच्छा रखते हैं तो कितने ही निराहारमें ही प्रीति रखते हैं, कितने ही कर्मकी प्रशंसा करते हैं और कितने ही शान्तिका बखान करते हैं ॥ ७ ॥ कितने ही मोक्षकी प्रशंसा करते हैं तो कोई भाँति २ के भोगोंको सराहते हैं, कोई धन चाहते हैं तो कोई निर्धनताको अच्छा मानते हैं, कोई साधनकी उपासना करते हैं तो दूसरे उसका निषेध करते हैं ॥ ८ ॥ कोई अहिंसामें ही प्रेम करते हैं तो दूसरे हिंसामें लगे रहते हैं, कोई पुण्य और

नैतदस्तीति चापरे ॥ ९ ॥ सद्भावनिरताश्चान्ये केचित् संशयिते स्थिताः । दुःखादन्ये सुखादन्ये ध्यानमित्यपरे जनाः ॥ १० ॥ यज्ञमित्यपरे विप्राः प्रदानमिति चापरे । तपस्त्वन्ये प्रशंसन्ति स्वाध्यायमपरे जनाः ॥ ११ ॥ ज्ञानं सन्यासमित्येके स्वभावं भूतचिन्तकाः । सर्वमेके प्रशंसन्ति न सर्वमिति चापरे ॥ १२ ॥ एवं व्युत्थापिते धर्मे बहुधा विप्रवोधिते । निश्चयं नाधिगच्छामः संमूढाः सुरसत्तम ॥ १३ ॥ इदं श्रेय इदं श्रेय इत्येवं व्युत्थितो जनः । यो हि यस्मिन् रतो धर्मे स तं पूजयते सदा ॥१४॥ तेन नोऽविहिता प्रज्ञा मनश्च बहुलीकृतम् । एतदाख्यातमिच्छामः श्रेयः किमिति सत्तम ॥१५॥ अतः परन्तु यद् गुह्यं तद्भवान वक्तुमर्हति । सत्त्व-

यशको चाहते हैं तो दूसरे उसका निषेध करते हैं ॥ ९ ॥ कोई मनकी शुद्धता पर प्रेम रखते हैं तो दूसरे सन्देहमें ही पड़े रहते हैं, कोई दुःख चाहते हैं तो दूसरे सुख चाहते हैं और कोई कर्त्तव्यको ही मुख्य समझते हैं ॥ १० ॥ कोई ब्राह्मण यज्ञको, कोई ब्राह्मण दानको, कोई तपको, तो कोई स्वाध्याय को अच्छा कहते हैं ॥ ११ ॥ कोई ज्ञानको, कोई संन्यासको, कोई पञ्चभूतोंका विचार करनेवाले स्वभावको, कोई सबका बखान करते हैं तो कोई किसीकी भी प्रशंसा नहीं करते ॥ १२ ॥ हे सुरश्रेष्ठ ! इसप्रकार धर्मकी उत्पत्ति उलझनमें पड़ीहुई है, उस को बहुत ही उलट पलट कर कहा है, इसलिये हम उसकी उलझनमें कुछ निश्चय नहीं करपाते ॥ १३ ॥ उलझनमें पड़ा हुआ मनुष्य 'यह अच्छा है, यह अच्छा है' ऐसा कहा करता है, क्योंकि–जिसकी जिस धर्ममें प्रीति होती है वह सदा उस की ही प्रशंसा करता है ॥ १४ ॥ इसलिये हमारी बुद्धि निश्चय से हीन है, मन बहुतसी बातोंमें उलझ रहा है, इसलिये हे श्रेष्ठ! हम आपसे कहलाना चाहते हैं, कि–कल्याण किस बातमें

क्षेत्रज्ञयोश्चापि सम्बन्धः केन हेतुना ॥ १६ ॥ एवमुक्तः स तैर्वि-
प्रैर्भगवाँल्लोकभावनः । तेभ्यः शशंस धर्मात्मा याथातथ्येन बुद्धि-
मान् ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे एकोनपञ्चाशोऽध्यायः ॥४६॥

ब्रह्मोवाच । हन्त वः संप्रवक्ष्यामि यन्मां पृच्छत सत्तमाः ।
गुरुणा शिष्यमासाद्य यदुक्तं तन्निबोधत ॥ १ ॥ समस्तमिह
तच्छ्रुत्वा सम्यगेवावधार्य्यताम् । अहिंसा सर्वभूतानामेतत् कृत्य-
तमं मतम् ॥ २ ॥ एतत् पदमनुद्विग्नं वरिष्ठं धर्म्मलक्षणम् । ज्ञानं
निःश्रेय इत्याहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ॥ ३ ॥ तस्माज्ज्ञानेन शुद्धेन
मुच्यते सर्वकिल्विषैः । हिंसापराश्च ये केचित् ये च नास्तिकवृत्तयः ।

है ? इससे भी जो परम गुप्त हो वह तत्त्व आपको हमसे कहना चाहिये, सत्त्व और क्षेत्रज्ञ इन दोनोंका संबन्ध किस कारणसे हुआ है ? ॥१६॥ लोकोंको उत्पन्न करनेवाले भगवान् ब्रह्माजी से उन्होंने यह बात बूझी, तब उन बुद्धिमान् धर्मात्माने जैसा उचित था तैसा उत्तर उनको सुनाया ॥ १७ ॥ उनञ्चासवाँ अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥

ब्रह्माजीने कहा, कि—हे श्रेष्ठ ऋषियो ! तुमने मुझसे जो बूझा है वह सब कहता हूँ, गुरुने शिष्यसे मिलकर जो कुछ कहा, है उसको तुम सुनो ॥ १ ॥ उस सबको सुनकर तुम उसका ठीक२ निश्चय करना. किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना यह उत्तम काम मानाजाता है ॥ २ ॥ यह उद्वेगसे रहित पद है. श्रेष्ठ है और धर्मका एक लक्षण है, निर्णय करने वाले वृद्ध कहते हैं, कि-ज्ञान उत्तम कल्याण करने वाला है३इसलिये शुद्धज्ञानके द्वारा सब पापोंसे छूटजाता है, जो कोई हिंसामें मग्न रहते हैं, जो नास्तिकताका वर्त्ताव करते हैं, जो लोभ और मोहमें बहुत ही फँसे हुए हैं वे

लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः ॥ ४ ॥ आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः । तेऽस्मिल्लोंके प्रमोदन्ते जायमानाः पुनः पुनः ॥५॥ कुर्वते ये तु कर्माणि श्रद्दधाना विपश्चितः। अनाशीर्योगसंयुक्तास्ते धीराः साधुदर्शिनः ॥ ६ ॥ अतः परं प्रवक्ष्यामि सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्यथा । संयोगो विप्रयोगश्च तन्निबोधत सत्तमाः ॥ ७ ॥ विषयो विषयित्वञ्च सम्बन्धोऽयमिहोच्यते । विषयी पुरुषो नित्यं सत्त्वश्च विषयः स्मृतः ८ व्याख्यातं पूर्वकल्पेन मशकोदुम्बरं यथा । भुज्यमानं न जानीते नित्यं सत्त्वमचेतनम् ९ यस्त्वेवं तं विजानीते यो भुंक्ते यश्च भुज्यते ॥१०॥ नित्यं द्वन्द्वसमायुक्तं सत्त्वमाहुर्मनीषिणः । निर्द्वन्द्वो निष्कलो नित्यः क्षेत्रज्ञो

नरकमें जाते हैं॥४॥ जो आलस्यको छोडकर आशावाले काम करते हैं वे इस लोकमें वार २ जन्म लेकर आनन्द भोगते हैं ।५। जो विद्वान् श्रद्धाके साथ कर्म करते हैं उसके फलकी इच्छा नहीं रखते हैं वे धीर पुरुष अच्छी दृष्टिवाले मानेजाते हैं ॥ ६ ॥ अब मैं सत्त्व और क्षेत्रज्ञ इन दोनोंके संयोग और वियोगको कहता हूँ हे श्रेष्ठ ऋषियो ! तुम सुनो ॥ ७ ॥ यहाँ यह विषय और विषयीका संबन्ध कहलाता है,पुरुष सदा विषयी है और सत्त्वको विषय कहा है ॥ ८ ॥ पिछले अध्यायमें मच्छर और गूलरके विषयमें कहे हुए व्याख्यानके अनुसार भोज्य (भोगने योग्य) होनेसे नित्य और अचेतन सत्त्व कुछ भी नहीं जानता है, जो कोई उसको इस प्रकार जानता है, जो भोगता है, (वह क्षेत्रज्ञ है) और जो भोगजाता है (वह सत्त्व है) ॥ ९ ॥ चतुर पुरुष सत्त्वको नित्य और परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व गुणोंवाला कहते हैं, परन्तु क्षेत्रज्ञ तो निर्द्वन्द्व, निष्कल, नित्य और निर्गुणरूप है १० उसको सम कहते हैं, वह ज्ञानके साथ रहता है और सर्वत्र उसकी व्यवस्था है, कमलका पत्ता जैसे जलको भोगता है, तैसे ही क्षेत्रज्ञ

निर्गुणात्मकः ॥११॥ समः संज्ञानुगश्चैव स सर्वत्र व्यवस्थितः। उपभुंक्ते सदा सत्त्वमपः पुष्करपर्णवत् ॥ १२ ॥ सर्वैरपि गुणैर्विद्वान् व्यतिषक्तो न लिप्यते । जलबिन्दुर्यथा लोलः पद्मिनीपत्रसंस्थितः ॥ १३ ॥ एवमेवाप्यसंयुक्तः पुरुषः स्यान्न संशयः । द्रव्यमात्रमभूत् सत्त्वं पुरुषस्येति निश्चयः ॥ १३ ॥ यथा द्रव्यञ्च कर्त्ता च संयोगोऽप्यनयोस्तथा । यथा प्रदीपमादाय कश्चित्तमसि गच्छति । तथा सत्त्वप्रदीपेन गच्छन्ति परमैषिणः ॥१४॥ यावद्द्रव्यं गुणास्तावत् प्रदीपः सम्प्रकाशते । क्षीणे द्रव्ये गुणे ज्योतिरन्तर्द्धानाय गच्छति ॥ १५ ॥ व्यक्तः सत्त्वगुणस्त्वेवं पुरुषोऽव्यक्त इष्यते । एतद्विप्रा विजानीत हन्त भूयो ब्रवीमि वः ॥१६॥ सहस्रेणापि दुर्मेधा न बुद्धिमधिगच्छति । चतुर्थेनाप्यथांशेन बुद्धिमान् सुखमेधते ॥ १७ ॥ एवं धर्म्मस्य विज्ञेयं संसाधनमुपायतः ।

(पुरुष) सदा सत्त्वको भोगता है ॥ ११ ॥ सब गुणोंके सङ्गवाला होकर भी कमलिनीके पत्ते पर पड़कर हिलती हुई जलकी बिन्दुकी समान वह गुणोंसे जुदा ही रहता है ॥१२॥ इसप्रकार निःसन्देह पुरुष असङ्ग है, सत्त्व तो पुरुषका द्रव्यमात्र हुआ है, यह निश्चय है ॥ १३ ॥ इन दोनोंका संयोग, द्रव्य और उसके कर्त्ताकी समान है जैसे कोई दीपक लेकर अन्धकारमें जाता है, तैसे ही परब्रह्मकी इच्छावाले सत्त्वरूप दीपकको लेकर जाते हैं ॥ १४ ॥ जहाँ तक द्रव्य (तेल) और गुण (वत्ती) है, तहाँतक दीपक अच्छे प्रकारसे प्रकाश देता है, परन्तु द्रव्य और गुणका लय होते ही ज्योति बुझजाती है ॥ १५ ॥ इस प्रकार सत्त्वगुण व्यक्त (प्रकट) होता है और पुरुष अव्यक्त (अप्रकट) रहता है, हे ऋषियो ! इस बातको तुम जानलो, शोकके साथ मैं तुमसे फिर कहता हूँ,१६खोटी बुद्धिवालेको सहस्रों सहायताओंसे भी ज्ञान नहीं होता है, परन्तु (श्रेष्ठ) बुद्धिवाला उसकी अपेक्षा चौथाई

उपायज्ञो हि मेधावी सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ १८ ॥ यथाऽध्वानमपा-
थेयः प्रपन्नो मनुजः क्वचित् । क्लेशेन याति महता विनश्येद-
न्तरापि च ॥ १९ ॥ तथा कर्मसु विज्ञेयं फलं भवति वा न वा ।
पुरुषस्यात्मनि श्रेयः शुभाशुभनिदर्शनम् ॥ २० ॥ यथा च दीर्घ-
मध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते । अदृष्टपूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः ॥ २१ ॥
तमेव च यथाध्वानं रथेनेहाशुगामिना । गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा
बुद्धिमतां गतिः ॥ २२ ॥ ऊर्ध्वं पर्वतमारुह्य नान्ववेक्षेत भूतलम् ।

सहायतासे भी सुखी होता है ॥ १७ ॥ इसप्रकार उपायोंसे धर्म के साधनको जानना चाहिये, क्योंकि-उपायको जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष बहुत सुख पाता है ॥ १८ ॥ जैसे कोई पुरुष मार्गमें काम आने वाले सामानके बिना यात्रा करके मार्गमें बड़ा दुःख पाता है और अधबीचमें ही नष्ट भी होजाता है ॥ १९ ॥ ऐसे ही पूर्वजन्मके पुण्योंसे हीन पुरुष योगमार्गकी साधनामें लगने पर उस योगसाधनारूप कर्मका फल हो या न हो वह बीचमें ही परलोकको पधार जाता है, पुरुषका अपना कल्याण-साधन ही उसके पूर्वजन्मके शुभ अशुभको बताता है॥२०॥ जैसे आगेके मार्गको न जानने वाला मनुष्य पैदल चलता २ ही दूर पहुँच जाता है, ठीक जगह पर नहीं पहुँचता ऐसी ही दशा तत्त्वदर्शनसे शून्य मनुष्यकी होती है परन्तु पहलेसे जानेहुए उस ही मार्गमें शीघ्रगामी घोड़े वाले रथमें बैठकर जाय तो शीघ्र ही पहुँचजाता है, यह दशा बुद्धिमानोंकी होती हैं (शास्त्रज्ञान रूप रथकी सहायतासे अनायास ही संसारमार्गके पार होजाते हैं) ॥२१॥ ऊँचे पहाडपर चढजाने पर मनुष्य भूतलको न देखे, जहाँतक रथके पहुँचने योग्य मार्ग होगा तहाँतक रथमें बैठकर जायगा, जहाँ रथका मार्ग समाप्त होजायगा तहाँ वह विद्वान् रथको त्याग कर पैदल जायगा, परन्तु यदि एक अचेतन (मूर्ख) रथी रथ

रथेन रथिनं पश्य क्लिश्यमानमचेतनम् ॥ २३ ॥ यावद्रथपथ-
स्तावद्रथेन स तु गच्छति । क्षीणे रथपथे विद्वान् रथमुत्सृज्य
गच्छति ॥ २४ ॥ एवं गच्छति मेधावी तत्त्वयोगविधानवित् ।
परिज्ञाय गुणज्ञश्च उत्तरादुत्तरोत्तरम् ॥ २५ ॥ यथार्णवं महाघोर-
मप्लवः सम्प्रगाहते । बाहुभ्यामेव सम्मोहाद्वधं वाञ्छत्यसंशयम् २६
न चापि यथाप्राज्ञो विभागज्ञः स्वरित्रया । अश्रान्तः सलिले
गच्छेच्छीघ्रं सन्तरते ह्रदम् ॥२७॥ तीर्णो गच्छेत्परं पारं नाव-
मुत्सृज्य निर्ममः । व्याख्यातं पूर्वकल्पेन यथा रथपदातिनोः॥२८॥
स्नेहात्सम्मोहमापन्नो नावि दाशो यथा तथा । ममत्वेनाभिभूतः

पर बैठा है तो रथके लिये क्लेश पाते हुए उस मूर्खको तू देख (परमपद पहुँचनेमें जहाँ तक शास्त्रकी सहायताकी आवश्यकता है, वहाँतक शास्त्रकी आज्ञा मानो और परमपद पर चढ़ जाने पर शास्त्रको भी त्याग देना पड़ता है, परन्तु मूर्ख साधक तो ऐसे अवसर पर दुःख ही पाता है) ॥ २३ ॥ २४ ॥ तत्त्व और योगके विधानको जाननेवाला तथा गुणको जानने वाला बुद्धि-मान् चारों ओरसे ज्ञानको पाकर ऊँचेसे ऊँचे और उससे भी ऊँचे पदको पाता चलाजाता है ॥ २५ ॥ नौकापर न चढ़कर अज्ञानवश अपनी दोनों भुजाओंके भरोसे पर पार होनेके लिये महाघोर समुद्रमें पड़कर जैसे कोई निःसन्देह अपने प्राण खोना चाहता है ॥ २६ ॥ उस समय इसके रहस्यको जाननेवाला बुद्धिमान् मनुष्य अच्छे पातेवाली नौकाको लेकर जलमें पड़ता है तो वह बिना ही श्रमके शीघ्रतासे पार होजाता है ॥ २७ ॥ तरकर दूसरे किनारे पर पहुँच जाता है और तहाँ ममतारहित होकर नावको छोड़देता है. यह सब रथवालेके और पैरों चलने वालेके दृष्टान्तसे कहदिया है ॥ २८ ॥ परन्तु स्नेहसे मोहको प्राप्त हुआ और ममत्वसे घिरा हुआ मनुष्य, नावमें बैठे

संस्तत्रैव परिवर्तते ॥ २९ ॥ नावं न शक्यमारुह्य स्थले विपरि-
वर्तितुम् । तथैव रथमारुह्य नाप्सु चर्या विधीयते ॥ ३० ॥ एवं
कर्मकृतं चित्रं विषयस्थं पृथक् पृथक् । यथा कर्म कृतं लोके तथै-
तानुपपद्यते ॥ ३१ ॥ यन्नैव गन्धिनो रस्यं न रूपस्पर्शशब्दवत् ।
मन्यन्ते मुनयो बुद्ध्या तत्प्रधानं प्रचक्षते ॥ ३२ ॥ तत्र प्रधानम-
व्यक्तमव्यक्तस्य गुणो महान् । महत्प्रधानभूतस्य गुणोऽहंकार एव
च ॥३३॥ अहंकारात्तु संभूतो महाभूतकृतो गुणः । पृथक्त्वेन हि
भूतानां विषया वै गुणाः स्मृताः ॥ ३४ ॥ बीजधर्मं तथाव्यक्तं
प्रसवात्मकमेव च । बीजधर्मा महानात्मा प्रसवश्चेति नः श्रुतम् ३५

हुए मल्लाहकी समान तहाँ ही चक्कर काटता रहता है ॥ २९ ॥
नावमें चढजाने पर जैसे फिर भूमि पर विचरना कठिन होता है,
ऐसे ही रथ पर चढजानेके अनन्तर जलमें चलनेकी क्रिया नहीं
होसकती (ऐसे ही नानाप्रकारके कार्योंमें लिप्त होकर ब्रह्मप्राप्ति
और कर्मको त्यागकर संसारके कामोंमें लगना नहीं होसकता)३०
इसप्रकार कर्मका फल नानाप्रकारका है, वह विषयके अनुसार
जुदा २ है, लोकमें जैसा कर्म कियाजाता है, उसके अनुसार ही
फल मिलता है ॥ ३१ ॥ जो गन्धवाला, रसवाला, रूपवाला,
शब्दवाला और स्पर्शवाला नहीं है और मुनि जिसका बुद्धिसे
चिन्तवन करते हैं उसको प्रधान (पुरुष) कहते हैं ॥ ३२ ॥
यहाँ प्रधान नाम अव्यक्तका है उस अव्यक्तका गुण (परिणाम)
महान् है, प्रधान भूत महत्तत्त्वका गुण (कार्य) अहङ्कार है ३३
पञ्चमहाभूत (आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथिवी) के
कियेहुए गुण (शब्दादिरूप कार्य) अहङ्कारमेंसे उत्पन्न हुए हैं
महाभूतोंके विषयरूप गुण अलग २ कहे हैं ॥ ३४ ॥ अव्यक्तका
धर्म बीजरूप है और वह प्रसव (उत्पन्न होना) रूप है, तथा
महत्तत्त्वका धर्म बीजरूप है और वह प्रसवरूप है, ऐसा हमने सुना

बीजधर्मस्त्वहंकारः प्रसवश्च पुनः पुनः । बीजप्रसवधर्माणि महाभूतानि पञ्च वै ॥ ३६ ॥ बीजधर्मिण इत्याहुः प्रसवञ्च प्रकुर्वते । विशेषाः पञ्चभूतानां तेषां चित्तं विशेषणम् ॥ ३७ ॥ तत्रैकगुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते । त्रिगुणं ज्योतिरित्याहुरापश्चापि चतुर्गुणाः ॥ ३८ ॥ पृथ्वी पञ्चगुणा ज्ञेया चरस्थावरसंकुला । सर्वभूतकरी देवी शुभाशुभनिदर्शिनी ॥ ३९ ॥ शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः । एते पञ्चगुणा भूमेर्विज्ञेया द्विजसत्तमाः ॥४०॥ पार्थिवश्च सदा गन्धो गन्धश्च बहुधा स्मृतः । तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ॥ ४१ ॥ इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरोऽम्लः कटुस्तथा । निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो

है ॥ ३५ ॥ अहङ्कारका धर्म भी बीजरूप है और वह बार २ प्रसवरूपसे रहता है तथा पञ्चमहाभूतोंका धर्म बीजरूप और प्रसवरूप है ॥ ३६ ॥ ये पञ्चमहाभूत बीजरूप धर्मवाले हैं और प्रसव (उत्पत्ति) करते हैं, ऐसा कहा है, उन पञ्चमहाभूतोंके विशेष हैं और चित्त उन विशेषोंका विशेषण है ॥ ३७ ॥ उनमें आकाश एक (शब्द) गुणवाला है, वायु दो (शब्द और स्पर्श) गुणोंवाला है, ज्योति (तेज) के तीन (शब्द, स्पर्श, रूप) गुण हैं, जलके चार (शब्द, स्पर्श रूप और रस) गुण हैं ३८ पृथिवीके पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) गुण हैं, वह स्थावर और जङ्गमसे भरी हुई है, वह सकल भूतोंको उत्पन्न करनेवाली तथा शुभ और अशुभ बतानेवाली देवी है ॥ ३९ ॥ शब्द, स्पर्श रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध ये भूमिके पाँच गुण हैं, हे श्रेष्ठ द्विजो ! ऐसा जानो ॥ ४० ॥ (परन्तु उसमें गन्ध सदा पृथिवीका गुण है । वह गन्ध बहुत प्रकारका कहलाता है, उस गन्धके बहुतसे गुणोंको मैं विस्तारसे कहूँगा ॥ ४१ ॥ गन्ध इष्ट (मनको अच्छा लगनेवाला) और अनिष्ट (मनको

विशद एव च ॥४२॥ एवं दशविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्ध इत्युत ।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं द्रवश्चापां गुणाः स्मृताः ॥४३॥ रसज्ञानन्तु
वक्ष्यामि रसस्तु बहुधा स्मृतः । मधुरोऽम्लः कटुस्तिक्तः कषायो
लवणस्तथा ॥४४॥ एवं षड्विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः ।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते ॥ ४५ ॥ ज्योतिषश्च
गुणो रूपं रूपञ्च बहुधा स्मृतम् । शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं
नीलं पीतारुणं तथा ॥ ४६ ॥ ह्रस्वं दीर्घं कृशं स्थूलं चतुरस्रं
तु वृत्तवत् । एवं द्वादशविस्तारं तेजसो रूपमुच्यते ॥ ४७ ॥
विज्ञेयं ब्राह्मणैर्वृद्धैर्धर्मज्ञैः सत्यवादिभिः । शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ
द्विगुणो वायुरुच्यते ॥ ४८ ॥ वायोश्चापि गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च
बहुधा स्मृतः । रूक्षः शीतस्तथैवोष्णः स्निग्धो विशद एव च ४९

अच्छा न लगनेवाला)है तथा मीठा, खट्टा, चरपरा, फैलनेवाला, लुकडनेवाला; चिकना, रूखा और स्पष्ट होता है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार पृथिवीका गन्ध दश प्रकारका कहलाता है, शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार जलके गुण कहलाते हैं ॥ ४३ ॥ अब रसके ज्ञानको कहूँगा, रस बहुत प्रकारका कहा है, मीठा, खट्टा, चरपरा, कडवा, कसैला और खारी ॥ ४४ ॥ इसप्रकार छः भेदोंके विस्तारवाला रस जलमय कहलाता है शब्द, स्पर्श तथा रूप ये तीन गुण तेजके कहलाते हैं ॥ ४५ ॥ तेजका गुण जो रूप (रङ्ग) है वह बहुत प्रकारका कहलाता है-सफेद, काला, लाल, नीला, पीला, अरुण ॥ ४६ ॥ छोटा, बडा, दुर्बल, स्थूल चौखूँटा और गोल, यह बारह प्रकारका तेजका रूप कहलाता है ॥ ४७ ॥ धर्मको जाननेवाले, सत्य बोलनेवाले, वृद्ध ब्राह्मणों को ऐसा जानना चाहिये, शब्द और स्पर्श ये दो वायुके गुण जानने योग्य हैं ॥ ४८ ॥ वायुका गुण स्पर्श है और स्पर्श बहुत प्रकारका कहलाता है, रूखा, ठण्डा, गरम, चीठा या

कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो दारुणो मृदुः । एवं द्वादशवि-स्तारो वायव्यो गुण उच्यते ॥ ५० ॥ विधिवद् ब्राह्मणैः सिद्धैर्धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः ॥५१॥ तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव च स्मृतः । तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान् ॥५२॥ षड्जर्षभः स गन्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा । अतः परन्तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा । इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान् ॥५३॥ एवं दशविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः । आकाशमुत्तमं भूतमहंकारस्ततः परः ॥ ५४ ॥ अहंकारात्परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः । तस्मात्तु परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ॥ ५५ ॥ परापरज्ञो

कोमल और स्पष्ट ॥४९॥ कठिन, चिकना, ल्हिसल्हिसा, पिच्छिल (दहीकेसा ल्हिसनेवाला) दारुण और कोमल ये बारह प्रकारके वायुके गुण कहे हैं (गिनतीमें ग्यारह ही होते हैं) ॥ ५० ॥ धर्मको जाननेवाले और तत्त्वको देखनेवाले ब्राह्मण तथा सिद्धोंको यह विधिपूर्वक जानना चाहिये ॥ ५१ ॥ इनमें आकाश एक गुणवाला है और उसका गुण शब्द कहलाता है, उस शब्दके बहुतसे गुणोंको मैं विस्तारसे कहता हूँ ॥ ५२ ॥ षड्ज (स), ऋषभ (ऋ), गान्धार (ग), मध्यम (म), तथा पञ्चम (प), उसके बाद निषाद (नि) तथा धैवत (ध) जानो, इसके सिवाय शब्द इष्ट (मनको अच्छा लगनेवाला), अनिष्ट (मनको अच्छा न लगनेवाला), संहत (एकत्र हुआ) और अलग २ बटाहुआ भी है ॥ ५३ ॥ इस प्रकार आकाशमेंसे उत्पन्न होनेवाले शब्दको दश प्रकारका जानो, आकाश उत्तम प्रकारका भूत है और उससे बढ़कर अहङ्कार है ॥ ५४ ॥ अहङ्कारसे बढ़कर बुद्धि है और बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा (अन्तःकरण) है, उससे श्रेष्ठ अव्यक्त है और अव्यक्तसे श्रेष्ठ पुरुष है ॥ ५५ ॥ जो पुरुष पञ्चमहाभूतोंमेंसे उतरते और चढते हुए भूतोंको जानता

भूतानां विधिज्ञः सर्वकर्मणाम् । सर्वभूतात्मभूतात्मा गच्छत्यात्मान-
मव्ययम् ॥ ५६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

ब्रह्मोवाच । भूतानामथ पंचानां यथैषामीश्वरं मनः । नियमे
च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च ॥ १ ॥ अधिष्ठाता मनो नित्यं
भूतानां महतां तथा । बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञश्च स उच्यते ।२।
इन्द्रियाणि मनो युंक्ते सदश्वानिव सारथिः । इन्द्रियाणि मनो
बुद्धिः क्षेत्रज्ञे युज्यते सदा ॥ ३ ॥ महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं
रथम् । समारुह्य स भूतात्मा समन्तात् परिधावति ॥४॥ इन्द्रिय-
ग्रामसंयुक्तो मनः सारथिरेव च । बुद्धिसंयमनो नित्यं महान्
ब्रह्ममयो रथः ॥ ५ ॥ एवं यो वेत्ति विद्वान् वै सदा ब्रह्ममयं

है,वह सब कर्मोंकी विधिको जानता है तथा सब प्राणियोंका आत्मा-
रूप होजाता है वह अधिकारी परम पुरुषको पाजाता है ॥५६॥
पचासवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ छ ॥

ब्रह्माने कहा, कि-यह मन पाँच महाभूतोंका ईश्वर है, इस
लिये उन भूतोंका संहार, भूतोंका आत्मरूप मन ही करसकता
है ॥ १ ॥ महाभूतोंका अधिष्ठाता नित्य मन ही है, बुद्धि मनके
ऐश्वर्यको प्रकट करती है और उसको ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २ ॥
जैसे कोई सारथी अच्छे घोड़ोंको जोतता है, तैसे ही मन इन्द्रियों
को जोतता है और इन्द्रियें, मन तथा बुद्धि सदा क्षेत्रज्ञमें जुड़े
रहते हैं ॥ ३ ॥ इन्द्रियेंरूप बड़े भारी घोड़ोंवाले और बुद्धिरूप
अंकुशवाले रथमें (शरीर में) चढकर वह भूतात्मा (देहाभिमानी)
चारों ओर घूमता है ॥ ४ ॥ इन्द्रियों (रूप घोड़ों) के समूहसे
युक्त, मनरूप सारथीवाला और बुद्धिरूप अंकुशवाला ब्रह्ममय
रथ नित्य महान् है ॥ ५ ॥ जो विद्वान् सदा ऐसे ब्रह्ममय रथ

रथम् । स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ॥ ६ ॥ अव्यक्तादिविशेषान्तं सहस्थावरजङ्गमम् । सूर्य्यचन्द्रप्रभालोकं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ॥७॥ नदीपर्वतजालैश्च सर्वतः परिभूषितम् । विविधाभिस्तथाद्भिश्च सततं समलङ्कृतम् ॥ ८ ॥ आजीवं सर्वभूतानां सर्वप्राणभृतां गतिः । एतद् ब्रह्मवनं नित्यं तस्मिंश्चरति क्षेत्रवित्९ लोकेऽस्मिन् यानि सत्त्वानि त्रसानि स्थावराणि च । तान्येवाग्रे प्रलीयन्ते पश्चाद्भूतकृता गुणाः । गुणेभ्यः पञ्चभूतानि एष भूतसमुच्छ्रयः ॥ १० ॥ देवा मनुष्या गन्धर्वाः पिशाचासुरराक्षसाः । सर्वे स्वभावतः सृष्टा न क्रियाभ्यो न कारणात् ॥ ११ ॥ एते विश्वसृजो विप्रा जायन्तीह पुनः पुनः । तेभ्यः प्रसूतास्तेष्वेव

को जानता है वह धीर पुरुष सकल (किन्हीं भी) भूतोंमें मोह नहीं पाता है ॥ ६ ॥ अव्यक्तसे आरम्भ होनेवाला और विशेष गुणोंमें समाप्त होनेवाला, स्थावर और जङ्गमोंसे भरा, सूर्य और चन्द्रमाकी प्रभासे प्रकाशित, ग्रह और नक्षत्रोंसे शोभायमान ७ नदी और पर्वतोंके जलोंसे चारों ओरसे भूषित,अनेकों प्रकारके जलसे सदा शोभायमान ॥ ८ ॥ सकल भूतोंका जीवनरूप और सकल प्राणधारियोंकी गतिरूप यह एक ब्रह्मवन है,उसमें क्षेत्रको जाननेवाला नित्य फिरता है ॥ ९ ॥ इस (आत्म) लोकमें जो जङ्गम और स्थावर जीव हैं उनका प्रथम प्रलय होता है, फिर भूतोंके करेहुए गुणोंका प्रलय होता है, गुणोंके नाशके साथ पञ्चभूतोंका नाश होजाता है, इस प्रकार भूतोंकी उत्पत्ति और लयका क्रम है ॥ १० ॥ देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पिशाच, असुर और राक्षस सब अपने आप ही उत्पन्न होते हैं, कारणसे या कार्यसे उत्पन्न हुए नहीं हैं॥११॥ विश्वको उत्पन्न करनेवाले ये मरीचि आदि ब्राह्मण वार २ इस लोकमें जन्म लेते हैं और उनमेंसे ही उत्पन्न हुए, उन ही पंच-

महाभूतेषु पञ्चसु। प्रलीयन्ते यथाकालमूर्मयः सागरे यथा॥१२॥ विश्वसृड्भ्यस्तु भूतेभ्यो महाभूतास्तु सर्वशः। भूतेभ्यश्चापि पञ्चभ्यो मुक्तो गच्छेत् परां गतिम्॥ १३ ॥ प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः। तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ १४ ॥ तपसश्चानुपूर्व्येण फलमूलाशिनस्तथा। त्रैलोक्यं तपसा सिद्धाः पश्यन्तीह समाहिताः ॥१५॥ औषधान्यगदादीनि नानाविद्याश्च सर्वशः। तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥१६॥ यद्दुरापं दुराम्नायं दुराधर्षं दुरन्वयम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥१७॥ सुरापो ब्रह्महा स्तेयी भ्रूणहा गुरुतल्पगः। तपसैव सुतप्तेन मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ १८ ॥ मनुष्याः पितरो देवाः

महाभूतोंमें समय आने पर जैसे तरङ्गें समुद्रमें लीन होजाती हैं तैसे लीन होजाते हैं ॥ १२ ॥ विश्वको रचनेवाले भूतोंसे भी सकल महाभूत श्रेष्ठ हैं, इन पञ्चमहाभूतोंसे छूटाहुआ मनुष्य श्रेष्ठगतिको पाताहै ॥ १३ ॥ प्रभु (बलवान्) प्रजापतिने मनके जोरसे यह सब रचा है, इसप्रकार ही ऋषि तपके बलसे देवताओंके स्थानमें पहुँचे हैं ॥ १४ ॥ इसप्रकार ही तप (संकल्प) के क्रमसे फल-मूल आदि खानेवाले सिद्ध और समाधि चढ़ानेवाले तपके बलसे तीनों लोकोंको देखते हैं ॥ १५ ॥ औषधि, वनस्पति और सब प्रकारकी विद्याएँ तपके प्रभावसे प्रकट होती हैं, क्योंकि—सबकी प्राप्तिका मूलसाधन तप है।१६। जो दुःखसे मिलता है, जो दुःखसे सीखाजाता है, जो दुःखसे वशमें रक्खाजाता है और जिसका अन्वय (सिलसिला) कठिनसे मिलता है यह सब तपसे सिद्ध किया जासकता है, क्योंकि—तप को कोई नहीं लाँघसकता ॥ १७ ॥ मद्य पीनेवाला, ब्राह्मणका घातक, चोर, गर्भपात करनेवाला, गुरुपत्नीके साथ गमन करनेवाला, इन सब पापोंसे तप करनेवाला मुक्त होजाता है ॥१८॥

पशवो मृगपक्षिणः। यानि चान्यानि भूतानि त्रसानि स्थावराणि च ॥ १९ ॥ तपःपरायणा नित्यं सिद्धयन्ते तपसा सदा। तथैव तपसा देवा महामाया दिवं गताः ॥२०॥ आशीर्युक्तानि कर्माणि कुर्वते ये त्वतन्द्रिताः। अहङ्कारसमायुक्तास्ते सकाशे प्रजापतेः २१ ध्यानयोगेन शुद्धेन निर्ममा निरहंकृताः। आप्नुवन्ति महात्मानो महान्तं लोकमुत्तमम् ॥ २२ ॥ ध्यानयोगमुपागम्य प्रसन्नमतयः सदा। सुखोपचयमव्यक्तं प्रविशन्त्यात्मवित्तमाः ॥ २३ ॥ ध्यानयोगादुपागम्य निर्ममा निरहंकृताः। अव्यक्तं प्रविशन्तीह महतां लोकमुत्तमम् ॥ २४ ॥ अव्यक्तादेव संभूतः समसंज्ञो गतः पुनः। तमोरजोभ्यां निर्मुक्तः सत्त्वमास्थाय केवलम् ॥ २५ ॥ निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः सर्वं सृजति निष्कलम्। क्षेत्रज्ञ इति तं विद्यात् यस्तं वेद

मनुष्य, पितर, देवता पशु, मृग, पक्षी और स्थावर तथा दूसरे जो जङ्गमजीव हैं वे नित्य तपमें तत्पर रहने पर तपके बलसे सदा सिद्धि पाते हैं, इसप्रकार ही तपके बलसे महामायावाले देवता स्वर्गमें गये हैं ॥ १९-२० ॥ फलवाले (सकाम) कर्मोंको जो आलस्यरहित होकर करते हैं वे अच्छेप्रकार अहङ्कारसे युक्त होकर प्रजापतिके पास जाते हैं ॥ २१ ॥ शुद्ध ध्यानयोगसे ममतारहित और निरहङ्कार हुए वे महात्मा महान् उत्तम लोकको पाते हैं २२ ध्यान योगको पाकर सदा प्रसन्न मतिवाले, आत्माको जानने वालोंमें श्रेष्ठ सुखके भण्डाररूप अव्यक्तमें प्रवेश करते हैं ॥२३॥ ध्यानयोगको पाकर ममतारहित और निरहङ्कार हुए मनुष्य महात्माओंके अव्यक्त और उत्तम लोकमें जाते हैं ॥ २४ ॥ अव्यक्तमेंसे ही उत्पन्न हुआ और फिर समसंज्ञाको प्राप्त हुआ, तमोगुण और रजोगुणसे मुक्त हो केवल सत्त्वका आश्रय लेकर२५ सकल पापोंसे मुक्त हुआ जीव सबके कारणभूत निष्कल ब्रह्मरूप होजाता है, उसको क्षेत्रज्ञ जानना चाहिये, जो उसको जानता

स वेदवित् ॥ २६ ॥ चित्तं चित्तादुपागम्य मुनिरासीन संयतः ।
यच्चित्तं तन्मयोऽवश्यं गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ २७ ॥ अव्यक्तादिवि-
शेषान्तमविद्यालक्षणं स्मृतम् । निबोधत तथा हीदं गुणैर्लक्षणमि-
त्युत ॥ २८ ॥ द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् । मम
चेति भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥२९॥ कर्म केचित् प्रशंसन्ति
मन्दबुद्धिरता नराः । ये तु वृद्धा महात्मानो न प्रशंसन्ति कर्म ते ३०
कर्मणा जायते जन्तुर्मूर्तिमान् षोडशात्मकः । पुरुषं ग्रसतेऽविद्या
तद्ग्राह्यममृताशिनाम् ॥ ३१ ॥ तस्मात्कर्मसु निःस्नेहा ये केचित्
पारदर्शिनः । विद्यामयोऽयं पुरुषो न तु कर्ममयः स्मृतः ॥ ३२ ॥

है वही वेदका जाननेवाला कहलाता है ॥ २६ ॥ चित्तमेंसे चित्त (पूर्णज्ञान) को पाकर मुनि संयमवाला होकर बैठे, चित्त जिसमें लगा होता है अवश्य तन्मय होजाता है, यह सनातन गुह्य जानने योग्य है ॥ २७ ॥ वह अव्यक्तरूप आदि और विशेषगुणरूप अन्तवाला तथा अविद्यारूप लक्षणवाला है, इसलिये यह लक्षण गुणोंके द्वारा है, ऐसा जानो ॥ २८ ॥ मृत्यु दो अक्षरवाला है, शाश्वत ब्रह्म तीन अक्षर वाला है, जो 'मम-मेरा' ऐसा (दो अक्षर) कहता है उसकी मृत्यु होती है और जो 'मम' नहीं कहता वह शाश्वत (चिरञ्जीव) है ॥२९॥ मन्द-बुद्धि होनेके कारण कितने ही मनुष्य कर्मकी प्रशंसा करते हैं, परन्तु जो वृद्ध (अनुभवी) महात्मा हैं वे कर्मकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ३० ॥ कर्मके कारणसे मूर्तिमान् सोलह तत्त्ववाला (पञ्चमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मनवाला) प्राणी जन्मलेता है, विद्या पुरुष (देहाभिमानी जीव को खाजाती है, परन्तु (देवताओंको अर्पण करने पर शेष रहेहुए) अमृत नामक पदार्थोंका भोजन करनेवालोंके लिये वह ग्राह्य है ॥ ३१ ॥ इसलिये जो कितने ही लोग पार पहुँचगए हैं वे कर्मोंमें प्रेम नहीं

य एवममृतं नित्यमग्राह्यं शश्वदक्षरम् । वश्यात्मानमसंश्लिष्टं यो वेद न मृतो भवेत् ॥३३॥ अपूर्वमकृतं नित्यं य एनमविचारिणम् । य एवं विंदेदात्मानमग्राह्यममृताशनम् । अग्राह्यो मृतो भवति स एभिः कारणैर्ध्रुवः ॥३४॥ आयोज्य सर्वसंस्कारान् संपश्यात्मानमात्मनि। स तद् ब्रह्म शुभं वेत्ति यस्माद् भूयो न विद्यते ॥३५॥ प्रसादे चैव सत्त्वस्य प्रसादं समवाप्नुयात् । लक्षणं हि प्रसादस्य यथा स्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥ ३६ ॥ गतिरेषा तु मुक्तानां ये ज्ञानपरिनिष्ठिताः । प्रवृत्तयश्च याः सर्वाः पश्यन्ति परिणामजाः॥३७॥एषा गतिर्विरक्ता-

रखते हैं, वह पुरुष विद्यामय है कर्ममय नहीं कहलाता है ॥३२॥ जो इसप्रकार उसको मृत्युशून्य, नित्य, अग्राह्य, शाश्वत, अविनाशी, वशमें करने योग्य मनवाला और आसक्तिशून्य जानता है वह मरण नहीं पाता है ॥३३॥ जो कोई उसको अपूर्व (जिस से पहले कोई है ही नहीं ऐसा), अकृत (किसीका न बनाया हुआ) नित्य, अविचारी (जिसका विचार न किया जासके ऐसा) कूटस्थ,अग्राह्य और अमृतका भोजन करनेवाला है,ऐसा जानता है, वह स्वयं इन कारणोंसे निःसन्देह अग्राह्य और अमृत होजाता है ॥ ३४ ॥ सब संस्कारोंको दृढ करके आत्मामें आत्माको रोकने वाला (समाधि लगानेवाला) मनुष्य उस शुभ ब्रह्मको जानता है, कि-जिससे बड़ा और कोई नहीं है ॥ ३५ ॥ सत्त्व (बुद्धि) के निर्मल होजाने पर मनुष्यको शान्ति मिलती है, शान्तिका लक्षण स्वप्न देखनेकी समान होता है (जैसे स्वप्नमें सब असत्य पदार्थ दीखते हैं, तैसे ही जब बुद्धि निर्मल होजाती है उस समय मनुष्यको सब वस्तुओंकी असत्यता दीखने लगती है, शान्ति मिलते ही आत्मा देहमें तथा अन्य पदार्थोंमें आसक्तिरहित होजाता है) ॥ ३६ ॥ जो ज्ञान पर श्रद्धा रखते हैं उन मुक्तोंकी यह गति है, परिणामके कारणसे उत्पन्न हुई जो सकल

नायेष धर्मः सनातनः। एषा ज्ञानवतां प्राप्तिरेतद् वृत्तमनिन्दितम् ३८
समेन सर्वभूतेषु निस्पृहेण निराशिषा। शक्या गतिरियं गन्तुं
सर्वत्र समदर्शिना ॥३९॥ एतद्वः सर्वमाख्यातं मया विप्रर्षिसत्तमाः।
एवमाचरतः क्षिप्रं ततः सिद्धिमवाप्स्यथ ॥ ४० ॥ गुरुरुवाच।
इत्युक्तास्ते तु मुनयो गुरुणा ब्रह्मणा तथा। कृतवन्तो महात्मान-
स्ततो लोकमवाप्नुवन् ॥४१॥ त्वमप्येतन्महाभाग यथोक्तं ब्रह्मणो
वचः। सम्यगाचर शुद्धात्मंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥४२॥ वासुदेव
उवाच। इत्युक्तः स तदा शिष्यो गुरुणा धर्ममुत्तमम्। चकार सर्वं
कौन्तेय ततो मोक्षमवाप्तवान् ॥ ४३ ॥ कृतकृत्यश्च स तदा शिष्यः

प्रवृत्तियें हैं उनको देखते हैं (उनको ज्ञान होजाता है, कि-
यह संसार कभी एकसा नहीं रहता, अनित्य है) ॥ ३७ ॥
विरक्त मनुष्योंकी यह गति है, यही सनातनधर्म है, ज्ञानियोंकी
यह प्राप्ति (मिलकियत) है और वृत्त (साधना) अनिन्दित
है ॥ ३८ ॥ सब प्राणियोंके ऊपर समानभाव रखनेवाला, किसी
प्रकारकी इच्छा वा आशा न रखनेवाला और सर्वत्र समदृष्टि रखने
वाला मनुष्य ही इस गतिको पासकता है॥ ३९ ॥ हे श्रेष्ठ ब्रह्म-
र्षियों! यह सब मैंने तुमसे कहदिया, तुम शीघ्र ऐसा ही करो
तो तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी ॥ ४० ॥ गुरु बोले कि-सबके गुरु
ब्रह्माजीने ऐसा कहा, तब उन महात्मा मुनियोंने ऐसा ही किया
और उत्तम लोक पाये ॥ ४१ ॥ हे महाभागो! ब्रह्माजीके कहे
हुए जो शब्द मैंने कहे हैं, हे शुद्धात्मन्! तू उनके अनुसार ही
ठीक वर्ताव कर तब तुझे भी सिद्धि प्राप्त होगी ॥४२॥ श्रीकृष्ण
कहते हैं कि, गुरुने शिष्यसे इसप्रकार उत्तम धर्म कहे तब हे कुन्ती-
नन्दन! उस शिष्यने वैसा ही किया और फिर मुक्ति पाई ४३
हे कुरुकुलको उठानेवाले! उस समय वह शिष्य कृतार्थ होगया
और उसने वह पद पाया, कि-जहाँ पहुँचने पर कोई, शोक

कुरुकुलोद्वह । तत्पदं समनुप्राप्तो यत्र गत्वा न शोचति ॥ ४४ ॥
अर्जुन उवाच । को न्वसौ ब्राह्मणः कृष्ण कश्च शिष्यो जनार्दन ।
श्रोतव्यञ्चेन्मयैतद्वै तत्त्वमाचक्ष मे विभो ॥ ४५ ॥ वासुदेव उवाच ।
अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यञ्च विद्धि मे । त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च
कथितं ते धनञ्जय ॥४६॥ मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्नित्यं कुरुकुलोद्वह ।
अध्यात्ममेतच्छ्रुत्वा त्वं सम्यगाचर सुव्रत ॥ ४७ ॥ ततस्त्वं सम्यगाचीर्णे धर्मेऽस्मिन्नरिकर्षण । सर्वपापविनिर्मुक्तो मोक्षं प्राप्स्यसि
केवलम् ॥ ४८ ॥ पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते । मया
तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु ॥ ४९ ॥ मया तु भरतश्रेष्ठ
चिरदृष्टः पिता प्रभुः । तमहं द्रष्टुमिच्छामि सम्मते तव फाल्गुन ५०
वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तवचनं कृष्णं प्रत्युवाच धनञ्जयः ।

नहीं करता है ॥ ४४ ॥ अर्जुनने कहा, कि–हे कृष्ण ! वह ब्राह्मण कौन था ? और हे जनार्दन ! वह शिष्य कौन था ? यदि मेरे सुनने योग्य होय तो हे विभो ! आप मुझे बताइये ४५ श्रीकृष्णने कहा, कि–हे महाबाहो ! गुरु तो मैं हूँ और शिष्य मनको जान, हे धनञ्जय ! तेरी प्रीतिके कारणसे मैंने यह गुप्त बात कही है ॥ ४६ ॥ हे कुरुकुलको उठानेवाले सुन्दर व्रतधारी ! यदि तेरी मेरे ऊपर सदा प्रीति है तो आत्माके विषयके इस ज्ञानको सुनकर तू ऐसा ही आचरण कर ॥ ४७ ॥ हे शत्रुओंको दुबला करनेवाले ! यदि तू इस धर्मका आचरण करेगा तो सकल पापोंसे छूटकर मोक्ष पावेगा ॥ ४८ ॥ हे महाबाहो ! पहले युद्धके समय भी मैंने तुझे यही उपदेश दिया था, इसलिये तू इस विषयमें मन लगा ॥ ४९ ॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अपने प्रभु पिताजीका दर्शन कियेहुए मुझे बहुत दिन होगए हैं, इसलिये तेरी सम्मति लेकर मैं उनका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ ५० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–श्रीकृष्णके यह बात कहने पर उनसे अर्जुनने कहा, कि–हे कृष्ण ! चलिये हम दोनों आज

गच्छावो नगरं कृष्ण गजसाह्वयमद्य वै ॥ ५१ ॥ समेत्य तत्र राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् । समनुज्ञाप्य राजानं स्वां पुरीं यातुमर्हसि ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
गुरुशिष्यसंवादे एकपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततोऽभ्यचोदयत् कृष्णो युज्यतामिति दारुकम् । मुहूर्तादिव चाचष्ट युक्तमित्येव दारुकः ॥ १ ॥ तथैव चानुयात्राणि चोदयामास पाण्डवः । सज्जयध्वं प्रयास्यामो नगरं गजसाह्वयम् ॥२॥ इत्युक्ताः सैनिकास्ते तु सज्जीभूता विशाम्पते । आचख्युः सज्जमित्येव पार्थायामिततेजसे ॥३॥ ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ । विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशाम्पते ॥ ४ ॥ रथस्थं तु महातेजा वासुदेवं धनञ्जयः । पुनरेवाब्रवीद्वाक्यमिदं भरतसत्तम ॥५॥ त्वत्प्रसादाज्जयः प्राप्तो राज्ञा

ही हस्तिनापुरको चलें ॥ ५१ ॥ वहाँ धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरसे मिलकर और उन राजाकी आज्ञा लेकर आप अपने नगरको जायँ तो ठीक है ॥ ५२ ॥ इक्यावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-तदनन्तर श्रीकृष्णने दारुकको आज्ञा दी, कि-रथ जोडो, दारुकने जरा ही देर बाद आकर कहा, कि-रथ तयार है ॥ १ ॥ इसप्रकार ही अर्जुनने अपने साथियोंसे कहा, कि-तयार होजाओ, हस्तिनापुरको चलेंगे ॥२॥ हे राजन् ! अर्जुनके ऐसा कहने पर सब सैनिक तयार होगए और उन्होंने महातेजस्वी अर्जुनसे आकर कहा, कि-सब तयार हैं ॥ ३ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर वे दोनों कृष्ण और अर्जुन रथमें सवार हो भाँति २ की कथाएँ कहते हुए और प्रसन्न होते हुए चल दिये ॥ ४ ॥ हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! महातेजस्वी धनञ्जयने रथमें बैठे हुए श्रीकृष्णसे फिर यह बात कही ॥ ५ ॥ हे वृष्णि-

वृष्णिकुलोद्वह । निहताः शत्रवश्चापि प्राप्तं राज्यमकण्टकम् ॥६॥
नाथवन्तश्च भवता पाण्डवा मधुसूदन । भवन्तं प्लवमासाद्य तीर्णाः
स्म कुरुसागरम् ॥ ७ ॥ विश्वकर्म्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्व-
सत्तम । तथा त्वामभिजानामि यथा चाहं भवन्मतः ॥ ८॥ त्वत्तोजः-
सम्भवो नित्यं भूतात्मा मधुसूदन । रतिः क्रीडामयी तुभ्यं माया
ते रोदसी विभो ॥९॥ त्वयि सर्वमिदं विश्वं यदिदं स्थाणुजङ्गमम् ।
त्वं हि सर्वं विकुरुषे भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ १० ॥ पृथिवीं चान्त-
रिक्षञ्च द्यां चैव मधुसूदन। हसितं तेऽमला ज्योत्स्ना ऋतवश्चेन्द्रियाणि
ते ॥ ११ ॥ प्राणो वायुः सततगः क्रोधो मृत्युः सनातनः। प्रसादे
चापि पद्मा श्रीर्नित्यं त्वयि महामते ॥ १२ ॥ रतिस्तुष्टिर्धृतिः

कुलको उठानेवाले ! आपके अनुग्रहसे राजा युधिष्ठिरने विजय पाई, शत्रु मारेगए और निष्कण्टक राज्य भी पालिया ॥ ६ ॥ हे मधुसूदन ! पाण्डव आपसे ही सनाथ हैं, नौका रूप आपको पाकर हम कौरवरूप समुद्रके पार होगए हैं ॥ ७ ॥ हे विश्वको रचनेवाले ! हे विश्वके आत्मारूप ! हे विश्वमें श्रेष्ठ ! आपको प्रणाम है ! मैं आपको वैसा ही जानता हूं, जैसा आप मुझे समझ रहे हैं ॥८॥ हे मधुसूदन ! आपके तेजमेंसे नित्य भूतात्मा उत्पन्न होता है, जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आपकी क्रीडा है, हे विभो ! आकाश और पृथिवी आपकी माया है ९ यह जो स्थावर और जङ्गमरूप सब विश्व है, यह आपमें ही रहता है, इन चारों प्रकारके प्राणियोंके सब समूहको आप ही रचते हैं ॥ १० ॥ हे मधुसूदन ! पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश आपमें ही स्थित हैं, निर्मल चाँदनी आपका हास्य है, ऋतुएँ आपकी इन्द्रियें हैं ॥ ११ ॥ निरन्तर चलने वाला वायु आपका प्राण है, सनातन मृत्यु आपका क्रोध है, हे महामतिवाले ! आप की प्रसन्नतामें लक्ष्मी नित्य निवास करती है ॥ १२ ॥ रति,

क्षान्तिर्मतिः कान्तिश्चराचरम् । त्वमेवेह युगान्तेषु निधनं प्रोच्य-
सेऽनघ ॥ १३ ॥ सुदीर्घेणापि कालेन न ते शक्या गुणा मया ।
आत्मा च परमात्मा च नमस्ते नलिनेक्षण ॥ १४ ॥ विदितो मे
सुदुर्धर्ष नारदाद्देवलात्तथा । कृष्णद्वैपायनाच्चैव तथा कुरुपिता-
महात् ॥१५॥ त्वयि सर्वं समासक्तं त्वमेवैको जनेश्वरः । यच्चा-
नुग्रहसंयुक्तमेतदुक्तं त्वयानघ ॥१६॥ एतत् सर्वमहं सम्यगाचरिष्ये
जनार्दन । इदं चाद्भुतमत्यन्तं कृतमस्मत्प्रियेप्सया ॥ १७ ॥ यत्
पापो निहतः संख्ये कौरव्यो धृतराष्ट्रजः । त्वया दग्धं हि तत्सैन्यं
मया विजितमाहवे ॥ १८ ॥ भवता तत् कृतं कर्म येनावाप्तो जयो
मया । दुर्योधनस्य संग्रामे तव बुद्धिपराक्रमैः ॥ १९ ॥ कर्णस्य च
वधोपायो यथावत् सम्प्रदर्शितः । सैन्धवस्य च पापस्य भूरिश्रवस

तुष्टि (सन्तोष), धृति (धीरज), क्षमा, मति, कान्ति (सुन्द-
रता) और चर तथा अचर आप ही हैं, हे अनघ ! इस लोकमें
युगोंके अन्तमें आपको ही मृत्युरूप कहते हैं ॥ १३ ॥ चिरकाल
तक कहता रहूँ तब भी मैं आपके गुणोंको नहीं कहसकता, हे
कमलनेत्र ! आप ही आत्मा और परमात्मा हो ॥१४॥ किसीसे
न दबनेवाले ! नारद, देवल, कृष्णद्वैपायन, व्यास तथा कुरुपिता-
मह भीष्मजीसे मेरे जाननेमें आया है, कि—॥ १५ ॥ आपमें ही
सब अच्छे प्रकारसे जड़ा हुआ है, मनुष्योंके एकमात्र ईश्वर
तुम ही हो, हे निष्पाप ! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, यह
सब आपकी कृपाके साथ है ॥ १६ ॥ हे जनार्दन ! इस सबका
मैं अच्छे प्रकारसे आचरण करूँगा, आपने हमारा प्रिय करनेकी
इच्छासे यह अद्भुत काम किया है ॥ १७ ॥ जो कि—कुरुवंशमें
उत्पन्न हुए धृतराष्ट्रके पापी पुत्रका युद्धमें नाश किया है, आपने
कौरवोंकी सेनाको युद्धमें भस्म कर डाला था, कि—जिससे मुझे
विजय मिली, आपकी बुद्धिके पराक्रमसे संग्राममें दुर्योधनके, कर्ण

एव च-॥ २० ॥ अहं च मीयमाणेन त्वया देवकिनन्दन । यदु-क्तस्तत् करिष्यामि न हि मेऽत्र विचारणा ॥ २१ ॥ राजानञ्च समासाद्य धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् । चोदयिष्यामि धर्म्मज्ञ गमनार्थं तवानघ ॥२२॥ रुचितं हि ममैतत्ते द्वारकागमनं प्रभो । अचिरादेव द्रष्टा त्वं मातुलं मे जनार्दन ॥ २३ ॥ बलदेवञ्च दुर्द्धर्षं तथान्यान् वृष्णिपुङ्गवान् । एवं सम्भाषमाणौ तौ प्राप्तौ वारणसाह्वयम् ।२४। तथा विविशतुश्चोभौ संप्रहृष्टनराकुलम् । तौ गत्वा धृतराष्ट्रस्य गृहं शक्रगृहोपमम् ॥ २५ ॥ ददृशाते महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् । विदुरञ्च महाबुद्धिं राजानञ्च युधिष्ठिरम् ॥ २६ ॥ भीमसेनञ्च दुर्द्धर्षं माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ । धृतराष्ट्रमुपासीनं युयुत्सुञ्चापराजि-तम् ॥ २७ ॥ गान्धारीं च महाप्राज्ञां पृथां कृष्णां च भामिनीम् ।

के, पापी सिन्धुराजके तथा भूरिश्रवाके बधका उपाय मुझे मालूम हुआ था ॥ १९-२० ॥ हे देवकीनन्दन ! मेरे ऊपर प्रसन्न होकर आपने जो कुछ कहा, उसको मैं करूँगा, इसमें मुझे कुछ विचारनेकी आवश्यकता नहीं है ॥२१॥ हे धर्मको जाननेवाले ! हे निर्दोष ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरके पास चलकर आपकी यात्राके विषयमें मैं उनसे कहूँगा ॥ २२ ॥ हे प्रभो ! आपका द्वारकाको जाना मुझे ठीक मालूम होता है, हे जनार्दन! आप शीघ्र ही पहुँच कर मामाजीका दर्शन करिये ॥२३॥ तथा दुर्धर्ष बलदेवजी और वृष्णिवंशके दूसरे मुखियाओंसे भी मिलिये, वैशम्पायन कहते हैं, कि—इस प्रकार बातें करते २ वे दोनों हस्तिनापुरमें आपहुँचे ॥ २४ ॥ और नगरमें प्रवेश किया, तदनन्तर वे दोनों बड़े आनन्दी मनुष्योंसे भरे हुए, इन्द्रके भवनकी उपमाके योग्य धृतराष्ट्रके महलमें गए ॥ २५ ॥ और वहाँ हे महाराज ! राजा धृतराष्ट्रसे, महाबुद्धिमान् विदुरसे, राजा युधिष्ठिरसे ॥ २६ ॥ किसीसे न दबनेवाले भीमसेनसे, माद्रीके दोनों पुत्रोंसे और

सुभद्राद्याश्च ताः सर्वा भरतानां स्त्रियस्तथा ॥२८॥ ददृशाते स्त्रियः सर्वा गांधारीपरिचारिकाः । ततः समेत्य राजानं धृतराष्ट्रमरिंदमौ २६ निवेद्य नामधेये स्वे तस्य पादावगृह्णताम् । गान्धार्य्याश्च पृथायाश्च धर्म्मराजस्य चैव हि ॥ ३० ॥ भीमस्य च महात्मानौ तथा पादावगृह्णताम् । क्षत्तारञ्चापि संगृह्य पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ।३१। तैः सार्द्धं नृपतिं वृद्धं ततस्तौ पर्य्युपासताम् । ततो निशि महाराजो धृतराष्ट्रः कुरूद्वहान् ॥ ३२ ॥ जनार्दनञ्च मेधावी व्यसर्ज्जयत वै गृहान् । तेऽनुज्ञाता नृपतिना ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ३३ ॥ धनञ्जयगृहानेव ययौ कृष्णस्तु वीर्य्यवान् । तथार्चितो यथान्यायं सर्वकामैरुपस्थितः॥३४॥कृष्णः सुष्वाप मेधावी धनञ्जयसहायवान्। प्रभातायान्तु शर्वर्य्यां कृत्वा पौर्वाह्णिकीं क्रियाम् ॥३५॥ धर्म्मराजस्य

धृतराष्ट्रके पास बैठे हुए अपराजित युयुत्सुसे ॥१७॥ महाबुद्धिमती गान्धारीसे, कुन्तीसे, सुन्दरी द्रौपदीसे, सुभद्रा आदिसे तथा भरतवंशकी सब स्त्रियोंसे मिले ॥२८॥ तथा गांधारीकी सेवा करनेवाली सब स्त्रियोंसे भी मिले, फिर वैरिओंका दमन करनेवाले वे दोनों धृतराष्ट्रके पास गए ॥ २६ ॥ और अपने नाम बताकर उनके चरण छुए तथा गान्धारी, कुन्ती, धर्मराज और भीमसेनके दोनें चरण, इन महात्माओंने छुए,फिर विदुरसे भी मिलकर उनसे क्षेमकुशल बूझा ॥ ३० ॥ ३१ ॥ फिर दोनों जने सबसे मिलनेके अनन्तर बूढ़े राजाकी उपासना करने लगे, फिर रात होजानेपर महाराज धृतराष्ट्रने कुरुओंके मुखियोंको विदा करदिया ॥ ३२ ॥ तथा बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने श्रीकृष्णको भी घरपर जानेको विदा किया, राजाके आज्ञा देने पर वे सब अपने २ घरोंको गए ॥३३॥ वीर श्रीकृष्ण अर्जुनके घर गए, तहाँ उनकी यथोचित पूजा हुई और सब इच्छाएँ पूरी कीगईं ३४ फिर बुद्धिमान् कृष्ण अर्जुनके साथ सो रहे, जब रात पूरी होकर प्रातःकाल हुआ, तब उन्होंने

भवनं जग्मतुः परमार्चितौ । यत्रास्ते स सहामात्यो धर्मराजो महाबलः ॥ ३६ ॥ तौ प्रविश्य महात्मानौ तद्गृहं परमार्चितम् । धर्मराजं ददृशतुर्देवराजमिवाश्विनौ ॥ ३७ ॥ समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुङ्गवौ । निषेदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन तौ ॥ ३८ ॥ ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ । प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ॥ ३९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ । ब्रूतं कर्त्तास्मि सर्वं वा न चिरान्मा विचार्यताम् ॥ ४० ॥ इत्युक्तः फाल्गुनस्तत्र धर्मराजानमब्रवीत् । विनीतवदुपागम्य वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४१ ॥ अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान् । भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ४२

प्रातःकालका नित्यकर्म किया ॥ ३५ ॥ फिर अच्छे प्रकारसे तयार होकर धर्मराजके महलमें गए, तहाँ महाबली युधिष्ठिर अपने मंत्रियोंके साथ बैठेहुए थे ॥ ३६ ॥ खूब सजेहुए उस भवनमें घुसकर इन दोनों महात्माओंने, जैसे दोनों अश्विनीकुमार इन्द्रका दर्शन करते हों तैसे धर्मराजका दर्शन किया ॥ ३७ ॥ वृष्णिवंशमें और कुरुवंशमें श्रेष्ठ वे दोनों धर्मराजके पास पहुँचे तब प्रसन्न हुए युधिष्ठिरके आज्ञा देने पर बैठगए ॥ ३८ ॥ फिर कुछ कहना चाहने वाले उन दोनोंकी ओरको देखकर बुद्धिमान्, राजाओंमें श्रेष्ठ और बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उनसे यह बात कही ॥ ३९ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे वीरों ! हे यदुकुल और कुरुकुलको उठानेवालो ! मालूम होता है तुम दोनों कुछ कहना चाहते हो, तुम्हें जो कुछ कहना हो वह कहो मैं तुम्हारा कहना शीघ्र ही करूँगा, कुछ विचार न करो ॥ ४० ॥ ऐसा कहने पर बातें करनेमें चतुर अर्जुनने विनयके साथ धर्मराज के पास जाकर यह बात कही ॥ ४१ ॥ अर्जुनने कहा, कि– हे राजन् ! इन प्रतापी श्रीकृष्णको यहाँ रहते हुए बहुत दिन हो

स गच्छेदभ्यनुज्ञातो भवता यदि मन्यसे । आनर्त्तनगरीं वीर तदनुज्ञातुमर्हसि ॥४३॥ युधिष्ठिर उवाच । पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन । पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभो ॥४४॥ रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव । मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ॥४५॥ समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद । पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ॥ ४६ ॥ स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनाम्वरम् । फाल्गुनं सहदेवं च नकुलं चैव मानद ४७ आनर्त्तानवलोक्य त्वं पितरञ्च महाभुज । वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममानघ ॥४८॥ स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च । यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञन्ते तदप्यादत्स्व सात्वत ॥ ४९ ॥ इयञ्च

गये, यह आपकी आज्ञा लेकर अपने माता पिताका दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४२ ॥ यदि आप मानलें और आज्ञा देदें तो यह वीर द्वारकापुरीको चलेजायँ, इस लिये आपको आज्ञा देदेनी चाहिये ॥ ४३ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे पुण्डरीकाक्ष ! तुम्हारा कल्याण हो ! हे प्रभो ! आप शूरपुत्र(वसुदेवका)दर्शन करनेको आज ही द्वारकापुरीको जाइये ॥४४॥ हे महाबाहु केशव ! आपका जाना मैं उचित समझता हूँ, क्योंकि—आपको हमारे मामा जी (वसुदेवजी) और देवकीका दर्शन किये बहुत दिन होगये हैं ॥४५॥ हे मान देनेवाले ! मेरे मामा वसुदेवजीसे मिलकर और बलदेव जीके पास जाकर हे महामते ! उनकी योग्यताके अनुसार मेरे कहनेसे उनकी पूजा करना (मेरा प्रणाम कहना) ॥ ४६ ॥ और हे मानदाता ! मुझे, बलवानोंमें श्रेष्ठ भीमको, अर्जुनको, सहदेव और नकुलको नित्य याद करते रहना ॥ ४७ ॥ हे महाबाहो ! आनर्त्तदेशके लोगोंको, अपने बड़ोंको तथा वृष्णियोंको लेकर हे अनघ ! मेरे अश्वमेधमें फिर आना ॥४८॥ हे सात्वतवंशी ! नाना प्रकारके रत्न और धन तथा और जो वस्तु आपको

वसुधा कृत्स्ना प्रसादाच्चव केशव । अस्मानुपागता वीर निहता-
श्चापि शत्रवः ॥ ५० ॥ एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५१ ॥ वासुदेव उवाच ।
तवैव रत्नानि धनञ्च केवलं धरा तु कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै ।
यदस्ति चान्यद्द्रविणं गृहे मम त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ५२
तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा गदाग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान् ।
पितृष्वसारं त्ववदद्यथाविधि सम्पूजितश्चाप्यगमत् प्रदक्षिणम् ५३
तथा स सम्यक् प्रतिनन्दितस्ततस्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा ।
विनिर्ययौ नागपुराद्गदाग्रजो रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम् ५४
रथे सुभद्रामधिरोप्य भाविनीं युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः । पितृ-

---

पसन्द हों उनको लेकर जाइये ॥ ४९ ॥ हे केशव ! यह सब पृथ्वी मुझे आपके ही अनुग्रहसे मिली है और हे वीर ! हमारे शत्रु भी मारे गए हैं, (इसलिए यह सब आपका ही है और आपको चाहिये सो लेजाइए) ॥५०॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—कुरुवंशके धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने यह बात कही, कि हे महाबाहो ! मेरे रत्न, धन और सब पृथ्वी आपकी ही है और हे राजन् ! मेरे घरमें आज और जो कुछ भी है वह सब भी आपका ही है ॥५२॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—वीर्यवान् धर्मराजने 'तथास्तु' कहकर श्रीकृष्णकी बडी प्रशंसा की, फिर कृष्णने अपने पिताकी बहिन (बुआ कुन्ती) के साथ यथा विधि बातें कर और उसके चरण छूकर प्रदक्षिणा की ॥ ५३ ॥ फिर बुआ कुन्तीने आदरके साथ उनको आशीर्वाद दिया, तदनन्तर विदुर आदि और सबोंने भी उनका सन्मान किया, तब चतुर्भुज श्रीकृष्ण स्वयं दिव्य रथमें बैठकर हस्तिनापुरमेंसे चलने को तयार होगये ॥ ५४ ॥ तदनन्तर युधिष्ठिर और अपनी बुआ कुन्तीकी संमतिसे वह महाबाहु श्रीकृष्ण अपनी सौभाग्य-

य्वसुश्चापि तथा महाभुजो विनिर्य्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ॥५५॥
तमन्वयाद्वानरवर्य्यकेतनः ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि । अगाध-
बुद्धिर्विदुरश्च माधवं स्वयञ्च भीमो गजराजविक्रमः ॥ ५६ ॥
निवर्त्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्द्धनांस्ततः स सर्वान् विदुरञ्च वीर्य्यवान् ।
जनार्द्दनो दारुकमाह सत्वरः मचोदयाश्वानिति सात्यकिं तथा ५७
ततो ययौ शत्रुगणप्रमर्द्दनः शिनिप्रवीरानुगतो जनार्द्दनः । यथा
निहत्यारिगणान् शतक्रतुर्दिवं तथानर्त्तपुरीं प्रतापवान् ॥ ५८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
श्रीकृष्णप्रयाणे द्वापंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

वैशम्पायन उवाच । तया प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः ।
परिष्वज्य न्यवर्त्तन्त सानुयात्राः परन्तपाः ॥ १ ॥ पुनः पुनश्च

वती बहिन सुभद्राको रथमें बैठालकर पुरवासियोंसे घिरे हुए नगरके बाहर निकले ॥५५॥ कपिध्वज अर्जुन, सात्यकी, नकुल, सहदेव, अगाध बुद्धिवाले विदुरजी और हाथीकी समान पराक्रम वाला भीमसेन ये सब श्रीकृष्णके पीछे२ पहुँचानेको गए ॥५६॥ तदनन्तर कुरुके राज्यको बढ़ानेवाले सब लोगोंको और विदुरजी को पीछेको लौटाकर वीर श्रीकृष्णने अपने सारथी दारुकसे तथा सात्यकीसे कहा, कि–घोड़ोंको वेगसे चलाओ ॥ ५७ ॥ जैसे वैरियोंको मारकर इन्द्र देवपुरीमें जाता है ऐसे ही वैरियोंका नाश करनेवाले और जिनके पीछे२ शिनिवंशके वीर चल रहे थे ऐसे प्रतापी श्रीकृष्णजी द्वारकाकी ओरको चलने लगे ॥ ५८ ॥ बावनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–इस प्रकार द्वारकाको जाते हुए श्रीकृष्णसे मिलकर वैरियोंको सन्ताप देनेवाले भरतवंशके मुख्य राजे लौटरहे थे ॥१॥ अर्जुनने श्रीकृष्णको बार२ हृदयसे लगाया और जब तक वह नेत्रोंसे दीखते रहे तब तक बार२ उनको देखना

वार्ष्णेयं पर्य्यव्रजत फाल्गुनः। आचक्षुर्विषयाच्चैनं स ददर्श पुनः पुनः ॥२॥ कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम्। संजहार ततो दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ॥ ३ ॥ तस्य प्रयाणे यान्यासन्निमित्तानि महात्मनः। बहून्यद्भुतरूपाणि तानि मे गदतः शृणु ॥ ४ ॥ वायुर्वेगेन महता रथस्य पुरतो ववौ। कुर्वन्निःशर्करं मार्गं विरजस्कमकण्टकम् ॥ ५ ॥ ववर्ष वासवश्चैव तोयं शुचि सुगन्धि च। दिव्यानि चैव पुष्पाणि पुरतः शार्ङ्गधन्वनः ॥ ६ ॥ स प्रयातो महाबाहुः समेषु मरुधन्वसु। ददर्शाथ मुनिश्रेष्ठमुत्तङ्कममितौजसम् ॥ ७ ॥ स तं सम्पूज्य तेजस्वी मुनिं पृथुललोचनः। पूजितस्तेन च तदा पर्य्यपृच्छदनामयम् ॥ ८ ॥ स पृष्टः कुशलं तेन सम्पूज्य मधुसूदनम्। उत्तङ्को ब्राह्मणश्रेष्ठस्ततः पप्रच्छ माधवम् ९ कच्चिच्छौरे त्वया गत्वा कुरुपाण्डवसद्म तत्। कृतं सौभ्रात्रमचलं

रहा ॥२॥ श्रीकृष्णमें जमी हुई दृष्टिको अर्जुनने बड़ी कठिनतासे लौटाया और अपराजित श्रीकृष्णने भी अर्जुनमें जमी हुई दृष्टिको बड़ी कठिनतासे लौटाया ॥ ३ ॥ उन महात्माकी यात्राके समय जो शकुन हुए वे बहुतसे और अद्भुत थे उनको मैं कहता हूँ सुनो ॥ ४ ॥ रथके आगे वायु बड़े वेगसे चलने लगा, जिससे मार्ग कङ्कड़ी, धूलि और काँटोंसे रहित होगया ॥ ५ ॥ इन्द्रने पवित्र और सुगन्धित जल तथा दिव्य पुष्प उन शार्ङ्गधन्वा (कृष्ण) के मार्गमें बरसाये ॥६॥ वह महाबाहु सपाट मरुभूमिमें चले जा रहे थे, उस समय मुनियोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी उत्तङ्क मुनिका दर्शन हुआ ॥ ७ ॥ तेजस्वी और विशाल नेत्रोंवाले कृष्णने उनकी पूजा की तथा उन मुनिने श्रीकृष्णकी पूजाकी, फिर उनसे, कुशल बूझी ॥ ८ ॥ कृष्णने उनकी कुशल बूझी और उनकी पूजाकी तदनन्तर ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ उत्तङ्कने श्रीकृष्णसे बूझा, ॥ ९ ॥ उत्तङ्क बोले, कि—कुरु और पाण्डवोंके महलोंमें

तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १० ॥ अपि सन्धाय तान् वीरानुपा-
वृत्तोऽसि केशव। संबन्धिनः स्वदयितान् सततं वृष्णिपुङ्गव॥११॥
कच्चित् पाण्डुसुताः पंच धृतराष्ट्रस्य चात्मजाः । लोकेषु विहरि-
ष्यन्ति त्वया सह परन्तप ॥१२॥ स्वराष्ट्रे ते च राजानः कच्चित्
प्राप्स्यन्ति वै सुखम्। कौरवेषु प्रशांतेषु त्वया नाथेन केशव॥१३॥
या मे सम्भावना तात त्वयि नित्यमवर्त्तत । अपि सा सफला तात
कृता ते भरतान् प्रति ॥ १४॥ श्रीभगवानुवाच । कृतो यत्नो मया
पूर्वं सौशाम्ये कौरवान् प्रति । नाशक्यन्त यदा शाम्ये ते स्थाप-
यितुमंजसा ॥ १५ ॥ ततस्ते निधनं प्राप्ताः सर्वे ससुतबान्धवाः ।
न दिष्टमप्यतिक्रान्तुं शक्यं बुद्ध्या बलेन वा ॥१६॥ महर्षे विदितं
भूयः सर्वमेतत्तवानघ । तेऽत्यक्रामन्मतिं मह्यं भीष्मस्य विदुरस्य
च ॥१७॥ ततो यमक्षयं जग्मुः समासाद्येतरेतरम् । पंचैव पाण्डवाः

जाकर हे कृष्ण ! तुमने उन भाइयोंका भ्रातृप्रेम अचल किया या
नहीं ? यह बात मुझे बतानी चाहिये ॥१०॥ हे वृष्णिवंशमें श्रेष्ठ
केशव ! क्या तुम अपने प्यारे संबन्धी वीर पुरुषोंमें सन्धि करा
कर आरहे हो ? हे परन्तप! पांडुके पाँचों पुत्र और धृतराष्ट्रके पुत्र
क्या इस लोकमें आपके साथ विहार करेंगे?॥१२॥हे केशव!आप
स्वामी बनकर कौरवोंको शान्त करने गये थे, तो क्या अब वे
राजे अपने राज्यमें सुखसे रहसकेंगे ? ॥ १३ ॥ हे तात ! जो
मेरी भक्ति सदा तुम्हारे ऊपर रहती है, हे तात ! वह तूने भरतके
वंशधरोंके ऊपर सफल की या नहीं ? ॥ १४ ॥ श्रीभगवान्ने
कहा, कि-पूर्ण २ शान्ति करनेके लिये मैंने पहले ही कौरवोंमें
जाकर उद्योग किया था, परन्तु जब वे शीघ्रतासे सन्धि न करसके
तब ॥ १५ ॥ अपने पुत्र और बान्धवों सहित उन सबोंका नाश
होगया, बुद्धिसे या बलसे भाग्यको कोई नहीं लाँघ सकता १६
हे निष्पाप महर्षे ! आप यह सब जानते हैं, उन्होंने मेरे विषयमें

शिष्टा हतामित्रा हतात्मजाः ॥ १८ ॥ धार्त्तराष्ट्राश्च निहताः सर्वे
सपुत्रबान्धवाः । इत्युक्तवचने कृष्णे भृशं क्रोधसमन्वितः । उत्तङ्क
इत्युवाचैनं रोषादुत्फुल्ललोचनः ॥ १९ ॥ उत्तङ्क उवाच । यस्मात्
शक्तेन ते कृष्ण न त्राताः कुरुपुङ्गवाः। संबन्धिनः प्रियास्तस्माच्छ-
प्स्येऽहं त्वामसंशयम् ॥ २० ॥ न च ते प्रसभं यस्मात् ते निगृह्य
निवारिताः । तस्मान्मन्युपरीतस्त्वां शप्स्यामि मधुसूदन ॥ २१ ॥
त्वया शक्तेन हि सता मिथ्याचारेण माधव । ते परीताः कुरुश्रेष्ठा
नश्यन्तः स्म ह्युपेक्षिताः ॥ २२ ॥ वासुदेव उवाच । शृणु मे
विस्तरेणेदं यद्वक्ष्ये भृगुनन्दन । गृहाणानुनयं चापि तपस्वी ह्यसि

भीष्म तथा विदुरकी दी हुई संमतिको नहीं माना ॥१७॥ फिर वे परस्परमें जूझकर यमपुरीको पधारगए, केवल पाँच पाँडव ही बचे हैं, कि-जिनके वैरी और पुत्र मारेगये हैं॥१८॥अपने पुत्रों और बान्धवोंके सहित धृतराष्ट्रके सब पुत्र मारेगए, वैशम्पायन कहते हैं, कि-श्रीकृष्णने यह बात कही, तब क्रोधके मारे जिसके नेत्र फटे जाते थे ऐसा उत्तङ्क बड़े क्रोधमें भरकर कहने लगा १९ उत्तङ्कने कहा, कि-हे कृष्ण!कुरुओंके श्रेष्ठ पुरुष तुम्हारे संबन्धी थे और तुम उनसे प्रेम करते थे तो भी तुमने शक्ति रखते हुए भी उनकी रक्षा नहीं की इसलिये मैं तुम्हें शाप दूँगा, इसमें सन्देह न समझो ॥ २० ॥ क्यों कि-तुमने उनको जबरन पकड़ कर नहीं रोका, इसलिये हे मधुसूदन ! मुझे क्रोध आरहा है, अतः मैं तुम्हें शाप दूँगा ॥ २१ ॥ हे माधव ! तुम कुरुवंशके श्रेष्ट पुरुषोंकी रक्षा करसकते थे, तो भी तुमने कपटका व्यवहार करके उपेक्षा की (उनकी रक्षा करनेकी परवाह नहीं की, जिससे कि-कुरुवंशी इकट्ठे होकर मारे गये) ॥२२॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे भृगुनन्दन ! मैं जो बात विस्तारके साथ कहता हूँ, उसको सुनो, हे भार्गव ! तुम विनयके साथ बातें करो क्योंकि-तुम तपस्वी

भार्गव ॥ २३ ॥ श्रुत्वा च मे तदध्यात्मं मुञ्चेथाः शापमद्य वै ।
न च मां तपसाल्पेन शक्तोऽभिभवितुं पुमान॥२४॥न च ते तपसो
नाशमिच्छामि तपतां वर। तपस्ते सुमहद्दीप्तं गुरवश्चापि तोषिताः२५
कौमारं ब्रह्मचर्यन्ते जानामि द्विजसत्तम। दुःखार्जितस्य तपसस्त-
स्मान्नेच्छामि ते व्ययम् ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
श्रीकृष्णोत्तंकसमागमे त्रिपंचाशत्तमोऽध्यायः॥ ५३ ।

उत्तङ्क उवाच । ब्रूहि केशव तत्त्वेन त्वमध्यात्ममनिन्दितम् ।
श्रुत्वा श्रेयोऽभिधास्यामि शापं वा ते जनार्दन ॥ १ ॥ वासुदेव
उवाच। तमो रजश्च सत्त्वञ्च विद्धि भावान्मदाश्रयान् । तथा रुद्रान्
वसून् चापि विद्धि मत्प्रभवान द्विज ॥ २ ॥ मयि सर्वाणि भूतानि
सर्वभूतेषु चाप्यहम् । स्थित इत्यभिजानीहि मा ते भूदत्र संशयः ३

हो ॥ २३ ॥ मुझसे इस अध्यात्म-रहस्यकी बातोंको सुनकर
तुम भले ही शाप देना, कोई भी पुरुष थोडासा तप करके मेरा
तिरस्कार नहीं करसकता ॥२४॥ तथा हे तप करनेवालोंमें श्रेष्ठ!
मैं तुम्हारे तपका नाश भी नहीं करना चाहता, तुम्हारे तपका
बडा तेज है और तुमने अपने गुरुको भी प्रसन्न किया है ॥२५॥
हे द्विजवर ! तुमने बालकपनसे ब्रह्मचर्यका पालन किया है, इस
बातको मैं जानता हूँ, इसलिये बड़े दुःखसे पाये हुए तपका मैं
नाश करना नहीं चाहता ॥२६॥ त्रेपनवाँ अध्याय समाप्त ५३

उत्तङ्कने कहा, कि-हे केशव ! तुम निर्दोष अध्यात्मको रहस्यके
साथ कहो, उसको सुनकर हे जनार्दन ! मैं तुम्हारा कल्याण ही
करूँगा या शाप ही दूँगा ॥१॥ श्रीकृष्णने कहा, कि–तप, रज और
सत्त्व इन भावोंको मेरे आश्रयसे रहने वाले जान तथा हे द्विज !
रुद्र और वसुओंको भी मुझमेंसे ही उत्पन्न हुए जान ॥ २ ॥
सब भूत मुझमें हैं और सब भूतोंमें मैं रहता हूँ, इस बात

तथा दैत्यगणान् सर्वान् यक्षगन्धर्वराक्षसान् । नागानप्सरसश्चैव विद्धि मत्प्रभवान् द्विज॥४॥ सदसच्चैव यत् प्राहुरव्यक्तं व्यक्तमेव च । अक्षरञ्च क्षरञ्चैव सर्वमेतन्मदात्मकम् ॥ ५ ॥ ये चाश्रमेषु वै धर्माश्चतुर्धा विहिता मुने । वैदिकानि च सर्वाणि विद्धि सर्वं मदात्मकम् ॥ ६ ॥ असच्च सदसच्चैव यद्विश्वं सदसत्परम् । मत्तः परतरं नास्ति देवदेवात् सनातनात् ॥ ७ ॥ ओङ्कारप्रमुखान् वेदान् विद्धि मां त्वं भृगूद्वह । यूपं सोमं चरुं होमं त्रिदशाप्यायनं मखे ॥८॥ होतारमपि हव्यञ्च विद्धि मां भृगुनन्दन । अध्वर्युः कल्पकश्चापि हविः परमसंस्कृतम् ॥ ९ ॥ उद्गाता चापि मां स्तौति गीतघोषैर्महाध्वरे । प्रायश्चित्तेषु मां ब्रह्मन् शान्तिमंगलवाचकाः १०

को तू जाने रह और इसमें जरा भी सन्देह न कर ॥ ३ ॥ तथा दैत्य, सर्प, गंधर्व, राक्षस, नाग और अप्सराओंको भी हे द्विज ! मुझमेंसे ही उत्पन्न हुए जान ॥ ४ ॥ लोग जिसको सत् और असत् अव्यक्त और व्यक्त तथा अक्षर और क्षर कहते हैं वह सब मेरा ही रूप है॥५॥हे द्विज ! आश्रमोंके जो चार धर्म जाने हुए हैं वे तथा सब वैदिक कर्म मेरा रूप हैं,ऐसा जान ॥६॥ सत् असत् तथा असत् और सत् तथा असत् से भी पर जो विश्व है वह मुझ देवोंके देव सनातनसे पर नहीं है॥७॥ हे भृगुकुलको चलाने वाले ! ओंकारसे आरम्भ होनेवाले वेद मुझे ही जान, यज्ञमें, यूप, सोम, चरु और देवताओंको तृप्त करनेवाला होम ॥ ८ ॥ होता और हवनकी सामग्री, हे भृगुनन्दन ! यह सब तू मुझे ही जान, अध्वर्यु, कल्पक और परम संस्कार कियाहुआ हवि भी मुझे ही जान ॥ ९ ॥ बड़ेभारी यज्ञमें उद्गाता भी सामगान की महाध्वनियोंसे मेरी ही स्तुति करता है, हे ब्रह्मन् ! प्रायश्चित्तोंमें शांतिपाठ और मङ्गलपाठ करनेवाले, मेरी ही स्तुति करते हैं हे द्विजवर ! नित्य विश्वकर्माकी स्तुति करते हैं,

स्तुवन्ति विश्वकर्माणं सततं द्विजसत्तम। मम विद्धि सुतं धर्म्ममग्रजं द्विजसत्तम ॥११॥ मानसं दयितं विप्र सर्वभूतदयात्मकम्। तत्राह वर्त्तमानैश्च निवृत्तैश्चैव मानवैः ॥ १२ ॥ बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्त्तामि सत्तम। धर्मसंरक्षणार्थाय धर्म्मसंस्थापनाय च १३ तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव। अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रोऽथ प्रभवाप्ययः ॥ १४ ॥ भूतग्रामस्य सर्वस्य स्रष्टा संहार एव च। अधर्मे वर्त्तमानानां सर्वेषामहमच्युतः ॥ १५ ॥ धर्म्मस्य सेतुं बध्नामि चलिते चलिते युगे। तास्ता योनीः प्रविश्याहं प्रजानां हितकाम्यया ॥ १६ ॥ यदा त्वहं देवयोनौ वर्त्तामि भृगुनन्दन। तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः ॥ १७ ॥ यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्त्तामि भृगुनन्दन। तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः १८

यह स्तुति मेरी ही है, हे द्विजसत्तम! धर्मको मेरा बड़ा पुत्र जान ॥ १०-११ ॥ हे विप्र! जो सकल प्राणियोंमें दयारूप है वही मेरा मानसरूप है, तहाँ मैं वर्त्तमान और निवृत्त (पीछेको लौटे-मरणको प्राप्त हुए) पुरुषोंके साथ रहता हूँ ॥१२॥ धर्मकी रक्षाके लिये और धर्मको स्थापन करनेके लिये हे द्विजवर! मैं बहुतसी योनियोंमें अवतार धारण करता हूँ ॥ १३॥ हे भार्गव! तीनों लोकोंमें भिन्न २ वेशोंमें और रूपोंमें मैं विष्णु हूँ, ब्रह्मा हूँ इन्द्र हूँ, उत्पत्तिरूप हूँ और प्रलयरूप हूँ ॥ १४॥ सकल भूतोंका रचनेवाला और संहार करने वाला मैं ही हूँ, सकल अधर्म करने वालोंमें अच्युत हूँ ॥ १५ ॥ जब जब युग बदलता है तब २ मैं प्रजाओंका हित करनेकी कामनासे भिन्न २ योनियोंमें पहुँचकर धर्मका सेतु बनाता हूँ ॥ १६ ॥ हे भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें होता हूँ तब निःसन्देह सर्वत्र देवताओंकी समान वर्त्ताव करता हूँ ॥ १७ ॥ हे भृगुनन्दन! जब मैं गन्धर्वयोनिमें होता हूँ तब मैं निःसन्देह सर्वत्र गन्धर्वकेसा व्यवहार करता हूँ ॥ १८ ॥

नागयोनौ यदा चैव तदा वर्त्तामि नागवत् । यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद्विचराम्यहम् ॥ १९ ॥ मानुष्ये वर्त्तमाने तु कृपणं याचिता मया । न च ते जातसम्मोहा वचोऽगृह्णन्त मोहिताः ॥२०॥ भयञ्च महदुद्दिश्य त्रासिताः कुरवो मया । क्रुद्धेन भूत्वा च पुनर्यथावदनुदर्शिताः ॥ २१ ॥ तेऽधर्मेणेह संयुक्ताः परीताः कालधर्म्मणा । धर्मेण निहता युद्धे गताः स्वर्गं न संशयः ॥२२॥ लोकेषु पाण्डवाश्चैव गताः ख्यातिं द्विजोत्तम । एतत्ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कृष्णवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

उत्तङ्क उवाच । अभिजानामि जगतः कर्त्तारं त्वां जनार्दन । नूनं भवत्प्रसादोऽयमिति वै नास्ति संशयः॥१॥ चित्तञ्च सुप्रसन्नं

जब मैं नागकी योनिमें होता हूँ तब नागकेसा वर्त्ताव करता हूँ, यक्ष और राक्षसकी योनिमें होता हूँ, तब मैं तैसा ही वर्त्ताव करता हूँ॥१९॥ इस समय मैं मनुष्ययोनिमें हूँ और मनुष्यकेसा ही काम कररहा हूँ अतः मैंने उनके पास जाकर बड़ी दीनतासे याचना की, प्रार्थनाकी, परन्तु मोहसे अन्धे हुए उन्होंने मेरी बात मानी ही नहीं ॥ २० ॥ बड़ाभारी भय दिखाकर मैंने कुरुओंको धमकाया और क्रोधमें होकर भी उनको ठीक मार्ग बतलाया ॥२१॥ परन्तु अधर्मसे युक्त हुए और कालके चक्रमें आये हुए वे (समझे ही नहीं और) युद्धमें धर्मसे मारे गये, अब वे निःसन्देह स्वर्गमें पहुँच गये हैं ॥२२॥ हे द्विजवर ! इस लोकमें पाण्डवोंकी प्रशंसा हुई है, तुमने मुझसे जो बूझा वह सब मैंने तुम्हें सुना दिया२३ चौअनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५४ ॥ छ ॥

उत्तङ्कने कहा, कि–हे जनार्दन ! मैं जानता हूँ, कि-आप जगत्के कर्त्ता हैं, निःसन्देह यह आपकाही अनुग्रह है, इसमें मुझे जरा

मे त्वद्भावगतमच्युत। विनिवृत्तञ्च मे शापादिति विद्धि परन्तप २
यदि त्वनुग्रहं किंचित्त्वत्तोऽर्हामि जनार्दन। द्रष्टुमिच्छामि ते रूप-
मैश्वरं तन्निदर्शय ॥३॥ वैशम्पायन उवाच। ततः स तस्मै प्रीतात्मा
दर्शयामास तद्वपुः। शाश्वतं वैष्णवं धीमान् ददृशे यद्धनञ्जयः ।४।
स ददर्श महात्मानं विश्वरूपं महाभुजम्। सहस्रसूर्य्यप्रतिमं दीप्ति-
मत्पावकोपमम्। सर्वमाकाशमावृत्य तिष्ठन्तं सर्वतोमुखम् ॥ ५ ॥
तद् दृष्ट्वा परमं रूपं विष्णोर्वैष्णवमद्भुतम्। विस्मयं च ययौ विप्रस्तं
दृष्ट्वा परमेश्वरम् ॥ ६ ॥ उत्तङ्क उवाच। विश्वकर्म्मन्नमस्तेऽस्तु
विश्वात्मन् विश्वसम्भव। पद्भ्यां ते पृथिवी व्याप्ता शिरसा चावृतं

भी सन्देह नहीं है, ॥१॥ हे अच्युत! आपके ऊपर प्रीतिवाला होकर मेरा चित्त बड़ा ही प्रसन्न हुआ है और हे शत्रुतापन! आपको मालूम हो, कि–आपको शाप देनेसे मेरा चित्त पलट गया (अब मेरे चित्तमें आपको शाप देनेका विचार नहीं है) ॥ २ ॥ हे जनार्दन! यदि मैं आपसे कुछ अनुग्रह पानेके योग्य हूँ तो मैं आपके ईश्वरीय रूपको देखना चाहता हूँ, वह मुझको दिखाइये ॥ ३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–तब उसके ऊपर प्रसन्न हुए श्रीकृष्णने उसको वही विराटरूप दिखाया, जो कि–विराटरूप बुद्धिमान् अर्जुनने देखा था ॥ ४ ॥ जिसमें विश्वभरकी झाँकी थी, जिसकी बड़ी २ भुजायें थीं, सहस्रों सूर्यों की समान और धकधकाते हुए अग्निकी समान महात्मा श्रीकृष्णका विराटरूप उत्तङ्कने देखा ॥ ५ ॥ वह रूप सब आकाशको घेरकर खड़ा था, सब दिशाओंमें उसके मुख थे, उस श्रेष्ठ, अद्भुत, विष्णुके वैष्णव रूपको और उन परमेश्वरको देखकर वह ब्राह्मण आश्चर्यमें होगया ॥ ६ ॥ उत्तङ्कने कहा, कि–हे विश्वको रचने वाले! हे विश्वके आत्मा! हे विश्वके मूलरूप! आपको नमस्कार है आपके चरणोंसे पृथ्वी भरी

नभः ॥७॥ द्यावापृथिव्योर्यन्मध्यं जठरेण तवावृतम् । भुजाभ्यामावृताश्चाशास्त्वमिदं सर्वमच्युत ॥ ८ ॥ संहरस्व पुनर्देव रूपमक्षय्यमुत्तमम् । पुनस्त्वां स्वेन रूपेण द्रष्टुमिच्छामि शाश्वतम् ॥९॥ वैशम्पायन उवाच । तमुवाच प्रसन्नात्मा गोविन्दो जनमेजय । वरं वृणीष्वेति तदा तमुत्तङ्कोऽब्रवीदिदम् ॥ १० ॥ पर्याप्त एष एवाद्य वरस्त्वत्तो महाद्युते । यत्ते रूपमिदं कृष्ण पश्यामि पुरुषोत्तम ॥११॥ तमब्रवीत् पुनः कृष्णो मा त्वमत्र विचारय । अवश्यमेतत् कर्त्तव्यममोघं दर्शनं मम ॥ १२ ॥ उत्तङ्क उवाच । अवश्यं करणीयं च यद्येतन्मन्यसे विभो । तोयमिच्छामि यत्रेष्टं मरुष्वेतद्धि दुर्लभम् ॥१३॥ ततः संहृत्य तत्तेजः प्रोवाचोत्तङ्कमीश्वरः । एष्टव्ये

हुई है और आपके मस्तकसे आकाश घिरगया है ॥ ७ ॥ आकाश और पृथिवीके जो मध्यका भाग है वह आपके पेटसे घिर गया है और आपकी भुजाओंसे दिशायें भरगई हैं, हे अच्युत ! यह सब तुम ही हो ॥ ७ ॥ हे देव ! इस अविनाशी और उत्तम रूपको फिर समेट लीजिये, मैं शाश्वतरूप आपको फिर आपके उस ही अपने रूपमें देखना चाहता हूँ ॥ ९ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि–हे जनमेजय ! प्रसन्न हुआ है आत्मा जिनका ऐसे श्रीकृष्णने उत्तङ्कसे कहा, कि–वर माँग, तब उत्तङ्कने यह बात कही, कि–॥ १० ॥ हे महाकान्तिमान् ! आज तो आपका यह वर ही सब कुछ है, कि–जिससे हे पुरुषोत्तम कृष्ण ! मैं आपके इस रूपको देखरहा हूँ ॥ ११ ॥ श्रीकृष्णने उससे फिर कहा, कि–इसमें कुछ विचार न कर, यह तो करना ही चाहिये, मेरा दर्शन निष्फल नहीं जाता है ॥ १२ ॥ (तब उत्तङ्कने कहा, कि-) हे विभो ! यदि आप समझते हैं कि–ऐसा करना ही चाहिये तो मैं इच्छानुसार जल चाहता हूँ, क्योंकि–इस मरुदेशमें जलका मिलना बडा ही दुर्लभ है॥१३॥फिर अपने उस तेजको खेंचकर

सति चिन्त्योऽहमित्युक्त्वा द्वारकां ययौ ॥ १४ ॥ ततः कदाचि-
द्भगवानुत्तङ्कस्तोयकांक्षया । तृषितः परिचक्राम मरौ सस्मार
चाच्युतम् ॥ १५ ॥ ततो दिग्वाससं धीमान् मातङ्गं मलपङ्किनम् ।
अपश्यत मरौ तस्मिन् श्वयूथपरिवारितम् ॥ १६ ॥ भीषणं बद्ध-
निस्त्रिंशं बाणकार्मुकधारिणम् । तस्याधः स्रोतसोऽपश्यद्वारि भूरि
द्विजोत्तमः ॥ १७ ॥ स्मरन्नेव च तं प्राह मातङ्गः प्रहसन्निव ।
एह्युत्तङ्क प्रतीच्छस्व मत्तो वारि भृगूद्वह ॥ १८ ॥ कृपा हि मे
सुमहती त्वां दृष्ट्वा तृट्समाश्रितम् । इत्युक्तस्तेन स मुनिस्तत्तोयं
नाभ्यनन्दत ॥ १९ ॥ चिक्षेप च स तं धीमान् वाग्भिरुग्राभिर-
च्युतम् । पुनः पुनश्च मातङ्गः पिबस्वेति तमब्रवीत् ॥ २० ॥ न

ईश्वरने उत्तङ्कसे कहा, कि-जब जी चाहे मेरा ध्यान करना, ऐसा कहकर वह द्वारकाको चलेगये ॥१४॥ फिर एक समय भगवान् उत्तङ्कने प्यास लगते ही जलकी इच्छासे मरुभूमिमें घूमना आरम्भ करदिया और अच्युत श्रीकृष्णका स्मरण किया ॥१५॥ तब तो महाबुद्धिमान् उत्तङ्कने दिशारूप वस्त्रवाले, कीचमें सनेहुए और बहुत से कुत्तोंसे घिरेहुए एक मातङ्ग (चाण्डालजातिके शिकारी) को उस मरुभूमिमें देखा ॥ १६ ॥ वह मातङ्ग भयानक, तलवार लगाये और धनुष बाण लियेहुए था, उन द्विजश्रेष्ठने उस मातङ्गके नीचेके स्थानमें (मूत्रेन्द्रियकी जगह) बहुतसे पानीके झरने देखे ॥ १७ ॥ स्मरण होते ही उस मातङ्गने मानो हँसतेहुए कहा, कि हे उत्तंक ! आओ हे भृगुकुलको उठानेवाले ! मुझसे जल लो ॥ १८ ॥ तुझे प्याससे घबडाया हुआ देखकर मुझे तेरे ऊपर बडी दया आरही है, उसके कहने पर मुनिने उस जलको (मूत्र होनेके कारण अपवित्र मानकर) लेना नहीं चाहा ॥ १९ ॥ और उस बुद्धिमान्ने वरदान देनेवाले श्रीकृष्णका कटु वचन कहकर तिरस्कार किया, उस मातंगने मुनिसे बार २ यही कहा,

चापिवत् स सक्रोधः क्षुभितेनान्तरात्मना । स तथा निश्चयात्तेन प्रत्याख्यातो महात्मना ॥२१॥ श्वभिः सह महाराज तत्रैवान्तरधीयत । उत्तङ्कस्तं तथा दृष्ट्वा ततो व्रीडितमानसः ॥२२॥ मेने प्रलब्धमात्मानं कृष्णेनामित्रघातिना । अथ तेनैव मार्गेण शङ्खचक्रगदाधरः ॥२३॥ आजगाम महाबुद्धिरुत्तङ्कश्चैनमब्रवीत् । न युक्तं तादृशं दातुं त्वया पुरुषसत्तम ॥२४॥ सलिलं विप्रमुख्येभ्यो मातंगस्रोतसा विभो । इत्युक्तवचनं तन्तु महाबुद्धिर्जनार्दनः ॥ २५ ॥ उत्तङ्कं श्लक्ष्णया वाचा सान्त्वयन्निदमब्रवीत् । यादृशेनेह रूपेण योग्यं दातुं धृतेन वै २६ ॥ तादृशं खलु ते दत्तं तच्च त्वं नावबुध्यथाः । मया त्वद-

कि-जल पी ॥२०॥ परंतु प्यासके कारण जिनका चित्त घबडा रहा था ऐसे उत्तंक मुनिने क्रोधमें आकर वह जल नहीं पिया और उन महात्माने अपने निश्चयसे न हटकर उस मातंगका अपमान किया ॥ २१ ॥ हे महाराज ! तदनन्तर वह मातङ्ग कुत्तोंके सहित तहाँ ही अन्तर्धान होगया, उसको इसप्रकार अन्तर्धान होते देखकर उत्तङ्क मनमें लज्जित हुआ ॥२२॥ और शत्रुओंका नाश करनेवाले कृष्णने मुझे धोखा दिया है, यह बात अपने मनमें समझी, फिर उस ही मार्गसे शंख चक्र और गदावाले ॥ २३ ॥ महाबुद्धिमान् श्रीकृष्ण आये और उत्तंकने उनसे कहा, कि-हे पुरुषोत्तम ! आपको ऐसा (मूत्रका जल) नहीं देना चाहिये था ॥ २४ ॥ हे विभो ! (विशेषकर) मातङ्ग के (नीचेके भागके) प्रवाहसे एक ब्राह्मणको जल नहीं देना चाहिये था, उनके ऐसा कहने पर महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने ॥२५॥ मीठी वाणीसे उत्तंकको समझाते हुए यह बात कही, कि-जैसा रूप धरकर देना चाहिये था, ॥ २६ ॥ वैसे ही रूपमें वह तुझे दिया था, परन्तु तू उसको समझा नहीं (उत्तंकको श्रेष्ठ ब्राह्मण होने का अभिमान था, उस अभिमानको दूर करनेके लिये श्रीकृष्णने

धंमुक्तो वै वज्रपाणिः पुरन्दरः ॥ २७ ॥ उत्तङ्कायामृतं देहि तोय-
रूपमिति प्रभुः । स मामुवाच देवेन्द्रो न मर्त्योऽमर्त्यतां व्रजेत् २८
अन्यमस्मै वरं देहीत्यसकृद्भृगुनन्दन । अमृतं देयमित्येव मयैवोक्तः
शचीपतिः ॥ २९ ॥ स मां प्रसाद्य देवेन्द्रः पुनरेवेदमब्रवीत् । यदि
देयमवश्यं वै मातङ्गोऽहं महामते ॥ ३० ॥ भूत्वामृतं प्रदास्यामि
भार्गवाय महात्मने । यद्येवं प्रतिगृह्णाति भार्गवोऽमृतमद्य वै ३१
प्रदातुमेष गच्छामि भार्गवायामृतं विभो । प्रत्याख्यातस्त्वहं तेन
दास्यामि न कथञ्चन ॥ ३२ ॥ स तथा समयं कृत्वा तेन रूपेण
वासवः । उपस्थितस्त्वया चापि प्रत्याख्यातोऽमृतं ददत् ॥ ३३ ॥
चाण्डालरूपी भगवान् सुमहांस्ते व्यतिक्रमः । यत्तु शक्यं मया

ऐसा किया था)तेरे, लिये वज्रधारी इन्द्रसे मैंने कहा था. कि-२७
उत्तंकको जलरूप अमृत देना, तब प्रभु देवेन्द्रने मुझसे कहा कि-
वह मर्त्य (मरण धर्मवाला) है अमरपना पानेके योग्य नहीं
है ॥२८॥ उत्तंकको कोई दूसरा वरदान देदीजिए, हे भृगुनन्दन !
इन्द्रने मुझसे वारंवार यही वात कही और मैंने उस इन्द्रसे कहा,
कि–अमृत ही देना चाहिए ॥ २९ ॥ तब मुझे प्रसन्न करके
देवेन्द्रने फिर यह वात कही, कि–हे महामते ! यदि उसको अमृत
ही देना है तो मैं मातङ्गका रूप धारण करके उस महात्मा भार्गव
को अमृत दूँगा, इस प्रकार वह भार्गव यदि आज अमृतको स्वी-
कार करलेगा ॥ ३०–३१ ॥ तो हे विभो ! मैं उस भार्गवको
अमृत देने जाता हूँ और यदि वह मुझसे लेनेका निषेध करदेगा
तो मैं किसी प्रकार भी नहीं दूँगा ॥ ३२ ॥ ऐसा ठहराव करके
इन्द्र मातङ्गके रूपमें आया था और वह तुझे अमृत देता था,
परन्तु तूने उसका अपमान किया ॥३३॥ चाण्डालरूप भगवान्
कैसे हो सकते हैं, यह तुझे वडा ही धोखा लगा, अब तेरे मनका
संकल्प मुझसे पूरा हो सकेगा तो मैं उसके लिए उद्योग

कर्त्तुं भूय एव तवेप्सितम् ॥ ३४ ॥ तोयेप्सां तव दुर्द्धर्षां करिष्ये सफलामहम् । येष्वहःसु च ते ब्रह्मन् सलिलेप्सा भविष्यति ।३५। तदा मरौ भविष्यन्ति जलपूर्णाः पयोधराः । रसवच्च प्रदास्यन्ति तोयं ते भृगुनन्दन ॥३६। उत्तंकमेघा इत्युक्ताः ख्यातिं यास्यन्ति चापि ते । इत्युक्तो प्रीतिमान् विप्रः कृष्णेन स बभूव ह । अद्या-प्युत्तंकमेघाश्च मरौ वर्षन्ति भारत ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तंकोपाख्याने पंचपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

जनमेजय उवाच । उतङ्क केन तपसा संयुक्तो वै महामनाः । यः शापं दातुकामोऽभूत् विष्णवे प्रभविष्णवे॥ १॥वैशम्पायन उवाच । उत्तंको महता युक्तस्तपसा जनमेजय । गुरुभक्तः स तेजस्वी नान्यत् किंचिदपूजयत् ॥ २ ॥ सर्वेषामृषिपुत्राणामेष आसी-न्मनोरथः । औतङ्कीं गुरुवृत्तिं वै प्राप्नुयामेति भारत । गौतमस्य तु

करूँगा ॥ ३४ ॥ बडी कठिनतासे दबनेवाली तेरी जलकी इच्छा को मैं सफल करूँगा, हे ब्रह्मन् ! जिस दिन तुझे जलकी इच्छा होगी॥३५॥ उस दिन ही इस मरुभूमिमें जलके भरे हुए मेघ आवेंगे और हे भृगुनन्दन ! तुझे रसीला जल देंगे ॥ ३६ ॥ और वे उत्तंक मेघोंके नामसे प्रसिद्ध होंगे, कृष्णके ऐसा कहने पर वह ब्राह्मण प्रसन्न हुआ और हे जनमेजय ! आज भी उत्तंक नामके मेघ मरुभूमिमें वर्षा करते हैं ॥ पचपनवाँ अध्याय समाप्त॥५५॥

जनमेजयने बूझा, कि-बड़े मनवाला उत्तंक जो कि-सबके प्रभु विष्णुको शाप देना चाहता था, उसने कौनसा तप किया था ? वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! उत्तंक बडा तपस्वी था, वह तेजस्वी और गुरुभक्त था, वह दूसरे किसीकी पूजा नहीं करता था ॥ २॥ हे भारत ! सब ऋषिकुमार यह चाहा करते थे कि-हमको उत्तंककीसी गुरुभक्ति प्राप्त हो, हे जनमेजय ! उस

शिष्याणां बहूनां जनमेजय ॥ ३ ॥ उत्तंकेऽभ्यधिका प्रीतिः स्नेह-
श्चैवाभवत्तदा । स तस्य दमशौचाभ्यां विक्रान्तेन च कर्मणा ४
सम्यक् चैवोपचारेण गौतमः प्रीतिमानभूत् । अथ शिष्यसहस्राणि
समनुज्ञातवानृषिः ॥ ५ ॥ उत्तंकं परया प्रीत्या नाभ्यनुज्ञातुमै-
च्छत । तं क्रमेण जरा तात प्रतिपेदे महामुनिम् ॥ ६ ॥ न चान्व-
बुध्यत तदा स मुनिर्गुरुवत्सलः । ततः कदाचिद्राजेन्द्र काष्ठा-
न्यानयितुं ययौ । उत्तंकः काष्ठभारञ्च महान्तं समुपानयत् ।
स तद्भाराभिभूतात्मा काष्ठभारमरिन्दम ॥ ८ ॥ निचिक्षेप क्षितौ
राजन् परिश्रान्तो बुभुक्षितः । तस्य काष्ठे विलग्नाभूज्जटा रूप्य-
समप्रभा ॥ ९ ॥ ततः काष्ठैः सह तदा पपात धरणीतले । ततः स
भारनिष्पिष्टः क्षुधाविष्टश्च भारत ॥ १० ॥ दृष्ट्वा तां वयसोऽवस्थां

समय गौतमकी बहुतसे शिष्योंमें उत्तंकके ऊपर अधिक प्रीति और स्नेह था उसके दम और शौचसे तथा साहसके काम से ॥३-४॥ और उसकी उत्तम सेवासे गौतम उसके ऊपर प्रसन्न होगए थे, उन ऋषिने हजारों शिष्योंको आज्ञा दीथी ॥५॥परन्तु अधिक प्रीति होनेके कारण उत्तंकको आज्ञा देनेकी उनको इच्छा नहीं हुई, हे तात ! धीरे२ उन महामुनि उत्तंकको भी बुढ़ापा आलगा ॥६॥ परन्तु उन गुरुभक्त मुनिको इसकी खबर ही नहीं हुई, हे राजेन्द्र ! फिर एक समय वह लकड़ियें लानेको बाहर गए ॥ ७ ॥ और लकड़ियोंका बड़ाभारी बोझा उठाकर ले आये, हे शत्रुतापन ! उसके भारसे थके हुए उन्होंने उस काठके बोझको भूमि पर पटक दिया, हे राजन् ! वह थके हुए और भूखे थे, चाँदीके समान चमकती हुई उनकी जटायें लकड़ियोंमें उलझ गयी थीं ॥ ८ ॥ ९ ॥ इसलिये लकड़ियोंके साथ वह भूमि पर गिरपड़े, हे भरतवंशी ! फिर बोझसे दबे हुए और क्षुधासे पीड़ित हुए वह ॥ १० ॥ अपनी अवस्थाके चिह्नको देखकर

स्वरोदार्तस्वरस्तदा । ततो गुरुसुता तस्य पद्माक्षनिभानना ॥११॥
जग्राहाश्रूणि सुश्रोणी करेण पृथुलोचना । पितुर्नियोगाद्धर्मज्ञा
शिरसाऽवनता तदा ॥ १२ ॥ तस्या निपततुर्दग्धौ करौ तैरश्रु-
विन्दुभिः । न हि तानश्रुपातांस्तु शक्ता धारयितुं मही ॥ १३ ॥
गौतमस्त्वब्रवीत् विप्रमुत्तंकं प्रीतमानसः । कस्मात्तात तवाद्येह शोका-
तुरमिदं मनः ॥ १४ ॥ स स्वैरं ब्रूहि विप्रर्षे श्रोतुमिच्छामि
तत्त्वतः । उत्तंक उवाच । भवद्गतेन मनसा भवत्प्रियचिकीर्षया ।
भवद्भक्तिगतेनेह भवद्भावानुगेन च ॥ १५ ॥ जरेयं नावबुद्धा मे
नाभिज्ञातं सुखञ्च मे । शतवर्षोषितं मां हि न त्वमभ्यनुजानिथाः १६
भवता त्वभ्यनुज्ञाताः शिष्याः मत्यवरा मम । उपपन्ना द्विजश्रेष्ठ

करुणाभरे स्वरसे रोने लगे, तब कमलपत्रकी प्रभाकी समान मुखवाली उनके गुरुकी पुत्री ॥ ११ ॥ जिसके नेत्र विशाल थे और कमर सुन्दर थी उस धर्मको जाननेवालीने अपने पिताके कहने पर नीचेको मुख किये हुए उनके आँसू अपने हाथोंमें ले लिये ॥ १२ ॥ उन आँसुओंकी विन्दुओंसे उसके दोनों हाथ जल गये, तब उसने वे विन्दु नीचे गिरने दिये, परन्तु पृथ्वी भी उनके अश्रुपातको धारण नहीं करसकी ॥ १३ ॥ तब गौतमने प्रसन्नमन होकर उत्तंक ब्राह्मणसे कहा, कि हे तात ! आज यहाँ तेरा मन शोकसे अत्यन्त व्याकुल क्यों हुआ है ? हे विप्रर्षे ! तू शान्तिके साथ बता, मैं इस भेदको ठीकर जानना चाहता हूँ, उत्तंक ने कहा, कि—मेरा मन आपमें ही लगा रहता है, आपको प्रसन्न करनेका ध्यान रखकर आपके ऊपर भक्तिभाव रखता हूँ॥१५॥ इस धुनमें मैंने इस जरा (बुढ़ापे) को नहीं पहचाना, सुखको भी नहीं जाना, इसप्रकार मुझे सौ वर्ष बीत गये, तो भी आपने आज्ञा नहीं दी ॥ १६ ॥ हे द्विजवर्य ! यद्यपि मेरे बादको और सैंकड़ों सहस्रों शिष्य आये और आपकी आज्ञा लेकर चले भी

शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १७ ॥ गौतम उवाच । त्वत्प्रीतियुक्तेन
मया गुरुशुश्रूषया तव । व्यतिक्रान्तमहाकालो नाववुद्धो द्विजर्षभ१८
किन्त्वद्य यदि ते श्रद्धा गमनं प्रति भार्गव । अनुज्ञां प्रतिगृह्य त्वं स्व-
गृहान् गच्छ मा चिरम् ॥ १९ ॥ उत्तंक उवाच । गुर्वर्थं कं प्रय-
च्छामि ब्रूहि त्वं द्विजसत्तम । तमुपाहृत्य गच्छेयमनुज्ञातस्त्वया
विभो२०गौतम उवाच ।दक्षिणा परितोषो वै गुरूणां सद्भिरुच्यते ।
तव ह्याचरतो ब्रह्मंस्तुष्टोऽहं वै न संशयः ॥२१॥ इत्थञ्च परितुष्टं
मां विजानीहि भृगूद्वह । युवा षोडशवर्षो हि यद्यद्य भविता भवान्२२
ददानि पत्नीं कन्याञ्च स्वान्ते दुहितरं द्विज । एतामृतेऽङ्गना नान्या
त्वत्तेजोऽर्हति सेवितुम् ॥ २३ ॥ ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा
यशस्विनीम् । गुरुणा चाभ्यनुज्ञातो गुरुपत्नीमथाब्रवीत् ॥ २४ ॥

गए ॥ १७ ॥ गौतमने कहा, कि-तेरे ऊपर मेरी प्रीति थी, इस
लिये तुझे गुरुसेवा करतेहुए चिरकाल वीतगया, हे द्विजवर !
इस वातका मुझे ध्यान ही नहीं रहा ॥१८॥ तथापि हे भार्गव !
तेरी श्रद्धा जानेके लिये हो तो तू मेरी आज्ञा लेकर शीघ्र ही अपने
घरको जा ॥१९॥ उत्तंकने कहा, कि-हे द्विजसत्तम ! गुरुदक्षिणामें
मैं क्या दूँ, यह मुझे बताइये, हे विभो ! मैं वह लाकर देदूँगा,
तब आपकी आज्ञा लेकर जाऊँगा ॥२०॥ गौतमने कहा-सत्पुरुष
कहते हैं, कि-गुरुओंका सब प्रकारसे सन्तुष्ट होना ही दक्षिणा है,
हे ब्रह्मन् ! तू जो सेवा करता था, उससे ही मैं निःसन्देह सन्तुष्ट
होगया हूँ ॥ २१ ॥ हे भृगुकुलको उठानेवाले ! इस सेवासे तू
मुझे पूर्ण सन्तुष्ट हुआ जान, यदि तू आज सोलह वर्षका युवा
होजाय॥२२॥ तो हे द्विज ! तुझे मैं अपनी कुमारी पुत्री स्त्रीरूपसे
अर्पण करदूँ, तेरे तेजको इसके सिवाय और कोई स्त्री नहीं सह
सकती ॥ २३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-यह सुनकर उत्तंकने
युवा बनकर उस स्त्रीके साथ विवाह करलिया और गुरुकी आज्ञा

किं भवत्यै प्रयच्छामि गुर्वर्थं विनियुङ्क्ष्व माम् । प्रियं हितं च कांक्षामि प्राणैरपि धनैरपि ॥ २५ ॥ यद्द दुर्लभं हि लोकेऽस्मिन् रत्नमत्यद्भुतं महत् । तदानयेयं तपसा न हि मेऽत्रास्ति संशयः २६ अहल्योवाच । परितुष्टास्मि ते विप्र नित्यं भक्त्या तवानघ । पर्य्याप्तमेतद्भद्रन्ते गच्छ तात यथेप्सितम् ॥ २७ ॥ वैशम्पायन उवाच उत्तंकस्तु महाराज पुनरेवाब्रवीद्वचः । आज्ञापयस्व मां मातः कर्त्तव्यञ्च तव प्रियम् ॥ २८ ॥ अहल्योवाच । सौदासपत्न्या निधृते दिव्ये ये मणिकुण्डले । ते समानय भद्रन्ते गुर्वर्थः सुकृतो भवेत् २९ स तथेति प्रतिश्रुत्य जगाम जनमेजय । गुरुपत्नीप्रियार्थं वै ते समानयितुं तदा ३० स जगाम ततः शीघ्रमुत्तंको ब्राह्मणर्षभः। सौदासं

लेकर गुरुपत्नीसे यह बात कही, कि—॥ २४ ॥ तुम मुझे आज्ञा दो, कि—मैं तुम्हें गुरुदक्षिणामें क्या दूँ ? प्राणोंसे और धनसे भी मैं आपका प्रिय और हित करना चाहता हूँ ॥ २५ ॥ इस लोकमें जो कोई रत्न दुर्लभ, अद्भुत और बड़ेसे बड़ा होगा, उसको भी मैं तपस्याके बलसे लाऊँगा, इसलिये इस विषयमें मुझे कुछ सन्देह नहीं है॥२६॥अहल्याने कहा, कि—हे ब्राह्मण! हे निष्पाप! तेरी नित्य भक्तिसे मैं बडी सन्तुष्ट हूँ, यही बहुत है, तेरा भला हो हे तात ! तेरी इच्छा हो तहाँ जा ॥ २७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे महाराज! परन्तु उत्तंकने फिर यह बात कही, कि-हे माताजी ! मुझे कुछ आज्ञा दो तो मैं आपका प्रिय काम करूँ ॥ २८ ॥ अहल्याने कहा, कि—सौदासकी स्त्री जो मणियोंके कुण्डल पहरे रहती है, उनको तू ले आ तो तेरा भला होगा और तेरी गुरुदक्षिणा सुकृत होगी ॥ २९ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! वह उत्तंक 'बहुत अच्छा' कहकर गुरुमाताका प्रिय काम करनेको उसी समय कुण्डल लेनेको चल दिया ॥ ३० ॥ ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ उत्तंक मणिकुण्डलोंकी भिक्षा

पुरुपादं वै भिक्षितुं मणिकुण्डले३१गौतमस्त्वमब्रवीत् पत्नीमुत्तङ्को नाद्य दृश्यते । इति पृष्टा तमाचष्ट कुण्डलार्थं गतं च सा ॥३२॥ ततः प्रोवाच पत्नीं स न ते सम्यगिदं कृतम् । शप्तः स पार्थिवो नूनं ब्राह्मणं तं वधिष्यति ॥ ३३ ॥ अहल्योवाच । अजानन्त्या नियुक्तः स भगवन् ब्राह्मणो मया । भवत्प्रसादान्न भयं किञ्चित्तस्य भविष्यति ॥ ३४ ॥ इत्युक्तः प्राह तां पत्नीमेवमस्त्विति गौतमः । उत्तङ्कोऽपि वने शून्ये राजानं तं ददर्श ह ।३५।

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने कुण्डलाहरणे षट्पंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच । स तं दृष्ट्वा तथाभूतं राजानं घोरदर्शनम् । दीर्घश्मश्रुधरं नृणां शोणितेन समुक्षितम् ॥ १ ॥ चकार न व्यथां

मांगनेके लिये तहाँसे चलकर शीघ्र ही मनुष्यभक्षी सौदासके पास पहुँचगया ॥ ३१ ॥ (उत्तंकको आश्रममें न देखकर) गौतमने अपनी स्त्रीसे बूझा, कि-आज उत्तङ्क क्यों नहीं दीखता ? ऐसा बूझने पर उसने कहा, कि-वह (सौदासकी स्त्रीके) कुण्डल लेने गया है ॥ ३२ ॥ तब गौतमने अपनी स्त्रीसे कहा, कि-तूने यह ठीक नहीं किया, उस राजाको शाप होगया है, (कि-मनुष्यका मांस खानेवाला होजा) इसलिये वह अवश्य ब्राह्मणको मारडालेगा ॥३३॥ अहल्याने कहा, कि-हे भगवन्! इस बातको मैं नहीं जानती थी, इसलिये उस ब्राह्मणको मैंने यह काम सौंप दिया, परन्तु आपकी कृपासे उसको कुछ भय नहीं होगा ॥३४॥ ऐसा कहने पर गौतमने अपनी स्त्रीसे कहा, कि-अच्छा ऐसा ही हो, (इधर) उत्तङ्कने भी उस राजाको एक शून्य वनमें देखा ३५

छप्पनवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-उस राजाको मनुष्यभक्षी बना हुआ भयानकरूप, मनुष्योंके रुधिरसे सनाहुआ और लम्बी दाढ़ी

द्विजो राजा त्वेनमथाब्रवीत् । प्रत्युत्थाय महातेजा भयंकर्त्ता यमो-
पमः ॥ २ ॥ दिष्ट्या त्वमसि कल्याण षष्ठे काले ममान्तिकम् ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य सम्प्राप्तो द्विजसत्तम ॥ ३ ॥ उत्तंक उवाच ।
राजन् गुर्वर्थिनं विद्धि चरन्तं मामिहागतम् । न च गुर्वर्थमुद्युक्तं
हिंस्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥ राजोवाच । षष्ठे काले ममाहारो
विहितो द्विजसत्तम । न शक्यस्त्वं समुत्स्रष्टुं क्षुधितेन ममाद्य वै ५
उत्तंक उवाच । एवमस्तु महाराज समयः क्रियतान्तु मे । गुर्वर्थम-
भिनिर्वर्त्य पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ६ ॥ संश्रुतश्च मया योऽर्थो
गुरवे राजसत्तम । त्वदधीनः स राजेन्द्र तं त्वां भिक्षे नरेश्वर ७

मूछोंवाला देखकर उस ब्राह्मणको जरा भी घबड़ाहट नहीं हुई, तब भयदायक यमराजकी समान उस महातेजस्वी राजाने उठकर इस ब्राह्मणसे कहा, कि—॥ १-२ ॥ हे मङ्गलरूप द्विजवर ! जब कि—पाँच घण्टे भूखा रहकर दिनके छठे भागमें मैं भोजनको खोज रहा था, ऐसे समय तू मेरे पास आपहुँचा यह मेरा अहोभाग्य है ॥ ३ ॥ उत्तङ्कने कहा—हे राजन् ! तुम्हें मालूम हो, कि—मैं गुरुदक्षिणाके लिये घूमता२ यहाँ आपहुँचा हूँ और समझदार कहते हैं, कि—जो गुरुदक्षिणाके लिये उद्योग करता हो वह मारने योग्य नहीं होता है ॥४॥ राजाने कहा, कि—हे द्विजवर ! दिनके छठे भागमें मैंने भोजन करनेका निश्चय कर रक्खा है, (यह वही समय है) इसलिये मुझे भूख लगरही है, अब मैं तुझे छोड़ नहीं सकता ॥५ ॥ उत्तङ्कने कहा, कि—महाराज ! बहुत अच्छा ऐसा ही सही, परन्तु मेरे साथ एक यह नियम करलो, कि—॥६॥ मैं गुरुदक्षिणा देआऊँ, तब तुम्हारे अधीन होजाऊँगा, हे श्रेष्ठ राजन् ! गुरुदक्षिणाके लिये मैंने वचन देदिया है वह हे राजेन्द्र ! मैंने सुना है तेरे अधीन है, इसलिये हे नरेश्वर ! मैं तुझसे उसकी भिक्षा माँगता हूँ ॥ ७ ॥ तुम नित्य मुख्य ब्राह्मणोंको रत्नोंका

ददासि विप्रमुख्येभ्यस्त्वं हि रत्नानि नित्यदा । दाता च त्वं नरः
व्याघ्र पात्रभूतः क्षिताविह । पात्रं प्रतिग्रहे चापि विद्धि मां
नृपसत्तम ॥ ८ ॥ उपाहृत्य गुरोरर्थं त्वदायत्तमरिन्दम ।
समयेनेह राजेन्द्र पुनरेष्यामि ते वशम् ॥ ९ ॥ सत्यं
ते प्रतिजानामि नात्र मिथ्या कथञ्चन । अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वै-
रेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥ १० ॥ सौदास उवाच । यदि मत्तस्त्वया-
यत्तो गुर्वर्थः कृत एव सः । यदि चास्मि प्रतिग्राह्यः सांप्रतं तद्वद-
स्व मे॥११॥ उत्तंक उवाच । प्रतिग्राह्यो मतो मे त्वं सदैव पुरुष-
र्षभः । सोऽहं त्वामनुसम्प्राप्तो भिक्षितुं मणिकुण्डले ॥ १२ ॥
सौदास उवाच । पत्न्यास्ते मम विप्रर्षे उचिते मणिकुण्डले ।
वरयार्थं त्वमन्यं वै तं ते दास्यामि सुव्रत ॥ १३ उत्तङ्क उवाच ।

दान देते हो और हे नरेन्द्र ! इस पृथिवी पर तुम दाता हो, दान देनेके पात्र हो और हे श्रेष्ठ राजन् ! तुम्हें मालूम हो, कि—मैं भी प्रतिग्रहका पात्र हूँ ॥ ८ ॥ हे शत्रुतापन ! जिसको तुम ही देसकते हो ऐसी गुरुदक्षिणाको लेकर देआऊँ, फिर हे राजेन्द्र ! इस कीहुई प्रतिज्ञाके अनुसार आकर आपके वशमें होजाऊँ ॥९॥ आज मैं तुमसे सत्य कहरहा हूँ, इसमें जरा भी मिथ्या नहीं है, अपनी इच्छानुसार कार्योंमें भी मैंने पहले मिथ्या नहीं बोला है, फिर दूसरेकी बातमें तो कहना ही क्या है ? ॥ १० ॥ सौदासने कहा, कि—यदि तुम्हारी गुरुदक्षिणाका काम मेरे किये होसकता है तो उसको किया हुआ ही समझिये, यदि मैं उस दानका देनेके योग्य हूँ तो उसको अभी कहिये ॥ ११ ॥ उत्तङ्कने कहा, कि—हे पुरुषसत्तम ! मैं आपको सदा ही दान देनेके योग्य समझता हूँ, इसलिये ही मैं आपके पास मणिकुण्डलोंकी जोडी माँगने आया हूँ ॥१२॥ सौदासने कहा, कि—हे विप्रर्षे ! मणिकुण्डलों की यह जोडी तो मेरी स्त्रीके ही योग्य है, हे सुन्दर व्रतवाले ! तुम

अलं ते व्यपदेशेन प्रमाणं यदि ते वयम् । प्रयच्छ कुण्डले मे त्वं
सत्यवाग् भव पार्थिव ॥ १४ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तस्त्व-
ब्रवीद्राजा तमुत्तंकं पुनर्वचः। गच्छ मद्वचनादेवीं ब्रूहि देहीति सत्तम॥१५
सैवमुक्ता त्वया नूनं मद्वाक्येन शुचिव्रता । प्रदास्यति द्विजश्रेष्ठ
कुण्डले ते न संशयः ॥ १६ ॥ उत्तंक उवाच । क्व पत्नी भवतः
शक्या मया द्रष्टुं नरेश्वर । स्वयञ्चापि भवान् पत्नीं किमर्थं नोप-
सर्पति ॥ १७ ॥ सौदास उवाच । तां द्रक्ष्यसि भवानद्य कस्मिं-
श्चिद्वननिर्झरे। षष्ठे काले न हि मया सा शक्या द्रष्टुमद्य वै॥१८॥
वैशम्पायन उवाच । उत्तंकस्तु तथोक्तः स जगाम भरतर्षभ ।
मदयन्तीं च दृष्ट्वा स ज्ञापयत् स्वं प्रयोजनम् ॥ १९ ॥ सौदास-

कोई और पदार्थ माँगो तो वह मैं तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ १३ ॥
उत्तङ्कने कहा, कि-हे राजन् ! यदि तुम मुझे दानका पात्र मानते
हो तो बहाना मत करो, मुझे कुण्डलोंकी जोडी दो और सत्य-
भाषी बनो ॥ १४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-ऐसा कहने पर
राजाने उत्तङ्कसे फिर यह बात कही, कि-हे परमश्रेष्ठ ! मेरे कहने
से तुम रानीके पास जाओ और कहो कि-कुण्डल दे ॥ १५ ॥
ऐसा कहने पर वह पवित्र व्रतवाली हे द्विजश्रेष्ठ ! मेरे कहनेसे
अवश्य ही तुम्हें कुण्डलोंकी जोडी देदेगी, इसमें जरा सन्देह
नहीं है ॥१६॥ उत्तङ्कने कहा, कि-हे राजन् ! तुम्हारी स्त्री कहाँ
है, क्या मैं उसका दर्शन करसकता हूँ, और तुम अपने आप ही
अपनी स्त्रीके पास क्यों नहीं चलते ? ॥ १७ ॥ सौदासने कहा,
कि-आज वह तुम्हें वनके किसी झरनेके पास मिलेगी, आज
इस दिनके छठे भागमें मैं उससे नहीं मिलसकता ॥ १८ ॥
वैशम्पायन कहते हैं, कि-उत्तङ्कसे उसने ऐसा कहा, तब हे भरत-
सत्तम ! वह वहाँसे चलदिया और आगे उस मदयन्तीको देख
कर उसने अपना अभिप्राय कहा ॥ १९ ॥ सौदासकी बात

वचनं श्रुत्वा ततः सा पृथुलोचना । प्रत्युवाच महाबुद्धिमुत्तङ्कं जनमेजय ॥ २० ॥ एवमेतन्महाब्रह्मन्नानृतं वदसेऽनघ । अभिज्ञानं च किञ्चित्त्वं समानयितुमर्हसि ॥ २१ ॥ इमे हि दिव्ये मणिकुण्डले मे देवाश्च यक्षाश्च महर्षयश्च । तैस्तैरुपायैरपहर्तुकामाश्छिद्रेषु नित्यं परितर्कयन्ति ॥ २२ ॥ निक्षिप्तमेतद्भुवि पन्नगास्तं रत्नं समासाद्य परामृषेयुः । यक्षास्तथोच्छिष्टधृतं सुराश्च निद्रावशाद्वा परिधर्षयेयुः ॥२३॥ छिद्रेष्वेतेष्विमे नित्यं ह्रियेते द्विजसत्तम । देवराक्षसनागानमप्रमत्तेन धार्यते ॥ २४ ॥ स्यन्देते हि दिवा रुक्मं रात्रौ च द्विजसत्तम । नक्तं नक्षत्रताराणां प्रभामाक्षिप्य वर्त्ततः ॥ २५ ॥ एते ह्यामुच्य भगवन् क्षुत्पिपासाभयं कुतः। विषाग्निभयदेभ्यश्च भयं जातु न विद्यते ॥ २६ ॥ ह्रस्वेन चैते

सुनकर उस विशाललोचनाने हे जनमेजय ! महाबुद्धिमान् उत्तङ्क को उत्तर दिया, कि–॥ २० ॥ हे ब्रह्मन् ! तुम मुझसे जो बात कह रहे हो वह सत्य है, मिथ्या तो नहीं कहते हो, तुम्हें उनके पाससे कुछ अभिज्ञान (निशानी) लाना चाहिये ॥२१॥ क्योंकि-मेरे यह मणिकुण्डलोंकी जोडी दिव्य है, देवता, यक्ष और महर्षि जुदे२ उपायोंसे इनको लेजानेकी इच्छासे नित्य छिद्र ढूँढा करते हैं ॥२२॥ यदि इनको भूमिपर रखदिया जाय तो नाग इस रत्न को ले भागेंमे यदि कोई भ्रष्ट धारण करेगा तो यक्ष ले जायँगे और किसी निद्रालुके पास होंगे तो देवता छीन लेंगे ॥ २३ ॥ हे द्विजवर ! इन छिद्रोंमें ये सदा छिन जायँगे, जो देवता, राक्षस, और नागोंसे सावधान रहे वही इनको धारण कर सकता है२४ क्योंकि-हे द्विजवर ! इन कुण्डलोंमेंसे रातदिन सोना टपका करता है और रातमें यह नक्षत्र तथा तारागणोंके तेजको खेंचलेते हैं२५ हे भगवन् ! इनको धारण करने पर भूख और प्यासका भय तो होगा ही कहाँसे ? विष, अग्नि और हिंसक प्राणियोंसे भी कभी

आहुक्ते भवतो ह्रस्वके तदा । अनुरूपेण चामुक्ते जायेते तत्-
प्रमाणके ॥ २७ ॥ एवंविधे ममैते वै कुण्डले परमार्चिते । त्रिषु
लोकेषु विज्ञाते तदभिज्ञानमानय ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
उत्तंकोपाख्याने सप्तपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच । स मित्रसहमासाद्य अभिज्ञानमयाचत ।
तस्मै ददावभिज्ञानं स चेक्ष्वाकुवरस्तदा ॥ १ ॥ सौदास उवाच ।
न चैवैषा गतिः क्षेम्या न चान्या विद्यते गतिः। एतन्मे मतमाज्ञाय
प्रयच्छ मणिकुण्डले ॥ २ ॥ इत्युक्तस्तामुत्तंकस्तु भर्त्तुर्वाक्यमथा-
ब्रवीत् । श्रुत्वा च सा तदा प्रादात् ततस्ते मणिकुण्डले ॥ ३ ॥

भय नहीं होता है॥२६॥यदि कोई ठिगना मनुष्य इनको पहरता
है तो ये कुण्डल छोटेसे होजाते हैं और कोई अच्छे ही डीलडौल
का पहरता है तो ये उसके योग्य बड़े होजाते है२७ऐसी यह मेरे
कुण्डलोंकी जोडी परमपूजनीय है, इस जोडीको त्रिलोकी जानती
है, इसलिये तुम मेरे पतिकी कोई पहचान दो ॥२८॥ सत्तावनवाँ
अध्याय समाप्त ॥ ५७ ॥ छ छ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि–(मदयन्तीकी इस बातको सुनकर
उत्तंक सौदासके पास गया और उससे पहचान माँगी तथा इक्ष्वाकु-
वंशके श्रेष्ठ पुरुषने वह दी ॥ १ ॥ सौदासने कहा, कि–मेरी यह
गति क्षेम करनेवाली नहीं है तथा दूसरी भी कोई गति नहीं
मालूम होती(अर्थात् मैं वचनसे बँधा हुआ हूँ, कदाचित् इन कुण्डलों
के दानसे मुक्ति होजाय)इस मेरे मतको जानकर तू इस ब्राह्मण
को कुण्डलोंकी जोडी देदेना ॥ २ ॥ उसने उत्तंकसे ऐसा कहा,
तब उत्तंकने जाकर रानीसे उसके पतिको बात ज्योंकी त्यों कहदी,
उस बातको सुनकर मदयन्तीने उसी समय मणिकुण्डलोंकी जोडी
ब्राह्मणको देदी ॥ ३ ॥ कुण्डलोंकी जोडी ले राजाके पास आ

अवाप्य कुण्डले ते तु राजानं पुनरब्रवीत् । किमेतद् गुह्यवचनं श्रोतुमिच्छामि पार्थिव ॥ ४ ॥ सौदास उवाच । प्रजानिसर्गा-द्विप्रान् वै क्षत्रियाः पूजयन्ति हि । विप्रेभ्यश्चापि बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्ति वै ॥५॥ सोऽहं द्विजेभ्यः प्रणतो विप्राद्दोषमवाप्तवान्। गतिमन्यां न पश्यामि मदयन्तीसहायवान् ॥ ६ ॥ न चान्या-मपि पश्यामि गतिं गतिमतांवर । स्वर्गद्वारस्य गमने स्थाने चेह द्विजोत्तम ॥ ७ ॥ न हि राज्ञा विशेषेण विरुद्धेन द्विजातिभिः । शक्यं हि लोके स्थातुं वै प्रेत्य वा सुखमेधितुम् ॥ ८ ॥ तदिष्टे ते मया दत्ते एते स्वे मणिकुण्डले । यः कृतस्तेऽद्य समयः सफलं तत् कुरुष्व मे ॥ ९ ॥ उत्तङ्क उवाच । राजंस्तथेह कर्त्तास्मि पुनरे-

कर उसने फिर कहा, कि—हे राजन् ! तेरी इस बातका मैं गुप्त अर्थ सुनना चाहता हूँ॥४॥सौदासने कहा, कि-सृष्टिकी उत्पत्तिसे लेकर क्षत्रिय ब्राह्मणोंको पूजते चले आरहे हैं, और ब्राह्मणोंकी ओरसे भी क्षत्रियोंको बहुतसे दोष प्राप्त हुए हैं ॥५॥ब्राह्मणोंको प्रणाम करनेवाले मुझे ब्राह्मणसे ही यह दोष प्राप्त हुआ है, मदयन्ती जिसकी सहायक है ऐसे मुझे कोई दूसरा मार्ग दीखता ही नहीं ॥ ६ ॥ (इस लोकमें और परलोकमें मदयन्तीसे बडा मोह है) हे गतिवालोंमें श्रेष्ठ द्विजवर ! स्वर्गके द्वार पर पहुँचनेके लिये अथवा यहाँ ही रहनेके लिये इसके सिवाय मुझे दूसरी कोई गति नहीं दीखती ॥७॥ विशेषकर द्विजजाति ब्राह्मणोंका विरोधी राजा तो न इस लोकमें रहसकता है और न मर कर परलोकमें ही सुख भोगसकता है ॥ ८ ॥ इसलिये (तू प्रतापी ब्राह्मण है, कदाचित् इस दशामेंसे मुझे छुटा देय, इसलिये) तेरे चाहना कियेहुए ये अपने मणिकुण्डल मैंने तुझे देदिये हैं, अब आज तूने मुझसे जो प्रतिज्ञा की है, उसको तू सफल कर । ९ । उत्तंकने कहा, कि—हे राजन् ! मैं उस प्रतिज्ञाका पालन अवश्य

ष्यामि ते वशम्।प्रश्नञ्च कश्चित् प्रष्टुं त्वां निवृत्तोऽस्मि परन्तप१०
सौदास उवाच । ब्रूहि विप्र यथाकामं प्रतिवक्तास्मि ते वचः ।
छेत्तास्मि संशयं तेऽद्य न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ ११ ॥ उत्तंक
उवाच । प्राहुर्वाक्संयतं विप्रं धर्म्मनैपुण्यदर्शिनः। मित्रेषु यश्च विषमः
स्तेन इत्येव तं विदुः ॥ १२ ॥ स भवान् मित्रतामद्य सम्प्राप्तो मम
पार्थिव । स मे बुद्धिं प्रयच्छस्व सम्मतां पुरुषर्षभ ॥१३॥ अत्रा-
र्थोऽहमद्येह भवांश्च पुरुषादकः । भवत्सकाशमागन्तुं क्षमं मम
न वेति वै ॥ १४ ॥ सौदास उवाच । क्षमं चेदिह वक्तव्यं तव
द्विजवरोत्तम । मत्समीपं द्विजश्रेष्ठ नागन्तव्यं कथञ्चन ॥ १५ ॥
एवं तव प्रपश्यामि श्रेयो भृगुकुलोद्वह । आगच्छतो हि ते विप्र

करूँगा,मैं तुम्हारे पास फिर आऊँगा,परन्तु हे परन्तप! मैं तुमसे एक बात बूझने आया हूँ ॥ १० ॥ सौदासने कहा, कि–तेरे जीमें आवे सो बोल, मैं तेरी बातका उत्तर दूँगा, मैं तेरे सन्देहको आज ही काटडालूँगा, इसमें मुझे कुछ विचार नहीं करना है ॥ ११ ॥ उत्तंकने कहा, कि–धर्मकी निपुणताको देखनेवाले कहते हैं, कि–ब्राह्मणको अपनी वाणी वशमें रखनी चाहिये, जो मित्रोंमें विषमता (पक्षपात) का वर्त्ताव करता है, उसको वे चोर मानते हैं ॥ १२ ॥ हे राजन्! आज मेरी तुम्हारी मित्रता होगई है,इसलिये हे राजन्! तुम मुझे चतुर मनुष्योंकी कही हुई सलाह दीजिये ॥ १३ ॥ आज यहाँ ही मुझे अपने प्रयोजनका पदार्थ मिलगया है और वह भी तुमसरीखे मनुष्यका मांस खानेवालेसे मिला है, अब बता कि–तुमसरीखे पुरुषके पास मुझे आना चाहिये या नहीं? ॥ १४ ॥ सौदासने कहा, कि–हे द्विजवर! यदि तेरा कहना क्षमाके योग्य है तो हे द्विजवर।तो हे द्विजसत्तम! तुझे किसी प्रकार भी मेरे पास आना ही नहीं चाहिये ॥१५॥ हे भृगुकुलको चलानेवाले! इसमें ही मैं तेरा कल्याण देखता हूँ,

भवेन्मृत्युर्न संशयः ॥ १६ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तः स तदा राज्ञा क्षमं बुद्धिमता हितम् । अनुज्ञाप्य स राजानमहल्यां प्रति जग्मिवान् ॥ १७ ॥ गृहीत्वा कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्याः प्रियंकरः । जवेन महता प्रायाद् गौतमस्याश्रमं प्रति ॥ १८ ॥ यथा तयो रक्षणं च मदयन्त्याभिभाषितम् । तथा ते कुण्डले बद्ध्वा तदा कृष्णाजिनेऽनयत् ॥१९॥ स कस्मिंश्चित् क्षुधाविष्टः फलभारसमन्वितम् । बिल्वं ददर्श विप्रर्षिरारुरोह च तं ततः ॥ २० ॥ शाखामासाद्य तस्यैव कृष्णाजिनमरिन्दम । पातयामास बिल्वानि तदा स द्विजपुङ्गवः ॥२१॥ अथ पातयमानस्य बिल्वापहृतचक्षुषः । न्यपतंस्तानि बिल्वानि तस्मिन्नेवाजिने विभो ॥ २२ ॥ यस्मिंस्ते

हे विप्र ! यदि तू अवेगा तो तेरा मरण होजायगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-बुद्धिमान् राजाने उत्तङ्कसे इसप्रकार हितकी बात कही तब वह राजाकी आज्ञा लेकर अहल्याके पास चला ॥ १७ ॥ दिव्य कुण्डल लेकर गुरुपत्नीका हित करनेवाला वह बड़ी शीघ्रतासे गौतमके आश्रमकी ओरको चलदिया ॥१८॥ मदयन्तीके कहनेके अनुसार उसने कुण्डलोंकी जोडीकी रक्षा की, उन कुण्डलोंको काली मृगछालामें बाँधकर लेआया ॥१९॥ उस विप्रर्षिने मार्गमें भूखसे व्याकुल होने पर फलोंके बोझेसे झुकेहुए एक बेलके वृक्षको देखा और उसके ऊपर चढगया ॥ २० ॥ हे शत्रुतापन ! उस मृगछालाकी पोटलीको उसने एक शाखामें बाँधदिया और बेलके फल गिरानेलगा ॥२१॥ अब बेलके फलों पर ही जिसकी दृष्टि लगरही है और जो बेलके फलोंको गिरानेमें लगाहुआ है, उस उत्तङ्कके हाथसे ही हे राजन् ! कितने ही बेलके फल उस चमड़ेकी पोटली पर ही आगिरे ॥ २२ ॥ कि-जिसमें उस श्रेष्ठ

कुण्डले बद्धे तदा द्विजवरेण वै । बिल्वप्रहारैस्तस्याथ व्यशीर्यत् द्रुम्बन्धनं ततः ॥ २३ ॥ सकुण्डलं तदाजिनं पपात सहसा तरोः । विशीर्णबन्धने तस्मिन् गते कृष्णाजिने महीम् ॥ २४ ॥ अपश्यद् भुजगः कश्चित्ते तथा मणिकुण्डले । ऐरावतकुलोद्भूतः शीघ्रो भूत्वा तदा हि सः ॥ २५ ॥ विदश्यास्येन वल्मीकं विवेशाथ सकुण्डलः । ह्रियमाणे तु दृष्ट्वा स कुण्डले भुजगेन ह ॥ २६ ॥ पपात वृक्षात् सोद्वेगो दुःखात् परमकोपनः । स दण्डकाष्ठमादाय वल्मीकमखनत्तदा ॥ २७ ॥ अहानि त्रिंशदव्यग्रः पंच चान्यानि भारत । क्रोधामर्षाभिसन्तप्तस्तदा ब्राह्मणसत्तमः ॥ २८ ॥ तस्य वेगमसह्यन्तमसहन्ती वसुन्धरा । दण्डकाष्ठाभिनुन्नाङ्गी चचाल भृशमाकुला । ततः खनत एवाथ विप्रर्षेर्धरणीतलम् । नागलोकस्य पन्थानं कर्त्तुकामस्य निश्चयात् ॥ २९ ॥ रथेन हरियुक्तेन

ब्राह्मणने वह कुण्डलोंकी जोडी बाँधली थी, उस पोटली पर बेलके फल गिरनेसे गाँठ खुलगयी ॥ २३ ॥ तब वह मृगचर्म कुण्डलों सहित एकसाथ वृक्षमेंसे गाँठ खुलते ही नीचे भूमि पर आगिरा ॥ २४ ॥ तहाँ किसी सर्पने वह मणिकुण्डलोंकी जोडी देखपाई, वह साँप ऐरावत वंशका था, उसने देखते ही झपटकर मुखमें निगललिया और कुण्डलोंके सहित एक दम बिलमें घुसगया, फिर उन कुण्डलोंको उठाकर लियेजाते हुए साँपको देखकर २५।२६ दुःखसे घबडायाहुआ और बड़े ही कोपमें भराहुआ उत्तङ्क वृक्ष परसे नीचे कूदपडा और लकडी लेकर उस बिलको खोदनेलगा २७ क्रोधसे बड़े ही सन्तापको प्राप्तहुआ वह ब्राह्मण हे भारत ! एक समान बराबर पैंतीस दिन तक खोदता रहा ॥ २८ ॥ पृथिवी उसके असह्यवेगको नहीं सहसकी, उसका अङ्ग लकडीके प्रहारसे घायल होगया और अत्यन्त व्याकुल होकर हिलनेलगी, नागलोकमें जानेका मार्ग बनानेकी कामनाके निश्चयसे वह ब्राह्मण

तं देशमुपजगिवान् । वज्रपाणिर्महातेजास्तं ददर्श द्विजोत्तमम् ३०
वैशम्पायन उवाच स तु तं ब्राह्मणो भूत्वा तस्य दुःखेन दुःखितः ।
उत्तंकमब्रवीद्वाक्यं नैतच्छक्यं त्वयेति वै ॥३१॥ इतो हि नागलोको
वै योजनानि सहस्रशः । न दण्डकाष्ठसाध्यं च मन्ये कार्यमिदं तव ३२
उत्तंक उवाच । नागलोके यदि ब्रह्मन्नशक्ये कुण्डले मया । प्राप्तुं
प्राणान् विमोक्ष्यामि पश्यतस्ते द्विजोत्तम ॥ ३३ ॥ वैशम्पायन
उवाच । यदा स नाशकत्तस्य निश्चयं कर्तुमन्यथा । वज्रपाणि-
स्तदा दण्डं वज्रास्त्रेण युयोज ह ॥ ३४ ॥ ततो वज्रप्रहारैस्तैर्दार्य-
माणा वसुन्धरा । नागलोकस्य पन्थानमकरोज्जनमेजय ॥३५॥
स तेन मार्गेण तदा नागलोकं विवेश ह । ददर्श नागलोकं च
योजनानि सहस्रशः ॥ ३६ ॥ प्राकारनिचयैर्दिव्यैर्मणिमुक्तास्व-

भूतलको खोदरहा था, इतनेमें ही ॥ २९ ॥ घोडोंसे जुते रथमें बैठकर महातेजस्वी इन्द्र हाथमें वज्र लिये हुए वहाँ आया और वह उस ब्राह्मणसे मिला ॥३०॥ ब्राह्मणका रूप रखकर उसके दुःखसे दुःखी होतेहुए उसने उत्तङ्कसे यह बात कही, कि-यह काम तुमसे नहीं होसकेगा ॥ ३१ ॥ नागलोक तो यहाँसे हजारों योजन दूर है, मेरी समझमें तेरा यह काम इस लकड़ीसे नहीं होसकेगा ॥ ३२ ॥ उत्तङ्कने उत्तर दिया; कि-हे ब्रह्मन् ! यदि नागलोकमें पहुँचकर मैं उन कुण्डलों को नहीं पासकूँगा तो हे ब्रह्मन् ! तुम्हारे सामने ही मैं अपने प्राणोंको त्याग दूँगा ॥३३॥ जब वज्रपाणि इन्द्र उसके निश्चयको नहीं पलटसका तब उसने उसकी लकडीमें अपने वज्रको जोड दिया ॥३४॥ तब तो वज्रके प्रहारसे वसुन्धरा चिरगई, तब हे जनमेजय ! उसने नागलोकका मार्ग बनादिया ॥ ३५ ॥ तब वह उस मार्गसे नागलोकमें गया और नागलोकको हजारों योजन का देखा ॥ ३६ ॥ हे महाभाग ! वह नागलोक मणि और

लंकृतैः । उपपन्नं महाभाग शातकुम्भमयैस्तथा ॥ ३७ ॥ वापी-स्फटिकसोपाना नदीश्च विमलोदकाः। ददर्श वृक्षांश्च बहून्नानाद्विजगणायुतान् ॥ ३८ ॥ तस्य लोकस्य च द्वारं स ददर्श भृगूद्वहः । पंचयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ॥३९॥ स नागलोकमुत्तङ्कः प्रेक्ष्य दीनोऽभवत्तदा । निराशश्चाभवत्तत्र कुण्डलाहरणे पुनः ४० तत्र प्रोवाच तुरगस्तं कृष्णः श्वेतवालधिः । ताम्रास्यनेत्रः कौरव्य प्रज्वलन्निव तेजसा ॥४१॥ धमस्वापानमेतन्मे ततस्त्वं विप्रलप्स्यसे । ऐरावतसुतेनेह तवानीते हि कुण्डले ॥ ४२ ॥ मा जुगुप्सां कृथाः पुत्र त्वमत्रार्थे कथञ्चन । त्वयैतद्धि समाचीर्णं गौतमस्याश्रमे तदा ४३ उत्तङ्क उवाच । कथं भवन्तं जानीयामुपाध्यायाश्रमं प्रति । यन्मया

मुक्ताफलोंसे शोभायमान, सुवर्णमय बहुतसे दिव्य किलोंसे भरपूर था ॥ ३७ ॥ उसने वहाँ बिल्लौरकी सीढ़ियोंवाली बावड़ियें, निर्मल जलसे भरीं नदियें और भाँति २ के पक्षियोंके समूहोंसे शोभायमान बहुतसे वृक्ष देखे ॥३८॥ भृगुकुलको चलाने वाले उन मुनिने उस लोकका द्वार बारह योजन ऊँचा और सौ योजन चौड़ा देखा ॥ ३९ ॥ नागलोकको देखकर उस समय उत्तंक लाचारसा बनगया, कुण्डलोंको लौटाकर लानेके विषयमें तो वह निराश ही होगया ॥ ४० ॥ हे कुरुवंशी जनमेजय ! उस समय वहाँ काले और धौले बालोंवाला, लाखड़े रङ्गके मुख और नेत्रोंवाला, तेजसे जलता हुआसा एक घोड़ा आया, उसने उत्तङ्कसे कहा, कि—॥ ४१ ॥ मेरे इस अपानमार्गमें फूँक मार तो हे विप्र ! ऐरावतवंशी नागके लायेहुए कुण्डल तुझे मिलजायँगे४२ हे पुत्र ! तू इस विषयमें जरा भी न घबड़ा, क्योंकि गौतमके आश्रममें तूने अनेकों बार ऐसा किया है ॥४३॥ उत्तंकने कहा, कि—गुरुमहाराजके आश्रममें मैंने आपको देखा था, यह मैं कैसे जानूँ ? मैंने पहले बहुतबार ऐसा किया था, यह तुमने कैसे

चीर्णपूर्वं हि श्रोतुमिच्छामि तद्ध्यहम् ॥४४॥ अश्व उवाच । गुरोर्गुरुं मां जानीहि ज्वलन्तं जातवेदसम् । त्वया ह्यहं सदा विप्र गुरोरर्थेऽभिपूजितः ॥ ४५ ॥ विधिवत् सततं विप्र शुचिना भृगुनन्दन । तस्माच्छ्रेयो विधास्यामि तवैवं कुरु मा चिरम् ॥४६॥ इत्युक्तस्तु तथाकार्षीदुत्तङ्कश्चित्रभानुना । घृतार्चिः प्रीतिमांश्चापि प्रजज्वाल दिधक्षया ॥४७॥ ततोऽस्य रोमकूपेभ्यो ध्मायतस्तस्य भारत । घनः प्रादुरभूद्धूमो नागलोकभयावहः ॥४८॥ तेन धूमेन महता वर्द्धमानेन भारत । नागलोके महाराज न प्राज्ञायत किंचन ॥ ४९ ॥ हाहाकृतमभूत् सर्वमैरावतनिवेशनम् । वासुकिप्रमुखानाञ्च नागानां जनमेजय ॥ ५० ॥ न प्रकाशन्त वेश्मानि धूमरुद्धानि भारत । नीहारसंवृतानीव वनानि गिरयस्तथा ॥ ५१ ॥ ते धूमरक्तनयना

जाना ? इस बातको मैं जानना चाहता हूँ ॥ ४४ ॥ घोड़ेने कहा, कि-तुझे मालूम हो, कि-मैं तेरे गुरुका गुरु धधकताहुआ अग्नि हूँ, हे विप्र ! गुरुके लिये तू सदा मेरी पूजा किया करता था ॥ ४५ ॥ हे भृगुनन्दन ! ब्राह्मण ! तू निरन्तर पवित्र होकर विधिपूर्वक मेरी पूजा किया करता था,इसलिये मैं तेरा कल्याण करूँगा,तू शीघ्र ही ऐसा कर,देरी न लगा॥४६॥ अग्निके ऐसा कहने पर उत्तङ्कने ऐसा ही किया, तब तो ब्राह्मणके ऊपर प्रसन्न हुआ अग्नि भस्म करनेकी इच्छासे बडे वेगके साथ जलनेलगा॥४७ हे भारत ! अपानमें फूक मारते ही उसके रोमकूपोंमेंसे नागलोकको भय देनेवाला बडा गहरा धुआँ प्रकटहुआ ॥४८॥ हे भरतवंशी महाराज ! बढतेहुए बडेभारी धुएँके कारणसे नागलोकमें कुछ भी नहीं दीखता था॥४९॥ऐरावतके सब घरमें तथा वासुकि आदि मुख्य २ नागोंके घरोंमें हे जनमेजय ! हाहाकार मच गया ॥ ५० ॥ हे भारत ! धुएँसे भरेहुए घर दीखते ही नहीं थे तथा वन और पहाड तो ऐसे होगए मानों कुहरेसे ढकेहुए थे५१

वह्नितेजोऽभितापिताः।आजग्मुर्निश्चयं ज्ञातुं भार्गवस्य महात्मनः ५२
श्रुत्वा तु निश्चयं तस्य महर्षेरतितेजसः । संभ्रान्तनयनाः सर्वे
पूजाञ्चक्रुर्यथाविधि ॥ ५३ ॥ सर्वे प्रांजलयो नागा वृद्ध-
बालपुरोगमाः। शिरोभिः प्रणिपत्योचुः प्रसीद भगवन्निति॥५४॥
प्रसाद्य ब्राह्मणं ते तु पाद्यमर्घं निवेद्य च । प्रायच्छन्
कुण्डले दिव्ये पन्नगाः परमार्चिते ॥ ५५ ॥ ततः स
पूजितो नागैस्तदोत्तङ्कः प्रतापवान् । अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा जगाम
गुरुसद्म तत्॥५६॥स गत्वा त्वरितो राजन् गौतमस्य निवेशनम् ।
प्रायच्छत् कुण्डले दिव्ये गुरुपत्न्यास्तदानघ ॥ ५७ ॥ वासुकि-
प्रमुखानां च नागानां जनमेजय । सर्वं शशंस गुरवे यथावद् द्विज-
सत्तमः ॥५८॥ एवं महात्मना तेन त्रींल्लोकान् जनमेजय । परिक्र-

धुएँसे लाल २ नेत्रोंवाले और अग्निके तापसे जलेहुएसे वे सब
महात्मा भार्गवके निश्चयको जाननेके लिये उसके पास आये५२
उस महातेजस्वी महर्षिके निश्चयको सुनकर घबड़ाये हुए नेत्रों
वाले उन सबोंने उनकी विधिपूर्वक पूजा की ॥५३॥ बूढे और
बालकोंको आगे करके उन सब नागोंने हाथ जोड़े और मस्तक
से प्रणाम करके कहा, कि-हे भगवन् ! प्रसन्न हूजिये ॥ ५४ ॥
उस ब्राह्मणको प्रसन्न करके पैर धोनेको जल और अर्घ देकर
उन नागोंने अत्यन्त पूजनीय और दिव्य कुण्डल देदिये ५५
फिर नागोंसे पूजित प्रतापी उत्तङ्क प्रदक्षिणा करके गुरुके घर
चलागया ॥५६॥ हे राजन् ! गौतमके आश्रममें बड़ी शीघ्रतासे
पहुँचकर उसने हे निर्दोष ! गुरुपत्नीको दिव्य कुंडल दिये५७
और हे जनमेजय ! उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने अपने गुरुको वासुकि
आदि मुख्य २ नागोंकी सब कथा जैसी कि-हुई थी सब सुनाई५८
हे जनमेजय ! इसप्रकार उस महात्माने तीनों लोकोंमें घूम कर

ऽप्याहृते दिव्ये ततस्ते मणिकुण्डले ॥५९॥ एवं प्रभावः स मुनिरुत्तङ्को भरतर्षभ । परेण तपसा युक्तो यन्मां त्वं परिपृच्छसि ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तङ्कोपाख्याने अष्टपंचाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

जनमेजय उवाच । उत्तंकस्य वरं दत्त्वा गोविन्दो द्विजसत्तम । अत ऊर्ध्वं महाबाहुः किं चकार महायशाः ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच । दत्त्वा वरमुत्तंकाय प्रायात् सात्यकिना सह । द्वारकामेव गोविन्दः शीघ्रवेगैर्महाहयैः ॥ २ ॥ सरांसि सरितश्चैव वनानि च गिरींस्तथा । अतिक्रम्याससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ॥ ३ ॥ वर्त्तमाने महाराज महे रैवतकस्य च । उपायात् पुण्डरीकाक्षो युयुधानानुगस्तदा ॥ ४ ॥ अलंकृतस्तु स गिरिर्नानारूपैर्विचित्रितैः । बभौ रत्नमयैः कोषैः संवृतः पुरुषर्षभ ॥५॥ काञ्चनस्रग्भिरग्र्याभिः

कुण्डलोंकी जोडी पाई थी ॥ ५९ ॥ हे भरतसत्तम ! वह उत्तंक मुनि ऐसा प्रभावशाली था और बडा तपस्वी था, कि जिसके विषयमें तूने मुझसे बूझा था ६० अट्ठावनवाँ अध्याय समाप्त ५८

जनमेजयने कहा, कि-हे द्विजसत्तम ! उत्तङ्कको वर देकर महाबाहु और महायशवाले श्रीकृष्णने फिर क्या किया ? ॥१॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-उत्तङ्कको वर देकर सात्यकीके सहित बड़े वेगवाले घोड़ोंसे जुते रथमें बैठकर गोविन्द द्वारकाको चले गये ॥ २ ॥ मार्गमें सरोवर, नदी, वन और पर्वतोंको लाँघकर रमणीय द्वारका नगरीमें जापहुँचे ॥३॥ हे महाराज ! जब तहाँ रैवतकका महोत्सव होरहा था, उस समय युयुधानके साथ श्रीकृष्ण तहाँ आए ॥ ४ ॥ हे पुरुषोत्तम ! अनेकों प्रकारके पदार्थोंसे उस पर्वतको सजाया गया था और रत्नोंके भण्डारोंसे वह छाया हुआ था ॥५॥ वह बडाभारी पहाड़ सोनेकी मालाओं

सुमनोभिस्तथैव च। वासोभिश्च महाशैलः कल्पवृक्षैस्तथैव च ।६। दीपवृक्षैश्च सौवर्णैरभीक्ष्णमुपशोभितः।गुहानिर्झरदेशेषु दिवो भूतो बभूव ह ॥ ७ ॥ पताकाभिर्विचित्राभिः संघटाभिः समन्ततः । पुंभिः स्त्रीभिश्च संघुष्टः प्रगीत इव चाभवत् ॥ ८ ॥ अतीव प्रेक्षणीयोऽभून्मेरुर्मुनिगणैरिव। मत्तानां हृष्टरूपाणां स्त्रीणां पुंसाञ्च भारत ॥ ९ ॥ गायतां पर्वतेन्द्रस्य दिवस्पृगिव निःस्वनः । प्रमत्त-मत्तसम्मत्तक्ष्वेडितोत्कृष्टसंकुलः ॥१०॥ तथा किलकिलाशब्दैर्भू-धरोऽभून्मनोहरः। विपणापणवान् रम्यो भक्ष्यभोज्यविहारवान्११ वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदंगवान् । सुरामैरेयमिश्रेण भक्ष्य-

से, सुन्दर पुष्पमालाओंसे, वस्त्रोंसे, कल्पवृक्षोंसे, सोनेके दीप-वृक्षों (झाडों) से ऐसा सुन्दर मालूम होता था, कि इसको बरा-बर देखते ही रहें और गुफाओंमें तथा झरनोंके स्थानोंमें तो मानो दिनसा खिलरहा था।।६-७।।चंवरोंवाली विचित्र पताकाओं से वह घिरा हुआ था और स्त्री तथा पुरुषोंके शब्दसे गुञ्जारता हुआ ऐसा मालूम होता था मानों गान कररहा है ।। ८ ॥ जैसे बहुतसे मुनियोंके कारणसे सुमेरु देखने योग्य होगया था, ऐसे ही वह देखने योग्य था, हे भारत ! मत्त और हर्षमें भरेहुए स्त्री पुरुष ।। ९ ।। वहाँ गारहे थे, इस कारण पर्वतराजका स्वर मानो स्वर्गमें पहुँच रहा था, प्रमत्त (क्रीडाके कारणसे) मत्त (मादक पदार्थोंके कारणसे) और संमत्त (आनन्दके कारणसे) तथा कूदनेके कोलाहलसे वह पर्वत गाजरहा था और वह स्वर बडी ही सुन्दरतासे गूँजरहा था ।। १० ।। जहाँ बेचनेवालोंकी दूकाने लगरही थीं, जो देखनेमें बडा ही सुन्दर मालूम होता था और भक्ष्य भोज्य वस्तुओंके विहारवाला ॥ ११ ॥ वस्त्रोंके और मालाओंके ढेरोंवाला,वीणा बाँसुरी और मृदङ्गवाला(उत्सव) सुरा और मैरेय (एक प्रकारकी सुरा) के साथ मिले हुए भक्ष्य

भोज्येन चैव ह ॥ १२ ॥ दीनान्धकृपणादिभ्यो दीयमानेन चानिशम् । बभौ परमकल्याणो महस्तस्य महागिरेः ॥ १३ ॥ पुण्यावसथवान् वीर पुण्यकृद्भिर्निषेवितः । विहारो वृष्णिवीराणां महे रैवतकस्य ह ॥१४॥ स नगो वेश्मसंकीर्णो देवलोक इवाबभौ । तदा च कृष्णसान्निध्यमासाद्य भरतर्षभ ॥ १५ ॥ शक्रसद्मप्रतीकाशो बभूव स हि शैलराट् । ततः सम्पूज्यमानः स विवेश भवनं शुभम् ॥ १६ ॥ गोविन्दः सात्यकिश्चैव जगाम भवनं स्वकम् । विवेश च प्रहृष्टात्मा चिरकालप्रवासतः ॥ १७ ॥ कृत्वा न सुकरं कर्म दानवेष्विव वासवः । उपायातन्तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा । अभ्यगच्छन्महात्मानं देवा इव शतक्रतुम् ॥ १८ ॥ स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा । अभ्यवादयत प्रीतः पितरं

और भोज्य पदार्थोंवाला (वह उत्सव था) ॥ १२ ॥ वहाँ रात दिन, अन्धे और कृपणोंको दान दिया जाता था, इसलिए उस महा पर्वतका उत्सव बड़ा ही कल्याणकारी होरहा था ॥ १३ ॥ हे वीर! वहाँ पुण्यकारी स्थान बने हुए थे, उस पहाड़ पर पुण्य करने वाले रहते थे, रैवतकके मेलेमें वृष्णिवंशियोंके विहार होरहे थे १४ स्थानोंसे छाया हुआ वह पहाड़ देवलोकसा मालूम होता था, हे भरतसत्तम ! उस समय श्रीकृष्णके वहाँ पहुँचजानेसे ॥१५॥ वह शैलराज इन्द्रके महलसा बनगया, फिर प्रेमियोंसे सत्कार पातेहुए श्रीकृष्णने अपने शुभ भवनमें प्रवेश किया ॥ १६ ॥ चिरकालतक परदेशमें रहकर लौटे थे, इस कारण मनमें प्रसन्न हुए श्रीकृष्ण और सात्यकी अपने २ घर गये ॥ १७ ॥ जैसे इन्द्र दानवोंमें कठिनसे करने योग्य पराक्रम करके आता है, ऐसे ही कठिन काम करके आये हुए श्रीकृष्णके पास भोज, वृष्णि और अन्धक गये ॥ १८ ॥ जैसे देवता इन्द्रके पास जाते हैं तैसे ही वृष्णि, भोज और अन्धक महात्मा कृष्णके पास गए, उस समय

मातरं तदा ॥१९॥ ताभ्यां स संपरिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः।
उपोपविष्टैः सर्वैस्तैर्वृष्णिभिः परिवारितः॥२०॥ स विश्रान्तो महातेजाः
कृतपादावनेजनः। कथयामास तत् सर्वं पृष्टः पित्रा महाहवम्॥२१॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
कृष्णस्य द्वारकाप्रवेशे एकोनषष्टितमोऽध्यायः॥५९॥

वसुदेव उवाच। श्रुतवानस्मि वार्ष्णेय संग्रामं परमाद्भुतम्।
नराणां वदतां तत्र कथं वा तेषु नित्यशः॥१॥ त्वन्तु प्रत्यक्षदर्शी
च रूपज्ञश्च महाभुज। तस्मात् प्रब्रूहि संग्रामं याथातथ्येन मेऽनघ॥२
यथा तदभवद्युद्धं पाण्डवानां महात्मनाम्। भीष्मकर्णकृपद्रोण-
शल्यादिभिरनुत्तमम्॥३॥ अन्येषां क्षत्रियाणां च कृतास्त्राणाम-

बुद्धिमान् कृष्णने उनका आदर करके कुशल प्रश्न किया तथा प्रसन्न होकर अपने माता पिताको प्रणाम किया ॥ १९ ॥ उन दोनोंने महाभुजाओंसे मिलकर आनन्द प्रकट किया, फिर वृष्णि जातिके सब लोग उनके चारों ओर घिरकर बैठगए ॥ २० ॥ थकन उतार कर, हाथ पैर धोकर महातेजस्वी कृष्णने, अपने पिताने महाभारतके युद्धके विषयमें जो जो बात पूछी वह सब कहकर सुनाई ॥ १२ ॥ उनसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ५९ ॥

वसुदेवने कहा, कि–हे कृष्ण ! मनुष्य बातें किया करते थे, उस समय मैं महाभारतके युद्धके विषयमें नित्य बडी अद्भुत बातें सुना करता था ॥१ ॥ परन्तु तू तो उस संग्रामको प्रत्यक्ष देखने वाला, उसके स्वरूपको जानने वाला और बडी भुजाओंवाला है इसलिये हे निष्पाप! जैसी २ हुई हो संग्रामकी सब कथा मुझे सुना ॥ २ ॥ महात्मा पाण्डवोंका भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य आदिके साथ वह सर्वोत्तम युद्ध जिसप्रकार हुआ था वह मुझे सुना ॥ ३ ॥ अनेकों प्रकारके वेष और आकारोंवाले, भिन्न२देशोंके रहनेवाले और अस्त्रधारी दूसरे अनेकों क्षत्रियोंका,

नेकशः । नानावेशाकृतिमतां नानादेशनिवासिनाम् ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तः पुण्डरीकाक्षः पित्रा मातुस्तदन्तिके । शशंस कुरुवीराणां संग्रामे निधनं यथा ॥ ५ ॥ वासुदेव उवाच । अत्यद्भुतानि कर्माणि क्षत्रियाणां महात्मनाम् । बहुलत्वान्न संख्यातुं शक्यान्यब्दशतैरपि ॥ ६ ॥ प्राधान्यतस्तु गदतः समासेनैव मे शृणु । कर्माणि पृथिवीशानां यथावदमरद्युते ॥ ७ ॥ भीष्मः सेनापतिरभूदेकादशचमूपतिः । कौरव्यः कौरवेन्द्राणां देवानामिव वासवः ॥ ८ ॥ शिखंडी पांडुपुत्राणां नेता सप्तचमूपतिः । बभूव रक्षितो धीमान् श्रीमता सव्यसाचिना ॥ ९ ॥ तेषां तदभवद्युद्धं दशाहनि महात्मनाम् । कुरूणां पांडवानां च सुमहल्लोमहर्षणम् १० ततः शिखण्डी गाङ्गेयं युध्यमानं महाहवे । जघान बहुभिर्बाणैः

(युद्ध जिसप्रकार हुआ हो मुझे सुना) ॥ ४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-श्रीकृष्णसे उनके पिताने ऐसा बूझा, तब उन्होंने अपनी माताके सामने ही कुरुवंशके वीरोंका संग्राममें जिसप्रकार नाश हुआ था, वह बात कही ॥ ५ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि—उन महात्मा क्षत्रियोंके पराक्रम बड़े अद्भुत हैं और इतने बड़े हैं कि—सैंकड़ों वर्षोंमें भी नहीं कहे जासकते ॥ ६ ॥ तो भी उनके मुख्यर चरित्रोंको संक्षेपमें कहता हूँ, हे अमर देवताओंकी समान प्रकाशवाले पृथिवीके राजाओंके पराक्रम जैसे हैं उनको सुनो ७ जैसे देवताओंका सेनापति इन्द्र बना करता है तैसे ही कुरुवंशी भीष्मजी कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके सेनापति बने थे ८ और पाण्डवोंकी सात अक्षौहिणी सेनाका सेनापति शिखण्डी बना था और श्रीमान् अर्जुन शिखण्डीकी रक्षा करता था ९ इन महात्माओंका युद्ध दश दिन तक चलता रहा, कुरु और पाण्डवों का वह युद्ध बड़ा ही रोमांचकारी था॥१०॥ तदनन्तर शिखंडीने गांडीवधनुषधारी अर्जुनकी सहायतासे उस रणमें युद्ध करते

सह गाण्डीवधन्वना ॥ ११ ॥ अकरोत् स ततः कालं शरतल्प-
गतो मुनिः । अयनं दक्षिणं हित्वा सम्प्राप्ते चोत्तरायणे ॥१२॥
ततः सेनापतिरभूद् द्रोणोऽस्त्रविदुषां वरः । प्रवीरः कौरवेन्द्रस्य
काव्यो दैत्यपतेरिव ॥१३॥ अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्नवभिर्द्विज-
सत्तमः । सम्वृतः समरश्लाघी गुप्तः कृपवृषादिभिः ॥ १४ ॥ धृष्ट-
द्युम्नस्त्वभून्नेता पाण्डवानां महास्त्रवित् । गुप्तो भीमेन मेधावी
मित्रेण वरुणो यथा ॥ १५ ॥ स च सेनापरिवृतो द्रोणप्रेप्सु-
र्महामनाः । पितुर्निकारान् संस्मृत्य रणे कर्माकरोन्महत् ॥१६॥
तस्मिंस्ते पृथिवीपाला द्रोणपार्षतसङ्गरे । नानादिगागता वीराः
प्रायशो निधनं गताः ॥ १७ ॥ दिनानि पंच तद्युद्धमभूत् परमदा-

हुए भीष्मजीके बहुतसे बाण मारे ॥ ११ ॥ और उन बाणोंसे घायल हुए भीष्म मुनि दक्षिण अयनको छोडकर सूर्य उत्तर अयनमें गया तब तक शरशय्या पर पड़े रहे ॥ १२ ॥ फिर जैसे महावीर शुक्राचार्य दैत्यराजके सेनापति बनते हैं तैसे ही अस्त्र के जानकारोंमें श्रेष्ठ परम वीर द्रोणाचार्य कौरवराज दुर्योधनके सेनापति बने ॥१३॥ रणमें कीर्ति चाहनेवाले वह ब्राह्मण कि-जिनकी रक्षाके लिये कृपाचार्य,वृप आदि नियुक्त थे वह शेष रही नौ अक्षौहिणी सेनासे घिरे रहते थे ॥ १४ ॥ बड़े२ अस्त्रोंको जाननेवाला धृष्टद्युम्न पांडवोंकी सेनाका अधिपति बना, जैसे मित्र देवता वरुणकी रक्षा करता है तैसेही भीमसेन उस बुद्धिमानकी रक्षा करता था ॥ १५ ॥ सेनासे घिरे हुए द्रोणाचार्यको पकड लेनेकी इच्छावाले महामना धृष्टद्युम्नने अपने पिताके अपमानको याद करके उस रणमें बड़े२ पराक्रम किए ॥ १६ ॥ द्रोण और धृष्टद्युम्नमें होनेवाले उस युद्धमें भिन्न २ देशोंसे आये हुए वीर राजाओंमेंसे बहुतोंका नाश होगया ॥ १७ ॥ वह परम दारुण युद्ध पाँच दिन तक चलता रहा और उसमें थके हुए द्रोणाचार्य

रुणम् । ततो द्रोणः परिश्रान्तो धृष्टद्युम्नवशङ्गतः ॥ १८ ॥ ततः सेनापतिरभूत् कर्णो दौर्य्योधने बले । अक्षौहिणीभिः शिष्टाभिर्वृतः पञ्चभिराहवे ॥१९॥ तिस्रस्तु पाण्डुपुत्राणां चम्वो बीभत्सुपालिताः । हतप्रवीरभूयिष्ठा बभूवुः समवस्थिताः ॥ २० ॥ ततः पार्थं समासाद्य पतङ्ग इव पावकम् । पंचत्वमगमत् सौतिर्द्वितीयेऽहनि दारुणः ॥ २१ ॥ हते कर्णे तु कौरव्या निरुत्साहा हतौजसः । अक्षौहिणीभिस्तिसृभिर्मद्रेशं पर्य्यवारयन् ॥ २२ ॥ हतवाहनभूयिष्ठाः पाण्डवापि युधिष्ठिरम् । अक्षौहिण्या निरुत्साहाः शिष्टया पर्य्यवारयन् ॥२३॥ अवन्धीन्मद्रराजानं कुरुराजो युधिष्ठिरः । तस्मिंस्तदार्धदिवसे कृत्वा कर्म्म सुदुष्करम् ॥ २४ ॥ हते शल्ये च शकुनिं सहदेवो महामनाः । आहर्त्तारं कलेस्तस्य जघा-

---

धृष्टद्युम्नके वशमें आगए ॥१८॥ तदनन्तर बाकी रही हुई पाँच अक्षौहिणी सेनासे घिरा हुआ कर्ण दुर्योधनकी सेनाका सेनापति हुआ ॥१९॥ उस समय पांडवोंकी तीन अक्षौहिणी सही सलामत बचरही थीं, उनमेंके यद्यपि बड़े२ वीर मारे गए थे, तो भी उसको सामने खडा किया गया ॥ २० ॥ फिर जैसे एक पतङ्गा अग्निमें पडकर मरजाता है, ऐसे ही सूतपुत्र कर्ण अर्जुनके सामने आकर दूसरे दिन मारा गया ॥ २१ ॥ कर्णके मरजाने पर कौरव पक्षके योधाओंकी हिम्मत टूटगई उनका तेज क्षीण होगया, तदनन्तर तीन अक्षौहिणी सेना मद्रदेशके राजा शल्यको अपना सेनापति बनाकर आई ॥२२॥ पाण्डवोंके भी हाथी घोड़े आदि बहुतसे वाहनोंका नाश होगया था, वे भी निरुत्साह होगए थे, तो भी बाकी बची हुई एक अक्षौहिणी सेनासे घिरकर युधिष्ठिर आखडे हुए ॥ २३ ॥ कुरुराज युधिष्ठिरने उस युद्धमें महाकठिन पराक्रम करके मद्रराज शल्यको मारडाला २४ शल्यके मारे जाने पर महामना महापराक्रमी सहदेवने कलह कराने

नामितविक्रमः ॥ २५ ॥ निहते शकुनौ राजा धार्त्तराष्ट्रः सुदुर्म्मनाः । अपाक्रामत् गदापाणिर्हतभूयिष्टसैनिकः ॥ २६ ॥ तमन्वधावत् संक्रुद्धो भीमसेनः प्रतापवान् । ह्रदे द्वैपायने चापि सलिलस्थं ददर्श तम् ॥ २७ ॥ हतशिष्टेन सैन्येन समन्तात् परिवार्य्य तम् । अथोपविविशुर्हृष्टा ह्रदस्थं पञ्च पाण्डवाः ॥ २८ ॥ विगाह्य सलिलं त्वाशु वाग्बाणैर्भृशविक्षतः । उत्थाय स गदापाणिर्युद्धाय समुपस्थितः ॥ २९ ॥ ततः स निहतो राजा धार्त्तराष्ट्रो महारणे । भीमसेनेन विक्रम्य पश्यतां पृथिवीक्षिताम् ॥ ३० ॥ ततस्तत् पाण्डवं सैन्यं प्रसुप्तं शिविरे निशि । निहतं द्रोणपुत्रेण पितुर्वधममृष्यता ॥ ३१ ॥ हतपुत्रा हतबला हतमित्रा मया सह । युयुधानसहायेन पञ्च शिष्टास्तु पांडवाः ॥ ३२ ॥ सहैव कृपभोजाभ्यां

वाले शकुनिको मारडाला ॥ २५ ॥ शकुनिके मारे जाने पर जिसके सैनिक मारेगए थे ऐसा अतिदुष्ट मनवाला राजा धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन हाथमें गदा लेकर भाग गया ॥ २६ ॥ उसके ऊपर बडे क्रोधमें भराहुआ प्रतापी भीमसेन उसके पीछे दौडा तब उसको द्वैपायन तालके जलमें दुबककर बैठापाया ॥ २७ ॥ मरते२ बची हुई सेनाके द्वारा उसको चारों ओरसे घेरकर आनन्दमें भरेहुए पाँचों पाण्डव तालमें दुबके हुए उसके पास पहुँचे ॥ २८ ॥ शीघ्र जलको विलोड कर उसको वातोंके बाणोंसे खूब बींधागया, तब वह एकदम जलमेंसे बाहर निकल कर हाथमें गदाले लडनेको तयार होगया ॥ २९ ॥ फिर उस महायुद्धमें राजाओंके देखते हुए भीमसेनने पराक्रम करके राजा धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनको मारडाला ॥ ३० ॥ फिर रात्रिके समय अपने लश्करमें गाढी निद्रामें सोई हुई पाण्डवोंकी सेनाको अश्वथामाने अपने पिताका वध सहन न होसकनेके कारण मारडाला ॥ ३१ ॥ उसमें पुत्र मारे गए, सेना मारीगई, मित्र मारेगये, केवल मैं, सात्यकी, और पाँचों

द्रौणिर्युद्धादमुच्यन । युयुत्सुश्चापि कौरव्यो मुक्तः पाण्डवसं-
श्रयात् ॥३३॥ निहते कौरवेन्द्रे तु सानुबन्धे सुयोधने । विदुरः
संजयश्चैव धर्म्मराजमुपस्थितौ॥३४॥एवं तदभवद्युद्धमहान्यष्टादश
प्रभो । यत्र ते पृथिवीपाला निहताः स्वर्गमावसन् ॥३५॥ वैश-
म्पायन उवाच । शृण्वन्तान्तु महाराज कथां तां लोमहर्षणाम् ।
दुःखशोकपरिक्लेशा वृष्णीनामभवंस्तदा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्व्वणि अनुगीतापर्व्वणि
वासुदेववाक्ये षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच । कथयन्नेव तु तदा वासुदेवः प्रतापवान् ।
महाभारतयुद्धं तत् कथान्ते पितुरग्रतः ॥ १ ॥ अभिमन्योर्वधं वीरः
सोऽत्यक्रामन्महामतिः । अप्रियं वसुदेवस्य मा भूदिति महामतिः॥२॥

पाण्डव (सात जने) बचे ॥ ३२ ॥ और दूसरी ओर कृपाचार्य
कृतवर्मा और द्रोणका पुत्र अश्वत्थामा ये तीन बचे हैं तथा
पाण्डवोंका आश्रय लेनेसे कुरुवंशका युयुत्सु बचगया है ॥ ३३ ।
कौरवोंके राजा दुर्योधनका सेवकों और बांधवों सहित नाश
होजाने पर विदुर और सञ्जय युधिष्ठिरके पास आये ॥ ३४ ॥
हे प्रभो ! यह युद्ध इसप्रकार अठारह दिनतक चलता रहा था,
उसमें जो राजे मारे गये वे स्वर्गमें विराजरहे हैं ३५ वैशम्पायन
कहते हैं, कि-हे महाराज ! रोमांच खड़े करनेवाली इस कथाको
सुनकर उस समय वृष्णि दुःख, शोक और क्लेशमय होगये ३६
साठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-भरतवंशके पुरुषोंके महायुद्धकी इस
कथाको जिस समय प्रतापी श्रीकृष्ण अपने पिताके सामने कह
रहे थे उस समय ॥ १ ॥ उन महामति वीर कृष्णने अभिमन्युके
वधकी बात छोडदी, क्योंकि-उन्होंने विचारा, कि-वसुदेवका
अप्रिय नहीं होना चाहिए ॥ २ ॥ धेवतेके महादुःखदायक मरण

मा दौहित्रवधं श्रुत्वा वसुदेवो महात्ययम् । दुःखशोकाभिसन्तप्तो भवेदिति महामतिः ॥ ३ ॥ सुभद्रा तु तमुत्क्रान्तमात्मजस्य वधं रणे । आचक्ष्व कृष्ण सौभद्रवधमित्यपतद्भुवि ॥४॥ तामपश्यन्निपतितां वसुदेवः क्षितौ तदा । दृष्ट्वैव च पपातोर्व्यां सोऽपि दुःखेन मूर्च्छितः ॥ ५ ॥ ततः स दौहित्रवधदुःखशोकसमाहतः । वसुदेवो महाराज कृष्णं वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥ ननु त्वं पुण्डरीकाक्ष सत्यवाग् भुवि विश्रुतः । यद्दौहित्रवधं मेऽद्य न ख्यापयसि शत्रुहन् ॥७॥ स्वस्रीयनिधनं तत्त्वेनाचक्ष्व मे प्रभो । सदृशाक्षस्तव कथं शत्रुभिर्निहतो रणे ॥ ८ ॥ दुर्मरं बत वार्ष्णेय कालेऽप्राप्ते नृभिः सह । यत्र मे हृदयं दुःखाच्छतधा न विदीर्यते ॥ ९ ॥

को सुनकर वसुदेव दुःख और शोकसे अत्यन्त सन्ताप न पावें, उन महामतिने ऐसा विचार किया ॥ ३ ॥ परन्तु (उनकी वहिन) सुभद्रा तो रणमें अपने पुत्रके मारेजानेकी वातको छोडी हुई देख कर कहने लगी कि—हे कृष्ण ! सुभद्राके पुत्रकी वात भी कहो, इतना कहकर वह भूमिपर गिरपडी ॥ ४ ॥ उस समय वसुदेवजी उसको भूमिपर गिरते देखकर स्वयं भी दुःखसे मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े ॥ ५ ॥ फिर धेवतेके मरजानेके दुःख और शोकसे विह्वल हुए वसुदेवजीने हे महाराज ! श्रीकृष्णसे यह कहा, कि—॥ ६ ॥ हे ! पुण्डरीकाक्ष ! संसारके लोग कहते हैं, कि—तुम सत्य बोला करते हो, हे वैरियोंके नाशक ! तो भी तुमने आज मेरे धेवतेके मारेजानेकी वात क्यों नहीं कही ? ॥ ७ ॥ हे प्रभो ! इस अपने भानजेके वधकी वात ठीक२ सुनाओ तुम्ह सरीखे नेत्रवालेके होते हुए उसको वैरियोंने रणमें कैसे मार डाला ? ॥८॥ हे कृष्ण ! वह तो मनुष्योंकी समान काल विना आए मरनेवाला नहीं था, इसलिए उसके मरजानेके समाचारको सुनकर दुःखके कारणसे मेरे हृदयके सौ टुकड़े क्यों नहीं हो

किमब्रवीत्वां संग्रामे सुभद्रां मातरं प्रति । मां चापि पुण्डरीकाक्ष चपलाक्षः प्रियो मम ॥१०॥ आहवं पृष्ठतः कृत्वा कच्चिन्न निहतः परैः । कच्चिन्मुखं न गोविन्द तेनाजौ विकृतं कृतम्॥११॥ स हि कृष्ण महातेजाः श्लाघन्निव ममाग्रतः । बालभावेन विजयमात्मनोऽकथयत् प्रभुः ॥१२॥ कच्चिन्न निकृतो बालो द्रोणकर्णकृपादिभिः । धरण्यां निहतः शेते तन्ममाचक्ष्व केशव ॥ १३ ॥ स हि द्रोणञ्च भीष्मं च कर्णञ्च बलिनां वरम् । स्पर्द्धते स्म रणे नित्यं दुहितुः पुत्रको मम ॥१४॥ एवंविधं बहु तदा विलपन्तं सुदुःखितम् ।१५। पितरं दुःखिततरो गोविन्दो वाक्यमब्रवीत् । न तेन विकृतं वक्त्रं कृतं संग्राममूर्द्धनि ॥१६॥ न पृष्ठतः कृतश्चापि संग्रामस्तेन दुस्तरः ।

जाते ॥ ९ ॥ संग्राममें (मरणके समय) अपनी माता सुभद्राका नाम लेकर उसने क्या कहा था ? हे पुण्डरीकाक्ष ! उस चंचल नेत्रों वाले मेरे प्यारे धेवतेने क्या मेरे लिए भी कुछ कहा था ? १० (मैं समझता हूँ) रणमेंसे पीठ दिखाकर भागतेमें वैरियों ने उसको मारडाला था क्या ? हे गोविन्द ! उसने लडते समय अपना मुख उत्साहहीन तो नहीं किया था ? ॥११॥ क्योंकि– हे कृष्ण ! वह महातेजस्वी मेरे सामने बालभावसे अपने बलकी प्रशंसा किया करता था तथा वह बलवान् अपनी विजयी बातें किया करता था ॥ १२ ॥ मेरी समझमें द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य आदिने तो उसे नहीं मारा होगा ! मारा जाने पर वह पृथ्वी पर किस प्रकार सोरहा था हे कृष्ण! यह बात तुम मुझे सुनाओ१३ वह मेरा धेवता तो द्रोण और भीष्म तथा बलवानोंमें वीर कर्ण की भी रणमें सदा स्पर्धा किया करता था ॥ १४ ॥ अत्यन्त दुःखित होतेहुए श्रीकृष्णने अति विलाप करते और बहुत ही दुःखित होते हुए अपने पितासे यह बात कही, कि–॥ ।१५। संग्रामके मुहाने पर लडते हुए उसने अपना मुख नहीं बिगाडा

निहत्य पृथिवीपालान्सहस्रशतसंघशः ॥ १७ ॥ खेदितो द्रोणकर्णाभ्यां दौःशासनिवशं गतः। एको लोकेन सततं युध्यमानो यदि प्रभो॥१८॥न स शक्येत संग्रामे निहन्तुमपि वज्रिणा। समाहृते च संग्रामात् पार्थे संशप्तकैस्तदा ॥ १९ ॥ पर्यवार्यत संक्रुद्धः स द्रोणादिभिराहवे। ततः शत्रुवधं कृत्वा सुमहान्तं रणे पितः ॥२०॥ दौहित्रस्तव वार्ष्णेय दौःशासनिवशं गतः। नूनं च स गतः स्वर्गं जहि शोकं महामते ॥२१॥ नहि व्यसनमासाद्य सीदन्ति कृतबुद्धयः। द्रोणकर्णप्रभृतयो येन प्रतिसमासिताः ॥२२॥ रणे महेन्द्रप्रतिमाः स कथं नाप्नुयाद्दिवम्। स शोकं जहि दुर्धर्ष मा च मन्युवशं गमः ॥२३॥ शस्त्रपूतां हि स गतिं गतः परपुरञ्जयः। तस्मिंस्तु

था ॥ १६ ॥ जिसका पार पाना कठिन था ऐसे संग्राममें उसने पीठ भी नहीं फेरी थी, उसने सैंकडों और सहस्रों, राजाओंके समूहोंको मार डाला, तब ॥१७॥ द्रोण और कर्णने उसको घेर कर थका डाला, तब दुःशासनके पुत्रने उसको घेरलिया, हे प्रभो! बराबर एकके साथ एक ही लडता होता तो ॥ १८ ॥ संग्राममें वज्रधारी इन्द्र भी उसको नहीं मार सकता था, परन्तु जब संशप्तक अर्जुनको संग्राममेंसे खेंचकर लेगए, तब ॥ १९ ॥ रणमें बड़े क्रोधमें भरेहुए द्रोण आदिने उसको घेरलिया, तो भी हे पिताजी! उसने रणमें बहुतसे शत्रुओंको मारडाला ॥ २० ॥ हे पिताजी! इसके बाद आपका धेवता दुःशासनके पुत्रके हाथमें पडगया (मारागया), वह निःसन्देह स्वर्गमें पहुँचगया है, इस लिये हे महामते! आप शोकको त्यागदीजिये ॥ २१ ॥ क्योंकि-विपत्ति आपडने पर बुद्धिमान् मनुष्य घबडाते नहीं हैं, जिसने रणमें द्रोण, कर्ण आदि इन्द्रकी समान वीरोंके साथ युद्ध किया था, उसको स्वर्ग क्यों नहीं मिलेगा? हे दुर्धर्ष! शोकको त्यागदो और क्रोधके वशमें होना ठीक नहीं है ॥ २२॥ २३॥ शत्रुओंके

निहते वीरे सुभद्रेयं स्वसा मम ॥ २४ ॥ दुःखार्त्ताऽथो सुतं प्राप्य कुररीव ननाद ह । द्रौपदीञ्च समासाद्य पर्यपृच्छत दुःखिता ।२५। आर्ये क्व दारकाः सर्वे द्रष्टुमिच्छामि तानहम् । अस्यास्तु वचनं श्रुत्वा सर्वास्ताः कुरुयोषितः ॥२६॥ भुजाभ्यां परिगृह्यैनां चुक्रुशुः परमार्त्तवत् ॥ २७ ॥ उत्तराञ्चाब्रवीद्भद्रे भर्त्ता स क्व नु ते गतः । क्षिप्रमागमनं मह्यं तस्य त्वं वेदयस्व ह ॥२८॥ ननु नामाद्य वैराटि श्रुत्वा मम गिरं सदा । भवनान्निष्पतत्याशु कस्मान्नाभ्येति ते पतिः ॥२६॥ अभिमन्यो कुशलिनो मातुलास्ते महारथाः । कुशलं चाब्रुवन् सर्वे त्वां युयुत्सुमिहागतम् ॥३०॥ आचक्ष्व मेऽद्य संग्रामं यथापूर्वमरिन्दम । कस्मादेवं विलपतीं नाद्येह प्रतिभाषसे ॥३१॥

नगरोंको जीतनेवाला अभिमन्यु शस्त्रसे पवित्र हुई गतिको प्राप्त हुआ है, जिस समय वीर अभिमन्यु मारागया था, उस समय यह मेरी बहिन सुभद्रा ॥ २४ ॥ दुःखसे घबड़ा उठी और मृत अभिमन्युके पास जाकर कुररीकी समान विलाप करनेलगी और द्रौपदीके पास जा दुःखित होकर बूझनेलगी कि- ।२५।हे आर्ये ! आपके सब लड़के कहाँ हैं, मैं उनको देखना चाहती हूँ, इसकी बातको सुनकर कौरवोंकी सब स्त्रियें ॥ २६ ॥ भुजाओंसे उसकी कौलिया भरकर महादुःखीकी समान रोनेलगीं ।२७। तदनन्तर उत्तराने बूझा,कि-हे भद्रे ! तेरा भर्त्ता कहाँ गया है? उसके आनेका समाचार तू मुझे शीघ्र ही दे ॥ २८ ॥ अरी हे विराटकी पुत्री! मेरा शब्द सुनते ही वह सदा एकदम घरमेंसे बाहर दौड़आता था, वह मेरा पुत्र आज मेरे सामने क्यों नहीं आता ? ॥ २१ ॥ हे अभिमन्यु ! तेरे महारथी मामा तो कुशलसे हैं,जब तू लड़नेके लिये यहाँ आया था तब उन सबोंने तेरी कुशल कही थी॥३०॥ हे शत्रुनाशन ! पहलेकी समान मुझे आजके संग्रामका समाचार सुना, मैं ऐसा विलाप कररही हूँ, तो भी आज मुझसे क्यों नहीं

एवमादि तु वार्ष्णेयास्तस्यास्तत् परिदेवितम् । श्रुत्वा पृथा सुदुःखार्त्ता शनैर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ३२ ॥ सुभद्रे वासुदेवेन तथा सात्यकिना रणे । पित्रा च लालितो बालः स हतः कालधर्म्मणा ३३ ईदृशो मर्त्यधर्मोऽयं मा शुचो यदुनन्दिनि । पुत्रो हि तव दुर्द्धर्षः सम्प्राप्तः परमां गतिम् ॥ ३४ ॥ कुले महति जातासि क्षत्रियाणां महात्मनाम् । मा शुचश्चपलाक्षं त्वं पद्मपत्रनिभेक्षणे ॥ ३५ ॥ उत्तरां त्वमवेक्षस्व गुर्विणीं मा शुचः शुभे । पुत्रमेषा हि तस्याशु जनयिष्यति भाविनी ॥ ३६ ॥ एवमाश्वासयित्वैनां कुन्ती यदुकुलोद्वह । विहाय शोकं दुर्द्धर्षं श्राद्धमस्य ह्यकल्पयत् ॥३७॥ समनुज्ञाप्य धर्मज्ञं राजानं भीममेव च । यमौ यमोपमौ चैव ददौ दानान्यनेकशः ॥ ३८ ॥ ततः प्रदाय बह्वीर्गा ब्राह्मणाय यदू-

---

बोलता ? ३१ वृष्णिवंशकी पुत्रीके इसप्रकारके विलापको सुनकर दुःखसे बहुत ही व्याकुल हुई कुन्तीने धीरेसे यह बात कही ३२ हे सुभद्रे ! श्रीकृष्ण, सात्यकी और पिता अर्जुनका लडैता बालक अभिमन्यु कालवश रणमें मारागया ॥ ३३ ॥ हे यदुनन्दिनी ! मृत्युलोकके मनुष्योंका धर्म ही यह (मरना) है, इसलिये तू शोक न कर, तेरा निर्भय पुत्र परमगतिको पहुँच गया है ॥ ३४ ॥ तू महात्मा क्षत्रियोंके प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित कुलमें उत्पन्न हुई है, इसलिये हे कमलके पत्तेकी समान नेत्रोंवाली ! उस चपल नेत्रों वालेका तू शोक न कर ॥ ३५ ॥ हे शुभे ! तू गर्भिणी उत्तराकी ओरको देख, शोक न कर, क्योंकि यह कल्याणी शीघ्र ही उसके पुत्रको उत्पन्न करेगी ॥३६॥ हे यदुकुलको उठाने वाले ! इसप्रकार उसको धीरज देकर कुन्तीने बड़ेभारी शोकको छोड़कर उसका श्राद्ध करनेका सङ्कल्प किया ॥ ३७ ॥ फिर धर्मको जाननेवाले राजा युधिष्ठिरकी, भीमकी तथा यमराजकी समान नकुल और सहदेवकी संमतिसे अनेकों दान दिये ॥ ३८ ॥ हे यदुवंशको

दुह । समाहूय तु वार्ष्णेयी वैराटीमब्रवीदिदम् ॥ ३६ ॥ वैराटि नेह सन्तापस्त्वया कार्यो ह्यनिन्दिते । भर्तारं प्रति सुश्रोणि गर्भस्थं रक्ष वै शिशुम् ॥ ४० ॥ एवमुक्त्वा ततः कुन्ती विरराम महाद्युते । तामनुज्ञाप्य चैवेमां सुभद्रां समुपानयम् ॥४१॥ एवं स निधनं प्राप्तो दौहित्रस्तव मानद । सन्तापं त्यज दुर्द्धर्ष मा च शोके मनः कृथाः ॥४२॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
वसुदेवसान्त्वने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा तु पुत्रस्य वचः शूरात्मजस्तदा । विहाय शोकं धर्मात्मा ददौ श्राद्धमनुत्तमम् ॥ १ ॥ तथैव वासुदेवश्च स्वस्रीयस्य महात्मनः । दयितस्य पितुर्नित्यमकरोदौर्ध्वदैहिकम् ॥२॥ षष्टिं शतसहस्राणि ब्राह्मणानां महौजसाम् ।

चखानेवाले ! फिर उसने ब्राह्मणोंको बहुतसी गौओंका दान दिया फिर कुन्तीने स्वाभाविक सन्ताप रखकर विराटकी पुत्री उत्तरा से कहा, कि-॥ ३६ ॥ हे निर्दोष उत्तरा ! अब तुझे सन्ताप नहीं करना चाहिये, हे सुन्दर कमरवाली ! अपने पतिके लिये अब तू इस गर्भमेंके रहनेवाले बालककी रक्षाकर ॥४०॥ हे महाकान्तिवाली!ऐसा कहकर कुन्ती चुप होरही, फिर उसकी आज्ञा लेकर इस सुभद्राको मैं यहाँ ले आया हूँ ॥ ४१ ॥ हे मान देने वाले ! इसप्रकार आपके धेवतेका मरण हुआ है, हे दुर्धर्ष ! अब तुम सन्तापको छोड़दो और शोकमें मनको न लेजाओ ॥४२॥ इकसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-अपने पुत्रकी इस बातको सुनकर शूरके पुत्र धर्मात्मा वसुदेवजीने शोकको त्यागकर अभिमन्युके लिये परम श्रेष्ठ श्राद्ध किया ॥ १ ॥ और श्रीकृष्णने भी अपने पिताके परमप्यारे, अपनी बहिनके पुत्र महात्मा अभिमन्युका श्राद्ध किया ॥ २ ॥ बड़े तेजस्वी साठ सौ हजार (६०,००,०००,)

विधिवद्भोजयामास भोज्यं सर्वगुणान्वितम् ॥ ३ ॥ आच्छाद्य च महाबाहुर्धनतृष्णामपानुदत् । ब्राह्मणानां तदा कृष्णस्तदभूल्लोमहर्षणम् ॥ ४॥ सुवर्णश्चैव गाश्चैव शयनाच्छादनं तथा । दीयमानं तदा विप्रा वर्द्धतामिति चाब्रुवन् ॥ ५ ॥ वासुदेवोऽथ दाशार्हो बलदेवः ससात्यकिः। अभिमन्योस्तदा श्राद्धमकुर्वन सत्यकस्तदा६ अतीव दुःखसन्तप्ता न शर्म चोपलेभिरे । तथैव पांडवा वीरा नगरे नागसाह्वये ॥ ७ ॥ नोपागच्छन्त वै शान्तिमभिमन्युविनाकृताः । सुबहूनि च राजेन्द्र दिवसानि विराटजा ॥ ८ ॥ नाभुंक्त पतिदुःखार्त्ता तदाभूत् करुणं महत् । कुक्षिस्थ एव तस्याथ गर्भो वै संप्रलीयते ॥ ९ ॥ आजगाम ततो व्यासो ज्ञात्वा दिव्येन चक्षुषा । समागम्याब्रवीद्धीमान् पृथां पृथुललोचनाम् ॥ १० ॥ उत्तरां च महातेजाः शोकः सन्त्यज्यतामयम् । भविष्यति महातेजाः पुत्र-

---

ब्राह्मणोंको विधि पूर्वक सकल गुणवाले भोजन जिमाये ॥ ३ ॥ और उन महाबाहु श्रीकृष्णने वस्त्र उढाकर ब्राह्मणोंकी धनकी तृष्णा दूरकी, उस समय हर्षसे उनके रोमाञ्च खड़े हो गये॥४॥ सुवर्ण, गौएँ, पलँग और चादरें दीगई, उस समय ब्राह्मण बोल उठे, कि-वृद्धि हो ॥ ५ ॥ तदनन्तर दशार्हवंशी श्रीकृष्णने, बलदेवने, सात्यकीने और सत्यकने भी अभिमन्युका श्राद्ध किया ६ परन्तु दुःखसे महासन्ताप पाते हुए उनको शान्ति नहीं मिली, उधर प्रसिद्ध हस्तिनापुरमें, जिनको अभिमन्युका वियोग होगया था ऐसे वीर पांडवोंको भी शान्ति नहीं मिली हे राजेन्द्र! विराट की पुत्री उत्तराने बहुत दिनोंतक॥७-८॥पतिके मरणसे दुःखित हो पीडा पाकर कुछ नहीं खाया, उसकी दशाको देखकर दया आती थी और उसकी कोखमेंका गर्भ क्षीण होने लगा ॥९॥ तब इस बातको दिव्य नेत्रसे देखकर व्यासजी तहाँ आए, वह बुद्धिमान् तहाँ आकर विशालनयना कुन्तीसे मिले ॥ १० ॥ और

स्तत्र यशस्विनि ॥ ११ ॥ प्रभावाद्वासुदेवस्य मम व्याहरणादपि।
पाण्डवानामयं चान्ते पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ १२ ॥ धनञ्जयञ्च
संप्रेक्ष्य धर्म्मराजस्य शृण्वतः । व्यासो वाक्यमुवाचेदं हर्षयन्निव
भारत ॥ १३ ॥ पौत्रस्तव महाभागो जनिष्यति महामनाः ।
पृथ्वीं सागरपर्य्यन्तां पालयिष्यति धर्म्मतः ॥ १४ ॥ तस्माच्छोकं
कुरुश्रेष्ठ जहि त्वमरिकर्षण । विचार्य्यमत्र न हि ते सत्यमेतद्भ-
विष्यति ॥ १५ ॥ यच्चापि वृष्णिवीरेण कृष्णेन कुरुनन्दन ।
पुरोक्तं तत्तथा भावि मा तेऽस्तु विचारणा ॥ १६ ॥ विबु-
धानां गता लोकानक्षय्यमात्मनिर्ज्जितान् । न स शोच्यस्त्वया
वीरो न चान्यैः कुरुभिस्तथा ॥ १७ ॥ एवं पितामहेनोक्तो धर्मात्मा
स धनञ्जयः । त्यक्त्वा शोकं महाराज हृष्टरूपोऽभवत्तदा ॥१८॥

उन महातेजस्वीने उत्तरासे कहा, कि—तू इस शोकको छोड़दे, हे यशस्विनी ! तेरा यह पुत्र महातेजस्वी होगा ॥११॥ श्रीकृष्ण के प्रभावसे और मेरी संमतिसे पांडवोंके बाद यह पृथिवीकी रक्षा करेगा ॥१२॥ हे भारत ! फिर अर्जुनकी ओरको देखकर धर्म-राजको सुनाते हुए व्यासजीने हर्ष उपजानेवाली यह बात कही कि—॥ १३ ॥ यह तेरा पोता बड़ा भाग्यशाली और मानवाला होगा, यह धर्मानुसार समुद्ररूप मर्यादावाली पृथिवीकी रक्षा करेगा ॥ १४ ॥ इसलिए हे कुरुश्रेष्ठ ! हे वैरिविनाशक ! तू शोक को त्याग दे, इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है, यह सत्य ही होगा ॥१५॥ और हे कुरुनन्दन ! वृष्णियोंके वीर श्रीकृष्णने पहले जैसा कहदिया है वैसा ही होगा, इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है ॥१६॥ यह स्वयं प्राप्त किये हुए देवताओंके अवि-नाशी लोकोंमें गया है, उस वीरके लिये तुझे या किसी दूसरे कुरुवंशीको शोक नहीं करना चाहिये ॥ १७ ॥ हे महाराज ! धर्मात्मा धनञ्जयसे पितामह (व्यासदेव) ने कहा, तब उसने शोकको त्यागदिया और आनन्दी बनगया ॥ १८ ॥ हे धर्मको

पितापि तत्र धर्म्मज्ञ गर्भे तस्मिन्महामते । अवर्द्धत यथाकामं शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १९ ॥ ततः संचोदयामास व्यासो धर्मात्मजं नृपम् । अश्वमेधं प्रति तदा ततः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ।२०। धर्म्मराजोऽपि मेधावी श्रुत्वा व्यासस्य तद्वचः । वित्तस्यानयने तात चकार गमने मतिम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि व्यासवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

जनमेजय उवाच । श्रुत्वैतद्वचनं ब्रह्मन् व्यासेनोक्तं महात्मना । अश्वमेधं प्रति तदा किं भूयः प्रचचार ह ॥१॥ रत्नञ्च यन्मरुत्तेन निहितं वसुधातले । तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ॥२॥ वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्म्मराजो युधिष्ठिरः । भ्रातॄन् सर्वान् समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ।।३।। अर्जुनं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ यमावपि । श्रुतं वो वचनं वीराः सौहृदात्

जाननेवाले महामते ! तेरा पिता भी उस गर्भमें इच्छानुसार जैसे शुक्ल पक्षमें चन्द्रमा बढता है तैसे बढनेलगा ॥१९॥ फिर व्यास जीने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको अश्वमेध यज्ञ करनेके लिये प्रेरणा की और फिर वह उसी समय अन्तर्धान होगए ॥ २० ॥ बुद्धिमान् धर्मराजने भी व्यासजीकी बात सुनकर हे तात ! धनको लानेका विचार किया ॥२१॥ बासठवाँ अध्याय समाप्त ॥६२॥

जनमेजयने कहा, कि–हे ब्रह्मन् ! व्यासजीकी कही हुई इस बातको सुनकर अश्वमेधके लिये उन महात्मा युधिष्ठिरने फिर क्या किया ? ॥१॥ और हे द्विजवर! इस पृथिवी पर मरुत्तने जो रत्न डालदिये थे उनको धर्मराजने कैसे पाया यह मुझे सुनाओ२ वैशम्पायन कहते हैं, कि–व्यासजीकी बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने सब भाइयोंको तुरन्त बुलाया और यह बात कही॥ ३ ॥ अर्जुनको, भीमको और माद्रीके दोनों पुत्र नकुल सहदेवको भी

यन्महात्मना ॥ ४ ॥ कुरूणां हितकामेन प्रोक्तं कृष्णेन धीमता ।
तपोवृद्धेन महता सुहृदां भूतिमिच्छता ॥ ५ ॥ गुरुणा धर्म्मशीलेन
व्यासेनाद्भुतकर्म्मणा । भीष्मेण च महाप्राज्ञ गोविन्देन च धीमता॥६॥
संस्मृत्य तदहं सम्यक् कर्त्तुमिच्छामि पाण्डवाः । आयत्यां च तदा-
त्वे च सर्वेषां तद्धि नो हितम् ॥७॥ अनुबन्धे च कल्याणं यद्वचो
ब्रह्मवादिनः । इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः ॥ ८ ॥
तच्चाचष्ट तदा व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः । यद्येतद्वो बहुमतं मन्यध्वं
वा क्षमं यदि ॥ ९ ॥ तथा यथाह धर्मेण कथं वा भीम मन्यसे ।
इत्युक्तवाक्ये नृपतौ तदा कुरुकुलोद्वह ॥ १० ॥ भीमसेनो नृपश्रेष्ठं
प्रांजलिर्वाक्यमब्रवीत् । रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया ११

बुलाया तथा यह बात कही, कि–हे वीरों ! मित्रभावसे उन
महात्मा कृष्णकी बात तुमने सुनी ही है ॥ ४ ॥ कुरुओंका हित
करनेकी इच्छासे बुद्धिमान् कृष्णने और मित्रोंका हित चाहनेवाले
हमारे वडे तपस्यासे भी वृद्ध हुए ॥ ५ ॥ गुरु और धर्मात्मा
व्यासने तथा अद्भुत पराक्रम करनेवाले भीष्मजीने और हे महामते!
बुद्धिमान् गोविन्दने (जो बात कही थी वह तुमने सुनी ही है) ।६।
हे पाण्डवों ! उस बातकी बार २ याद आनेसे मैं उसका ठीक२
पालन करना चाहता हूँ, ऐसा करनेसे आगेको सबका हित
होगा ॥७॥ उन ब्रह्मवादियोंकी बातको माननेमें हमारा कल्याण
है, हे कुरुकुलको चलानेवालों ! यह सब पृथिवी रत्नहीन होगई
है ॥ ८ ॥ हे राजाओं ! ऐसे समयमें व्यासजीने मरुत्तके धनकी
बात कही है, इस बहुतोंकी मानीहुई बातको तुम उचित समझो
तो मानलो ॥ ९ ॥ फिर धर्मराजने यह बात कही, कि–
हे भीम ! तेरा क्या विचार है ? हे कुरुवंशी जनमेजय ! धर्मराजने
यह बात कही ॥ १० ॥ तब राजाओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे भीम-
सेनने हाथ जोडकर यह बात कही, कि–हे महाबाहो! धन लानेके

व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति । यदि तत् प्राप्नुयामेह धनमाविक्षितं प्रभो ॥ १२ ॥ कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम । ते वयं प्रणिपातेन गिरिशस्य महात्मनः ॥ १३ ॥ तदानयाम भद्रन्ते समभ्यर्च्य कपर्दिनम् । तद्द वित्तं देवदेवेशं तस्यैवानुचरांश्च तान् ॥१४॥ प्रसाद्यार्थमवाप्स्यामो नूनं वाग्बुद्धिकर्मभिः । रक्षन्ति ये च तद्द द्रव्यं किन्नरा रौद्रदर्शनाः ॥ १५ ॥ ते च वश्या भविष्यन्ति प्रसन्ने वृषभध्वजे । श्रुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत ॥१६॥ प्रीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव भारत । अर्जुन-प्रमुखाश्चापि तथेत्येवाब्रुवन् वचः ॥ १७ ॥ कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम् । सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ॥१८॥ ततो ययुः पाण्डुसुता ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च । अर्चयित्वा

विषयमें तुमने व्यासजीकी कही हुई जो बात कही है वह मुझे अच्छी मालूम होती है, हे प्रभो! राजा मरुत्तके धनको यदि हम यहाँ ले आवें तो हे महाराज!मेरी समझमें काम हुआ ही समझिये, उन महात्मा गिरीश शिवको प्रणाम करके हमें वह धन लेनेको जाना चाहिये; शिवका पूजन करके लाया हुआ वह धन आपका कल्याण करेगा, देवदेव शिवको और उनके ही अनुचरों को ॥ ११-१४ ॥ वाणी, बुद्धि और कर्मसे प्रसन्न करके हम उस धनको प्राप्त करेंगे और भयङ्कर मूर्त्तिवाले किन्नर जो उस धनकी रक्षा करते हैं वे भी ॥ १५ ॥ वृषभध्वज शिवके प्रसन्न होनेसे वशमें होने योग्य बनजायँगे, हे भारत ! ऐसा कहने वाले भीमकी बात सुनकर ॥ १६ ॥ धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हे भारत! बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुन आदिने भी कहा, कि ऐसा ही होना चाहिये ॥ १७ ॥ (इसप्रकार) सब पाण्डवोंने रत्नोंको लानेका निश्चय करके ध्रुव नक्षत्र और ध्रुव दिनमें सेनाको तयार होनेकी आज्ञा दी ॥ १८ ॥ फिर ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया और

सुरश्रेष्ठं पूर्वमेव महेश्वरम् ॥ १६॥ मोदकैः पायसेनाथ मांसापूपैस्तथैव च। आशास्य च महात्मानं मययुर्मुदिता भृशम् ॥ २० ॥ तेषां प्रयास्यतां तत्र मङ्गलानि शुभान्यथ। प्राहुः प्रहृष्टमनसो द्विजाग्र्याः नागराश्च ते ॥२१॥ ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च। ब्राह्मणानग्निसहितान् प्रययुः पांडुनन्दनाः ॥ २२ ॥ समनुज्ञाप्य राजानं पुत्रशोकसमाहतम्। धृतराष्ट्रं सभार्य्यं वै पृथाञ्च पृथुलोचनाम् ॥ २३ ॥ मूले निक्षिप्य कौरव्यं युयुत्सुं धृतराष्ट्रजम्। सम्पूज्यमानाः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च मनीषिभिः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्यानयनोपक्रमे त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

वैशम्पायन उवाच। ततस्ते प्रययुर्हृष्टाः प्रहृष्टनरवाहनाः। रथ-

पहले देववर शिवका पूजन करके पाण्डव चलदिये ॥ १६ ॥ लड्डू, दूधपाग और मांसके पुए देकर उन महात्माकी शान्तिकी और अति आनन्दयुक्त मनसे वे शीघ्रताके साथ चल दिये ॥ २० ॥ वे यात्रा कररहे थे, उस समय अगवानी द्विजोंने तथा पुरवासियोंने प्रसन्न मनसे मङ्गलकारी शुभ वचन कहे ॥ २१ ॥ फिर पाण्डवोंने अग्निके साथ आये हुए ब्राह्मणोंकी प्रदक्षिणा करके शिर झुकाकर प्रणाम किया और फिर बिदा होगए ॥ २२ ॥ फिर पुत्रोंके शोकसे मृतक समान हुए राजा धृतराष्ट्रके पास जा उनकी, उनकी स्त्री गान्धारीकी तथा विशालनयना कुन्ती की आज्ञा ली ॥२३॥ फिर कुरुवंशी धृतराष्ट्रके पुत्र युयुत्सुको उसके पिता (धृतराष्ट्र) के पास छोड़ कर पुरवासी और विद्वान् ब्राह्मणोंसे सत्कार पाते हुए वे चल-दिये ॥ २४ ॥ तरेसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-फिर प्रसन्नमन मनुष्य और वाहनों वाले वे आनन्द पातेहुए रथोंकी घरघराहटसे पृथिवीको भरते

घोषेण महता पूरयन्तो वसुन्धराम् ॥१॥ संस्तूयमानाः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः । स्वेन सैन्येन सम्वीता यथादित्याः स्वरश्मिभिः ॥ २ ॥ पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्द्धनि । बभौ युधिष्ठिरस्तत्र पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥ ३ ॥ जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः । प्रत्यगृह्णाद्यथान्यायं यथावत् पुरुषर्षभः॥४॥ तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये । तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा व्यतिष्ठत ॥५॥ सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च । अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत ॥ ६ ॥ तस्मिन् देशे च राजेन्द्र यत्र तत् द्रव्यमुत्तमम् । चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः । शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम ।७। अग्रतो ब्राह्मणान् कृत्वा तपोविद्यादमान्वितान् । पुरोहितं च कौरव्य वेदवेदाङ्गपारगम् । आग्निवेश्यं च राजानो ब्राह्मणाः सपुरो-

---

हुए चलदिये ॥ १ ॥ अपनी किरणोंसे घिरेहुए आदित्योंकी समान वे, स्तुति कियेजातेहुए, अपनी सेनासे घिरेहुए थे॥ २ ॥ शिरपर लगेहुए श्वेत छत्रसे राजा युधिष्ठिर ऐसे शोभायमान होरहे थे, जैसे पूर्णिमाके दिन चन्द्रमा शोभा पाता है ॥ ३॥ वह पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर मार्गमें उचित रीतिसे यथावत् लोगोंके आशीर्वाद ग्रहण करते और आनन्द पाते हुए गये ॥४॥ तथा हे राजन् ! जो सेना उनके पीछे २ आरही थी, उसमेंके सैनिकोंका कोलाहल शब्द आकाशमें भरकर गूँज रहा था ॥५॥ सरोवर, नदियें, वन और उपवनोंको लाँघकर महाराज युधिष्ठिर उस पर्वतके पास आपहुँचे ॥६॥ हे राजेन्द्र ! वहाँ जिस भागमें वह श्रेष्ठ द्रव्य था, तहाँ राजा युधिष्ठिरने अपने सैनिकोंके सहित पड़ाव डालदिया ॥ ७ ॥ हे भरतसत्तम ! वह भाग कल्याणकारी और सपाट था, हे कुरुवंशी ! तहाँ विद्या और दम (जितेन्द्रियपना) वाले ब्राह्मणोंको तथा वेद और वेदाङ्गोंके पारङ्गत धौम्य नामक पुरो-

घसः ॥८॥ कृत्वा शान्तिं यथान्यायं सर्वशः पर्यवारयन् । कृत्वा तु मध्ये राजानममात्यांश्च यथा विधि ॥ ६ ॥ षट्पदं नवसंख्यानं निवेशं चक्रिरे द्विजाः । मत्तानां वारणेन्द्राणां निवेशश्च यथाविधि१० कारयित्वा स राजेंद्रो ब्राह्मणानिदमब्रवीत् । अस्मिन्कार्ये द्विजश्रेष्ठा नक्षत्रे दिवसे शुभे ॥ ११ ॥ यथा भवन्तो मन्यन्ते कर्तुमर्हन्ति तत्तथा । न नः कालात्ययो वै स्यादिहैव परिलम्बताम् ॥ १२ ॥ इति निश्चित्य विप्रेन्द्रा क्रियतां यदनन्तरम् । श्रुत्वैतद्वचनं राज्ञो ब्राह्मणाः सपुरोधसः । इदमूचुर्वचो हृष्टा धर्मराजप्रियेप्सवः ।१३। अद्यैव नक्षत्रमहश्च पुण्यं यतामहे श्रेष्ठतमक्रियासु । अम्भोभिरद्येह वसाम राजन्नुपोष्यतां चापि भवद्भिरद्य॥ १४ ॥ श्रुत्वा तु तेषां द्विजसत्तमानां कृतोपवासा रजनीं नरेन्द्राः । ऊषुः प्रतीताः

हितको आगे करके राजे, ब्राह्मण और पुरोहितोंने राजा युधिष्ठिर और उनके मंत्रियोंको बीचमें करके चारों ओरसे घिरकर विधिपूर्वक शान्ति की ॥ ८ ॥ ६ ॥ फिर ब्राह्मणोंने छः मार्ग और नौ चौकवाली छावनी बनाई तथा उत्तम हाथियोंकी छावनी भी विधिपूर्वक बनायी, तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंसे यह बात कही, कि—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! इस कामके लिये शुभ नक्षत्र और शुभ दिन देखकर आप जैसा करना उचित समझें वैसा करें, यहाँ प्रतीक्षामें हमें बहुतसा समय नहीं बिता देना चाहिये ॥ १०–१२ ॥ ऐसा निश्चय करके अब जो करना हो उसका आरम्भ करदो, राजाकी इस बातको सुनकर धर्मराजका प्रिय चाहनेवाले, प्रसन्न हुए पुरोहित सहित ब्राह्मणोंने यह वचन कहे ॥ १३ ॥ आज ही पुण्य नक्षत्र है और आज ही पुण्य दिन है, इसलिये आज ही उत्तम क्रियायें करना आरम्भ करेंगे, हे राजन् ! आज हम जल पीकर रहेंगे और आपको आज उपवास करना चाहिये ॥ १४ ॥ उन उत्तम

कुशसंस्तरेषु यथाध्वरे प्रज्वलिता हुताशाः ॥ १५ ॥ ततो निशा सा व्यगमन्महात्मनां संश्रृण्वतां विप्रसमीरिता गिरः । ततः प्रभाते विमले द्विजर्षभा वचोऽब्रुवन् धर्म्मसुतं नराधिपम् ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि द्रव्योपनयनोपक्रमे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः । क्रियतामुपहारोऽस्य त्र्यम्बकस्य महात्मनः । दत्त्वोपहारं नृपते ततः स्वार्थे यतामहे ॥ १ ॥ श्रुत्वा तु वचनं तेषां ब्राह्मणानां युधिष्ठिरः । गिरिशस्य यथा न्यायमुपहारमुपाहरत् ॥ २ ॥ आज्येन तर्पयित्वाग्निं विधिवत् संस्कृतेन च । मंत्रसिद्धं चरुं कृत्वा पुरोधाः स ययौ तदा ॥ ३ ॥ स गृहीत्वा सुमनसो मन्त्रपूता जनाधिप । मोदकैः पायसेनाथ मांसैश्चोपाहरद्बलिम् ॥४॥ सुमनोभिश्च चित्राभिर्लाजैरुच्चावचैरपि । सर्वं स्विष्ट-

ब्राह्मणोंकी बातको सुनकर उन राजाओंने उस रातमें उपवास किया और यज्ञमें प्रज्वलित अग्निकी समान कुशकी शय्या पर वे श्रद्धाके साथ सोरहे ॥ १५ ॥ उन महात्माओंको, ब्राह्मणोंकी ब्राह्मणोंकी कही हुई बातें सुनतेर वह रात्रि बीतगई और जब निर्मल प्रभात होगया उस समय उन उत्तम ब्राह्मणोंने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे यह बात कही॥१६॥चौंसठवाँ अध्याय समाप्त॥६४॥

ब्राह्मणोंने कहा, कि-हे राजन् ! आज महात्मा शिवको नैवेद्य अर्पण करें, उनको उपहार देकर फिर हम अपने स्वार्थके लिये उद्योग करेंगे॥१॥ युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणोंकी इस बातको सुनकर शङ्करको शास्त्रकी विधिसे नैवेद्य अर्पण किया ॥२॥ तब संस्कार से पवित्र किये हुए घीके द्वारा विधि पूर्वक अग्निको तृप्त करके तथा मंत्रोंसे सिद्ध कियाहुआ चरु लेकर पुरोहित धौम्य गए ३ हे राजन् ! उन्होंने मंत्रोंसे पवित्र किये हुए फूल लेकर मोदक, क्षीरपाक और मांसकी बलि दी ॥४॥ भाँतिरके फूलोंसे,अक्षतोंसे

तमं कृत्वा विधिवद्वेदपारगः ॥ ५ ॥ किङ्कराणां ततः पश्चाच्चकार बलिमुत्तमम् । यक्षेन्द्राय कुबेराय मणिभद्राय चैव ह ॥ ६ ॥ तथान्येषाञ्च यक्षाणां भूतानां पतयश्च ये । कृसरेण च मांसेन निवापैस्तिलसंयुतैः ॥ ७ ॥ ओदनं कुम्भशः कृत्वा पुरोधाः समुपाहरत् । ब्राह्मणेभ्यः सहस्राणि गवां दत्वा तु भूमिपः ॥ ८ ॥ नक्तञ्चराणां भूतानां व्यादिदेश बलिं तदा । धूपगन्धनिरुद्धं तत् सुमनोभिश्च सम्वृतम् ॥ ९ ॥ शुशुभे स्थानमत्यर्थं देवदेवस्य पार्थिव । कृत्वा पूजां तु रुद्रस्य गणानाञ्चैव सर्वशः ॥ १० ॥ ययौ व्यासं पुरस्कृत्य नृपो रत्ननिधिं प्रति । पूजयित्वा धनाध्यक्षं प्रणिपत्याभिवाद्य च ॥ ११ ॥ सुमनोभिर्विचित्राभिरपूपैः कृसरेण च । शंखादींश्च निधीन् सर्वान् निधिपालांश्च सर्वशः ॥ १२ ॥ अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान् स स्वस्तिवाच्य च वीर्यवान् तेषां पुण्याह-

वेदके पारगामी पुरोहितने विधिके साथ सब पूजन बड़ी उत्तमतासे किया ॥ ५ ॥ फिर उन्होंने महादेवके गणोंको उत्तम बलि दिया, यक्षोंके राजा कुबेरको, मणिभद्रको ॥६॥ तथा भूतोंके और यक्षों के जो दूसरे स्वामी थे उनको खिचड़ी मांस और तिलमिला जल ॥७॥ और राँधा हुआ भात घड़े भर२कर पुरोहितने दिया और राजा युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको हजारों गौयें देकर ॥ ८ ॥ रात्रिमें फिरनेवाले भूतोंको बलिदान देनेकी आज्ञा दी, धूप और गन्धसे घिरा हुआ तथा पुष्पोंसे छाया हुआ ॥९॥ देवोंके देव (शिव) का वह स्थान हे राजन्! बड़ा ही दिपने लगा, फिर रुद्र की तथा उनके सब गणोंकी पूजा करके ॥ १० ॥ व्यासजीको आगे करके राजा युधिष्ठिर रत्नोंके ढेरकी ओरको गए तहाँ कुबेर की पूजा और उनको वन्दन प्रणाम करके ॥ ११ ॥ तथा भाँतिर के फूल, पुए और खिचड़ीसे शंख आदि निधियों की और उनके सब रक्षकोंकी तथा श्रेष्ठ द्विजोंकी पूजा करके उनसे

घोषेण तेजसा समवास्थितः ॥ १३ ॥ प्रीतिमान् स कुरुश्रेष्ठः
खानयामास तद्धनम्।ततः पात्रीः सकरका बहुरूपा मनोरमाः॥१४
भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान् वर्द्धमानकान्। बहूनि च विचित्राणि
भाजनानि सहस्रशः ॥ १५ ॥ उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधि-
ष्ठिरः। तेषां रत्नग्रमप्यासीन्महान् करपुटस्तदा ॥ १६ ॥ तद्वं च
भाजनं राजन् तुलार्द्धमभवन्नृप। वाहनं पाण्डुपुत्रस्य तत्रासीत्तु
विशाम्पते ॥ १७ ॥ षष्टिरुष्ट्रसहस्राणि शतानि द्विगुणा हयाः।
वारणाश्च महाराज सहस्रशतसम्मिताः॥१८॥ शकटानि रथश्चैव
तावदेव करेणवः। खराणां पुरुषाणां च परिसंख्या न विद्यते १६
एतद्वित्तं तदभवद्यदुद्दध्रे युधिष्ठिरः। षोड़शाष्टौ चतुर्विंशसहस्रं

स्वस्ति कहलाया (आशीर्वाद लिया) फिर उनके पुण्याहघोष (पवित्र वेदमंत्रोंकी पुकारों) से और उनके तेजसे उत्तम दशाको प्राप्त हुए उन वीर्यवान् तथा प्रसन्न हुए कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस धनको खुदवाना आरम्भ करदिया, फिर सुन्दर और अनेकों घाटके बहुत बडे आकारके तोले, छोटी कलसियें ॥ १३-१४ ॥ गडुए, कढाव, कलश, कटोरे और भाँति २ के अनेकों सहस्र पात्र ॥ १५ ॥ धर्मराज युधिष्ठिरने खुदवाकर निकलवाये और उनके ऊपर ढकनेके वडे २ ढक्कन भी थे ।१६। और हे राजन्। वे पात्र बाँध २ कर बैंगियोंमें भरवादिये और हे राजन् ! तहाँ राजा युधिष्ठिरके साथ ढोनेको वाहन भी थे ॥१७॥ साठ हजार ऊँट, एक लाख बीस हजार घोड़े तथा हे महाराज ! एक लाख हाथी थे ॥ १८ ॥ इतने ही रथ, इतने ही छकड़े और इतनी ही हथिनियें थीं तथा खच्चर और मनुष्योंकी तो गिनती ही नहीं थी ॥ १६ ॥ युधिष्ठिरने जो धन खुदवाकर निकलवाया वह भी इतना अधिक था, कि-एक २ ऊँट पर आठ २ हजार, एक २ छकड़ेमें सोलह २ हजार और एक २ हाथी पर चौबीस२हजार

भारलक्षणम् ॥२०॥ एतेभ्यादाय तद्द्रव्यं पुनरभ्यर्च्य पाण्डवः।
महादेवं प्रतिययौ पुरं नागाह्वयं प्रति ॥ २१ ॥ द्वैपायनाभ्यनुज्ञातः
पुरस्कृत्य पुरोहितम् । गोयुते गोयुते चैव न्यवसत् पुरुषर्षभः २२
सा पुराभिमुखी राजन्नुवाह महती चमूः। कृच्छ्राद् द्रविणभारार्त्ता
हर्षयन्ती कुरुद्वहान् ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
सुवर्णकोपसम्प्राप्तौ पंचषष्टितमोऽध्यायः ॥६५॥

वैशम्पायन उवाच । एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्य्यवान् । उपायाद् वृष्णिभिः सार्द्धं पुरं वारणसाह्वयम् ॥१॥ समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः । यथोक्तो धर्मपुत्रेण प्रव्रजन् स्वपुरीं प्रति ॥ २ ॥ रौक्मिणेयेन सहितो युयुधानेन चैव हि । चारुदेष्णेन शाम्बेन गदेन कृतवर्मणा ॥३॥ सारणेन च वीरेण

भार सोना लादागया था ॥२०॥ यह सब धन वाहनों पर लदवाकर और महादेवजीकी फिर पूजा करके राजा युधिष्ठिर हस्तिनापुरको लौट चले ।२१। हे पुरुषसत्तम! उन्होंने द्वैपायन व्यासजीकी आज्ञा ली, पुरोहित धौम्यको आगे किया और एक २ गोयुत (दिनभरमें बैलोंकी जोट जितना जासकती है उतनी २ दूरी) पर मुकाम करते हुए चले आये ॥ २२॥ और हे राजन्! नगरकी ओरको मुख कियेहुए वह बडी भारी सेना कुरुवंशके बढाने वालों (पाण्डवों) को प्रसन्न करती हुई तथा धनके बोझसे पिचती २ बडी कठिनतासे चलरही थी ।२३। पैंसठवाँ अध्याय समाप्त ।६५।

वैशम्पायन कहते हैं, कि–इतने समयमें वीर्यवान् श्रीकृष्ण भी वृष्णियोंके सहित हस्तिनापुरमें आपहुँचे ॥ १ ॥ द्वारकाको जाते समय उनसे युधिष्ठिरने कहदिया था, उसके अनुसार अश्वमेध का समय आया जानकर वह पुरुषोत्तम वहाँ आगये ॥ २ ॥ उनके साथ रुक्मिणीका पुत्र (प्रद्युम्न) युयुधान, चारुदेष्ण, शाम्ब,

निशठेनोल्मुखेन च । बलदेवं पुरस्कृत्य सुभद्रासहितस्तदा ॥४॥ द्रौपदीमुत्तरां चैव पृथां चाप्यवशोककः । समाश्वासयितुं चापि क्षत्रिया निहतेश्वराः ॥ ५ ॥ तानागतान् समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः । मत्यगृह्णाद्यथान्यायं विदुरश्च महामनाः ॥ ६ ॥ तत्रैव न्यवसत् कृष्णः स्वर्चितः पुरुषोत्तमः । विदुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना ॥७॥ वसत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय । जज्ञे तव पिता राजन् परिक्षित् परवीरहा ॥ ८ ॥ स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणावपीडितः । शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्द्धनः॥६॥ हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निःस्वनः । प्रविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत् ॥१०॥ ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तः-

गद, कृतवर्मा ॥३॥ वीर सारण, निशठ, और उल्मुक थे, बलदेवजी आगे२ आये और साथमें सुभद्रा भी थी ॥ ४ ॥ ये सब द्रौपदी, उत्तरा तथा कुन्तीसे आकर मिले और जिनके पति मारे गए थे, उन क्षत्रियोंकी स्त्रियोंसे उनको धीरज देनेके लिये मिले ॥ ५ ॥ उनको आए हुये देखकर राजा धृतराष्ट्रने तथा महामना विदुरने उनका यथोचित स्वागत किया ॥ ६ ॥ उत्तम पूजनको प्राप्त हुए, पुरुषोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीकृष्ण तहाँ ही विदुर और युयुत्सुके साथ रहे ॥ ७ ॥ हे जनमेजय ! इसप्रकार वृष्णियोंके वीर तहाँ आकर रहने लगे, उसी समय वैरियोंका नाश करनेवाले तेरे पिता राजा परीक्षितका जन्म हुआ ॥ ८ ॥ हे महाराज ! अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे पीडित हुआ वह राजा हर्ष और शोकको बढानेवाला, चेतनाशून्य शवरूप हुआ ॥ ६ ॥ (उसके जन्मसे) तहाँ प्रसन्न हुये मनुष्योंका सिंहकी समान बड़ा भारी कोलाहल हुआ और वह सब दिशाओंमें फैलकर फिर शान्त होगया ॥ १० ॥ यह समाचार सुनकर जिनके मन और इन्द्रियोंको पीडा पहुँची थी ऐसे श्रीकृष्ण तत्काल युयुधानके

पुरं तदा। युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः ॥ ११ ॥ ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम्। क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः ॥१२॥ पृष्ठतो द्रौपदीश्चैव सुभद्रां च यशस्विनीम्। सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप ॥ १३ ॥ ततः कृष्णं समासाद्य कुन्तिभोजसुता तदा। प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा ॥ १४ ॥ वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया। त्वन्नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम् ॥ १५ ॥ यदुप्रवीर योऽयन्ते स्वस्रीयस्यात्मजः प्रभो। अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ॥ १६ ॥ त्वया ह्येतत् प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन। अहं सञ्जीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो॥१७। सोयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ। उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव॥१८॥

सहित झपटे हुये अन्तःपुरमें चले गये ॥ ११ ॥ वहाँ उन्होंने 'दौड़ो, दौड़ो' ऐसा कहकर वारंवार अपने आपको पुकारती और झपट कर आती हुई अपनी फुआ कुन्तीको देखा॥१२॥हे राजन्! उनके पीछेद्रौपदी और कीर्त्तिमती सुभद्रा तथा पाडवोंकी दूसरी स्त्रियें भी करुणाभरे स्वरमें चिल्ला रही थीं ॥ १३ ॥ हे राजसिंह!फिर भोजकी पुत्री कुन्तीने श्रीकृष्णके मिलते ही आँसुओं सहित गद् गद वाणीमें जोरसे कहा, कि-॥१४॥ हे वासुदेव! हे महाबाहो! आपके कारण देवकी सुपुत्रवती मानी जाती है,तुम ही हमारी गति और प्रतिष्ठा हो और यह हमारा कुल तुमसेही है ॥१५॥ हे यदुवंशी वीर! हे प्रभो! यह तुम्हारे भानजेका पुत्र अश्वत्थामाका नष्ट किया हुआ जन्मा है, हे केशव! तुम इसको जीवित करो १६ क्योंकि हे यदुनन्दन! हे प्रभो (अश्वत्थामाने) सींकका ब्रह्मास्त्र चलाया था, तब तुमने प्रतिज्ञा की थी, कि-यदि यह मराहुआ भी उत्पन्न होगा तो मैं इसको जीवित कर दूँगा ॥ १७॥ हे पुरुषसत्तम! हे तात! तुम देखलो यह तो मरा

धर्मपुत्रञ्च भीमं च फाल्गुनं नकुलं तथा । सहदेवं च दुर्धर्षं सर्वा-
न्नस्त्रातुमर्हसि ॥ १९ ॥ अस्मिन् प्राणाः समायत्ताः पाण्डवानां
मयैव च । पाण्डोश्च पिण्डो दाशार्ह तथैव श्वशुरस्य मे ॥ २० ॥
अभिमन्योश्च भद्रं ते प्रियस्य सदृशस्य च । प्रियमुत्पादयाद्य त्वं
प्रेतस्यापि जनार्दन ॥२१॥ उत्तरा हि पुरोक्तं वै कथयत्यरिसूदन।
अभिमन्योर्वचः कृष्ण प्रियत्वात्तन्न संशयः ॥ २२ ॥ अब्रवीत्
किल दाशार्ह वैराटीमार्जुनिस्तदा । मातुलस्य कुलं भद्रे तव पुत्रो
गमिष्यति ॥ २३ ॥ गत्वा वृष्ण्यन्धककुलं धनुर्वेदं ग्रहीष्यति ।
अस्त्राणि च विचित्राणि नीतिशास्त्रञ्च केवलम् ॥२४॥ इत्येतत्
प्रणयात्तात सौभद्रः परवीरहा । कथयामास दुर्धर्षस्तथा चैतन्न
संशयः ॥ २५ ॥ तास्त्वां वयं प्रणम्येह याचामो मधुसूदन ।

हुआ ही जन्मा है, हे माधव ! उत्तरा, सुभद्रा, द्रौपदी और १८
युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा दुर्धर्ष सहदेव, इन सबोंकी
ही आपको रक्षा करनी चाहिये ॥ १९ ॥ हे कृष्ण ! यह
पाण्डवोंके तथा मेरे प्राणोंका आधार है तथा पाण्डुके और मेरे
श्वसुरके पिण्डका सहारा भी यही है ॥ २० ॥ हे जनार्दन !
तुम्हारी ही समान वीर और तुम्हारे प्यारे अभिमन्युके पिंडका
आधार भी यही है, आज तुम उस परलोकवासी अभिमन्युके
प्रिय पुत्रको जीवित करो ॥ २१ ॥ हे वैरीनाशक ! उत्तरा भी
पहले अभिमन्युकी कही हुई बात कहा करती है, हे कृष्ण ! अभि-
मन्युकी बात तुम्हें निःसन्देह प्यारी है ॥२२॥ हे कृष्ण ! उस
समय अभिमन्युने उत्तरासे कहा था कि–हे भद्रे ! तेरा पुत्र मामा
के कुलको जायगा ॥ २३ ॥ वृष्णि और अन्धकोंके कुलमें रहकर
धनुर्वेद, विचित्र अस्त्रोंकी विद्या और संपूर्ण नीतिशास्त्रको
सीखेगा ॥ २४ ॥ हे तात ! इसप्रकार प्रेमके कारण वैरियोंका
नाश करनेवाले दुर्धर्ष सुभद्राके पुत्र अभिमन्युने कहा था इसमें

कुलस्यास्य हितार्थन्त्वं कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ २६ ॥ एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना। उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्त्ता ताश्चान्याः प्रापतन् भुवि ॥२७॥ अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः। स्वस्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ॥ २८ ॥ एवमुक्तस्ततः कुन्तीं पर्यगृह्णाज्जनार्दनः। भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि परिक्षिज्जन्मकथने षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन उवाच। उत्थितायां पृथायान्तु सुभद्रा भ्रातरं तदा। दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्त्ता वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥ पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं पौत्रं पार्थस्य धीमतः। परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गता-

---

कुछ सन्देह नहीं है ॥२५॥ हे मधुसूदन ! हम तुम्हें प्रणाम करके इस समय गोदी फैलाकर यही माँगती हैं आप इस कुलके हितके लिए श्रेष्ठ कल्याण करिये॥२६॥ विशाललोचना कुन्ती श्रीकृष्ण से ऐसा कहकर दुःखसे व्याकुल हो भूमि पर गिरपडी तथा फिर और स्त्रियें भी गिरपडीं ॥ २७ ॥ हे महाराज ! आँसुओंसे डब-डबाये हुए नेत्रोंवाली वे स्त्रियें कहने लगीं, कि–हे प्रभो! श्रीकृष्ण की बहनका पोता मरा हुआ उत्पन्न हुआ (यह बड़े आश्चर्य की बात है !) ॥ २८ ॥ ऐसा होने पर श्रीकृष्णने भूमिपर पडी हुई कुन्तीको उठाकर बैठा किया और हे भारत ! उसको धीरज देने लगे ! ॥ २९ ॥ छियासठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–कुन्तीके बैठी होजाने पर सुभद्रा भाई कृष्णको देखकर बडा विलाप करने लगी और दुःखसे व्याकुल होकर उसने यह बात कही, कि–हे पुण्डरीकाक्ष! १ आप बुद्धिमान् पार्थके पोतेकी ओरको देखिये, जब कौरव नष्टसे होगये तो यह क्षीण और आयुहीन होकर आया (इसको जरा देखिए)२

षुपम् ॥ २ ॥ इषीका द्रोणपुत्रेण भीमसेनार्थमुद्यता । सोत्तरायां निपतिता विजये मयि चैव ह ॥ ३ ॥ सेयं विदीर्णे हृदये मयि तिष्ठति केशव । यन्न पश्यामि दुर्द्धर्ष सहपुत्रन्तु तं प्रभो ॥ ४ ॥ किन्तु वक्ष्यति धर्मात्मा धर्म्मराजो युधिष्ठिरः । भीमसेनार्जुनौ चापि माद्रवत्याः सुतौ च तौ ॥५॥ श्रुत्वाभिमन्योस्तनयं जातञ्च मृतमेव च । मुषिता इव वार्ष्णेय द्रोणपुत्रेण पाण्डवाः ॥ ६ ॥ अभिमन्युः प्रियः कृष्ण भ्रातॄणां नात्र संशयः । ते श्रुत्वा किन्नु वक्ष्यन्ति द्रोणपुत्रास्त्रनिर्ज्जिताः ॥ ७ ॥ भवितातः परं दुःखं किन्तदन्यज्जनार्दन । अभिमन्योः सुतात् कृष्ण मृताज्जातादरिन्दम ॥ ८ ॥ साहं प्रसादये कृष्ण त्वामद्य शिरसा नता । पृथेयं द्रौपदी चैव ताः पश्य पुरुषोत्तम ॥ १९ ॥ यदा द्रोणसुतो गर्भान्

भीमसेनको मारडालनेका उद्योग करनेवाले अश्वत्थामाका छोडा हुआ इषीकारूप ब्रह्मास्त्र उत्तराके ऊपर, अर्जुनके ऊपर और मेरे ऊपर आपडा ॥ ३ ॥ हे दुर्धर्ष केशव ! मालूम होताहै, कि-वह मेरे चिरे हुए हृदयमें अभीतक घुसा हुआ है, हे प्रभो ! तभी तो मैं अर्जुनको अभिमन्युके साथ नहीं देख सकती हूँ ॥ ४ ॥ अरे ! धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर क्या कहेंगे ? भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल और सहदेव भी क्या कहेंगे ? ॥ ५ ॥ अभिमन्युके पुत्र उत्पन्न हुआ और मर भी गया, यह सुनकर मुझे प्रतीत होता है, कि-द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पाण्डवोंको बडा धोखा दिया है ! ॥ ६ ॥ हे कृष्ण ! निःसन्देह अभिमन्यु सब भाइयोंको प्यारा था, वे अब सुनकर क्या कहेंगे ? कि-हमें अश्वत्थामाके अस्त्रने जीतलिया ! ॥७॥ हे जनार्दन ! हे कृष्ण ! हे शत्रुओंका नाश करने वाले ! अभिमन्युका पुत्र जन्मते ही मरगया, इससे अधिक और कौनसा दुःख होगा ? ॥ ८ ॥ हे कृष्ण ! मैं तुम्हें मस्तकसे प्रणाम करके प्रसन्न करती हूँ, हे पुरुषोत्तम ! ये कुन्ती

पाण्डूनां हन्ति माधव । तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन १०
अकामं त्वां करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम । अहं सञ्जीवयिष्यामि
किरीटितनयात्मजम् ॥११॥ इत्येतद्वचनं श्रुत्वा जानानाहं बलन्तव ।
प्रसादये त्वां दुर्द्धर्ष जीवतादभिमन्युजः ॥१२॥ यद्येतत्त्वं प्रतिश्रुत्य
न करोषि वचः शुभम् । सकलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय १३
अभिमन्योः सुतो वीर न सञ्जीवति यद्यथम् । जीवति त्वयि दुर्द्धर्ष
किं करिष्याम्यहं त्वया ॥ १४ ॥ सञ्जीवयैनं दुर्द्धर्ष मृतन्त्वमभि-
मन्युजम् । सदृशाक्षसुतं वीर शस्यं वर्षन्निवाम्बुदः ॥१५॥ त्वं
हि केशव धर्मात्मा सत्यवान् सत्यविक्रमः । स तां वाचमृतां कर्त्तु-
मर्हसि त्वमरिन्दम ॥ १६ ॥ इच्छन्नपि हि लोकांस्त्रीन् जीवयेथा

और द्रौपदी खडी २ रोरही हैं,इनकी ओरको जरा देखिये । ९
हे माधव ! जब अश्वत्थामा पाण्डवोंको मारनेलगा तब हे शत्रु-
नाशन ! तुमने क्रोधमें भरकर उससे कहा था, कि-॥ १० ॥
अरे नराधम ! ओ ब्रह्मबन्धो (नीच ब्राह्मण !) मैं तेरी मनचाही
नहीं होने दूँगा, और अर्जुनके पोतेको जीवित करदूँगा ॥११॥
इस बातको सुनकर और मैं तुम्हारे बलको जानती थी, इसलिये
हे दुर्धर्ष ! मैं आपको प्रसन्न करती हूँ, कि-अभिमन्युके पुत्रको
जीवित करदो ॥ १२ ॥ यदि तुम प्रतिज्ञा करके इस अपने शुभ
वचनको पूरा नहीं करोगे तो हे वृष्णियोंमें सिंहसमान ! मुझे
तुम मरी हुई ही जानना ॥ १३ ॥ हे वीर!यदि यह अभिमन्युका
पुत्र जीवित नहीं हुआ तो तुम जीते रहे तो मैं तुम्हारा लेकर
क्या करूँगी ? ॥ १४ ॥ इसलिये हे दुर्धर्ष ! वीर ! जिसके नेत्र
अपने पिताकेसे हैं ऐसे अभिमन्युके मृतपुत्रको, जैसे मेघ वर्षा
करके धान्यको जीवित कर देता है तैसे ही जीवित करदीजिये १५
हे वैरीनाशन केशव ! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी और सत्यपराक्रमी
हो, इसलिये तुम्हें अपनी वह बात सत्य करनी चाहिये ॥ १६ ॥

मृतानिमान् । किं पुनर्दयितं जातं स्वस्त्रीयस्यात्मजं मृतम् ॥१७॥
प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण तस्मात्त्वां याचयाम्यहम् । कुरुष्व पाण्डु-
पुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ॥१८॥ स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति
वा पुनः । प्रपन्ना मामियं चेति दयां कर्त्तुमिहार्हसि ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
सुभद्रावाक्ये सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्च्छितः ।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ॥ १ ॥ वाक्येनैतेन
हि तदा तं जनं पुरुषर्षभः । ह्लादयामास स विभुर्घर्मार्त्तं सलि-
लैरिव ॥ २ ॥ ततः स प्राविशत्तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव । अर्चितं

क्योंकि-तुम चाहो तो इन मरे हुए तीनों लोकोंको भी जीवित करसकते हो, तो फिर भानजेके इस प्यारे पुत्रको जो जन्मते ही मर गया है, जीवित करदेना आपके लिये कितनी बात है? १७ हे कृष्ण! तुम्हारे प्रभावको मैं जानती हूँ, इसलिये ही मैं आपसे प्रार्थना कररही हूँ, इसलिये तुम पाण्डवोंके ऊपर यह परमकृपा करो ॥ १८ ॥ हे महाबाहु! यह मेरी बहिन है, और उसका यह पोता मरगया है, इसलिए यह मेरी शरणमें आयी है, ऐसा विचार कर तुम्हें दया करनी चाहिए ॥ १९ ॥ सड़सठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ छ छ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि-कुन्तीके ऐसा कहने पर हे राजेन्द्र! केशीको मारनेवाले कृष्णने दुःखके कारण मूर्च्छितसे होकर वहाँके सब लोगोंको प्रसन्न करते हुए कहा, कि-अच्छा ऐसा ही होगा ॥ १ ॥ शक्तिमान् और पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णने, जैसे कोई धूपसे घबड़ाये हुएको शीतल जलसे प्रसन्न करे तैसे ही वहाँके सब लोगोंको इस वाक्यसे प्रसन्न किया ॥ २ ॥ फिर वह वहाँसे हे जनमेजय! एक साथ तुम्हारे पिताके जन्मस्थानमें गए, कि-

पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ॥ ३ ॥ अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतो दिशम् । घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ४ अस्त्रैश्च विमलैर्न्यस्तैः पावकैश्च समन्ततः । वृद्धाभिश्चाभिरामाभिः परिचारार्थमावृतम् ॥५॥ दक्षैश्च परितो धीर भिषग्भिः कुशलैस्तथा । ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ॥६॥ द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत् कुशलैर्जनैः । तथा युक्तञ्च तद् दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव । हृष्टोभवद्धृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥ तथा ब्रुवति वार्ष्णेये प्रहृष्टवदने तदा । द्रौपदी त्वरिता गत्वा वैराटीं वाक्यमब्रवीत् ॥ ८ ॥ अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः । पुराणर्षिरचिन्त्यात्मा समीपमपराजितः ॥९॥ सापि वाष्पकलां

जिस स्थानको हे पुरुषसिंह ! सफेद फूलोंकी मालाओंसे सजाया गया था ॥ ३ ॥ जहाँ चारों ओर जलसे भरे हुए कलश रक्खे थे, जहाँ घीसे होम किया गया था आवनूसकी लकड़ियें जलरही थीं और हे महाबाहु ! जहाँ सरसों बखेरी गई थी ॥ ४ ॥ जहाँ चारों ओर चमकते हुए अस्त्र धरे थे, और चारों ओर अग्नि जलरहा था तथा सेवा करनेके लिए इकट्ठी हुईं वृद्धा और सुन्दर स्त्रियोंसे वह स्थान भररहा था ॥ ५ ॥ हे धीर! चतुर और श्रेष्ठ वैद्योंकी भी भीड़ होरही थी तथा तेजस्वी कृष्णने राक्षसोंको मारनेवाले भी तहाँ चारों ओर देखे ॥ ६ ॥ कुशल पुरुषोंने तहाँ विधिपूर्वक बहुतसे पदार्थ रक्खे थे, तेरे पिताके जन्मस्थान को ऐसी सामग्रियोंसे भरा हुआ देखकर श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, कि—बहुत अच्छा है, बहुत ठीक है, जब वृष्णिवंशी कृष्ण ऐसा कहरहे थे, उस समय उनका मुख बड़ा ही प्रसन्न मालूम होता था ॥ ७–८ ॥ उस समय द्रौपदीने झटपट जाकर उत्तरासे कहा, कि हे भद्रे ! यह देख तेरे श्वशुर मधुसूदन आरहे हैं ॥ ९ ॥ वह पुराण ऋषि, अचिन्त्यस्वरूप अपराजित

दाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह । सुसंवीतामवद्देवो देववत् कृष्ण-मीयुषी ॥ १० ॥ सा तथा दूयमानेन हृदयेन तपस्विनी । दृष्ट्वा गोविन्दमायान्तं कृपणं पर्य्यदेवयत् ॥ ११ ॥ पुण्डरीकाक्ष पश्यावां बालेन हि विनाकृतौ । अभिमन्युश्च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन १२ वार्ष्णेय मधुहन् वीर शिरसा त्वां प्रसादये । द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ॥ १३ ॥ यदि स्म धर्म्मराजा वा भीमसेनेन वा पुनः । त्वया वा पुण्डरीकाक्ष वाक्यमुक्तमिदं भवेत् ॥ १४ ॥ अजानतीमिषीकेयं जनित्रीं हन्त्विति प्रभो । अहमेव विनष्टा स्यां नैनदेवं गते भवेत् ॥ १५ ॥ गर्भस्थस्यास्य बालस्य ब्रह्मास्त्रेण निपातनम् । कृत्वा नृशंसं दुर्बुद्धिर्द्रौणिः किं फलमश्नुते ॥ १६ ॥ सा त्वां प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिवर्हणम् । प्राणांस्त्यक्ष्यामि

कृष्ण पास ही आगए हैं, उस समय उत्तराने गद्गद हुई वाणीको रोक आँसुओंको पोंछडाला ॥१०॥ देवताकी समान श्रीकृष्णके समीप आने पर उसने शरीरको वस्त्रोंसे अच्छे प्रकार ढकलिया और उस तपस्वी स्त्रीने श्रीकृष्णको आते हुए देखकर दुःखित होते हृदयसे करुणोत्पादक विलाप करते हुए धीरेसे कहा, कि-हे जनार्दन! हे पुण्डरीकाक्ष! देखिए हम दोनों सन्तानहीन होगए हैं, अभिमन्यु तो मारा गया, परन्तु साथमें मैं भी मारी गई ॥११-१२॥ हे वृष्णिवंशी! हे मधुसूदन! हे वीर! मैं तुम्हें मस्तक झुकाकर प्रसन्न करती हूँ, अश्वत्थामाके अस्त्रसे भस्म हुए इस बालकको जीवित करिये ॥ १३ ॥ हे पुण्डरीकाक्ष! यदि उस समय धर्मराजने, भीमसेनने या तुमने यह बात कहदी होती कि-॥१४॥ यह इषीकारूप ब्रह्मास्त्र अनजान गर्भिणीको मारडाले तो हे प्रभो! मैं उसी समय मरजाती और मेरी यह गति न होती ॥ १५ ॥ गर्भमेंके इस बालकको ब्रह्मास्त्रसे क्रूरताके साथ मारनेसे दुष्टबुद्धि अश्वत्थामाको क्या लाभ हुआ? ॥१६॥ हे वैरीनाशन कृष्ण!

गोविन्द नायं सञ्जीवते यदि ॥ १७ ॥ अस्मिन् हि बहवः माधो ये ह्यासन् मनोरथाः । ते द्रोणपुत्रेण हताः किन्नु जीवामि केशव ॥ १८ ॥ आसीन्मम मतिः कृष्ण पूर्णोत्सङ्गा जनार्दन । अभिवादयिष्ये हृष्टेति तदिदं वितथी कृतम् ॥ १९ ॥ चपलाक्षस्य दायादे मृतेऽस्मिन् पुरुषर्षभ । विफला मे कृताः कृष्ण हृदि सर्वे मनोरथाः ॥२०॥ चपलाक्षः किलातीव प्रियस्ते मधुसूदन ! सुतं पश्य त्वमस्यैनं ब्रह्मास्त्रेण निपातितम् ॥२१॥ कृतघ्नोयं नृशंसोयं यथास्य जनकस्तथा । यः पांडवीं श्रियं त्यक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ॥२२॥ मया चैतत् प्रतिज्ञातं रणमूर्द्धनि केशव । अभिमन्यो हते वीर त्वामेष्याम्यचिरादिति ॥ २३ ॥ तच्च नाकरवं कृष्ण

इस मृत बालककी माता आपको प्रणाम करके प्रसन्न करती हुई याचना करती (भीख माँगती) है, कि-हे गोविन्द ! यदि यह बालक जीवित नहीं होगा तो मैं प्राण त्यागदूँगी ॥ १७ ॥ हे माधो ! इसके ऊपर तो मैं बड़े २ मनोरथ बाँधरही, थी, परंतु उन सब मनोरथोंका द्रोणपुत्रने नाश करडाला, इसलिये हे केशव! अब मैं कैसे जीऊँ ? ॥ १८ ॥ हे कृष्ण ! हे जनार्दन ! मैं इस पुत्रको गोदीमें लेकर प्रसन्न होती हुई आपको प्रणाम करूँगी यह मुझे चाव था, वह सब निरर्थक होगया ॥ १९ ॥ हे पुरुषसत्तम! चपलनेत्र (अभिमन्यु) के पुत्रका नाश होजानेसे हे कृष्ण! मेरे हृदयके सब मनोरथ निष्फल होगये हैं ॥२०॥ हे मधुसूदन! वह चपल नेत्रवाला (अभिमन्यु) तो तुम्हें बडा प्यारा था, उसके इस पुत्रको ब्रह्मास्त्रसे मराहुआ देखलो ! ॥ २१ ॥ जैसे इसका पिता पाण्डुकी लक्ष्मीको छोड़कर आज यमराजके यहाँ पहुँच गया है, ऐसे ही यह भी कृतघ्न और कठोर बनगया है ॥ २२ ॥ हे केशव ! मैंने पहले अपने पतिसे यह प्रतिज्ञा करली है, कि-हे प्राणनाथ ! यदि रणके मुहाने पर तुम मारे जाओगे तो

नृशंसा जीवितप्रिया । इदानीं मां गतां तत्र किन्तु वक्ष्यति फाल्गुनिः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि उत्तरावाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

वैशम्पायन उवाच । सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी । उत्तरा न्यपतद्भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी॥१॥ तान्तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्रपरिच्छदाम् । चुक्रोश कुन्ती दुःखार्त्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः २ मुहूर्त्तमिव राजेन्द्र पाण्डवानां निवेशनम् । अप्रेक्षणीयमभवदार्त्तस्वरनिनादितम् ॥३॥ सा मुहूर्त्तञ्च राजेन्द्र पुत्रशोकाभिपीड़िता । कश्मलाभिहता वीर वैराटी त्वभवत्तदा ॥ ४ ॥ प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ । अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥५॥

हे वीर ! तुरन्त ही मैं भी तुम्हारे पीछे ही आऊँगी॥२३॥परन्तु हे कृष्ण!मैंने ऐसा नहीं किया, किन्तु अपने मनको कठोर बना कर जीवन पर ही प्रीति करती रही, अब मैं तहाँ जाऊँगी तो प्राणनाथ (अभिमन्यु) मुझसे क्या कहेंगे ॥ २४ ॥ अडसठवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६८ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-इस प्रकार पागलसी बनी हुई वह तपस्विनी, दीन, पुत्रकी लालसावाली उत्तरा करुणाजनक विलाप करती हुई भूमि पर गिरगई ॥ १ ॥ जिसका पुत्ररूप ढक्कन नष्ट होगया है ऐसी उत्तराको पृथिवी पर पड़ी हुई देखकर दुःखसे पीडित हुई कुन्ती तथा भरतवंशकी और सब स्त्रियें भी हायहाय! करने लगीं ॥२॥ हे राजेन्द्र ! पाण्डवोंका महल हायरके कोलाहलसे ऐसा गूँज उठा, कि-कुछ देरको तो उसका देखना भी कठिन होगया ॥ ३ ॥ हे राजेन्द्र ! पुत्रमरणके शोकसे पीडा पाती हुई विराटराजकी पुत्री उत्तरा, हे वीर ! एक पलभरको तो काली सी पड़गई ॥ ४ ॥ हे भरतसत्तम ! उस उत्तराको जब

धर्म्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्म्मं नावबुध्यसे । यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम् ॥ ६ ॥ पुत्र गत्वा मम वचो ब्रूयास्त्वं पितरन्त्विदम् । दुर्म्मरं प्राणिनां वीर कालेऽप्राप्ते कथञ्चन ॥७॥ याहं त्वया विनाद्येह पत्या पुत्रेण चैव ह । मर्त्तव्ये सति जीवामि हतस्वस्तिरकिञ्चना ॥८॥ अथवा धर्म्मराज्ञाहमनुज्ञाता महाभुज । भक्षयिष्ये विषं घोरं प्रवेक्ष्ये वा हुताशनम् ॥ ९ ॥ अथवा दुर्म्मरं तात यदिदं मे सहस्रधा । पतिपुत्रविहीनाया हृदयं न विदीर्य्यते १० उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम् । आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे ॥ ११ ॥ आर्य्याञ्च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम् । मां च पश्य सुदुःखार्त्तां व्याधविद्धां मृगीमिव १२

होश आगया तब पुत्रको गोदीमें लेकर यों कहने लगी, कि ॥५॥ तू धर्मको जाननेवालेका पुत्र है, अधर्मको तो तू जानता ही नहीं है, तो फिर तू वृष्णियोंके महावीर (कृष्ण) को प्रणाम क्यों नहीं करता है ? ६ हे पुत्र ! तू वहाँ जाकर अपने पितासे यह समाचार कहना कि–हे वीर ! कालके आये विना कोई भी प्राणी नहीं मर सकता ॥ ७ ॥ इसलिए ही आज इस लोकमें तुम पतिदेव से और पुत्रसे हीन और सौभाग्यशून्य होकर मुझ भिखारिणी को मरजाना चाहिये था, तो भी मैं जी रही हूँ॥८॥ अथवा हे महाभुज ! मैं धर्मराजकी आज्ञासे घोर विष खालूँगी या अग्निमें घुस कर मरजाऊँगी ॥ ९ ॥ अथवा हे तात ! हजारों उपाय करूँगी तो भी मेरा मरना कठिन है, इसलिए ही पति और पुत्रसे हीन हो जाने पर भी मेरा हृदय फटता नहीं है ॥ १० ॥ हे बेटा ! खड़ी होकर दुःखित होती हुई इस अपने पिताकी दादीको तो देख, यह विचारी दुःखी होकर अश्रुओंसे न्हारही है और शोकसागरमें डूबरही है ॥ ११ ॥ अरे ! इस आर्या द्रौपदीको और तपस्विनीको सुभद्राको तो देख और शिकारीकी बींधी हुई मृगी

उत्तिष्ठ पश्य वदनं लोकनाथस्य धीमतः। पुण्डरीकपलाशाक्षं पुरेव चपलेक्षणम् ॥ १३ ॥ एवं विप्रलपन्तीं तां दृष्ट्वा निपतितां पुनः। उत्तरां ताः स्त्रियः सर्वाः पुनरुत्थापयंस्ततः ॥१४॥ उत्थाय च पुनर्धैर्यात्तदा मत्स्यपतेः सुता। प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत् ॥१५॥ श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः। उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ॥ १६ ॥ प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः। अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयन् जगत् ॥ १७ ॥ न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद्भविष्यति। एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ॥ १८ ॥ नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन। न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ॥ १९ ॥ यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणाश्च विशेषतः।

की समान महादुःखी होती हुई मुझे भी तो देख ॥ १२ ॥ उस चपल नेत्रवालेको पहले मैं देखा करती थी, तैसे ही तू इन कमलनयन चपलनेत्र और बुद्धिमान् त्रिलोकीनाथके मुखको खडा होकर देख ॥ १३ ॥ इस प्रकार विलाप करती और वारंवार पछाड़ खाकर भूमिपर गिरती हुई उत्तराको देखकर वे सब स्त्रियें उसको वार२ बैठा करनेलगीं ॥१४॥ तब धीरजसे बैठी होकर मत्स्यराजकी पुत्रीने श्रीकृष्णको भूमिपर प्रणाम किया ॥ १५ ॥ फिर पुरुषोत्तम कृष्णने उसके महाविलापको सुनकर आचमन किया और ब्रह्मास्त्रको पीछेको खेंचलिया ॥ १६ ॥ फिर दाशार्हवंशी कृष्णने उसको जीवित करनेकी प्रतिज्ञाकी, उन विशुद्धात्माने सब जगत्को सुनाते हुए कहा कि-॥ १७ ॥ हे उत्तरा ! मैं मिथ्या नहीं बोलता हूँ, मेरा कहना सत्य ही होगा, सब देहधारी देखें, अब मैं इसको जीवित करूँगा ॥ १८ ॥ मैंने पहले कभी मौजमें भी मिथ्या नहीं बोला है, जैसे मैं युद्धमें से पीछेको नहीं लौटा हूँ, ऐसे ही इसको जीवित करनेमें भी मैं

अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ॥ २० ॥ यथाहं नाभिजानामि विजयेन कदाचन । विरोधन्तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ॥ २१ ॥ यथा सत्यञ्च धर्म्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ । तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥ २२ ॥ यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया । तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ॥ २३ ॥ इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ । शनैः शनैर्महाराज मास्पन्दत सचेतनः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि परिक्षितः कृष्णात् सञ्जीवने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

वैशम्पायन उवाच । ब्रह्मास्त्रन्तु यदा राजन् कृष्णेन प्रतिसंहृतम् । तदा तद्वेश्म त्वत्पित्रा तेजसाभिविदीपितम् ॥१॥ ततो

पीछेको नहीं हटूँगा ॥ १९ ॥ जैसे मुझे धर्म प्यारा है, और विशेष कर ब्राह्मण प्यारे हैं तैसे ही जन्मते ही मरणको प्राप्त हुआ यह अभिमन्युका पुत्र मुझे प्यारा है, (ऐसे मेरे गुणोंके प्रभावसे)यह जीवित होजाय ॥ २० ॥ तथा मुझे मालूम नहीं कि-मैंने कभी अर्जुनसे विरोध किया हो इस सत्यके बलसे यह मराहुआ बालक जीवित होजाय ॥ २१ ॥ सत्य और धर्म मुझमें स्थान बनाकर नित्य रहते हैं,इस (गुणके बल) से यह अभिमन्युका मराहुआ पुत्र जीवित होजाय ॥ २२ ॥ जैसे कंस और केशीको मैंने धर्मानुसार मारा है, तैसे ही (मेरे धर्मबलसे) यह जी उठे ॥ २३ ॥ श्रीकृष्णके ऐसा कहने पर हे भरतसत्तम महाराज ! उस बालकमें चेतना आगई और वह हिलनेलगा ॥२४॥ उनहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ छ छ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजन् ! जब श्रीकृष्णने ब्रह्मास्त्र को पीछेको खेंचलिया, तब तेरे पिताने अपने तेजसे उस महलमें उजाला करदिया॥१॥फिर सब राक्षस उस घरको छोडकर नष्ट

रक्षांसि सर्वाणि नेशुस्त्यक्त्वा गृहन्तु तत् । अन्तरिक्षे च वागासीत् साधु केशव साध्विति॥२॥ तदस्त्रं ज्वलितञ्चापि पितामहमगात्तदा। ततः प्राणान् पुनर्लेभे पिता तव जनेश्वर ॥ ३ ॥ व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् । बभूवुर्हर्षिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ॥४॥ ब्राह्मणान् वाचयामासुर्गोविन्दस्यैव शासनात् । ततस्ता मुदिताः सर्वाः प्रशशंसुर्जनार्दनम् ॥ ५ ॥ स्त्रियो भरतसिंहानां नावं लब्ध्वेव पारगाः। कुन्ती द्रुपदपुत्री च सुभद्रा चोत्तरा तथा ॥ ६ ॥ स्त्रियश्चान्या नृसिंहानां बभूवुर्हृष्टमानसाः । तत्र मल्ला नटाश्चैव ग्रन्थिकाः सौख्यशायिकाः ॥ ७ ॥ सूतमागधसंघाश्चाप्यस्तुवंस्तं जनार्दनम् । कुरुवंशस्तवाख्याभिराशीर्भिर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥ उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् । अभ्य-

---

होगए और अन्तरिक्षमें वाणी (आकाशवाणी) हुई, कि–हे केशव ! आपने बहुत अच्छा किया ! बहुत अच्छा किया॥२॥ और धधकता हुआ वह अस्त्र (ब्रह्मास्त्र) ब्रह्माके पास चलागया हे राजन् ! तदनन्तर तेरे पितामें प्राण आगये ॥३॥ और वह बालक अपने उत्साह तथा बलके अनुसार चेष्टा करनेलगा हे राजन् ! तब तो भरतवंशकी स्त्रियें प्रसन्न होगईं ४ श्रीकृष्णके कहनेसे ब्राह्मण आशीर्वाद देनेलगे और प्रसन्न हुए उन सबोंने श्रीकृष्णकी प्रशंसा की५ और जैसे नौकाको पाकर पार उतरगई हों, इसप्रकार भरतवंशके सिंहसमान पुरुषोंकी स्त्रियें, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा तथा दूसरी पुरुषसिंहोंकी स्त्रियें मनमें आनन्दित हुईं और तहाँ मल्ल, नट, जोशी और सुखसे सोरहे हैं या नहीं इस की खबर रखनेवाले तथा सूत और मागधोंके समूह भी उन कृष्णकी हे भरतसत्तम ! कुरुवंशकी स्तुतिवाले आशीर्वादके वाक्यों से स्तुति करने लगे ॥ ६–८ ॥ हे भारत ! उस समय प्रसन्न हुई उत्तराने पुत्रके साथ खडी होकर योग्यसमय पर यदुनन्दन कृष्ण

वादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ॥ ९ ॥ तस्य कृष्णो ददौ हृष्टो
बहु रत्नं विशेषतः । तथान्ये वृष्णिशार्दूला नाम चास्याकरोत्
प्रभुः ॥१०॥ पितुस्तव महाराज सत्यसन्धो जनार्दनः । परिक्षीणे
कुले यस्मात् जातोऽयमभिमन्युजः ॥ ११ ॥ परिक्षिदिति नामास्य
भवत्वित्यब्रवीत्तदा । सोऽवर्द्धत यथाकालं पिता तव जनाधिप १२
मनःप्रह्लादनश्चासीत् सर्वलोकस्य भारत । मासजातस्तु ते वीर
पिता भवति भारत ॥ १३ ॥ अथाजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय
पाण्डवाः । तान् समीपगतान् श्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुङ्गवाः ॥१४॥
अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् । पताकाभिर्विचित्राभि-
र्ध्वजैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥ वेश्मानि समलंचक्रुः पौराश्चापि
जनेश्वर । देवतायतनानां च पूजाः सुविविधास्तथा ॥ १६ ॥

को प्रणाम किया ॥९॥ प्रसन्न हुए कृष्णने भी उसको खासकर
बहुतसे रत्न दिए तथा दूसरे वृष्णिवंशके सिंहसमान पुरुषों
ने भी ऐसा ही किया ॥ १० ॥ हे महाराज ! सत्य प्रतिज्ञावाले
श्रीकृष्णने तेरा पिताका "यह अभिमन्युका बालक अतिक्षीण हुए
कुलमें उत्पन्न हुआ है" ऐसा विचार कर ॥ ११ ॥ परिक्षित्
नाम रक्खा, हे राजन् ! फिर समयके अनुसार तेरा पिता बडा
होने लगा ॥१२॥ और हे भारत ! सब लोगोंके मन बड़े प्रसन्न
हुए, हे भरतवंशी वीर ! फिर तेरा पिता एक महीनेका होगया
तब ॥ १३ ॥ पाण्डव बडाभारी रत्नभण्डार लेकर लौट आए
पाण्डव पास ही आपहुँचे हैं, यह सुनकर वृष्णियोंके बड़े२ लोग
नगरसे बाहर गए ॥ १४ ॥ पुरवासियोंने हस्तिनापुर नगरको
फूलोंकी वंदनवारोंसे, विचित्र पताकायें और भाँति२के ध्वजाओंसे
सजादिया ॥ १५ ॥ और हे राजन् ! उन पुरवासियोंने अपने
घरोंको भी सजाया पाण्डवोंका प्रिय चाहनेवाले विदुरने देव-

सन्दिदेशाथ विदुरः पाण्डुपुत्रप्रियेप्सया । राजमार्गाश्च तत्रासन् सुमनोभिरलंकृताः ॥१७॥ शुशुभे तत्पुरञ्चापि समुद्रौघनिभस्वनम् । नर्त्तकैश्चापि नृत्यद्भिर्गायकानाञ्च निःस्वनैः ॥ १८ ॥ आसीद्वै-श्रवणस्येव निवासस्तत्पुरन्तदा । वन्दिभिश्च नरै राजन् स्त्रीसहायैश्च सर्वशः ॥ १९ ॥ तत्र तत्र विविक्तेषु समन्तादुपशोभितम् । पताका धूयमानाश्च समन्तान्मातरिश्वना ॥ २० ॥ अदर्शयन्निव तदा कुरून् वै दक्षिणोत्तरान् । अघोषयंस्तदा चापि पुरुषा राज-धूर्गताः । सर्वराष्ट्रविहारोऽद्य रत्नाभरणलक्षणः ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि पाण्डवागमने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

वैशम्पायन उवाच । तान् समीपगतान् श्रुत्वा पाण्डवान् शत्रु-

मंदिरोंमें भाँति२ की सुन्दर पूजायें करनेकी आज्ञा दी तथा नगरके राजमार्गोंको भी फूलोंसे सजाया ॥ १६-१७ ॥ समुद्रकी तरङ्गों केसे स्वरोंसे गूँजता हुआ वह नगर नर्त्तकोंके नाचोंसे, गवैयोंके गानोंसे शोभा पारहा था ॥१८॥ हे राजन् ! वन्दीजनोंसे और उनकी सहायता करनेवाली स्त्रियोंसे वह नगर कुबेरकी नगरी की समान शोभा पारहा था ॥ १९ ॥ और जहाँ तहाँ खाली स्थानोंको चारों ओरसे सजाया था और पवनसे चारा ओर पताकायें फहरा रही थीं ॥ २० ॥ मानो कौरवोंको दक्षिण और उत्तरके मार्ग दिखारहे हों इस प्रकार राज्यका भार उठानेवाले मुख्य २ मनुष्य पुकार रहे थे, कि-रत्न और आभूषणोंके चिह्नों वाला आजका दिन राज्यभरमें उत्सव करनेका है (अर्थात् राज-पुरुषोंने ढँढोरा पिटवा दिया, कि-आज राज्य भरमें रत्न और गहनोंकी सजावटके साथ उत्सव मनाना चाहिये) ॥ २१ ॥

सत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ ✻ ✻ ✻

वैशम्पायन कहते हैं, कि-पाण्डव समीप ही आपहुँचे हैं, यह

कर्षणः । वासुदेवः सहामात्यः प्रययौ ससुहृद्गणः ॥१॥ ते समेत्य यथान्यायं प्रत्युद्याता दिदृक्षया । ते समेत्य यथाधर्म्मं पाण्डवा वृष्णिभिः सह ॥२॥ विविशुः सहिता राजन् पुरं वारणसाह्वयम् । महता तस्य सैन्यस्य खुरनेमिस्वनेन ह ॥ ३ ॥ द्यावापृथिव्योः स्वं चैव सर्वमासीत् समावृतम् । ते कोषानग्रतः कृत्वा विविशुः स्वपुरन्तदा ॥४॥पाण्डवाः प्रीतमनसः सामात्याः ससुहृद्गणाः । ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥ ५ ॥ कीर्त्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे । धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ॥६॥ कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तमाः । विदुरं पूजयित्वा च वैश्यापुत्रं समेत्य च ॥ ७ ॥ पूज्यमानाः स्म ते वीरा व्यरोचन्त विशाम्पते । ततस्तत् परमाश्चर्य्यं विचित्रं महदद्भुतम् ॥ ८ ॥

सुनकर शत्रुनाशक श्रीकृष्णजी मंत्री और मित्रोंके सहित नगरसे बाहर गए ॥ १ ॥ वे उचित रीतिसे इकट्ठे होकर नगरसे बाहर गए, पाण्डव धर्मानुसार वृष्णियोंके साथ मिले और सब इकट्ठे होकर हे राजन् ! हस्तिनापुरमें घुसे, उस समय सेनाके घोड़ोंकी टापोंका और रथोंके पहियोंकी घरघराहटका बड़ाभारी शब्द हो रहा था ॥२–३॥ उस शब्दसे आकाश, पृथिवी और सब विश्व मानो भरगया है, ऐसा मालूम होता था, उन्होंने धनके खजानेको आगे करके नगरमें प्रवेश किया ॥ ४ ॥ प्रसन्न मनवाले पाण्डव अपने मंत्री और मित्रमण्डलके सहित इकट्ठे होकर राजा धृतराष्ट्र के पास उचित रीतिसे गये॥५॥और अपने नाम बोलबोलकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया, धृतराष्ट्रके बाद सुबलकी पुत्री गांधारी को ॥ ६ ॥ और हे भरतवंशी राजसिंह ! कुन्ती और विदुरकी पूजा करके धृतराष्ट्रकी वैश्य स्त्रीके पुत्र युयुत्सुसे मिले ॥ ७ ॥ हे राजन् ! फिर उनका उचित सत्कार कियागया, तब वे वीर बड़े शोभायमान हुए, फिर परम आश्चर्यमें डालनेवाला विचित्र

शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत। तदुपश्रुत्य तत् कर्म्म वासुदेवस्य धीमतः ॥९॥ पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम्। ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १० ॥ आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम्। तस्य सर्वे यथान्यायं पूजांचक्रु कुरूद्वहा ॥११॥ सह वृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासाँचक्रिरे तदा। तत्र नानाविधाकाराः कथाः समभिकीर्त्य वै १२ युधिष्ठिरो धर्म्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत्। भवत्प्रसादाद्भगवन् यदिदं रत्नमाहृतम् ॥ १३ ॥ उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ। तमनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम। त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः १४ व्यास उवाच। अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां यदनन्तरम्। यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ॥१५॥ अश्वमेधो हि राजेन्द्र

और महा अर्जुन ॥ ८ ॥ हे भारत! ऐसा तेरे पिताका जन्म उन वीरोंने सुना, बुद्धिमान् श्रीकृष्णके इस कामको सुनकर उन्हों ने पूजाके योग्य देवकीनन्दन श्रीकृष्णकी पूजा की, तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद सत्यवतीके पुत्र व्यासजी आगए ॥ ९॥१० ॥ जब वह महातेजस्वी हस्तिनापुरमें आये तो कुरुकुलको चलाने वाले सबोंने यथोचित रीतिसे पूजा की ॥११॥ उस समय वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंके सहित पाण्डवोंने उनकी सेवाकी, तहाँ नाना प्रकारकी कथाएँ आपसमें एक दूसरेसे कहते रहे ॥ १२॥ धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीसे यह बात कही, कि, हे भगवन! यह जो रत्नोंका भण्डार लायागया है ॥ १३ ॥ इस सबको मैं महायज्ञ अश्वमेधमें खरच करदेना चाहता हूँ, हे मुनिराज! मैं चाहता हूँ, कि–आप मुझे इस कामकी आज्ञा दें, क्योंकि–हम सब आपके और महात्मा श्रीकृष्णके अधीन हैं ॥१४॥ व्यास जीने कहा, कि–हे राजन्! अब मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, आगेको जो कुछ करना हो उसका आरम्भ करदो, दक्षिणावाले अश्व-

पावनः सर्वपाप्मनाम् । तेनेष्ट्वा त्वं विपाप्मा वै भविता नात्र संशयः १६
वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराहरणे मतिम् ॥ १७ ॥ समनुज्ञाप्य
तत सर्वं कृष्णद्वैपायनं नृपः । वासुदेवमथाभ्येत्य वाग्मी वचनम-
ब्रवीत् ॥१८॥ देवकी सुप्रजा देवी त्वया पुरुषसत्तम । यद् ब्रूयां
त्वां महाबाहो तत् कृथास्त्वमिहाच्युत ॥१९॥ त्वत्प्रभावजितान्
भोगानश्नीम यदुनन्दन । पराक्रमेण बुद्ध्या च त्वयेयं निर्जिता
मही ॥ २० ॥ दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमो गुरुः ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥२१॥ त्वं हि यज्ञोऽक्षरः
सर्वस्त्वं धर्मस्त्वं प्रजापतिः । त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चिता

मेध यज्ञके द्वारा विधिविधानसे भगवान्का पूजन करो ॥ १५ ॥
हे राजेन्द्र ! अश्वमेध यज्ञ सब पापोंसे छुटाकर पवित्र करदेता
है, उस अश्वमेधके द्वारा भगवान्का पूजन करके तुम निःसन्देह
सब पापोंसे छूटजाओगे ॥ १६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे
कुरुवंशी जनमेजय ! उनके ऐसा कहने पर कुरुराज धर्मात्मा युधि-
ष्ठिरने अश्वमेध यज्ञ करनेका विचार किया ॥ १७ ॥ कृष्ण-
द्वैपायनकी इन सब विषयोंमें आज्ञा लेकर बोलनेवालोंमें चतुर राजा
युधिष्ठिर श्रीकृष्णके पास आये और उनसे यह बात कही कि-१८
हे पुरुषसत्तम ! आपके कारणसे देवकी अच्छी सन्तानवाली है,
इसलिए हे महाबाहु अच्युत ! आपसे मैं जो कुछ कहता हूँ, उस
को करिये ॥ १९ ॥ हे यदुनन्दन ! हम जिन भोगोंको भोग
रहे हैं, ये सब आपके ही प्रभावसे प्राप्त हुए हैं, आपके पराक्रम
और आपके बुद्धिबलसे ही हमने यह पृथिवी पाई है ॥ २० ॥
इसलिये आप ही अपने आपको दीक्षित करिये, क्योंकि—आप
हमारे परम गुरु हैं, हे कृष्ण ! आप यज्ञ करेंगे तो हम निष्पाप होजा-
यँगे ॥२१॥ क्योंकि—तुम यज्ञरूप हो, तुम अक्षर हो, तुम सूर्य हो,

मतिः ॥ २२ ॥ वासुदेव उवाच । त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिन्दम । त्वं गतिः सर्वभूतानामिति मे निश्चता मतिः ॥ २३ ॥ त्वञ्चाद्य कुरुवीराणां धर्मेण हि विराजसे । गुणीभूताः स्म ते राजंस्त्वन्नो राजा गुरुर्मतः ॥२४॥ यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य एष क्रतुस्त्वया । युनक्तु नो भवान् कार्य्ये यत्र वाञ्छसि भारत । सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्त्तास्मि तेऽनघ ॥ २५ ॥ भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ ।इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति पार्थिवे ॥२६॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि कृष्णव्यासानुज्ञायां एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्म्मपुत्रो युधिष्ठिरः । व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ॥१॥ यदा कालं भवान्

तुम सर्वरूप हो, तुम धर्मरूप हो, तुम प्रजापति हो और मेरा तो यह निश्चित विचार है, कि–तुम ही सकल प्राणियोंकी गति हो२२ श्रीकृष्णने कहा, कि–हे शत्रुनाशन महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम ही ऐसा कहसकते हो, कि–'तुम ही सब प्राणियोंकी गति हो, यह मेरा निश्चय है' ॥ २३ ॥ क्योंकि कुरुवंशी वीरोंमें धर्मके कारण से आज तुम ही शोभा पारहे हो, और हे राजन् ! हम तो आप के गुणीभूत (गौण–अनुयायी) हैं और तुम्हें अपना राजा तथा गुरु मानते हैं ॥ २४ ॥ हे भारत ! यह यज्ञ तुम्हारे ही करने योग्य है,इसलिये मेरे कहनेसे आप ही यज्ञ करिये और जो काम करवानेकी इच्छा हो, उसमें हमे लगादीजिये ॥२५॥ हे निष्पाप ! मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, कि–तुम जो कुछ कहोगे मैं वही करूँगा, तुम राजा हो, जब तुम यज्ञ करोगे तब भीमसेन, अर्जुन और माद्रीके पुत्र नकुल, सहदेव भी यज्ञ करनेवाले माने जायँगे ॥ २६ ॥ इकहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७१ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–श्रीकृष्णके ऐसा कहने पर बुद्धिमान्

वेत्थि हयमेधस्य तत्त्वतः । दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वदायत्तो हि मे क्रतुः ॥ २ ॥ व्यास उवाच । अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च । विधानं यद्यथाकालं तत् कर्त्तारो न संशयः ॥ ३ ॥ चैत्र्यां हि पौर्णमास्यान्तु तव दीक्षा भविष्यति । सम्भाराः संभ्रियन्ताञ्च यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥ अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः । मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ॥ ५ ॥ तमुत्सृज यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् । स पर्य्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव दर्शयन् ॥ ६ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः । चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ॥७॥ सम्भाराश्चैव राजेन्द्र सर्वे सङ्कल्पितामवन् ८

धर्मपुत्र युधिष्ठिरने व्यासजीको बुलवाकर यह बात कही, कि–१ जब आप समझें, कि–अश्वमेध यज्ञ करनेका ठीक समय है, तब मुझे दीक्षा देदीजिये, क्योंकि–मेरा यह यज्ञ आपके ही भरोसे पर है ॥ २ ॥ व्यासजीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! मैं, पैल तथा याज्ञवल्क्य, यज्ञकी जो विधि है उसको ठीक समय पर करेंगे, इसमें आप सन्देह न रखिये ॥ ३ ॥ चैत्रमासकी पूर्णिमाके दिन हम तुम्हें दीक्षा देंगे, इसलिये हे पुरुषसत्तम !तुम यज्ञके लिये सामग्रियें इकट्ठी करो ॥ ४ ॥ घोडोंकी विद्या जाननेवाले सूत और उस ही विद्याके जाननेवाले ब्राह्मण तुम्हारे यज्ञकी सिद्धिके लिए पवित्र घोड़ेकी परीक्षा करें, ॥ ५ ॥ उसको समुद्ररूप वस्त्रवाली पृथिवी पर शास्त्रमें लिखी रीतिसे छोडदो, हे राजन् ! वह तुम्हारे दमकते हुए यशको दिखाता हुआ घूमता फिरे ॥ ६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजेन्द्र ! व्यासजीके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिरने कहा, कि–बहुत अच्छा और उन ब्रह्मज्ञानीने जैसा कहा, वैसा ही सब प्रबन्ध करदिया ॥ ७ ॥ हे राजेन्द्र ! मनमें विचाराहुआ सब सामान तयार होगया, तब सब सामग्री

स सम्भारान् समाहृत्य नृपो धर्म्मसुतस्तदा। न्यवेदयदमेयात्मा कृष्णद्वैपायनाय वै ॥ ९ ॥ ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम्। यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे। स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ॥ १० ॥ तत्र योग्यं भवेत् किञ्चिद्रौक्मं तत् क्रियतामिति। अश्वश्चोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम्। सुगुप्तञ्चरताञ्चापि यथाशास्त्रं यथाविधि ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर उवाच। अयमश्वो यथा ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम्। चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ॥१२॥ पृथिवीं पर्य्यटन्तं हि तुरङ्गं कामचारिणम्। कः पालयेदिति मुने तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच। इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णः-द्वैपायनोऽब्रवीत्। भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥१४॥ जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति। शक्तः स हि

को एक जगह लगवादिया ॥ ८ ॥ और महात्मा युधिष्ठिरने कृष्णद्वैपायनसे जाकर निवेदन किया, तब महातेजस्वी व्यासजी ने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कहा कि—॥ ९ ॥ यथा समय ठीक २ योग आने पर हम तुम्हे दीक्षा देनेके लिये तयार हो हैं, हे कौरव ! सोनेके स्फ्य और कूर्च तथा और भी जो कुछ सुवर्णका बनवाना उचित हो उसको बनवाओ तथा आज ही घोड़ा छोड़दिया जाय तथा शास्त्रानुसार विधिपूर्वक रक्षा किये हुए उस घोड़ेको फिरने दो ॥ १० ॥ ११ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे ब्रह्मन ! यह छोडा हुआ घोडा इस पृथिवीपर इच्छानुसार घूमे, ऐसी विधि करो १२ हे मुने ! पृथिवी पर इच्छानुसार घूमते हुए इस घोड़ेकी रक्षा कौन करेगा, यह भी बताइये ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—हे राजेन्द्र ! युधिष्ठिरने व्यासमुनिसे यह बात बूझी, तब व्यास जीने कहा, कि—भीमसेनका छोटा भाई सब धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ है ॥ १४ ॥ वह जीतनेकी इच्छावाला, सहनशील और साहस

मह्यां जेतुं निवातकवचान्तकः ॥ १५ ॥ तस्मिन् ह्यस्त्राणि दिव्यानि दिव्यं संहननं तथा । दिव्यं धनुश्चेषुधी च स एनमनुयास्यति १६ स हि धर्मार्थकुशलः सर्वविद्याविशारदः । यथाशास्त्रं नृपश्रेष्ठ चारयिष्यति ते हयम् ॥१७॥ राजपुत्रो महाबाहुः श्यामो राजीवलोचनः । अभिमन्योः पिता वीरः स एनं पालयिष्यति ॥१८॥ भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः । समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशाम्पते ॥ १९ ॥ सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान् । कुटुम्बतन्त्रं विधिवत् सर्वमेव महायशाः ॥२०॥ तत्तु सर्वं यथान्यायमुक्तः कुरुकुलोद्वहः । चकार फाल्गुनञ्चापि सन्दिदेश हयम्प्रति ॥२१॥ युधिष्ठिर उवाच । एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं

वाला है, वह इसकी रक्षा करेगा, निवातकवचोंका कालरूप वह भूमंडलभरको जीतसकता है ॥ १५ ॥ उसके पास दिव्य शस्त्र, दिव्य अस्त्र और दिव्य धनुष है तथा वह बाण छोडनेमें चतुर है, वही इस घोड़ेके पीछे २ जायगा ॥ १६ ॥ वह धर्म और अर्थमें कुशल, सब विद्याओंमें प्रवीण है, इसलिये हे राजसत्तम ! वह घोड़ेको शास्त्रके अनुसार फिरावेगा ॥ १७ ॥ वह नील कमल की समान नेत्रोंवाला अभिमन्युका पिता महाबाहु राजकुमार वीर है, वही इस घोड़ेकी रक्षा करेगा ॥ १८ ॥ और हे राजन्! कुन्तीका पुत्र तेजस्वी भीमसेन बडा पराक्रम दिखानेवाला है तथा नकुल भी राष्ट्रकी रक्षा करसकता है ॥ १९ ॥ हे कुरुवंशी ! बुद्धिमान् और महायशस्वी सहदेव विधिपूर्वक सब कुटुम्बके काम को चलावेगा ॥ २० ॥ इसप्रकार व्यासजीने कहा, तब कुरुकुल को चलानेवाले युधिष्ठिरने उचित रीतिसे यह सब काम किया और अर्जुनको घोड़ेके विषयमें सब बातें समझादीं ॥ २१ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे वीर अर्जुन ! आओ, तुम्हें इस घोड़ेकी रक्षा करनी होगी, इसकी रक्षा तू ही करसकता है, दूसरा कोई

परिपाल्यताम् । त्वमहो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ।२२।
ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः । तैर्विग्रहो यथा
न स्यात्तथा कार्य्यं त्वयाऽनघ ॥ २३ ॥ आख्यातव्यश्च भवता
यज्ञोऽयं मम सर्वशः । पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति२४
वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधत् ॥ २५ ॥ कुटुम्बतन्त्रे च
तदा सहदेवं युधां पतिम् । अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिर।२६

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
अश्वरक्षार्थमर्जुननियोगे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥७२॥

वैशम्पायन उवाच । दीक्षाकाले तु संप्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः ।
विधिवद्दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ॥१॥ कृत्वा स पशुबन्धांश्च
दीक्षितः पाण्डुनन्दनः ।धर्मराजो महातेजाः सहर्त्विग्भिर्व्यरोचत२
हयश्च हयमेधार्थं स्वयञ्च ब्रह्मवादिना । उत्सृष्टः शास्त्रविधिना

मनुष्य नहीं करसकता ॥२२॥ हे निष्पाप महाबाहु अर्जुन ! ऐसा ढङ्ग रखना कि–जिसमें जो राजे आवें उनके साथ युद्ध न करना पड़े ॥ २३ ॥ तू उन सब राजाओंको मेरे इस यज्ञकी खबर कर देना और हे महाबाहु ! उन सब राजाओंको निमन्त्रण देदेना, कि–समय पर यहाँ आजायँ ॥ २४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–उन धर्मात्मा युधिष्ठिरने अपने भाई अर्जुनसे ऐसा कहकर भीम और नकुलको नगरकी रक्षा करनेका काम सौंप दिया ॥२५॥ और धृतराष्ट्रकी संमति लेकर योधाओंमें श्रेष्ठ सहदेवको कुटुम्बके कामपर नियत करदिया ॥२६॥ बहत्तरवाँ अध्याय समाप्त७२

वैशम्पायन कहते हैं, कि–जब दीक्षा देनेका समय हुआ तब बड़े२ ऋत्विजोंने राजाको विधिपूर्वक दीक्षा दी ॥ १ ॥ पशुओंको बाँधनेकी क्रिया करके पांडुनन्दन, महातेजस्वी धर्मराज ऋत्विजों के साथ शोभा पाने लगे ॥ २ ॥ अश्वमेधके लिये नियत किये

व्यासेनामिततेजसा ॥ ३ ॥ स राजा धर्म्मराट् राजन् दीक्षितो विबभौ तदा । हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः ॥ ४ ॥ कृष्णाजिनी दण्डपाणिः क्षौमवासाः स धर्म्मजः । विबभौ द्युतिमान् भूपः प्रजापतिरिवाध्वरे ॥ ५ ॥ तथैवास्यर्त्विजः सर्वे तुल्यवेशा विशाम्पते । बभूवुरर्जुनश्चापि प्रदीप्त इव पावकः ॥६॥ श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनञ्जयः । विधिवत् पृथिवीपाल धर्म्मराजस्य शासनात् ॥ ७ ॥ विक्षिपन् गाण्डिवं राजन् बद्धगोधांगुलित्रवान् । तमश्वं पृथिवीपाल मुदा युक्तः ससार च ॥८॥ आकुमारं तदा राजन्नागमत्तत् पुरं विभो । द्रष्टुकामं कुरुश्रेष्ठं प्रयास्यन्तं धनञ्जयम् ॥९॥ तेषामन्योऽन्यसंमर्द्दादूष्मेव समजायत । दिदृक्षूणां

हुए घोड़ेको शास्त्रकी विधिसे महातेजस्वी यज्ञको जाननेवाले व्यासजीने स्वयं छोड़दिया ॥३॥ हे राजन् ! (उस समय) यज्ञमें दीक्षा लेनेवाले राजा युधिष्ठिर कण्ठमें सुवर्णकी माला पहरनेसे सुवर्णमय कण्ठवाले मालूम होते थे और जलते हुए अग्निकी समान शोभा पाने लगे ॥ ४ ॥ हाथमें दण्ड लिये रेशमी वस्त्र पहर कर काली मृगछाला पर बैठे हुए वह धर्मपुत्र यज्ञमें विराजमान तेजस्वी प्रजापतिकी समान शोभा पारहे थे॥५॥ और हे राजन् ! उनकी समान ही वेषवाले उनके सब ऋत्विज और अर्जुन भी जलते हुए अग्निकी समान शोभा पाने लगे ॥ ६ ॥ हे राजन् ! धर्मराजकी आज्ञासे सफेद घोड़ोंवाला अर्जुन विधिपूर्वक उस काले हिरनकी समान घोड़ेके पीछे२ चलदिया ॥ ७ ॥ हे राजन् ! अर्जुन गांडीव धनुष पर टङ्कार देरहा था, हाथोंमें गोहके चमड़ेके मोजे पहरे हुए था और घोड़ेके पीछे२ चला जारहा था ॥ ८ ॥ हे विभो ! हे राजन् ! उस समय कुरुओंमें श्रेष्ठ अर्जुनको यात्राके समय देखनेकी इच्छासे बालकोंसे लेकर (बूढ़ों तक) सब नगर बाहर आगया ॥ ९ ॥ उस घोड़ेको और उसके पीछे२ आनेवाले

द्वयन्तश्च तं चैव हयसारिणम् ॥ १० ॥ ततः शब्दो महाराज दिशः खं प्रतिपूरयन् । बभूव प्रेक्षतां नृणां कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ११ एष गच्छति कौन्तेयस्तुरगश्चैव दीप्तिमान् । यमन्वेति महाबाहुः संस्पृशन्धनुरुत्तमम् ॥ १२ ॥ एवं शुश्राव वदतां गिरो जिष्णुरुदारधीः । स्वस्ति तेऽस्तु व्रजारिष्टं पुनश्चैहीति भारत ॥ १३ ॥ अथापरे मनुष्येन्द्र पुरुषा वाक्यमब्रुवन् । नैनं पश्याम संमर्दे धनुरेतत् प्रदृश्यते ॥ १४ ॥ एतद्धि भीमनिर्ह्रादं विश्रुतं गाण्डिवं धनुः । स्वस्ति गच्छत्वरिष्टो वै पन्थानमकुतोभयम् ॥ १५ ॥ निवृत्तमेनं द्रक्ष्यामः पुनरेष्यति च ध्रुवम् । एवमाद्या मनुष्याणां स्त्रीणां च भरतर्षभ ॥१६॥ शुश्राव मधुरा वाचः पुनः पुनरुदारधीः । याज्ञव-

---

अर्जुनको देखना चाहनेवाले उन पुरवासियोंकी आपसकी पिचापिचीसे घुटनसी होगई ॥ १० ॥ हे महाराज! उस समय कुन्तीपुत्र अर्जुनको देखनेवाले मनुष्योंके कोलाहलने दिशाओंको और आकाशको भरदिया ॥ ११ ॥ यह अर्जुन है और दमकता हुआ घोडा भी जारहा है, महाबाहु अर्जुन अपने उत्तम धनुष को स्पर्श करता हुआ उसके पीछे २ जारहा है ॥ १२ ॥ उदार बुद्धिवाले अर्जुनने लोगोंको यह बात कहते हुए सुना, कि-हे भारत! तेरा कल्याण हो, तेरा दुःख दूर हो, तुम सुखसे लौटकर आओ ॥ १३ ॥ हे नरेन्द्र! दूसरे मनुष्य यह बात कहरहे थे कि-इस भीड़में हमें अर्जुन तो दीखता ही नहीं, केवल उसका धनुष दीखरहा है ॥ १४ ॥ यह तो भयानक शब्द करनेवाला प्रसिद्ध गांडीव धनुष है, सुखसे सिधारो, मार्गके दुःख दूर हों, किसी प्रकारका भय न हो ॥ १५ ॥ यह लौटकर आवेंगे तब हम देखेंगे और यह निश्चय लौटकर आवेंगे, हे भरतसत्तम! पुरुषोंके और स्त्रियोंके मुखसे ऐसी २ मधुर बातें उस उदारबुद्धि वाले अर्जुनने वार २ सुनीं यज्ञके कार्यमें चतुर याज्ञवल्क्यका एक

त्वयस्य शिष्यश्च कुशलो यज्ञकर्मणि ॥ १७ ॥ प्रयातः पार्थेन सहितः शान्त्यर्थं वेदपारगः । ब्राह्मणाश्च महीपाला बहवो वेदपारगाः ॥१८॥ अनुजग्मुर्महात्मानं क्षत्रियाश्च विशाम्पते । विधिवत् पृथिवीपाल धर्म्मराजस्य शासनात् ॥ १९ ॥ पाण्डवैः पृथिवीमश्वो निर्जितामस्त्रतेजसा । चचार स महाराज यथादेशं च सत्तम २० तत्र युद्धानि वृत्तानि यान्यासन् पाण्डवस्य ह । तानि वक्ष्यामि ते वीर विचित्राणि महान्ति च ॥ २१ ॥ स हयः पृथिवीं राजन् प्रदक्षिणमवर्त्तत । ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ॥ २२ ॥ अवमृद्नन् स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः । शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥ २३ ॥ तत्र संगणना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा । येऽयुध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ॥ २४ ॥

शिष्य सोमश्रवा था, जो वेदका पारगामी था और शान्तिकर्मके लिये अर्जुनके साथ गया था, हे राजन् ! और भी बहुतसे वेदके पारगामी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भी हे महाराज! धर्मराजकी आज्ञा से विधिके अनुसार महात्मा अर्जुनके पीछे२ गये थे॥१६-१९॥ हे परमश्रेष्ठ महाराज!अस्त्रके बलसे पाण्डवोंकी जीती हुई पृथिवी पर वह घोड़ा इच्छानुसार फिरनेलगा॥२०॥हे वीर ! तहाँ जोर विचित्र और बड़े २ युद्ध हुए उनकी कथा मैं तुम्हें सुनाता हू॥२१॥ हे राजन् ! उस घोड़ेने पृथिवी पर प्रदक्षिणा करना आरम्भ करदी, हे महीपते ! आपको मालूम हो, कि–वह घोड़ा उत्तरसे पूर्वकी ओरको चलदिया॥२२॥वह परम उत्तम घोड़ा अनेकों राजाओं के राज्योंको खूँदता२ घूमने लगा और उसके पीछे धीरे २ सफेद घोड़ोंवाला महारथी अर्जुन चलाजाता था ॥२३॥ हे राजन् ! तहाँ जिनका कुटुम्बसहित नाश होगया था,ऐसे जिन२क्षत्रियोंने अर्जुन के साथ युद्ध किया, उन हजारों राजाओंकी तो गिनती ही नहीं होसकती ॥२४॥ हे राजन् ! बहुतसे किरात, यवन तथा तलवार

किराता यवना राजन् बहवोऽसिधनुर्द्धराः। म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ॥ २५ ॥ आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः। समीयुः पांडुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ॥ २६ ॥ एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते। अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ॥ २७ ॥ यानि तूभयतो राजन् प्रतप्तानि महान्ति च। तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवानघ ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
अश्वानुसरणे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

वैशम्पायन उवाच। त्रिगर्तैरभवद्युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः। महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ॥ १ ॥ ते समाज्ञाय संप्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम्। विषयान्ते ततो वीरा दंशिताः पर्य्यवारयन् २

और धनुष धारण करनेवाले दूसरे अनेकों जातियोंके म्लेच्छों के साथ युद्ध हुआ, कि जिनका रणमें नाश होगया ॥ २५ ॥ और परमप्रसन्न पुरुष तथा वाहनोंवाले और रणमें जिनका घमण्ड दूर होगया था ऐसे अनेकों आर्य राजे पाण्डुपुत्र अर्जुन के सामने आये ॥२६॥ हे राजन्! इसप्रकार जहाँ तहाँ भिन्न २ देशोंसे आयेहुए राजाओंके साथ अर्जुनके बहुतसे युद्ध हुए॥२७॥ हे निष्पाप राजन्! तहाँ जो दोनों ओरसे बड़े आवेशमें भरकर बड़े २ युद्ध हुए, अर्जुनके उन युद्धोंको मैं कहता हूँ ॥ २८ ॥ तिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त॥ ७३ ॥ छ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि जिनके साथ पहलेसे वैर बँधाहुआ था, जिनको लोग महारथी जानते थे और जिनका पुत्र पोत्रों सहित नाश होचुका था, उन त्रिगर्तोंके साथ मुकुटधारी अर्जुनका युद्ध हुआ ॥१॥ यज्ञके लिये निश्चय करके छोड़ा हुआ परमोत्तम घोड़ा उनके राज्यमें आपहुँचा है, यह जानते ही उन कवचधारियोंने आकर उसको चारों ओरसे घेरलिया ॥ २ ॥ रथोंमें

रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः । परिवार्य हयं राजन् ग्रहीतुं संप्रचक्रमुः ॥३॥ ततः किरीटी सञ्चिन्त्य तेषां तत्र चिकीर्षितम् । वारयामास तान् वीरान् सान्त्वपूर्वमरिन्दमः ॥ ४ ॥ तदनादृत्य ते सर्वे शरैरभ्यहनंस्तदा । तमोरजोभ्यां संच्छन्नांस्तान् किरीटी न्यवारयत् ॥ ५ ॥ तानब्रवीत्ततो जिष्णुः प्रहसन्निव भारत । निवर्त्तध्वमधर्म्मज्ञाः श्रेयो जीवितमेव च ॥ ६ ॥ स हि वीरः प्रयास्यन् वै धर्म्मराजेन वारितः । हतबान्धवा न ते पार्थ हन्तव्याः पार्थिवा इति ॥ ७ ॥ स तदा तद्वचः श्रुत्वा धर्म्मराजस्य धीमतः । तान्निवर्त्तध्वमित्याह न न्यवर्त्तन्त चापि ते ॥ ८ ॥ ततस्त्रिगर्त्तराजानं सूर्य्यवर्माणमाहवे । विचित्य शरजालेन प्रजहास

बैठे और बाणोंके भाथे कन्धों पर बाँधनेवाले उन्होंने हे राजन्! उत्तम सजाये हुए घुड़सवारोंके सहित उस घोड़ेको घेरकर पकड़ने का उद्योग करना आरम्भ करदिया ॥ ३ ॥ तब शत्रुओंका दमन करनेवाले किरीटधारी अर्जुनने, वे जो कुछ करना चाहते थे उसका विचार करके उन वीरोंको शान्तिके साथ समझाते हुए रोका ॥ ४ ॥ उन सबोंने अर्जुनकी बातका अनादर करके उनके ऊपर बाण छोड़ना आरम्भ करदिया, तमोगुण और रजोगुणसे दबेहुए उनको अर्जुनने रोका ॥ ५ ॥ हे भारत ! फिर धनञ्जयने हँसते २ उनसे कहा, कि-अरे धर्मको न जाननेवालो! पीछेको लौट जाओ, ऐसे मरनेसे जीना अच्छा है ॥ ६ ॥(ऐसा कहनेका) यह कारण था, कि-चलते समय राजा युधिष्ठिरने उस वीरसे कहदिया था, कि-हे पार्थ ! जिन राजाओंके कुटुम्बी मारेगये है, उनके ऊपर शस्त्र न चलाना ॥७॥ इस समय बुद्धिमान् धर्मराजकी वह बात याद आजानेसे उसने उनसे पीछेको लौट जानेके लिये कहा, परन्तु वे पीछेको नहीं लौटे ॥ ८ ॥ फिर रणमें त्रिगर्त्तके राजा सूर्यवर्माको बाणोंके जालसे बींधकर

धनंजयः ॥ ९ ॥ ततस्ते रथघोषेण रथनेमिस्वनेन च । पूरयन्तो दिशः सर्वा धनंजयमुपाद्रवन् ॥ १० ॥ सूर्यवर्मा ततः पार्थे शराणां नतपर्वणाम् । शतान्यमुञ्चद्राजेन्द्र लघ्वस्त्रमपिदर्शयन् ॥ ११ ॥ तथैवान्ये महेष्वासा ये च तस्यानुयायिनः । मुमुचुः शरवर्षाणि धनञ्जयवधैषिणः ॥१२॥ स तान् ज्यामुखनिर्मुक्तैर्बहुभिः सुबहून् शरान् । चिच्छेद पाण्डवो राजंस्ते भूमौ न्यपतंस्तदा ॥ १३ ॥ केतुवर्मा तु तेजस्वी तस्यैवावरजो युवा । युयुधे भ्रातुरर्थाय पांडवेन यशस्विना ॥ १४ ॥ तमापतन्तं संप्रेक्ष्य केतुवर्माणमाहवे । अभ्यघ्नन्निशितैर्बाणैर्बीभत्सुः परवीरहा ॥ १५ ॥ केतुवर्मण्यभिहते धृतवर्मा महारथः । रथेनाशु समुत्पत्य शरैर्जिष्णुमवाकिरत् ।१६। तस्य तां शीघ्रतामीक्ष्य तुतोषातीव वीर्यवान् । गुडाकेशो महातेजा

धनञ्जय बड़े जोरसे हँसा ॥ ९ ॥ तदनन्तर रथोंकी घरघराहट और रथोंके पहियोंके शब्दसे सब दिशाओंको भरते हुए वे अर्जुनके ऊपर टूट पड़े ॥ १० ॥ हे राजेन्द्र ! तदनन्तर सूर्यवर्मा ने अस्त्र छोड़नेकी फुरती दिखाते हुए तिरछे फलकोंवाले सैकड़ों बाण अर्जुनके ऊपर छोड़े ॥ ११ ॥ ऐसे ही उनके साथ जो और बड़े २ धनुषधारी आये थे उन्होंने भी अर्जुनको मारडालनेकी इच्छासे बाणोंकी वर्षा करडाली ॥ १२ ॥ हे राजन् ! अर्जुनने धनुषकी प्रत्यञ्चामेंसे छूटतेहुए बहुतसे बाणोंसे उन बाणोंको काट डाला, तब वे पृथिवी पर गिरगए ॥ १३ ॥ फिर उसका जवान और तेजस्वी छोटा भाई केतुवर्मा अपने भाईके लिये कीर्त्तिवान् अर्जुनके साथ लडा ॥ १४ ॥ रणमें केतुवर्मा मेरे ऊपर टूटपडा, यह देखकर शत्रुओंका नाश करनेवाले वीर अर्जुनने तेज बाणों से उसको मारडाला ॥ १५ ॥ केतुवर्माके मारेजाने पर महारथी धृतवर्मा एकसाथ रथपर सवार होकर चढ आया और बाणों से धनञ्जयको ढकदिया ॥ १६ ॥ उस बालक धृतवर्माके हाथ

चालस्य धृतवर्मणः ॥ १७ ॥ न सन्दधानं ददृशे नाददानञ्च तं तदा । किरन्तमेव स शरान् ददृशे पाकशासनिः ॥ १८ ॥ स तु तं पूजयामास धृतवर्माणमाहवे । मनसा स मुहूर्त्तं वै रणे सम-भिहर्षयन् ॥ १९ ॥ तं पन्नगमिव क्रुद्धं कुरुवीरः स्मयन्निव । प्रीतिपूर्वं महाबाहुः प्राणैर्नव्यपरोपयत् ॥२०॥ स तथा रक्ष्यमाणो वै पार्थेनामिततेजसा । धृतवर्मा शरं दीप्तं मुमोच विजये तदा २१ स तेन विजयस्तूर्णमासीद्विद्धः करे भृशम् । मुमोच गाण्डिवं मोहात्सन् पपाताथ भूतले ॥ २२ ॥ धनुषः पततस्तस्य सव्यसाचि-कराद्विभो । बभूव सदृशं रूपं शक्रचापस्य भारत ॥ २३ ॥ तस्मिन्निपतिते दिव्ये महाधनुषि पार्थिवः । जहास सस्वनं हासं धृतवर्मा महाहवे ॥ २४ ॥ ततो रोषार्दितो जिष्णुः प्रमृज्य रुधिरं

की फुरतीको देखकर महातेजस्वी वीर्यवान् अर्जुन बड़ा प्रसन्न हुआ ॥१७॥ वह कब बाण चढ़ाता था और कब बाणोंको भाथेमें से खेंचता था, इस बातको इन्द्रका पुत्र अर्जुन भी नहीं जान सका वह केवल बाण बरसाता हुआ ही दीखता था ॥ १८ ॥ उसने रणमें धृतवर्माकी सराहना की और रणमें उसको जरा देर मनमें प्रसन्न होने दिया ॥ १९ ॥ कुरुवीर महाबाहु अर्जुनने क्रोधमें भरेहुए सर्पकी समान उस धृतवर्माके प्राणोंका प्रीतिभाव से नाश नहीं किया ॥ २० ॥ इसप्रकार परमतेजस्वी इन्द्रपुत्रने उसको छोडदिया, तब धृतवर्माने एक तेजस्वी बाण अर्जुनके ऊपर छोडा ॥ २१ ॥ तब एकसाथ धनञ्जयका हाथ बिंधगया, घूमनी आजाने पर उसने हाथमेंसे गाण्डीवको छोडदिया और वह पृथिवी पर गिरपडा ॥२२॥ हे भरतवंशी राजन् ! अर्जुनके हाथमेंसे गिरतेहुए उस धनुषका रूप इन्द्रके धनुषकी समान होगया ॥ २३ ॥ हे राजन् ! उस बडेभारी दिव्य धनुषको गिरते हुए देखकर उस महायुद्धमें धृतवर्मा बड़े जोरका शब्द करके

करात् । धनुरादत्त तद्दिव्यं शरवर्षैर्ववर्ष च ॥२५॥ ततो हलहला-शब्दो दिवस्पृगभवत्तदा । नानाविधानां भूतानां तत्कर्माणि प्रशंसताम् ॥ २६ ॥ ततः सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं कालान्तकयमोपमम् । जिष्णुं त्रैगर्त्तका योधाः परीताः पर्य्यवारयन् ॥२७॥ अभिसृत्य परीप्सार्थं ततस्ते धृतवर्म्मणः । परिवव्रुर्हृषीकेशं तत्राक्रुध्यद्धनञ्जयः ॥ २८ ॥ ततो योधान् जघानाशु तेषां स दश चाष्ट च । महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्बहुभिः शरैः ॥२९॥ तान् संप्रभग्नान् संप्रेक्ष्य त्वरमाणो धनञ्जयः । शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ॥३०॥ ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्त्तकमहारथाः । दिशोऽभिदुद्रुवू राजन् धनञ्जयशरार्दिताः ॥३१॥ तमूचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम् ।

हँसा ॥ २४ ॥ तब तो अर्जुनने क्रोधमें भरकर हाथमेंके रुधिरको पोंछकर धनुषको फिर उठालिया और बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २५ ॥ फिर उसके पराक्रमकी प्रशंसा करतेहुए नाना प्रकारके प्राणियोंका बडाभारी शब्द आकाशमें गूँजकर उसको भरताहुआसा मालूम हुआ ॥ २६ ॥ फिर कालान्तक यमकी समान क्रोधमें भरेहुए अर्जुनको देखकर त्रिगर्त्त देशके योधाओं ने एकसाथ आकर उसको चारों ओरसे घेरलिया ॥२७॥ फिर धृतवर्माकी रक्षाके लिये दौडकर आयेहुए उन्होंने अर्जुनको घेर लिया, इससे वह क्रोधमें भरगया ॥ २८ ॥ तब उसने एकसाथ उनके अठारह योधाओंको इन्द्रके वज्रकी प्रतिमा समान फौलाद के बहुतसे बाण छोडकर मारडाला ॥२९॥ तब उन योधाओंमें भागड पडगई, यह देखकर फुरतीवाले धनञ्जयने जोरसे हँस कर विषधर सर्पोंकेसे आकारवाले बाणोंसे उनको मारना आरंभ करदिया ॥ ३० ॥ फिर अर्जुनके बाणोंसे पीडा पानेके कारण जिनका मन टूटगया है, ऐसे निराश हुए त्रिगर्त्तके सब महारथी हे राजन् ! चारों ओरको भागनेलगे ॥ ३१ ॥ और संशप्तकोंका

तवा स्म किङ्कराः सर्वे सर्वे वै वशगास्तव ॥ ३२ ॥ आज्ञापयस्व नः पार्थ प्रह्वान् प्रेष्यानवस्थितान् । करिष्यामः प्रियं सर्वं तव कौरवनन्दन ॥ ३३ ॥ एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत्तदा । जीवितं रक्षत नृपाः शासनं प्रतिगृह्यताम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
त्रिगर्तपराभवे चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच । प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत् स हयोत्तमः । भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ॥ १ ॥ स हयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम् । युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः २ सोऽभिनिर्याय नगराद्भगदत्तसुतो नृपः । अश्वमायान्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ॥३॥ तमालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा ।

नाश करनेवाले पुरुषोंमें सिंहसमान अर्जुनसे कितनोंहीने कहा, कि-हम तुम्हारे सेवक हैं और हम-सब तुम्हारे वशमें होगये हैं ३२ हे धनञ्जय ! तुम अपने आज्ञाकारी सरल सेवकोंकी समान खड़ेहुए हमें आज्ञा दो; हे कौरवनन्दन ! हम तुम्हारा सब प्रिय काम करेंगे ॥ ३३ ॥ उनकी इस बातको सुनकर अर्जुनने उन सबोंसे कहा, कि-हे राजाओं ! तुम अपने जीवनकी रक्षाकरो और हमारा शासन स्वीकार करो ॥३४॥ चौहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि-फिर प्राग्ज्योतिष राज्यकी ओरको आकर वह परमोत्तम घोड़ा फिरनेलगा, तहाँ रणमें बड़ा कर्कश भगदत्तका पुत्र निकलकर आया ॥ १ ॥ पाण्डवोंके घोड़ेके अपनी सीमा (हद) में आते ही हे भरतसत्तम ! राजा वज्रदत्तने युद्ध करना आरम्भ करदिया ॥ २ ॥ उस भगदत्तके पुत्र राजा वज्रदत्तने नगरमेंसे बाहर आ चलकर आते हुए घोड़ेको पकड़लिया और उसको बाँध अपने नगरीमेंको लेजाने

गाण्डीवं विक्षिपन्पूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ॥ ४ ॥ ततो गाण्डीव-निर्मुक्तैरिषुभिर्मोहितो नृपः । हयमुत्सृज्य तं वीरस्ततः पार्थमुपाद्रवत् ॥ ५ ॥ पुनः प्रविश्य नगरं दंशितः स नृपोत्तमः । आरुह्य नागप्रवरं निर्ययौ रणकर्कशः ॥६॥ पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्द्धनि । दोधूयता चामरेण श्वेतेन च महारथः ॥७॥ ततः पार्थं समासाद्य पाण्डवानां महारथम् । आह्वयामास बीभत्सुं बाल्यान्मोहाच्च संयुगे ॥ ८ ॥ स वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम् । प्रेषयामास संक्रुद्धः श्वेताश्वं प्रति पार्थिवः ॥ ९ ॥ विक्षरन्तं महामेघं परवारणवारणम् । शास्त्रवत् कल्पितं संख्ये त्रिमदं युद्धदुर्मदम् ॥ १० ॥ प्रचोद्यमानः स गजस्तेन राज्ञा महाबलः ।

लगा ॥३॥ यह देख कुरुओंमें उत्तम महाबाहु अर्जुनने उस समय गांडीव धनुषके ऊपर टङ्कार देकर एकसाथ उसके ऊपर धावा करदिया ॥ ४ ॥ तब गांडीवमेंसे छूटते हुए बाणोंसे व्याकुल हुआ वह वीर राजा घोड़ेको छोडकर दूर भाग गया ॥५॥ और नगरमें जा कवच पहर कर तथा बढ़िया हाथी पर सवार होकर रणमें कड़ा पडनेवाला वह उत्तम राजा फिर बाहर आगया ॥६॥ उस महारथीके शिर पर सफेद छत्र लगरहा था और सफेद चँवर डुलरहे थे॥७॥ फिर पांडवोंके महारथी बीभत्सु अर्जुनको सामने आकर बाल्यभावसे और नासमझीसे लडनेको पुकारने लगा ॥८॥ फिर बड़े क्रोधमें भरे हुए उस राजाने गण्डस्थलमेंसे मद टपकानेवाले पर्वताकार अपने हाथीको अर्जुनके सामनेको बढ़ाया ॥९॥ वह हाथी बड़े भारी मेघकी समान मद टपका रहा था, वैरियोंके हाथियोंको हटाने वाला था, उसको शास्त्रकी रीतिसे शिक्षा दीगई थी, वह युद्धमें मतवाला होकर आपेसे बाहर होजाता था ॥१०॥ उस महाबली हाथीको राजा अंकुश मार २ कर आगेको बढ़ा रहा था, वह ऐसा मालूम होरहा था मानो

तदांकुशेन विबभ्रुत्पतिष्यन्निवाम्बरम् ॥ ११ ॥ तमापतन्तं संप्रेक्ष्य
क्रुद्धो राजन् धनञ्जयः । भूमिष्ठो वारणगतं योधयामास भारत १२
वज्रदत्तस्ततः क्रुद्धो मुमोचाशु धनञ्जये । तोमरानग्निसङ्काशान्
शलभानिव वेगितान् ॥ १३ ॥ अर्जुनस्तानसंप्राप्तान् गाण्डीव-
प्रभवैः शरैः । द्विधा त्रिधा च चिच्छेद ख एव खगमैस्तदा ॥ १४ ॥ स
तान् दृष्ट्वा तथा छिन्नांस्तोमरान् भगद जः । इषूनसक्तांस्त्वरितः
प्राहिणोत् पांडवं प्रति ॥ १५ ॥ ततोऽर्जुनस्तूर्णतरं रुक्मपुंखान-
जिह्मगान् । प्रेषयामास संक्रुद्धो भगदत्तात्मजं प्रति ॥ १६ ॥ स
तैर्विद्धो महातेजा वज्रदत्तो महामृधे । भृशाहतः पपातोर्व्यां न
त्वेनमजहात् स्मृतिः ॥ १७ ॥ ततः स पुनरारुह्य वारणप्रवरं रणे ।

आकाशमेंको उडना चाह रहा है ॥ ११ ॥ हे राजन् ! उसको दौडकर आते देख क्रोधमें भरे हुए धनञ्जयने हे राजन् ! भूमिमें खडे रहकर हाथी पर बैठे हुए उस राजाके साथ युद्ध किया ॥ १२ ॥ फिर क्रोधमें भरेहुए वज्रदत्तने धनञ्जयके ऊपर अग्निकी समान झलझलाते हुए और वेगवाले तोमर टीडीकी समान फेंके ॥ १३ ॥ उस समय अर्जुनने गांडीवमेंसे छूटे हुए आकाशमेंको दौडनेवाले बाणोंसे उन तोमरोंको आकाशमें ही, वे पास भी नहीं आने पाये, उधरके उधर ही एकके दो२तीन३टुकडे करडाले ॥ १४ ॥ भगदत्तके पुत्रने उन तोमरोंको कटे हुए देखकर बडी फुरतीसे अर्जुनके सामनेको एकसमान बाण छोडे ॥ १५ ॥ तब अर्जुनने क्रोधमें भरकर और भी अधिक फुरतीसे भगदत्तके लडकेके ऊपर सुनहरी परोंवाले तथा सीधे जानेवाले बाण छोडे ॥ १६ ॥ उस महायुद्धमें महातेजस्वी वज्रदत्त उन बाणोंसे बिंधगया और अधिक घायल होजानेके कारण भूमि पर गिर पडा, परन्तु उसकी स्मरणशक्ति उसको छोडकर नहीं गई ॥ १७ ॥ इसलिये वह घबडाया नहीं, किन्तु फिर श्रेष्ठ हाथी पर चढकर

अव्यग्रः प्रेषयाम जयार्थी विजयं प्रति ॥ १८ ॥ तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान्। प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितज्वलनोपमान् ॥ १९ ॥ स तैर्विद्धो महानागो विस्रवन् रुधिरं बभौ। गैरिकाक्तमिवाम्भोऽद्रिर्बहुप्रस्रवणं तदा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तयुद्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच। एवं त्रिरात्रमभवत्तद्युद्धं भरतर्षभ। अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ॥ १ ॥ ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः। जहास सस्वनं हासं वाक्यञ्चेदमथाब्रवीत् ॥ २ ॥ अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन् विमोक्ष्यसे। त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि ॥३॥ त्वया वृद्धो मम पिता भगदत्तः

रणमें हटगया और उसने विजयकी इच्छासे अर्जुनके ऊपरको हाथी बढाया ॥ १८ ॥ तब महाक्रोधमें भरेहुए अर्जुनने उसकी ओरको छोड़े हुए विषैले साँपोंकी समान तथा जलतेहुए अग्निकी समान बाण छोड़े ॥१९॥ उन बाणोंसे घायल होकर रुधिरको टपकाताहुआ वह बडा हाथी उस समय बहुतसे झरनोंवाले गिरिराज हिमालयकी समान मालूम होता था ॥ २० ॥ पिचहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥ ❀

हे भरतसत्तम! इसप्रकार वृत्रासुरके साथ इन्द्रके युद्धकी समान उस राजाके साथ अर्जुनका युद्ध तीन रात बराबर होता रहा॥१ फिर चौथे दिन महाबली वज्रदत्त बड़े जोरसे शब्द करता हुआ हँसा और फिर यह बात कहनेलगा, कि-॥ २ ॥ ओ अर्जुन! ओ अर्जुन! खडा रह, मैं तुझे जीता नहीं छोड़ूँगा, तुझे मार कर मैं अपने पिताको विधिपूर्वक जलदान दूँगा, ॥ ३ ॥ मेरा बूढा पिता भगदत्त तेरे पिताका मित्र था, तो भी तूने उसको मार डाला मेरा पिता बूढा था उसको दबाकर तूने मारडाला, परन्तु

पितुः सखा । हत्वो वृद्धा मम पिता शिशुं मामत्र योधय ॥ ४ ॥ इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः । प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ॥ ५ ॥ सम्प्रेष्यमाणो नागेन्द्रो वज्रदत्तेन धीमता । उत्पतिष्यन्निवाकाशमभिदुद्राव पाण्डवम् ॥ ६ ॥ अग्रहस्तमुमुक्तेन सीकरेण स नागराट् । समौक्षत गुडाकेशं शैलं नीलमिवाम्बुदः ॥ ७ ॥ स तेन प्रेषितो राज्ञा मेघवन्निनदन्मुहुः । मुखाडम्बरसंहादैरभ्यद्रवत फाल्गुनम् ॥८॥ स नृत्यन्निव नागेन्द्रो वज्रदत्तप्रचोदितः । आससाद द्रुतं राजन् कौरवाणां महारथम् ९ तमापतन्तमथालक्ष्य वज्रदत्तस्य वारणम् । गाण्डीवमाश्रित्य बली न व्यकम्पत शत्रुहा ॥ १० ॥ चुक्रोध बलवच्चापि पाण्डवस्तस्य भूपतेः । कार्यविघ्नमनुस्मृत्य पूर्ववैरं च भारत ॥ ११ ॥ ततस्तं

आज मुझ बालकके साथ भी युद्ध कर देख ॥ ४ ॥ बड़े क्रोधमें भरेहुए राजा वज्रदत्तने हे कुरुवंशी ! ऐसा कहकर अर्जुनके ऊपरको अपना हाथी बढ़ादिया ॥५॥ बुद्धिमान् वज्रदत्तका तिकतिकाया हुआ गजराज आकाशमेंको उडताहुआसा अर्जुनके ऊपर को दौडा ॥ ६ ॥ जैसे काली घनघटा पहाडके ऊपर जल बरसाती है तैसे ही उस नागराजने सूँडके अग्रभागसे फैंकेहुए जल की बौछारसे अर्जुनको भिगोदिया ॥ ७ ॥ उस राजाका हाँका हुआ वह हाथी बार २ मेघकी समान गरजताहुआ और खोले हुए मुखकी चिंघाड़ोंके साथ अर्जुनके ऊपर झपटा ॥ ८ ॥ वज्रदत्तका वेगके साथ बढ़ायाहुआ वह गजराज हे राजन् ! नाचतासा हुआसा कौरवोंके महारथी अर्जुनके पास शीघ्र ही आपहुँचा ९ सामनेसे आतेहुए वज्रदत्तके हाथीको देखकर गाण्डीवके ऊपर भरोसा रखनेवाला, शत्रुनाशक बलवान् अर्जुन जराभी नहीं घबडाया ॥ १० ॥ किन्तु पांडव कार्यमें विघ्न और पहले वैरको यादकरके उस राजाके ऊपर बड़े ही क्रोधमें भरगया ॥ ११ ॥

वारणं क्रुद्धः शरजालेन पाण्डवः । निवारयामास तदा वेलेव मकरालयम् ॥ १२ ॥ स नागप्रवरः श्रीमानर्जुनेन निवारितः । तस्थौ शरैर्विभिन्नाङ्गः श्वाविच्छललितो यथा ॥१३॥ निवारितं गजं दृष्ट्वा भगदत्तसुतो नृप ॥ उत्ससर्ज शितान् बाणानर्जुने क्रोधमूर्छितः ॥ १४ ॥ अर्जुनस्तु महाबाहुः शरैररिनिघातिभिः । वारयामास तान् बाणांस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१५॥ ततः पुनरभिक्रुद्धो राजा प्राग्ज्योतिषाधिपः । प्रेषयामास नागेन्द्रं बलवत् पर्वतोपमम् ॥ १६ ॥ तमापतन्तं संप्रेक्ष्य बलवत् पाकशासनिः । नाराचमग्निसङ्काशं प्राहिणोद्वारणं प्रति ॥१७॥ स तेन वारणो राजन् मर्मस्वभिहतो भृशम् । पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ॥१८॥ स पतन् शुशुभे नागो धनञ्जयशराहतः । विशन्निव

फिर कोपमें भरे हुए पाण्डवने बहुतसे बाण छोड़कर उस हाथीको ऐसे रोकदिया, जैसे किनारा समुद्रको रोकदेता है ॥ १२ ॥ अर्जुनका रोकाहुआ वह शोभावाला और बाणोंसे छिदेहुए अङ्गोंवाला हाथी, खड़ेहुए परोंवाली सेईकी समान खड़ा रह गया ॥ १३ ॥ भगदत्तका पुत्र राजा वज्रदत्त अपने हाथीको रुका हुआ देखकर क्रोधसे विह्वल होगया और अर्जुनके ऊपर तेज बाण छोडनेलगा ॥ १४ ॥ महाबाहु अर्जुनने भी वैरीका नाश करनेवाले बाणोंसे उन बाणोंको रोकदिया वह एक अचरजसा होगया ॥ १५ ॥ तब फिर महाक्रोधमें भरकर प्राग्ज्योतिष देशके राजाने पहाडकी समान उस नागराजको बलात्कारसे अर्जुनके ऊपर दौडाया ॥ १६ ॥ बलवान् अर्जुनने उसको ऊपरको आता देखकर उसके ऊपर अग्निकी समान धधकताहुआ नाराच नामका बाण छोडा ॥ १७ ॥ हे राजन् ! उससे मर्मस्थानोंमें बहुत ही घायल हुआ वह हाथी वज्रसे टूटे हुए पहाडकी समान एकदम भूमिपर ढहपड़ा ॥ १८ ॥ अर्जुनके

महाशैलो महीं वज्रप्रपीडितः ॥ १९ ॥ तस्मिन्निपतिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः । तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृप ॥ २० ॥ अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः । राजानस्ते न हन्तव्या धनञ्जय कथञ्चन ॥ २१ ॥ सर्वमेतन्नरव्याघ्र भवत्येतावता कृतम् । योधाश्चापि न हन्तव्या धनञ्जय रणे त्वया ॥ २२ ॥ वक्तव्याश्चापि राजानः सर्वे सह सुहृज्जनैः । युधिष्ठिरस्याश्वमेधो भवद्भिरनुभूयताम् ॥ २३ ॥ इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां नराधिप । उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान् गच्छ पार्थिव ॥ २४ ॥ आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम् । यदाश्वमेधो भविता

बाणसे घायल होकर गिरताहुआ वह हाथी, वज्रसे टूटकर पृथिवी में घुसते हुए बडेभारी पहाडकी समान शोभायमान हुआ ॥ १९ ॥ जब वह वज्रदत्तका हाथी गिरगया तब उस राजाने अर्जुनके सामने आ भूमिपर शिर रख प्रणाम किया, यह देख अर्जुनने कहा, कि-तुम्हें डरना नहीं चाहिये ॥ २० ॥ क्योंकि-जिस समय मैं चला था, उस समय महातेजस्वी युधिष्ठिरने मुझसे कह दिया था, कि-हे धनञ्जय ! तू किसी कारणसे भी राजाओंको मारना नहीं ॥ २१ ॥ हे नरव्याघ्र ! इतना करनेसे मानो सब काम सिद्ध होजायगा इसलिये हे धनञ्जय ! रणमें तू किसी भी योधाको न मारना ॥ २२ ॥ तथा सब राजाओंसे यह भी कह देना, कि-तुम अपनी मित्रमण्डलीके सहित युधिष्ठिरके अश्वमेध यज्ञमें आकर (उसके उत्सवका) अनुभव करिये ॥ २३ ॥ हे राजन् ! भाईकी यह बात सुनकर (याद रखकर) मैं तुझे मारूँगा नहीं, तू खडा होजा, हे राजन् ! तुझे कुछ भय नहीं है, सुखसे अपने घर जा ॥ २४ ॥ हे महाराज ! आगे जो चैत्रकी पूर्णिमा आनेवाली है, उस दिन आना, उस दिन ही बुद्धिमान्

धर्म्मराजस्य धीमतः ॥२५॥ एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा । तथेत्येवाब्रवीद्वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि वज्रदत्तपराजये षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

वैशम्पायन उवाच । सैन्धवैरभवद्युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः । हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ॥१॥ तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम् । प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ॥ २ ॥ अश्वञ्च तं परामृश्य विषयान्ते विषोपमाः । न भयं चक्रिरे पार्थाद्भीमसेनादनन्तरात् ॥ ३ ॥ तेऽविदूराद्धनुष्पाणिं यज्ञियस्य हयस्य च । बीभत्सुं प्रत्यपद्यन्त पदातिनमवस्थितम् ॥ ४ ॥ ततस्ते तं महावीर्या राजानः पर्यवारयन् । जिगीषन्तो नरव्याघ्रं पूर्वं विनिकृता युधि ॥५॥ ते नामान्यपि गोत्राणि कर्माणि विविधानि च ।

धर्मराजका अश्वमेध यज्ञ होगा ॥ २५ ॥ इसप्रकार कहने पर अर्जुनके जीते हुए भगदत्तके पुत्र राजा वज्रदत्तने कहा, कि-बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा॥२६॥छिहत्तरवाँ अध्याय समाप्त॥७६॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे महाराज ! तदनन्तर जो सैंधव मरते२ बचरहे थे उनके साथ जो मारेगये थे उनके साथ अर्जुन का युद्ध हुआ ॥ १ ॥ पाण्डवोंमें श्रेष्ठ पुरुष अर्जुन हमारे देशमें आया है, यह सुनकर, न सहसकनेवाले उन राजाओंने सामना किया ॥ २ ॥ उस घोड़ेको अपने देशमें आया देखकर विषकी समान वे राजे भीमसेनके छोटे भाई अर्जुनसे डरे नहीं ॥ ३ ॥ यज्ञके लिये निश्चित किये हुए उस घोड़ेके पास हाथमें धनुष लेकर पैदल खड़े हुए अर्जुनके ऊपर उन्होंने धावा करदिया॥४॥ पहले युद्धमें हारे हुए और उस नरव्याघ्रको जीतनेकी इच्छावाले उन महावीर राजाओंने उसको चारों ओरसे घेरलिया ॥ ५ ॥ अपने नाम, गोत्र और अनेकों प्रकारके पराक्रमोंको बखानते हुये

कीर्त्तयन्तस्तदा पार्थं शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ६ ॥ ते किरन्तः शर-
व्रातान् वारणप्रतिवारणान् । रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्य-
वारयन् ॥ ७ ॥ ते समीक्ष्य च तं कृष्णमुग्रकर्माणमाहवे । सर्वे
युयुधिरे वीरा रथस्थास्तं पदातिनम् ॥ ८ ॥ ते तमाजघ्निरे वीरं
निवातकवचान्तकम् । संशप्तकनिहन्तारं हन्तारं सैन्धवस्य च ॥९॥
ततो रथसहस्रेण हयानामयुतेन च । कोष्ठकीकृत्य बीभत्सुं महृष्ट-
मनसोऽभवन् ॥ १० ॥ तं स्मरन्तो वधं वीराः सिन्धुराजस्य
चाहवे । जयद्रथस्य कौरव्य समरे सव्यसाचिना ॥ ११ ॥ ततः
पर्जन्यवत् सर्वे शरवृष्टीरवासृजन् । तैः कीर्णः शुशुभे पार्थो रवि-
र्मेघान्तरे यथा ॥ १२ ॥ स शरैः समवच्छन्नश्चकाशे पाण्डव-
र्षभः । पंजरान्तरसञ्चारी शकुन्त इव भारत ॥१३॥ ततो हाहा-

उन्होंने धनंजयको बाणोंकी वर्षासे ढकदिया ॥ ६ ॥ वैरियोंके
हाथियोंको रोकनेवाले, बाणोंकी वर्षा करते हुए और रणमें
जीतना चाहनेवाले उन्होंने धनंजयको चारों ओरसे घेरलिया॥७॥
रणमें भयानक पराक्रम करनेवाले उस धनंजयको देखकर रथमें
बैठे हुए वे सब वीर पुरुष पैदल खड़े हुए धनंजयके साथ लड़ने
लगे ॥ ८ ॥ निवातकवचोंके कालरूप संशप्तकोंको तथा
सिन्धुओंके राजा जयद्रथको मार डालनेवाले उस वीरको वे सब
मारने लगे ॥ ९ ॥ फिर हजारों रथ और लाखों घोड़ोंसे धनं-
जयको घेरेमें लाकर वे अपने मनमें बड़े प्रसन्न हुये ॥१०॥ रण
में सव्यसाची अर्जुनने सिन्धुराज जयद्रथको मारडाला था, इस
बातको वे वीर याद करने लगे और हे कुरुवंशी ! वे इस लड़ाईमें
वर्षाकी समान बाण बरसाने लगे, उन बाणोंसे ढकाहुआ धनं-
जय बादलोंसे ढके हुये सूर्यकी समान शोभा पारहाथा ॥११-१२॥
हे भारत ! बाणोंसे बहुत ढकाहुआ पाण्डवश्रेष्ठ धनंजय पिंजरे
में फिरनेवाले तोतेकी समान शोभा पारहा था ॥ १३ ॥ तदनं-

कृतं सर्वं कौन्तेये शरपीडिते । त्रैलोक्यमभवद्राजन् रविरासीच्च निष्प्रभः ॥ १४ ॥ ततो ववौ महाराज मारुतो लोमहर्षणः । राहुरग्रसदादित्यं युगपत् सोममेव च ॥ १५ ॥ उल्काश्च जघ्निरे सूर्यं व्यकीर्यन्त समन्ततः । वेपथुश्चाभवद्राजन् कैलासस्य महागिरेः १६ मुमुचुः श्वासमत्युष्णं दुःखशोकसमन्विताः । सप्तर्षयो जातभयास्तथा देवर्षयोऽपि च ॥ १७ ॥ शशं चाशु विनिर्भिद्य मण्डलं शशिनोऽपतत् । विपरीता दिशश्चापि सर्वा धूमाकुलास्तथा ॥ १८ ॥ रासभारुणसङ्काशा धनुष्मन्तः सविद्युतः । आवृत्य गगनं मेघा मुमुचुर्मांसशोणितम् ॥ १९ ॥ एवमासीत्तदा वीरे शरवर्षेण संवृते । फाल्गुने भरतश्रेष्ठ तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २० ॥ तस्य तेनावकीर्णस्य शरजालेन सर्वतः । मोहात् पपात गाण्डीवमावापं च करादपि २१

तब कुन्तीका पुत्र बाणोंसे पीडा पाने लगा तब सब त्रिलोकी हाहाकार करने लगी और सूर्य भी निस्तेज होगया ॥ १४ ॥ हे महाराज ! रोमाञ्च खड़े करनेवाला पवन चलने लगा तथा राहु अमावस्याके दिन सूर्यको ग्रसने लगा ॥ १५ ॥ तारागण गिरतेमें चारों ओरको बिखर कर सूर्यसे टकराने लगे हे राजन् ! महागिरि कैलास भी डगमगाने लगा ॥ १६ ॥ दुःख और शोकसे घिरे तथा भयभीत हुए सप्तऋषि और देवऋषि भी बड़े २ गरम श्वास छोडनेलगे ॥ १७ ॥ चन्द्रमाका मण्डल एकसाथ शशको चापल करताहुआ गिरपडा, सब दिशायें धुएँसे भरगईं और विपरीत बनगईं ॥ १८ ॥ गधेकेसे और लालपनमिले रङ्गके धनुषवाले तथा बिजलीवाले मेघ आकाशको घेर कर मांस और रुधिरकी वर्षा करनेलगे ॥ १९ ॥ वह वीर धनञ्जय जब बाणोंकी वर्षासे घिरगया, उस समय हे भरतसत्तम! ऐसा बनाव बना था, यह एक अचरजकीसी बातथी २० उस बाणजालसे चारों ओरसे घिरेहुए धनञ्जयके हाथमेंसे धनु-

तस्मिन्मोहमनुप्राप्ते शरजालं महत्तदा। सैन्धवा मुमुचुस्तूर्णं गत-
सत्त्वे महारथे॥ २२॥ ततो मोहसमापन्नं ज्ञात्वा पार्थं दिवौकसः।
सर्वे वित्रस्तमनसा तस्य शान्तिकृतोऽभवन्॥ २३॥ ततो देवर्षयः
सर्वे तथा सप्तर्षयोऽपि च। ब्रह्मर्षयश्च विजयं जेपुः पार्थस्य
धीमतः॥ २४॥ ततः प्रदीपिते देवैः पार्थतेजसि पार्थिव। तस्था-
वचलवद्धीमान् संग्रामे परमास्त्रवित्॥ २५॥ विचकर्ष धनुर्दिव्यं
ततः कौरवनन्दनः। यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महांस्तस्य पुनः पुनः॥२६
ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान् प्रति प्रभुः। ववर्ष धनुषा पार्थो
वर्षाणीव पुरन्दरः॥ २७॥ ततस्ते सैन्धवा योधाः सर्वे एव
सराजकाः। नादृश्यन्त शरैः कीर्णाः शलभैरिव पादपाः॥ २८॥

राहटमें गाण्डीव धनुष और चमड़ेके दस्ताने गिरपडे॥ २१॥
जब अर्जुन मोहमें पड़गया तब सत्त्वरहित हुए उस महारथीके
ऊपर एकसाथ उन सैंधव राजाओंने एक बडा भारी बाणोंका
जाल पूरदिया॥ २२॥ फिर अर्जुनको मोह होगया, यह
जानकर सब देवताओंके मनोंमें भय बैठगया और वे उसकी
शान्ति करनेलगे॥ २३॥ फिर सब देवर्षि, सप्तर्षि और ब्रह्मर्षि
भी बुद्धिमान् अर्जुनकी विजयका जप करनेलगे २४ हे राजन्!
उस समय देवताओंने धनञ्जयके तेजको प्रकाशित किया, तब
संग्राममें बडीभारी अस्त्रविद्याको जाननेवाला वह बुद्धिमान् पर्वत
की समान अचल खडा होगया॥ २५॥ फिर कौरवनन्दनने
अपना दिव्य धनुष खेंचा, उसको वार २ खेंचनेसे उस समय
यन्त्रके शब्दकी समान बडाभारी शब्द होनेलगा॥ २६॥ फिर
बलवान् धनञ्जयने इन्द्रके वर्षा करनेकी समान शत्रुओंके ऊपर
बाणोंकी वर्षा करडाली॥ २७॥ उस समय सब सिन्धुदेशी
योधा और उनके राजे टीडीदलसे ढकेहुए वृक्षोंकी समान
दीखते नहीं थे॥ २८॥ उसके शब्दसे वे डरगए और अत्यन्त

तस्य शब्देन वित्रेसुर्भयार्त्ताश्च विदुद्रुवुः । मुमुचुश्चाशु शोकार्त्ताः शुशुचुश्चापि सैन्धवाः ॥ २९ ॥ तांस्तु सर्वान्नरव्याघ्र सैन्धवान् व्यचरद्बली । अलातचक्रवद्राजन् शरजालैः समार्पयत् ॥ ३० ॥ तदिन्द्रजालप्रतिमं बाणजालममित्रहा । व्यसृजद्दिक्षु सर्वासु महेन्द्र इव वज्रभृत् ॥ ३१ ॥ मेघजालनिभं सैन्यं विदार्य शरवृष्टिभिः । विबभौ कौरवश्रेष्ठः शरदीव दिवाकरः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि सैंधवयुद्धे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततो गांडीवभृच्छूरो युद्धाय समुपस्थितः । विबभौ युधि दुर्द्धर्षो हिमवानचलो यथा ॥ १ ॥ ततस्ते सैन्धवा योधाः पुनरेव व्यवस्थिताः । व्यमुञ्चन्त सुसंरब्धा शरवर्षाणि भारत ॥ २ ॥ तान् प्रहस्य महाबाहुः पुनरेव व्यवस्थितान् ।

भयभीत होकर भागगए, शोकसे दुःखी होतेहुए सिन्धुदेशवाले रोनेलगे और शोक करनेलगे ॥ २९ ॥ हे राजन् ! बाणोंके जाल से चारों ओरसे उन सबोंको ढकताहुआ वह बलवान् नरव्याघ्र अलातचक्र (बरेंटी) की समान सैंधवोंमें घूमनेलगा ॥ ३० ॥ वज्रको घुमानेवाले इन्द्रकी समान वैरियोंको मारनेवाले उसने सब दिशाओंमें इन्द्रजालकी समान बाणोंका जाल छादिया ३१ घनघटाकी समान शोभावाली उस सेनाको बाणोंकी वर्षासे बखेरकर कौरवोंमें श्रेष्ठ अर्जुन शरद् ऋतुमें मेघोंको बखेरनेवाले सूर्यकी समान शोभा पानेलगा ॥३२॥ सतत्तरवाँ अध्याय समाप्त

वैशम्पायन कहते हैं, कि तदनन्तर गाण्डीव धनुषको धारण करनेवाला, शूर दुर्धर्ष युद्धके लिये तयार होकर खडाहुआ धनञ्जय अचल हिमालयकी समान शोभा पानेलगा ॥ १ ॥ तब वे सिन्धुदेशके योधा भी फिर इकट्ठे होगए और हे भारत ! बड़े क्रोधमें भरकर बाणोंकी वर्षा करनेलगे ॥ २ ॥ फिर इकट्ठे होकर

ततः प्रोवाच कौन्तेयो मुमूर्षून् श्लक्ष्णया गिरा । युध्यध्वं परया शक्त्या यतध्वञ्च जये मम ॥ ३ ॥ कुरुध्वं सर्वकार्याणि महद्वो भयमागतम् । एष योत्स्यामि सर्वांस्तु निवार्य शरवागुराम् ॥ ४ ॥ तिष्ठध्वं युद्धमनसो दर्पं शमयितास्मि वः । एतावदुक्त्वा कौरव्यो रोषाद्गाण्डीवभृत्तदा ॥ ५ ॥ ततोऽथ वचनं स्मृत्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भारत । न हन्तव्या रणे तात क्षत्रिया विजिगीषवः ॥ ६ ॥ जेतव्याश्चेति यत् प्रोक्तं धर्मराज्ञा महात्मना । चिन्तयामास स तदा फाल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥ इत्युक्तोऽहं नरेन्द्रेण न हन्तव्या नृपा इति । कथं तन्न मृषेदं स्याद्धर्मराजवचः शुभम् ॥ ८ ॥ न हन्येरंश्च राजानो राज्ञश्चाज्ञा कृता भवेत् । इति संचिन्त्य स तदा

खडेहुए उनकी ओरको खिलखिलाहटके साथ हँसकर महाबाहु धनञ्जयने मारनेकी इच्छावाले उनसे मीठी वाणीमें कहा, कि—३ तुम अपनी पूरी २ शक्ति लगाकर लड़ना, और मेरे ऊपर विजय पानेका यत्न करना, परन्तु सब काम करके निबट जाओ, क्यों कि—तुम्हारे शिरपर मैं मृत्युरूप महाभय आगया हूँ ॥४॥ तुम्हारे बाणजालको हटाकर यह देखो सबोंके साथ लडता हूँ, युद्धमें मन लगाकर खडे रहना, तुम्हारे घमण्डको शान्त किये देता हूँ ५ हे भारत ! क्रोधके साथ इतना कहनेके बाद गाण्डीवधारी धनञ्जयको अपने बडे भाईकी बात याद आगई ॥ ६ ॥ हे तात ! विजय चाहनेवाले क्षत्रियोंको रणमें मारना नहीं, किन्तु उनको जीतलेना, यह महात्मा धर्मराजने कहदिया था (उसकी याद आगई) इसलिये ॥ ७ ॥ पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन विचार करने लगा, कि—महाराजने कहदिया था, कि—राजाओंको मारना नहीं, धर्मराजकी वह शुभ बात मिथ्या न हो, इसके लिये अब क्या कियाजाय ? ॥८॥ राजाओंको न मारना पड़े और राजा की आज्ञाका पालन होजाय, ऐसा विचारकर पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन

फाल्गुनः पुरुषर्षभः ॥ ९ ॥ प्रोवाच वाक्यं धर्मज्ञः सैन्धवान् युद्ध-
दुर्मदान् । श्रेयो वदामि युष्माकं न हिंसेयमवस्थितान् ॥ १० ॥
यश्च वक्ष्यति संग्रामे तवास्मीति पराजितः । एतत् श्रुत्वा वचो
मह्यं कुरुध्वं हितमात्मनः ॥ ११ ॥ ततोऽन्यथा कृच्छ्रगता भवि-
ष्यथ मयार्दिताः । एवमुक्त्वा तु तान् वीरान् युयुधे कुरुपुङ्गवः १२
अर्जुनोऽतीव संक्रुद्धः संक्रुद्धैर्विजिगीषुभिः । शतं शतसहस्राणि
शराणां नतपर्वणाम् ॥ १३ ॥ मुमुचुः सैन्धवा राजंस्तदा गांडीव-
धन्वनि । शरानापततः क्रूरानाशीविषविषोपमान् ॥१४॥ चिच्छेद
निशितैर्बाणैरन्तरा स धनञ्जयः । छित्त्वा तु तानाशु चैव कङ्क-
पत्रान् शिलाशितान् १५ एकैकमेषां समरे बिभेद निशितैः शरैः । ततः
प्रासांश्च शक्तीश्च पुनरेव धनञ्जयम् ॥ १६ ॥ जयद्रथं हतं स्मृत्वा

ने ॥ ९ ॥ युद्धमें अतिमतवाले हुए सैंधवोंको धर्मके ज्ञाता युधि-
ष्ठिरकी बात सुनाई और कहा, कि-मैं तुम्हारे कल्याणकी बात
कहता हूँ, तुम सामने खडे हो तो भी मैं तुम्हें मारूँगा नहीं १०
संग्राममें जो कोई ऐसा कहेगा, कि-मैं हारगया,आपका हूँ (उस
को मैं नहीं मारूँगा), मेरी इस बातको सुनकर जिसमें तुम्हारा
हित हो, मेरे साथ वही व्यवहार करो ॥ ११ ॥ ऐसा न करोगे
तो तुम दुःख उठाओगे, ऐसा कहकर कुरुपुङ्गव धनञ्जयने उन
वीरोंके साथ युद्ध करना आरम्भ करदिया ॥ १२ ॥ विजय
चाहनेवाले और महाक्रोधमें भरेहुए उनके साथ अर्जुनभी क्रोध
में भरगया, तिरछे फलोंवाले सैंकडों और लाखोंबाण ॥ १३ ॥
सैंधवोंने गांडीव धनुष धारण करनेवालेके ऊपर छोडे, क्रूर और
विषधर सर्पोंके विषकी समान बाणोंको आतेहुए देखते ही १४
अर्जुन उनको तेज बाणोंसे काटडालता था, कंकपक्षीके
परोंवाले, सान पर धरकर तेजकिये हुए उन बाणोंको एकदम
काटकर ॥ १५ ॥ लडाईमें उसने उनमेंके एक २ को तेजबाणोंसे

चिक्षिपुः सैन्धवा नृपाः । तेषां किरीटी संकल्पं मोघं चक्रे महा-
बलः ॥१७॥ सर्वांस्तानन्तरा छित्त्वा तदा चुक्रोश पाण्डवः । तथै-
वापततां तेषां योधानां जयगृद्धिनाम् ॥ १८ ॥ शिरांसि पातयामास
भल्लैः सन्नतपर्वभिः । तेषां प्रद्रवतां चापि पुनरेवाभिधावताम् ॥१९॥
निवर्त्ततां च शब्दोऽभूत् पूर्णस्येव महोदधेः । ते वध्यमानास्तु तदा
पार्थेनामिततेजसा॥२०॥यथाप्राणं यथोत्साहं योधयामासुरर्जुनम् ।
ततस्ते फाल्गुनेनाजौ शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ २१ ॥ कृता विसंज्ञा
भूयिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः । तांस्तु सर्वान् परिम्लानान् विदित्वा
धृतराष्ट्रजा ॥ २२ ॥ दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा ।
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनाथागमत्तदा ॥ २३ ॥ शान्त्यर्थं सर्वयोधा-

काटना आरंभ करदिया, फिर उन्होंने, इसने ही हमारे राजा जयद्रथको मारा था यह याद करके धनञ्जयके ऊपर सामनेसे शक्ति और प्रास फेंके,परंतु महाबली धनञ्जयने उनका सङ्कल्प निष्फल कर दिया ॥ १६-१७ ॥ आते हुये उन सबोंके बीचमें ही टुकड़े करडाले, धनञ्जयने बड़े जोरसे गर्जनाकी और विजयकी इच्छा से ऊपर चढ़कर आये हुये योधाओंके शिरोंको उत्तम तिरछे फलकोंवाले बाणोंसे नीचे गिरा दिया, उनमेंसे भागजानेवालोंका और बार२ लौटकर चढआनेवालोंका कोलाहल पूर्ण समुद्रके गरजनेकी समान होरहा था परमतेजस्वी धनञ्जयके हाथसे मरने की दशामें पहुँचे हुये वे सब अपनी२ शक्ति और उत्साहके साथ लडते रहे, फिर धनञ्जयने युद्धमें उत्तम तिरछे बाणोंसे उनको, कि-जिनमेंसे बहुतसोंके वाहन और सैनिक थक गये थे, बेहोश करडाला ॥ १८-२२ ॥ उन सबोंको बडी भारी ग्लानि पाये हुये देखकर धृतराष्ट्रकी पुत्री दुःशला अपने पुत्रके बालक पुत्र को लेकर गई,जयद्रथके पुत्र सुरथका वीर पुत्र रथमें बैठकर सब योधाओंकी शान्तिके लिये माताके सहित धनञ्जयके पासगया,

नामभ्यगच्छत पाण्डवम् । सा धनञ्जयमासाद्य रुरोदार्त्तस्वरं तदा २४
धनञ्जयोपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः । समुत्सृज्य धनुः पार्थो
विधिवद्भगिनीं तदा ॥ २५ ॥ प्राह किं करवाणीति सा च तं
प्रत्युवाच ह । एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्यात्मजः शिशुः ॥ २६ ॥
अभिवादयते पार्थ तं पश्य पुरुषर्षभ । इत्युक्तस्तस्य पितरं स
पप्रच्छार्जुनस्तदा ॥२७॥ क्वासाविति ततो राजन् दुःशला वाक्य-
मब्रवीत् । पितृशोकाभिसन्तप्तो विषादार्त्तोस्य वै पिता ॥ २८ ॥
पञ्चत्वमगमद्वीरो यथा तन्मे निशामय । स पूर्वं पितरं श्रुत्वा हतं
युद्धे त्वयानघः ॥२९॥ त्वामागतञ्च संश्रुत्य युद्धाय हयसारिणम् ।
पितुश्च मृत्युदुःखार्त्तोजहात् प्राणान्धनञ्जय ॥३०॥ प्राप्तो बीभत्सु-
रित्येव नाम श्रुत्वैव तेनघ । विषादार्त्तः पपातोर्व्यां ममार च

दुःशला धनञ्जयके पास जाकर दुःखी स्वरसे रोपड़ी ॥२३-२४॥
बलवान् धनञ्जयने भी उसको देखकर धनुष छोड़ दिया, धनुष
छोड़कर धनञ्जयने विधिके साथ अपनी बहिनका सत्कार किया २५
और कहा, कि-बता मैं तेरा क्या काम करूँ, तब उसने उत्तर
दिया, कि-हे भरतसत्तम ! यह बालक तेरे भानजेका पुत्र है २६
हे पार्थ ! हे पुरुषसत्तम ! यह तुझे प्रणाम करता है, इसको तू
देख उसने धनञ्जयसे ऐसा कहा, तब धनञ्जयने उसके पिताका
समाचार बूझा, कि-॥२७॥ वह कहाँ है ? हे राजन् ! दुःशला
ने उत्तर दिया, कि-पिताके शोकसे महादुःखित होता हुआ, तथा
दुःखसे व्याकुल होता हुआ इसका पिता ॥ २८ ॥ वीर सुरथ
परलोकको पधार गया, वह कैसे मरा सुनो-हे निष्पाप ! तूने
युद्धमें उसके पिताको मारडाला, यह उसने पहले सुनलिया,
था ॥ २९ ॥ इतनेमें ही घोड़ेके पीछेर युद्ध करनेको तू आया
है, यह सुनकर हे धनञ्जय ! पिताके मरणसे दुःखी हुये
उसने प्राण छोड़दिये ॥ ३० ॥ हे निष्पाप ! अर्जुन आया है,

ममात्मजः ॥ ३१ ॥ तं दृष्ट्वा पतितं तत्र ततस्तस्यात्मजं प्रभो ।
गृहीत्वा समनुप्राप्ता त्वामद्य शरणैषिणी ॥ ३२ ॥ इत्युक्त्वार्त्तस्वरं
सा तु मुमोच धृतराष्ट्रजा । दीना दीनं स्थितं पार्थमब्रवीच्चाप्यधो-
मुखम् ॥ ३३ ॥ स्वसारं समवेक्षस्व स्वस्रीयात्मजमेव च ।
कर्तुमर्हसि धर्म्मज्ञ दयां कुरुकुलोद्वह ॥३४॥ विस्मृत्य कुरुराजानं
तञ्च मन्दं जयद्रथम् ।अभिमन्योर्यथा जातः परिक्षित् परवीरहा॥३५॥
तथायं सुरथाज्जातो मम पौत्रो महाभुजः । तमादाय नरव्याघ्र
सम्प्राप्तास्मि तवान्तिकम् ॥ ३६ ॥ शमार्थं सर्वयोधानां शृणु चेदं
वचो मम । आगतोऽयं महाबाहो तस्य मन्दस्य पुत्रकः ॥ ३७ ॥
प्रसादमस्य बालस्य तस्मात्त्वं कर्त्तुमर्हसि । एष प्रसाद्य शिरसा

इतना सुनते ही दुःखसे घबड़ायाहुआ मेरा पुत्र पृथिवी पर गिर गया और मरगया ॥ ३१ ॥ हे प्रभो ! उसको वहाँ पड़ाहुआ देख उसके पुत्रको लेकर रक्षकको ढूँढती हुई आज तेरे पास आई हूँ ॥ ३२ ॥ इतना कहकर धृतराष्ट्रकी पुत्रीने आर्त्तस्वरसे रोना आरम्भ करदिया, दीन हुई उसने नीचेको मुख करके खड़े हुए धनञ्जयसे फिर कहा, कि-॥ ३३ ॥ अपनी बहनको और अपने भानजेके पुत्रको देख,हे धर्मज्ञ ! हे कुरुकुलको उठाने वाले ! अब तुझे दया करनी चाहिये ॥ ३४ ॥ कुरुराज दुर्यो-धनको और मन्दबुद्धि जयद्रथको भूलजा वीर शत्रुओंको मारने वाला परीक्षित् जैसे अभिमन्युके उत्पन्न हुआ है ॥ ३५ ॥ ऐसे ही सुरथसे यह महाभुज मेरा पोता उत्पन्न हुआ है,हे नरव्याघ्र! इसको लेकर मैं तेरे पास आई हूँ ॥ ३६ ॥ सब योधाओंकी शान्तिके लिये इसको लेकर आई हूँ इस मेरा वातको तू सुन, हे महाबाहो ! उस मन्दबुद्धिका यह पोता तेरे पास आया है ३७ इसलिये इस बालकके ऊपर तुझे कृपा करनी चाहिये, हे शत्रु-नाशक महाबाहो!यह बालक शिर झुकाकर,प्रसन्न करके शांतिके

प्रशमार्थमरिन्दम ॥३८॥ याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनञ्जय । बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिद्जानतः॥३९॥ प्रसादं कुरु धर्म्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः । तमनार्य्यं नृशंसञ्च विस्मृत्यास्यं पितामहम्४० आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्त्तुमर्हसि । एवं ब्रुवन्त्यां करुणं दुःशलायां धनञ्जयः ॥ ४१ ॥ संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रञ्च पार्थिवम् । उवाच दुःखशोकार्त्तः क्षत्रधर्म्मं विगर्हयन् ॥ ४२ ॥ धिक् तं दुर्य्योधनं क्षुद्रं राज्यलुब्धञ्च मानिनम् । यत्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम् ॥ ४३ ॥ इत्युक्त्वा बहुसान्त्वादि प्रसादमकरोज्जयः । परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज्ज गृहान् प्रति ॥४४॥ दुःशला चापि तान् योधान् निवार्य्य महतो रणात् ।

लिये तेरी याचना करता है, हे धनञ्जय ! तू शान्त हो, हे पार्थ ! इस बालकके बान्धव मारेगये हैं,यह विचारा कुछ भी नहीं जानता है (बालक है, निर्दोष है) ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ हे धर्मको जानने वाले ! तू इसके ऊपर प्रसन्न हो, तू क्रोध न कर, इसके क्रूर और अनार्य पिताको भूल जा ॥ ४० ॥ उस बडाभारी अपराध करनेवालेको भूलकर तुझे इस बालकके ऊपर कृपाकरनी चाहिये४१ दुःशला करुणा भरे स्वरसे इसप्रकार कहरही थी, उस समय पार्थने देवी गान्धारी और राजा धृतराष्ट्रको याद किया, दुःख और शोकसे व्याकुल हुआ पार्थ क्षत्रियके धर्मका तिरस्कार करता हुआ कहनेलगा, कि-॥ ४२ ॥ धिक्कार है उस राज्यके लोभी अभिमानी और क्षुद्र दुर्योधनको, कि-जिसके कारणसे हमें सब बान्धवोंको यमपुरीमें भेजना पडा है, ऐसा कहकर पार्थने बहुत समझाया और उसके ऊपर कृपाकी ॥ ४३ ॥ प्रसन्न होकर उस बहनसे मिला और उसको घर जानेकी आज्ञादी ४४ दुःशलाने भी उस बडे भारी रणमेंसे उन योधाओंको पीछेको लौटाया, पार्थकी पूजाकी और प्रसन्न होती हुई अपने घर चली

संपूज्य पार्थं प्रययौ गृहानेव शुभानना ॥ ४५ ॥ एवं निर्जित्य तान् वीरान् सैन्धवान् स धनञ्जयः। अन्वधावत धावन्तं तं हयं कामचारिणम् ॥ ४६ ॥ ततो मृगमिवाकाशे यथा देवः पिनाकधृक् । ससार तं तथा वीरो विधिवद्यज्ञियं हयम् ॥ ४७ ॥ स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान् देशान् यथाक्रमम् । विचार यथाकामं कर्म्म पार्थस्य वर्द्धयन् ॥ ४८ ॥ क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन् पुरुषर्षभ । मणिपूरपतेर्देशमुपायात् सह पाण्डवः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि सैंधवपराजये अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच। श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं पितरं बभ्रुवाहनः । निर्ययौ विनयेनाथ ब्राह्मणार्थपुरःसरः ॥ १ ॥ मणिपूरेश्वरन्त्वेवमुपायातं धनञ्जयः। नाभ्यनन्दत् स मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन् २

गई ॥ ४५ ॥ वह पार्थ इसप्रकार उन सिंधुदेशके वीरोंको जीत कर इच्छानुसार फिरनेवाले उस दौडतेहुए घोडे के पीछे २ चला गया ॥ ४६ ॥ जैसे पिनाकधारी महादेव आकाशमें मृगके पीछे दौडते हुए गए थे, ऐसे ही यह वीर भी विधिपूर्वक यज्ञके लिये नियत कियेहुए घोडे के पीछे २ गया ॥ ४७ ॥ वह घोडा इच्छानुसार एकके बाद दूसरे भिन्न२देशोंमें पार्थके पराक्रमको बढाता हुआ फिरनेलगा ॥ ४८ ॥ हे पुरुषसत्तम ! वह घोडा इसप्रकार क्रम २ से विचरता हुआ पाण्डवके सहित मणिपुरके राजाके देशमें जापहुँचा ॥ ४९ ॥ अठहत्तरवाँ अध्याय समाप्त ॥७८॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-मेरे पिता आये हैं, यह सुनकर राजा बभ्रुवाहन ब्राह्मणोंको और धनको आगे करके विनयके साथ नगरके बाहर आया ॥ १ ॥ मणिपुरके राजाके इसप्रकार आने पर बुद्धिमान् पार्थने क्षत्रियके धर्मका स्मरण करके उसकी सराहना नहीं की ॥ २ किन्तु धर्मात्मा धनञ्जयने क्रोध करके कहा,

उवाच च स धर्मात्मा समन्युः फाल्गुनस्तथा । प्रक्रियेयं न ते युक्ता वहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः ॥ ३ ॥ संरक्ष्यमाणं तुरगं यौधिष्ठिरमुपागतम् । यज्ञियं विषयान्ते मां नायोत्सीः किन्नु पुत्रक ॥ ४ ॥ धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धे क्षत्रधर्मबहिष्कृतम् । यो मां युद्धाय संप्राप्तं साम्नैव प्रत्यगृह्णथाः ॥ ५ ॥ न त्वया पुरुषार्थो हि कश्चिदस्तीह जीवता । यस्त्वं स्त्रीवद्यथा प्राप्तं साम्ना मां प्रत्यगृह्णथाः ॥ ६ ॥ यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते । प्रक्रियेयं भवेद्युक्ता तावत्तव नराधम ॥७॥ तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगात्मजा । अमृष्यमाणा भित्त्वोर्वीमुलूपी समुपागमत् ॥ ८ ॥ सा ददर्श ततः पुत्रं विमृष्यन्तमधोमुखम् । सन्तर्ज्यमानमसकृत् पित्रा युद्धार्थिना प्रभो ॥ ९ ॥ ततः सा चारुसर्वाङ्गी समुपेत्योरगात्मजा । उलूपी

कि–तेरा यह काम ठीक नहीं है, तू क्षत्रियधर्मसे बाहर चलागया गया है ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरके यज्ञके घोडेकी रक्षा करता हुआ मैं तेरे राज्यमें आया हूँ, हे पुत्र ! तूने मेरे साथ युद्ध क्यों नहीं किया ? ॥४॥ क्षत्रधर्मसे बाहर निकले हुए तुझ महादुर्बुद्धिको धिक्कार है ! कि–युद्धके लिये पास आये हुए मुझे शान्तिके साथ लिवानेको आया है ॥ ५ ॥ इस लोकमें जीवित रहकर तूने कुछ भी पुरुषार्थ नहीं किया, जो कि–तू स्त्रीकी समान, युद्धके लिये पास आयेहुए मुझे शान्तिके साथ लिवानेको आया है ६ अरे दुर्बुद्धि ! यदि मैं शस्त्र छोडकर तेरे पास आया होता तो हे नराधम ! तेरा यह ढङ्ग ठीक होता ! ॥७॥ नागराजकी पुत्री उलूपी, मेरे भर्त्ताने अपने पुत्रसे ऐसा कहा है, यह जानकर इस बातको सह नहीं सकी और वह पृथिवीको फोडकर तहाँ आई८ उसने तहाँ नीचेको मुख करके विचार करते हुए अपने पुत्रको, हे प्रभो ! युद्ध माँगनेवाले उसके पितासे बार बार तिरस्कार पाया हुआ देखा ॥ ९ ॥ सर्वाङ्गसुन्दरी नागराजकी पुत्री उलूपीने

प्राह वचनं धर्म्यं धर्म्मविशारदम् ॥ १० ॥ उलूपीं मां निबोध त्वं मातरं पन्नगात्मजाम् । कुरुष्व वचनं पुत्र धर्म्मस्ते भविता परः ११ युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्म्मदम् । एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ॥ १२ ॥ एवं दुर्म्मर्षितो राजा स मात्रा बभ्रुवाहनः । मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ॥ १३ ॥ संनह्य कांचनं वर्म्म शिरस्त्राणं च भानुमत् । तूणीरशतसंबाधमारुरोह रथोत्तमम् ॥१४॥ सर्वोपकरणोपेतं युक्तमश्वैर्मनोजवैः । सचक्रोपस्करं श्रीमान् हेमभाण्डपरिष्कृतम् ॥१५॥ परमार्चितमुच्छ्रित्य ध्वजं सिंहं हिरण्मयम् । प्रययौ पार्थमुद्दिश्य स राजा बभ्रुवाहनः ॥१६॥ ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम् ।ग्राहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ॥१७॥

धर्मको जानने वाले बभ्रुवाहनसे धर्म भरी बात कही, कि-१० तू मुझ नागराजकी पुत्री उलूपीको अपनी माता जान, हे बेटा ! तू मेरी बातका पालन कर तो तुझे परमधर्म प्राप्त होगा ॥११॥ इस युद्धके मतवाले कुरुश्रेष्ठ अपने पितासे युद्धकर, ऐसा करने पर ही यह तेरे ऊपर प्रसन्न होगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥१२॥ हे भरतसत्तम! हठीले राजा बभ्रुवाहनसे उसकी माताने यह बात कही तब उस महा तेजस्वीने युद्ध करनेका निश्चय किया॥१३॥ सोनेका बखतर और चमकता हुआ टोप पहर कर जिसमें बाणों के सैंकडों भाथे रक्खे थे ऐसे एक उत्तम रथमें चढ़ बैठा॥१४॥ युद्धकी सब सामग्रियोंसे भरे, मनकी समान वेगवाले घोडोंसे जुते, चक्र और सामग्रीसहित, सुन्दर सुवर्णके कलशवाले, अतिपूजनीय सुनहरी सिंहकी ध्वजाको फहकानेवाले उस रथमें बैठकर राजा बभ्रुवाहन अर्जुनकी ओरको देखता हुआ आगेको बढ चला ॥१५-१६॥ और धनञ्जयके रक्षा किये हुये यज्ञके घोड़े के पास जाकर उसको अश्वविद्यामें चतुर पुरुषोंसे पकड़वा लिया

गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनञ्जयः । पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ॥१८॥ स तत्र राजा तं वीरं शरसंघैरनेकशः । अर्दयामास निशितैराशीविषविषोपमैः ॥ १९ ॥ तयोः समभवद्युद्धं पितुः पुत्रस्य चातुलम् । देवासुररणप्रख्यमुभयोः प्रीयमाणयोः २० किरीटिनं प्रविव्याध शरेणानतपर्वणा । जत्रुदेशे नरव्याघ्रं प्रहसन् बभ्रुवाहनः ॥२१॥ सोऽभ्यगात् सह पुंखेन वल्मीकमिव पन्नगः । निर्विभिद्य च कौन्तेयं प्रविवेश महीतलम् ॥ २२ ॥ स गाढवेदनो धीमानालम्ब्य धनुरुत्तमम् । दिव्यं तेजः समाविश्य प्रमीत इव सोभवत् ॥ २३ ॥ स संज्ञामुपलभ्याथ प्रशस्य पुरुषर्षभः । पुत्रं शक्रात्मजो वाक्यमिदमाह महाद्युतिः ॥२४॥ साधु साधु महाबाहो

॥ १७ ॥ घोड़ेको पकड़ा हुआ देखकर धनञ्जयका चित्त प्रसन्न हुआ, फिर आप पृथिवी पर रहकर रथमें बैठे हुये अपने पुत्रको मैदानमें रोकलिया ॥ १८ ॥ तब उस राजाने उस वीरको तीक्ष्ण विषधर साँपकी समान अनेकों बाणोंके समूहसे पीडित करना आरम्भ करदिया ॥ १९ ॥ एक दूसरेसे प्रसन्न होते हुये उन पिता और पुत्र दोनोंका युद्ध देवता और असुरोंके प्रसिद्ध युद्ध की समान अतुलनीय हुआ था ॥२० ॥ फिर सीधे फलकेवाले बाणसे मनुष्योंमें सिंहसमान मुकुटधारी अर्जुनको कंठ की हँसलीके स्थान पर बभ्रुवाहनने बींधदिया ॥ २१ ॥ जैसे सर्प बिलमें घुसजाता है तैसे ही परों सहित बाण भीतर घुस गया और धनञ्जयको जोरसे बींधकर बाहर निकलता हुआ पृथिवीमें घुसगया ॥२२॥ उससे बड़ी पीडा पाते हुए उस बुद्धि-मान्ने अपने उत्तम धनुषको टेककर सहारा लिया, वह मानो अपने दिव्य तेजमें प्रवेश करके मरा हुआसा होगया ॥२३॥ फिर चेत आने पर उत्तम पुरुष उस महातेजस्वी इन्द्रपुत्रने अपने पुत्र की प्रशंसा करके यह बात कही, कि—॥ २४ ॥ बहुत अच्छा,

वत्स चित्राङ्गदात्मज । सदृशं कर्म ते दृष्ट्वा प्रीतिमानस्मि पुत्रक २५
विमुञ्चाम्येष ते बाणान् पुत्र युद्धे स्थिरो भव । इत्येवमुक्त्वा नारा-
चैरभ्यवर्षदमित्रहा ॥ २६ ॥ तान् स गाण्डीवनिर्मुक्तान् वज्राशनि-
समप्रभान् । नाराचानच्छिनद्राजा भल्लैः सर्वांस्त्रिधा द्विधा ॥ २७ ॥
तस्य पार्थः शरैर्दिव्यैर्ध्वजं हेमपरिष्कृतम् । सुवर्णतालप्रतिमं क्षुरेणा-
पहरद्रथात् ॥ २८ ॥ हयांश्चास्य महाकायान् महावेगानरिन्दम ।
चकार राजन्निर्जीवान् प्रहसन्निव पाण्डवः ॥ २९ ॥ स रथा-
दवतीर्याथ राजा परमकोपनः । पदातिः पितरं क्रुद्धो योधयामास
पाण्डवम् ॥ ३० ॥ संप्रीयमाणः पार्थानामृषभः पुत्रविक्रमात् ।
अत्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधरात्मजः ॥ ३१ ॥ स मन्यमानो

बहुत अच्छा ! हे बेटा ! हे महाबाहु ! हे चित्राङ्गदके पुत्र ! धन्य !
हे बेटा ! तेरा पराक्रम अपनी समान ही देखकर मैं प्रसन्न हूँ २५
हे बेटा ! यह देख अब मैं तेरे ऊपर बाण छोड़ता हूँ, इसलिये तू
युद्धमें सावधान होजा, ऐसा कहकर वैरियोंका नाश करनेवाले
पार्थने बाण बरसाये ॥ २६ ॥ गांडीवसे छूटे हुए, वज्र और
बिजलीकी समान चमकनेवाले उन सब जातिके नाराच नामक
बाणोंके उस राजाने अपने भल्ल जातिके बाणोंसे दो २ तीन २
टुकड़े करडाले ॥ २७ ॥ फिर पार्थने सोनेके तालवृक्षकी समान
उसकी सुनहरी कामकी ध्वजाको दिव्य बाणोंसे और क्षुरसे काट
कर रथसे नीचे गिरा दिया ॥ २८ ॥ हे वैरियोंका नाश करने
वाले राजन् ! पाण्डवने इसके बड़े २ शरीरवाले और बड़े वेगवान्
घोड़ोंको भी हँसते २ मारडाला ॥२९॥ तब वह महाक्रोधी राजा
रथ परसे नीचे उतर पड़ा और क्रोधमें भरकर पैदल ही अपने
पिता धनञ्जयके साथ लड़नेलगा ॥ ३० ॥ पुत्रके पराक्रमसे
पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन प्रसन्न हुआ और उस वज्रधारी इन्द्रके पुत्रने
ने अपने पुत्रको अधिक पीड़ा नहीं दी ॥ ३१ ॥ इस पर अपने

विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः । शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद् बली ३२
ततः स बाल्यात् पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा । निशितेन सुपुंखेन
बलवद्बभ्रुवाहनः ॥३३॥ विवेश पाण्डवं राजन् मर्म भित्त्वाति-
दुःखकृत् । स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ॥३४। महीं
जगाम मोहार्त्तस्ततो राजन् धनञ्जयः । तस्मिन्निपतिते वीरे कौर-
वाणां धुरन्धरे ॥ ३५ ॥ सोपि मोहं जगामाथ ततश्चित्राङ्गदासुतः ।
व्यायम्य संयुगे राजा दृष्ट्वा च पितरं हतम् ॥ ३६ ॥ पूर्वमेव च
बाणौघैर्गाढविद्धोऽर्जुनेन हापपात सोपि धरणीमालिंग्य रणमूर्द्धनि ३७
भर्त्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रञ्च पतितं भुवि । चित्राङ्गदा परित्रस्ता
प्रविवेश रणाजिरे ॥३८॥ शोकसन्तप्तहृदया रुदन्ती वेपती भृशम् ।
मणिपूरपतेर्माता ददर्श निहतं पतिम् ॥३९॥ऊनाशीतितमोऽध्यायः

पिताको रणसे हारा हुआ मानकर बलवान् बभ्रुवाहनने अति
विषैले बाणोंसे फिर पीडा देना आरम्भ करदी३२फिर बलवान्
बभ्रुवाहनने बालकपनसे अपने पिताको नोकदार और अच्छे
परोंवाले बाणसे छातीमें बींध दिया॥३३॥हे राजन्! मर्मस्थानको
फोडकर महादुःख देनेवाले उस बाणने पांडवके देहमें प्रवेश किया,
कुरुनन्दन अर्जुनको उसके पुत्रने बहुत ही घायल करडाला था३४
हे राजन्! उस समय धनञ्जय मूर्छित होकर भूमि पर गिर पडा,
कौरवोंके उस धुरन्धर वीरके नीचे ढह पडने पर ॥ ३५ ॥ वह
चित्राङ्गदाका पुत्र राजा भी युद्धमें थकगया था, इसलिये पिताको
गिरा हुआ देख मूर्छित होगया, आरम्भमें बाणोंकी वर्षासे अर्जुन
ने उसको बहुत ही घायल करदिया था, इसलिये वह भी रणके
मुहाने पर गिरकर भूमिमें लेटगया ॥ ३६-३७ ॥ पतिको मरा
हुआ और पुत्रको गिरा हुआ देखकर बहुत ही भयभीत हुई
चित्राङ्गदा रणभूमिमें घुस आई ॥ ३८ ॥ शोकसे तपे हुए हृदय
वाली बहुत ही रोती और काँपती हुई मणिपुरके राजाकी
माताने अपने पतिको मरा हुआ देखा॥३९॥उनासीवाँ अध्याय७९

वैशम्पायन उवाच। ततो बहुतरं भूरि विलप्य कमलेक्षणा। मुमोह दुःखसन्तप्ता पपात च महीतले॥ १॥ प्रतिलभ्य च सा संज्ञां देवी दिव्यवपुर्धरा। उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् २ उलूपि पश्य भर्त्तारं शयानं निहतं रणे। त्वत्कृते मम पुत्रेण बाणेन समितिंजयम्॥ ३॥ ननु त्वमार्य्यधर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता। यत्त्वत्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे॥४॥ किन्तु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनञ्जयः। क्षमस्व याचमाना वै जीवयस्व धनञ्जयम्५ ननु त्वमार्य्ये धर्मज्ञा त्रैलोक्यविदिता शुभे। यद्घातयित्वा पुत्रेण भर्त्तारं नानुशोचसि॥६॥ नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि। पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम्॥ ७॥ इत्युक्त्वा सा तदा देवीमुलूपीं पन्नगात्मजाम्। भर्त्तारमभिगम्येदमित्युवाच

वैशम्पायन कहते हैं, कि-कमलके समान नेत्रोंवाली उस डरपोक स्त्रीने बहुत ही विलाप किया, फिर दुःखसे सन्ताप पाई हुई चित्राङ्गदा मूर्छामें आ भूमिपर गिरगई॥ १॥ और होश आने पर उस दिव्य देहवाली देवीने नागराजकी पुत्री उलूपीको देख कर यह बात कही कि-॥२॥ हे उलूपी! तेरे लिये मेरे पुत्रके बाणसे युद्धमें सदा जयपानेवाले अपने पतिको रणमें मरा पडा हुआ देख॥ ३॥ तू तो आर्यधर्मको जाननेवाली और पतिव्रता है और तेरे ही कारणसे यह तेरा पति रणमें मरा पडा है,॥ ४॥ यदि इस धनञ्जयने तेरा कुछ अपराध किया हो तो उसको तू क्षमाकर, मैं तुझसे भिक्षा माँगती हूँ, कि-तू अर्जुनको जीवित करदे॥५॥ हे आर्ये! तू धर्मको जाननेवाली है,हे शुभे! तू तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है,ऐसी तू मेरे पुत्रके हाथसे अपने पतिको मरवा कर शोक क्यों नहीं करती है॥ ६॥ हे पन्नगनन्दिनि! पुत्रके मरनेका मैं शोक नहीं करती,परन्तु पतिके मरनेका मैं शोक करती हूँ, कि-जिसका अतिथिसत्कार इस प्रकार हुआ है"॥७॥पन्नगे-

यशस्विनी ॥ ८ ॥ उत्तिष्ठ कुरुमुख्यस्य प्रियमुख्योऽसि मे प्रिय ।
अयमश्वो महाबाहो मया ते परिमोक्षितः ॥ ९ ॥ ननु त्वया नाम
विभो धर्मराजस्य यज्ञियः । अयमश्वोऽनुसर्त्तव्यः स शेषे किं
महीतले ॥ १० ॥ त्वयि प्राणा ममायत्ताः कुरूणां कुरुनन्दन ।
स कस्मात् प्राणदोऽन्येषां प्राणान् संत्यक्तवानसि ॥ ११ ॥ चित्रां-
गदोवाच । उलूपि साधु पश्येमं पतिं निपतितं भुवि । पुत्रं चेमं
समुत्साद्य घातयित्वा न शोचसि ॥ १२ ॥ कामं स्वपितु बालोऽयं
भूमौ मृत्युवशं गतः । लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु १३
नापराधोऽस्ति सुभगे नराणां बहुभार्यता । प्रमदानां भवत्येष मा
तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १४ ॥ सख्यं चैतत् कृतं धात्रा शश्वदव्यय-

राजकी पुत्री देवी उलूपीसे इसप्रकार कहकर वह यशस्विनी अपने
भर्त्ताके पास जाकर इसप्रकार बोली कि–॥ ८ ॥ "हे कुरुओंके
मुख्य (युधिष्ठिर) के प्रिय मनुष्योंमें मुख्य पुरुष ! हे मेरे प्रिय!
खड़े हो ! हे महाबाहो ! इस तुम्हारे घोड़ेको मैंने छोड़दिया है९
हे विभो ! तुम्हें तो धर्मराजके यज्ञके इस घोड़ेके पीछे जाना है
सो तुम भूमिपर पड़े हुए क्यों सोरहे हो ॥ १० ॥ हे कुरुनन्दन!
मेरे प्राण तुम्हारे अधीन हैं हे कुरुनन्दन ! दूसरोंको प्राण देने
वाले तुमने अपने प्राणोंको कैसे छोडदिया ?॥ ११ ॥ अरी उलूपि !
इस भूमिपर पड़ेहुए अपने पतिको अच्छी प्रकार देख, पुत्रको
उकसा कर और पतिको मरवा कर तू शोक क्यों नहीं करतीहै १२
मृत्युके वशमें हुआ यह बालक भले ही भूमि पर सोता रहे, परन्तु
लाल २ नेत्रोंवाला गुडाकेश जीवित होजाय, ॥ १३ ॥ हे सुभगे!
पुरुष बहुतसी स्त्रियें करते हैं इसमें कुछ दोष नहीं है, परन्तु
स्त्रियोंका बहुतसे भर्त्ता करनेमें दोष (पाप) होता है, अतः तेरी
बुद्धि ऐसी न हो ॥ १४ ॥ विधाताने पतिपत्नीकी मित्रता
शाश्वत और न टूटने वाली बनाई है तेरी यह मित्रता सत्य

मेव तु । सत्यं समभिजानीहि सत्यं सङ्कल्पस्तु ते ॥ १५ ॥ पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै । जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥१६॥ साहं दुःखान्विता देवि पतिपुत्रविनाकृता। इहैव प्रायमासिष्ये प्रेक्षन्त्यास्ते न संशयः ॥ १७ ॥ इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नीं चैत्रवाहनी । ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ॥ १८ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो विलप्य विरता भर्तुः पादौ प्रगृह्य सा । उपविष्टाभवद्दीना सोच्छ्वासं पुत्रमीक्षती१९ ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः । मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ॥२०॥ इतो दुःखतरं किन्नु यन्मे माता सुखैधिता । भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ॥२१॥ निहन्तारं रणेऽरीणां सर्वशस्त्रभृतांवरम् । मया विनिहतं संख्ये प्रेक्षते दुर्मरं

और उत्तम हो ॥ १५ ॥ पुत्रके द्वारा मरवाये हुए इस मेरे पति को यदि आज मुझे फिर जीवित करके नहीं दिखावेगी, तो मैं अपने प्राणोंको छोडदूँगी ॥ १६ ॥ हे देवि ! पति और पुत्रसे रहित की गई मैं तेरे सामने यहाँ बैठ कर लँघन करने लगूँगी, इसमें तू सन्देह न करना ॥ १७ ॥ तदनन्तर हे राजन् ! अपनी सपत्नी (सौत) पन्नगराजकी पुत्रीसे इसप्रकार कहकर चैत्रवाहिनी अनशन व्रत धारण कर चुपचाप बैठगई ॥ १८ ॥ तदनन्तर विलाप करते २ चुप हुई वह अपने भर्ताके दोनों पैरोंको (गोदीमें) लेकर, जिसमें श्वास चल रहा है ऐसे अपने पुत्रको देखती हुई दीन बन कर पृथ्वी पर बैठगई ॥ १९ ॥ तदनन्तर वह राजा बभ्रुवाहन होशमें आ ऐसी स्थितिमें अपनी माताको रणभूमिमें देख कर इस प्रकार कहने लगा कि—॥ २० ॥ सुख में बढ़ी हुई मेरी माता भूमि पर पड़े हुए अपने मृत वीर पतिके पास सोरही (बैठी) है । इससे अधिक और क्या दुःख होगा२१ रणमें शत्रुओंको मारनेवाले, सब शस्त्रधारियोंमें उत्तम और

त ॥२२॥ अहोऽस्या हृदयं देव्या दृढं यन्न विदीर्यते । व्यूढोरस्कं महाबाहुं मेऽनन्त्या निहतं पतिम् ॥ २३ ॥ दुर्मरं पुरुषेणेह मन्ये ह्यध्वन्यनागते । यत्र नाहं न मे माता विप्रयुज्येत जीवितात् ॥२४॥ हा हा धिक् कुरुवीरस्य सन्नाहं काञ्चनं भुवि । अपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यत ॥२५॥ भो भो पश्यत मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि । शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ॥२६॥ ब्राह्मणाः कुरुमुख्यस्य ये मुक्ता हयसारिणः । कुर्वन्ति शान्तिं कामस्य रणे योयं मया हतः ॥ २७ ॥ व्यादिशन्तु च किं विप्राः प्रायश्चित्तमिहाद्य मे । आनृशंसस्य पापस्य पितृहन्तू रणाजिरे॥२८॥ दुश्चरा द्वादशसमा हत्वा पितरमद्य वै । ममेह सुनृशंसस्य संवीतस्यास्य चर्मणा ॥ २९ ॥ शिरः कपाले चास्यैव युञ्जतः पितुरद्य मे ।

कठिनसे मारने योग्यको मैंने युद्धमें देखते २ मारडाला२२अहो ! विशाल वक्षःस्थलवाले, महाभुज अपने पतिको मरा हुआ देखती हुई इस उलूपीका हृदय वडा दृढ़ है, जो ... नहीं है ॥२३॥ विना समय आये हुए मनुष्यका मरना मैं असंभव समझता हूँ, अत एव मेरी माताके और मेरे प्राण नहीं निकलते हैं ॥ २४ ॥ हा ! हा ! धिक्कार है ! कि—मुझ पुत्रने ही कुरुवीरके सुवर्ण के कवचको छिन्न भिन्न कर पृथिवीपर गिरा दिया है ! इसको देखो ॥ २५ ॥ अरे ब्राह्मणो ! मुझ पुत्रसे मारे हुए मेरे वीर पिताको पृथिवीपर वीरशय्या पर सोते हुए देखो ॥ २६ ॥ युधिष्ठिरके घोड़ेके साथ जो ब्राह्मण भेजे गए हैं वे,इस मेरे हाथ से मारे हुए अर्जुनकी कौनसी शांति कररहे हैं ? ॥ २७ ॥ हे विप्रो ! रणमें पिताको मार डालनेवाले, क्रूर और पापी मुझे अब क्या प्रायश्चित्त करना चाहिये, यह बताइये ॥ २८ ॥ पिताको मारकर अत्यन्त क्रूर कर्म करनेवाले मुझको इनका चर्म ओढकर बारह वर्ष दुःखमें विताने चाहियें ॥ २९ ॥ क्योंकि—

प्रायश्चित्तं हि नास्त्यन्यद्धत्वा च पितरं मम॥३०॥ पश्य नागोत्तम-
सुते भर्त्तारं निहतं मया। कृतं प्रियं मया तेऽद्य निहत्य समरेऽर्जुनम् ३१
सोहमद्य गमिष्यामि गतिं पितृनिषेविताम्। न शक्नोम्यात्मनात्मा-
नमहं धारयितुं शुभे ॥ ३२ ॥ सा त्वं मयि मृते मातस्तथा
गाण्डीवधन्वनि। भव प्रीतिमती देवि सत्येनात्मानमालभे ॥३३॥
इत्युक्त्वा स ततो राजा दुःखशोकसमाहतः। उपस्पृश्य महाराज
दुःखाद्वचनमब्रवीत् ॥ ३४ ॥ शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि
चराणि च। त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे॥३५॥यदि
नोत्तिष्ठति जयः पिता मे नरसत्तमः। अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये
कलेवरम् ॥ ३६ ॥ न हि मे पितरं हत्वा निष्कृतिर्विद्यते क्वचित्।

आज अपने पिताको स्वयं ही मार कर अब मुझ अपने पिताके
शिर और कपालको लेनेवालेका दूसरा प्रायश्चित्त ही नहीं है३०
हे उत्तम नागकी पुत्री! मेरेसे मारेहुए इस अपने पतिको तू देख
वास्तवमें मैंने युद्धमें अपने पिता अर्जुनको मार कर तेरा प्रिय
काम किया है ॥ ३१ ॥ अब मैं अपने पितासे सेवित गतिको
जाऊँगा (मरजाऊँगा) हे शुभे! अब मैं अपनी आत्माको
(स्वयं) धारण नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥ तदनन्तर तू मेरे,
मेरी माताके तथा धनञ्जयके मरने पर सुखी होना! हे देवि!
मैं सत्य कहता हूँ कि–मैं अपने आत्माको (इस देहमें) नहीं रख
सकूँगा॥ ३३ ॥ इतना कहकर दुःख और शोकसे दबाहुआ
वह राजा, हे महाराज! हाथमें जल लेकर दुःखमें भर इसप्रकार
बोला कि–॥ ३४ ॥ हे स्थावर जङ्गम प्राणियो! हे माता! तुम
तथा हे भुजगोत्तमे! तुम भी मैं जो सत्य बात कहता हूँ उसको
सुनो! ३५ ॥ यदि मनुष्योंमें श्रेष्ठ मेरा पिता जय उठेगा नहीं
तो मैं इस रणभूमिमेंही अपने शरीरको सुखा डालूँगा ॥३६॥
क्योंकि पिताको मारकर इस (पापसे) छूटनेका दूसरा उपाय

नरकं प्रतिपत्स्यामि ध्रुवं गुरुवधार्दितः ॥ ३७ ॥ वीरं हि क्षत्रियं हत्वा गोशतेन प्रमुच्यते । पितरन्तु निहत्यैवं दुर्ल्लभा निष्कृतिर्मम ॥ ३८ एष एको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः । पिता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ॥ ३९ ॥ इत्येवमुक्त्वा नृपते धनञ्जयसुतो नृपः । उपस्पृश्याभवत्तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ॥४०॥ वैशम्पायन उवाच । प्रायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे तदा । पितृशोकसमाविष्टे सह मात्रा परन्तप ॥४१॥ उलूपी चिन्तयामास तदा सञ्जीवनं मणिम् । स चोपातिष्ठत तदा पन्नगानां परायणम् ॥ ४२ ॥ तं गृहीत्वा तु कौरव्यं नागराजपतेः सुता । मनः प्रह्लादिनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ॥४३॥ उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैष जिष्णुस्त्वया जितः । अजेयः पुरुषैरेष तथा देवैः सवासवैः ॥ ४३ ॥ मया तु मोहनी

ही नहीं है, हा ! पिताके वधसे दुःखी हुआ मैं निश्चय ही नरकमें पड़ूँगा ॥ ३७ ॥ वीर क्षत्रियको मारनेके पीछे सौ गौ देनेसे उस पापसे छूटता है, परन्तु पिताको मारनेवाले मेरी मुक्ति (इस पापसे छूटना) तो दुर्लभ ही है ॥ ३८ ॥ यह पाण्डुपुत्र धनञ्जय तो एक (अपूर्व) महातेजस्वी थे, यह धर्मात्मा मेरे पिता थे, उनको मारने पर मुझे मोक्ष कैसे मिल सकती है ? ॥३९॥ हे राजन् ! धनञ्जयका पुत्र वह महाबुद्धिमान् राजा इसप्रकार कहकर जलस्पर्श कर अनशनव्रतका निश्चय करके बैठगया ४० वैशम्पायनने कहा कि–हे परन्तप ! पितृशोकसे सन्तप्त हुआ वह मणिपुरका स्वामी राजा बभ्रुवाहन अपनी माता सहित अनशन व्रत धारण करके बैठगया ॥ ४१ ॥ तब उलूपीने संजीवन मणिका चिन्तवन किया, तब पन्नगोंकी आधार वह मणि तहाँ आकर उपस्थित होगई ॥ ४२ ॥ हे कौरव्य ! नागराजकी पुत्री उसको लेकर सैनिकोंके मनको प्रसन्न करनेवाली बात कहने लगी ॥ ४३ ॥ कि–हे पुत्र ! खड़ा हो ! शोक मत कर ! इस

नाम मायैषा संप्रदर्शिता।मियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽस्य यशस्विनः॥४५
जिज्ञासुर्वीर्य पुत्रस्य बलस्य तव कौरव । संग्रामे युध्यतो राजन्ना-
गतः परवीरहा॥४६॥तस्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिचोदितः ।
मा पापमात्मनः पुत्र शंकेथा ह्यण्वपि प्रभो ॥ ४७ ॥ ऋषिरेष
महानात्मा पुराणः शाश्वतोऽक्षरः । नैनं शक्तो हि संग्रामे जेतुं
शक्रोऽपि पुत्रक ॥ ४८ ॥ अयन्तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो
विशाम्पते । मृतान् मृतान् पन्नगेन्द्रान् यो जीवयति नित्यदा ४९
एनमस्योरसि त्वं च स्थापयस्व पितुः प्रभो । संजीवितं तदा पार्थं
स त्वं द्रष्टासि पांडवम् ॥ ५०॥ इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि
मणिं तदा । पार्थस्यामिततेजाः स पितुःस्नेहादपापकृत् ॥ ५१ ॥

अर्जुनको तूने नहीं जीता है, इसको इन्द्रसहित देवता भी नहीं
नहीं जीत सकते ॥ ४४ ॥ यह तो मैंने पुरुषोंमें इन्द्रकी समान
तेरे पिताका [illegible] करनेके लिये मोहिनी नामकी माया दिखाई
थी ॥ ४५ ॥ हे कौरव ! अपने पुत्र, तेरे बलको जाननेकी इच्छा
वाला यह शत्रुओंके वीरोंका नाश करनेवाला अर्जुन,हे राजन् !
संग्राममें तुझसे लडनेको आया था ॥ ४६ ॥ इसलिये हे पुत्र !
मैंने तुझे युद्ध करनेके लिये दबाया था, हे पुत्र ! हे प्रभो ! तू
अपनेसे कुछ भी पाप होने की शङ्का न कर ॥ ४७ ॥ यह महान्
आत्मावाला पुराण ऋषि है, शाश्वत है, अक्षर है, अतः हे पुत्र!
इन्द्र भी इसको संग्राममें जीतनेकी शक्ति नहीं रखता ॥ ४८ ॥
हे विशाम्पते! यह अपनी दिव्यमणि मैं लाई हूँ, यह मृत्युके वशमें
हुए पन्नगेन्द्रोंको भी सदा जीवित करती है ॥ ४९ ॥ हे प्रभो !
तू इसे अपने पिताके हृदय पर रख तब तू पाण्डव अर्जुनको जीवित
हुआ देखेगा ॥ ५० ॥ इसप्रकार कहने पर अमित तेजस्वी और
जिसने पाप नहीं किया था ऐसे बभ्रुवाहनने स्नेहसे अपने पिता
पार्थकी छाती पर वह मणि रक्खी ॥ ५१ ॥ उस मणिके रखते

तस्मिन्न्यस्ते मणौ वीरो जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः । चिरसुप्त इवो-त्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ॥ ५२ ॥ तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् । समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ॥ ५३ ॥ उत्थिते पुरुषव्याघ्रे पुनर्लक्ष्मीवति प्रभो । दिव्याः सुमनसः पुण्या ववृषे पाकशासनः ॥५४॥ अनाहता दुन्दुभयो नितेदुर्मेघनिस्वनाः । साधु साध्विति चाकाशे बभूव सुमहान् स्वनः ॥ ५५ ॥ उत्थाय च महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनञ्जयः । बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्द्धनि ॥ ५६ ॥ ददर्श चापि दूरेऽस्य मातरं शोककर्शिताम् । उलूप्या सह तिष्ठन्तीं ततोऽपृच्छद्धनञ्जयः ॥ ५७॥ किमिदं लक्ष्यते सर्वं शोकविस्मयहर्षवत् । रणाजिरममित्रघ्न यदि जानासि शंस

ही वीर बलवान् जिष्णु जीवित होगया और मलनेसे लाल होगए हैं नेत्र जिसके ऐसा वह बहुत समय तक सोकर उठा हो इसप्रकार उठा ॥ ५२ ॥ उस उदार मन वालेको जागृत होकर होशमें आया हुआ और स्वस्थ हुआ देखकर बभ्रुवाहनने उसको प्रणाम किया ॥ ५३ ॥ हे प्रभो ! पुरुषोंमें व्याघ्रसमान अर्जुन खडा हुआ कि-उसमें कान्ति आगई, तब इन्द्रने उसके ऊपर दिव्य और पवित्र पुष्प बरसाये ॥ ५४ ॥ मेघकी समान शब्द करनेवाली दुन्दुभियें विना बजाये वेगसे बजनेलगीं और आकाशमें बडा भारी स्वर हुआ कि-बहुत अच्छा हुआ ! बहुत अच्छाहुआ !! ॥ ५५ ॥ तदनन्तर महाभुज धनञ्जय भलीप्रकार स्वस्थ होकर खडा होगया और बभ्रुवाहनको आलिंगन कर उसके मस्तकको सूँघनेलगा ॥ ५६ ॥ फिर शोकसे दुबली हुई उसकी माताको उलूपीके साथ दूर खडी हुई देखकर धनञ्जयने बूझा कि- ॥ ५७ ॥ " यह सब रणभूमि शोक, विस्मय और आनन्दमयीसी कैसे देखनेमें आरही है ? हे शत्रुघ्न ! यदि तुझे इसके विषयमें कुछ मालूम हो तो मुझे बता ॥५८॥ तेरी जननी

मे ॥ ५८ ॥ जननी च किमर्थन्ते रणभूमिमुपागता । नागेन्द्रदुहिता चेयमुलूपी किमिहागता ॥५९॥ जानाम्यहमिदं युद्धं त्वया मद्वचनात् कृतम् । स्त्रीणामागमने हेतुमहमिच्छामि वेदितुम् ॥ ६० ॥ तमुवाच तथा पृष्टो मणिपूरपतिस्तदा । प्रसाद्य शिरसा विद्वानुलूपी पृच्छ्यतामियम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे अर्जुनप्रत्युज्जीवनेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

अर्जुन उवाच । किमागमनकृत्यन्ते कौरव्यकुलनन्दिनि । मणिपूरपतेर्मातुस्तथैव च रणाजिरे ॥ १ ॥ कच्चित् कुशलकामासि राज्ञोऽस्य भुजगात्मजे । मम वा चपलापाङ्गि कच्चित्त्वं शुभमिच्छसि २ कच्चित्ते पृथुलश्रोणि नाप्रियं प्रियदर्शने । अकार्षमहमज्ञानदयं वा बभ्रुवाहनः ॥ ३ ॥ कच्चिन्नु राजपुत्री ते सपत्नी चैत्रवाहनी ।

रणभूमिमें किसलिये आई है ? और नागेन्द्रकी पुत्री यह उलूपी भी यहाँ क्यों आई है ? यह तो मैं जानता हूँ कि–मेरे कहनेसे तूने मेरे साथ युद्ध किया था, परन्तु ये स्त्रियें यहाँ किस लिये आई हैं, इसका कारण मैं जानना चाहता हूँ ॥६०॥ इसप्रकार अर्जुनने पूछा तब मणिपुरके विद्वान् राजाने मस्तक नमाकर कहा कि–इस बातको उलूपीसे बूझिये॥६१॥ अस्सीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८० ॥

अर्जुनने कहा कि–हे कौरव्यकुल (के पुरुष) को आनन्द देनेवाली ! इस रणभूमिमें तेरे और इस मणिपुरके स्वामीकी माताके आनेका क्या कारण है ? ॥ १ ॥ हे सर्पपुत्री ! तुम इस राजाकी कुछ कुशल करनेकी इच्छा वाली हो, अथवा हे चपलनेत्रों वाली ! तुम कुछ मेरा शुभ करनेकी इच्छा करती हो ? ॥ २ ॥ हे विशाल श्रोणिवाली ! हे प्रिय दर्शन वाली ! मुझसे या इस बभ्रुवाहनसे अज्ञानसे कोई तेरा अप्रियकार्य तो नहीं होगया है ?

चित्राङ्गदा वरारोहा नापराध्यति किंचन ॥ ४ ॥ तमुवाचोरगपते-
र्दुहिता प्रहसन्निव । न मे त्वमपराद्धोऽसि न हि मे बभ्रुवाहनः ॥५॥
न जनित्री तथास्येयं मम या प्रेष्यवत् स्थिता । श्रूयतां यद्यथा
चेदं मया सर्वं विचेष्टितम् ॥६॥ न मे कोपस्त्वया कार्यः शिरसा
त्वां प्रसादये । त्वत्प्रियार्थं हि कौरव्य कृतमेतन्मया विभो ॥७॥
यत्तत् शृणु महाबाहो निखिलेन धनञ्जय । महाभारतयुद्धे यत्
त्वया शान्तनवो नृपः ॥८॥ अधर्मेण हतः पार्थ तस्यैषा निष्कृतिः
कृता । न हि भीष्मस्त्वया वीर युध्यमानो हि पातितः ॥ ९ ॥
शिखण्डिना तु संयुक्तस्तमाश्रित्य हतस्त्वया । तस्य शान्तिमकृत्वा
त्वं त्यजेथा यदि जीवितम् ॥ १० ॥ कर्म्मणा तेन पापेन पतेथा

अथवा तेरी सौत राजपुत्री, चैत्रवाहनजातिकी उत्तम अङ्ग वाली चित्राङ्गदाने तो तेरा कोई अपराध नहीं किया है ? ॥ ४ ॥ (यह सुन) सर्पराजकी पुत्रीने हँसकर उससे कहा कि-तुमने मेरा कोई अपराध (अप्रिय कार्य) नहीं किया है और इस बभ्रुवाहनने भी मेरा कोई अप्रिय कार्य नहीं किया है ॥५॥ तैसे मेरी दासीकी समान खडी हुई इसकी जननीने भी मेरा कुछ अपराध नहीं किया है, अब जो मैंने सब कुछ किया है इसको तुम सुनो६ मैं मस्तक नवा आपको प्रसन्न कर कहती हूं. कि-तुम मेरे ऊपर कोप न करना हे कौरव्य ! हे विभो ! तुम्हारा हित करनेके लिये ही मैंने यह काम किया था ॥ ७ ॥ हे महाबाहो ! हे धनञ्जय ! वह जो बात है उस सबको तुम सुनो, महाभारतके युद्धमें तुमने शन्तनुके पुत्र राजा भीष्मको अधर्मसे मारा था, उसका हे पार्थ ! तुमने यह प्रायश्चित्त किया है, क्योंकि-हे वीर ! तुमने भीष्मसे लडकर उनको नहीं मारा था॥८॥९॥ परन्तु शिखण्डीके साथमें रहे हुए तुमने उस शिखण्डीके पीछे रहकर उसको मारा था, इस अधार्मिक कृत्यकी शान्ति किये विना यदि तुम अपने शरीर

निरये ध्रुवम् । एषा तु विहिता शान्तिः पुत्राद्यां मामवानसि ११
वसुभिर्वसुधापाल गङ्गया च महामते । पुरा हि श्रुतमेतत्ते वसुभिः
कथितं मया । गङ्गायास्तीरमाश्रित्य हते शान्तनवे नृप ॥ १२ ॥
आप्लुत्य देवा वसवः समेत्य च महानदीम् । इदमूचुर्वचो घोरं
भागीरथ्या मते तदा ॥ १३ ॥ एष शान्तनवो भीष्मो निहतः
सव्यसाचिना । अयुध्यमानः संग्रामे संसक्तोऽन्येन भाविनी ।
तदनेनानुषंगेन वयमद्य धनञ्जयम् ॥ १४ ॥ शापेन योजयामेति
तथास्त्विति च साब्रवीत् ।तदहं पितुरावेद्य प्रविश्य व्यथितेन्द्रिया१५
अभवत् स च तत् श्रुत्वा विषादमगमत् परम् । पिता तु मे वसून्
गत्वा त्वदर्थे समयाचत ॥१६॥ पुनः पुनः प्रसाद्यैनांस्त एनमि-

को त्याग देते ॥१०॥ तो उस पापकर्मके कारण तुम्हें निश्चय ही परलोकमें नरकमें गिरना पड़ता, इस कर्मकी यह शान्ति (प्रायश्चित्त) गंगा और वसुओंने तुम्हारे लिये निश्चित की थी, कि—हे महामतिवाले ! हे वसुधापाल ! वही तुम्हें अपने पुत्र द्वारा मिली है ॥११॥ शान्तनुके पुत्रके मारे जाने पर हे नृप ! वसुओंने जो बात कही थी, उसको गङ्गाके तीर पर गई हुई, मैंने सुना था ॥ १२ ॥ (भीष्मके मरने पर) देवता और वसु इकट्ठे होकर महानदी पर गए और स्नान करके भागीरथीसे सम्मति करके यह घोर बात कही, कि—॥ १३ ॥ "हे भाविनि ! यह शन्तनुका पुत्र भीष्म दूसरेके साथ संग्राम करनेमें लगा हुआ था और जब युद्ध न कर रहा था, तब सव्यसाचीने इसको मारडाला, उसके इस कामके लिये हम आज अर्जुनको१४शापदें"तब गंगाने कहा कि—"ऐसा ही होना चाहिये" तब जिसकी इन्द्रियें(इस बातसे)व्याकुल होरही हैं ऐसी मैं नीचे (पातालमें)गई और अपने पितासे यह सब बात कही यह सुनकर वह भी बड़े दुःखी हुए, फिर मेरे पिता वसुओंके पास गए और

दमब्रुवन् । पुत्रस्तस्य महाभाग मणिपूरेश्वरो युवा ॥१७॥ स एनं रणमध्यस्थः शरैः पातयिता भुवि । एवं कृते स नागेन्द्र मुक्तशापो भविष्यति ॥ १८ ॥ गच्छेति वसुभिश्चोक्तो मम चेदं शशंस सः । तच्छ्रुत्वा त्वं मया तस्मात् शापादसि विमोचितः ॥ १९॥ न हि त्वां देवराजोऽपि समरेषु पराजयेत् । आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात्तेनेहासि पराजितः ॥ २० ॥ नहि दोषो मम मतः कथं वा मन्यसे विभो । इत्येवमुक्तो विजयः प्रसन्नात्माब्रवीदिदम् ॥ २१ ॥ सर्वं मे सुप्रियं देवि यदेतत् कृतवत्यसि । इत्युक्त्वा सोऽब्रवीत् पुत्रं मणिपूरपतिञ्जयः॥२२॥चित्राङ्गदायाः शृण्वन्त्याः कौरव्यदुहितुस्तदा ।

तुम्हारे लिये उनसे (क्षमा) याचना करने लगे ॥१६॥ उन्होंने बार २ उनको प्रसन्न किया, तब उन्होंने उनसे कहा कि–।१७। हे महाभाग!मणिपुरका तरुण राजा उसका पुत्र लगता है, रणमें खडा होकर वह उसे रणभूमिमें बाणोंसे गिरा देगा, जब ऐसा होगा तब हे नागेन्द्र ! वह शापमेंसे छूट जावेगा ॥१८॥ अब तू जा इस प्रकार वसुओंने मेरे पितासे कहा तब उन्होंने मुझसे आकर यह सब वृत्तान्त कहा था, यह सुन कर मैंने तुमको उस शापसे (आज) छुडाया है ॥ १९ ॥ देवराज इन्द्र भी समरमें तुम्हें नहीं हरा सकता (परन्तु यहाँ जो तुम्हारा पुत्रके हाथसे पराजय हुआ है वह तो शास्त्र में)पुत्रको आत्मा कहा है इस लिये तुम्हारा (पुत्रके हाथसे अर्थात् अपने ही हाथसे) पराजय हुआ है २० हे विभो ! इसमें मेरा दोष नहीं है, तब तुम मुझे कैसे दोष दोगे (अर्थात् न दोगे)उलूपीने अर्जुनसे इस प्रकार कहा, तब प्रसन्न हो गया है चित्त जिसका ऐसे अर्जुनने उससे इस प्रकार कहा कि–२१ "हे देवि!तूने जो कुछ किया यह सब मुझे बडा अच्छा लगा।" इस प्रकार कह कर मणिपुरके राजा अपने पुत्रसे अर्जुनने कुरुकुलकी पुत्रवधू चित्रांगदाके सुनते हुए यह कहा कि–"युधि-

युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परिचेत्रीं भविष्यति ॥ २३ ॥ तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ॥ २४ ॥ इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः । उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ॥२५॥ उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम् । अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ॥ २६ ॥ मम त्वनुग्रहार्थाय प्रविशस्व पुरं स्वकम् । भार्याभ्यां सह धर्मज्ञ मा भूत्तेऽत्र विचारणा ॥२७॥ उषित्वेह निशामेकां सुखं स्वभवने प्रभो । पुनरश्वानुगमनं कर्त्तासि जयतां वर ॥ २८ ॥ इत्युक्तः स तु पुत्रेण तदा वानरकेतनः । स्मयं प्रोवाच कौन्तेयस्तदा चित्राङ्गदासुतम् ॥ २९ ॥ विदितं ते महाबाहो यथा दीक्षाञ्चराम्यहम् । न स तावत् प्रवेक्ष्यामि पुरं ते पृथुलोचन ॥ ३० ॥ यथा कामं व्रजत्येष यज्ञियोऽश्वो नरर्षभ ।

ष्ठिरका अश्वमेधयज्ञ चैत्रशुक्ला पूर्णिमाको होगा ॥ २२-२३ ॥ तब हे राजन् ! तू अपने मंत्री और इन दोनों माताओंके साथ तहाँ आना" ॥२४॥ अर्जुनने इस प्रकार राजा बभ्रुवाहनसे कहा, तब जिसकी आँखोंमें आँसू आगए हैं ऐसे उस बुद्धिमान्ने अपने पितासे कहा कि—२५ " हे धर्मज्ञ! आपकी आज्ञासे मैं अश्वमेध नामक महायज्ञमें द्विजातियोंको परोसनेवाला बनकर आऊँगा २६ अब मेरे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये अपने ही नगरमें अपनी दोनों भार्याओंके साथ हे धर्मज्ञ! तुम प्रवेश करो, इसमें विचारने की कोई बात नहीं है ॥ २७ ॥ हे प्रभो ! यहाँ अपने श्रेष्ठ भवनमें सुखपूर्वक एक रात्रि निवास करके, हे विजय पाने वालोंमें श्रेष्ठ फिर अश्वानुसरण करना" ॥२८॥ वानरके चिन्हकी पताका वालेसे पुत्रने इसप्रकार कहा तब कुन्तीके पुत्रने चित्रांगदाके पुत्रसे हँसकर कहा, कि—॥ २९ ॥ हे महाबाहो ! यह तुझे विदित ही है कि-मैंने कैसी दीक्षा ली है, हे विशाल नेत्रों वाले ! यह दीक्षा पूर्ण हो, उससे पहिले मैं किसी नगरमें प्रवेश

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि न स्थानं विद्यते मम ॥ ३१ ॥ स तत्र विधिवत्तेन पूजितः पाकशासनिः । भार्याभ्यामभ्यनुज्ञातः प्रायाद्भरतसत्तमः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
अश्वानुसरणे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥८१॥

वैशम्पायन उवाच । स तु वाजी समुद्रान्तां पर्य्येत्य वसुधामिमाम् । निवृत्तोऽभिमुखो राजन् येन वारणसाह्वयम् ॥ १ ॥ अनुगच्छंश्च तुरगं निवृत्तोऽथ किरीटभृत् । यदृच्छया समापेदे पुरं राजगृहं तदा ॥ २ ॥ तमभ्याशगतं दृष्ट्वा सहदेवात्मजः प्रभो । क्षत्रधर्मे स्थितो वीरः समरायाजुहाव ह ॥ ३ ॥ ततः पुरात् स निष्क्रम्य रथी धन्वी शरी तली । मेघसन्धिः पदातिरतं धनञ्जय-

---

नहीं करूँगा ॥३०॥ हे नरश्रेष्ठ ! यह यज्ञका घोडा अब अपनी इच्छानुसार चलाता है, तेरा कल्याण हो, अब मैं जाऊँगा, मेरा कोई स्थान ही नहीं है ॥ ३१ ॥ तदनन्तर बभ्रुवाहनने अर्जुनकी शास्त्रानुसार पूजा की और भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन अपनी दोनों भार्याकी सम्मति लेकर चल दिया ॥ ३२ ॥ इक्यासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८१ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि—वह घोडा समुद्रपर्यन्त तक पृथ्वी पर घूम कर हे राजन् ! हस्तिनापुरकी ओर मुख करके पीछेको लौटा ॥१॥ तब घोड़ेके पीछे२ चलने वाला अर्जुन भी पीछेको लौटा और अचानक यदृच्छासे राजगृह नामक पुरमें आ पहुँचा ॥२॥ हे प्रभो! उसको अपने राज्यमें आया हुआ देख कर क्षत्रिय धर्मको पालन करने वाले वीर सहदेवके पुत्रने अर्जुनको युद्धके लिये निमन्त्रण दिया३ रथमें बैठ, धनुषको हाथमें ले, तरकसोंको बाँध, तल नामक (चमड़ेके मौजों)को हाथमें पहिन कर मेघसन्धि नगरमेंसे बाहर निकल कर अर्जुनसे पैदल ही लड़ने लगा४

मुपाद्रवत् ॥ ४ ॥ आसाद्य च महातेजा मेघसन्धिर्धनञ्जयम् ।
बालभावान्महाराज प्रोवाचेदं न कौशलात् ॥ ५ ॥ किमयमाश्चर्यं
ते वाजी स्त्रीमध्य इव भारत । हयमेनं हरिष्यामि प्रयतस्व विमोक्षणे ॥ ६ ॥
अदत्तानुनयो युद्धे यदि त्वं पितृभिर्मम । करिष्यामि तवातिथ्यं
प्रहर प्रहरामि च ॥ ७ ॥ इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं प्रहसन्निव पांडवः ।
विघ्नकर्ता मया वार्य्य इति मे व्रतमाहितम् ॥ ८ ॥ भ्रात्रा ज्येष्ठेन
नृपते तवापि विदितं ध्रुवम् । प्रहरस्व यथाशक्ति न मन्युर्विद्यते
मम ॥ ९ ॥ इत्युक्तः प्राहरत् पूर्वं पाण्डवं मगधेश्वरः । किरन्
शरसहस्राणि वर्षाणीव सहस्रदृक् ॥ १० ॥ ततो गाण्डीवभृत्
शूरो गाण्डीवप्रहितैः शरैः । चकार मोघांस्तान्बाणान् सयत्नान्
भरतर्षभ ॥ ११ ॥ स मोघं तस्य बाणौघं कृत्वा वानरकेतनः ।

हे महाराज ! महातेजस्वी मेघसंधि धनञ्जयके पास आकर बाल्य भावसे कुशलताशून्य हो इसप्रकार कहनेलगा, कि–॥५॥ हे आर्य! हे भारत ! अरे ! यह तेरा घोड़ा क्या स्त्रियोंके बीचमें है! देख ! मैं इसे अभी पकड कर लिये जाता हूँ, तू इसको छुडानेका यत्न कर ॥ ६ ॥ कदाचित मेरे बडोंने तुझको दण्ड न दिया होगा तो भी मैं तेरा अतिथिसत्कार करूँगा, तू मेरे ऊपर प्रहार कर, और मैं भी तेरे ऊपर प्रहार करूँगा ॥ ७ ॥ इस प्रकार कहने पर अर्जुनने हँस कर उससे कहा कि–"विघ्न करनेवाले को हटाना, यह व्रत मैंने धारण किया है" ॥ ८ ॥ मेरे भाईने मुझसे ऐसा कह दिया है, यह तुझे भी मालूम ही होगा, तू मेरे ऊपर शक्ति भर प्रहार कर, इस समय मुझे तेरे ऊपर क्रोध नहीं आरहा है ॥९॥ इसप्रकार कहने पर मगधपतिने अर्जुनके ऊपर पहिले प्रहार किया, सहस्र नेत्रोंवाला इन्द्र जैसे जल बरसाता है, तैसे ही वह अर्जुन पर बाण बरसाने लगा ॥ १० ॥ उसके पीछे शूर गाण्डीवधारीने, गाण्डीवमेंसे छूटेहुए बाणोंसे, हे भरत-

शरान् मुमोच ज्वलितान् दीप्तास्यानिव पन्नगान् ॥ १२ ॥ ध्वजे
पताकादण्डेषु रथे यन्त्रे हयेषु च । अन्येषु च रथाङ्गेषु न शरीरे न
सारथौ ॥ १३ ॥ संरक्ष्यमाणः पार्थेन शरीरे सव्यसाचिना ।
मन्यमानः स्ववीर्यं तन्मागधः प्राहिणोत् शरान् ॥ १४ ॥ ततो
गाण्डीवधन्वा तु मागधेन भृशाहतः । बभौ वसन्तसमये पलाशः
पुष्पितो यथा ॥१५॥ अवध्यमानः सोऽभ्यघ्नन्मागधः पाण्डवर्षभम् ।
तेन तस्थौ स कौरव्य लोकवीरस्य दर्शने ॥ १६ ॥ सव्यसाची
तु संक्रुद्धो विकृष्य बलवद्धनुः । हयांश्चकार निर्जीवान् सारथेश्च
शिरोऽहरत् ॥ १७ ॥ धनुश्चास्य महच्चित्रं क्षुरेण प्रचकर्त्त ह ।

र्षभ ! प्रयत्न पूर्वक उसके फैंकेहुए बाणोंको व्यर्थ करदिया ११
उसके बाणोंके प्रवाहको निष्फल करके जिसकी ध्वजामें वानरका
चिन्ह है, ऐसे अर्जुनने, जैसे प्रज्वलित मुखवाले सर्प हों ऐसे
प्रकाशित बाण उसके ऊपर छोड़े ॥ १२ ॥ ध्वजा पर, पताकाके
दण्डे पर, रथ पर, यन्त्र (धनुष) पर, घोड़ों पर और रथके
दूसरे भागों पर (उसने बाण छोड़े परन्तु राजाके) शरीर पर
अथवा सारथीके शरीर पर नहीं छोड़े ॥ १३ ॥ सव्यसाची
अर्जुनने उसके शरीरकी रक्षा करते हुए बाण छोड़े थे, परन्तु
मगधराज इसको अपना पराक्रम समझ अर्जुनके बाण मारने
लगा ॥ १४ ॥ तब मगधराजके बाणोंसे बहुत ही घायल हुआ
गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन, वसन्त ऋतुमें पुष्पोंवाले पलाशकी
समान शोभा पाने लगा ॥ १५ ॥ पाण्डवने उसको मारा नहीं
अतएव वह मगधपति पांडवोंके उत्तम पुरुषके सामने बाण मारता
रहा और उस लोकवीरकी दृष्टिके सामने हे कौरव्य ! खडा रह
सका ॥ १६ ॥ पीछे क्रोधमें भरेहुए सव्यसाचीने वेगपूर्वक अपने
धनुषको खेंचकर उसके घोडोंको निर्जीव करडाला और उसके
सारथिके शिरको उडा दिया ॥ १७ ॥ और एक क्षुर बाणसे

हस्तावापं पताकाश्च ध्वजं चास्य न्यपातयत् ॥ १८ ॥ स राजा व्यथितो व्यश्वो विधनुर्हतसारथिः । गदामादाय कौन्तेयमभिदुद्राव वेगवान् ॥१९॥ तस्यापतत एवाशु गदां हेमपरिष्कृताम् । शरैश्चकर्त बहुधा बहुभिर्गृध्रवाजितैः ॥ २० ॥ सा गदा शकलीभूता विशीर्णमणिबन्धना । व्याली विमुच्यमानेव पपात धरणीतले ॥ २१ ॥ विरथं विधनुष्कञ्च गदया परिवर्जितम् । सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमब्रवीत् कपिकेतनः ॥ २२ ॥ पर्याप्तः क्षत्रधर्मोऽयं दर्शितः पुत्र गम्यताम् । बह्वेतत्समरे कर्म तव बालस्य पार्थिव ॥२३॥ युधिष्ठिरस्य सन्देशो न हन्तव्या नृपा इति । तेन जीवसि राजंस्त्वमपराद्धोपि मे रणे ॥ २४ ॥ इति मत्वा तदात्मानं प्रत्यादिष्टं स्म मागधः । तथ्यमित्यभिगम्यैनं प्रांजलिः प्रत्यपूजयत् ॥ २५ ॥ पराजितोस्मि

उसके मोटे और विचित्र धनुष तथा हाथोंके मौजोंको काटडाला और पताका तथा ध्वजदण्डको नीचे गिरादिया ॥ १८ ॥ घोड़े, धनुष, और सारथिरहित हुआ वह राजा व्यथित होगया और गदा लेकर वेगसे अर्जुन पर झपटा ॥ १९ ॥ वह पास आया झट अर्जुनने सुवर्णसे मढी हुई उसकी गदाके, गीधके पत्तवाले बहुतसे बाणोंसे, बहुतसे खण्ड करडाले ॥ २० ॥ मणिबन्ध कटी हुई और खण्ड २ हुई वह गदा, हाथमेंसे छोड़ी हुई सर्पिणी की समान पृथिवी पर गिरपडी ॥२१॥ फिर कपिध्वज अर्जुनने रथ, धनुष और गदारहित हुए मेघसन्धिसे उसको ढाढस देते हुए यह बात कही ॥ २२ ॥ हे पुत्र ! तूने क्षत्रियधर्म भली प्रकार दिखलाया है अतः अब जा, हे पार्थिव ! इस युद्धमें तेरे बालकका कर्म (पराक्रम) बहुत हो चुका ॥ २३ ॥ युधिष्ठिरकी आज्ञा है कि–राजाओंको मारना नहीं, अतः हे राजन् ! तू मेरा अपराध करने पर भी रणमें जीवित रहा है ॥ २४ ॥ ऐसा सुन मगधराजने मेरे प्राण बचे यह समझ कर उसके पास जा

भद्रन्ते नाहं योद्धुमिहोत्सहे। यद्यत् कृत्यं मया तेऽद्य तद् ब्रूहि कृतमेव तु ॥२६॥ तमर्जुनः समाश्वास्य पुनरेवेदमब्रवीत् आगन्तव्यं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २७ ॥ इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पूजयामास तं हयम्। फाल्गुनश्च युधि श्रेष्ठं विधिवत् सहदेवजः॥२८ ततो यथेष्टमगमत् पुनरेव स केसरी। ततः समुद्रं तीरेण वङ्गान् पुण्ड्रान् सकोशलान् ॥ २९ ॥ तत्र तत्र च भूरीणि म्लेच्छसैन्यान्यनेकशः। विजिग्ये धनुषा राजन् गाण्डीवेन धनञ्जयः ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे मागधपराजये द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

वैशम्पायन उवाच। मागधेनार्चितो राजन् पाण्डवः श्वेतवाहनः। दक्षिणां दिशमास्थाय चारयामास तं हयम् ॥ १ ॥ ततः स पुनरा-

---

हाथ जोड कर उसका सत्कार किया ॥ २५ ॥ उसने कहा कि—"मैं हार गया हूँ, तुम्हारा कल्याण हो मुझे अब युद्ध करनेका उत्साह नहीं है जो जो काम मुझे करना चाहिये उसकी आज मुझे आप आज्ञा दीजिये और उसको हुआ ही समझिये"।२६। अर्जुनने उसको आश्वासन देकर यह बात कही कि—"(युधिष्ठिर) राजाके अश्वमेधमें चैत्रकी पूर्णिमाके दिन आना" ॥२७॥ इस प्रकार अर्जुनने कहा तब "बहुत अच्छा" कह कर सहदेवके पुत्रने विधिपूर्वक उस घोड़ेकी और युद्ध करनेमें श्रेष्ठ अर्जुनकी पूजा की ॥ २८ ॥ फिर वहाँसे वह वीर अपनी इच्छानुसार समुद्रके किनारे २ वंग, पुण्ड्र और कौसल देशोंमें गया ॥२९॥ वहाँ म्लेच्छोंकी अनेक सेनाओं पर गाण्डीव धनुषसे हे राजन्! धनञ्जयने विजय पाई ॥ ३० ॥ बयासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८२ ॥

वैशंपायनने कहा कि—मगधराजसे पूजित श्वेतवाहन वाला पांडव दक्षिण दिशाकी ओर उस घोड़ेको लेगया (उसके पीछे२ गया ॥१॥

वर्त्य हयः कामचरो बली । आससाद पुरीं रम्यां चेदीनां शुक्ति-
साह्वयाम् ॥२॥ शरभेणार्चितस्तत्र शिशुपालसुतेन सः । युद्धपूर्वं
तदा तेन पूजया च महाबलः ॥ ३ ॥ ततोऽर्चितो ययौ राजंस्तदा
स तुरगोत्तमः । काशीनंगान् कोशलांश्च किरातानथ तंगणान् ४
पूजां तत्र यथान्यायं प्रतिगृह्य धनञ्जयः । पुनरावृत्य कौन्तेयो
दशार्णानगमत्तदा ॥ ५ ॥ तत्र चित्रांगदो नाम बलवानरिमर्द्दनः ।
तेन युद्धमभूत्तस्य विजयस्यातिभैरवम् ॥ ६ ॥ तञ्चापि वशमानीय
किरीटी पुरुषर्षभः । निषादराज्ञो विषयमेकलव्यस्य जग्मिवान् ७
एकलव्यसुतश्चैनं युद्धेन जगृहे तदा । तत्र चक्रे निषादैः स संग्रामं
लोमहर्षणम् ॥ ८ ॥ ततस्तमपि कौन्तेयः समरेष्वपराजितः ।
जिगाय युधि दुर्द्धर्षो यज्ञविघ्नार्थमागतम् ॥ ९ ॥ स तं जित्वा

फिर इच्छानुसार चलने वाला वह बलवान् घोड़ा पीछेको लौटतेमें
चेदियोंकी शुक्तिसा नाम वाली रम्य पुरीमें जा पहुँचा ॥ २ ॥
वहाँ शिशुपालके पुत्र शरभने उसकी प्रथम युद्धसे पूजाकी फिर
उस महाबलीका पूजासे सत्कार हुआ ॥ ३ ॥ वहाँ पूजित हुआ
वह उत्तम अश्व हे राजन् । फिर काशी, अंग, कोशल, किरात
और तंगण राज्योंमें गया ॥ ४ ॥ वहाँ न्यायानुसार पूजाको
स्वीकार करके कुन्तीका पुत्र धनञ्जय पीछेको लौटता हुआ
दशार्णोंके देश (मध्यभारत) की ओर गया ॥५॥ वहाँ शत्रुओंका
मर्दन करनेवाला बलवान् चित्राङ्गद नामका राजा था, उसके
साथ विजयका अतिभयंकर युद्ध हुआ ॥ ६ ॥ और उसको भी
अपने वशमें करके पुरुषश्रेष्ठ मुकुटधारी अर्जुन निषादराज एक-
लव्यके देशमें गया ॥ ७ ॥ एकलव्यके पुत्रने युद्ध करके उसको
रोका, तब अर्जुनने वहाँ निषादोंके साथ रोमाञ्चकारी संग्राम
किया ॥ ८ ॥ उस युद्धमें, पराजय न पाने वाले कौंतेयने यज्ञमें
विघ्न करनेको आये हुए उसको भी युद्धमें जीत लिया ॥ ९ ॥

महाराज नैषादिं पाकशासनिः । अर्चितः प्रययौ भूयो दक्षिणं सलिलार्णवम् ॥ १० ॥ तत्रापि द्रविडैरान्ध्रै रौद्रैर्माहिषकैरपि । तथा कोल्लगिरेयैश्च युद्धमासीत् किरीटिनः ॥ ११ ॥ तांश्चापि विजयो जित्वा नातितीव्रेण कर्म्मणा । तुरङ्गमवशेनाथ सुराष्ट्रानभितो ययौ ॥ १२ ॥ गोकर्णमथ चासाद्य प्रभासमपि जग्मिवान् । ततो द्वारवतीं रम्यां वृष्णिवीराभिपालिताम् ॥ १३ ॥ आससाद हयः श्रीमान् कुरुराजस्य यज्ञियः । तमुन्मथ्य हयश्रेष्ठं यादवानां कुमारकाः ॥ १४ ॥ प्रययुस्तांस्तदा राजन्नुग्रसेनो न्यवारयत् । ततः पुराद्विनिष्क्रम्य वृष्ण्यन्धकपतिस्तदा ॥ १५ ॥ सहितो वसुदेवेन मातुलेन किरीटिनः । तौ समेत्य कुरुश्रेष्ठं विधिवत् प्रीतिपूर्वकम् १६ परया भारत श्रेष्ठं पूजया समवस्थितौ । ततस्ताभ्यामनुज्ञातो ययौ येन हयो गतः ॥१७॥ ततः स पश्चिमं देशं समुद्रस्य तदा हयः ।

हे महाराज ! इन्द्रपुत्र उस निषादोंके राजाको जीत कर उससे सत्कार पाकर दक्षिण दिशाके समुद्रकी ओर चला ॥ १० ॥ तहाँ भी द्रविण, आन्ध्र, रौद्र, माहिषक (मैसूरमें रहने वालों) तथा कोल्ल गिरिमें रहने वालोंके साथ अर्जुनका युद्ध हुआ था ॥ ११ ॥ उनको भी सरलतासे जीत कर अश्वके वशमें चलने वाला अर्जुन सुराष्ट्रोंके देश(काठियावाड़)की ओर गया १२ मार्गमें वह गोकर्ण और प्रभासमें भी गया तहाँसे वृष्णिवीरोंसे रक्षित रम्य द्वारिकामें ॥ १३ ॥ कुरुराजके यज्ञका श्रेष्ठ घोडा आपहुँचा, तब यादवोंके कुमार उस घोड़ेको पकडकर लेगए॥१४॥ तब हे राजन् ! उग्रसेनने उनको रोका, फिर वृष्णि और अन्धकोंके राजा उग्रसेन अर्जुनके मामा वसुदेवके साथ नगरमेंसे बाहर आये,वे दोनों उस कुरुश्रेष्ठसे प्रीतिपूर्वक मिले और हे भारत! उन्होंने उस पुरुषश्रेष्ठकी शास्त्रानुसार बड़े समारोहसे पूजाकी, तब अर्जुन उनकी आज्ञा लेकर घोडेके पीछे २ चला॥१५-१७॥

क्रमेण व्यचरत् स्फीतस्ततः पञ्चनदं ययौ ॥ १८ ॥ तस्मादपि स कौरव्यः गान्धारविषयं हयः । विचचार यथाकामं कौन्तेयानुगतस्तदा ॥ १९ ॥ ततो गान्धारराजेन युद्धमासीत् किरीटिनः । घोरं शकुनिपुत्रेण पूर्ववैरानुसारिणा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
अश्वानुसरणे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

वैशम्पायन उवाच । शकुनेस्तनयो वीरो गान्धाराणां महारथः । प्रत्युद्ययौ गुडाकेशं सैन्येन महता वृतः ॥ १ ॥ हस्त्यश्वरथयुक्तेन पताकाध्वजमालिना । अमृष्यमाणास्ते योधा नृपस्य शकुनेर्वधम् ॥ २ ॥ अभ्ययुः सहिताः पार्थं प्रगृहीतशरासनाः । स तानुवाच धर्मात्मा बीभत्सुरपराजितः ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरस्य वचनं न च ते जगृहुर्हितम् । वार्यमाणापि पार्थेन सान्त्वपूर्वममर्षिताः ॥ ४ ॥ परिवार्य हयं

फिर तहाँसे वह घोडा पश्चिमके समुद्रकी ओरको चलने लगा, और चलते २ पञ्चनद (पञ्जाब) के समृद्धिमान् देशमें गया ॥ १८ ॥ तहाँसे हे कौरव ! वह घोडा गन्धार (कन्दहार) देशमें अर्जुनको अपने पीछे२ लेकर इच्छानुसार घूमता२ गया ॥ १९ ॥ तहाँ पहिले वैरको स्मरण करनेवाले गान्धारराज शकुनिके पुत्रके साथ अर्जुनका घोर युद्ध हुआ ॥ २० ॥ तिरासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८३ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–शकुनिका पुत्र वीर महारथी था, वह एक बडी भारी सेनाको लेकर अर्जुनके सामने गया ॥ १ ॥ उस सेनामें हाथी, घोडे और रथ थे और वह सेना पताका, ध्वजा और मालाओंसे सुशोभित थी, उसमेंके योधा अपने राजा शकुनिके वधसे अमर्षमें भरे हुए थे ॥ २ ॥ वे धनुषोंको तान कर अर्जुन पर दौड़े, तब धर्मात्मा अपराजित अर्जुन उनसे युधिष्ठिरका वचन कहने लगा ॥ ३ ॥ परन्तु उन्होंने युधिष्ठिरके हित भरे वचनोंको नहीं माना, पार्थने उनको समझा कर रोकना चाहा परन्तु वे

जग्मुस्ततश्चुक्रोध पाण्डवः । ततः शिरांसि दीप्ताग्रैस्तेषां चिच्छेद पाण्डवः ॥ ५ ॥ क्षुरैर्गाण्डीवनिर्मुक्तैर्नातियत्नादिवार्जुनः । ते वध्यमानाः पार्थेन हयमुत्सृज्य सम्भ्रमात् ॥६॥ न्यवर्त्तन्त महाराज शरवर्षार्दिता भृशम् । निरुध्यमानस्तैश्चापि गान्धारैः पाण्डुनन्दनः ॥७ आदिश्यादिश्य तेजस्वी शिरांस्येषां न्यपातयत् । वध्यमानेषु तेष्वाजौ गान्धारेषु समन्ततः ॥ ८ ॥ स राजा शकुनेः पुत्रः पाण्डवं प्रत्यवारयत् । तं युध्यमानं राजानं क्षत्रधर्मे व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥ पार्थोऽब्रवीन्न मे वध्या राजानो राजशासनात् । अलं युद्धेन ते वीर न तेऽस्त्वद्य पराजयः ॥१०॥ इत्युक्तस्तदनादृत्य वाक्यमज्ञानमोहितः । स शक्रसमकर्माणं समवाकिरदाशुगैः ॥ ११ ॥ तस्य पार्थः शिर-

---

माने नहीं और क्रोधमें भर घोड़ेको पकड कर चल दिये,तब तो अर्जुन क्रोधमें भरगया और उनके मस्तकोंको प्रज्वलित नोक वाले बाणोंसे काटने लगा ॥ ४—५ ॥ गाण्डीवमेंसे छूटे हुए उस्तरेके आकृति वाले बाणोंसे अर्जुनने थोड़े ही प्रयत्नसे उनके मस्तकोंको काटना आरंभ करदिया, तब वे मारसे घबडा घोड़ोंको छोड २ कर भागनेलगे ॥ ६ ॥ हे महाराज! बाणोंसे पीडित होते हुए वह फिर पीछेको लौटे और उन्होंने अर्जुनको घेर लिया, तो भी ॥ ७ ॥ अर्जुनने नाम ले लेकर उनके मस्तकोंको काटना आरंभ कर दिया, इस प्रकार चारों ओर गान्धारोंका संहार होरहा था तब ॥८॥ शकुनिपुत्र उसको रोकने लगा, तब क्षत्रिय धर्मानुसार लडते हुए उस राजासे ९ अर्जुनने कहा कि—राजाकी आज्ञाके कारण मैं राजाओंका वध नहीं करता हूँ अतः हे वीर! तू युद्ध न कर और अपना पराजय न होने दे ॥ १० ॥ अर्जुनने इस प्रकार कहा, परन्तु उस अज्ञानसे मोहित हुएने उसकी बातका अनादर किया और वह इन्द्रकी समान पराक्रमी अर्जुनको बाणोंसे ढकने लगा ॥ ११ ॥

स्त्राणमर्द्धचन्द्रेण पत्रिणा । अपाहरदमेयात्मा जयद्रथशिरो यथा १२
तं दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुर्गान्धाराः सर्व एव ते । इच्छता तेन न हतो
राजेत्यपि च तं विदुः ॥१३॥ गान्धारराजपुत्रस्तु पलायनकृतक्षणः
ययौ तैरेव सहितस्त्रस्तैः क्षुद्रमृगैरिव ॥ १४ ॥ तेषान्तु तरसा पार्थ-
स्तत्रैव परिधावताम् । प्रजहारोत्तमाङ्गानि भल्लैः सन्नतपर्वभिः ।१५।
उच्छ्रितांस्तु भुजान् केचित् नाबुध्यन्त शरैर्हतान् । शरैर्गाण्डीवनि-
र्मुक्तैः पृथुभिः पार्थचोदितैः ॥१६॥ सम्भ्रान्तनरनागाश्वमपतद्द्रुतं
बलम् । हतविध्वस्तभूयिष्ठमावर्त्तत मुहुर्मुहुः ॥१७॥ नाभ्यदृश्यन्त
वीरस्य केचिदग्रेऽग्र्यकर्म्मणः । रिपवः पात्यमाना वै ये सहेयुर्धन-
ञ्जयम् ॥ १८ ॥ ततो गान्धारराजस्य मन्त्रिवृद्धपुरः सरा ।

तब अमेयात्मा अर्जुनने जैसे जयद्रथके शिरको उड़ा दिया था, तैसे ही उसके टोपको अर्ध चन्द्राकार बाण मार कर उड़ा दिया ॥ १२ ॥ इस कार्यको देख कर सब गान्धार विस्मित होगए और उन्होंने समझा कि-" अर्जुनने जान कर ही उनके राजाको नहीं मारा है" ॥ १३ ॥ तदनन्तर गान्धारोंका राजपुत्र त्रस्त हुए मृगोंकी समान उन सैनिकोंके साथ क्षणभरमें भागने लगा ॥ १४ ॥ तब पार्थने उन भागते हुओंके शिरोंको नमी हुई गाँठ वाले भल्लोंसे काटना आरम्भ करदिया ॥ १५ ॥ पार्थके मारे हुए गाण्डीवधनुषमेंसे छूटे हुए बाणोंसे कितनोंके ही ऊपरको उठे हुए हाथ कट गए, परन्तु उन्हें इसकी सुध ही नहीं हुई ॥१६॥ घबड़ाहटमें पड़े हुए मनुष्य, हाथी और घोड़ोंवाला वह सेनादल भागने लगा, गिरने लगा, मारा जाने लगा, और नष्ट होता हुआ चक्कर काटने लगा ॥१७॥ श्रेष्ठ कर्म करनेवाले उस वीरके सामने कोई खड़ा न रह सका, धनञ्जयके सामने जिन वीरोंने युद्ध किया उनको धनञ्जयने मारडाला था ॥१८॥ फिर वृद्ध मंत्रियोंको आगे करके भयभीत हुई गान्धारराजकी माता

जननी निर्ययौ भीता पुरस्कृत्यार्घमुत्तमम् ॥ १९ ॥ सा त्ववारयदव्यग्रं तं पुत्रं युद्धदुर्मदम् । प्रसादयामास च तं जिष्णुमक्लिष्टकारिणम् ॥ २० ॥ तां पूजयित्वा बीभत्सुः प्रसादमकरोत् प्रभुः । शकुनेश्चापि तनयं सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ॥२१॥ न मे प्रियं महाबाहो यत्ते बुद्धिरियं कृता । प्रतियोद्धुममित्रघ्न भ्रातैव त्वं ममानघ २२ गान्धारीं मातरं स्मृत्वा धृतराष्ट्रकृतेन च । तेन जीवसि राजंस्त्वं निहतास्त्वनुगास्तव ॥२३॥ मैवं भूः शाम्यतां वैरं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी । गच्छेथास्त्वं परां चैत्रीमश्वमेधे नृपस्य नः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वानुसरणे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच । इत्युक्त्वाऽनुययौ पार्थो हयं कामविहारिणम् ।

उत्तम अर्घको लेकर नगरमेंसे बाहर निकली ॥ १९ ॥ उसने अव्यग्र (स्वस्थ) मनवाले और मदमत्त अपने पुत्रको युद्ध करने से रोका और सहजमें ही काम करनेवाले जिष्णुको प्रसन्न करने लगी ॥ २० ॥ बलवान् बीभत्सुने उसकी पूजा कर उसके ऊपर अनुग्रह किया और शकुनिके पुत्रको समझाते हुए यह बात कही ॥ २१ ॥ कि-हे महाबाहो ! तुमने मेरे सामने होकर लडने का विचार किया यह(मेरी समझमें)अच्छा नहीं किया क्योंकि-हे अनघ ! हे वैरीनाशक!तुम तो हमारे भाई हो॥२२॥हे राजन् ! माता गांधारीकी याद आनेसे और धृतराष्ट्रके कारणसे तुम जीवित बच रहे हो और तुम्हारे सैनिक ही मारे गए हैं ॥ २३ ॥ अब ऐसा नहीं होना चाहिये, वैरको शान्त कर, अब तेरी बुद्धि ऐसी न होनी चाहिये, हमारे राजाके अश्वमेध यज्ञमें चैत्रकी पूर्णिमाको तू आना ॥ २४ ॥ चौरासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८४ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-इस प्रकार कह कर पार्थ इच्छानुसार चलनेवाले घोडेके पीछे२चला,जहाँसे वह घोडा हस्तिनापुरके मार्ग

न्यवर्त्तत ततो वाजी येन नागाह्वयं पुरम् ॥१॥ तं निवृत्तन्तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः। श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाऽभवत् ॥ २ ॥ विजयस्य च तत् कर्म गान्धारविषये तदा । श्रुत्वा चान्येषु देशेषु स सुप्रीतोऽभवत्तदा ॥३॥ एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघमासिकीम् । इष्टं गृहीत्वा नक्षत्रं धर्म्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥ समानीय महातेजाः सर्वान् भ्रातृन्महीपतिः । भीमञ्च नकुलञ्चैव सहदेवञ्च कौरव ॥५॥ प्रोवाचेदं वचः काले तदा धर्म्मभृतां वरः । आमन्त्र्य वदतां श्रेष्ठो भीमं प्रहरताम्वरम् ॥ ६ ॥ आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः । यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनञ्जयसारिणः ॥७॥ उपस्थितश्च कालोयमभितो वर्त्तते हयः । माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर ॥ ८ ॥ तत् प्रस्थाप्यन्तु विद्वांसो ब्राह्मणा

की ओरको चला ॥ १ ॥ चारणद्वारा युधिष्ठिरने उसके लौटने का समाचार सुना और अर्जुनका कुशल समाचार सुन कर वह मनमें बहुत प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ और गान्धार देशमें तथा अन्य देशोंमें अर्जुनके किये हुए कर्मोंकी बात सुन कर, वह बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥ इस समय माघ महीनेकी द्वादशी थी, तब धर्मराज युधिष्ठिरने शुभ नक्षत्र देख कर ॥ ४ ॥ अपने भीम नकुल और सहदेव नामके भाइयोंको बुलाया और हे कौरव ! महातेजस्वी धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर यह कहने लगे, बोलने वालोंमें श्रेष्ठ उन्होंने प्रहार करने वालोंमें श्रेष्ठभीमसेनको बुला कर कहा ॥५-६॥ कि—हे भीमसेन ! अश्वके साथ तेरा छोटा भाई लौट कर आरहा है, यह बात धनञ्जयके साथ जाने वाले मेरे पुरुषोंने मुझसे कही है ॥७॥ और (यज्ञका) समय भी आलगा है, वह घोडा भी लौट कर आरहा है, हे वृको-दर ! अब माघकी पूर्णिमा है अब एक महीना बाकी रहा है ॥ ८ ॥ अतः वेदमें पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंको भेजो,

वेदपारगाः । वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ॥ ९ ॥ इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम् । हृष्टः श्रुत्वा गुडाकेशमायान्तं पुरुषर्षभम् ॥१०॥ ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह । ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञकर्मणि ॥ ११ ॥ तं सशालचयं श्रीमत् संप्रतोलीसुघट्टितम् । मापयामास कौरव्य यज्ञवाटं यथाविधि ॥ १२ ॥ प्रासादशतसम्बाधं मणिप्रवरकुट्टिमम् । कारयामास विधिवद्धेमरत्नविभूषितम् ॥ १३ ॥ स्तम्भान् कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च । यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धञ्च काञ्चनम् ॥ १४ ॥ अन्तःपुराणि राज्ञाञ्च नानादेशसमीयुषाम् । कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ॥ १५ ॥ ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमीयुषाम् । कारयामास कौन्तेयो विविधान्यनेकशः ॥ १६ ॥ तथा संप्रेषयामास दूतान् नृपतिशासनात् ।

अब वह अश्वमेधकी सिद्धिके लिये यज्ञके योग्य स्थानको देखें ॥ ९ ॥ राजाने इस प्रकार कहा, तब भीमसेनने पुरुषोंमें उत्तम अर्जुनको लौट कर आता हुआ सुन प्रसन्न हो राजाकी आज्ञानुसार काम किया ॥१०॥ फिर विद्वान् स्थपतियों (प्रतिष्ठा कराने वाले शिल्पियों) के साथ, यज्ञकर्म करनेमें कुशल ब्राह्मणोंको आगे करके भीमसेन (नगरके) बाहर गया ॥११॥ तहाँ कुरुवंशी भीमने वृक्षोंके समूह वाले, सौन्दर्य भरे, बड़े भारी सपाट मार्ग वाले यज्ञवाटको यथा विधि डोरीसे नपवाया फिर उत्तम मणियोंसे जडी भूमि वाले और सुवर्ण तथा रत्नोंसे शोभायमान सैंकडों महल तहाँ विधि विधानके अनुसार बनवाये ॥१३॥ स्तम्भ, सुनहरी चित्र, तथा बहुतसे तोरण शुद्ध सुवर्ण देकर यज्ञशालाके भागोंमें ॥१४॥ और पृथक् २ देशोंसे आने वाले राजओंके अन्तःपुरोंमें उस धर्मात्माने स्थान२ पर लगवाये ॥१५॥ फिर पृथक्२ देशोंसे आनेवाले ब्राह्मणोंके लिये भीमने शास्त्रानुसार अनेक

भीमसेनो महाबाहो राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम् ॥ १७ ॥ ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तमाः। रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च ॥ १८ ॥ तेषां निविशतान्तेषु शिबिरेषु महात्मनाम् । नर्दतः सागरस्येव दिवस्पृगभवत् स्वनः ॥ १९ ॥ तेषामभ्यागतानां च स राजा कुरुवर्धनः। व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः २० वाहनानां च विविधाः शाला शालीक्षुगोरसैः । उपेता भरतश्रेष्ठ व्यादिदेश स धर्मराट् ॥२१॥ तथा तस्मिन्महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः । समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः ॥ २२ ॥ ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन् पृथिवीपते । समाजग्मुः सशिष्यांस्तान् प्रतिजग्राह कौरवः ॥ २३ ॥ सर्वांश्च ताननुययौ यावदावसथान्

संस्थान बनवाये ॥ १६ ॥ तथा राजाकी आज्ञानुसार महाबाहु भीमने सहजमेंही कर्म करनेवाले-धर्मात्मा राजाओंको बुलानेके लिये दूत भेजे ॥१७॥ हे श्रेष्ठ राजन् ! कुरुपतिको प्रसन्न करने के लिये वे अनेक स्त्रियें, रत्न, अश्व और आयुध लेकर वहाँ आये ॥ १८ ॥ पृथक् २ छावनियोंमें रहते हुए उन महात्माओंका, गरजते हुए समुद्रके स्वरकी समान, कोलाहल आकाशमें टकराने लगा ॥ १९ ॥ कुरुओंकी वृद्धि करनेवाले उन राजा युधिष्ठिरने इन अभ्यागतोंको अन्न, पान आदि और (साधारण) मनुष्यों को दुर्लभ शय्याएँ देनेकी आज्ञा दी ॥ २० ॥ और चावल, शक्कर, गोदुग्ध, मक्खन और दहीसे भरे शाला (पात्र) उनके वाहनोंको देनेके लिये धर्मराजने आज्ञा दी २१ और बुद्धिमान धर्मराजके इस यज्ञमें ब्रह्मको जानने वाले मुनियोंके बहुतसे झुण्ड आये थे ॥ २२ ॥ हे पृथ्वीपति ! द्विजातियोंमें जो श्रेष्ठ थे, वे भी अपने शिष्योंके साथ आये थे, उनका युधिष्ठिरने सत्कार किया ॥२३॥ महातेजस्वी युधिष्ठिर अभिमानको त्याग कर स्वयं ही जब तक वे अपने योग्य स्थानों पर पहुँचते थे तब

मति । स्वयमेव महातेजा दम्भं त्यक्त्वा युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥ ततः कृत्वा स्थपतयः शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा । कृत्स्नं यज्ञविधिं राज्ञो धर्म्मज्ञाय न्यवेदयन् ॥ २५ ॥ तच्छ्रुत्वा धर्म्मराजस्तु कृतं सर्व्वमनिन्दितः । हृष्टरूपोऽभवद्राजा सह भ्रातृभिरादृतः ॥ २६ ॥ वैशम्पायन उवाच । तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः । हेतुवादान् बहूनाहुः परस्परजिगीषवः ॥ २७ ॥ ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम् । देवेन्द्रस्येव विहितं भीमसेनेन भारत ॥ २८ ॥ ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते । शय्यासनविहारांश्च सुबहून् रत्नसञ्चयान् ॥ २९ ॥ घटान् पात्रीः कटाहानि कलशान् वर्द्धमानकान् । न हि किञ्चिदसौवर्णमपश्यन् वसुधाधिपाः ॥३०॥ यूपांश्च शास्त्रपठितान् दारवान् हेमभूषितान् ।

उनके पीछे २ चलते थे ॥ २४ ॥ फिर स्थपति और जो दूसरे शिल्पी थे, उन्होंने यज्ञकी सकल विधि ठीक करके धर्मज्ञ युधिष्ठिरसे निवेदन किया ॥ २५ ॥ सब तयार हुआ सुनकर धर्मराज तन्द्रारहित होगए और अपने भाइयों सहित सत्कार पाये हुए वे राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए ॥ २६ ॥ वह यज्ञ आरम्भ हुआ तब परस्पर जीतनेकी इच्छा वाले, बोलनेमें कुशल तर्क करने वालोंने बहुतसे तर्क वितर्क किये ॥ २७ ॥ तहाँ आये हुए राजे देवेन्द्रके यज्ञकी समान भीमसेनने, यज्ञकी जो व्यवस्था की थीं, उसको देखने लगे ॥ २८ ॥ सुवर्णके बनाए हुए तोमर, शय्याएँ, आसन, विहार और बड़े २ रत्नोंके ढेरोंको देखने लगे ॥ २९ ॥ घट, पात्र, कढाइयें, कलशे, और वर्धमानक (एक प्रकारकी थाली अथवा ढक्कन) इन सबोंमेंसे राजाओंने एक भी ऐसी वस्तु न देखी जो सोनेकी न बनी हो ॥ ३० ॥ बड़े तेजवाले उन राजाओंने शास्त्रमें लिखी रीतिके अनुसार तयार किये हुए, सोनेसे मँढे लकड़ीके यज्ञके खंभे समयके अनुसार

उपविलष्टान् यथाकालं विधिवद्भूरिवर्चसः॥३१॥स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन प्रभो । सर्व्वानेव समानीतानपश्यंस्तत्र ते नृपाः ३२ गाश्चैव महिषीश्चैव तथा वृद्धस्त्रियोपि च । औदकानि च सत्त्वानि श्वापदानि वयांसि च ॥ ३३ ॥ जरायुजाण्डजातानि स्वेदजान्युद्भिदानि च । पर्वतानुपजातानि भूतानि ददृशुश्च ते ॥ ३४ ॥ एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः । यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मयमागताः ॥ ३५ ॥ ब्राह्मणानां विशां चैव बहुमृष्टान्नमृद्धिमत् । पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां तत्र भुञ्जताम् ॥ ३६ ॥ दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत । विननादासकृच्चापि दिवसे दिवसे गते ।३७। एवं स ववृते यज्ञो धर्म्मराजस्य धीमतः । अन्नस्य सुबहून् राजन्नुत्सर्गान् पर्वतोपमान् ॥ ३८ ॥ दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषश्च ह्रदान्

विधिपूर्वक गढेहुए देखे ॥ ३१ ॥ हे प्रभो ! तहाँ पृथिवी पर उत्पन्न हुए तथा जलमें उत्पन्न हुए जो कोई पशु थे उन सबों को इकट्ठे कियेहुए उन राजाओंने देखा ॥ ३२ ॥ और तहाँ भाँति २ की गौएँ, भैंसें, (उनकी रक्षा करनेवाली) बूढ़ी स्त्रियें, जलमें रहनेवाले प्राणी, शिकारी चौपाये पशु और भाँति २ के पक्षी ॥३३॥ भाँति २ के जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणी तथा पहाडोंमें और तराईमें उत्पन्न हुए प्राणी उन्होंने देखे ॥ ३४ ॥ उस यज्ञके सब हातेको इसप्रकार पशु, गौ और अन्नसे बड़े भारी आनन्दवाला देखकर उन राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ३५ ॥ ब्राह्मण और वैश्योंके लिये बहुमूल्य और साफ कियेहुए अन्नके बड़े २ ढेर लगाये गए थे, तहाँ भोजन करनेवाले एकलाख ब्राह्मणोंके निबटजाने पर ॥ ३६ ॥ बारम्बार मेघकी समान शब्द करनेवाला नगाड़ा बजाया जाता गये, दिन पर दिन बीतते चलेगये और बराबर यही ढङ्ग चलता रहा।३७।इसप्रकार बुद्धिमान् धर्मराजका यज्ञ होने लगा, हे राजेन्द्र !

जना: । जम्बुद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ॥ ३६ ॥ राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे। तत्र जातीसहस्राणि पुरुषाणां ततस्ततः ॥ ४० ॥ गृहीत्वा भाजनान् जग्मुर्बहूनि भरतर्षभ । स्रग्विणश्चापि ते सर्वे सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ ४१ ॥ पर्यवेषन् द्विजातींस्तान् शतशोऽथ सहस्रशः । विविधान्यन्नपानानि पुरुषा येऽनुयायिनः । ते वै नृपोपभोज्यानि ब्राह्मणानां ददुश्च ह ॥४२॥

इति श्री महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
अश्वमेधारम्भे पंचाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

वैशम्पायन उवाच । समागतान् वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान् । दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमभाषत ॥ १ ॥ उपयाता नरव्याघ्रा य एते पृथिवीश्वराः । एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नराधिपाः २

पहाडोंकी समान अन्नके बहुतसे बड़े २ ढेर ॥ ३८ ॥ दहीकी नहरें, घीके गहरे तालाव खाली होतेहुए लोगोंने देखे, भाँति २ के असंख्यों लोगोंवाला सकल जम्बूद्वीप ॥ ३६ ॥ हे राजन् ! राजा युधिष्ठिरके महायज्ञमें इकट्ठा हुआ था, तहाँ देश २ से पुरुषोंकी हजारों जातियें ॥ ४० ॥ बहुतसे पात्र ले लेकर हे भरतसत्तम ! आई थीं, वे सब मालायें पहररहे थे और अच्छे प्रकारसे संस्कार करके उज्ज्वल कियेहुए मणिजडे कुण्डल पहर रहे थे ॥ ४१ ॥ ऐसे सैंकडों और सहस्रों पुरुष तहाँ आयेहुए द्विजातियोंकी सेवा कररहे थे. आज्ञाकारी पुरुष, भाँति २ के अन्न और पीनेके पदार्थ जो राजाओंके खाने पीनेके योग्य थे वे ब्राह्मणोंको देरहे थे ॥ ४२ ॥ पिचासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८५ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—वेदको जाननेवाले पृथिवीके राजाओंको इकट्ठे हुए देखकर राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसेनसे कहा, कि—॥ १ ॥ मनुष्योंमें सिंहसमान जो ये पृथिवीके राजे आये हैं, इनकी पूजा करो, क्योंकि—राजे पूजाके योग्य होते हैं ॥२॥

इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना। भीमसेनो महातेजा
माद्रीभ्यां सह पाण्डवः ॥ ३ ॥ अथाजगाम गोविन्दो वृष्णिभिः
सह धर्म्मजम्। बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ॥ ४ ॥
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च। निशठेनाथ साम्बेन तथैव
कृतवर्म्मणा ॥ ५ ॥ तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महारथः।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति च सर्वशः ॥ ६ ॥ युधिष्ठिरसमीपे
तु कथान्ते मधुसूदनः। अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्शितम् ॥७॥
स तं पप्रच्छ कौन्तेयः पुनः पुनररिन्दमम्। धर्म्मजं शक्रजं जिष्णुं
समाचष्ट जगत्पतिः ॥ ८ ॥ आगमद् द्वारकावासी ममाप्तः पुरुषो
नृप। योऽद्राक्षीत् पाण्डवश्रेष्ठं बहुसंग्रामकर्शितम् ॥ ९ ॥ समीपे
च महाबाहुमाचष्ट च मम प्रभो। कुरु कार्य्याणि कौन्तेय हयमेधा-

जब यशवाले राजाने भीमसेनसे ऐसा कहा, तब महातेजस्वी
भीमने नकुल और सहदेवको साथ लेकर ऐसा ही किया ॥ ३॥
वृष्णियोंके सहित धर्मको जाननेवाले बलदेवजीको आगे करके
सकल प्राणियोंमें श्रेष्ठ गोविन्द वहाँ आये ॥ ४ ॥ उनके साथ
युयुधान, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब और कृतवर्मा थे ॥ ५ ॥
महारथी भीमने उनकी उत्तम पूजा की, फिर वे चारों ओर रत्न
जड़ेहुए महलोंमें पहुँचे ॥ ६ ॥ कुशल बूझनेके बाद श्रीकृष्णने
युधिष्ठिरके सामने बहुतसे संग्रामोंमें लड़नेके कारण दुबले हुए
अर्जुनकी बात कही ॥ ७ ॥ कुन्तीके पुत्रने शत्रुको दबानेवाले
उनसे बार २ इस विषयमें प्रश्न किये, तब धर्मपुत्रसे जगत्पति
कृष्ण इन्द्रपुत्र अर्जुनकी बात कहनेलगे ॥ ८ ॥ हे राजन्! द्वारका
वासी मेरा एक विश्वासपात्र मनुष्य मेरे पास आया था, उसने
पांडुके श्रेष्ठ पुत्र अर्जुनको बहुतसे संग्रामोंके कारण दुबला हुआ
देखा है ॥ ९ ॥ हे प्रभो! उसने मुझसे कहा है, कि-वह महा-
बाहु पास ही आपहुँचा है, इस लिये हे युधिष्ठिर! अब अश्व-

र्थसिद्धये ॥ १० ॥ इत्युक्तः प्रत्युवाचैनं धर्म्मराजो युधिष्ठिरः। दिष्ट्या स कुशली जिष्णुरुपायाति च माधव ॥ ११ ॥ यदिदं सन्दिदेशास्मिन् पाण्डवानां बलाग्रणीः । तदाज्ञातुमिहेच्छामि भवता यदुनन्दन॥१२॥इत्युक्तो धर्म्मराजेन वृष्णयन्धकपतिस्तदा। प्रोवाचेदं वचो वाग्मी धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥ इदमाह महाराज पार्थवाक्यं स्मरन्नरः। वाच्यो युधिष्ठिरः कृष्ण काले वाक्यमिदं मम ॥१४॥ आगमिष्यन्ति राजानः सर्वे वै कौरवर्षभ। प्राप्तानां महतां पूजा कार्या ह्येतत् क्षमं हि नः ॥ १५ ॥ इत्येतद्वचनाद्राजा विज्ञाप्यो मम मानद । यथा चात्ययिकं न स्यात्त्वदर्घहरणेऽभवत् ॥ १६ ॥ कर्त्तुमर्हति तद्राजा भवांश्चाप्यनुमन्यताम् ।

मेधको सिद्ध करनेका काम आरम्भ करदो ॥ १० ॥ ऐसा कहने पर धर्मराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया, कि-हे माधव ! अर्जुन सकुशल लौटकर आरहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ११ ॥ हे यदुनन्दन ! जो पांडवोंमें बलमें श्रेष्ठ है ऐसे अर्जुनने इस विषयमें जो कुछ सन्देशा भेजा हो उसको आप कहिये, मैं सुनना चाहता हूँ ॥ १२ ॥ धर्मराजके ऐसा कहने पर वृष्णि और अन्धकोंके पति, बोलनेमें चतुर कृष्णने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे यह बात कही, कि-॥१३॥ हे महाराज! पार्थकी बातको याद करते हुए उस मनुष्यने यह बात कही, कि-हे कृष्ण ! समय आने पर मेरी बात युधिष्ठिरसे कहना, कि-॥ १४ ॥ हे कुरुश्रेष्ठ ! सब राजे तुम्हारे यज्ञमें आवेंगे, वे आवें तब उनकी पूजा करना, क्यों कि-ऐसा ही करना हमको उचित है ॥ १५ ॥ और हे मान देनेवाले ! राजा युधिष्ठिरसे मेरी ओरसे कहना, कि-राजसूय यज्ञमें अग्रपूजाके समय जैसा होगया था, वैसी मारकाटकी घटना कहीं अब न होजाय, इसका ध्यान रखना ॥ १६ ॥ राजा युधिष्ठिरको ऐसा करना चाहिये और आप भी संमति देकर उनसे

राजद्वेषान्न नश्येयुरिमा राजन् पुनः प्रजाः ॥ १७ ॥ इदमन्यच्च कौन्तेय वचः स पुरुषोऽब्रवीत् । धनञ्जयस्य नृपते तन्मे निगदतः शृणु ॥ १८ ॥ उपयास्यति यज्ञं नो मणिपूरपतिर्नृपः । पुत्रो मम महातेजा दयितो बभ्रुवाहनः ॥१९॥ तं भवान् मदपेक्षार्थं विधिवत् प्रतिपूजयेत् । स तु भक्तोऽनुरक्तश्च मम नित्यमिति प्रभो ॥ २० ॥ इत्येतद्वचनं श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः । अभिनन्द्यास्य तद्वाक्यमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारम्भे षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । श्रुतं प्रियमिदं कृष्ण यत्त्वमर्हसि भाषितुम् । तन्मेऽमृतरसं पुण्यं मनो ह्लादयति प्रभो ॥१॥ बहूनि किल युद्धानि

ऐसा ही कराना, हे राजन् ! राजाओंसे द्वेष करके इन प्रजाओं का वारम्वार नाश नहीं होना चाहिये ॥ १७ ॥ हे कुन्तीनन्दन ! यह तथा और भी बहुतसी बातें मेरे मनुष्यने कही हैं, हे राजन् ! धनञ्जयकी उन बातोंको मैं कहता हूँ, आप सुनिये ॥ १८ ॥ हमारे यज्ञमें मणिपुरका स्वामी राजा आवेगा, वह मेरा पुत्र बडा तेजस्वी और मुझे प्यारा है, उसका नाम बभ्रुवाहन है १९ ॥ हे प्रभो ! मेरी प्रसन्नताके लिये तुम उसकी उचित रूपसे पूजा (सन्मान) करना, वह मेरा भक्त है और मुझमें सदा प्रीति रखता है ॥ २० ॥ धर्मराज युधिष्ठिरने यह बात सुनकर उसकी बातका अभिनन्दन करके यह बात कही ॥ २१ ॥ छियासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे कृष्ण ! तुम्हारी यह प्यारी बात मैंने सुन ली, तुम्हें ऐसा ही कहना चाहिये, हे प्रभो ! यह अमृतके रस की समान और पवित्र वचन मेरे मनको आनन्द देता है ॥ १ ॥ हे कृष्ण ! मेरे सुननेमें आया है, कि-जहाँ तहाँ राजाओंके साथ

विजयस्य नराधिपैः । पुनरासन् हृषीकेश तत्र तत्र च मे श्रुतम् ।२।
किं निमित्तं स नित्यं हि पार्थः सुखविवर्जितः । अतीव विजयो
धीमान् इति मे दूयते मनः ॥ ३ ॥ सञ्चिन्तयामि कौन्तेयं रहो
जिष्णुं जनार्दन । अतीव दुःखभागी स सततं पाण्डुनन्दनः ।४।
किन्तु तस्य शरीरेऽस्ति सर्वलक्षणपूजिते । अनिष्टं लक्षणं कृष्ण
येन दुःखान्युपाश्नुते ॥ ५ ॥ अतीवासुखभोगी स सततं कुन्ति-
नन्दनः । न हि पश्यामि बीभत्सोर्निन्द्यं गात्रेषु किञ्चन । श्रोतव्य-
ञ्चेन्मयैतद्वै तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ६ ॥ इत्युक्तः स हृषीकेशो
ध्यात्वा सुमहदुत्तरम् । राजानं भोजराजन्यवर्धनो विष्णुरब्रवीत् ।७॥
न ह्यस्य नृपते किञ्चित् संश्लिष्टमुपलक्षये । ऋते पुरुषसिंहस्य
पिण्डिकेऽस्याधिके यतः ॥८॥ स ताभ्यां पुरुषव्याघ्रो नित्यमध्वसु

अर्जुनके बहुतसे युद्ध फिर हुए थे ॥२॥ इसका क्या कारण है, कि-वह अर्जुन कभी सुख पाता ही नहीं वह बडा बुद्धिमान् है फिर भी उसको बड़ा दुःख मिलता है, यह देखकर मेरा चित्त दुखता है ॥३॥ हे जनार्दन ! जब मैं अकेलेमें बैठता हूँ तब मुझे अर्जुन की ही चिन्ता होती है, यह पांडुनन्दन बराबर बड़े २ दुःखोंको भोगता रहा है ॥ ४ ॥ सो हे कृष्ण ! सकल पूजनीय लक्षणों वाले उसके शरीरमें ऐसा कौनसा खोटा लक्षण है, कि-जिसके कारणसे वह दुःख भोगता है ? ॥ ५ ॥ इस कुन्तीके पुत्रने बड़े ही दुःख भोगे हैं, अर्जुनके अङ्गोंमें मुझे तो कोई खोटा लक्षण दीखता नहीं, इस विषयमें यदि मेरे सुनने योग्य कोई बात हो तो वह आपको कहदेनी चाहिये ॥ ६ ॥ ऐसा कहने पर भोज-राजके वंशकी वृद्धि करनेवाले विष्णुरूप हृषीकेशने बहुत देरतक ध्यान धरकर यह उत्तर दिया, कि-॥ ७ ॥ हे राजन् ! इसके शरीरमें कोई भी निन्दनीय लक्षण नहीं मालूम होता, हाँ इस पुरुषसिंहकी दोनों पिंडलियें बडी हैं ॥८॥ इस कारणसे ही यह

वर्त्तते। न चान्यदनुपश्यामि येनासौ दुःखभाजनम् ॥ ९ ॥ इत्युक्तः
पुरुषश्रेष्ठस्तदा कृष्णेन धीमता। प्रोवाच वृष्णिशार्दूलमेवमेतदिति
प्रभो ॥ १० ॥ कृष्णा तु द्रौपदी कृष्णं तिर्य्यक् सासूयमैक्षत।
प्रतिजग्राह तस्यास्तं प्रणयञ्चापि केशिहा ॥ ११ ॥ सख्युः सखा
हृषीकेशः साक्षादिव धनञ्जयः। तत्र भीमादयस्ते तु कुरवो याज-
काश्च ये ॥ १२ ॥ रेमुः श्रुत्वा विचित्रान्तां धनञ्जयकथां शुभाम्।
तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुनसंकथाः ॥१३॥ उपायाद्वचनाद् दूतो
विजयस्य महात्मनः। सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् १४
उपायातं नरव्याघ्रं फाल्गुनं प्रत्यवेदयत्। तत् श्रुत्वा नृपतिस्तस्य
हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ॥ १५ ॥ प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहु धनं

पुरुषसिंह सदा मार्गोंमें भटकता फिरता है, और तो मैं कोई भी
ऐसा लक्षण नहीं देखता, कि- जिसके कारणसे यह ऐसा दुःख
भोगे ॥ ९ ॥ बुद्धिमान् श्रीकृष्णने पुरुषोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे यह
बात कही, तब हे प्रभो ! उन्होंने वृष्णिसिंह कृष्णसे कहा, कि-
ऐसा ही होगा ॥ १० ॥ परन्तु द्रौपदीने यह सुन ईर्षाके साथ
तिरछी दृष्टि करके श्रीकृष्णकी ओरको देखा और श्रीकृष्णने
उसके इस प्रेमदर्शनको स्वीकार किया ॥ ११ ॥ अर्जुनके सखा
हृषीकेश मानो साक्षात् अर्जुनकी ही समान थे (इसलिये कृष्णने
जो सन्तोष दिखाया वह अर्जुनके सन्तुष्ट होनेकी समान ही
था) तथा भीम आदि कौरव और दूसरे जो यज्ञ कराने
वाले थे ॥ १२ ॥ धनञ्जयकी इस विचित्र कथाको सुनकर बड़े
प्रसन्न हुए ये सब अर्जुनकी बातें कररहे थे, उसी समय १३
महात्मा अर्जुनका दूत उनकी आज्ञासे तहाँ आया, वह बुद्धिमान्
दूत युधिष्ठिरके सामने गया और उनको प्रणाम करके ॥ १४ ॥
नरव्याघ्र अर्जुनके आनेका समाचार सुनाया, उसकी इस बात
को सुनकर उनके नेत्रोंमें हर्षके आँसू भर आये ॥ १५ ॥ और

तदा। ततो द्वितीयदिवसे महान् शब्दो व्यवर्द्धत ॥१६॥ आगच्छति
नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरन्धुरे। ततो रेणुः समद्भूतो विबभौ तस्य
वाजिनः ॥ १७ ॥ अभितो वर्त्तमानस्य यथोच्चैःश्रवसस्तथा।
तत्र हर्षकरीर्वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ॥ १८ ॥ दिष्ट्यासि पार्थ
कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः। कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां
जित्वा हि युधि पार्थिवान् ॥ १९ ॥ चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपागच्छे-
दृतेऽर्जुनात्। ये व्यतीता महात्मानो राजानः सगरादयः ॥ २० ॥
तेषामपीदृशं कर्म्म न कदाचन शुश्रुम। नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या
वसुधाधिपाः ॥ २१ ॥ यत्त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानसि।
इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः २२ शृण्वन् विवेश धर्मात्मा
फाल्गुनो यज्ञसंस्तरम् ।ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः २३

यह प्यारा समाचार सुनानेके कारण उस समय उस दूतको
बहुतसा धन दिया, फिर दूसरे दिन बडा शब्द होने लगा १६
वह कौरवोंका धुरंधर नरव्याघ्र आरहा था, इस कारणसे उस
समय धूलि उडनेलगी और उस धूलिके बीचमें आता हुआ
घोडा उच्चैःश्रवाकी समान शोभा पानेलगा, उस समय अर्जुनने
मनुष्योंकी आनन्द देनेवाली वाणी सुनी, कि-॥ १७-१८ ॥
हे पार्थ! तुम कुशलपूर्वक लौट आये, यह बडे सौभाग्यकी बात है!
राजा युधिष्ठिर धन्य हैं! अर्जुनके सिवाय दूसरा कौनसा पुरुष
युद्धमें राजाओंको और सब पृथिवीको जीतकर इस श्रेष्ठ घोडेको
लिये हुए लौटकर आसकता है? सगर आदि जो महात्मा राजे
होगए हैं ॥ १९-२० ॥ उनका भी ऐसा पराक्रम हमने कभी
नहीं सुना और आगेको होने वाले दूसरे राजे भी ऐसा नहीं कर
सकेंगे ॥ २१ ॥ हे कुरुसत्तम! वास्तवमें तूने जो काम किया है
यह बडा ही कठिन काम था, ऐसा कहनेवाले पुरुषोंकी कानको
सुख देनेवाली वाणी ॥ २२ ॥ सुनकर धर्मात्मा अर्जुनने यज्ञके

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य तं प्रत्युद्ययतुस्तदा । सोभिवाद्य पितुः पादौ धर्म्मराजस्य धीमतः ॥ २४ ॥ भीमादींश्चापि संपूज्य पर्य्यष्वजत केशवम् । तैः समेत्यार्च्चितस्तांश्च प्रत्यर्च्याथ यथाविधि ॥ २५ ॥ विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः । एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ॥ २६ ॥ मातृभ्यां सहितो धीमान् कुरूनेव जगाम ह । तत्र वृद्धान् यथावत् स कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ॥२७॥ अभिवाद्य महाबाहुस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः । प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि अर्जुन-प्रत्यागमने बभ्रुवाहनागमने सप्ताशीतितमोऽध्यायः । ८७॥

वैशम्पायन उवाच । स प्रविश्य महाबाहुः पांडवानां निवेशनम् । पितामहीमभ्यवन्दत् साम्ना परमवल्गुना ॥ १ ॥ ततश्चित्रांगदा

स्थानमें प्रवेश किया फिर राजा युधिष्ठिर तथा यदुनन्दन कृष्ण॥२३॥ और धृतराष्ट्रको आगे करके अर्जुनकी अगवानी करने गए, अपने पिता धृतराष्ट्रके और बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें प्रणाम करके ।२४। तथा भीमसेन आदिकी अच्छे प्रकारसे पूजा करके वह श्रीकृष्णसे मिला, उन सबोंने भी इकट्ठे होकर उसकी पूजाकी तथा अर्जुनने उन सबोंकी पूजा की॥२५॥जैसे पार पहुँचा हुआ किनारे पर आकर विश्राम लेता है तैसे ही उसने विश्राम लिया, इतनेमें ही राजा बभ्रुवाहन ॥ २६ ॥ जो बुद्धिमान् था, वह अपनी दोनों माताओंके सहित कुरुओंके यहाँ आपहुँचा, उसने विधिपूर्वक कुरुकुलके वृद्धोंको तथा दूसरे राजाओंको प्रणाम किया, तब उन्होंने भी उस महाबाहुको अभिनन्दन दिया। फिर उसने दादी कुन्तीके उत्तम भवनमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥ २८ ॥ सत्तासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८७ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-उस महाबाहुने पाण्डवोंके महलमें

देवी कौरव्यस्यात्मजापि च । पृथां कृष्णां च सहिते विनयेनोपजग्मतुः ॥ २ ॥ सुभद्रां च यथान्यायं याश्चान्याः कुरुयोषितः । ददौ कुन्ती ततस्ताभ्यां रत्नानि विविधानि च ॥ ३ ॥ द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चाप्यन्या ददुः स्त्रियः । ऊषतुस्तत्र ते देव्यौ महार्हशयनासने ॥ ४ ॥ सुपूजिते स्वयं कुन्त्या पार्थस्य हितकाम्यया । स च राजा महातेजाः पूजितो बभ्रुवाहनः ॥ ५ ॥ धृतराष्ट्रं महीपालमुपतस्थे यथाविधि । युधिष्ठिरञ्च राजानं भीमादींश्चापि पाण्डवान् ॥ ६ ॥ उपगम्य महातेजा विनयेनाभ्यवादयत् । स तैः प्रेम्णा परिष्वक्तः पूजितश्च यथाविधि ॥ ७ ॥ धनञ्चास्मै ददुर्भूरि प्रीयमाणा महारथाः । तथैव च महीपालः कृष्णं

पहुँचकर बडी ही शान्तिभरे और मीठे वचनोंमें अपनी दादीको प्रणाम किया ॥ १ ॥ फिर कौरव्य सर्पकी पुत्री उलूपी और देवी चित्राङ्गदा ये दोनों साथ२ विनयपूर्वक कुन्ती और द्रौपदी के पास गईं ।२। सुभद्रा तथा दूसरी भी जो २ कुरुकुलकी स्त्रियें थीं, उनके पास जाकर उचित रीतिसे मिलीं, फिर कुन्तीने उनको अनेकों प्रकारके रत्न दिये ॥ ३ ॥ द्रौपदी, सुभद्रा तथा दूसरी स्त्रियोंने भी दिये, वे दोनों देवियें बहुमूल्य पलँग और आसनों पर बैठीं ॥ ४ ॥ कुन्तीने अर्जुनको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उन दोनोंका बडा सत्कार किया तथा महातेजस्वी राजा बभ्रुवाहनका भी सत्कार किया ॥ ५ ॥ फिर वह राजा धृतराष्ट्रके पास उचित रीतिसे उपस्थित हुआ, फिर राजा युधिष्ठिर और भीम आदि दूसरे पाण्डवोंके पास गया तथा उस महातेजस्वीने विनयके साथ उनको प्रणाम किया, वे भी उससे प्रेमके साथ मिले और उचित रीतिसे उसका सत्कार किया ॥ ६ ॥ और अति प्रसन्न हुए उन महारथियोंने उसको बहुतसा धन दिया तथा वह राजा गदाचक्रधारी श्रीकृष्णसे मिला ॥ ७ ॥ वह प्रद्युम्नकी

चक्रगदाधरम् ॥ ८ ॥ प्रद्युम्न इव गोविन्दं विनयेनोपतस्थिवान् । तस्मै कृष्णो ददौ राज्ञे महार्हमतिपूजितम् ॥९॥ रथं हेमपरिष्कारं दिव्याश्वयुजमुत्तमम् । धर्मराजश्च भीमश्च फाल्गुनश्च यमौ तथा ॥ १० ॥ पृथक् पृथक् च ते चैनं मानार्थाभ्यामयोजयन् । ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः ॥ ११ ॥ युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् । अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते । मुहूर्तो यज्ञियः प्राप्तश्चोदयन्तीह याजकाः ॥ १२ ॥ अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयञ्च कल्पताम् । बहुत्वात् काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ॥ १३ ॥ एवमत्र महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु । त्रित्वं व्रजतु ते राजन् ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ॥ १४ ॥ त्रीनश्वमेधानत्र त्वं सम्प्राप्य बहुदक्षिणान् । ज्ञातिवध्याकृतं पापं

समान गोविन्दके पास विनयके साथ गया, कृष्णने उस राजाको बहुमूल्य बड़ा ही प्रशंसा पायाहुआ एक रथ जो सुनहरी साजसे सजाहुआ था और जिसमें दिव्य घोड़ोंकी जोड़ी जुती हुई थी वह भेंटमें दिया, धर्मराज, भीम, अर्जुन और नकुल तथा सहदेव इन सबोंने अलग २ उसका सत्कार कर धन दिया. फिर तीसरे दिन सत्यवतीके पुत्र व्यासमुनि ॥ ८–११ ॥ जो बोलने में चतुर थे, उन्होंने युधिष्ठिरके पास आकर यह बात कही कि–हे कुन्तीनन्दन ! आजसे यज्ञ करना आरम्भ करदो, क्योंकि–उसका समय होगया है, यज्ञ करनेका मुहूर्त्त आलगा है और याजक तुम्हें बुलारहे हैं ॥ १२ ॥ हे राजेन्द्र ! तुम अपने यज्ञको इसप्रकार करो, कि–किसी बातकी कमी न रहे, इसमें बहुतसा सुवर्ण काममें आया है, इसलिये इसका नाम बहुसुवर्णक है १३ हे महाराज ! इस यज्ञमें तुम तिगुनी दक्षिणा दो, इससे हे राजन् ! तुम्हें तिगुना फल मिलेगा, क्योंकि–इसमें ब्राह्मण कारण होंगे ॥ १४ ॥ इससे बहुतसी दक्षिणावाले तीन अश्वमेध यज्ञोंके करनेका फल

महास्यसि नराधिप ॥ १५ ॥ पवित्रं परमञ्चैतत् पावनञ्चैत-
दुत्तमम् । यदश्वमेधावभृथं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ १६ ॥ इत्युक्तः
स तु तेजस्वी व्यासेनामितबुद्धिना । दीक्षां विवेश धर्मात्मा
वाजिमेधाप्तये ततः ॥ १७ ॥ ततो यज्ञं महाबाहुर्वाजिमेधं
महाक्रतुम् । बह्वन्नदक्षिणं राजा सर्वकामगुणान्वितम् ॥ १८ ॥
तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः । परिक्रमन्तः सर्वज्ञा
विधिवत् साधु शिक्षितम् ॥१९॥ न तेषां स्खलितं किञ्चिदासी-
च्चाप्यकृतं तथा । क्रमयुक्तञ्च युक्तञ्च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ॥२०॥
कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं यथावद् द्विजसत्तमाः । चक्रुस्ते विधिवद्रा-
जंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ॥२१॥ अभिपूय ततो राजन् सोमं सोमप-

मिलेगा, हे राजन् ! तब तू जातिवालोंका वध करनेके पापसे छूट
जायगा ॥ १५ ॥ हे राजन् ! तू जो अश्वमेध यज्ञके अन्तमें अव-
भृथ नामक स्नान करेगा वह परम पवित्र, पावन करनेवाला और
उत्तम होगा ॥ १६ ॥ अमेय बुद्धिवाले व्यासजीने तेजस्वी युधि-
ष्ठिरसे ऐसा कहा, तब उन धर्मात्माने अश्वमेध यज्ञ करनेकी
दीक्षा ली ॥ १७ ॥ और फिर उन महाबाहुने बहुतसे अन्न और
दक्षिणाओंवाला तथा सकल कामना और गुणोंवाला अश्वमेध
महायज्ञ करना आरम्भ करादिया ॥ १८ ॥ हे राजन् ! उसमें
वेदको जाननेवाले सर्वज्ञ याजकोंने परिक्रमाका काम करते २ विधि
पूर्वक और साधुओंकी शिक्षाके अनुसार सब काम किये ॥ १९ ॥
उन्होंने कर्म करनेमें किसी प्रकारकी चूक नहीं की तथा कोई न
करनेयोग्य काम भी नहीं किया, उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने शास्त्रमें
लिखेहुए क्रमसे उचित कर्म कराया था ॥ २० ॥ उन उत्तम
ब्राह्मणोंने प्रवर्ग्य नामका कर्म विधिपूर्वक उचित रीतिसे करवा
कर हे राजन् ! फिर उन ब्राह्मणोंने उसीप्रकार विधिपूर्वक अभि-
षव (सोमको कूटकर रस निकालनेका) कर्म करवाया ॥ २१ ॥

सत्तमाः । सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ।२२। न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह । क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ॥२३॥ भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा । भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥२४॥ संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकार्याणि याजकाः । दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रानुदर्शनात् ॥ २५ ॥ नाषडङ्गविदत्रासीत्सदस्यस्तस्य धीमतः । नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाविचक्षणः ॥२६॥ ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड् बैल्वान् भरतर्षभ । खादिरान् बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः ॥२७॥ देवदारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेर्मखे । श्लेष्मातकमयं चैकं याजकाः समकल्पयन् ॥ २८ ॥ शोभार्थं चापरान् यूपान्

हे राजन्! सोम पीनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने सोमरसको निचोड़कर शास्त्रके अनुसार क्रमसे सवन कर्म करवाए ॥ २२ ॥ उन ब्राह्मणोंमें कोई कृपण या दरिद्र नहीं था, कोई भूखा, दुःखी या मूर्ख भी नहीं था ॥ २३ ॥ शत्रुओंका नाश करनेवाला महातेजस्वी भीमसेन राजाकी आज्ञासे निरन्तर भूखोंको भोजन कराता था ॥ २४ ॥ और वेदीकी रचना करनेमें चतुर याजक शास्त्रमें लिखी रीतिके अनुसार विधिपूर्वक प्रतिदिन सब कर्म कराते थे ॥ २५ ॥ बुद्धिमान् युधिष्ठिरके यज्ञमें वेदके छः अङ्गोंको न जाननेवाला कोई भी याजक नहीं बैठा था, व्रतका पालन न करनेवाला, उपाध्यायके कर्मको न जाननेवाला तथा जो शङ्काओंका उत्तर न दे सके ऐसा कोई भी नहीं था ॥ २६ ॥ हे भरतसत्तम! फिर यज्ञका स्तंभ खड़ा करनेका समय आया तब बेलके छः, खैरके छः और ढाकके छः यूप खड़े किये गये ॥ २७ ॥ और युधिष्ठिरके उस यज्ञमें देवदारुके दो यूपोंका तथा बहेड़ेके एक यूपका याजकोंने सङ्कल्प किया था ॥ २८ ॥ हे भरतसत्तम! और धर्मराजकी आज्ञासे भीमसेनने शोभाके लिये

काञ्चनान् भरतर्षभ।स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात् २९
ते व्यराजन्त राजर्षेर्वासोभिरुपशोभिताः। महेन्द्रानुगता देवं यथा सप्तर्षिभिर्दिवि ॥३०॥ इष्टकाः काञ्चनीश्चात्र चयनार्थं कृताऽभवन्। शुशुभे चयनं तच्च दक्षस्येव प्रजापतेः ॥ ३१ ॥ चतुश्चित्यश्च तस्यासीदष्टादशकरात्मकः। स रुक्मपक्षो निचितस्त्रिकोणो गरुडाकृतिः ॥ ३२ ॥ ततो नियुक्ताः पशवो यथाशास्त्रं मनीषिभिः। तं तं देवं समुद्दिश्य पक्षिणः पशवश्च ये ॥३३॥ ऋषभाः शास्त्रपठितास्तथा जलचराश्च ये। सर्वांस्तानभ्ययुञ्जंस्ते तत्राग्निचयकर्मणि ३४ यूपेषु नियता चासीत्पशूनां त्रिशती तथा। अश्वरत्नोत्तरा यज्ञे कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥ स यज्ञः शुशुभे तस्य साक्षाद्देवर्षिसंकुलः। गन्धर्वगणसंगीतः प्रनृत्तोप्सरसां गणैः ॥ ३६ ॥ स

और भी सोनेके खम्भे बनवाये थे ॥ २९ ॥ जैसे स्वर्गमें इन्द्रके साथ देवता और सप्त ऋषि शोभा पाते हैं, तैसे ही उस राजर्षिके वस्त्रोंसे वे स्तम्भ शोभा पारहे थे ॥ ३० ॥ और चयनयागके लिए सोनेकी ईटें भी बनवाई गई थीं और उनका बनवाया हुआ चयन, दक्ष प्रजापतिके चयनकी समान शोभा पारहा था ॥३१॥ उस चयनके चार कोने थे और वे अठारह २ हाथके थे तथा एक चयन सोनेके पंखोंवाले गरुडके आकारका तिकोना बनाया गया था ॥ ३२ ॥ फिर भिन्न २ देवताओंके लिये जो २ पक्षी और पशु नियत किये गए थे, उन पशु पक्षियोंको विद्वान् ब्राह्मणोंने वहाँ बाँधा ॥ ३३ ॥ फिर शास्त्रमें कहेहुए गुणोंवाले जो ऋषभ और जलचर थे उन सबोंका अग्निका चयन करनेके कर्ममें उपयोग किया गया ॥३४॥ उन महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञमें उस श्रेष्ठ घोडेके साथ तीन सौ पशु यूपोंमें बाँधे गए थे ॥३५॥ आनन्दके साथ अत्यन्त नृत्य करती हुई अप्सराओंकी टोलियोंके साथ गन्धर्वोंके गान करते हुए टोलोंवाला साक्षात् देवर्षियोंका

किंपुरुषसंकीर्णः किन्नरैश्चोपशोभितः । सिद्धविप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः ॥३७॥ तस्मिन् सदसि नित्यास्तु व्यासशिष्या द्विजर्षभाः। सर्वशास्त्रप्रणेतारः कुशला यज्ञसंस्तरे ॥३८॥ नारदश्च बभूवात्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः । विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः ॥ ३९ ॥ गन्धर्वा गीतकुशला नृत्येषु च विशारदाः । रमयन्ति स्म तान् विप्रान् यज्ञकर्मान्तरेषु वै ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधारंभे अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥८८॥

वैशम्पायन उवाच । श्रपयित्वा पशूनन्यान् विधिवद् द्विजसत्तमाः । तन्तुरङ्गं यथाशास्त्रमालभन्त द्विजातयः॥ १ ॥ ततः संज्ञप्य तुरगं विधिवद्याजकास्तदा। उपसंवेशयन्राजंस्ततस्तां द्रुपदात्मजाम् ॥ २ ॥ कलाभिस्तिसृभी राजन् यथाविधि मनस्विनीम् ।

मण्डल ही तहाँ मानों विद्यमान है ऐसा वह यज्ञ शोभा पाने लगा ।३६। उसमें किंपुरुष थे और वह किन्नरोंसे शोभा पारहा था तथा उसके चारों ओर सिद्धोंके तथा ब्राह्मणोंके निवासस्थान बने हुए थे ॥ ३७ ॥ उस यज्ञमें नित्य सब शास्त्रोंको रचनेवाले और यज्ञकर्मको करनेमें चतुर ब्राह्मण व्यासजीके शिष्य मालूम होते थे ॥ ३८ ॥ तहाँ नारदजी तथा अत्यन्त प्रसिद्ध तुम्बुरु तथा विश्वावसु, चित्रसेन और दूसरे संगीत विद्याके विद्वान् ॥ ३९ ॥ गानविद्यामें चतुर गन्धर्व और नृत्यकलाको जाननेवाले यज्ञ कर्मके समय उन ब्राह्मणोंको प्रसन्न कररहे थे ॥ ४० ॥ अट्टासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८८ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-उन उत्तम ब्राह्मणोंने अन्य पशुओं का विधिके अनुसार संश्रपण करनेके अनन्तर उस घोडेका विधिपूर्वक आलभन किया ॥ १ ॥ फिर याजकोंने विधिके अनुसार उस घोडेका संज्ञपन किया, हे राजन्! फिर द्रौपदीको पास

उद्धृत्य तु वपान्तस्य यथाशास्त्रं द्विजातयः ॥३॥ अश्रयामासुरव्यग्रा विधिवद्भरतर्षभ । तं वपाधूपगन्धन्तु धर्म्मराजः सहानुजैः ॥ ४ ॥ उपाजिघ्रद्यथाशास्त्रं सर्वपापापहन्तदा । शिष्टान्यङ्गानि यान्यासंस्तस्याश्वस्य नराधिप ॥ ५ ॥ तान्यग्नौ जुहुवुर्धीराः समस्ताः षोड़शर्त्विजः । संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं यज्ञं शक्रतेजसः ॥ ६ ॥ व्यासः सशिष्यो भगवान् वर्द्धयामास तं नृपम् । ततो युधिष्ठिरः प्रादाद्ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ॥ ७ ॥ कोटीः सहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुन्धराम् । प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः ८ अब्रवीद्भरतश्रेष्ठं धर्म्मराजं युधिष्ठिरम् । वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ॥ ६ ॥ निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ।

बैठाला ॥ २ ॥ हे राजन् ! विधिपूर्वक तीन कला (मंत्र, द्रव्य और श्रद्धा) वाली विचारशीला द्रौपदीको बैठाल कर ब्राह्मणोंने उस घोड़ेकी वपाको विधिसे निकालना आरम्भ करदिया ॥३॥ हे भरतसत्तम ! सावधान मनवाले ब्राह्मणोंने विधिपूर्वक उस वपाको राँधना आरम्भ करदिया,फिर अपने भाइयों सहित धर्मराजने उस वपाके धुएँका गन्ध, जो सब पापोंको हरनेवाला था, उसको शास्त्रकी विधिसे सूँघकर हे राजन्!उस घोड़ेके जो अङ्ग शेष रहे थे ॥ ४ ॥ ५ ॥ उनको धैर्यवान् सोलह ऋत्विजोंने होम दिया, इन्द्रकी समान तेजवाले उस राजाके यज्ञको इस प्रकार समाप्त करके ।६। शिष्यों सहित भगवान् व्यासजीने उस राजाकी वृद्धि करना आरम्भ करदिया, फिर युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको यथा विधि एक सहस्र करोड़ (१,०० ००,००,००,००) निष्क (सोनेके सिक्के) और व्यासजीको सब वसुन्धराका दान दिया, ॥ ७ ॥ हे राजन् ! सत्यवतीके पुत्र व्यासजीने दान लेकर ॥ ८ ॥ भरतसत्तम धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा, कि–हे श्रेष्ठ राजन् ! यह दानमें दीहुई वसुधा अपने पास ही रक्खो ॥६॥

युधिष्ठिरस्तु तान् विप्रान् प्रत्युवाच महामनाः ॥ १० ॥ भ्रातृभिः सहितो धीमानमध्ये राज्ञां महात्मनाम् । अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ॥ ११ ॥ अर्जुनेन जिता चेयं ऋत्विग्भ्यः प्रापिता मया । वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमाम् ॥ १२ ॥ चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः । नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः ॥ १३ ॥ इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातॄणां चैव मे सदा । इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा ॥ १४ ॥ एवमेतदिति प्राहुस्तदभूल्लोमहर्षणम् । ततोऽन्तरिक्षे वागासीत् साधु साध्विति भारत ॥१५॥ तथैव द्विजसंघानां शंसतां विबभौ स्वनः । द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरम् ॥१६ ॥ प्रोवाच

और मुझे इसका मूल्य देदीजिये, क्योंकि—ब्राह्मण धनके इच्छुक होते हैं, बड़े मनवाले युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणोंको उत्तर दिया १० उस समय वह बुद्धिमान् महात्मा अपने भाइयोंके साथ राजाओंके मध्यमें बैठे थे, उन्होंने कहा, कि-अश्वमेध जैसे महायज्ञमें पृथिवीको दक्षिणा देना कहा है ॥ ११ ॥ इसलिये अर्जुनकी जीतीहुई यह पृथिवी मैंने ऋत्विजोंको दी है, हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! अब मैं वनमें जाऊँगा और तुम इस श्रेष्ठ पृथिवीको बाँटलो ॥ १२ ॥ चातुर्होत्रके अनुसार तुम इस पृथिवीके चार भागकरके बाँटलो हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! मैं ब्राह्मणोंकी सम्पत्ति लेना नहीं चाहता ॥ १३ ॥ हे ब्राह्मणो ! मेरे भाइयोंका और मेरा मन सदा ऐसा ही रहता है, जब वह ऐसा कहरहे थे, उस समय उनके भाइयोंने और द्रौपदीने कहा, कि-हाँ यह बात ठीक है, यह सुनकर सबके रोमांच खड़े होगए, हे राजन् ! उस समय आकाशवाणी, हुई, कि—'साधु, साधु' ॥ १४ ॥ १५ ॥ तथा प्रशंसा करनेवाले ब्राह्मणों के समूहोंका कोलाहल भी वहाँ बड़ी शोभा पारहा था और कृष्ण द्वैपायन मुनिने ब्राह्मणोंके मध्यमें बैठेहुए राजा युधिष्ठिरकी प्रशंसा

प्रध्ये त्रिभागामिदं संजपूजन् मुनिः । दत्तैषा भवता मह्यं तान्ते प्रतिददाम्यहम् ॥१७॥ हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते । ततोऽब्रवीद्वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ १८ ॥ यथाह भगवान् व्यासस्तथा त्वं कर्त्तुमर्हसि। इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ॥ १९ ॥ कोटिकोटिकृतां प्रादाद् दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः । न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ॥ २० ॥ यत् कृतं कुरुराजेन मरुत्तस्यानुकुर्वता । प्रतिगृह्य तु तद्रत्नं कृष्ण-द्वैपायनो मुनिः॥२१॥ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वांश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते । धरण्या निष्क्रयं दत्त्वा तद्धिरण्यं युधिष्ठिरः । २२॥ धूतपाप्मा जितस्वर्गो मुमुदे भ्रातृभिः सह । ऋत्विजस्तमपर्यन्तं सुवर्णनि-चयन्तदा ॥२३॥ व्यभजन्त द्विजातिभ्यो यथोत्साहं यथासुखम् ।

कहते हुए फिर यह बात कही, कि-तूने मुझे यह पृथिवी देदी और मैं तुझे फिर लौटाकर देता हूँ ॥ १६ ॥ १७ ॥ तू इन ब्राह्मणोंको इस पृथिवीके बदलेमें धन देदे और इस पृथिवीको अपने पास ही रहने दे, उस समय श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा, कि- जैसा भगवान् व्यासजीने कहा है, तुम्हें ऐसा ही करना उचित है, श्रीकृष्णके ऐसा कहने पर कुरुवंशमें श्रेष्ठ वह युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित मनमें प्रसन्न हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥ फिर तिगुने यज्ञकी समान करोड २ गौओंकी दक्षिणा उन्होंने ब्राह्मणोंको दी, इस लोकमें दूसरा कोई राजा ऐसा नहीं कर सकता, कि-॥ २० ॥ जैसा उस समय राजा मरुत्तकी नकल करनेवाले कुरुराजने किया था, विद्वान् कृष्ण द्वैपायन मुनिने उन रत्नोंका दान लेकर ॥ २१ ॥ उनके चार भागकर ऋत्विजोंको देदिये, पृथिवीके मूल्यरूपसे सोना देनेवाले राजा युधिष्ठिर के पाप धुलगए और उन्होंने स्वर्गको जीतलिया उस समय वह अपने भाइयोंके सहित बड़े प्रसन्न हुए, ऋत्विजोंने भी उस अनन्त

यज्ञवाटे च यत् किंचिद्धिरण्यं सविभूषणम् ॥ २४ ॥ तोरणानि च यूपांश्च घटान् पात्रीस्तथेष्टकाः । युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद्व्यभजन् द्विजाः ॥ २५ ॥ अनन्तरं द्विजातिभ्यः क्षत्रिया जह्रिरे वसु । तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथान्ये म्लेच्छजातयः ॥२६॥ ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् । तर्पिता वसुना तेन धर्म्मराजेन धीमता ॥ २७ ॥ स्वमंशं भगवान् व्यासः कुन्त्यै माद्राद्धि मानतः ।मददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ॥२८॥ श्वशुरात् मीतिदायन्तं माप्य सा मीतमानसा । चकार पुण्यकन्तेन सुमहत् संघशः पृथा ॥२९॥ गत्वात्ववभृथं राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह । स भाज्यमानः शुशुभे महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ३० पाण्डवाश्च मही-

सुवर्णके ढेरको आपसमें सब ब्राह्मणोंमें वैसे ही उत्साह और वैसे ही सुखसे बाँटलिया तथा यज्ञके बाड़ेमें जोकुछ सुवर्ण वा आभूषण थे वे, सब और वन्दनवारें,सोनेके यज्ञस्तम्भ,घड़े, पात्र तथा ईंटें यह सब उन ब्राह्मणोंने युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर बाँटलिये २२-२५ ब्राह्मणोंको दान देनेके बाद जो कुछ धन रहा था वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंने तथा दूसरी म्लेच्छ जातियोंने ले लिया २६ फिर बुद्धिमान् धर्मराजने जिनको धनसे तृप्त कर दिया था वे सब ब्राह्मण प्रसन्न होतेहुए अपने २ घरोंको चलतेगए ॥ २७ ॥ फिर महाप्रकाशवाले भगवान् व्यासजीने उस सुवर्णके बड़ेभारी ढेरमेंका अपना भाग बड़े सन्मानके साथ कुन्तीको देदिया २८ प्रसन्नतासे सुसरके दियेहुए उस धनको लेकर प्रसन्नचित्त हुई कुन्तीने वह बहुतसे लोगोंको देकर बड़े पुण्यका काम किया२९ यज्ञके अन्तमें अवभृथ स्नान करके पापरहित हुए राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके सहित सत्कार पाते हुए ऐसी शोभा पानेलगे, जैसे देवताओंके साथमें इन्द्र शोभा पाते हैं ॥ ३० ॥ हे महाराज!

पालैः समेतैरभिसंवृताः । अशोभन्त महाराज ग्रहास्तारागणैरिव ३१
राजभ्योपि ततः प्रादाद्रत्नानि विविधानि च । गजानश्वानलङ्कारान् स्त्रियो वासांसि काञ्चनम् ॥३२॥ तद्धनौघमपर्यन्तं पार्थः पार्थिवमण्डले । विसृजन् शुशुभे राजन् यथा वैश्रवणस्तथा ॥३३॥ आनीय च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् । प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान् प्रास्थापयत्तदा ॥ ३४ ॥ दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं भरतर्षभ । स्वराज्येऽथ पितुर्धीमान् स्वसुः प्रीत्या न्यवेशयत् ॥३५॥ नृपतींश्चैव तान् सर्वान् सुविभक्तान् सुपूजितान् । प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३६ ॥ गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलम् । तथान्यान् वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नादीन् सहस्रशः ।३७। पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः । भ्रातृभिः सहितो राजा

तहाँ इकट्ठे हुए राजाओंसे चारों ओरसे घिरेहुए पाण्डव भी तारागणोंसे घिरेहुए ग्रहोंकी समान शोभा पारहे थे ३१ ॥ फिर पाण्डवोंने उन राजाओंको भाँति २ के रत्न, हाथी, घोड़े, गहने, स्त्रियें, वस्त्र और सुवर्णकी भेट दीं ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! उस राजमण्डलको अनन्त धनका भण्डार देतेहुए युधिष्ठिर कुबेरकी समान शोभा पानेलगे ॥ ३३ ॥ फिर वीर राजा बभ्रुवाहनको बुला और बहुतसा धन देकर उसके घरको विदा करदिया ३४ हे भरतसत्तम ! फिर दुःशलाके बालक पुत्रको, अपनी बहिनको सन्तुष्ट करनेके लिये, उसके पिताकी (सिंध देशकी) गद्दी पर बुद्धिमान् युधिष्ठिरने बैठाल दिया ॥३५॥ फिर अपनी इन्द्रियों को वशमें रखनेवाले कुरुराज युधिष्ठिरने, जिनका अच्छे प्रकारसे सत्कार हुआ था और जिनको धन बाँटकर दिया था उन सब राजाओंको विदा करदिया ॥ ३६ ॥ फिर महात्मा गोविन्दको और महाबली बलदेवजीको तथा यादवोंमेंके प्रद्युम्न आदि दूसरे हजारों वीर पुरुषोंको, ॥ ३७ ॥ हे महाराज ! विधिपूर्वक सत्कार

मास्थापयदरिन्दमः ॥ ३८ ॥ एवं बभूव यज्ञः स धर्म्मराजस्य
धीमतः । बह्वन्नधनरत्नौघः सुरामैरेयसागरः ॥३९॥ सर्पिःपङ्का ह्रदा
यत्र बभूवुश्चान्नपर्वताः । रसालाः कर्दमा नद्यो बभूवुर्भरतर्षभ ॥४०॥
भक्ष्यखाण्डवरागाणां क्रियतां भुज्यतां तथा । पशूनां वध्यतां चैव
नान्तं ददृशिरे जनाः ॥ ४१ ॥ मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवती जनम् ।
मृदङ्गशंखनादैश्च मनोरमभूत्तदा ॥ ४२ ॥ दीयतां भुज्यतां चेह
दिवारात्रमवारितम् । तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥४३॥
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः । वर्षित्वा धनधाराभिः

करके, अपने भाइयोंके सहित शत्रुनाशी राजा युधिष्ठिरने द्वारका
को जानेके लिये विदा किया ॥ ३८ ॥ इसप्रकार बुद्धिमान् धर्म-
राजका, बहुतसे धन, अन्न और रत्नोंके प्रवाहवाला तथा सुरा
और मैरेय नामक पीनेयोग्य पदार्थोंके सागरवाला यज्ञ पूरा
होगया ॥ ३९ ॥ तहाँ कुण्डोंमें घीकी कीच होरही थी और
अन्नके तो पहाड बने हुए थे, हे भरतसत्तम ! पीनेके पदार्थोंकी
नदियोंकी कीच कहीं प्रकारके रसोंवाली बनगई थी ॥ ४० ॥
खानेके पदार्थोंका और खाण्डव (पीपल सोंठ मिला मूँगका
रसा) तथा राग (पीपल सोंठ और खाँड मिलाकर मूँगका
रसा) बनानेवालोंका तथा खानेवालोंका और वध होते हुए
पशुओंका मनुष्योंने अन्त ही नहीं देखपाया ॥ ४१ ॥ उस समय
सुरापानसे मत्त, प्रमत्त तथा मौज करते हुए मनुष्य, परम प्रसन्न
हुई युवतियें और मृदङ्ग तथा शंखोंके शब्द इन सबोंसे यज्ञ मन
को बडा ही आनन्द देता था ॥ ४२ ॥ तहाँ रात दिन एकसा
शब्द सुनाई आता रहता था, कि-जिसको जो चाहिये वह दो
और जो जी चाहे वह खाओ, दो और फिर दो, यह यज्ञ हृष्ट
पुष्ट मनुष्योंसे भराहुआ एक महोत्सवसा होरहा था, देशदेशा-
न्तरोंके रहनेवाले लोग ऐसा ही कहते थे ॥ ४३ ॥ धनकी

कामैः रत्नैः रसैस्तथा। विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम्॥४४

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि अश्वमेधसमाप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

जनमेजय उवाच। पितामहस्य मे यज्ञे धर्म्मराजस्य धीमतः। यदाश्चर्यमभूत् किञ्चित्तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥१॥ वैशम्पायन उवाच। श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्य्यमुत्तमम्। अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूत् प्रभो २ तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु। दीनान्ध-कृपणे वापि तदा भरतसत्तम ॥ ३ ॥ घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत। पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्म्मराजस्य मूर्द्धनि ॥ ४ ॥ नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ। वज्राशनिसमं नादममु-ञ्चद्वसुधाधिप ॥ ५ सकृदुत्सृज्य तं नादं त्रासयानो मृगद्विजान्।

धाराओंकी तथा कामना पूर्ण करनेवाले रत्नोंकी और भाँति २ के रसोंकी वर्षा करके भरतवंशमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने पापरहित और कृतार्थ होकर नगरमें प्रवेश किया ॥ ४४ ॥ नवासीवाँ अध्याय समाप्त ॥ ८६ ॥ छ ॥ छ ॥

जनमेजयने कहा, कि–मेरे पितामह बुद्धिमान् धर्मराजके यज्ञमें जो कोई अचरजमें डालनेवाली घटना हुई हो वह आपको मुझ से कहनी चाहिये ॥१॥ वैशम्पायनने उत्तर दिया, कि–हे राज-सिंह! अश्वमेध नामका महायज्ञ जब पूरा हुआ उस समय जो बड़े आश्चर्यमें डालनेवाली उत्तम बात हुई थी उसको सुनो॥२॥ हे भरतसत्तम! द्विजोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, जातिबान्धव, दीन, अन्धे और कृपण जब ये सब तृप्त होगए, तब ॥ ३ ॥ हे भारत! सब दिशाओंमें बड़ाभारी शब्द होने लगा और धर्मराजके शिर पर फूलोंकी वर्षा होनेलगी, उस समय ॥ ४ ॥ हे अनघ! राजन्! तहाँ नीली आँखें और सोनेके एक करवटवाला एक नौला वज्र और बिजलीके कड़ाकेकी समान बड़ाभारी शब्द करनेलगा ॥५॥

मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ॥ ६ ॥ सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः । उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥ ७ ॥ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते । विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ॥८॥ ततः समेत्य नकुलं पर्य्यपृच्छन्त ते द्विजाः । कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ॥९॥ किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम् । कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ॥ १० ॥ अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम् । यथागमं यथान्यायं कर्त्तव्यञ्च तथा कृतम् ॥ ११ ॥ पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवत् शास्त्रदर्शनात् । मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ॥ १२ ॥ तुष्टा द्विजातयश्चात्र दानैर्बहु-

---

बारम्बार शब्द करके पशु और पक्षियोंको त्रास देताहुआ बिलमें रहनेवाला वह बडा ढीठ नौला मनुष्यकी बोलीमें कहनेलगा, कि–॥ ६ ॥ हे राजाओं ! एक २ दाना बीनकर उञ्छवृत्तिसे निर्वाह करनेवाले कुरुक्षेत्रवासी एक उदार ब्राह्मणके सेरभर सत्तुओंसे कियेहुए यज्ञकी समान यह तेरा यज्ञ नहीं है ॥ ७ ॥ हे राजन् ! उस नौलेकी इस बातको सुनकर उन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बडा आश्चर्य हुआ ॥ ८ ॥ फिर वे ब्राह्मण इकट्ठे होकर उस नौलेसे बूझने लगे, कि–साधु पुरुषोंके समागमवाले इस यज्ञ में तू कहाँसे आया है ? ॥ ९ ॥ तेरा परमबल कितना है ? तूने क्या सुना है और तू कहाँ रहता है ? हमारे यज्ञकी निन्दा करने वाले तुझे हम कैसे पहचानें ॥१०॥ शास्त्रका जरा भी लोप न करके अनेकों यज्ञोंका अनुष्ठान करानेवालोंने यहाँ सब कर्म कराया है और शास्त्रमें लिखे नियमके अनुसार सब कर्त्तव्य कर्म हुआ है ११ यहाँ शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार पूजनके योग्य पुरुषोंकी पूजा कीगई है, अग्निमें मंत्र पढकर आहुतियें दीगई हैं और देने योग्य वस्तुएँ निःसङ्कोच दीगई हैं ॥ १२ ॥ इस यज्ञमें ब्राह्मण अनेकों

विधैरपि। क्षत्रियाश्च सुयुद्धेन श्राद्धैश्चापि पितामहाः॥ १३॥ पालनेन विशस्तुष्टाः कामैस्तुष्टा वरस्त्रियः। अनुक्रोशैस्तथा शूद्रा दानशेषैः पृथग्जनाः॥ १४॥ ज्ञातिसम्बन्धिनस्तुष्टाः शौचेन च नृपस्य नः। देवा हविर्भिः पुण्यैश्च रक्षणैः शरणागताः १५ यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु। यथाश्रुतं यथादृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया॥ १६॥ श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यरूपं बिभर्षि च। समागतश्च विप्रैस्त्वं तद्भवान् वक्तुमर्हति॥ १७॥ इति पृष्टो द्विजैस्तैः स प्रहसन्नकुलोऽब्रवीत्। नैषा मृषा मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः॥ १८॥ यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम्। सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः॥ १९॥

प्रकारके दानोंसे सन्तुष्ट किये गए हैं, सुन्दर युद्धसे क्षत्रियोंको और श्राद्धोंसे पितामहों (पितरों) को सन्तुष्ट कियागया है १३ रक्षा करके वैश्य, कामनायें पूरी करके श्रेष्ठ स्त्रियें, दयाभरे वचनोंसे शूद्र और दानसे बचे धन करके अन्य मनुष्य सन्तुष्ट कियेगये हैं॥१४॥ हमारे राजाके निष्कपट व्यवहारसे जातिवाले और संबन्धी पुरुष, पवित्र हविष्योंसे देवता और रक्षासे शरणागत सन्तुष्ट हुए हैं॥ १५॥ इसलिये यहाँ जो सत्य हो वही ब्राह्मणोंके सामने सत्य २ कहना, जाननेकी इच्छावाले ब्राह्मणोंने तुझसे बूझा है, इस लिये जैसा सुना या देखा हो वही कहना॥ १६॥ तेरी बात श्रद्धाके योग्य है, तू प्राज्ञ और दिव्य-रूपधारी है और तू विद्वान् ब्राह्मणोंके समागममें आया है, इस लिये तुझे यह सब बात कहनी चाहिये॥ १७॥ इसप्रकार ब्राह्मणोंने उससे बूझा, तब वह नौला खिलखिलाके हँसता हुआ कहने लगा, कि-हे ब्राह्मणो! यह बात मैंने मिथ्या या घमण्डमें भरकर नहीं कही है॥१८॥ हे ब्राह्मणो! मैंने जो बात कही है और तुमने भी सुनी है, कि-तुम्हारा यह यज्ञ सेरभर सत्तुओंके

इत्यवश्यं मयैतद्वो वक्तव्यं द्विजसत्तमाः। शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो
मे यथातथम् ॥ २० ॥ अनुभूतञ्च दृष्टञ्च यन्मयाद्भुतमुत्तमम्।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥२१॥ स्वर्गं येन द्विजः प्राप्तः
सभार्यः ससुतस्नुषः। यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ॥२२॥
नकुल उवाच। हन्त वो वर्त्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम्। न्याय-
लब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद् द्विजाः ॥२३॥ धर्मक्षेत्रे कुरु-
क्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते। उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित् कापोतिरभव-
त्तदा ॥ २४ ॥ सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः। बभूव
शुक्लवृत्तः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ॥ २५ ॥ षष्ठे काले सदा
विप्रो भुंक्ते तैः सह सुव्रतः। षष्ठे काले कदाचित्तु तस्याहारो न

यज्ञकी समान भी नहीं है ॥ १९ ॥ यह अपनी बात मुझे तुमसे अवश्य ही कहनी चाहिये थी, अब मैं जो कुछ कहता हूँ उसको तुम स्थिरचित्त होकर सुनो ॥ २० ॥ दाना २ बीनकर निर्वाह करने वाले कुरुक्षेत्रवासी उदार ब्राह्मणके विषयमें मैंने जो उत्तम अद्भुत अनुभव किया है और देखा है ॥ २१ ॥ तथा जिसके कारणसे हे ब्राह्मणों! स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू सहित उसको स्वर्ग मिला है तथा मेरा यह आधा शरीर सोनेका बनगया है उसको तुम सुनो ॥ २२ ॥ अजी ब्राह्मणों! न्यायसे मिलेहुए थोड़ेसे पदार्थका एक ब्राह्मणने दान किया, उसका उसे उत्तम फल मिला, वह मैं तुमसे कहता हूँ ॥२३॥ कुरुक्षेत्र नामक धर्मक्षेत्रमें धर्मको जानने वाले बहुतसे लोग रहते हैं, तहाँ उञ्छवृत्तिका पालन करने वाला एक कापोति (कबूतरकी समान दाना२ बीनकर निर्वाह करने वाला) ब्राह्मण रहता था ॥२४॥ वह तहाँ अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके साथ तप करता रहता था, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला वह धर्मात्मा बड़े शुद्ध आचारसे रहता था ॥२५॥ उत्तम व्रतको पालन करनेवाला वह ब्राह्मण अपने कुटुम्बियोंके सहित सदा

विद्यते ॥ २६ ॥ भुंक्तेऽन्यस्मिन् कदाचित् स षष्ठे काले द्विजोत्तमः। कदाचिद्धर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ॥ २७ ॥ नाविद्यत तदा विप्राः संचयस्तन्निबोधत । क्षीणौषधिसमावेशो द्रव्यहीनोऽभवत्तदा ॥ २८ ॥ काले कालस्य संप्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् । क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ॥ २९ ॥ उञ्छंस्तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे। उष्णार्त्तश्च क्षुधार्त्तश्च स विप्रस्तपसि स्थितः॥३०॥ उञ्छमप्राप्नुवानेव ब्राह्मणः क्षुच्छ्रमान्वितः ।स तथैव क्षुधाविष्टः सार्द्धं परिजनेन ह ३१ क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रमाणो द्विजोत्तमः। अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयन् ३२ यवप्रस्थन्तु तं सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः। कृतजप्याह्निक-

छठे समय भोजन किया करता था, कितने ही अवसरों पर तो उसको छठे कालमें भी भोजन नहीं मिलता था ॥ २६ ॥ तो वह उत्तम ब्राह्मण दूसरे छठे कालमें खाता था, उस कपोतधर्मीको एक समय घोर दुर्भिक्षका समय आगया ॥२७॥ हे ब्राह्मणो ! उस समय उसके पास सञ्चय कुछ भी नहीं था, यह बात ध्यानमें रखिये, उस समय उसके पासका सब अन्न समाप्त होगया और उसके पास कुछ धन भी नहीं था ॥२८॥ जब भोजनका समय आता था तब उसको ठीक समयपर भोजन नहीं मिलता था और वे सब भूखसे घबड़ाये हुए बैठे रहते थे ॥ २९ ॥ एक दिन जेठके महीनेके शुक्लपक्षमें जब सूर्य तपरहा था, तब भी वह ब्राह्मण उञ्छवृत्तिका पालन करता, भूख और धूपसे घबड़ाया हुआ तप करता था ॥ ३० ॥ दाने बीननेको न मिलनेसे वह ब्राह्मण भूख और परिश्रमसे घबड़ा उठा, वह अपने परिवार सहित भूखसे व्याकुल होने लगा ॥३१॥ प्राणों पर कष्ट झेलता हुआ वह ब्राह्मण इस प्रकार समयको बितानेलगा, इसी अवसरमें एकदिन उनको छठे समय सेरभर जौ मिलगए ॥ ३२ ॥ उन

कास्ते तु हुत्वा चाग्निं यथाविधि॥३३॥कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः। अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुक्षतां तदा ॥३४॥ ते तं दृष्ट्वातिथिं प्राप्तं महृष्टमनसोऽभवन्। तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं दृष्ट्वा तमतिथिं तदा ॥ ३५ ॥ विशुद्धमनसो दान्ताः श्रद्धादमसमन्विताः। अनसूया जितक्रोधाः साधवो वीतमत्सराः ॥ ३६ ॥ त्यक्तमानमदक्रोधा धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः। स ब्रह्मचर्य्यं गोत्रं ते तस्य ख्यात्वा परस्परम्॥३७॥कुटीं प्रवेशयामासुः क्षुधार्त्तमतिथिं तदा। इदमर्घं च पाद्यञ्च वृषी चेयं तवानघ॥ ३८॥ शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो। प्रतिगृह्णीष्व भद्रन्ते मया दत्ता द्विजर्षभ ३९ इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः। भक्षयामास राजेन्द्र न

तपस्वियोंने उन सेरभर जौके सत्तू बनाये, फिर अपना नित्यका जप करके और अग्निमें विधिपूर्वक आहुति देकर ॥ ३३ ॥ ये तपस्वी एक २ कुड़व (लप्प) सत्तू बाँटकर भोजन करनेको बैठे थे, कि—इतनेमें ही तहाँ एक अतिथि ब्राह्मण आपहुँचा ३४ वे उस अतिथिको आया देख कर मनमें बड़े प्रसन्न हुए और उसको प्रणाम करके उन्होंने उससे कुशलप्रश्न किया ॥ ३५ ॥ वे सब शुद्धचित्त, जितेन्द्रिय, श्रद्धावान्, मनको वशमें रखने वाले, ईर्षारहित, क्रोधशून्य, निष्कपट और साधुस्वभावके थे ॥ ३६ ॥ वे श्रेष्ठ ब्राह्मण मान, मद और क्रोधको त्यागनेवाले तथा धर्मके ज्ञाता थे; ब्रह्मचर्य और गोत्रके विषयमें आपसमें प्रश्न करके परिचय होजाने पर उन्होंने भूखसे घबड़ाये हुए उस अतिथिको अपनी कुटियामें बुला लिया और कहा, कि—हे निर्दोष! यह अर्घ, पाद्य और आसन तेरे लिये हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ प्रभो! इन पवित्र सत्तुओंको हमने न्यायसे पाया है, हे द्विजवर! मेरे दिये हुए इन सत्तुओंको तू ले, तेरा कल्याण हो ॥ ३९ ॥ हे राजेन्द्र! इसप्रकार कहने पर वह ब्राह्मण अतिथि एक लप्प सत्तू

च तुष्टिं जगाम सः ॥ ४० ॥ स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम् । आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ॥ ४१ ॥ तस्य भार्याब्रवीद्वाक्यं मद्भागो दीयतामिति । गच्छत्वेष यथाकामं परितुष्टो द्विजोत्तमः ॥ ४२ ॥ इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं भार्यां स द्विजसत्तमः । क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा तान् सक्तून्नाभ्यनन्दत ॥४३॥ आत्मानुमानतो विद्वान स तु विप्रर्षभस्तदा । जानन् वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम् ॥ ४४ ॥ त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ह । अपि कीटपतङ्गानां मृगाणां चैव शोभने ॥४५॥ स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हसि । अनुकम्प्यो नरः पत्न्या पुष्टो रक्षित एव च ॥ ४६ ॥ प्रपतेद्यशसो दीप्तात्स च

लेकर खानेलगा, परन्तु उससे उसका पेट नहीं भरा ॥ ४० ॥ वह उञ्छ व्रतवाला ब्राह्मण उस अतिथिको भूखसे घवडाया हुआ देखकर 'यह कैसे सन्तुष्ट हो' इसके लिये उसके भोजनकी चिंता करनेलगा ॥४१ ॥ उस समय उसकी स्त्रीने कहा, कि–मेरा भाग लेकर देदो, इस ब्राह्मणको इच्छानुसार पूर्णरूपसे सन्तुष्ट होकर जाने दो ॥ ४२ ॥ इसप्रकार कहनेवाली मेरी पतिव्रता स्त्री भूख के मारे घवडा रही है, यह जानकर वह उत्तम ब्राह्मण उसका सत्तुओंका भाग लेकर देनेकी वातको स्वीकार नहीं करसका ।४३। फिर उस विद्वान् द्विजवरने अपने आत्माके अनुमानसे अपनी तपस्विनी स्त्रीको वृद्धा, क्षुधासे पीडित, थकी और ग्लानि पाई हुई जानकर ॥ ४४ ॥ त्वचा और अस्थि मात्र वनी और काँपती हुई अपनी भार्यासे कहा, कि–हे शोभने ! कीड़े, पतङ्ग और पशु भी अपनी स्त्रीकी रक्षा और पोषण करते हैं, इसलिये तुझे ऐसा नहीं कहना चाहिये, पत्नीका पोषण और रक्षा कियाहुआ पुरुष विचारा दयाके योग्य है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ वह यशसे भ्रष्ट होजाता है और उसको तेजस्वी लोक नहीं मिलते हैं, धर्म, अर्थ

लोकान्न चाप्नुयात्। धर्मकामार्थकार्याणि शुश्रूषा कुलसन्ततिः४७
दारेष्वधीनो धर्मश्च पितृणामात्मनस्तथा। न वेत्ति कर्मतो भार्या
रक्षणे योऽक्षमः पुमान् ॥ ४८ ॥ अयशो महदाप्नोति नरकांश्चैव
गच्छति। इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज॥ ४९ ॥
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे। सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च
गुणनिर्मितः ॥५०॥ स्त्रीणां पतिसमाधीनं काङ्क्षितं च द्विजर्षभ।
ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः ॥ ५१ ॥ भर्तुः प्रसादा-
न्नारीणां रतिपुत्रफलं तथा। पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि
भरणाच्च मे ॥५२॥ पुत्रप्रदानाद्वरदस्तस्मात् सक्तून् प्रयच्छ मे।

और कामके कार्य, सेवा, कुटुम्ब और सन्तान (इनमेंका कुछ भी उसको नहीं मिलता है अथवा यह सब स्त्रीके अधीन है)४७ पितरोंका तथा मनुष्योंका अपना धर्म स्त्रियोंके अधीन है, जो भार्याकी रक्षा नहीं करसकता उसको कर्मानुसार स्त्री पुरुष नहीं मानती है (स्त्री उसको मट्टीके पुतलेकी समान समझती है)४८ उस उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मणने अपनी स्त्रीसे इसप्रकार कहा, तब उस स्त्रीने अपने पतिसे फिर कहा, कि-हे द्विज! हम दोनोंके धर्म और अर्थ दोनों समान हैं ॥ ४९ ॥ जौके सत्तुओंके चौथे भाग को लो मेरे ऊपर इतनी कृपा करो, सत्य, रति, धर्म और गुण से स्त्रीका पायाहुआ स्वर्ग, ये सब तथा सब स्त्रियें जो कुछ अभिलाषा करें हे द्विजसत्तम! यह सब स्त्रियोंका पतिके अधीन है (पतिसे मिलता है) माताका रज और पिताका वीर्य (दोनों ही मिलकर वंश चलता है),पति ही स्त्रीका परम देवता है५०-५१ पतिके अनुग्रहसे स्त्रियोंको रति और पुत्ररूप फल मिलता है, मेरा पालन करनेसे तुम पति कहलाते हो और मेरा भरण करनेसे तुम भर्ता हो ॥ ५२ ॥ और पुत्र देनेसे तुम वरदाता हो, इस लिये ये सत्तू देदो, तुम जरासे जीर्ण वृद्ध हो, भूखे और बहुत

जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्त्तो दुर्बलो भृशम् ॥ ५३ ॥ उपवासपरि-
श्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः। इत्युक्तः स तया सक्तून् प्रगृह्येदं
वचोऽब्रवीत् ॥५४॥ द्विज सक्तूनिमान् भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम।
स तान् प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद् द्विजः ॥ ५५ ॥ तमुञ्छ-
वृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ५५ ॥ पुत्र उवाच ।
सक्तूनिमान प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम। इत्येवं सुकृतं मन्ये
तस्मादेतत् करोम्यहम् ॥ ५६ ॥ भवान् हि परिपाल्यो मे सर्वदैव
प्रयत्नतः। साधूनां काङ्क्षितं यस्मात् पितुर्वृद्धस्य पालनम् ॥५७॥
पुत्रार्थो विहितो ह्येष वार्द्धके परिपालनम्। श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे
त्रिषु लोकेषु शाश्वती ॥ ५८ ॥ प्राणधारणमात्रेण शक्यं कर्तुं

ही दुर्बल हो ॥ ५३ ॥ उपवाससे बहुत ही थकगए हो और
दुर्बल हो, स्त्रीके ऐसा कहने पर उसने सत्तू लेकर यह बात
कही, कि-॥५४॥हे अतिथि! तू इन सत्तुओंको ले, उस ब्राह्मण
ने वह लेकर खालिये, परन्तु इससे भी वह सन्तुष्ट नहीं हुआ
उञ्छवृत्तिवाला ब्राह्मण उसको ऐसा देख फिर चिन्तामें पड
गया ॥ ५५ ॥ तब उसके पुत्रने कहा, कि-हे पिताजी! यह
सत्तू लेकर ब्राह्मणको देदीजिये मैं इसको पुण्यका काम सम-
झता हूँ, इसलिये ऐसा करता हूँ ॥ ५६ ॥ यह मेरा कर्त्तव्य है,
कि-मैं यत्न करके सदा आपका पालन करूँ, क्योंकि-वृद्ध
पिताका पालन करना साधुओंका सिद्धान्त है ॥५७॥ हे विप्रर्षे!
वृद्ध अवस्थामें पालन करे, यही पुत्र होनेका फल माना है सना-
तनसे त्रिलोकीमें यही वेदकी आज्ञा है ॥ ५८ ॥ प्राण धारण
मात्रसे ही तुम तप करसकते हो, और देहधारियोंके देहोंमें प्राण
परमधर्म है (अर्थात् हम आज इन सत्तुओंको नहीं खायँगे तो
हमारे प्राण नहीं जायँगे, परन्तु यदि इस अतिथिको खाना नहीं
मिला तो यह मरजायगा, इसके प्राणोंकी रक्षा करना परमधर्म

तपस्त्वया । प्राणो हि परमो धर्म्मः स्थितो देहेषु देहिनाम् ॥५९॥
पितोवाच । अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव मतो मम । उत्पाद्य पुत्रं
हि पिता कृतकृत्यो भवेत् सुतात् ॥ ६० ॥ बालानां क्षुद्बलवती
जानाम्येतदहं प्रभो । वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ६१
जीर्णेन वयसा पुत्र न मां क्षुद्बाधतेपि च । दीर्घकालं तपस्तप्तं
न मे मरणतो भयम् ॥ ६२ ॥ पुत्र उवाच । अपत्यमस्मि ते
पुंसस्त्राणात् पुत्र इति स्मृतः । आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात्त्राह्यात्मा-
नमिहात्मना ॥ ६३ ॥ पितोवाच । रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च
दमेन च । परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनाददामि ते सुत ॥६४॥ इत्युक्त्वा-
दाय तान् सक्तून् प्रीतात्मा द्विजसत्तमः । प्रहसन्निव विप्राय स

है, इसलिये इसको यह सत्तू देदीजिये)॥ ५९ ॥ पिताने कहा, कि- तू हजार वर्षका होजाय तो भी मेरे लिये तू बालक ही है, पुत्रको उत्पन्न करके उस पुत्रसे पिता कृतकृत्य होजाता है ६० हे राजन्! (उस ब्राह्मणने अपने पुत्रसे कहा, कि-) बालकोंकी भूख बडी बलवान होती है, इतना तो मैं जानता हूँ,मैं बूढ़ा होगया हूं किसीप्रकार अपने प्राणोंको धारण किये रहूँगा, हे बेटा! तू इनको खाकर बलवान् होजा।६१।हे बेटा! जीर्ण अवस्था होजानेके कारण भूख मुझे अधिक बाधा देती भी नहीं है, मैंने चिरकाल तक तप किया है, अब मुझे मरनेका भय नहीं है ॥ ६२ ॥ पुत्रने कहा, कि-मैं तुम्हारा बालक हूँ, जो पिताकी नरक (दुःख) से रक्षा करे वह पुत्र कहलाता है और पुत्रको पिताका आत्मा कहा है, इसलिये तुम अपने पुत्ररूप आत्मासे अपनी रक्षा करो ॥ ६३ ॥ पिताने कहा, कि-रूपमें, शील (बर्त्ताव) में और मनको वशमें रखनेमें तू मेरी समान ही है मैंने बहुत प्रकारसे तेरी परीक्षा की है, इसलिये हे बेटा! मैं तेरे सत्तू इसको देता हूं ॥६४॥ ऐसा कहकर उस प्रसन्नचित्त श्रेष्ठ ब्राह्मणने वह सत्तू लेकर हँसतेहुए

तस्मै प्रददौ तदा ॥ ६५ ॥ भुक्त्वा तानपि सक्तून् स नैव तुष्टो बभूव ह । उञ्छवृत्तिस्तु धर्मात्मा व्रीडामनुजगाम ह ॥ ६६ ॥ तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया । सक्तूनादाय संहृष्टा श्वशुरम्वाक्यमब्रवीत् ॥ ६७ ॥ सन्तानात्तव सन्तानं मम विप्र भविष्यति । सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा सम्प्रयच्छ मे ॥६८॥ तव प्रसादान्निर्वृत्ता मम लोकाः किलाक्षयाः । पुत्रेण तानवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति ॥६९॥ धर्माद्या हि यथा त्रेता वह्नित्रेता तथैव च । तथैव पुत्रपौत्राणां स्वर्गस्त्रेता किलाक्षयः ॥ ७० ॥ पितॄन् ऋणात्तारयति पुत्र इत्यनुशुश्रुम । पुत्रपौत्रैश्च नियतं साधु लोकानुपाश्नुते ७१ श्वशुर उवाच । वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै । कर्शितां सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ॥ ७२ ॥ कथं सक्तून्

उस ब्राह्मणको देदिये ॥ ६५ ॥ उन सत्तुओंको खाकर भी वह सन्तुष्ट नहीं हुआ, तब उञ्छवृत्तिवाले धर्मात्माको लज्जा आने लगी ॥६६॥ तब उस ब्राह्मणका प्रिय काम करना चाहनेवाली उसकी पतिव्रता पुत्रवधू अपने सत्तू लेकर प्रसन्न होती हुई अपने श्वसुरसे कहने लगी, कि-॥ ६७ ॥ हे महाराज ! आपकी सन्तानसे मेरे सन्तान होगी (मैं भी आज बिना खाए ही जीसकूँगी) इसलिये ये सत्तू लेकर अतिथिको देदीजिये ॥६८॥ आपकी कृपासे मुझे निःसन्देह अक्षय लोक मिलचुके हैं, पुत्रके द्वारा ऐसे लोक मिलते हैं, कि-जहाँ पहुँचने पर किसीको शोक नहीं होता है ॥६९॥ जैसे धर्म आदि तीन (धर्म, अर्थ, काम) हैं, ऐसे ही तीन अग्नियें हैं तथा ऐसे ही पुत्र और पौत्रोंके लिये एक अक्षयत्रयी है ॥ ७० ॥ पितरोंके ऋणमेंसे पुत्र तारदेता है, ऐसा मैंने सुना है, पुत्र और पौत्रसे सदा साधुओंके लोक मिलते हैं ॥ ७१ ॥ श्वसुरने कहा कि-हे अच्छे व्रत और आचरणवाली! प्यास और तापसे कुमलाए हुए अङ्गोंवाली, फीकी और दुर्बल

गृह्णीयामि भूत्वा धर्मोपघातकः। कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ७३ ॥ षष्ठे काले व्रतवतीं शौचशीलतपोऽन्विताम्। कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं शुभे ॥ ७४ ॥ बाला क्षुधार्त्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया। उपवासपरिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनि ॥७५॥ स्नुषोवाच। गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम्। देवातिदेवस्तस्मात्त्वं सक्तूनादत्स्व मे प्रभो ॥ ७६ ॥ देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः। तव विप्र प्रसादेन लोकान् प्राप्स्यामहे शुभान्॥७७॥अवेक्ष्या इति कृत्वाहं दृढभक्तेति वा द्विज। चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ॥ ७८ ॥

हुई और भूखसे घबडायेहुए मनवाली तुझे देख कर ॥ ७२ ॥ मैं धर्मद्रोह करनेवाला बनकर यह सत्तू कैसे लेलूँ ? हे कल्याण-कारी व्रतवाली!हे कल्याणी!तुझे ऐसा नहीं करना चाहिये ७३ हे प्रभो!छठे समय व्रत करनेवाली, शौच शील और तपस्या वाली, कष्टवृत्तिका पालन करनेवाली तुझे मैं भूखी कैसे देख सकता हूँ७४ बाला (बारह वर्षकी) और भूखसे घबडाई हुई स्त्रीकी तो मुझे सदा रक्षा ही करनी चाहिये. जिसमें भी तू तो उपवाससे थकीहुई और बान्धवोंको आनन्द देनेवाली है ॥ ७५ ॥ पुत्रवधू ने कहा, कि-तुम मेरे गुरुके गुरुहो, इसलिये तुम मेरे देवताके देवता हो, तुम देवोंके भी देवहो इसलिये हे प्रभो ! तुम मेरे इन सत्तुओंको लो ॥ ७६ ॥ यह मेरा देह, प्राण, और धर्म गुरुकी सेवाके लिये है, हे विप्र ! तुम्हारे अनुग्रहसे मुझे शुभ लोक मिलेंगे ॥७७॥ हे विप्र ! आपको मेरी रक्षा करनी चाहिये और परीक्षा लेनी चाहिये, कि-मैं आपकी दृढ भक्त हूँ या नहीं, इसलिये आप मेरे इन सत्तुओंको लेलीजिये ॥ ७८ ॥ श्वसुरने कहा, कि-तू पतिव्रता है और ऐसे ही शील तथा व्रतसे तू सदा शोभा पाती है, क्योंकि-तू धर्म और व्रतका पालन करनेवाली

श्वसुर उवाच । अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे । या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ॥७९॥ तस्मात् सक्तून् गृहीष्यामि वधु नार्हसि वञ्चनाम् । गणयित्वा महाभागे त्वां हि धर्मभृतास्वरे ८० इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून् प्रादाद् द्विजातये । ततस्तुष्टोऽभवद्द्विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥८१॥ प्रीतात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम् । वाग्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ॥ ८२ ॥ शुद्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन धर्मतः । यथाशक्तिविसृष्टेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम । अहो दानं घुष्यते ते स्वर्गे स्वर्गनिवासिभिः ॥८३॥ गगनात् पुष्पवर्षं च पश्येदं पतितं भुवि । सुरर्षिदेवगन्धर्वा ये च देवपुरःसराः ॥८४॥ स्तुवंतो देवदूताश्च स्थिता दानेन विस्मिताः । ब्रह्मर्षयो विमानस्था ब्रह्मलोकचराश्च ये॥८५। कांक्षन्ते दर्शनं तुभ्यं

और गुरु सेवाका ध्यान रखनेवाली है ॥७८॥ इसलिये हे पुत्र-वधू ! मैं तेरे सत्तू लेता हूँ, हे महाभागे ! मैं तुझे धर्मका पालन करनेवालियोंमें श्रेष्ठ मानकर अब धोखा देना नहीं चाहता॥८०॥ ऐसा कहकर श्वसुरने वह सत्तू लेलिये और ब्राह्मणको देदिये तब वह महात्मा साधु ब्राह्मण बडा सन्तुष्ट हुआ ॥ ८१ । फिर पुरुषके शरीर वाला वह धर्मरूप बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ,प्रसन्न अंतःकरणवाला उत्तम ब्राह्मण उस कापोति नामवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणसे यह बात कहनेलगा ॥ ८२ ॥ ब्राह्मण बोला, कि–हे द्विजवर न्यायसे मिलेहुए, शुद्ध, धर्मके अनुसार यथाशक्ति दियेहुए इस दानसे मैं प्रसन्न हूँ,अहो ! तेरे इस दानको तो स्वर्गमें रहनेवाले स्वर्गमें गाते हैं ॥ ८३ ॥ आकाशमेंसे पृथिवी पर गिरती हुई इस पुष्पोंकी वर्षाको तू देख, देवर्षि, देवता, गन्धर्व और देवताओंके आगे चलनेवाले ॥ ८४ ॥ तथा देवदूत इस दानसे आश्चर्यमें हो खड़े हुए तेरी स्तुति कर रहे हैं, ब्रह्मर्षि, विमानोंमें बैठेहुए और ब्रह्मलोकमें विचरनेवाले ॥ ८५ ॥ तेरा दर्शन करना चाहते

दिवं व्रज द्विजर्षभ । पितृलोकगताः सर्वे तारिताः पितरस्त्वया ॥ ८६ ॥
अनागताश्च बहवः सुबहूनि युगान्युत । ब्रह्मचर्येण दानेन यज्ञेन
तपसा तथा ॥ ८७ ॥ असङ्करेण धर्मेण तस्माद्गच्छ दिवं द्विज ।
श्रद्धया परया यस्त्वं तपश्चरसि सुव्रत ॥ ८८ ॥ तस्माद्देवाश्च दानेन
प्रीता ब्राह्मणसत्तम । सर्वमेतद्धि यस्मात्ते दत्तं शुद्धेन चेतसा ८९
कृच्छ्रकाले ततः स्वर्गो विजितः कर्मणा त्वया । क्षुधा निर्णुदति
प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति ९० क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह ।
बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ॥ ९१ ॥ यदा दानरुचिः
स्याद्वै यदा धर्मो न सीदति । अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव
च ॥ ९२ ॥ धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया । द्रव्यागमो

हैं, इसलिये हे द्विजसत्तम ! तू स्वर्गमें जा, तेरे पुण्यसे पितृलोकमें गए हुए तेरे सब पितर तरगए हैं ॥ ८६ ॥ तथा जो कितने ही युगोंसे पितृलोकमें नहीं पहुँचे थे वे तेरे पितर भी तेरे पुण्यसे तरगए हैं, तेरे ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ तथा तपके कारणसे ॥ ८७ ॥ तथा शुद्ध धर्मके कारणसे वे तरगए हैं, इसलिये हे द्विज ! तू स्वर्गमें जा, हे सुव्रत ! तू परम श्रद्धाके साथ तप करनेवाला है ८८ इसलिये हे उत्तम ब्राह्मण ! तेरे दानसे देवता प्रसन्न हुए हैं, यह सब होनेका कारण यह है, कि-तूने शुद्ध मनसे दान दिया है ॥ ८९ ॥ और वह भी आपत्तिके समयमें दिया है, इसलिये इस कर्मसे तूने स्वर्गको जीतलिया है, क्षुधा बुद्धिको लुप्त करदेती है और धर्मबुद्धिको नष्ट करदेती है ॥ ९० ॥ क्षुधाके कारण ज्ञानवान्का भी धीरज छूटजाता है, जो क्षुधाको जीतलेता है वह वास्तवमें स्वर्गको जीतलेता है ॥ ९१ ॥ जहाँ तक दानकी रुचि रहती है वहाँ तक धर्म नहीं जाता है, पुत्रके प्रेमकी तथा स्त्रीके प्रेमकी परवाह न करके ॥ ९२ ॥ धर्मको ही मुख्य मानते हुए तूने तृष्णाको कुछ नहीं समझा, मनुष्योंके लिये धनकी प्राप्ति तो

नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम् ॥९३॥ कालः पुरतरो दानात्
श्रद्धा चैव ततः परा । स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते ९४
स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम् । तन्तु पश्यन्ति पुरुषा
जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ॥ ९५ ॥ ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथा
शक्तिप्रदायिनः । सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च ॥९६॥
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः । रन्तिदेवो हि
नृपतिरपः प्रादादकिंचनः ॥ ९७ ॥ शुद्धेन मनसा विप्र नाकपृष्ठं
ततो गतः । न धर्म्मः प्रीयते तात दानर्दत्तैर्महाफलैः ॥ ९८ ॥
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति । गोप्रदानसहस्राणि

छोटीसी बात है, सुपात्रको दान देना यह उससे बढ़कर है ९३
काल दानसे बडा है और श्रद्धा कालसे बडी है, स्वर्गका द्वार
इतना सूक्ष्म है, कि–मोहके कारण मनुष्योंको वह दीखता ही
नहीं ॥ ९४ ॥ उस स्वर्गद्वारमें सङ्कल्प अर्गला (डँडेला) लगा
है और उसमें लोभकी कील ठुकीहुई है और राग (क्रोध) उसको
ढके हुए है, इसलिये उसके भीतर पहुँचना बडा ही कठिन है,
जिन्होंने क्रोधको जीतलिया है और इन्द्रियोंको जीतलिया है वे
ही उसको देख सकते हैं ॥ ९५ ॥ तप करनेवाले ब्राह्मण तथा
यथाशक्ति बहुतसा दान देनेवाले (उसको देखपाते हैं), हजार
देनेकी शक्तिवाला सौ और सौकी शक्तिवाला दश ॥ ९६ ॥
तथा जिसके पास कुछ भी न हो वह एक जलकी बिन्दु भी दे
देय तो इन सबोंको एकसमान फल मिलता है, ऐसा कहते हैं,
राजा रन्तिदेवके पास कुछ नहीं रहा तब उसने केवल जल ही
दिया था, ॥९७॥ परन्तु हे ब्राह्मण ! वह शुद्ध मनसे दिया था,
इससे वह स्वर्गके ऊपर जापहुँचा था, हे तात ! महाफलवाले
दान देनेसे कुछ धर्म प्रसन्न नहीं होता है ॥९८॥ किन्तु थोडासा
होने परभी न्यायसे मिलेहुए और श्रद्धाके द्वारा पवित्र कियेहुए

द्विजेभ्योऽदान्नृगो नृपः ॥ ९९ ॥ एकां दत्वा स पारक्यां नरकं समपद्यत । आत्ममांसप्रदानेन शिविरौशीनरो नृपः ॥१००॥ प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकान् मोदते दिवि सुव्रतः । विभवो न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम् ॥१०१॥ न यज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन संचितैः । क्रोधाद्दानफलं हन्ति लोभात् स्वर्गं न गच्छति ॥१०२॥ न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित् स्वर्गमश्नुते । न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ॥१०३॥ न चाश्वमेधैर्बहुभिः फलं सममिदं तव । सक्तुप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाक्षयः ॥१०४॥ विरजो ब्रह्मसदनं गच्छ विप्र यथासुखम् । सर्वेषां वै द्विजश्रेष्ठ दिव्यं यानमुपस्थितम् ॥१०५॥ आरोहत यथाकामं धर्मोऽस्मि द्विज पश्य

दानोंसे वह सन्तुष्ट होता है, राजा नृगने ब्राह्मणोंको हजारों गौएँ दान करके दी थीं ॥ ९९ ॥ परन्तु वह एक दूसरेकी गौ भूलमें देनेसे नरकमें गया था, उशीनरका पुत्र राजा शिवि अपने शरीरके मांसके दानसे ॥ १०० ॥ पुण्यात्माओंको मिलनेवाले लोकोंको पाकर वह सुन्दर व्रतवाला स्वर्गमे आनन्द करता है, ऐश्वर्य कोई मनुष्यका पुण्य नहीं है पुरुष अपनी शक्तिसे उसको सहजमें ही पाजाते हैं । १०१ । हे ब्राह्मण ! न्यायसे इकट्ठे हुए धनका दान करनेसे जो लाभ होता है वह अनेकों यज्ञ करनेसे नहीं होता, क्रोधसे दानके फलका नाश होजाता है और लोभसे वह स्वर्गमें नहीं जासकता है ॥ १०२ ॥ न्यायके अनुसार चलने वाला और दानके नियमोंको जाननेवाला तपसे स्वर्ग भोगता है, परन्तु बहुतसी दक्षिणावाले बहुतसे राजसूय यज्ञ करनेसे १०३ अथवा बहुतसे अश्वमेध यज्ञ करनेसे उसकी समान फल नहीं मिलता, सत्तुओंके दानसे तूने तो अक्षय ब्रह्मलोकको जीतलिया है ॥ १०४ ॥ हे ब्राह्मण! रजोगुणसे शून्य तू सुखसे ब्रह्मलोकमें जा, हे द्विजवर ! तुम सबोंके लिये यह दिव्य विमान आया है १०५

माम् । तारितो हि त्वया देहो लोके कीर्त्तिः स्थिरा च ते ॥१०६॥ सभार्य्यः सहपुत्रश्च सस्नुषश्च दिवं व्रज । इत्युक्तवाक्ये धर्मे तु यानमारुह्य स द्विजः ॥ १०७ ॥ सदारः ससुतश्चैव सस्नुषश्च दिवं गतः । तस्मिन् विप्रे गते स्वर्गं ससुते सस्नुपे तदा ॥१०८॥ भार्या-चतुर्थे धर्म्मज्ञे ततोऽहं निःसृतो बिलात् । ततस्तु सक्तुगन्धेन क्लेदेन सलिलस्य च ॥ १०९ ॥ दिव्यपुष्पविमर्दाच्च साधोर्दानलवैश्च तैः । विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे कांचनीकृतम् ॥ ११० ॥ तस्य सत्याभिसन्धस्य सक्तुदानेन चैव ह । शरीरार्द्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ॥ १११ ॥ पश्यतेमं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः । कथमेवंविधं स्याद्वै पार्श्वमन्यदिति द्विजाः ॥ ११२ ॥

इसपर तुम इच्छानुसार चढ़जाओ, हे ब्राह्मण ! मैं धर्म हूँ, तुम मुझे देखो, तूने अपने शरीरको तारदिया है और तेरी कीर्ति सब लोकोंमें स्थिर रहेगी ॥ १०६ ॥ स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके सहित तू स्वर्गमें जा, धर्मने ऐसा कहा, तब वह ब्राह्मण विमानमें चढ़गया ॥ १०७ ॥ और अपनी स्त्री, पुत्र तथा पुत्रवधूके साथ स्वर्गमें चलागया, पुत्र और पुत्रवधूके सहित धर्मको जानने वाला वह ब्राह्मण तीसरा और चौथी अपनी स्त्री ये सब स्वर्गमें चले गए तब मैं अपने बिलमेंसे बाहर निकल आया, फिर सत्तुओंकी गन्ध लेनेसे और अतिथिको चरण धोनेके लिये दिएहुए जलकी कीचमें लोटनेसे ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ तथा उन दिव्य पुष्पोंको खूँदनेसे तथा साधुके दान देतेमें गिरेहुए अन्नके कणोंको खानेसे और उस ब्राह्मणके तपके कारणसे मेरा शिर सोनेका होगया ११० हे ब्राह्मणों ! उस सत्य प्रतिज्ञावालेके सत्तुओंके दानसे यह मेरा आधा शरीर सोनेका होगया है ॥ १११ ॥ उस बुद्धिमान्के तपो-बलसे यह मेरा सुवर्णका बनाहुआ सब शरीर देखो, हे ब्राह्मणों! इसका दूसरा करवट सुवर्णका कैसे बने, इसके लिये ॥११२॥

तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः । यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः ॥ ११३ ॥ आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः । ततो मयोक्तं तद्वाक्यं प्रहस्य द्विजसत्तमाः ॥ ११४ ॥ सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा । सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाहं काञ्चनीकृतः ॥ ११५ ॥ न हि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम । इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान् यज्ञे द्विजवरांस्तदा ॥ ११६ ॥ जगामादर्शनं तेषां विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ॥ ११७ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतत्ते सर्वमाख्यातं मया परपुरञ्जय । यदाश्चर्यमभूत्तत्र वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११८ ॥ न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कथंचन । ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ॥ ११९ ॥

तपोवनोंमें और यज्ञोंमें मैं आनन्दके साथ वारम्वार आता हूँ, बुद्धिमान् कुरुराजके यज्ञकी बात सुनकर मैं ॥ ११२ ॥ बड़ी आशाके साथ यहाँ आया था, परन्तु मेरा शरीर सोनेका नहीं बना, इसलिये हे श्रेष्ठ ब्राह्मणों ! मैंने हँसकर यह बात कही थी कि-॥ ११४ ॥ सत्तूके यज्ञकी समान यह यज्ञ किसीप्रकार नहीं हुआ, सत्तूके यज्ञमें तो बिखरेहुए अन्नके कणोंसे मैं सोनेका बनगया था ॥ ११५ ॥ परन्तु मेरी समझमें यह महायज्ञ उसकी समान नहीं है वह नौला इस यज्ञमें उन सब उत्तम द्विजोंसे ऐसा कहकर अदृश्य होगया और वे ब्राह्मण अपने २ घर चले गए ॥ ११६ ॥ ११७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे शत्रुओंके नगरोंको जीतनेवाले ! यह सब आख्यान मैंने तुझे सुनादिया, कि-जो आश्चर्यमें डालनेवाली बात उस अश्वमेध यज्ञमें हुई थी ॥ ११८ ॥ हे राजन् ! यज्ञके विषयमें तुझे किसीप्रकारका आश्चर्य नहीं करना चाहिये, तप करके करोड़ों और हजारों ऋषि स्वर्गमें गए हैं ॥ ११९ ॥ सब प्राणियोंसे किसीप्रकारका

अद्रोहः सर्वभूतेषु सन्तोषः शीलमार्ज्जवम् । तपो दमश्च सत्यं च प्रदानञ्चेति सम्मितम् ॥ १२० ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्व्वणि अनुगीतापर्व्वणि नकुलोपाख्याने नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

जनमेजय उवाच । यज्ञेसक्ता नृपतयस्तपः सक्ता महर्षयः । शान्तिव्यवस्थिता विप्राः शमे दम इति प्रभो ॥ १ ॥ तस्माद्यज्ञफलैस्तुल्यं न किञ्चिदिह दृश्यते । इति मे वर्त्तते बुद्धिस्तथा चैतदसंशयम् २ यज्ञैरिष्ट्वा तु बहवो राजानो द्विजसत्तम । इह कीर्त्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्नुयुः ॥ ३ ॥ देवराजः सहस्राक्षः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः देवराज्यं महातेजाः प्राप्तवानखिलं विभुः ॥ ४ ॥ यदा युधिष्ठिरो राजा भीमार्जुनपुरःसरः । सदृशो देवराजेन समृद्ध्या विक्रमेण च ५ अथ कस्मात् स नकुलो गर्हयामास तं क्रतुम् । अश्वमेधं महायज्ञं

द्रोह न करना, सन्तोष, शील, सरलता, तप, दम, सत्य और दान ये सब यज्ञकी समान हैं ॥ १२० ॥ नब्बेवाँ अध्याय समाप्त

जनमेजयने कहा, कि—हे प्रभो ! राजे यज्ञ करनेमें लगे रहते हैं महर्षि तपस्यामें लगे रहते हैं, ब्राह्मण शान्तिमें स्थित रहते हैं और जो शान्तिमान् होता है वही जितेन्द्रिय होता है ॥ १ ॥ इसलिये यज्ञके फलकी समान इस संसारमें कुछ नहीं दीखता मेरा ऐसा विचार है और इसमें कुछ सन्देह भी नहीं मालूम होता ॥ २ ॥ राजाओंने और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने बहुतसे यज्ञोंसे भगवान्का यजन करके इस संसारमें कीर्त्ति पाई है और अन्तमें स्वर्गमें गए हैं ॥ ३ ॥ महातेजस्वी, विभु, सहस्र नेत्रोंवाले देवराज इन्द्रने भी बहुतसी दक्षिणावाले यज्ञ करके देवताओंका सकल राज्य पाया है ॥ ४ ॥ और भीम तथा अर्जुन जिनके आगे चला करते हैं ऐसे राजा युधिष्ठिर ऐश्वर्य और पराक्रममें देवराज इन्द्रकी समान हैं ॥ ५ ॥ फिर वह नौला किस कारणसे

राज्ञस्तस्य महात्मनः॥ ६ ॥ वैशम्पायन उवाच । यज्ञस्य विधिमग्र्यं वै फलं चापि नराधिप । गदतः शृणु मे राजन् यथावदिह भारत ७ पुरा शक्रस्य यजतः सर्वे ऊचुर्महर्षयः । ऋत्विक्षु कर्मव्यग्रेषु वितते यज्ञकर्मणि ॥८॥ हूयमाने तथा वह्नौ होत्रे गुणसमन्विते । देवेष्वाहूयमानेषु स्थितेषु परमर्षिषु ॥ ९ ॥ सुप्रतीतैस्तथा विप्रैः स्वागमैः सुस्वरैर्नृप । अश्रान्तैश्चापि लघुभिरध्वर्युवृषभैस्तथा १० आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ । महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः॥ ११॥ततो दीनान् पशून् दृष्ट्वा ऋषयस्ते तपोधनाः । ऊचुः शक्रं समागम्य नायं यज्ञविधिः शुभः ॥१२॥ अपरिज्ञानमेतत्ते

उन महात्मा राजा युधिष्ठिरके अश्वमेध महायज्ञकी निन्दा करता था ? ॥ ६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजन् ! यज्ञकी उत्तम विधि और फलको मैं ठीक २ कहता हूँ, हे भरतवंशी राजन् ! उसको तुम सुनो ॥ ७ ॥ पहले जिस समय इन्द्रने यज्ञ किया था तब सब महर्षि मन्त्र बोल रहे थे, ऋत्विज कर्म करानेमें लगे हुए थे, यज्ञका काम चलरहा था ॥ ८ ॥ अग्निमें आहुतियें छोडी जारही थीं, गुणवान् होता होम कररहे थे, देवताओंका आवाहन क्रिया जा रहा था और बड़े २ ऋषि बैठे थे ॥ ९ ॥ हे राजन् ! ब्राह्मण बडी प्रीतिके साथ ऊँचे स्वरोंसे वेदके मन्त्रोंको बोलकर देवताओंको बुला रहे थे तथा उत्तम अध्वर्यु परिश्रम न मानकर मन्त्रोंका धीरे २ उच्चारण कर रहे थे ॥ १० ॥ फिर आलंभनका समय आनेपर पशुओंको पकड़ागया, उस समय हे महाराज ! उन महर्षियोंको उनके ऊपर दया आई ॥ ११ ॥ उस समय तपोधन ऋषियोंने उन पशुओंको दीन देखकर इन्द्रके पास जाकर कहा, कि-यह यज्ञकी विधि शुभ नहीं है ॥ १२ ॥ हे पुरन्दर ! बडा भारी धर्म करना चाहनेवाले तेरा यह तो अज्ञान है, क्यों कि-यज्ञमें पशु-

महान्तं धर्ममिच्छतः । न हि यज्ञे पशुगणा विधिदृष्टाः पुरन्दर ॥ १३ ॥ धर्मोपघातकस्त्वेष समारम्भस्तव प्रभो । नायं धर्मकृतो यज्ञो न हिंसा धर्म्म उच्यते ॥ १४ ॥ आगमेनैव ते यज्ञं कुर्वन्तु यदि चेच्छसि ॥ १५ ॥ विधिदृष्टेन यज्ञेन धर्म्मस्तेषु महान् भवेत् । यज्ञ बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः ॥ १६ ॥ एष धर्मो महान् शक्र महागुणफलोदयः । शतक्रतुस्तु तद्वाक्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१७॥ उक्तं न प्रतिजग्राह मानान्मोहवशङ्गतः । तेषां विवादः सुमहान् शक्रयज्ञे तपस्विनाम् ॥ १८ ॥ जङ्गमैः स्थावरैर्वापि यष्टव्यमिति भारत । ते तु खिन्ना विवादेन ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ॥ १६ ॥ तदा सन्धाय शक्रेण पप्रच्छुर्नृपतिं वसुम् । धर्मसंशयमापन्नाः सत्यं ब्रूहि महामते ॥ २० ॥ महाभाग कथं यज्ञेष्वागमो नृपसत्तम ।

गणोंका विधान देखनेमें नहीं आता ॥ १३ ॥ हे प्रभो ! तेरा यह काम धर्मका नाश करनेवाला है, यह यज्ञ धर्मभावसे नहीं किया जारहा है, हिंसा धर्म नहीं कहलाती है ॥ १४ ॥ यदि तू (धर्मसञ्चय करना) चाहता है तो यह (याजक) शास्त्रके अनुसार ही यज्ञ करें ॥ १५ ॥ विधिके अनुसार कियेहुए यज्ञसे तुझे बडा धर्म होगा, इसलिये हे इन्द्र ! तू तीन वर्षतक रख छोड़े हुए बीजोंसे यज्ञ कर ॥ १६ ॥ हे इन्द्र ! यह बडा धर्म है और बड़े गुणोंवाले फल देता है, इन्द्रने तत्त्वद्रष्टा ऋषियोंके कहेहुए ये वचन नहीं माने और अभिमानसे मोहके वशमें होगया फिर इन्द्रके यज्ञमें उन तपस्वियोंमें एक बडा विवाद हुआ ॥१७-१८॥ कि-जङ्गम वस्तुओंसे होम करना चाहिये या स्थावर वस्तुओंसे होम करना चाहिये ? हे भारत ! तत्त्वको जाननेवाले वे ऋषि इस विवादसे खिन्न होगए ॥१६॥ फिर उन्होंने इन्द्रको साथमें लेकर इस विषयमें राजा वसुसे प्रश्न किया, कि-हे महामते ! हमें धर्मके विषयमें सन्देह होरहा है, इसलिये आप सत्य बात बताइये ॥२०॥

यष्टव्यं पशुभिर्मुख्यैरथो बीजै रसैरिति ॥ २१ ॥ तत् श्रुत्वा तु वसुस्तेषामविचार्य्य बलाबलम् । यथोपनीतैर्यष्टव्यमिति प्रोवाच पार्थिवः ॥ २२ ॥ एवमुक्त्वा स नृपतिः प्रविवेश रसातलम् । उक्त्वाथ वितथं प्रश्नं चेदीनामीश्वरः प्रभुः ॥२३॥ तस्मान्न वाच्यं ह्येकेन बहुज्ञेनापि संशये । प्रजापतिमपाहाय स्वयम्भुवमृते प्रभुम् २४ तेन दत्तानि दानानि पापेनाशुद्धबुद्धिना । तानि सर्वाण्यनादृत्य नश्यन्ति विपुलान्यपि ॥ २५ ॥ तस्याधर्मप्रवृत्तस्य हिंसकस्य दुरात्मनः । दानेन कीर्त्तिर्भवति न प्रेत्येह च दुर्म्मते ॥ २६ ॥ अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः । धर्माभिशङ्की यजते न स धर्मफलं लभेत् ॥२७॥ धर्मवैतंसिको यस्तु पापात्मा पुरुषा-

हे महाभाग ! हे नृपसत्तम ! यज्ञोंमें मुख्य २ पशुओंसे होम करना चाहिये, अथवा रसवाले बीजोंसे करना चाहिये इस विषयमें शास्त्र क्या कहता है ? ॥२१॥ राजा वसुने यह सुन इन बातोंका बलाबल न विचारते हुए कहा, कि–जिस समय जो वस्तु लेआया होय उससे ही यज्ञ करलेय ॥ २२ ॥ चेदियोंका स्वामी वह प्रभु ऐसा मिथ्या उत्तर देकर रसातलमें घुसगया (अर्थात् दुःखी हुआ) २३ इसलिये संदेहके अवसर पर किसी बहुत जानने वालेको भी अकेले कुछ उत्तर नहीं देना चाहिये, हाँ प्रजापति ब्रह्माजीके लिये यह नियम नहीं है ॥ २४ ॥ उस अशुद्धबुद्धिवाले पापीके कियेहुए दान चाहे जितने अधिक हों तो भी वे सब सहजमें ही अनादर पाकर नष्ट होजाते हैं ॥ २५ ॥ उस अधर्मका प्रचार करनेवाले, दुष्टात्मा, हिंसक दुष्टबुद्धिवालेकी दानसे इसलोकमें या परलोकमें कीर्त्ति नहीं होती है ॥ २६ ॥ अन्यायसे बहुतसा धन पाकर धर्मके विषयमें शङ्का रखनेवाला कोई मूर्ख यदि यज्ञ करे तो उसको धर्मका फल नहीं मिलता है ॥ २७ ॥ धर्मकी निन्दा करनेवाला पापी मनुष्योंमें अधमसे भी अधम है, वह

धमः। ददाति दानं विप्रेभ्यो लोकविश्वासकारणम् ॥ २८ ॥
पापेन कर्मणा विप्रो धनं प्राप्य निरंकुशः। रागमोहान्वितः सोऽन्ते
कलुषां गतिमश्नुते ॥२६॥ अपि संचयबुद्धिर्हि लोभमोहवशं गतः।
उद्वेजयति भूतानि पापेनाशुद्धबुद्धिना ॥ ३० ॥ एवं लब्ध्वा धनं
मोहात् यो हि दद्याद्यजेत वा। न तस्य स फलं प्रेत्य भुंक्ते
पापधनागमात् ॥३१॥ उञ्छं मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः।
दानं विभवतो दत्वा नराः स्वर्यान्ति धार्मिकाः ॥३२॥ एष धर्मो
महायोगो दानं भूतदया तथा। ब्रह्मचर्य्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः
क्षमा ॥ ३३ ॥ सनातनस्य धर्म्मस्य मूलमेतत् सनातनम्। श्रूयन्ते
हि पुरा वृत्ता विश्वामित्रादयो नृपाः ॥३४॥ विश्वामित्रोऽसितश्चैव
जनकश्च महीपतिः। कक्षसेनार्ष्टिसेनौ च सिन्धुद्वीपश्च पार्थिवः३५

ब्राह्मणोंको, लोगोंमें अपने लिये विश्वास उत्पन्न करानेवाला दान देता है (धर्मके लिये दान नहीं देता है) ॥ २८ ॥ निरंकुश ब्राह्मण पापकर्मसे धन पाकर रोग और मोहमें फँसता हुआ दुर्गति पाता है ॥ २६ ॥ लोभ तथा मोहके वशमें हुए उसकी संग्रह करने की बुद्धि होती है, वह अशुद्ध बुद्धि और पापके कारणसे प्राणियों को व्याकुल करता है ॥ ३० ॥ इसप्रकार मोहसे धन पाकर जो कोई दान करता है या यज्ञ करता है, वह उसका शुभ फल मरने के बाद नहीं भोगता, क्योंकि वह धन उसको पापकर्मसे मिला है ॥ ३१ ॥ बीने हुए मूल, फल, शाक और जलसे पात्ररूप वैभवसे जो तपस्वी दान करते हैं वे धर्मात्मा पुरुष स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३२ ॥ यही धर्म है, यही महायोग है, दान तथा प्राणियों के ऊपर दया करना, ब्रह्मचर्य तथा सत्य, स्नेह, धीरज और क्षमा ॥ ३३ ॥ यह सब सनातनधर्मकी सनातन मूल है, पहले जो विश्वामित्र आदि राजे होगए हैं, उनके विषयमें मैंने ऐसा सुना है ॥ ३४ ॥ विश्वामित्र, असित, राजा जनक, कक्षसेन,

एते चान्ये च बहवः सिद्धिं परमिकां गताः । नृपाः सत्यैश्च दानैश्च न्यायलब्धैस्तपोधनाः ॥ ३६ ॥ ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये चाश्रितास्तपः । दानधर्माग्निना शुद्धास्ते स्वर्गं यान्ति भारत ॥३७॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि
हिंसामिश्रधर्मनिन्दायां एकनवतितमोऽध्यायः ॥९१॥

जनमेजय उवाच । धर्मागतेन त्यागेन भगवन् स्वर्गमस्ति चेत् । एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि भाषितुम् ॥ १ ॥ तस्योञ्छवृत्तेर्यद्वृत्तं सक्तुदाने फलं महत् । कथितन्तु मम ब्रह्मंस्तथ्यमेतदसंशयम् ॥ २ ॥ कथं हि सर्वयज्ञेषु निश्चयः परमोऽभवत् । एतदर्हसि मे वक्तुं निखिलेन द्विजर्षभ ॥ ३ ॥ वैशम्पायन उवाच । अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । अगस्त्यस्य महायज्ञे पुरा

अर्ष्टिषेण और राजा सिन्धुद्वीप ॥ ३५ ॥ ये तथा और भी बहुतसे राजे सिद्धिको प्राप्त होगए हैं, राजे सत्य और दानसे तथा तपस्वी न्यायानुसार पायेहुए धनसे परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥३६॥ तपका आश्रय लेनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दानधर्मरूप अग्निसे शुद्ध होकर हे भारत ! स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३७ ॥ इक्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९१ ॥

जनमेजयने कहा, कि-हे भगवन् ! धर्मसे आयेहुए धनका दान करनेसे यदि स्वर्ग मिलता हो तो यह सब मुझे सुनाइये, क्योंकि-आप कथा सुनानेमें चतुर हैं ॥१॥ उस उञ्छवृत्ति करनेवाले ब्राह्मणको सत्तुओंका दान करनेसे बडाभारी फल मिला, हे ब्रह्मन् ! यह बात आपने मुझे ठीक २ सुनाई, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २ ॥ हे उत्तम ब्राह्मण ! परन्तु सब यज्ञोंके विषयमें परम निश्चय किस प्रकार हो, यह मुझे पूर्णरूपसे बता देना चाहिये ॥ ३ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि-हे शत्रुदमन ! इस विषयमें भी पहले अगस्त्यके महायज्ञमें जो घटना हुई थी, उसका उदा-

वृत्तमरिन्दम ॥ ४ ॥ पुरागस्त्यो महातेजा दीक्षां द्वादशवार्षिकीम् । प्रविवेश महाराज सर्वभूतहिते रतः ॥ ५ ॥ तत्राग्निकल्पा होतार आसन् सत्रे महात्मनः । मूलाहारा: फलाहारा: साश्मकुट्टा मरीचिपाः ॥ ६ ॥ परिपृष्टिका वैघसिकास्तथाप्रसंख्यानास्तथैव च । यतयो भिक्षवश्चात्र बभूवुः पर्य्यवस्थिताः ॥७॥ सर्वे प्रत्यक्षधर्माणो जितक्रोधा जितेन्द्रियाः । दमे स्थिताश्च सर्वे ते हिंसादम्भविवर्जिताः ॥ ८ ॥ वृत्ते शुद्धे स्थिता नित्यमिन्द्रियैश्चाप्यबाधिताः । उपातिष्ठन्त तं यज्ञं यजन्तस्ते महर्षयः ॥ ९ ॥ यथा शक्त्या भगवता तदन्नं समुपार्जितम् । तस्मिन् सत्रे तु यद् वृत्तं यद्योग्यं च तदाभवत् ॥ १० ॥ तथा ह्यनेकैर्मुनिभिर्महान्तः कृतवः कृताः । एवं विधे त्वगस्त्यस्य वर्त्तमाने तथाध्वरे । न ववर्ष

हरण देते हैं ॥ ४ ॥ हे महाराज ! पहले सब प्राणियोंका हित करनेमें प्रीति करनेवाले महातेजस्वी अगस्त्यजीने बारह वर्षकी दीक्षा ली थी ॥५॥ उस यज्ञमें अग्निकी समान तेजस्वी महात्मा होता बने थे, कि–जो मूलोंका आहार करनेवाले, फल खाकर रहनेवाले, पत्थर पर कूट बीज निकालकर खानेवाले और सूर्यकी किरणोंको पीनेवाले थे ॥६॥ वहाँ ऐसे यति और भिक्षुक आकर चारों ओर बैठे थे, कि–जो बुलाकर दिये हुए अन्नको ही खाते थे, या भगवान्के नैवेद्यको ही खाते थे, तथा भोजनके समय ही अन्न लेते थे ॥ ७ ॥ वे सब प्रत्यक्ष धर्मरूप, क्रोधको जीतने वाले, जितेन्द्रिय, दमके साधक और हिंसा तथा पाखण्डके त्यागी थे ॥ ८ ॥ नित्य शुद्ध आचारका पालन करनेवाले और इन्द्रियों से पीडा न पानेवाले महर्षि उस यज्ञमें आये थे तथा वे यज्ञ कर रहे थे ॥ ९ भगवान् अगस्त्यजीने यज्ञके लिये यथाशक्ति, अन्न इकट्ठा किया था, उस यज्ञमें जो कुछ हुआ वह उस यज्ञके योग्य ही हुआ था ॥ १० ॥ तथा और भी बहुतसे मुनि ऐसे बड़े २

सहस्राक्षस्तदा भरतसत्तम ॥११॥ ततः कर्मान्तरे राजन्नगस्त्यस्य महात्मनः । कथेयमभिनिर्वृत्ता मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥ अगस्त्यो यजमानोऽसौ ददात्यन्नं विमत्सरः । न च वर्षति पर्जन्यः कथमन्नं भविष्यति ॥ १३ ॥ सत्रं चेदं महद्विप्रा मुने-र्द्वादशवार्षिकम् । न वर्षिष्यति देवश्च वर्षाण्येतानि द्वादश ॥१४॥ एतद्भवन्तः संचिन्त्य महर्षेरस्य धीमतः । अगस्त्यस्यातितपसः कर्त्तुमर्हन्त्यनुग्रहम् ॥ १५ ॥ इत्येवमुक्ते वचने ततोऽगस्त्यः प्रतापवान् ॥१६॥ प्रोवाच वाक्यं स तदा प्रसाद्य शिरसा मुनीन् । यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः॥१७॥चिन्तायज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः। यदि द्वादशवर्षाणि नावर्षिष्यति वासवः ॥१८॥

यज्ञ कर रहे थे, हे भरतसत्तम ! इसप्रकार अगस्त्यजीका यज्ञ चल रहा था उस समय इन्द्रने वर्षा नहीं की ॥ ११ ॥ हे राजन् ! कर्म होते २ भगवान्‌की भक्तिसे भरे अन्तःकरणवाले मुनियोंमें महात्मा अगस्त्यकी यह चर्चा होनेलगी, कि–॥ १२ ॥ यह यज-मान् अगस्त्य शुद्ध अन्तःकरणसे अन्न देता है और वर्षा नहीं होती, फिर अन्न कैसे होगा ? ॥ १३ ॥ हे ब्राह्मणो ! मुनिका यह महायज्ञ तो बारह वर्ष तक चलता रहेगा और यह इन्द्रदेव बारह वर्ष तक जल बरसावेंगे नहीं (तो फिर कैसे होगा ?)१४ इसलिये इसका विचार कर तुम्हें इस बडाभारी तप करनेवाले बुद्धिमान् महर्षि अगस्त्यके ऊपर अनुग्रह करना चाहिये ॥१५॥ वे आपसमें ऐसी चर्चा कररहे थे (यह समाचार पाकर) प्रतापी अगस्त्यने ॥ १६ ॥ उस समय शिर झुकाकर मुनियोंको प्रणाम करतेहुए यह बात कही, कि–यदि बारह वर्ष तक इन्द्र वर्षा नहीं करेगा तो ॥ १७ ॥ तो मैं चिन्तायज्ञ करूँगा (अर्थात् सङ्कल्प-मात्रसे देवताओंका तथा ऋषियोंका तर्पण करूँगा) यह भी एक सनातनकी विधि है, यदि बारह वर्ष तक इन्द्र वर्षा नहीं

स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः । यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः ॥ १९ ॥ ध्येयात्मना हरिष्यामि यज्ञानेतान्यतव्रतः । बीजयज्ञो मयायं वै बहुवर्षसमाचितः ॥२०॥ बीजैर्हि तं करिष्याम नात्र विघ्नो भविष्यति । नेदं शक्यं वृथा कर्तुं मम सत्रं कथञ्चन ॥२१॥ वर्षिष्यतीह वा देवो न वा वर्षं भविष्यति । अथवाभ्यर्थनामिन्द्रो न करिष्यति कामतः ॥ २२ ॥ स्वयमिन्द्रो भविष्यामि जीवयिष्यामि च प्रजाः । यो यदाहारजातश्च स तथैव भविष्यति ॥ २३ ॥ विशेषश्चैव कर्त्तास्मि पुनः पुनरतीव हि अद्येह स्वर्णमभ्येतु यच्चान्यद्वसु किञ्चन ॥ २४ ॥ त्रिषु लोकेषु यच्चास्ति तदिहागम्यतां स्वयम् । दिव्याश्चाप्सरसां संघा गन्धर्वाश्च सकिन्नराः ॥ २५ ॥ विश्वावसुश्च ये चान्ये तेप्युपासन्तु

करेगा तो ॥ १८ ॥ स्पर्शयज्ञ करूँगा (अर्थात् मिले हुए पदार्थों का व्यय न करके स्पर्शमात्रसे देवताओंका यजन करूँगा)यह भी एक सनातन विधि है,यदि बारह वर्ष तक इन्द्र वर्षा नहीं करेगा तो ॥१९॥ मैं व्रत नियम पालनेवाले आत्मासे ध्यानमात्र करके इन सब यज्ञोंको करलूँगा, यह मेरा बीजयज्ञ बहुत वर्षों तक चल सकता है ॥ २० ॥ (और उसमें) मैं बीज देकर ही हित करूँगा इसमें कोई विघ्न नहीं होगा, इस मेरे यज्ञको कोई किसीप्रकार भी वृथा नहीं करसकेगा ॥ २१ ॥ फिर इन्द्रदेव बरसे या न बरसे, इसकी मुझे परवाह नहीं है, अथवा यदि इन्द्र अपनी ही इच्छा से मेरी प्रार्थना पूरी नहीं करेगा तो ॥ २२ ॥ मैं स्वयं इन्द्र बन कर प्रजाको जिलाऊँगा, जो जिस आहारको खाकर जीता होगा उसको वही आहार मिलेगा ॥२३॥ मैं बार २ इससे भी बहुत विशेष कर सकता हूँ (मेरी शक्तिको देखो) आज सुवर्ण तथा और जो कुछ भी धन हो वह यहाँ चला आवे ॥ २४ ॥ तीनों लोकोंमें जो कुछ भी हो वह यहाँ अपने आप चला आवे, दिव्य

मे मखम् । उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च यत् किंचिद्वसु विद्यते ॥ २६ ॥
सर्वं तदिह यज्ञेषु स्वयमेवोपतिष्ठतु । स्वर्गः स्वर्गसदश्चैव धर्मश्च
स्वयमेव तु ॥२७॥ इत्युक्ते सर्वमेवैतदभवत्तपसा मुनेः।तस्य दीप्ताग्नि-
तपसस्त्व गस्त्यस्यातितेजसः ॥ २८ ॥ ततस्ते मुनयो हृष्टा दह-
शुस्तपसो बलम् । विस्मिता वचनं प्राहुरिदं सर्वे महार्थवत् २९
ऋषय ऊचुः । प्रीताः स्म तव वाक्येन न त्विच्छामस्तपोव्ययम् ।
तैरेव यज्ञैस्तुष्टाः स्म न्यायेनेच्छामहे वयम् ॥३०॥ यज्ञं दीक्षां तथा
होमान् यच्चान्यन्मृगयामहे । न्यायेनोपार्जिताहाराः स्वकर्माभि-
रता वयम् ॥ ३१ ॥ वेदांश्च ब्रह्मचर्येण न्यायतः प्रार्थयामहे ।
न्यायेनोत्तरकालञ्च गृहेभ्यो निःसृता वयम् ॥ ३१ ॥ धर्मदृष्टे-

अप्सराओंके समूह, किन्नर, गन्धर्व ॥ २५ ॥ विश्वावसु तथा दूसरे जो कोई भी हों वे सब मेरे यज्ञकी उपासना करें,उत्तरकी ओरको कुरुदेशमें जो कुछ भी धन हो ॥ २६ यह सब अपने आप यहाँ इस यज्ञमें आपड़े, स्वर्गकी सभा और स्वयं धर्म भी यहाँ आजाय ॥ २७ ॥ उन मुनिके ऐसा कहने पर अतितेजस्वी और जलते अग्निकी समान प्रकाशवाले अगस्त्यमुनिके तपोबल से वैसा ही होगया ॥२८॥ तदनन्तर प्रसन्न होते हुए मुनियोंने उनका तपोबल देखा, उस समय आश्चर्यमें हुए उन सबोंने बड़े अर्थसे भरी हुई यह बात कही, कि-॥ २९ ॥ तुम्हारी बातसे हम प्रसन्न हैं, हम तुम्हारे तपका व्यय होते नहीं देखना चाहते, उन यज्ञोंसे ही हम सन्तुष्ट होगए हैं, हम न्यायसे फल पाना चाहते हैं ॥ ३० ॥ यज्ञ, उसकी दीक्षा, होम तथा और जो कुछ भी हम खोजते हैं, उसको हम न्यायसे खोजते हैं, हम न्यायसे मिले पदार्थोंका भोजन करने वाले हैं और अपने २ कर्ममें प्रीति करनेवाले हैं ॥ ३१ ॥ ब्रह्मचर्यका पालन करके हम न्यायसे वेदों

र्विधिद्वारैस्तपस्तप्स्यामहे वयम् । भवतः सम्यगिष्टा तु बुद्धि-हिंसाविवर्जिता ॥३३॥ एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो। प्रीतास्ततो भविष्यामो वयन्तु द्विजसत्तम ॥ ३४ ॥ विसर्जिताः समाप्तौ च सत्रादस्माद् व्रजामहे । तथा कथयतां तेषां देवराजः पुरन्दरः ॥३५॥ ववर्ष सुमहातेजा दृष्ट्वा तस्य तपोबलम् । आसमाप्तेश्च यज्ञस्य तस्यामितपराक्रमः ॥३६॥ निकामवर्षी पर्ज्जन्यो बभूव जनमेजय । प्रसादयाम च तमगस्त्यं त्रिदशेश्वरः ॥ ३७ ॥ स्वयमभ्येत्य राजर्षे पुरस्कृत्य बृहस्पतिम् ॥ ३७ ॥ ततो यज्ञसमाप्तौ तान् विससर्ज्ज महामुनीन् । अगस्त्यः परमप्रीतः पूजयित्वा यथाविधि ॥ ३८ ॥ जनमेजय उवाच । कोऽसौ नकुलरूपेण

की प्रार्थना करते हैं और न्यायसे ही बादको हम घरमेंसे बाहर निकले हैं ॥ ३३ ॥ जिन्होंने विधिके द्वारसे धर्मको देखा है उनके साथ हम तप करेंगे, आपकी हिंसाको त्यागनेवाली बुद्धि हम अच्छे प्रकारसे चाहते हैं ॥ ३३ ॥ हे प्रभो ! तू यज्ञोंमें सदा इस अहिंसाका उपदेश देना, हे द्विजसत्तम ! इससे हम प्रसन्न हो जायँगे ॥ ३४ ॥ यज्ञकी समाप्ति होजाने पर तेरी आज्ञा पाकर हम यज्ञमेंसे जावेंगे इसप्रकार बातें कर रहे थे इतनेमें ही देवताओंका राजा इन्द्र ॥ ३५ ॥ जो बड़ा तेजस्वी था, वह अगस्त्यके तपोबलको देखकर जल बरसानेलगा, हे जनमेजय ! उसके यज्ञकी समाप्ति होनेके समय तक बड़े पराक्रमवाला मेघ इच्छानुसार वर्षा करनेलगा और हे राजर्षि ! स्वर्गपति इन्द्र बृहस्पतिको साथ लेकर तहाँ स्वयं आया और अगस्त्यको प्रसन्न किया ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ फिर यज्ञकी समाप्ति होते ही परमप्रसन्न हुए अगस्त्यने उन महामुनियोंकी विधिविधानसे पूजा करके उनको विदा करदिया ॥ ३८ ॥ जनमेजयने कहा, कि-इसप्रकार मनुष्यकी समान बोलनेवाला और जिसका सोनेका शिर था

शिरसा काञ्चनेन वै। ब्रूहि मानुषवद्वाचं येनत् पृष्टो वदस्व मे ॥३९॥
वैशम्पायन उवाच। एतत् पूर्वं न पृष्टोऽहं न चास्माभिः प्रभाषितम्।
श्रूयतां नकुलो योऽसौ यथा वाक् तस्य मानुषी ॥ ४० ॥ श्राद्धं
सङ्कल्पयामास जमदग्निः पुरा किल। होमधेनुस्तमागाच्च स्वयमेव
दुदोह ताम् ॥४१॥ ततपयः स्थापयामास नवे भाण्डे दृढे शुचौ।
तच्च क्रोधस्वरूपेण पिठरं धर्म्म आविशत् ॥ ४२ ॥ जिज्ञासुस्त-
मृषिश्रेष्ठं किं कुर्य्यात् विप्रिये कृते। इति सञ्चिन्त्य धर्म्मः स
धर्षयामास तत् पयः ॥ ४३ ॥ तमाज्ञाय मुनिः क्रोधं नैवास्य स
चुकोप ह। स तु क्रोधस्ततो राजन् ब्राह्मणीं मूर्त्तिमास्थितः।
जिते तस्मिन् भृगुश्रेष्ठमभ्यभाषदमर्षणः ॥ ४४ ॥ जितोऽस्मीति
भृगुश्रेष्ठ भृगवो ह्यतिरोषणाः। लोके मिथ्याप्रवादोयं यत्त्वयास्मि

वह नकुल कौन था, यह मैं बूझता हूँ, मुझे बताइये ॥ ३९ ॥
वैशम्पायनने कहा, कि-यह बात मुझसे पहले नहीं बूझी थी,
इसलिये मैंने नहीं कही थी, वह नौला जो इसप्रकार मनुष्यकी
वाणीमें बोलता था उसकी बात सुनो ॥ ४० ॥ एक समय जम-
दग्नि ऋषिने श्राद्ध करनेका सङ्कल्प किया था, उस समय उनके
होमकी गौ उनके पास आई और उन्होंने अपने आप उसको
दुह लिया ॥ ४१ ॥ उसके दूधको उन्होंने नए, मजबूत और
पवित्र पात्रमें रखदिया था, उस दूधके पात्रमें क्रोधका स्वरूप
धारण करके धर्म प्रवेश करगया ॥ ४२ ॥ उन श्रेष्ठ ऋषिका
अप्रिय काम करनेसे वह क्या करेंगे, धर्म यह देखना चाहता था,
इसलिये ऐसा विचारकर धर्मने उस दूधको (ढ़ोलकर) खराब
करदिया ॥४३॥ मुनिने उस क्रोधको पहचान लिया और उसके
ऊपर कोप नहीं किया, हे राजन्! तब क्रोधने ब्राह्मणीका स्वरूप
धारण किया, वह उसमें भी जीत गए तब क्रोधने उन भृगुओंमें
श्रेष्ठ पुरुषसे कहा, कि-॥ ४४ ॥ हे भृगुश्रेष्ठ! तुमने मुझे जीत

विनिर्जितः ॥४५॥ वशे स्थितोऽहं त्वय्यद्य क्षमावति महात्मनि। बिभेमि तपसः साधो प्रसादं कुरु मे प्रभो ॥४६॥ जमदग्निरुवाच। साक्षाद् दृष्टोऽसि मे क्रोध गच्छ त्वं विगतज्वरः। न त्वयापकृतं मेऽद्य न च मे मन्युरस्ति वै ॥४७॥ यान् समुद्दिश्य सङ्कल्पः पयसोऽस्य कृतो मया। पितरस्ते महाभागास्तेभ्यो बुध्यस्व गम्यताम्॥४८॥ इत्युक्तो जातसन्त्रासस्तत्रैवान्तरधीयत। पितृणामभिषङ्गाच्च नकुलत्वमुपागतः ॥४९॥ स तान् प्रसादयामास शापस्यान्तो भवेदिति। तैश्चाप्युक्तः क्षिपन् धर्मं शापस्यान्तमवाप्स्यसि ॥ ५० ॥ तैश्चोक्तो यज्ञियान् देशान् धर्मारण्यं तथैव च। जुगुप्समानो धावन् स तं यज्ञ

लिया, भृगुवंशी बड़े ही क्रोधी हैं यह जो लोग कहा करते हैं सो मिथ्या है, क्यों कि-तुमने मुझे जीतलिया है ॥ ४५ ॥ तुम क्षमावान् और बड़े आत्मावाले हो, हे साधो ! मैं तुम्हारे वशमें हुआ खड़ा हूँ, हे प्रभो ! मुझे तुम्हारे तपसे भय लगता है, इसलिये मेरे ऊपर कृपा करिये ॥ ४६ ॥ (जमदग्निने कहा, कि-) हे क्रोध ! मैंने तुझे साक्षात् देखलिया है, तू किसी प्रकारकी चिन्ता न कर और चलाजा, तूने आज मेरा कुछ अपराध नहीं किया है, इसलिये तेरे ऊपर मुझे कुछ क्रोध नहीं है ॥ ४७ ॥ जिनके लिये मैंने इस दूधका सङ्कल्प किया था वे पितर बड़े भाग्यशाली हैं, उनके पास जाकर बूझ कि-वे क्या चाहते हैं ॥४८॥ जमदग्निके ऐसा कहने पर त्रास पाया हुआ वह (क्रोधरूपधारी धर्म) तहाँ ही अन्तर्धान होगया और पितरोंके शापसे नकुल होगया ॥४९॥ उसने उनके शापका अन्त पानेकी उनसे प्रार्थनाकी और प्रसन्न किया, तब उन्होंने कहा, कि-धर्मका अपमान करनेसे तेरे शापका अन्त होजायगा ॥ ५० ॥ उनके ऐसा कहने पर वह यज्ञोंकी निन्दा करताहुआ, जहाँ यज्ञ होते थे उन स्थानोंमें तथा धर्मारण्यमें फिरता फिरता उस (युधिष्ठिरके) यज्ञमें आपहुँचा

समुपासदत् ॥५१॥ धर्मपुत्रमथाक्षिप्य सक्तुप्रस्थेन तेन सः। मुक्तः शापात्ततः क्रोधो धर्मो ह्यासीद् युधिष्ठिर ॥५२॥ एवमेत्तदावृत्ते यज्ञे तस्य महात्मनः। पश्यतां चापि नस्तत्र नकुलोऽन्तर्हितस्तदा॥५३॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अनुगीतापर्वणि

नकुलोपाख्याने द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

समाप्तमनुगीतापर्व

अथ वैष्णवधर्मपर्व ।

जनमेजय उवाच । अश्वमेधे पुरा वृत्ते केशवं केशिसूदनम् । धर्मसंशयमुद्दिश्य किमपृच्छत्पितामहः ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच पश्चिमेनाश्वमेधेन यदा स्नातो युधिष्ठिरः। तदा राजा नमस्कृत्य

था ॥ ५१ ॥ एक सेर सत्तुओंसे धर्मराजके ऊपर आक्षेप कर वह शापमेंसे छूटगया था, यह नकुल वह क्रोध था और युधिष्ठिर धर्म थे ॥ ५२ ॥ उन महात्माके यज्ञमें उस समय यह घटना हुई थी और हमारे सामने ही वह नकुल तहाँ अन्तर्धान होगया था ॥ ५३ ॥ बानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९२ ॥

वैष्णवधर्मपर्व

जनमेजयने बूझा कि-पहले अश्वमेध यज्ञ होचुकनेपर केशी दैत्यको मारनेवाले केशवसे मेरे पितामह (युधिष्ठिर) ने धर्मके विषयमें सन्देह होनेपर क्या प्रश्न किया था ? ॥ १ ॥

(१) यहाँसे लेकर पर्वसमाप्ति तकके २३ अध्याय बंबईके 'गणपतकृष्ण छापाखाना' के छपे महाभारतमें नहीं हैं, कुम्भघोण मदरासके टी० आर० कृष्णाचार्यके छपवाये मूल महाभारतमें हैं, जो कि-क्षेपकरूप मालूम होते हैं, परन्तु उपयोगी उपदेशमय होनेसे और जहाँ तहाँ इसके प्रमाण मिलनेसे हमने इस पुस्तकमें सम्मिलित करदिये हैं ।

केशवं पुनरब्रवीत् ॥ २ ॥ भगवन् वैष्णवा धर्माः किम्फलाः किम्परायणाः । किं धर्ममधिकृत्याथ भवतोत्पादिताः पुरा ॥ ३ ॥ यदि तेऽहमनुग्राह्यः प्रियोऽस्मि मधुसूदन । श्रोतव्या यदि मे कृष्ण तन्मे कथय सुव्रत ॥४॥ पवित्राः किल ते धर्माः सर्वपापप्रणाशनाः । सर्वधर्मोत्तमाः पुण्या भगवंस्त्वन्मुखोद्गताः ॥५॥ यान्श्रुत्वा ब्रह्महा गोघ्नो मातृहा गुरुतल्पगः । पाकभेदी कृतघ्नश्च सुरापो ब्रह्मविक्रयी ६ मित्रविश्वासघाती च वीरहा भ्रूणहा तथा । तपोविक्रयिणश्चैव दानविक्रयिणस्तथा ॥ ७ ॥ आत्मविक्रयिणो मूढा जीवन्त्यश्च विकर्मभिः । पापाः शठा नैकृतिका दाम्भिका दूषकास्तथा ॥ ८ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-अश्वमेधयज्ञके बाद अवभृथस्नान करके राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णको प्रणाम कर बूझनेलगे, कि-॥ २ ॥ हे भगवन् ! वैष्णवधर्मोंका क्या फल है, उनमें कौनसे देवताकी पूजा है और तुमने पहले कौनसे धर्मके लिये वैष्णवधर्मोंको उत्पन्न किया है ? ॥३॥ हे मधुसूदन ! यदि आपका मेरे ऊपर अनुग्रह हो, यदि मैं आपको प्रिय होऊँ और यदि वैष्णवधर्म मेरे सुनने योग्य हों तो हे सुन्दर व्रतधारी कृष्ण ! आप मुझे सुनाइये ॥४॥ हे भगवन ! आपके मुखमेंसे निकले हुए वे वैष्णव-धर्म वास्तवमें पवित्र हैं, सब पापोंका नाश करनेवाले और सब धर्मोंसे श्रेष्ठ हैं जिन धर्मोंको सुनकर ब्रह्महत्यारा, गोघातक, माता की हत्या करनेवाला, गुरुपत्नीसे समागम करने वाला, भोजनके पाकमें भेद करनेवाला (आप मिष्टान्न खाकर दूसरोंको सादा भोजन देनेवाला), कृतघ्नी, मद्यप, धन लेकर वेद पढ़ानेवाला ॥६॥ मित्रोंसे विश्वासघात करनेवाला, वीरहन्ता, गर्भपात करनेवाला अथवा वेदके किसी अङ्गको पढ़नेवालेकी हत्या करनेवाला, तप और दानको वेचनेवाले ॥ ७ ॥ अपने शरीरको वेचनेवाले, मूढ़, नीचकर्मसे आजीविका करनेवाले, पापी, शठ, कपटी, दम्भी,

रसभेदकरा ये च ये च स्युर्ब्रह्मघातकाः । शूद्रमेव्यकराश्चौरा विमा
ये च पुरोहिताः॥९॥निक्षेपहारिणः स्त्रीघ्नास्तथा ये पारदारिकाः१०
एते चान्ये च पापा ये मुच्यन्ते तेऽपि किल्विषात् । तानाचक्ष्व
सुरश्रेष्ठ स्वभक्तस्य ममाच्युत ॥११॥ वैशम्पायन उवाच । इत्येवं
कथिते देवे धर्मपुत्रेण संसदि । वशिष्ठाद्यास्तपोयुक्ता मुनयस्त-
त्त्वदर्शिनः ॥१२॥ श्रोतुकामाः परं गुह्यं वैष्णवं धर्ममुत्तमम् । तथा
भागवताश्चैव ततस्तं पर्यवारयन् ॥ १३ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
तत्त्वतस्तत्त्व भावेन पादमूलमुपागतम् । यदि जानासि मां भक्तं
स्निग्धं वा भक्तवत्सल ॥१४॥ धर्मगुह्यानि सर्वाणि वेत्तुमिच्छामि
तत्त्वतः । धर्मान् कथय मे देव यद्यनुग्रहभागहम् ॥ १५ ॥ श्रुता
मे मानवा धर्मा वाशिष्ठाः काश्यपास्तथा । गार्गीया गौतमीयाश्च

दोष लगानेवाले ॥ ८ ॥ पारा आदिको मारनेवाले, ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले, शूद्रोंके सेवक, चोर और पुरोहिताई करनेवाले, ब्राह्मण ॥९॥ धरोहड मार रखनेवाले, स्त्रीकी हत्या करनेवाले और परस्त्रीसे गमन करनेवाले ॥ १० ॥ ये तथा दूसरे भी जो पापी हों वे पापसे छूटजाते हैं, हे सुरवर अच्युत ! वे धर्म मुझ अपने भक्तको सुनाइये॥११॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–धर्मपुत्र युधिष्ठिरने सभामें श्रीकृष्णसे इस प्रकार प्रश्न किया, तब तत्त्व-वेत्ता तपस्वी वशिष्ठ आदिमुनि ॥ १२ ॥ तथा परम गोपनीय उत्तम वैष्णवधर्मोंको सुनना चाहनेवाले दूसरे भी तथा भक्तजन उनको चारों ओरसे घेरकर बैठगए ॥ १३ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे भक्तवत्सल ! मैं सच्चे भक्तिभावसे आपके चरणोंकी शरण में आया हूँ,यदि आप मुझे प्रेमी भक्त समझते हों॥१४॥तो मैं धर्मके सब रहस्योंको यथार्थ रीतिसे जानना चाहता हूँ, हे देव ! यदि मुझे अनुग्रहका पात्र समझते हों तो मुझसे वे धर्म कहिये॥१५॥ मनु, वशिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम तथा गोपालके कहेहुए धर्म मैंने

तथा गोपालकस्य च ॥ १६ ॥ पराशरकृताः पूर्वं मैत्रेयस्य च धीमतः । औमा माहेश्वराश्चैव नन्दिधर्माश्च पावनाः ॥ १७ ॥ ब्रह्मणा कथिता ये च कौमाराश्च श्रुता मया । धूमायनकृता धर्माः काण्डवैश्वानरा अपि ॥ १८ ॥ भार्गवा याज्ञवल्क्याश्च मार्कण्डेयकृता अपि । भारद्वाजकृता ये च बृहस्पतिकृताश्च ये ॥ १९ ॥ कुणेश्च कुणिवाहोश्च विश्वामित्रकृताश्च ये । सुमन्तुजैमिनिकृता शाकुनेयास्तथैव च ॥ २० ॥ पुलस्त्यपुलहोद्गीताः पावकीयास्तथैव च । अगस्त्यगीता मौद्गल्याः शाण्डिल्याः शलभायनाः ॥ २१ ॥ वालखिल्यकृता ये च ये च सप्तर्षिभिस्तथा । आपस्तम्बकृता धर्माः शंखस्य लिखितस्य च ॥ २२ ॥ प्राजापत्यास्तथा याम्या माहेन्द्राश्च श्रुता मया । वैयाघ्रव्यासकीयाश्च विभाण्डककृताश्च ये ॥ २३ ॥ नारदीयाः श्रुता धर्माः कापोताश्च श्रुता मया । तथा विदुरवाक्यानि भृगोरङ्गिरसस्तथा ॥ २४ ॥

सुने हैं ॥ १६ ॥ और मैंने पहले पराशरके कहे हुए धर्म, बुद्धिमान् मैत्रेयके कहे हुए धर्म, उमा और महेशके कहे हुये धर्म तथा नन्दीके कहे हुये धर्म भी सुने हैं ॥ १७ ॥ ब्रह्माके कहे हुये, कुमारके कहे हुये, धूमायनके कहे हुये और काण्डवैश्वानरके कहे हुये धर्म भी मैंने सुने हैं ॥ १८ ॥ भृगुके कहे हुये, याज्ञवल्क्यके कहे हुये, मार्कण्डेयके कहे हुये, भरद्वाजके कहे हुए और बृहस्पतिके कहे हुये धर्म भी मैंने सुने हैं ॥ १९ ॥ कुणि, कुणिवाहु, विश्वामित्र, सुमन्तु, जैमिनि तथा शकुनिके कहे हुये धर्म भी सुने हैं ॥ २० ॥ पुलस्त्य तथा पुलहके गाये हुये, अग्नि, अगस्त्य, मुद्गल, शाण्डिल्य, शलभायन तथा वालखिल्यके कहे हुये सप्तऋषियोंके कहे हुये, आपस्तम्ब, लिखित और शंखके कहे हुये धर्म ॥ २१–२२ ॥ प्रजापति, यम, महेन्द्र, व्याघ्र, व्यास और विभाण्डकके कहे हुये धर्म भी मैंने सुने हैं ॥ २३ ॥ नारदके कहे हुये धर्म मैंने सुने हैं, विदुरके वाक्य

क्रौञ्चा मृदङ्गगीताश्च सौर्या हारीतकाश्च येये पिशङ्गकृताश्चापि कापोतीयाः सुवालकाः ॥ २५ ॥ उद्दालककृता धर्मा औशनस्यास्तथैव च । वैशम्पायनगीताश्च ये चान्येप्येवमादितः ॥ २६ ॥ एतेभ्यः सर्वधर्मेभ्यो देव त्वन्मुखनिःसृताः । पावनत्वात्पवित्रत्वाद्विशिष्टा इति मे मतिः ॥ २७ ॥ तस्माद्धि त्वां प्रपन्नस्य त्वद्भक्तस्य च केशव । युष्मदीयान् वरान् धर्मान् पुण्यान् कथय मेऽच्युत ॥ २८ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवं पृष्टस्तु धर्मज्ञो धर्मपुत्रेण केशवः । उवाच धर्मान् सूक्ष्मार्थान् धर्मपुत्रस्य हर्षितः २९ एवं ते यस्य कौन्तेय यत्नो धर्मेषु सुव्रत । तस्य ते दुर्लभो लोके न कश्चिदपि विद्यते ॥ ३० ॥ धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा कथितो वा

सुने हैं तथा भृगु और अङ्गिराके कहे हुये धर्म भी मैंने सुने हैं २४ क्रुञ्चके कहे धर्म, मृदङ्गके कहे धर्म, सूर्यके कहे धर्म, हारीतके कहे धर्म, पिशङ्गके कहे हुये, कपोतके कहे हुये, सुवालकके कहे हुये, उद्दालके कहे हुए, शुक्रके, वैशम्पानके और तथा दूसरोंके कहे हुए धर्म भी आदिसे सुने हैं ॥ २५-२६ ॥ हे देव ! इन सब धर्मोंकी अपेक्षा आपके मुखमेंसे निकले हुए धर्म पावन और पवित्र करनेवाले होनेसे मेरी समझमें उत्तम हैं, इसलिये हे केशव! हे अच्युत ! आपके पास आये हुए इस भक्तको आपके जो पवित्र और उत्तम धर्म हैं वह मुझे सुनाइये ॥ २७-२८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-धर्मको जाननेवाले धर्मपुत्र युधिष्ठिरने धर्मको जाननेवाले केशवसे यह प्रश्न किया, तब केशवने प्रसन्न होकर धर्मपुत्रसे सूक्ष्म विषयवाला धर्म कहना आरम्भ करदिया॥२९॥ हे सुन्दर आचरणवाले ! हे कुन्तीके पुत्र ! धर्मके लिये तेरा ऐसा उद्योग है, इसलिये तुझे जगमें कोई पदार्थ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ३० ॥ हे राजेन्द्र ! धर्मको सुननेसे, कोई यज्ञ याग करता हो उस समय उसका दर्शन

कृतोऽपि वा । अनुमोदितो वा राजेन्द्र नयतीन्द्रपदं नरम् ॥३१॥ धर्मः पिता च माता च धर्मो नाथः सुहृत्तथा । धर्मो भ्राता सखा चैव धर्मः स्वामी परन्तप ॥३२॥ धर्मादर्थश्च कामश्च धर्माद्भोगाः सुखानि च । धर्मादैश्वर्यमेवाग्र्यं धर्मात्स्वर्गगतिः परा॥३३॥धर्मोऽयं सेवितः शुद्धस्त्रायते महतो भयात् । धर्माद् द्विजत्वं देवत्वं धर्मः पावयते नरम् ॥ ३४ ॥ यदा च क्षीयते पापं कालेन पुरुषस्य तु। तदा संजायते बुद्धिर्धर्मं कर्त्तुं युधिष्ठिर ॥ ३५ ॥ जन्मान्तरसहस्रैस्तु मनुष्यत्वं हि दुर्लभम् । तद्गत्वापीह यो धर्मं न करोति स वञ्चितः३६कुत्सिता ये दरिद्राश्च विरूपा व्याधितास्तथा।परद्वेष्याश्च मूर्खाश्च न तैर्धर्मः कृतः पुरा३७ ये च दीर्घायुषः शूराः पण्डिता

करनेसे, दूसरोंको धर्मका उपदेश देनेसे, धर्माचरण करनेसे, कोई धर्माचरण करता हो उसकी प्रशंसा करनेसे, धर्म मनुष्यको स्वर्गमें लेजाता है ॥ ३१ ॥ धर्म पिता है, धर्म माता है, धर्म नाथ है, धर्म मित्र है, धर्म भ्राता है, धर्म सखा है और हे परन्तप ! धर्म ही स्वामी है ॥ ३२ ॥ धर्मसे अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, धर्मसे भोग और सुख मिलते हैं, धर्मसे उत्तम ऐश्वर्य मिलता है, धर्मसे उत्तम स्वर्गगति मिलती है ॥३३॥ सेवा किया हुआ यह शुद्ध धर्म महाभयसे रक्षा करता है, धर्मसे द्विजभाव और देवभाव प्राप्त होता है, धर्म मनुष्यको पवित्र करता है ॥ ३४ ॥ पुरुषका पाप जब समय पाकर क्षीण होजाता है, तब हे युधिष्ठिर ! मनुष्यकी बुद्धि धर्माचरण करनेमें लगती है ॥ ३५ ॥ हजारों जन्मोंमें भी मनुष्यपना दुर्लभ है, उस मनुष्य जन्मको पाकर भी जो धर्म नहीं करता है वह आप ही अपने आपको धोखा देता है ॥ ३६ ॥ लोगोंमें निन्दा पाने वाले, दरिद्र, कुरूप, रोगी, दूसरोंके द्वेषपात्र और मूर्ख इन छः पुरुषोंने पहले धर्माचरण नहीं किया है, (ऐसा समझो) ॥ ३७ ॥ परन्तु जो बड़ी आयु

भोगिनस्तथा । नीरोगा रूपसम्पन्नास्तैर्धर्मः सुकृतः पुरा ॥३८॥ एवं धर्मः कृतः शुद्धो नयते गतिमुत्तमाम् । अधर्मं सेवते यस्तु तिर्यग्योन्यां पतत्यसौ ॥ ३९ ॥ इदं रहस्यं कौन्तेय शृणु धर्ममनुत्तमम् । कथयिष्ये परं धर्मं तव भक्तस्य पाण्डव ॥४०॥ इष्टस्त्वमसि मेऽत्यर्थं प्रपन्नश्चापि मां सदा । परमार्थमपि ब्रूयां किं पुनर्धर्मसंहिताम् ॥ ४१ ॥ इदम्मे मानुषं जन्म कृतमात्मनि मायया । धर्मसंस्थापनार्थाय दुष्टानां नाशनाय च ॥४२॥ मानुष्यं भावमापन्नं ये मां गृह्णन्त्यवज्ञया । संसारान्तर्हि ते मूढास्तिर्यग्योनिष्वनेकशः॥४३ ये च मां सर्वभूतस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा । मद्भक्तास्तान् सदा युक्तान् मत्समीपं नयाम्यहम् ॥ ४४ ॥ मद्भक्ता न विनश्यन्ति

वाले, शूर, पण्डित, भोग भोगने वाले, नीरोग और रूपवान् हैं इन छःप्रकारके पुरुषोंको पहिले जन्मोंके धर्माचरण करनेवाले जानो ॥ ३८ ॥ इस प्रकार जो शुद्ध धर्मका आचरण करता है वह उत्तम गतिको पाता है और जो अधर्मका आचरण करता है वह पक्षीकी योनिमें जन्म लेता है ॥ ३९ ॥ हे पाण्डव ! हे कुन्तीनन्दन ! तू वैष्णवधर्मके सबसे उत्तम रहस्यको सुन, अब तुझ श्रेष्ठ भक्तसे मैं परम धर्म कहूँगा ॥ ४० ॥ तू मुझे बडा प्यारा है और सदा मेरी शरणमें रहा है, इसलिये धर्मसंहिता तो क्या, परन्तु परमार्थ विषय भी कहूँगा ॥४१॥ धर्मकी स्थापना करनेके लिये तथा दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैंने यह मायासे मनुष्यका अवतार धारण किया है ॥४२॥ जो मनुष्यका अवतार धारण करनेवाले मेरा अपमान करते हैं वे मूढ़ पुरुष इस संसारमें पशुपक्षियोंकी अनेकों योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ ४३ ॥ परन्तु जो ज्ञानरूप नेत्रसे मुझे सब प्राणियोंमें विद्यमान देखता है वह मेरा भक्त सदा मुझमें लगा रहनेवाला है और ऐसोंको मैं अपने पास बुलालेता हूँ ॥४४॥

मद्भक्ता वीतकल्मषाः । मद्भक्तानां तु मानुष्ये सफलं जन्म पाण्डव ॥ ४५ ॥ अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः पाण्डुनन्दन । मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा । जन्मान्तरसहस्रेषु तपसा भावितात्मनाम् । भक्तिरुत्पद्यते तात मनुष्याणां न संशयः॥४७॥ यच्च रूपं परं गुह्यं कूटस्थमचलं ध्रुवम् । न दृश्यते तथा देवैर्मद्भक्तैर्दृश्यते यथा ॥ ४८ ॥ अपरं यच्च मे रूपं प्रादुर्भावेषु दृश्यते । तदर्चयन्ति सर्वार्थैः सर्वभूतानि पाण्डव ॥४९॥ कल्पकोटिसहस्रेषु व्यतीतेष्वागतेषु च । दर्शयामीह तद्रूपं यच्च पश्यन्ति मे सुराः॥५०॥ स्थित्युत्पत्त्यप्ययकरं यो मां ज्ञात्वा प्रपद्यते । अनुगृह्णाम्यहं तं वै संसारान्मोचयामि च ॥ ५१ ॥ अहमादिर्हि देवानां स्रष्टा ब्रह्मा-

---

मेरे भक्तका नाश नहीं होता है, मेरे भक्त पापरहित होते हैं; हे पाण्डव ! मेरे भक्तोंका मनुष्योंमें जन्म सफल है ॥ ४५ ॥ हे पाण्डुनन्दन ! मेरे भक्तोंसे (अनिच्छामें) पापकर्म बनजाता है तो जैसे कमलका पत्ता पानीसे लिप्त नहीं होता है तैसे ही मेरे भक्त सकल पापोंसे लिप्त नहीं होते हैं ॥४६॥ हे तात ! मनुष्य हजारों जन्म तक तप करके आत्माको तृप्त करते हैं उस समय उनके हृदयमें भक्ति उत्पन्न होती है, इसमें सन्देह नहीं है॥४७॥ परम गोपनीय, कूटस्थ, अचल और ध्रुव मेरे स्वरूपको भक्त जिस प्रकार देखपाते हैं उस प्रकार देवता भी नहीं देख सकते ॥४८॥ मेरे अवतारोंमें मेरे जिस रूपका दर्शन होता है उस रूपकी हे पांडव! वे सब प्राणी सकल प्रकारके पदार्थोंसे पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥ करोड़ों और हजारों कल्प बीत गये हैं और आनेवाले है उनमें देवता मेरे जिस रूपका दर्शन करते हैं उस रूपका मैं इस जगत्‌में सबको दर्शन देता हूँ५०जो मनुष्य जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले मुझे यथार्थ रीतिसे जानकर मेरी शरणमें आता है उसके ऊपर मैं अनुग्रह करता हूँ और संसारसे मुक्त करदेता हूँ॥५१॥

दयो मया । प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य जगत् सर्वं सृजाम्यहम् ॥ ५२ ॥
तमोमूलोऽहमव्यक्तो रजोमध्ये प्रतिष्ठितः । ऊर्ध्वं सत्त्वं विना लोभं
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५३ ॥ मूर्द्धानं मे विद्धि दिवं चन्द्रादित्यौ
च लोचने । गावोऽग्निर्ब्राह्मणो वक्त्रं मारुतः श्वसनश्च मे ॥५४॥
दिशो मे बाहवश्चाष्टौ नक्षत्राणि च भूषणम् । अन्तरिक्षमुरो विद्धि
सर्वभूतावकाशकम् । मार्गो मेघानिलाभ्यान्तु पन्थमोदरमव्ययम् ५५
पृथिवीमण्डलं यद्वै द्वीपार्णववनैर्युतम् । सर्वसंधारणोपेतं पादौ
मम युधिष्ठिर ॥ ५६ ॥ स्थितो ह्येकगुणः खेऽहं द्विगुणश्चास्मि
मारुते । त्रिगुणोऽग्नौ स्थितोऽहं वै सलिले च चतुर्गुणः ॥५७॥
शब्दाद्या ये गुणाः पञ्च महाभूतेषु पञ्चसु । तन्मात्रासंस्थितः सोऽहं
पृथिव्यां पञ्चधा स्थितः ॥ ५८ ॥ अह सहस्रशीर्षस्तु सहस्रवदने-

मैं देवताओंका आदि हूँ, मैंने ब्रह्मादिको उत्पन्न किया है, मैं अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर इस सब जगत्को रचता हूँ ५२ मैं तमोगुणका मूल हूँ, अव्यक्त हूँ, रजोगुणमें भी मैं बसरहा हूँ, ऊपरके भागमें सत्त्वगुणमें रहता हूँ, मैं लोभसे दूर हूँ और ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सबमें व्याप रहा हूँ ॥ ५३ ॥ स्वर्गको मेरा शिर जानो, चन्द्रमा और सूर्य मेरे नेत्र हैं, गौ,अग्नि और ब्राह्मण मेरा मुख है तथा वायु मेरा श्वास है॥५४॥ आठों दिशाएँ मेरी भुजा हैं, तारागण मेरा गहना हैं और सब प्राणियोंके अवकाश देनेवाले आकाशको मेरी छाती जानो, तथा मेघोंका और पवनोंका मार्ग मेरा अविनाशी पेट है ॥५५॥ हे युधिष्ठिर ! सबको धारण करनेवाला, द्वीप, समुद्र और पर्वतोंसे भराहुआ यह भूमण्डल मेरे दो चरण हैं ॥ ५६ ॥ मैं आकाशमें एकगुण और पवनमें द्विगुण हूँ, अग्निमें त्रिगुण हूँ और जलमें चतुर्गुण हूँ ॥ ५७ ॥ पञ्च महाभूतोंमें जो शब्दादि पाँच गुण हैं, उन सब तन्मात्राओंमें मैं रहता हूँ, मैं पृथिवीमें पाँच स्वरूपसे रहता हूँ ॥ ५८ ॥ मेरे

नणः । सहस्रबाहूदरधृक् सहस्रोरु सहस्रपात् ॥ ५६ ॥ धृत्वोर्वीं सर्वतः सम्यगत्यतिष्ठं दशाङ्गुलम् । सर्वभूतात्मभूतस्थः सर्वव्यापी ततोऽस्म्यहम् ॥६०॥ अचिन्त्योऽहमनन्तोऽहमजरोऽहमजो ह्यहम् । अनाद्योऽहमवध्योऽहमप्रमेयोऽहमव्ययः ॥६१॥ निर्गुणोऽहं निगूढात्मा निर्द्वन्द्वो निर्ममो नृप । निष्कलो निर्विकारोऽहं निदानममृतस्य तु ॥ ६२ ॥ सुधा चाहं स्वधा चाहं स्वाहा चाहं नराधिप । तेजसा तपसा चाहं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ ६३ ॥ स्नेहपाशगुणैर्बध्वा धारयाम्यात्ममायया । चातुराश्रमधर्मोऽहं चातुर्होत्रः फलाशनः । चतुर्मूर्तिश्चतुर्यज्ञश्चतुराश्रमभावनः ॥ ६४ ॥ संहृत्याहं जगत् सर्वं कृत्वा वै गर्भमात्मनः । शयामि दिव्ययोगेन प्रलयेषु युधि-

सहस्र मस्तक हैं, सहस्र मुख और नेत्र हैं, मैं हजार बाहु और पेटवाला हूँ, हजार जङ्घा और हजार चरणोंवाला हूँ ॥ ५६ ॥ सब पृथिवीको चारोंओरसे धारण करके नाभिसे ऊपर दश अंगुल स्थान (हृदय) में रहता हूँ सब प्राणियोंका आत्मारूप हूँ इसलिये मैं सब प्राणियोंमें व्याप रहा हूँ ॥ ६० ॥ मैं चिन्तवनमें नहीं आसकता, क्यों कि-अनन्त हूँ, मैं अजर, अजन्मा, अनादि, अवध्य, अप्रमेय और अव्यय हूँ ॥ ६१ ॥ हे राजन् ! मैं निर्गुण, निगूढरूप, निर्द्वन्द्व, ममतासे रहित, विभागोंसे रहित, निर्विकार और मोक्षका आदिकारण हूँ ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! मैं सुधा, स्वधा और स्वाहा हूँ, मैं तेजसे तथा तपसे चारों प्रकारके प्राणियोंको, स्नेहकी पाशरूप गुणों (डोरी) से बाँधकर अपनी मायासे धारण कररहा हूँ मैं चारों आश्रमवाले धर्मकी रक्षा करता हूँ चार होताओंवाले यज्ञके फलको भोगता हूँ (संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न इन) चार मूर्तियोंमें रहता हूँ, मैं चार यज्ञस्वरूप हूँ और चार आश्रमोंपर मेरा प्रेम है ६३ ६४ हे युधिष्ठिर ! मैं जगत्का संहार करके और उसको अपने उदरमें

ष्ठिर ॥ ६५ ॥ सहस्रयुगपर्यन्तां ब्राह्मीं रात्रिं महार्णवे । स्थित्वा सृजामि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च ॥६६॥ कल्पे कल्पे च भूतानि संहरामि सृजामि च । न च मां तानि जानन्ति मायया मोहितानि मे ॥ ६७ ॥ मम चैवान्धकारस्य मार्गितव्यस्य नित्यशः । प्रशान्तस्येव दीपस्य गतिर्नैवोपलभ्यते ॥ ६८ ॥ न तदस्ति क्वचित्राजन् यत्राहं न प्रतिष्ठितः । न च तद् विद्यते भूतं नृप यन्न प्रतिष्ठितम् ॥६९॥ यावन्मित्रं भवेद्‌ भूतं स्थूलंसूक्ष्ममिदं जगत् । जीवभूतो ह्यहं तस्मिंस्तावन्मात्रं प्रतिष्ठितः ॥ ७० ॥ किञ्चात्र बहुनोक्तेन सत्यमेतद् ब्रवीमि ते । यद्भूतं यद्भविष्यञ्च तत्सर्वमहमेव तु ७१ मया सृष्टानि भूतानि मन्मयानि च भारत । मामेव न विजानन्ति

धारण करके दिव्य योगबलसे प्रलयके समय शयन करता हूँ ६५ एक हजार युगवाली ब्रह्माकी रात्रि भर महासागरमें रहकर स्थावर और जङ्गम प्राणियोंको रचता हूँ ॥ ६६ ॥ कल्पकल्प में प्राणियोंका संहार और फिर सृष्टि करता हूँ, परन्तु वे मेरी मायासे मोहित होनेके कारण मुझे जानते नहीं ॥६७॥ अन्धकाररूप तथा नित्य खोजने योग्य मेरी गति, शान्त दीपककी गतिकी समान जानी नहीं जाती ॥ ६८ ॥ हे राजन् ! कहीं कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, कि–जिसमें मेरा वास न हो और ऐसा भी कोई प्राणी नहीं है जो मुझमें स्थित न हो ६९ ॥ यह स्थूल तथा सूक्ष्मरूप जगत् जहाँसे मैत्रीभावसे आपसमें जुड़ाहुआ है तहाँ तक मैं सबमें जीवरूपसे रहता हूँ ॥ ७० ॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ है, मैं तुमसे सत्य ही कहता हूँ, कि–जो भूतकालरूप तथा भविष्यत् कालरूप है वह सब मैं स्वयं ही हूँ ॥७१॥ हे भरतवंशी राजन् ! मैंने सब प्राणियोंको उत्पन्न किया है वे मेरा स्वरूप हैं, परन्तु मेरी माया से मोहित होरहे हैं, वे मुझे जानते नहीं ॥ ७२ ॥ हे राजन् !

मायया मोहितानि वै ॥ ७२ ॥ एवं सर्वं जगदिदं सदेवासुरमानुषम् । मत्तः प्रभवते राजन्मय्येव प्रविलीयते ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि
श्रीकृष्णयुधिष्ठिरसम्वादे त्रिनवतितमोऽध्यायः ९३

वैशम्पायन उवाच । एवमात्मोद्भवं सर्वं जगदुद्दिश्य केशवः । धर्मात्मजस्याथ पुण्यानकथयत्प्रभुः ॥ १ ॥ शृणु पाण्डव तत्त्वेन पवित्रं पापनाशनम् । कथ्यमानं मया पुण्यं धर्मशास्त्रफलं महत् ॥ २ ॥ यः शृणोति शुचिर्भूत्वा एकचित्तस्तपोयुतः । स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं धर्म्यं ज्ञेयं युधिष्ठिर ॥ ३ ॥ श्रद्दधानस्य तस्येह यत्पापं पूर्वसञ्चितम् । विनश्यत्याशु तत्सर्वं मद्भक्तस्य विशेषतः ॥४ वैशम्पायन उवाच । एवं श्रुत्वा वचः पुण्यं सत्यं केशवभाषितम् । प्रहृष्टमनसो भूत्वा चिन्तयन्तोऽद्भुतं परम् ॥ ५ ॥ देवब्रह्मर्षयः

देवता, असुर और मनुष्योंवाला यह जगत् इस प्रकार मुझसे उत्पन्न होता है और मुझमें लय होजाता है ॥७३॥ तिरानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९३ ॥ * * *

वैशम्पायन कहते हैं, कि– प्रभु केशव इस प्रकार अपनेसे उत्पन्न हुए सब जगत्का वर्णन करके धर्मपुत्रसे पवित्रधर्म कहने लगे ॥१॥ हे पाण्डव ! पवित्र और पापोंका नाश करनेवाला धर्मशास्त्रका महान् फल मैं तुमसे कहता हूँ, उसको सुन ॥ २ ॥ हे युधिष्ठिर! स्नान कर पवित्र होकर मनकी एकाग्रताके साथ तपस्याका आरम्भ करके स्वर्ग, यश और आयु देनेवाले इस धर्मको जो सुनता है ॥ ३ ॥ उस श्रद्धालु पुरुषके पहले जन्ममें में इकट्ठे हुए पाप झट नष्ट होजाते हैं, तिस पर भी मेरे भक्तके पाप तो विशेषकर नष्ट होजाते हैं ॥ ४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–केशवके ऐसे पवित्र और सत्य भाषणको सुनकर वह मनमें बहुत ही प्रसन्न होते हुए परम अद्भुत बातका विचार करने

सर्वे गन्धर्वाप्सरसस्तथा। भूता यक्षग्रहाश्चैव गुह्यका भुजगास्तथा ॥ ६ ॥ वालखिल्या महात्मानो योगिनस्तत्त्वदर्शिनः। तथा भागवताश्चापि पञ्चकालमुपासकाः ॥७॥ कौतूहलसमाविष्टाः प्रहृष्टेन्द्रियमानसाः। श्रोतुकामाः परं धर्मं वैष्णवं धर्मशासनम्। हृदि कर्तुञ्च तद्वाक्यं प्रणेमुः शिरसा नताः ॥८॥ ततस्तान् वासुदेवेन दृष्टान् दिव्येन चक्षुषा। विमुक्तपापानालोक्य प्रणम्य शिरसा हरिम्। पप्रच्छ केशवं धर्मं धर्मपुत्रः प्रतापवान् ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच। कीदृशी ब्राह्मणस्याथ क्षत्रियस्यापि कीदृशी। वैश्यस्य कीदृशी देव गतिः शूद्रस्य कीदृशी ॥ १० ॥ कथं बध्येत पाशेन ब्राह्मणस्तु यमालये। क्षत्रियो वाथ वैश्यो वा शूद्रो वा बध्यते कथम्। एतत्कर्मफलं ब्रूहि लोकनाथ नमोऽस्तु ते ॥ ११ ॥ वैश-

लगे ॥ ५ ॥ देवर्षि, ब्रह्मर्षि, गन्धर्व, अप्सरा, भूत, यक्ष, ग्रह, गुह्यक, सर्प ॥ ६ ॥ महात्मा वालखिल्य, तत्त्ववेत्ता योगी, तथा पाँचकाल (प्रभात, संगमकाल, मध्याह्न, अपराह्न और सायङ्काल) उपासना करनेवाले भक्त कुतूहलमें होगये, उनकी इन्द्रियें और मन प्रसन्न होगये और वैष्णवधर्मको सुननेकी इच्छासे तथा भगवान्की बातको हृदयमें धारण करनेके लिये शिर झुका कर प्रणाम किया ॥ ७-८ ॥ फिर वासुदेवने दिव्य नेत्रसे उनकी ओरको देखा तो वे पापरहित हरिको शिर झुकाकर प्रणाम करते हुए देखनेमें आये, तदनन्तर प्रतापी धर्मपुत्र श्रीकृष्णसे धर्म के विषयमें प्रश्न करने लगे ॥ ९ ॥ युधिष्ठिरने बूझा कि-हे देव! ब्राह्मणकी गति कैसी होती है? क्षत्रियकी गति कैसी होती है? वैश्यकी गति कैसी होती है? और शूद्रकी गति कैसी होती है? ब्राह्मण यमलोकमें यमकी पाशसे क्यों बँधता है? क्षत्रिय यमकी पाशसे किस लिये बँधता है, वैश्य यमकी फाँसी में क्यों बँधता है और शूद्र यमकी फाँसीमें क्यों बँधता है? हे लोक-

म्पायन उवाच। पृष्टोऽथ केशवो ह्येवं धर्मपुत्रेण धीमता। उवाच संसारगतिं चातुर्वर्ण्यस्य कर्मणाम् ॥ १२ ॥ भगवानुवाच। शृणु वर्णक्रमेणैव धर्मं धर्मभृताम्वर। नास्ति किञ्चिन्नरश्रेष्ठ ब्राह्मणस्य तु दुष्कृतम् ॥१३॥ शिखायज्ञोपवीता ये सन्ध्यां ये चाप्युपासते। यैश्च पूर्णाहुतिः प्राप्ता विधिवज्जुह्वते च ये ॥ १४ ॥ वैश्वदेवं च ये चक्रुः पूजयन्त्यतिथींश्च ये। नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च जपयज्ञपराश्च ये ॥ १५ ॥ सायं प्रातर्हुताशाश्च शूद्रभोजनवर्जिताः। दम्भानृतविमुक्ताश्च स्वदारनिरताश्च ये। पञ्चयज्ञपरा ये च येऽग्निहोत्रमुपासते ॥ १६ ॥ दहन्ति दुष्कृतं येषां हूयमानास्त्रयोऽग्नयः। नष्टदुष्कृतकर्माणो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ १७ ॥ ब्रह्म-

---

नाथ! इनके कर्मके फलको कहिये, आपको प्रणाम है ॥ ११ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—बुद्धिमान् धर्मपुत्रने कृष्णसे यह प्रश्न किया, तब वह चारों वर्णोंकी कर्मसे होनेवाली गतिको कहने लगे ॥१२॥ भगवान्‌ने कहा, कि हे धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ! तू वर्णनके क्रमसे ही धर्मको सुन, हे नरश्रेष्ठ! ब्राह्मणका किसी प्रकारका भी पाप नहीं है ॥१३॥ जो ब्राह्मण शिखा और यज्ञोपवीतको धारण करते हैं, जो (तीनकालका) सन्ध्यावन्दन करते हैं, जो पूर्णाहुति देते हैं और विधिपूर्वक अग्निमें होम करते हैं ॥ १४ ॥ जो ब्राह्मण वैश्वदेव करते हैं और अतिथियोंकी पूजा करते हैं, जो नित्य स्वाध्याय करते हैं और नित्य गायत्रीका जपरूप यज्ञ करते हैं १५ जो ब्राह्मण सायङ्काल और प्रातःकालके समय अग्निमें होम करके भोजन करते हैं, जो शूद्रका अन्न नहीं खाते, जो दम्भ और मिथ्याभाषण नहीं करते तथा जो अपनी स्त्रीमें परायण रहते हैं, जो पञ्चयज्ञ करते हैं और अग्निहोत्रकी उपसना करते हैं १६ होमी जाती हुई (दक्षिणा, गार्हपत्य और आहवनीय ये) तीन अग्नियें जिनके पापोंको भस्म करदेती हैं वे ब्राह्मण पापरहित

लोके पुनः कामं गन्धर्वैर्ब्रह्मगायकैः। उद्गीयमानाः प्रयतैः पूज्य-
मानाः स्वयम्भुवा। ब्रह्मलोके प्रमोदन्ते यावदाभूतसम्प्लवम् १८
क्षत्रियोऽपि स्थितो राज्ये स्वधर्मपरिपालकः। सम्यक् प्रजाः
पालयित्वा षड्भागनिरतः सदा॥१९॥ यज्ञदानरतो धीरः स्वदार-
निरतः सदा। शास्त्रानुसारी तत्त्वज्ञः प्रजाकार्यपरायणः॥२०॥
विप्रेभ्यः कामदो नित्यं भृत्यानां भरणे रतः। सत्यसन्धिः शुचि-
र्नित्यं लोभदम्भविवर्जितः। क्षत्रियोऽप्युत्तमां याति गतिं देवनि-
षेविताम्॥ २१॥ तत्र दिव्याप्सरोभिस्तु गन्धर्वैश्च विशेषतः।
सेव्यमानो महातेजा क्रीडते शक्रपूजितः॥ २२॥ चतुर्युगानि वै
विंशत् क्रीडित्वा तत्र देववत्। इह मानुष्यलोके तु चतुर्वेदी द्विजो

होकर ब्रह्मलोकमें जाते हैं॥ १७॥ ब्रह्मलोकमें गन्धर्व तथा वेद पढ़नेवाले ब्राह्मण सावधान होकर उनकी अच्छे प्रकारसे स्तुति करते हैं और ब्रह्माजी उनकी पूजा करते हैं वे जगत्के प्रलयकाल तक आनन्दसे ब्रह्मलोकमें रहते हैं १८जो क्षत्रिय भी राज्यमें रह कर अपने धर्मका पालन करता है, प्रजाका अच्छे प्रकारसे पालन करता है, सदा प्रजासे करस्वरूपमें छठा भाग लेकर आनन्द मानता है॥ १९॥ यज्ञ करता है, दान देता है धीरजके साथ रहता है सदा अपनी स्त्रीमें तत्पर रहता है, शास्त्रके अनुसार चलता है, तत्त्वको जानता है, प्रजाके काम करने पर ध्यान देता है॥२०॥ ब्राह्मणोंकी कामनाओंको नित्य पूरी करता है, सेवक आदि पोष्योंका भरणपोषण करनेमें तत्पर रहता है, सच्ची प्रतिज्ञा करता है, पवित्र रहता है सदा दम्भ और लोभसे बचा रहता है, ऐसा क्षत्रिय भी देवताओंसे सेवित उत्तमगति (स्वर्ग) को पाता है॥ २१॥ वहाँ दिव्य अप्सराएँ और गन्धर्व उसकी सेवा विशेष रूपसे करते हैं और उस महातेजस्वी क्षत्रियकी इन्द्र पूजा करता है॥ २२॥ स्वर्गमें एक सौ बीस युग तक

भवेत् ॥ २३ ॥ कृषिगोपालनिरतो धर्मान्वेषणतत्परः । दान-
धर्मेपि निरतो विप्रशुश्रूषकस्तथा ॥ २४ ॥ सत्यसन्धः शुचिर्नित्यं
लोभदम्भविवर्जितः । ऋजुः स्वदारनिरतो हिंसाद्रोहविवर्जितः २५
वणिग्धर्मान्न मुञ्चन् वै देवब्राह्मणपूजकः । वैश्यः स्वर्गति-
माप्नोति पूज्यमानोऽप्सरोगणैः ॥ २६ ॥ चतुर्युगानि वै त्रिंशत्
क्रीडित्वा दश पञ्च च । इह मानुष्यलोके च राजा भवति वीर्य-
वान् ॥ २७ ॥ सुवर्णकोट्यः पञ्चाशद्रत्नानां च शतं तथा ।
हस्त्यश्वरथसंयुक्तो महाभोगांश्च सेवते ॥ २८ ॥ त्रयाणामपि
वर्णानां शुश्रूषानिरतः सदा । विशेषतस्तु विप्राणां दासवद्यस्तु
तिष्ठति ॥ २९ ॥ अयाचितप्रदाता च सत्यशौचसमन्वितः । गुरु-

देवताओंकी समान विहार करके फिर वह मनुष्यलोकमें चारों वेदोंका ज्ञाता ब्राह्मण होकर जन्मलेता है ॥२३॥ जो वैश्य खेती बाड़ी और गौओंके पालन पर प्रेम रखता है, जो धर्मकी खोजमें लगा रहता है, जो दानधर्ममें तत्पर होता है, ब्राह्मणोंकी सेवा करता है ॥ २४ ॥ सत्य प्रतिज्ञावाला, नित्य पवित्र, लोभ और दम्भसे रहित, सरलस्वभाव, अपनी स्त्रीमें परायण तथा हिंसा और द्रोहसे रहित होता है ॥ २५ ॥ वैश्यके धर्मको नहीं छोडता है देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करता है वह वैश्य स्वर्गमें जाता है और वहाँ अप्सराओंके झुण्ड उसकी पूजा करते हैं॥२६॥एक सौ पैंतीस युग तक स्वर्गमें क्रीडा करके फिर वह मनुष्यलोकमें पराक्रमी राजा होता है ॥ २७ ॥ पचास कोटि सुवर्ण, सैंकडों रत्न, हाथी, घोड़े और रथोंका स्वामी होकर वह बड़े२ भोगोंको भोगता है ॥२८॥ जो शूद्र निरंतर तीनों वर्णोंकी सेवा करता है और जो विशेषकर ब्राह्मणोंका दास होकर रहता है ॥ २९ ॥ माँगे विना देता है, सत्य शौचसे युक्त रहता है, गुरु और देवताओंका पूजन करनेमें प्रेम रखता

देवार्चनरतः परदारविवर्जितः ॥ ३० ॥ परपीडामकृत्वैव भृत्य-
वर्गं बिभर्ति यः । शूद्रोऽपि स्वर्गमाप्नोति जीवानामभयप्रदः ॥ ३१ ॥
स स्वर्गलोके क्रीडित्वा वर्षकोटिं महातपाः । इह मानुषलोके तु
वैश्यो धनपतिर्भवेत् ॥ ३२ ॥ एवं धर्मात्परं नास्ति महत्संसार-
मोक्षणम् । न च धर्मात्परं किञ्चित्पापकर्मव्यपोहनम् ॥ ३३ ॥
तस्माद्धर्मः सदा कार्यो मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् । न हि धर्मानु-
रक्तानां लोके किञ्चन दुर्लभम् ॥ ३४ ॥ स्वयम्भुविहितो धर्मो
यो यस्येह नरेश्वर । स तेन क्षपयेत्पापं सम्यगाचरितेन च ॥ ३५ ॥
सहजं यच्चरेत्कर्म न तत्त्याज्यं हि केनचित् । स एव तस्य धर्मो
हि तेन सिद्धिं स गच्छति ॥ ३६ ॥ विगुणोऽपि स्वधर्मस्तु पाप-
कर्म व्यपोहति । एवमेव तु धर्मोऽपि क्षीयते पापवर्धनात् ॥ ३७ ॥

है, परस्त्रीका त्याग करता है ॥ ३० ॥ जो दूसरोंको पीडा दिये बिना ही भृत्योंका पोषण करता है तथा जीवोंको अभयदान देता है वह शूद्र भी स्वर्गमें जाता है ॥३१॥ ऐसा महातपस्वी शूद्र स्वर्गमें जा वहाँ एक करोड़ वर्ष तक विहार करता है, फिर इस मनुष्यलोकमें धनपति वैश्य होता है ॥३२॥ इस प्रकार संसारसे मुक्ति देनेवाले धर्मसे बडा कोई नहीं है तथा पापकर्मका नाश करनेवाला भी धर्मसे बढ़कर और कोई नहीं है॥३३॥इस लिये दुर्लभ मनुष्यजन्मको पाकर सदा धर्मका आचरण करे, धर्म पर प्रीति रखनेवाले मनुष्योंको जगत्में कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥३४॥ हे राजन्! परमात्माने जिस वर्णका जो धर्म कहा है उस धर्मका ठीक २ पालन करके उस वर्णको अपने पापका नाश करना चाहिये ३५ मनुष्यका जो जातिगत धर्म हो उसका किसीको कभी त्याग करना नहीं चाहिये, वही उसका धर्म है और उससे वह सिद्धि पाता है ३६ अपना धर्म किसी अंशमें कम निभसके तो भी वह पापकर्मका नाश करता है, ऐसे ही पापकर्मके बढ़जानेसे

युधिष्ठिर उवाच । भगवन् देवदेवेश श्रोतुं कौतूहलं हि मे । शुभस्याप्यशुभस्यापि शुभवृद्धी यथाक्रमम् ॥ ३८ ॥ भगवानुवाच । शृणु पार्थिव तत्सर्वं धर्मसूक्ष्मं सनातनम् । दुर्विज्ञेयतमं नित्यं यत्र मग्ना महाजनाः ॥ ३९ ॥ यथैव शीतमुदकमुष्णेन बहुना हृतम् । भवेत्तु तत्क्षणादुष्णं शीतत्वञ्च विनश्यति ॥ ४० ॥ यथोष्णं वा भवेदल्पं शीतेन बहुना हृतम् । शीतलञ्च भवेत्सर्वमुष्णत्वञ्च विनश्यति ॥ ४१ ॥ एवञ्च यद्भवेद् भूरि सुकृतं वापि दुष्कृतम् । तदल्पं क्षपयेच्छीघ्रं नात्र कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥ समत्वे सति राजेन्द्र तयोः सुकृतपापयोः । गूहितस्य भवेद् वृद्धिः कीर्त्तितस्य भवेत्क्षयः ॥ ४३ ॥ ख्यापनेनानुतापेन प्रायः पापं विनश्यति ।

धर्मका भी नाश होजाता है ॥३७॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे भगवन् ! हे देवदेव ! धर्मका क्षय और पापकी वृद्धि कैसे होती है, इसको मैं क्रमसे सुनना चाहता हूँ मुझे बडा चाव है ! ॥३८॥ भगवान्ने कहा, कि-हे राजन् ! जो बडी कठिनतासे जाननेमें आता है उस सर्व सनातन सूक्ष्म धर्मको तुम सुनो ॥ ३९ ॥ जैसे शीतल जलमें बहुतसा गरम जल आमिलता है तो उसी समय वह शीतल जल भी गरम होजाता है और उसका शीतलपना नष्ट होजाता है ॥ ४० ॥ अथवा गरम जल थोडा होता है और उसमें बहुतसा शीतल जल डालदिया जाता है तो वह गरम जल शीतल होजाता है और उसका उष्णपना दूर होजाता है॥४१॥ इस प्रकार ही पाप वा पुण्य जो विशेष होता है वह अपनेसे कमको नष्ट करदेता है, इसमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४२ ॥ परन्तु हे राजेन्द्र ! पुण्य और पाप दोनों समान हों तो उस पापको छुपावे नहीं, क्योंकि-पापको छुपानेसे पाप बढ़ता है और प्रकट करदेनेसे पाप नष्ट होता है ॥४३॥ पापको कहनेसे और पापके लिये पश्चात्ताप करनेसे पाप विशेषकर नष्ट होजाता

तथा कृतस्तु राजेन्द्र धर्मो नश्यति मानद ॥ ४४ ॥ तावुभौ गूहितौ सम्यग्वृद्धिं यातो न संशयः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन न पापं गूहयेद् बुधः ॥ ४५ ॥ तस्मादेतत्प्रयत्नेन कीर्तयेत्क्षयकारणात् । तस्मात् संकीर्तयेत्पापं नित्यं धर्मञ्च गूहयेत् ॥४६॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि चातुर्वर्ण्यधर्मनिरूपणे चतुर्णवतितमोऽध्यायः ॥९४॥

वैशम्पायन उवाच । एवं श्रुत्वा वचस्तस्य धर्मपुत्रोऽच्युतस्य तु । पप्रच्छ पुनरप्यन्यं धर्मं धर्मात्मजो हरिम् ॥१॥ वृथा च कति जन्मानि वृथा दानानि कानि च । वृथा च जीवितं केषां नराणां पुरुषोत्तम ॥ २ ॥ कीदृशासु ह्यवस्थासु दानं दत्तं जनार्दन । इह लोकेऽनुभवति पुरुषः पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥ गर्भस्थः किं समश्नाति किं बाल्ये वापि केशव । यौवनस्थेऽपि किं कृष्ण वार्धके वापि किं

हैं, इस प्रकार ही हे मान देनेवाले राजेन्द्र ! मैंने अमुक धर्म किया है, ऐसा कहनेसे धर्मका नाश होता है ॥ ४४ ॥ इसलिये धर्म कहनेसे और पाप छुपानेसे बढ़ता है, इसमें सन्देह नहीं है, अतः विद्वान्को सर्वथा उद्योग करके पापको छुपाना नहीं चाहिये ॥४५॥ किन्तु क्षय करनेके लिये उद्योग करके पापको कह देना चाहिये, नित्य किये हुए पापको कह देय और किये हुए धर्मको गुप्त रक्खे ॥ ४६ ॥ चौरानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९४ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कृष्णकी यह बात सुनी और उन धर्मपुत्रने श्रीकृष्णसे फिर धर्मके विषयमें और प्रश्न किया कि–॥ १ ॥ हे पुरुषोत्तम ! कैसा जन्म वृथा जाता है कैसा दान वृथा होता है और कैसे पुरुषोंका जीवन वृथा होता है ।२। हे जनार्दन ! हे पुरुषोत्तम ! किस अवस्थामें दिया हुआ दान इस लोकमें पुरुषको मिलता है ? ॥ ३ ॥ हे केशव ! मनुष्यको गर्भकी दशामें कौनसे दानका फल मिलता है और बालकपनमें

भवेत् ॥ ४ ॥ सात्त्विकं कीदृशं दानं राजसं कीदृशं भवेत् । तामसं कीदृशं देव तर्पयिष्यति किं प्रभो ॥ ५ ॥ उत्तमं कीदृशं दानं तेषां वा किं फलं भवेत् । किं दानं नयति ह्यूर्ध्वं किं गतिं मध्यमां नयेत् । गतिं जघन्यामथ वा देवदेव ब्रवीहि मे ॥ ६ ॥ एतदिच्छामि विज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे । त्वदीयं वचनं सत्यं पुण्यञ्च मधुसूदन ॥७॥ वैशम्पायन उवाच । एवं धर्मः प्रयत्नेन पृष्टः पाण्डुसुतेन वै । उवाच वासुदेवोऽथ धर्मान् धर्मात्मजस्य तु ८ भगवानुवाच । शृणु राजन्यथान्यायं वचनं तथ्यमुत्तमम् । कथ्यमानं मया पुण्यं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥ वृथा च दश जन्मानि चत्वारि च नराधिप । वृथादानानि पञ्चाशत्पंचैव च यथाक्रमम् १०

कौनसे दानका फल मिलता है ? हे कृष्ण ! जवानीमें कौनसे दानका और बुढापेमें कौनसे दानका फल मिलता है ? ॥ ४ ॥ सात्त्विक दान कैसा होता है और रजोगुणी दान कैसा होता है, तमोगुणी दान कैसा होता है और हे देव ! हे प्रभो ! वह दान किसको तृप्त करता है ? ॥ ५ ॥ उत्तम दान कैसा होता है और उसका फल कैसा होता है? कौनसा दान ऊपरके लोकमें लेजाता है, कौनसा दान मध्यमलोकमें लेजाता है और कौनसा दान अधम गति देता है ? हे देवदेव ! मुझे बताइये ॥ ६ ॥ हे मधुसूदन ! आपके सत्य और पुण्यदायक वचनको मैं जानना चाहता हूँ, इसके लिये मुझे बडा चाव है ॥ ७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-इसप्रकार पाण्डुपुत्रने धर्मके विषयमें उद्योग करके प्रश्न किया, तब वासुदेवने युधिष्ठिरसे कहा ॥ ८ ॥ भगवान् बोले, कि–हे राजन् ! मैं तुझसे हितकारक उत्तम वचन न्यायके साथ कहता हूँ, उन पापोंका नाश करनेवाले वचनोंको तुम सुनो ९ हे राजन् ! दश और चार (चौदह) जन्म वृथा हैं तथा पचास और पाँच (पचपन) प्रकारके दान क्रमसे वृथा हैं ॥१०॥

वृथा च जीवितं येषां ते च षट् परिकीर्तिताः।अनुक्रमेण वक्ष्यामि तानि सर्वाणि पार्थिव ॥ ११ ॥ धर्मघ्नानां वृथा जन्म लुब्धानां पापिनान्तथा। वृथापाकञ्च येऽश्नन्ति परदाररताश्च ये। पाकभेदकरा ये च ये च स्युः सत्यवर्जिताः ॥१२॥ मृष्टमश्नाति यश्चैकः क्लिश्यमानैस्तु बांधवैः। पितरं मातरं चैव उपाध्यायं गुरुं तथा। मातुलं मातुलानीं च यो निहन्याच्छपेत वा ॥१३॥ ब्राह्मणश्चैव यो भूत्वा सन्ध्योपासनवर्जितः। निःस्वाहो निःस्वधश्चैव शूद्राणामन्नभुग्द्विजः ॥१४॥ मम वा शंकरस्याथ ब्रह्मणो वा युधिष्ठिर। अथवा ब्राह्मणानां तु ये न भक्ता नराधमाः। वृथाजन्मान्यथैतेषां पापिनां विद्धि पाण्डव ॥ १५ ॥ अश्रद्धयापि यद्दत्तमवमानेन वापि यत्। दम्भार्थमपि यद्दत्तं यत् पाखण्डिहितं नृप ॥ १६ ॥

और मनुष्योंका जो छः प्रकारका जीवन कहा है वह भी वृथा है हे राजन्! इन सबको मैं क्रमसे कहूँगा ॥ ११ ॥ धर्मका नाश करने वालोंका, लोभियोंका तथा पापियोंका जन्म वृथा है, जो वृथा (विना वैश्वदेवके) पाते हैं और जो परस्त्रियोंसे गमन करनेवाले हैं, जो भोजनमें भेद करते हैं (आप मिष्टान्न खाते हैं और आश्रितोंको सूखी रोटी खिलाते हैं) तथा असत्य बोलने वाले ॥१२॥ अपने कुटुम्बी भोजनके लिये दुःख पाते हों और स्वयं अकेला मिष्टान्न खाय, पिता, माता, उपाध्याय और गुरु तथा मामा और मामीको जो पीटता है या गाली देता है ।१३। जो ब्राह्मण होकर सन्ध्योपासन नहीं करता, हवन नहीं करता, श्राद्ध नहीं करता तथा शूद्रका अन्न खाता है।१४।हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य मेरे, शिवके, ब्रह्माके अथवा ब्राह्मणोंके भक्त नहीं हैं उनको नराधम जानो, हे पाण्डव ! इन पापियोंके जन्मको तुम वृथा जानो ॥ १५ ॥ हे राजन्! जो दान अश्रद्धासे दिया हो, जो दान अपमान करके दिया हो, जो दान पाखण्डके लिये दिया

शूद्राचाराय यद्दत्तं यद् दत्त्वा चानुकीर्तितम् । रोषयुक्तं च यद्दत्तं यद्दत्तमनुशोचितम् ॥ १७॥ दंभार्जितं च यद्दत्तं यच्च वाऽप्यनृतार्जितम् । ब्राह्मणस्वञ्च यद्दत्तं चौर्येणाप्यर्जितं यत् ॥ १८ ॥ अभिशस्ताहृतं यत्तु यद्दत्तं पतिते द्विजे । निर्ब्रह्माभिहृतं यत्तु यद्दत्तं सर्वयाचकैः ॥ १९ ॥ व्रात्यैस्तु यद्दत्तं दानमारूढपतितैश्च यत् । यद्दत्तं स्वैरिणीभर्तुः श्वशुरानन्नुवर्त्तिने ॥ २० ॥ यद् ग्रामयाचकहृतं यत्कृतघ्नहृतं तथा । उपपातकिने दत्तं वेदविक्रयिणे च यत् ॥ २१ ॥ स्त्रीजिताय च यद्दत्तं यद्दत्तं राजसेविने । गणकाय

हो अथवा जिस दानको पाखण्डी लेगया हो ॥ १६ ॥ जो दान शूद्रकी समान आचरण वाले पुरुषको दिया हो, जो दान कहकर दिया हो, जो दान क्रोध करके दिया हो, जिस दानको देते समय सोच किया हो ॥ १७ ॥ जो दान पाखण्ड करके पाये हुए धनमेंसे दिया हो, जो दान ब्राह्मणके धनका किया हो और जो दान चोरीसे मिले हुए धनका किया हो॥१८॥ जिस धनको शाप लगा हुआ हो ऐसे पुरुषसे मिला हुआ धन दानमें दिया हो, जो दान पतित ब्राह्मणको दिया हो, ब्रह्मको न भजनेवालेसे धन लेकर जो दान किया हो, जो दान सबसे याचना करनेवाले मनुष्योंने दिया हो ॥१९॥ जो दान व्रात्योंने, जो दान संन्यासी होकर फिर गृहस्थी बनजानेवालोंने पतितोंको दिया हो, जो दान इच्छानुसार गमन करनेवाली स्त्रीके पतिने दिया हो, जो दान श्वसुरके घर रहकर निर्वाह करनेवालेने दिया हो ॥२०॥ जो दान ग्रामयाचकको दिया जाता है जो दान कृतघ्नको दिया गया हो, जो दान उपपातकीको दिया हो, जो दान धन लेकर वेद पढ़ानेवालेको दिया हो ॥२१॥ जो दान स्त्रीके वशमें रहने वालेको दिया हो, जो दान राजाकी सेवा करनेवालेको दिया गया हो, जो दान ज्योतिषीको दिया गया हो, जो दान वशीकरण

च यद्दत्तं यच्च कारणिकाय च॥२२॥वृषलीपतये दत्तं यद्दत्तं शस्त्र-
जीविने । भृतकाय च यद्दत्तं व्यालग्राहिहुतं च यत् ॥ २३ ॥ पुरो-
हिताय यद्दत्तं चिकित्सकहुतञ्च यत् । यद्द वणिक्कर्मिणे दत्तं क्षुद्र-
मन्त्रोपजीविने ॥२४॥ यच्छूद्रजीविने दत्तं यच्च देवलकाय च ।
देवद्रव्याशिनेदत्तं यद्दत्तं चित्रकर्मिणे॥२५॥रङ्गोपजीविने दत्तं यच्च
मांसोपजीविने । सेवकाय च यद्दत्तं यद्दत्तं ब्राह्मणब्रुवे ॥ २६ ॥
अदेशिने च यद्दत्तं दत्तं वार्धुषिकाय च । यदनाचारिणे दत्तं यत्तु
दत्तमनग्नये ॥ २७ ॥ असन्ध्योपासिने दत्तं यच्छूद्रग्रामवासिने ।

करनेवाले ब्राह्मणको दिया गया हो ॥ २२ ॥ जो दान शूद्र जातिकी स्त्रीके साथ विवाह करनेवाले ब्राह्मणको दिया गया हो, जो दान शस्त्रजीवीको दिया हो जो दान सेवकको दिया हो, जो दान साँप पकडनेवालेको दिया हो ॥ २३ ॥ जो दान पुरोहितको दिया हो, जो दान वैद्यको दिया गया हो, जो दान व्यापार करनेवालेको दिया गया हो, जो क्षुद्र मंत्र जपकर जीविका करनेवालेको दियागया हो ॥ २४ ॥ जो शूद्रकी समान चाकरी करनेवालेको दिया गया हो, जो दान देवमन्दिरमें पूजा करनेवाले पुजारीको दिया हो, जो देवताका धन खाजानेवालेको दिया हो, जो चित्रकला करनेवालेको दिया गया हो, जो नाटककी आजीविका करनेवालेको दिया हो, जो मांस वेचकर जीविका करनेवालेको दिया गया हो,जो दान रसोइया आदि सेवकको दिया हो, 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसा कहनेवालेको दिया हो, ॥ २६ ॥ जो उपदेश न करनेवाले ब्राह्मणोंको दिया गया है, जो व्याजखोरोंको दिया गया हो ॥ २७ ॥ जो आचारहीनको दिया गया हो, जो अग्निहोत्रशून्य ब्राह्मणको दिया गया हो, जो सन्ध्यावन्दन न करनेवालेको दिया गया हो, जो शूद्रके ग्राममें रहनेवालेको दिया गया हो,

यग्मिथ्यालिंगिने दत्तं दत्तं सर्वाशिने च यत् ॥ २८ ॥ नास्तिकाय च यद्दत्तं धर्मविक्रयिणे च यत् । वराकाय च यद्दत्तं यद्दत्तं कूटसाक्षिणे ॥ २९ ॥ ग्रामकूटाय यद्दत्तं दानं पार्थिवपुङ्गव । वृथा भवति तत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥३०॥ विप्राणामधमा एते लोलुपा ब्राह्मणाधमाः । नात्मानं तारयन्त्येते न दातारं युधिष्ठिर ३१ एतेभ्यो दत्तमात्राणि दानानि सुबहून्यपि । वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥ ३२ ॥ एतेषु यत् फलं किञ्चिद्भविष्यति कथञ्चन । राक्षसाश्च पिशाचाश्च तद्विलुम्पन्ति हर्षिताः॥३३॥ वृथा ह्येतानि दत्तानि कथितानि समासतः । जीवितन्तु तथा येषां तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥ ये मां न प्रतिपद्यन्ते शङ्करं वा

संन्यासी ब्रह्मचारी आदिका मिथ्या वेश बनाने वालेको दान दिया हो, जो दान सबके यहाँ सब पदार्थ खानेवालेको दिया हो॥२८॥ जो दान नास्तिकोंको दिया हो, जो दान धर्म बेचनेवालेको दिया हो, जो दान लाचार होकर घूमनेवालेको दिया हो, जो दान झूठी गवाही देनेवालेको दिया हो ॥२९॥ जो दान ग्राममें झगडा करानेवालेको दिया हो, हे राजन् ! वह सब वृथा होता है, इसमें विचार करनेकी बात नहीं है ॥३०॥ हे युधिष्ठिर ! ये सब ब्राह्मणोंमें उतरते, चञ्चलवृत्तिके तथा ब्राह्मणोंमें अधम हैं अपना उद्धार नहीं करसकते तथा दाताको भी नहीं तारसकते।३१। हे राजेन्द्र ! इन ब्राह्मणोंको बहुतसे दान दियेजाएँ तो भी वे राखमें होमीहुई घीकी आहुतिकी समान वृथा जाते हैं ॥३२॥ इन ब्राह्मणोंको देनेसे जो कुछ फल होता है उसको राक्षस और पिशाच प्रसन्न होकर हरलेते हैं ॥ ३३ ॥ ये दियेहुए दान वृथा होते हैं, यह बात संक्षेपमें कही है, हे राजन् ! अब जिनका जीवन वृथा है उनको सुनो ॥ ३४ ॥ जो नराधम मेरी शरणमें नहीं आते हैं तथा जो शङ्करकी शरणमें नहीं जाते हैं

नराधमाः। ब्राह्मणांश्चा महीदेवान् वृथा जीवन्ति ते नराः ॥३५॥ हेतुशास्त्रेषु ये सक्ताः कुदृष्टिपथमाश्रिताः। देवान्निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः॥ ३६ ॥ कुशलैः कृतशास्त्राणि पठित्वा ये नराधमाः। विप्रान्निन्दन्ति यज्ञांश्च वृथा जीवन्ति ते नराः॥३७॥ ये दुर्गां वा कुमारम्वा वायुमग्निं जलं रविम्। पितरं मातरश्चैव गुरुमिन्द्रं निशाकरम्। मूढा निन्दन्त्यनाचारा वृथा जीवन्ति ते नराः॥३८॥ विद्यमाने धने यस्तु दानधर्मविवर्जितः। मृष्टमश्नाति यश्चैको वृथा जीवति सोऽपि च ॥ ३९ ॥ वृथा जीवितमाख्यातं दानकालं ब्रवीमि ते ॥ ४० ॥ तमोनिविष्टचित्तेन दत्तं दानं तु यद्भवेत्। तदस्य फलमश्नाति नरो गर्भगतो नृप ॥ ४१ ॥ ईर्ष्या-मत्सरसंयुक्तो दम्भार्थं चार्थकारणात्। ददाति दानं यो मर्त्यो

और जो पृथिवीके देवता ब्राह्मणोंकी शरणमें नहीं जाते हैं, वे मनुष्य वृथा जीते हैं ॥ ३५ ॥ जो तर्कको ही मानते हैं जो नास्तिकोंके मार्गका अवलम्बन करते हैं, जो देवताओंकी निन्दा करते हैं और जो आचारसे भ्रष्ट हैं उन मनुष्योंका जीवन वृथा है ॥ ३६ ॥ जो नराधम तार्किकोंके शास्त्रोंको पढ़कर ब्राह्मणोंकी तथा यज्ञोंकी निन्दा करते हैं वे मनुष्य वृथा जीते हैं ॥ ३७ ॥ जो मूढ मनुष्य दुर्गाकी, स्वामिकार्त्तिकेयकी, वायुकी, अग्निकी, जलकी, सूर्यकी, माता पिताकी, गुरुकी, इन्द्रकी तथा चन्द्रमाकी निन्दा करते हैं और आचारका पालन नहीं करते हैं उनका जीवन वृथा है ॥३८॥ धन होने पर भी जो दानधर्म नहीं करते तथा जो अकेले मिष्टान्न खाते हैं उन मनुष्योंका भी जीवन वृथा है ॥३९॥ इस प्रकार वृथा जीवन कहा, अब तुम्हें दानका समय बताता हूँ, ॥ ४० ॥ जो दान तमोगुणभरे मनसे दिया हो हे राजन्! उस दानका फल मनुष्यको गर्भमें मिलता है ॥४१॥ जो मनुष्य ईर्षा और मत्सरतामें भरकर पाखण्डके लिये अथवा

बालभावे तदश्नुते ॥ ४२ ॥ भोक्तुं भोगमशक्तस्तु व्याधिभिः पीडितो भृशम् । ददाति दानं यो मर्त्यो वृद्धभावे तदश्नुते ॥४३॥ श्रद्धायुक्तः शुचिः स्नातः प्रसन्नेन्द्रियमानसः । ददाति दानं यो मर्त्यो यौवने स तदश्नुते ॥४४॥ स्वयं नीत्वा तु यद् दानं भक्त्या पात्रे प्रदीयते । तत्सार्वकालिकं विद्धि दानमामरणान्तिकम् ।४५। राजसं सात्त्विकञ्चापि तामसञ्च युधिष्ठिर । दानं दानफलञ्चैव गतिश्च त्रिविधां शृणु ॥ ४६ ॥ दानं दातव्यमित्येव मतिं कृत्वा द्विजाय वै । उपकारवियुक्ताय यद्दत्तं तद्धि सात्त्विकम् ॥ ४७ ॥ श्रोत्रियाय दरिद्राय बहुभृत्याय पाण्डव । दीयते यत्प्रहृष्टेन तत्सात्त्विकमुदाहृतम् ॥ ४८ ॥ वेदाक्षरविहीनाय यत्तु पूर्वोपकारिणे ।

धनके लिये दान देता है, उस दानका फल उसको बालकपनमें मिलता है ॥४२॥ जो पुरुष भोग भोगनेमें असमर्थ हो, रोगोंसे बहुतही पीडित हो, ऐसा मनुष्य जो दान देता है वह उसको वृद्धावस्थामें भोगता है ॥४३॥ जो मनुष्य श्रद्धावान्, होकर बाहर और भीतरसे पवित्र होकर स्नान करके, प्रसन्न इन्द्रियें और प्रसन्न मनवाला होकर दान देता है, वह सब कालमें उत्तम दान है और मरण पर्यन्त फल देता है ॥ ४५ ॥ हे युधिष्ठिर ! सात्त्विक, राजस तामस यह तीन प्रकारका दान है, इनका फल भी सात्त्विक, राजस, और तामस तीन प्रकारका है तथा इससे गति भी तीन प्रकारकी होती है, उसको सुनो॥४६॥दान अवश्य देना चाहिये, ऐसा विचार कर उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको जो दान दिया जाता है वह दान सात्त्विक कहलाता है ॥४७॥ हे पाण्डव ! वेद पढे हुए, दरिद्र और जिसके घरमें पोषण करनेयोग्य बहुतसे जीव हों ऐसे ब्राह्मणको प्रसन्न होकर जो दान दिया जाता है उस दानको सात्त्विक कहा है ॥ ४८ ॥ वेद न पढे परन्तु पहले अपने ऊपर उपकार करनेवाले और धनाढ्य ब्राह्मणको जो

समुद्दिश्य च यद् दत्तं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ ४९ ॥ सम्बन्धिने च यद्द् दत्तं प्रमत्ताय च पाण्डव। फलार्थिभिरपात्राय तद्द दानं राजसं स्मृतम् ॥ ५० ॥ वैश्वदेवविहीनाय दानमश्रोत्रियाय च। दीयते तस्करायापि तद्दु दानं तामसं स्मृतम् ॥५१॥ सरोषमवधूतञ्च क्लेशयुक्तमवज्ञया। सेवकाय च यद्दत्तं तत्तामसमुदाहृतम् ॥५२॥ देवा पितृगणाश्चैव मुनयश्चाग्नयस्तथा। सात्त्विकं दानमश्नन्ति तुष्यन्ति च नरेश्वर ॥ ५३ ॥ दानवा दैत्यसंघाश्च ग्रहा यक्षाः सराक्षसाः। राजसं दानमश्नन्ति वर्जितं पितृदैवतैः ॥५४॥ पिशाचा प्रेतसंघाश्च कश्मला ये मलीमसाः। तामसं दानमश्नन्ति गतिं च त्रिविधां शृणु ॥५५॥ सात्त्विकानान्तु दानानामुत्तमं फलमश्नुते। मध्यमं राजसानान्तु तामसानान्तु पश्चिमम् ॥ ५६ ॥ अभिगम्यो-

---

दान दियाजाता है उस दानको रजोगुणी जानो॥४९॥हे पांडव! जो दान संबंधीको दियागया हो, जो दान प्रमत्तको दियागया हो और जो दान फलकी इच्छासे अपात्रको दियागया हो उस दान को रजोगुणी जानो ॥ ५० ॥ जो दान वैश्वदेव न करनेवाले ब्राह्मणको, वेद न पढ़े हुएको और चोरी करनेवाले ब्राह्मणको दियाजाता है उस दानको तामस जानो ॥५१॥ जो दान क्रोधके साथ दिया हो, जो दान तिरस्कारके साथ दिया हो, जो दान ललकार कर दुःखित होते हुए दिया हो और जो दान सेवकको दिया हो उसको तामस दान कहा है ॥५२॥ हे राजन्! देवता, पितर, मुनि और अग्नि सात्त्विक दानको ग्रहण करते हैं॥५३॥ दानव दैत्योंके समूह, ग्रह, यक्ष, राक्षस राजस दानको ग्रहण करते हैं और पितर तथा देवता उस दानका त्याग करते हैं॥५४॥ पिशाच, प्रेतोंके समूह, पापी और मलिन कर्म करनेवाले पुरुष तामस दानको स्वीकार करते हैं, अब तुम उसकी तीन प्रकारकी गतिको सुनो ॥ ५५ ॥ सात्त्विक दानका फल उत्तम, राजस दान

पनीतानां दानानां फलमुत्तमम् । मध्यमन्तु समाहूय जघन्यं याचते फलम् ॥५७॥ अयाचितप्रदाता यः स याति गतिमुत्तमाम् । समाहूय तु यो दद्यान्मध्यमां स गतिं व्रजेत् । याचितो यश्च वै दद्याज्जघन्यां स गतिं व्रजेत् ॥ ५८ ॥ उत्तमा दैविकी ज्ञेया मध्यमा मानुषी गतिः । गतिर्जघन्या तिर्यक्षु गतिरेषा त्रिधा स्मृता ॥ ५९ ॥ पात्रभूतेषु विप्रेषु संस्थितेष्वाहिताग्निषु । यत्तु निक्षिप्यते दानमक्षय्यं सम्प्रकीर्तितम् ॥ ६० ॥ श्रोत्रियाणां दरिद्राणां भरणं कुरु पार्थिव । समृद्धानां द्विजातीनां कुर्यास्तेषान्तु रक्षणम् ॥ ६१ ॥ दरिद्रान् वित्तहीनांश्च प्रदानैः सुष्ठु पूजय । आतुरस्यौषधैः कार्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥६२॥ पापं प्रतिगृहीतारं प्रदातुरुपगच्छति । प्रतिग्रही तुर्य-

का मध्यम और तामस दानका अधम फल मिलता है ॥ ५६॥ सामने जाकर दियेहुए दानका फल उत्तम मिलता है, घर बुलाकर दियेहुए दानका फल मध्यम और याचना करनेवालेको दियेहुएका फल अधम मिलता है ॥ ५७ ॥ जो पुरुष विना माँगे ब्राह्मणको दान देता है वह उत्तम गति पाता है, जो बुलाकर दान देता है उस पुरुषको मध्यम गति मिलती है और जो याचना करने से दान देता है उसको निकृष्ट गति मिलती है ॥ ५८ ॥ देवताओंमें अवतार लेना उत्तम गति, मनुष्योंमें जन्म लेना मध्यम गति और पशु पक्षियोंमें जन्म लेना निकृष्ट गति है, ऐसी तीन प्रकारकी गति जानो ॥ ५९ ॥ जो दान सुपात्र ब्राह्मणोंको और अग्निहोत्रियोंको दिया जाता है उसको अक्षय कहा है ।६०। हे राजन् ! वेदपढ़ोंका तथा दरिद्रोंका भरणपोषण करो, धन सम्पत्तिवाले द्विजोंकी रक्षा करो ॥६१॥ जो ब्राह्मण दरिद्र और निर्धन हों उनको धन देकर उनकी अच्छे प्रकारसे पूजा करो, रोगीके लिये औषधी की अवश्यकता है, परन्तु नीरोगके लिये औषधकी क्या आवश्यकता है ? ॥६२॥ दान

त्पुण्यं प्रदातारमुपैति तत्। तस्माद्दानं सदा कार्यं परत्र हितमिच्छता ६३
वेदविद्यावदातेषु सदा शूद्रान्नवर्जिषु । प्रयत्नेन प्रदातव्यो
महादानमयो निधिः ॥ ६४ ॥ येषां दाराः प्रतीक्षन्ते सहस्रस्येव
लम्भनम्। भुक्तशेषस्य भक्तस्य तान्निमन्त्रय पाण्डव ॥ ६५ ॥
आमन्त्र्य तु निराशानि न कर्तव्यानि भारत। कुलानि सुदरिद्राणि
तेषामाशा हता भवेत्॥६६॥मद्भक्ता ये नरश्रेष्ठ मद्गता मत्परायणाः।
मद्याजिनो मन्नियमास्तान् प्रयत्नेन पूजयेत् ॥६७॥ तेषान्तु पावना-
र्थाहं नित्यमेव युधिष्ठिर। उभे सन्ध्येऽधितिष्ठामि ह्यस्कन्नं तद्व्रतं
मम ॥६८॥ तस्मादष्टाक्षरं मन्त्रं मद्भक्तैर्वीतकल्मषैः । सन्ध्याकाले
तु जप्तव्यं सततं चात्मशुद्धये ॥ ६९ ॥ अन्येषामपि विप्राणां

देनेवालेका पाप दानको लेनेवालेमें जाता है और दानलेने वालेका
जो पुण्य होता है वह दान देनेवालेको पहुँचता है,इसलिये परलोकमें
हित चाहनेवाला पुरुष सदा दान करे ॥६३॥ जो वेदविद्या पढ़
कर शुद्ध होगए हों तथा जो सदा शूद्रोंका आमान्न (कच्चा सीधा)
त्याग देते हों ऐसे पुरुषोंको यत्न करके बड़े २ दान देय ।६४।
हे पाण्डव ! जिन पुरुषोंकी स्त्रियें भोजन करनेसे शेष बचे हुए
अन्नको हजारों रुपयेके लाभकी समान मानती हैं ऐसे पुरुषोंको
भोजनके लिये निमंत्रण दो ६५हे भरतवंशी राजन् ! दरिद्रकुलोंको
बुलाकर निराश नहीं करना चाहिये, ऐसा करनेसे उनकी आशा
नष्ट होजाती है ॥ ६६ ॥ हे राजन् ! जो भक्त मुझमें मन लगाये
रहते हैं, मुझमें परायण रहते हैं, मेरा भजन करते हैं नियमके
साथ मेरा पूजन करते हैं उनकी उद्योगसे पूजा करो ॥ ६७ ॥
हे युधिष्ठिर ! उनको पवित्र करनेके लिये मैं नित्य प्रातः सायं
दोनो सन्ध्याके समय तयार रहता हूँ, यह मेरा अखण्ड व्रत
है ॥६८॥ इसलिये पाप-रहित मेरे भक्तोंको अपनी शुद्धिके लिये
निरन्तर आठ अक्षर वाले मंत्रका जप करना चाहिये ॥ ६९ ॥

किल्बिषं हि विनश्यति। उभे सन्ध्येऽप्युपासीत तस्माद्विप्रो विशुद्धये७०
दैवे श्राद्धेऽपि विप्रः स नियोक्तव्यो जुगुप्सया। जुगुप्सितस्तु यः
श्राद्धं दहत्यग्निरिवेन्धनम् ॥ ७१ ॥ भारतं मानवो धर्मो वेदाः
सांगाश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि
हेतुभिः ॥ ७२ ॥ न ब्राह्मणान् परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।
महान्भवेत् परीवादो ब्राह्मणानां परीक्षणे ॥ ७३ ॥ ब्राह्मणानां
परीवादं यः कुर्यात्स नराधमः। रासभानां शुनां योनिं गच्छेत्
पुरुषदूषकः॥७४॥श्वत्वं प्राप्नोति निन्दित्वा परीवादात्खरो भवेत्।
कृमिर्भवत्यभिभवात्कीटो भवति मत्सरात् ॥ ७५ ॥ दुर्वृत्ता वा
सुवृत्ता वा प्राकृता वा सुसंस्कृताः। ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्म-

जो मेरे भक्त नहीं हों ऐसे दूसरे ब्राह्मणोंका पाप भी इस मंत्रके जापसे नष्ट होजाता है, इसलिये ब्राह्मणको अपनी शुद्धिके लिये दोनों समय इस मंत्रका जप करना चाहिये।७०।ऐसे ब्राह्मणकी निन्दा न करके देवकर्म और श्राद्धकर्ममें बुलाना चाहिये, ब्राह्मणकी निन्दा कीजाती है तो वह जैसे काठको अग्नि जलादेता है तैसे श्राद्धको जलादेता है ॥७१॥ महाभारत, मनुजीका कहा हुआ धर्म(मनुस्मृति),अङ्गोंसहित वेद और आयुर्वेद ये चारों आज्ञासिद्ध हैं (जो कुछ कहते हैं वह सिद्धसा सत्य होता है) इसलिये उनके ऊपर तर्क करके उनका खण्डन नहीं करना चाहिये ७२ धर्मको जाननेवाले पुरुषको यज्ञके कर्ममें ब्राह्मणोंकी परीक्षा नहीं करनी चाहिये,ब्राह्मणोंकी परीक्षा करनेसे उसकी बडी भारी निन्दा होती है७३जो नराधम ब्राह्मणोंकी झूठी निन्दा करता है,वह दोष लगानेवाला पुरुष गधेकी या कुत्तेकी योनिमें जन्म लेता है ७४ ब्राह्मणकी निन्दा करनेसे मनुष्य कुत्तेकी योनिमें जन्म पाता है, झूठी निन्दा करनेसे गधा होता है ब्राह्मणका तिरस्कार करनेसे छोटा कीडा होता है, डाह करनेसे बडा कीडा होता है ॥७५॥

च्छन्ना इवाग्नयः॥७६॥ क्षत्रियं चैव सर्पञ्च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्। नावमन्येत मेधावी कृशानपि कदाचन ॥७७॥ एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्। तस्मादेतत्प्रयत्नेन नावमन्येत बुद्धिमान्॥७८॥ यथा सर्वास्ववस्थासु पावको दैवतं महत्। तथा सर्वास्ववस्थासु ब्राह्मणो दैवतं महत् ॥ ७९ ॥ व्यङ्गा काणाश्च कुब्जाश्च वामनाश्चास्तथैव च। सर्वे दैवे नियोक्तव्या व्यामिश्रा वेदपारगैः॥८०॥ मन्युं नोत्पादयेत्तेषां न चारिष्टं समाचरेत्। मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः ॥ ८१ ॥ मन्युना घ्नन्ति ते शत्रून् वज्रेणेन्द्र इवासुरान्। ब्राह्मणो हि महद् दैवं जातिमात्रेण जायते ॥ ८२ ॥ ब्राह्मणाः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये। किं पुनर्ये च कौन्तेय

दुराचारी हों, सदाचारी हों, मूर्ख हों या अच्छे संस्कारवाले हों ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे, क्योंकि-वे राखसे ढके हुए अग्निकी समान हैं॥७६॥विद्वान पुरुष,क्षत्रिय, सर्प और वेद शास्त्रादि पढ़ा हुआ ब्राह्मण ये छोटेसे हों तब भी बुद्धिमान् इनका कभी अपमान न करे ॥ ७७ ॥ ये तीनों अपमान होने पर पुरुषको भस्म करदेते हैं, इसलिये बुद्धिमान् ध्यान रख कर इनका अपमान न करे ॥ ७८ ॥ जैसे सब अवस्थाओंमे (श्मशानमें, चूलेमें और यज्ञकुण्डमें) अग्नि बड़ाभारी देवता (पवित्र) मानाजाता है, तैसे ही ब्राह्मण सब दशाओंमें महादेवता है ॥ ७९ ॥ हीन अङ्गवाले, काने, कुबड़े इन सब ब्राह्मणोंको वेदके पारगामी ब्राह्मण वेदकर्मोंमें मिलाकर लगावें ॥ ८० ॥ इनको क्रुद्ध न करे तथा इनका अनिष्ट भी न करे,क्योंकि-ब्राह्मणोंका शस्त्र क्रोध है, ब्राह्मण हाथमें शस्त्र धारण नहीं करते हैं ॥ ८१ ॥ जैसे इन्द्र वज्रसे असुरोंका नाश करता है तैसे ही ब्राह्मण क्रोधसे शत्रुओंका नाश करते हैं, ब्राह्मण जन्मसे ही महान् देवता उत्पन्न होता है ॥ ८२ ॥ ब्राह्मण सब प्राणियोंके धर्मके भंडार

सन्ध्यां नित्यमुपासते ॥ ८३ ॥ यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः । कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ८४ ॥ उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती । स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ ८५ ॥ स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वयं वस्ते ददाति च । आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ तस्मात्ते नावमन्तव्या मद्भक्ता हि द्विजाः सदा ॥ ८६ ॥ आरण्यकोपनिषदि ये तु पश्यन्ति मां द्विजाः ॥ निगूढं निष्कलात्मानं तान्प्रयत्नेन पूजय ८७ स्वगृहे वा प्रवासे वा दिवारात्रमथापि वा । श्रद्धया ब्राह्मणाः पूज्या मद्भक्ता ये च पाण्डव ॥ ८८ ॥ नास्ति विप्रसमं दैवं नास्ति विप्रसमो गुरुः । नास्ति विप्रात्परो बन्धुर्नास्ति विप्रात्परो निधिः ८९

की रक्षाके लिये उत्पन्न होता है तो फिर हे कुन्तीनन्दन ! जो ब्राह्मण नित्य संध्यावन्दन करता है, उसके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ८३ ॥ जिसके मुखसे स्वर्गवासी देवता हव्य खाते हैं और पितर कव्य (पिण्ड) खाते हैं, उससे बढ़कर कौनसा प्राणी हो सकता है ? ॥ ८४ ॥ ब्राह्मणकी उत्पत्ति ही धर्मकी सनातनी मूर्त्ति है, वह धर्मके लिये उत्पन्न हुआ है और मुक्ति पानेका अधिकारी है ॥ ८५ ॥ ब्राह्मण जो भोजन करता है वह अपना ही करता है, वस्त्र पहरता है वह अपने ही पहरता है, दान देता है वह भी अपना कर ही देता है, दूसरे मनुष्य ब्राह्मण की दयासे भोजन करते हैं, इसलिये उनका अपमान नहीं करना चाहिये, निःसन्देह ब्राह्मण मेरे भक्त होते हैं, ॥ ८६ ॥ जो ब्राह्मण वृहदारण्यक उपनिषद्में वर्णन कियेहुए मेरे गूढ़ और पूर्णस्वरूपको जानते हैं उनकी ध्यान देकर पूजा करे ॥ ८७ ॥ घरमें वा परदेशमें, दिनमें वा रातमें हे पाण्डव ! मेरे भक्त ब्राह्मणोंकी श्रद्धासे पूजा करनी चाहिये ॥ ८८ ॥ ब्राह्मणकी समान देवता नहीं है, ब्राह्मणकी समान गुरु नहीं है, ब्राह्मणसे बढकर बन्धु नहीं है और ब्राह्मणसे

नास्ति विप्रात्परं तीर्थं न पुण्यं ब्राह्मणात्परम् । न पवित्रं परं विप्रान्न द्विजात्पावनं परम् । नास्ति विप्रात्परो धर्मो नास्ति विप्रात्परा गतिः ॥ ६० ॥ पापकर्मसमाक्षिप्तं पतन्तं नरके नरम् । त्रायते पात्रमप्येकं पात्रभूते तु तद्द्विजे ॥ ६१ ॥ चाहिताग्नयो ये च शान्ताः शूद्रान्नवर्जिताः । मामर्चयन्ति मद्भक्तास्तेभ्यो दत्तमिहाक्षयम् ॥ ६२ ॥ प्रदानैः पूजितो विप्रो वन्दितो वापि संस्कृतः । सम्भाषितो वा दृष्टो वा मद्भक्तो दिवमुन्नयेत् ॥ ६३ ॥ ये पठन्ति नमस्यन्ति ध्यायन्ति पुरुषास्तु माम् । स तान् दृष्ट्वा च स्पृष्ट्वा च नरः पापैः प्रमुच्यते ॥६४॥ मद्भक्ता मद्गतप्राणा मद्गीता मत्परायणाः । बीजयोनिविशुद्धा ये श्रोत्रियाः संयतेन्द्रियाः शूद्रान्नविरता नित्यं

पढ़कर (वेदका) भण्डार भी नहीं है ॥ ८६ ॥ ब्राह्मणसे बढ़कर तीर्थ नहीं है, ब्राह्मणसे श्रेष्ठ पुण्य भी नहीं है, ब्राह्मणसे बढ़कर कोई पवित्र नहीं है, न द्विजसे बढ़कर कोई पावन है, ब्राह्मणसे श्रेष्ठ दूसरा धर्म नहीं है और ब्राह्मणसे उत्तम गति नहीं है॥६०॥ पापकर्मसे घिरेहुए और नरकमें पड़नेको उद्यत पुरुषकी एक सुपात्र ब्राह्मण ही रक्षा करता है और उन सुपात्र ब्राह्मणोंमें जो अग्निहोत्री, शान्त स्वभाव, शूद्रका अन्न न खानेवाले, मेरी पूजा करनेवाले और मेरे भक्त होते हैं उनको मैं इसलोक में ही अक्षय फल देता हूँ ॥ ६१-६२ ॥ मेरे भक्त ब्राह्मण की दान देकर पूजाकी हो, उसको प्रणाम किया हो, उसका सत्कार किया हो, उसके साथ बातचीतकी हो या उसका दर्शन किया हो तो वह स्वर्गमें लेजाता है ॥९३॥ जो पुरुष मेरे स्तोत्रों को पढ़ते हैं, मुझे प्रणाम करते हैं, और मेरा ध्यान करते हैं, उन पुरुषोंका स्पर्श वा दर्शन करके मनुष्य मुक्त होजाता है॥ ६४ ॥ जो मेरे भक्त हैं, जिनके प्राण मुझमें ही लगे रहते हैं, जो मेरा गान करते हैं जो मेरे ऊपर प्रीति रखते हैं, जो पिताके शुद्ध

ते पुनन्तीह दर्शनात् ॥ ९५ ॥ स्वयं नीत्वा विशेषेण दानं तेषां गृहेष्वथ । निवापयेचु यद्भक्त्या तद्दानं कोटिसंमितम् ॥ ९६ ॥ जाग्रतः स्वपतो वापि प्रवासेषु गृहेष्वथ । हृदये न प्रणश्यामि यस्य विप्रस्य भावतः ॥ ९७ ॥ स पूजितो वा दृष्टो वा स्पृष्टो वापि द्विजोत्तमः । सम्भाषितो वा राजेन्द्र पुनात्येवं नरं सदा ॥ ९८ ॥ एवं सर्वास्ववस्थासु सर्वदानानि पाण्डव । मद्भक्तेभ्यः प्रदत्तानि स्वर्गमार्गप्रदानि वै ॥ ९९ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि ब्राह्मणमहिमावर्णने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वैवं सात्त्विकं दानं राजसं तामसं तथा । पृथक्पृथक्त्वेन गतिं फलञ्चापि पृथक् पृथक् १ अवितृप्तः प्रहृष्टात्मा

बीज और माताके शुद्ध रजसे उत्पन्न हुए हैं, जो वेद पढे हैं, जिन्होंने इन्द्रियोंको वशमें कर रक्खा है, तथा जो नित्य शूद्रके अन्नसे बचे रहते हैं, वे इस जगत्में दर्शनसे पवित्र करते हैं, ॥ ९५ ॥ ऐसे पुरुषोंके घर अपने आप दानके पदार्थ ले जा कर भक्तिके साथ उनको जो दान दिया जाता है वह दान करोडों दानकी समान होता है ॥ ९६ ॥ जागतेमें अथवा सोतेमें, परदेशमें अथवा घरमें जिस ब्राह्मणके हृदयमेंसे मैं भक्तिभावके कारण दूर नहीं होता हूँ, उस श्रेष्ठ ब्राह्मणकी पूजाकी हो, दर्शन किया हो, या उसके साथ बातचीत की हो तो हे राजेन्द्र ! वह उस मनुष्यको सदा पवित्र ही करता है ॥ ९७-९८ ॥ हे पाण्डव ! इस प्रकार सब अवस्थाओंमें सब दान मेरे भक्तोंको दियेजायँ तो वे स्वर्गका मार्ग देते हैं ॥९९॥ पिचानवेवाँ अध्याय समाप्त॥९५॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-सात्त्विक, राजस और तामस ये तीन प्रकारके दान, तीन प्रकार की भिन्न २ गति और तीन प्रकारके भिन्न २ प्रकारके फलोंको सुनकर ॥ १ ॥ धर्ममें प्रीति रखने

श्रुत्वैवं धर्मसूक्तं पुनः । युधिष्ठिरो धर्मरतः केशवं पुनरब्रवीत् ॥२॥ बीजयोनिविशुद्धानां लक्षणानि वदस्व मे । बीजदोषेण लोकेश जायन्ते च कथं नराः ॥३॥ आचारदोषं देवेश वक्तुमर्हस्यशेषतः । ब्राह्मणानां विशेषञ्च गुणदोषौ च केशव ॥ ४ ॥ चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नस्य वर्तमानाः प्रतिग्रहे । येन विप्र विशेषेण तरंति तारयन्ति च । एतान् कथय देवेश त्वद्भक्तस्य नमोऽस्तु ते ॥५॥ भगवानुवाच । शृणु राजन्यथाहत्वं बीजयोनि शुभाशुभम् । येन तिष्ठति लोकोऽयं विनश्यति च पाण्डव ॥ ६ ॥ अविलुप्तब्रह्मचर्यो यस्तु विप्रो यथाविधि । स बीजं नाम विज्ञेयं तस्य बीजं शुभं भवेत् ॥ ७ ॥

वाले युधिष्ठिरका मन बड़ा प्रसन्न हुआ, इस लिये मानो तृप्ति नहीं हुई इस प्रकार केशवसे फिर पूछने लगे ॥ २ ॥ मुझे बीज और योनिसे शुद्ध पुरुषोंके लक्षण सुनाइये, हे लोकेश ! बीजके दोषवाले (दूसरेके बीजसे उत्पन्न हुए) पुरुष कैसे उत्पन्न होते हैं, ॥ ३ ॥ हे केशव ! मुझे आचारका पूर्ण दोष भी कह कर सुनाइये और हे केशव ! ब्राह्मणोंके उत्तम, मध्यम आदि भेद कहिये और उनके गुण तथा दोष कहिये ॥४॥ चारों वर्णों का प्रतिग्रह लेनेवाले ब्राह्मण जिनसा कर्म करनेसे दूसरोंको तारते हैं और स्वयं भी तर जाते हैं, हे केशव ! यह बात मुझ अपने भक्तको बताइये, आपको मेरा नमस्कार है ॥ ५ ॥ भगवान्ने कहा; कि-हे पाण्डव ! हे राजन ! शुभ बीज और शुभ योनि कैसी होती है तथा अशुभ बीज और अशुभ योनि कैसी होती है वह सुनो, क्योंकि-शुभ बीज और शुभ योनिसे यह जगत् ठहरा हुआ है और अशुभ बीज तथा अशुभ योनिसे इस जगत्का नाश होजाता है ॥ ६ ॥ जो ब्राह्मण विधिके अनुसार अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करता है उसको बीज जानो और उसका बीज शुभ कहलाता है ॥ ७ जो कन्या,

कन्या चाक्षतयोनिः स्यात् कुलीना पितृमातृतः । ब्राह्मादिषु विवाहेषु परिणीता यथाविधि ॥ ८ ॥ सा प्रशस्ता वरारोहा तस्याः योनिः प्रशस्यते । मनसा कर्मणा वाचा या गच्छेत्पर-पुरुषम् । योनिस्तस्या नरश्रेष्ठ गर्भाधानं न चार्हति ॥ ९ ॥ स्वैरिण्या यस्तु पापात्मा सन्तानार्थमिहेच्छति । स कुलान् पातय-त्याशु दशपूर्वान् दशापरान् ॥ १० ॥ दुष्टयोनौ तु यो मोहाद्रेतः सिंचति मूढधीः । तद्रेतसा समुत्पन्नः षडङ्गविदपि द्विजः॥ साधुभिः स बहिष्कार्यः श्वपाक इव पार्थिव ॥ ११ ॥ कर्मणा मनसा वाचा या भवेत्स्वैरचारिणी । सा कुलघ्नी तु विज्ञेया तस्यां जातः श्वपाचकः ॥ १२ ॥ दैवे पित्र्ये तथा दाने भोजने सह भाषणे ।

अक्षतयोनि होती है, जिसका पितृकुल और मातृकुल श्रेष्ठ होता है, जो ब्राह्मादि विवाहकी विधिसे विधिपूर्वक विवाही जाती है वह सुन्दराङ्गी स्त्री उत्तम कहलाती है और उसकी योनि प्रशंसाके योग्य कही जाती है ॥ ८ ॥ परन्तु हे राजन् ! जो स्त्री मनसे, वाणीसे, तथा कर्मसे परपुरुषके साथ समागम करती है उसकी योनि गर्भाधानके अयोग्य मानी जाती है ॥९॥ जो पापात्मा पुरुष सन्तानके लिये व्यभिचारिणी स्त्रीको स्वीकार करता है वह अपने कुलके दश पहले बीते हुए और दश आगेको होने वाले पुरुषोंको तुरन्त ही नरकमें डालता है ॥ १० ॥ जो मूढ़ बुद्धि पुरुष मोहके वशमें होकर दूषितयोनिमें वीर्य सींचता है (गर्भाधान करता है) उसके वीर्यमेंसे उत्पन्न हुआ ब्राह्मण वेदके छः अङ्गोंको जानता हो तो भी हे राजन ! सत्पुरुषोंको उसका चाण्डालकी समान बहिष्कार करना चाहिये ॥ ११ ॥ जो स्त्री कर्म मन और वाणीसे व्यभिचारिणी होती है, उसको कुलका नाश करनेवाली जाने, उसमें जो सन्तान उत्पन्न होती है वह चाण्डाल कहलाती है ॥ १२ ॥ दूषित योनिवाली स्त्रियोंके पुत्र

शयने सह सम्बन्धे न योग्या दुष्टयोनिजाः ॥ १३ ॥ न तस्माद् दुष्टयोन्यान्तु गर्भमुत्पादयेद् बुधः । मोहेन कुरुते यस्तु कुलं हन्ति त्रिपूरुषम् ॥ १४ ॥ कानीनश्च सहोढश्च तथोभौ कुण्डगोलकौ । आरूढपतिताज्जातः पतितस्यापि यः सुतः । षडेते विप्रचाण्डाला निकृष्टाः श्वपचादपि॥१५॥ यो यत्र तत्र वा रेतः सिक्त्वा शूद्रासु वा चरेत् । कामचारी स पापात्मा बीजं तस्याशुभं भवेत् ॥१६॥ अशुद्धं तद्भवेद्बीजं शुद्धां योनिं न चार्हति । दूषयत्यपि तां योनिं शुना लीढं हविर्यथा ॥ १७ ॥ शूद्रयोनौ पतेद्बीजं हाहाशब्दं द्विजन्मनः । कुर्यात् पुरीषगर्तेषु पतितोऽस्मीति दुःखितः ॥१८ ॥

यज्ञ, श्राद्ध, दान, भोजन, बातचीत, साथ सोना और संबन्ध करनेके योग्य नहीं गिनेजाते ॥ १३ ॥ इसलिये मनुष्यको दूषित योनिमें गर्भ उत्पन्न नहीं करना चाहिये, जो पुरुष मोहवश होकर गर्भको उत्पन्न करता है वह कुलके तीन पुरुषोंका नाश करता है ॥ १४ ॥ कनीन (कन्याका पुत्र) सहोढ (विवाहके समय जो कन्या गर्भवती हो उससे उत्पन्न हुआ), कुण्ड (जीवित पति वालीका व्यभिचारसे उत्पन्न कियाहुआ पुत्र), गोलक (पतिके मरजाने पर व्यभिचारसे उत्पन्न कियाहुआ पुत्र), आरूढपतित से उत्पन्न हुआ पुत्र (संन्यासीका पुत्र) और जो पतित पुत्र ये छः ब्राह्मण चाण्डाल कहलाते हैं और चाण्डालसे भी निकृष्ट हैं ॥ १५ ॥ जो चाहे जहाँ वीर्यका सिंचन करता है अथवा शूद्र-जातिकी स्त्रीमें भी वीर्यपात करता है वह पापात्मा पुरुष काम-चारी कहलाता है और उसका वीर्य अशुभ होता है ॥१६॥ उसका वीर्य अशुभ होनेके कारण शुद्धयोनिके योग्य नहीं होता है, जैसे कुत्ता हविको चाटकर दूषित करदेता है तैसे ही वह बीज शुद्ध योनिको दूषित करदेता है ॥ १७ ॥ ब्राह्मणका बीज शूद्रकी योनिमें पड़ता है उस समय हाहाकार करता है और दुःखी

मामधः पातयन्नेष पापात्मा काममोहितः । अधोगतिं व्रजेत् क्षिप-
मिति शप्त्वा पतेत्तु तत् ॥१९॥ आत्मा हि शुक्रमुद्दिष्टं दैवतं परमं
महत् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निरुन्ध्याच्छुक्रमात्मनः ॥ २० ॥
आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यशः । पुण्यञ्च मत्प्रियत्वञ्च
लभते ब्रह्मचर्यया ॥ २१ ॥ अविप्लुतब्रह्मचर्यैर्गृहस्थाश्रममाश्रितैः ।
पञ्चयज्ञपरैर्धर्मः स्थाप्यते पृथिवीतले ॥ २२ ॥ सायं प्रातस्तु ये
सन्ध्यां सम्यग्नित्यमुपासते । नावं वेदमयीं कृत्वा तरन्ते तारयन्ति
च ॥२३॥ यो जपेत् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम् । न सीदे-
त्प्रतिगृह्णानः पृथिवीं च ससागराम् ॥ २४ ॥ ये चास्य दुःस्थिताः
केचिद् ग्रहा सूर्यादयो दिवि । ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शुभ-

होकर कहता है, कि-मैं नरकके गढ़ेमें पड़ा हूँ ॥ ॥ १८ ॥
इस पापात्मा पुरुषने कामसे मोहित होकर मेरा अधःपात किया है,
इसलिये यह तुरन्त नरकमें जापड़े, ऐसा शाप देकर वह वीर्य
गिरता है ॥ १९ ॥ आत्माको महान् और परम शुक्र (वीर्य)
कहा है, इसलिये पुरुष सब प्रकारसे सावधान होकर अपने शुक्र-
देवकी रक्षा करे ॥२०॥ ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेसे मनुष्य
तेज, बल, वीरता, बुद्धि, श्री, बडाभारी यश, पुण्य और मेरी
प्रीतिको पाता है ॥ २१ ॥ अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करके
गृहस्थाश्रममें रहनेवाले और पञ्च महायज्ञोंको करनेवाले पुरुष
पृथिवी पर धर्मकी स्थापना करते हैं ॥ २२ ॥ जो पुरुष नित्य
सायङ्काल तथा प्रभातकालमें सन्ध्यावन्दन करते हैं वे पुरुष
वेदकी नौकाके द्वारा अपने आप तरजाते हैं तथा दूसरोंको तार
देते हैं ॥ २३ ॥ जो पुरुष पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्रीका
जप करता है वह सागरसहित पृथिवीका दान लेकर भी दुःखी
नहीं होता है ।२४। और इसके सूर्यादि कितने ही ग्रह आकाशमें
दुष्टस्थानमें रहते हों तो इसके लिये शान्त, शिव और शुभकर्त्ता

करास्तथा ॥२५॥ यत्र यत्र स्थिताश्चैव दारुणाः पिशिताशनाः । घोररूपा महाकाया धर्षयन्ति न तं द्विजम् ॥ २६ ॥ पुनन्तीह पृथिव्यां च चीर्णवेदव्रता नराः । चतुर्णामपि वेदानां सा हि राजन् गरीयसी ॥२७॥ अचीर्णव्रतवेदा ये विकर्मफलमाश्रिताः । ब्राह्मणा नाममात्रेण तेऽपि पूज्या युधिष्ठिर । किं पुनर्यस्तु सन्ध्ये द्वे नित्यमेवोपतिष्ठते ॥ २८ ॥ शीलमध्ययनं दानं शौचं मार्दवमार्जवम् । तस्माद्वेदाद्विशिष्टानि मनुराह प्रजापतिः ॥ २९ ॥ भूर्भुवः स्वरिति ब्रह्म यो वेदनिरतो द्विजः । स्वदारनिरतो दान्तः स विद्वान् स च भूसुरः ॥ ३० ॥ सन्ध्यामुपासते ये वै नित्यमेव द्विजोत्तमाः । ते यान्ति नरशार्दूल ब्रह्मलोकं न संशयः ॥ ३१ ॥ सावित्रीमा-

---

होजाते हैं ॥ २५ ॥ और दारुण, मांसभक्षी, भयानकरूप और बड़ी २ कायावाले राक्षस किसी स्थान पर भी उस ब्राह्मणका तिरस्कार नहीं करसकते ॥२६॥ वेदके (महानाम्नी आदि चार) व्रतोंका आचरण करनेवाले पुरुष पृथिवी पर दूसरोंको पवित्र करते हैं, हे राजन् ! चारों वेदोंमें गायत्री श्रेष्ठ गिनी जाती है २७ हे युधिष्ठिर ! जो वेदके चीर्णव्रतको नहीं करते हैं और शास्त्र विरुद्ध कर्मके फलका आश्रय लेते हैं वे नाममात्रके ब्राह्मण भी पूजनीय होते हैं, फिर जो ब्राह्मण प्रातः सायं दोनों समय सन्ध्यावन्दन करते हैं उनका तो कहना ही क्या है ? ॥ २७ ॥ शील, अध्ययन, दान, बाहरी और भीतरी पवित्रता, कोमलता सरलता ये सब ब्राह्मणके वेदसे भी विशेष गुण हैं, ऐसा प्रजापति मनु कहते हैं ॥ २९ ॥ जो ब्राह्मण भूः, भुवः, स्वः, इन तीन व्याहृतियोंके साथ वेदका अध्ययन करता है, अपनी स्त्रीमें तत्पर रहता है और इन्द्रियोंको वशमें रखता है, उसको विद्वान् तथा ब्राह्मण जानो ॥ ३० ॥ जो उत्तम ब्राह्मण नित्य सन्ध्यावन्दन करते हैं हे राजन् ! वे निःसन्देह ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ३१ ॥

त्रसारोऽपि वरो विप्रः सुयंत्रितः। नायंत्रितश्चतुर्वेदी सर्वाशी सर्व-
विक्रयी ॥ ३२ ॥ सावित्रीञ्चैव वेदांश्च तुलया तोलयन्पुरा ।
सदेवर्षिगणाश्चैव सर्वे ब्रह्मपुरःसराः। चतुर्णामपि वेदानां सा हि
राजन् गरीयसी॥३३॥यथा विकसिते पुष्पे मधु गृह्णन्ति षट्पदाः।
एवं गृहीता सावित्री सर्ववेदे च पाण्डव॥३४॥तस्माच्च सर्ववेदानां
सावित्री प्राण उच्यते। निर्जीवा हीतरे वेदा विना सावित्रिया
नृप॥ ३५ ॥ नायंत्रितश्चतुर्वेदी शीलभ्रष्टः स कुत्सितः। शील-
वृत्तसमायुक्तः सावित्रीपाठको वरः॥ ३६ ॥ सहस्रपरमां देवीं
शतमध्यां शतावराम्।सावित्रीं जप कौन्तेय सर्वपापप्रणाशिनीम्॥३७

ब्राह्मण केवल गायत्रीमंत्र ही पढा होय,परन्तु खान पान आदिके विषयमें अच्छे प्रकार नियमसे रहता हो तो वह श्रेष्ठ है और जो चारों वेदोंका पढा हुआ होने पर भी नियमसे भ्रष्ट होगया हो, सबका खाता हो तथा घी दूध आदि सब प्रकारके रसोंको बेचता हो तो वह उत्तम नहीं गिनाजाता ॥ ३२ ॥ पहले देवता, ऋषि और ब्रह्मा इन सबोंने गायत्रीमंत्रको और वेदोंको तोला था, हे राजन्! गायत्री चारों वेदोंसे भारी उतरी॥ ३३ ॥ हे राजन! जैसे भौंरे खिले हुए फूलोंमेंसे मधुको ग्रहण करलेते हैं, ऐसे ही सब वेदोंमेंसे गायत्री ग्रहण कीगई है ॥३४॥ इसकारण गायत्री सब वेदोंका प्राण कहलाती है, हे राजन्! गायत्रीके विना सब वेद निर्जीव हैं ॥३५॥ जो ब्राह्मण चारों वेदोंको पढा हो, परन्तु मर्यादाका उलङ्घन कर गया हो और शीलसे भ्रष्ट होगया हो वह निन्दित कहलाता है और जो ब्राह्मण शील तथा सदाचारसे युक्त हो वह गायत्रीका पाठमात्र जानता हो तब भी श्रेष्ठ है ३६ हे कुन्तीनन्दन! सब पापोंका नाश करनेवाली गायत्री देवीका जप कर, गायत्रीका एक हजार जप उत्तम, सौ जप मध्यम और दश जप कनिष्ठ कहलाता है ॥ ३७ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-

युधिष्ठिर उवाच । त्रैलोक्यनाथ हे कृष्ण सर्वभूतात्मको ह्यसि । नानायोगपर श्रेष्ठ तुष्यसे केन कर्मणा ॥ ३८ ॥ भगवानुवाच । यदि भारसहस्रन्तु गुग्गुलादि मधूपयेत् । करोति चेन्नमस्कारमुपहारञ्च कारयेत् ॥ ३९ ॥ स्तौति यः स्तुतिभिर्माञ्च ऋग्यजुःसामभिः सदा । न तोषयति चेद्विप्रान्नाहं तुष्यामि भारत ॥४०॥ ब्राह्मणे पूजिते नित्यं पूजितोऽस्मि न संशयः । आक्रुष्टे चाहमाक्रुष्टो भवामि भरतर्षभ ॥ ४१ ॥ परा मयि गतिस्तेषां पूजयन्ति द्विजं हि ये । यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले ॥ ४२ ॥ यस्तान् पूजयति प्राज्ञो मद्गतेनान्तरात्मना । तमहं स्वेन रूपेण पश्यामि नरपुङ्गव ॥४३॥ कुब्जाः काणा वामनाश्च दरिद्रा व्याधितास्तथा । नावमान्या द्विजाः प्राज्ञैर्मम रूपा हि ते द्विजाः ॥४४॥

हे त्रिलोकीनाथ कृष्ण ! तुम सब प्राणियोंके आत्मारूप हो, हे अनेकों प्रकारके योगको जाननेवाले ! हे श्रेष्ठ ! तुम किस कर्मसे सन्तुष्ट होते हो ? ॥३८॥ भगवान्‌ने कहा, कि–यदि एक हजार भार गूगल आदि धूप देय, मुझे नमस्कार करे, मुझे नैवेद्य निवेदन करे तथा सदा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मंत्रोंसे तथा स्तुतियोंसे मेरी स्तुति करे, परन्तु ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट न करे तो हे भारत ! मैं सन्तुष्ट नहीं होता हूँ, हे भारतमें श्रेष्ठ राजन् ! ब्राह्मणका पूजन करनेसे मेरा नित्य पूजन किया हुआ माना जाता है और विप्रकी निन्दा होनेसे मेरी निन्दा होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३९–४१ ॥ जो विप्रको पूजते हैं उनकी मुझमें परमगति होती है क्योंकि-मैं पृथ्वी पर विप्रके रूपसें वसता हूँ ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! जो बुद्धिमान् मुझमें चित्त लगाकर विप्रोंकी पूजा करता है, उसको मैं अपना दर्शन देता हूँ ॥४३॥ कुबड़े, काणे, ठिगने, दरिद्र और रोगी विप्रोंका बुद्धिमान् मनुष्योंको अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि-वह विप्र मेरा रूप हैं॥४४॥

ये केचित् सागरान्तायां पृथिव्यां द्विजसत्तमाः मम रूपं हि तेष्वे-वमर्चितेष्वर्चितोऽस्म्यहम् ४५ बहवस्तु न जानन्ति नरा ज्ञानबहि-ष्कृताः । यदहं द्विजरूपेण वसामि वसुधातले ॥ ४६ ॥ अवम-न्यन्ति ये विप्रान् स्वधर्मान्पातयन्ति ते । प्रेषणैः प्रेषयन्ते च शुश्रूषां कारयन्ति च ॥ ४७ ॥ मृतांश्चात्र परत्रैतान् यमदूता महा-बलाः । निकृन्तन्ति यथाकामं सूत्रमार्गेण शिल्पिनः ॥ ४८ ॥ आक्रोशपरिवादाभ्यां ये रमन्ते द्विजातिषु । तान्मृतान्यमलोक-स्थान्निपात्य पृथिवीतले ॥ ४९ ॥ आक्रम्योरसि पादेन क्रूरः संरक्तलोचनः । अग्निवर्णैस्तु संदंशैर्यमो जिह्वां समुद्धरेत् ॥५०॥ ये च विप्रान्निरीक्षन्ते पापाः पापेन चक्षुषा । अब्रह्मण्याः श्रुते-र्बाह्या नित्यं ब्रह्मद्विषो नराः ५१ तेषां घोरा महाकाया वक्रतुण्डा

समुद्रपर्यन्तकी पृथिवी पर जो कोई भी श्रेष्ठ विप्र हैं वे मेरा ही स्वरूप हैं, उनका पूजन करनेसे मेरा पूजन होता है ॥ ४५ ॥ मैं पृथ्वी पर विप्रोंके रूपसे बसता हूँ, इस बातको बहुतसे अज्ञानी मनुष्य नहीं जानते ॥ ४६ ॥ जो विप्रका अपमान करते हैं, जो विप्रको उसके धर्मसे भ्रष्ट करते हैं, जो विप्रोंको दूत बनाकर भेजते हैं और जो विप्रोंसे सेवाका काम लेते हैं ॥ ४७ ॥ उनको मरने के बाद जैसे आरेकस आरेसे इच्छानुसार काटते हैं तैसे ही यम के महाबली दूत इच्छानुसार काटते हैं ॥४८॥ जो विप्रोंकी उच्च-स्वरसे निन्दा करके अथवा उनकी झूठी सच्ची निन्दा करके प्रसन्न होते हैं उनको मरनेके बाद यमलोकमें पहुँचने पर पृथ्वीमेंको ढकेल दिया जाता है ॥ ४९ ॥ क्रूर और लाल २ आँखोंवाले यमराज उनकी छाती पर पैर रखकर अग्निकी समान लाल२ संडासियोंसे उनकी जीभको खेंचकर निकालते हैं ॥ ५० ॥ जो पापी पुरुष पापभरी दृष्टिसे विप्रोंकी ओरको देखते हैं, विप्रोंकी रक्षा नहीं करते हैं, वेदधर्मको छोड़ बैठते हैं और नित्य विप्रोंसे द्वेष करते

महाबलाः । उद्धरन्ति मुहूर्तेन खगाश्चक्षुर्यमाज्ञया ॥ ५२ ॥ यः प्रहारं द्विजेन्द्राय दद्यात्कुर्याच्च शोणितम् । अस्थिभङ्गञ्च यः कुर्यात्प्राणैर्वा विप्रयोजयेत् । सोऽनुपूर्व्येण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ५३ ॥ शूलमारोप्यते पश्चाज्ज्वलने परिपच्यते । बहुवर्षसहस्राणि पच्यमानस्त्ववाक्शिराः । नावमुच्येत दुर्मेधा न तस्य क्षीयते गतिः ॥ ५४ ॥ ब्राह्मणान्वा विचार्यैव ब्रजन्ये वधकाङ्क्षया । शतवर्षसहस्राणि तामिस्रे परिपच्यते ॥ ५५ ॥ उत्पाद्य शोणितं गात्रात्तस्य कश्चमतिपूर्वकम् । स पर्ययेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ५६ ॥ तस्मान्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गतिमीरयेत् । न ब्रूयात्परुषां वाणीं न चैवैनानतिक्रमेत् ॥ ५७ ॥ ये विप्रान्

हैं ॥ ५१ ॥ उनकी आँखोंको वडीर काया और टेढी चोंचवाले महाबली भयानक पक्षी यमराजकी आज्ञासे जरादेरमें निकाल लेते हैं ॥५२॥ जो पुरुष श्रेष्ठ विप्रोंको पीटते हैं, उनके शरीरमें रुधिर निकालदेते हैं, हड्डी तोड़ देते हैं और प्राणनाश करते हैं वे पुरुष क्रमसे इकीस नरकोंमें पडते हैं।५३॥फिर उनको शूलपर चढाया जाता है, फिर अग्निमें पकायाजाता है, वे पुरुष हजारों वर्षतक उलटे करके अग्निमें राँधेजाते हैं उन दुष्टोंका उन नरकोंमेंसे छुटकारा नहीं होता है तथा संसारमें जन्म मरण हुआ करता है ५४ ब्राह्मणोंका तिरस्कार करके अथवा ब्राह्मणोंको मारनेकी इच्छासे जो उनके ऊपर चढकर जाते हैं, वे पुरुष एक लाख वर्ष तक तामिस्र नामक नरकमें रंधते हैं ॥ ५५ ॥ जो क्रोधके आवेशमें आकर जानबूझकर ब्राह्मणके शरीरमेंसे रुधिर निकालता है वह पुरुष तले ऊपर इक्कीस नरकोंमें पडता है ॥ ५६ ॥ इसलिये ब्राह्मणोंको खोटा वचन न कहै, रूखी बातें न कहै, कठोर वचन न कहै तथा ब्राह्मणोंका अपमान भी न करे ॥ ५७ ॥

श्लक्ष्णया वाचा पूजयन्ति नरोत्तमाः । अर्चितश्च स्तुतश्चैव तै-र्भवामि न संशयः ॥ ५८ ॥ तर्जयन्ति च ये विप्रान् क्रोशयन्ति च भारत ! आक्रुष्टस्तर्जितश्चाहं तैर्भवामि न संशयः ॥ ५९ ॥ यश्चन्दनैश्चागुरुधूपदीपैरभ्यर्चयेत्काष्ठमयीं ममार्चाम् । तेनार्चितो नैव भवामि सम्यक् विप्रार्चनादस्मि समर्चितोऽहम् ॥६०॥ विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहं विप्रप्रसादादसुराञ्जयामि । विप्रप्रसादाच्च सदक्षिणोऽहं विप्रप्रसादादजितोऽहमस्मि ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि वीनयोन्योः शुद्धयशुद्धिनिरूपणो षण्णवतितमोऽध्यायः ॥९६॥

युधिष्ठिर उवाच । देवेदेवेश दैत्यघ्न परं कौतूहलं हि मे । एतत् कथय सर्वज्ञ त्वद्भक्तस्य च केशव । मानुषस्य च लोकस्य धर्मलोकस्य चांतरम् ॥ १ ॥ कीदृशं किं प्रमाणम्वा किमधिष्ठानमेव

जो सत्पुरुष कोमल वाणीसे ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं वे निःसन्देह मेरी ही पूजा और स्तुति करते हैं ॥ ५८ ॥ परन्तु हे भरतवंशी राजन् ! जो ब्राह्मणका तिरस्कार करते हैं, चिल्ला कर ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, वे निःसन्देह मेरा ही तिरस्कार करते हैं ॥ ५९ ॥ जो पुरुष चन्दन, अगर धूपदीपसे मेरी काठ आदिकी प्रतिमाका पूजन करता है, वह मेरा वैसा ठीक पूजन नहीं करता है, कि-जैसा मेरा पूजन ब्राह्मणके पूजनसे होता है ॥ ६० ॥ मैं ब्राह्मणके अनुग्रहसे धरणीधर हूँ, ब्राह्मणके प्रसादसे असुरोंको जीतता हूँ, मैं ब्राह्मणके प्रसादसे दक्षिणा वाला हूँ और ब्राह्मणके प्रसादसे ही अजित हूँ ।६१। छियानवेवाँ अध्याय समाप्त ।९६।

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे देवेश! हे दैत्योंका नाश करनेवाले! मुझे बडा कुतूहल होरहा है, हे केशव! मुझ अपने भक्तके कुतूहलका निर्णय करदीजिये, हे सर्वज्ञ ! मनुष्यलोकमें और यमलोकके बीचमें कितना अन्तर है ? ॥ १ ॥ वह यमलोक कैसा है,

च । तरन्ति मानुषा देवा केनोपायेन माधव ॥ २ ॥ त्वगस्थि-मांसनिर्मुक्ते पञ्चभूतविवर्जिते । कथमस्य महादेव सुखदुःखमशेषतः ॥ ३ ॥ जीवस्य कर्म लोकेषु कर्मभिस्तु शुभाशुभैः । अनुबद्धस्य तैः पाशैर्नीयमानस्य दारुणैः ॥४॥ मृत्युदूतैर्दुराधर्षैर्घोरैर्घोरपराक्रमैः । वध्यमानस्याक्षिप्यमाणस्य विद्रुतस्य यथाज्ञया । पुण्यपापकृतानिष्ठत्सुखदुःखमशेषतः । यमदूतैर्दुराधर्षैर्नीयते वा कथं पुनः६ कथं धर्मपरा यान्ति देवताद्विजपूजकाः । कथं वा पापकर्माणो यान्ति प्रेतपुरं नराः ॥ ७ ॥ किं रूपं किं प्रमाणं वा वर्णः को वास्य केशव । जीवस्य गच्छतो नित्यं यमलोकं ब्रवीहि मे ॥ ८ ॥

कितना और कहाँ है ? हे माधव ! मनुष्य यमलोकके पार किस उपायसे होते हैं ॥ २ ॥ त्वचा, हड्डी और मांससे रहित तथा पंचमहाभूतोंसे रहित शरीरके द्वारा हे महान् देव ! मनुष्य सुख दुःख कैसे भोगता है, यह सब मुझे सुनाइये ॥३॥ जीव मनुष्य-लोकमें अपने शुभ अशुभ कर्मोंसे बँधाहुआ होता है और हठीले भयानक पराक्रमवाले यमदूत यमराजकी आज्ञासे उस जीवको दारुण पाशोंसे बाँधकर लेजाते हैं,उस समय यमकी आज्ञासे उस जीवको पीटाजाता है और तिरस्कार कियाजाता है तो वह जीव इधर उधरको भागता है ॥ ४ ॥ ५ ॥ और तहाँ पुण्य कर्म करने वाले यमकी आज्ञासे सब प्रकारका सुख भोगते हैं और पाप कर्म करने वाले पूर्ण दुःख भोगते हैं, यमके हठीले दूत इस जीवको यमपुरीमें किसप्रकार लेजाते हैं ? और हे देव ! तहाँ पहुँचे हुए मनुष्य क्या काम करते हैं ?६ देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करने वाले धर्मात्मा पुरुष स्वर्गमें किस प्रकार जाते हैं और पाप करनेवाले यमलोकमें किस प्रकार जाते हैं ? ॥७॥ हे केशव ! जब जीव यमलोकमें जाता है तब उसका कैसा रूप होता है?उसका शरीर कैसा होता है?और शरीरका वर्ण कैसा होता है यह सुनाइये८

भगवानुवाच । शृणु राजन्यथावृत्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि । ततोऽहं कथयिष्यामि मद्भक्तस्य नरेश्वर ॥ ९ ॥ पडशीतिसहस्राणि योजनानां युधिष्ठिर । मानुषस्य च लोकस्य यमलोकस्य चान्तरम् १० न तत्र वृक्षच्छाया वा न तटाकं सरोऽपि वा । न वाप्यो दीर्घिका वापि न कूपो वा युधिष्ठिर ॥११॥ न मण्डपं सभा वापि न प्रपा न निकेतनम् । न पर्वतो नदी वापि न भूमेर्विवरं क्वचित् ॥१२॥ न ग्रामो नाश्रमो वापि नोद्यानं वा वनानि च । न किञ्चिदाश्रयस्थानं पथि तस्मिन्युधिष्ठिर१३जन्तोर्हि प्राप्तकालस्य वेदनार्तस्य वै भृशम् । कारणैस्त्यक्तदेहस्य प्राणैः कण्ठगतैः पुनः १४ ॥ शरीराच्चाल्यते जीवो ह्यवशो मातरिश्वना । निर्गतो वायुभूतस्तु षट्कोशात्तु कलेवरात् ॥ १५ ॥ शरीरमन्यत्तद्रूपं तद्वर्णं तत्प्रमा-

---

भगवान्‌ने कहा, कि-हे राजन् ! हे नरेन्द्र ! तू मुझसे यह सब बूझता है इसलिये यह सब वृत्तान्त ठीक२ सुनाता हूँ, क्योंकि-तू मेरा भक्त है, उसको तू सुन ॥९॥ हे राजा युधिष्ठिर!मनुष्य-लोक और यमलोकके बीचमें छियासी हजार योजनका अन्तर है ॥ १० ॥ हे युधिष्ठिर ! तिस यमलोकमें वृक्षकी छाया नहीं है, तालाव, सरोवर और बावड़ी नहीं है, गूलें वा कुए नहीं हैं ॥ ११ ॥ मण्डप नहीं है, बैठक नहीं है, प्याऊ नहीं है घर नहीं है, पर्वत, नदी तथा कहीं गुफा भी नहीं है ॥१२॥ ग्राम, आश्रम, बगीचे और वन नहीं हैं तथा हे युधिष्ठिर ! उस मार्गमें कोई धर्मशाला भी नहीं है ॥१३॥ जब प्राणीके मरणका समय होता है तब वह वेदनासे बडी पीडा पाता है और उस समय किसी कारणको लेकर कण्ठमें आयेहुए प्राण प्राणीके देहको त्याग देते हैं ॥ १४ ॥ उस समय प्राण वायुके वशमें हुआ जीव शरीरमेंसे चलायमान होता है, और छः कोशवाले शरीरमेंसे वायु-रूप होकर निकलजाता है ॥१५॥ और उसके रङ्गका तथा उतना

गतः । अदृश्यं तत् प्रविष्टस्तु सोऽप्यदृष्टोऽथ केनचित् ॥ १६ ॥
सोऽन्तरात्मा देहवतामष्टाङ्गो यस्तु सञ्चरेत् । छेदनाद्भेदनाद्दाहा-
त्ताडनाद्वा न नश्यति १७ नानारूपधरैर्घोरैः प्रचण्डैश्चण्डसाधनैः ।
नीयमानो दुराधर्षैर्यमदूतैर्यमाज्ञया ॥ १८ ॥ पुत्रदारमयैः पाशैः
संनिरुद्धोऽवशो बलात् । स्वकर्मभिश्चानुगतः कृतैः सुकृतदुष्कृतैः १९
आक्रन्दमानः करुणं बन्धुभिर्दुःखपीडितैः । त्यक्त्वा बन्धुजनं सर्वं
निरपेक्षस्तु गच्छति ॥ २० ॥ मातृभिः पितृभिश्चैव भ्रातृभिर्मा-
तुलैस्तथा । दारैः पुत्रैर्वयस्यैश्च रुदद्भिस्त्यज्यते पुनः ॥ २१ ॥
अदृश्यमानस्तैर्दीनैरश्रुपूर्णमुखेक्षणैः । स्वशरीरं परित्यज्य वायु-
भूतस्तु गच्छति ॥ २२ ॥ अन्धकारमपारं तं महाघोरं तमोवृतम् ।

ही बडा दूसरा अदृश्य शरीर होता है, उसमें इसप्रकार प्रवेश कर जाता है, कि-कोई देख नहीं पाता ॥ १६ ॥ जो एक शरीरमेंसे दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है वह देहधारी प्राणियोंका अन्तरात्मा है, आठ अंगुलका है, तोड़नेसे, फोडनेसे, जलानेसे, और ताडन करनेसे नष्ट नहीं होता है ॥ १७ ॥ वह जीव पुत्र और स्त्रीरूप फाँसीसे जकडकर बँधा होता है, इसलिये पराधीन होता है उसको अनेकों प्रकारके रूपधारी और भयानक साधनोंवाले यमके भयानक और हठीले दूत यमकी आज्ञासे जबरन यमलोकमें लेजाते हैं, उस समय जीवके किये हुए पुण्य और पापकर्म पीछे२ जाते हैं ॥१८-१९॥उस जीवके कुटुम्बी दुःखसे पीडा पातेहुए दयाजनक रुदन करते हैं और वह जीव सब बान्धवोंको छोड अपेक्षारहित होकर चलाजाता है ॥२०॥ माता, पिता, भाई, मामा, स्त्री, पुत्र, और मित्र रोते रहजाते हैं और उसकी आशा छोड बैठते हैं ॥ २१ ॥ आँसुओंसे मुख और नेत्र जिनके भरेहुए हैं ऐसे उन कुटुम्बियोंसे विलग हुआ वह जीव अदृश्य होजाता है और वायुरूप हो अपने शरीरको त्याग कर चला जाता है२२(जीव)जिस

दुःखान्तं दुष्प्रतारं च दुर्गमं पापकर्मणाम् ॥ २३ ॥ दुःसहायं दुरन्तञ्च दुर्निरीक्षं दुरासदम् । दुरापमतिदुःखञ्च पापिष्ठानां नरोत्तम ॥ २४ ॥ ऋषिभिः कथ्यमानं तत्पारम्पर्येण पार्थिव । त्रासं जनयति प्रायः श्रूयमाणं कथास्वपि ॥२५॥ अवश्यं चैव गन्तव्यं तदध्वानं युधिष्ठिर।प्राप्तकालेन सन्त्यज्य बन्धून्भोगान्धनानि च२६ जरायुजैरण्डजैश्च स्वेदजैरुद्भिदैस्तथा । जङ्गमैः स्थिरसंज्ञैश्च गन्तव्यं यमसादनम् ॥ २७ ॥ देवासुरैर्मनुष्याद्यैर्वैवस्वतवशानुगैः। स्त्रीपुंनपुंसकैश्चापि पृथिव्यां जीवसंज्ञितैः ॥ २८ ॥ मध्यमैर्युवभिर्वापि बालैर्वृद्धैस्तथैव च । जातमात्रैश्च गर्भस्थैर्गन्तव्यः स

मार्गमें होकर जाता है वह मार्ग अन्धकारसे घिरा हुआ, पापकर्म करनेवालोंको दुःख देनेवाला, दुस्तर और दुर्गम है ॥ २३ ॥ हे राजन् ! उस मार्गमें पापकर्म करनेवालोंको सहायता मिलना कठिन होती है, उसके पार पहुँचना कठिन होता है, उसकी ओरको देखना भी कठिन होता है, उसमें चलना कठिन होता है, घुसना कठिन होता है वह बडा ही दुःखरूप है ॥ २४ ॥ हे राजन् ! ऋषि कथाओंमें भी परम्परासे उस मार्गका वर्णन करते हैं, उस समय प्रायः उस कथाको सुनकर भय लगता है२५ परन्तु हे युधिष्ठिर ! समय आने पर बान्धवोंको, भोगोंको और धनोंको त्यागकर उस मार्गमें अवश्य ही जाना पडता है ॥२६॥ जरायुमेंसे उत्पन्न होने वाले मनुष्य आदि, अण्डेमेंसे उत्पन्न होने वाले पक्षी, पसीनेसे उत्पन्न होने वाले मच्छर डाँस आदि और पृथिवीको फोडकर उत्पन्न होनेवाले वृक्ष आदि, इसप्रकार स्थावर और जङ्गम सब ही प्राणियोंको यमलोकमें जाना है ॥२७॥ देवता, असुर, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, मध्यम अवस्थाके तरुण, बालक, बूढे, तुरतके जन्मे और गर्भमें रहनेवाले, पृथिवीके सब जीव यमके अधीन हैं और इनको उस मार्गमें जाना ही

महापथः ॥ २९ ॥ पूर्वाह्णे वा पराह्णे वा संध्याकालेऽथवा पुनः ।
प्रदोषे चार्धरात्रे वा प्रत्यूषे वाप्युपस्थिते ॥ ३० ॥ प्रवासस्थैर्वनस्थैर्वा पर्वतस्थैर्जले स्थितैः । क्षेत्रस्थैर्वा नभस्थैर्वा गृहमध्यगतैरपि ॥ ३१
भुञ्जद्भिर्वा पिबद्भिर्वा खादद्भिर्वा नरोत्तम । आसीनैर्वा स्थितैर्वापि शयनीयगतैरपि। जाग्रद्भिर्वा प्रसुप्तैर्वा गन्तव्यः स महापथः॥३२मृत्युदूतैर्दुराधर्षैः प्रचण्डैश्चण्डशासनैः । आक्षिप्यमाणा ह्यवशाः प्रयान्ति यमसादनम् ॥३३॥ क्वचिद्भीतैः क्वचिन्मत्तैः प्रस्खलद्भिः क्वचित् क्वचित् । क्रन्दद्भिर्वेदनार्तैस्तु गन्तव्यं यमसादनम् ॥ ३४ ॥ निर्भर्त्स्यमानैरुद्विग्नैर्विधूतैर्भयविह्वलैः । तुद्यमानशरीरैश्च गन्तव्यं तर्जितैस्तथा ॥ ३५ ॥ कण्टकाकीर्णमार्गेण तप्तवालुकपांसुना ।

पड़ता है २८॥२९ दिनके पहले भागमें वा पिछले भागमें, सन्ध्याके समय, प्रदोषकालमें, आधीरातमें अथवा प्रभातकालमें, चाहे कोई भी समय हो उस मार्गमेंको जाना ही पड़ता है ॥३०॥ हे राजन् ! परदेशमें रहने वाले, वनवासी, पहाडोंमें रहनेवाले, जलके भीतर रहने वाले, खेतोंपर रहनेवाले, आकाशवासी, घरके भीतर रहनेवाले, भोजन करतेमें, जल पीतेमें, फल आदि खातेहुए, बैठे हुए, खड़े, शय्याओंपर लेटेहुए, जागते हुए, वा सोते हुए सबोंको ही उस महामार्गमें जाना होगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ हठीले, प्रचण्डस्वभावके और प्रचण्ड आज्ञा करनेवाले मृत्युके दूत इन जीवोंका तिरस्कार करते हैं और ये पापी जीव पराधीन हुए यमलोकमें जाते हैं ३३ कहीं भयभीत हुए, कहीं पागल हुए, कहीं ठोकरें खाते, कहीं वेदनासे चिल्लाते तथा कहीं पीड़ाके मारे घबड़ाए हुए वे पुरुष यमलोकमें जाते हैं ॥ ३४ ॥ यमके दूतोंसे तिरस्कार पाते, घबड़ाते हुए, काँपते हुए, भयसे व्याकुल हुए जिनके शरीरोंमें शूलसी पीड़ा होती है ऐसे दूसरोंका तिरस्कार करने वाले पुरुषोंको तिरस्कारके साथ यमलोकमें जाना पड़ता है ॥ ३५ ॥ जो मनुष्य

दह्यमानैस्तु गन्तव्यं नरैर्दानविवर्जितैः ॥ ३६ ॥ काष्ठोपलशिलाघातैर्दण्डोल्मुककशांकुशैः । हन्यमानैर्यमपुरं गन्तव्यं धर्मवर्जितैः ३७ मेदःशोणितपूयाद्यैर्वक्त्रैर्गात्रैश्च सव्रणैः । दग्धत्तनजकीर्णैश्च गन्तव्यं जीवघातकैः ॥ ३८ ॥ वेदनार्तैश्च कूजद्भिर्विक्रोशद्भिश्च विस्वरम् । वेदनार्तैः पतद्भिश्च गन्तव्यं जीवघातकैः ॥ ३९ ॥ भग्नपादोरुहस्ताङ्गैर्भग्नजंघाशिरोधरैः । छिन्नकर्णोष्ठनासैश्च गन्तव्यं जीवघातकैः ॥ ४० ॥ शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च शंकुतोमरसायकैः । तुद्यमानैस्तु शूलाग्रैर्गन्तव्यं जीवघातकैः ॥ ४१ ॥ श्वभिर्व्याघ्रैर्वृकैः काकैर्भक्ष्यमाणाः समन्ततः तुद्यमानाश्च गच्छन्ति

दान नहीं करते हैं उनको काँटोंसे भरे जलती हुई वालू और धूलिवाले मार्गोंमें जलते हुए चलना पडता है ॥ ३६ ॥ अधर्मी मनुष्योंको लकडी, पत्थर, शिला, दण्डा, ऊका, चाबुक और अंकुशकी मार खाते २ यमलोकमें जाना पडता है ॥ ३७ ॥ जीवोंकी हत्या करनेवाले प्राणियोंके मुखपर मेद, रुधिर और पीप आदि चुपडी जाती है, उनके शरीरमें मार खाकर घाव होजाते हैं, उनके शरीरको दागाजाता है, उनका शरीर लोहूसे लथड पथड होजाता है, ऐसी दशामें वे यमलोकमें जाते हैं ॥ ३८ ॥ जीवोंकी हिंसा करनेवाले वेदनासे पीडा पाते हैं, डकराते हैं, अडखडाती हुई वाणीमें विलाप करते हैं और वेदनासे पीडा पाते गिरते पडते यमलोकमें जाते हैं ॥३९॥ जीवोंके घातक मनुष्योंके पैर, साँथलें, हाथ आदि अङ्ग तोडदिये जाते हैं, जङ्घा कन्धे आदि तोड़दिये जाते हैं, उनके कान होठ और नाक काटलिये जाते हैं, ऐसी दशा में उनको यमलोकमें जाना पडता है॥४०॥ जीवहिंसा करने वाले मनुष्योंके ऊपर यमके दूत शक्ति, भिन्दिपाल, शंकु, तोमर, बाण और त्रिशूलकी नोकोंसे प्रहार करते हैं, ऐसी दशामें उनको यमलोकमें जाना पडता है४१ जीवहिंसा करनेवाले मनुष्योंको कुत्ते,

राक्षसैर्मांसघातिभिः ॥४२॥ महिषैश्च मृगैश्चापि सूकरैः पृषतै-
स्तथा । भक्ष्यमाणैस्तदध्वानं गन्तव्यं मांसखादकैः ॥ ४३ ॥
सूचीसुतीक्ष्णतुण्डाभिर्मक्षिकाभिः समन्ततः । तुद्यमानैश्च गन्तव्यं
पापिष्ठैर्बालघातकैः ॥ ४४ ॥ विस्रब्धं स्वामिनं मित्रं स्त्रियं वा
घ्नन्ति ये नराः । शस्त्रैर्निर्भिद्यमानैश्च गन्तव्यं यमसादनम् ॥४५॥
खादयन्ति च ये जीवान् दुःखमापादयन्ति ते । राक्षसैश्च श्वभि-
श्चैव भक्ष्यमाणा व्रजन्ति ते ॥ ४६ ॥ ये हरन्ति च वस्त्राणि
शय्याः प्रावरणानि च । ते यान्ति विद्रुता नग्नाः पिशाचा इव
तत्पथम् ॥ ४७ ॥ गाश्च धान्यं हिरण्यं वा बलात्क्षेत्रं गृहं तथा।
ये हरन्ति दुरात्मानः परस्वं पापकारिणः ॥४८॥ पापाणैरुल्मु-

बाघ, नाहर और कौए चारों ओरसे कचक्के भरकर खाते हैं, मांस-भक्षी राक्षस उनको पीडा देते हैं, इस प्रकार वे जीव यमलोकमें जाते हैं ॥ ४२ ॥ जो लोग मांस खाते हैं उनको भैंसे, वनके पशु, सुअर और पृषत् नामके हिंसक प्राणी चलते२ में खसोट खाते हैं, ऐसी दशामें उनको यमलोकमें जाना पडता है ॥४३॥ बालकको हत्या करनेवाले मनुष्योंको सुईकी समान अति तीखे मुखवाली मक्खियें चारों ओरसे काटती हैं और ऐसी दशामें उनको यमलोकमें जाना पडता है॥४४॥जो पुरुष अपने विश्वास करनेवाले स्वामीको, मित्रको अथवा स्त्रीको मारडालते हैं उनको यमदूतोंके शस्त्रोंके प्रहार सहते हुए यमलोकमें जाना पडता है।४५। जो मनुष्य प्राणियोंको खाते हैं तथा प्राणियोंको दुःख देते हैं उनको राक्षस और कुत्ते खाते हैं, वे इस कष्टको भोगते हुए यम-लोकमें जाते हैं ॥ ४६ ॥ जो मनुष्य दूसरोंके वस्त्रोंको चुराते हैं, शय्या चुराते हैं या पहरनेके वस्त्रोंको चुराते हैं उनको पिशाचोंकी समान नङ्गे होकर जल्दी२ यमलोकके मार्गमें जाना पडता है ॥ ४७ ॥ जो पापकर्म करनेवाले दुष्टात्मा दूसरोंकी गौओंको

कैर्दण्डैः काष्ठघातैश्च जर्भरैः । हन्यमानैः च्चताकीर्णैर्गन्तव्यं तैर्यमालयम् । ब्रह्मस्वं ये हरन्तीह नरा नरकनिर्भयाः॥४६॥ आक्रोशन्तीह ये नित्यं प्रहरन्ति च ये द्विजान् ॥ ५० ॥ शुष्ककण्ठा निबद्धास्ते छिन्नजिह्वाच्छिनासिकाः । पूयशोणितदुर्गन्धा भक्ष्यमाणाश्च जम्बुकैः ॥ ५१ ॥ चण्डालैर्भीषणैश्चण्डैस्तुद्यमानाः समन्ततः । क्रोशन्तः करुणं घोरं गच्छन्ति यमसादनम् ॥ ५२ ॥ तत्र चापि गताः पापा विष्ठाकूपेष्वनेकशः । जीवन्तो वर्षकोटीस्तु क्लिश्यन्ते वेदनान्वितः ॥ ५३ ॥ ततश्च मुक्ताः कालेन लोके चास्मिन्नराधमाः । विष्ठाकृमित्वं गच्छन्ति जन्मकोटिशतं नृप ५४ विद्यमानधनैर्येस्तु लोभदम्भानृतान्वितैः । श्रोत्रियेभ्यो न दत्तानि

धान्य, सोना, खेत, घर या धनको बलात्कारसे छीनलेते हैं॥४८॥ उनको यमदूतोंके हाथोंसे पत्थर, ऊके, दण्डे, लकडी तथा काँटेदार दण्डोंकी मार खाते२ और रुधिरमें लथड पथड होकर यमराजके मन्दिरमें जाना पड़ता है ॥ ४६ ॥ जो मनुष्य नरकसे न डरकर ब्राह्मणोंका धन छीन लेते हैं, जो नित्य चिल्ला२कर विप्रों की निन्दा करते है तथा नित्य ब्राह्मणोंको पीटते हैं ॥ ५० ॥ उनको यमके दूत कैद करलेते हैं उनके कण्ठ सूखजाते हैं; यमदूत उनकी जीभ नाक और कान काटलेते हैं, उनके शरीरोंको पीव और रुधिरसे दुर्गन्धित करते हैं और उनको गीदड काटते हैं ॥५१॥ भयानक चाण्डाल उनको चारों ओरसे पीडा देते हैं, इस प्रकार पापी जीवोंको दयाजनक रूपसे डकराते हुए भयानक यमलोकमें जाना पड़ता है ॥५२॥ असंख्यों पापी यमलोकमें जानेके अनन्तर तहाँ विष्ठाके कुओंमें पड़कर करोडों वर्ष तक वेदना होनेसे क्लेश पाते हैं ॥५३॥ हे राजन् ! तदनन्तर वे नीच प्राणी समय आने पर उसमेंसे छूटकर अरबों वर्षोंतक विष्ठाके कीड़ेका जन्म पाते हैं ॥ ५४ ॥ हे कुरुसत्तम !

दानानि कुरुपुङ्गव॥५५॥ग्रीवापाशनिबद्धास्ते हन्यमानाश्च राक्षसैः। क्षुत्पिपासाश्रमार्तश्च यान्ति प्रेतपुरं नराः॥ ५६ ॥ अदत्तदाना गच्छन्ति शुष्ककण्ठास्यतालुकाः । अन्नं पानीयसहितं प्रार्थयन्तः पुनः पुनः ॥५७॥ स्वामिन्बुभुक्षातृष्णार्ता गन्तुं नैवाद्य शक्नुमः । ममान्नं दीयतां स्वामिन्पानीयं दीयतां मम । इति ब्रुवन्तस्ते दूतैः प्राप्यन्ते वै यमालयम् ॥ ५८ ॥ वैशम्पायन उवाच । तच्छ्रुत्वा वचनं विष्णोः पपात भुवि पाण्डवः । निःसंज्ञो भयसन्त्रस्तो मूर्च्छया समभिप्लुतः ॥ ५९ ॥ ततो लब्ध्वा शनैः संज्ञां समाश्वस्तोऽच्युतेन सः । नेत्रे प्रक्षाल्य तोयेन भूयः केशवमब्रवीत्६० भीतोऽस्म्यहं महादेव श्रुत्वा मार्गस्य विस्तरम् । केनोपायेन तं

राजन्! जो पुरुष प्राप्त धन होते हुए भी लोभके वशमें होकर, दंभके कारणसे अथवा असत्य बोलकर वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको दान नहीं देते हैं ॥ ५५ ॥ उन मनुष्योंके कण्ठमें राक्षस फाँसी डाल उनको कैद करके पीटते हैं और भूख प्यासके श्रमसे दुःखित होतेहुए वे प्रेतपुरमें जाते हैं ॥५६॥ जो पुरुष दान नहीं देते हैं उनके मुख कण्ठ और तालु सूखजाते हैं और वे बार २ अन्न जल माँगते हुए यमलोकमें जाते हैं ॥५७॥ अन्नका दान न देने वाले मनुष्य, हे स्वामिन्! हम भूख और प्यासके मारे पीड़ा पारहे हैं, अब चल भी नहीं सकते, हे स्वामिन्! हमे अन्न और जल दो, ऐसा कहते २ यमदूतोंके साथ यमलोकमें जाते हैं ।५८। वैशम्पायन कहते है, कि-कृष्णकी इस बातको सुनकर राजा युधिष्ठिर मूर्छित होगए, भयसे त्रस्त और मूर्छित होकर पृथिवी पर गिरपड़े ॥ ५९ ॥ फिर युधिष्ठिरको धीरे २ चेत हुआ और भगवान् श्रीकृष्णने उनको धीरज दिया, तदनन्तर अपने नेत्रोंको जलसे धोकर फिर केशवसे बूझने लगे, कि-॥६०॥ हे देवदेव! मैं यमलोकके मार्गके विस्तारको सुनकर डरगया हूँ, यह बताइये,

मार्गं तरन्ति पुरुषाः सुखम् ॥ ६१ ॥ भगवानुवाच । इह ये धार्मिका लोके जीवघातविवर्जिताः । गुरुशुश्रूषणे युक्ता देवब्राह्मणपूजकाः ॥ ६२ ॥ अस्मान्मनुष्यलोकात्ते सभार्याः सहबांधवाः । यमध्वानं तु गच्छन्ति यथावत्तं निबोध मे ॥ ६३ ॥ ब्राह्मणेभ्यः प्रदानानि नानारूपाणि पाण्डव । ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्ते सुखं यान्ति तत्फलम् ॥ ६४ ॥ अन्नं ये च प्रयच्छन्ति ब्राह्मणेभ्यः सुसंस्कृतम् । श्रोत्रियेभ्यो विशेषेण प्रीत्या परमया युताः ॥६५॥ तैर्विमानैर्महात्मानो यान्ति चित्रैर्यमालयम् । सेव्यमाना वरस्त्रीभिरप्सरोभिर्महापथम् ॥ ६६ ॥ ये च नित्यं प्रभाषन्ते सत्यं निष्कल्मषं वचः । ते च यान्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वृषयोजितैः ॥ ६७ ॥ कपिलाद्यानि पुण्यानि गोप्रदानानि ये नराः । ब्राह्मणेभ्यः प्रय-

---

कि–कौनसे उपायसे मनुष्य यमलोकके मार्गको सुखसे तरसकते हैं ? ॥ ६१ ॥ भगवान्ने कहा, कि–इस मनुष्यलोकमें जो प्राणियोंकी हिंसा नहीं करते हैं, धार्मिक हैं, गुरुसेवामें तत्पर रहते हैं, देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं ॥६२॥ वे मनुष्य अपनी स्त्री और बान्धवोंके सहित इस मनुष्यलोकमेंसे यमलोकमें किसप्रकार जाते हैं, इसको तुम मुझसे ठीक २ सुनो ॥६३॥ हे पाण्डव ! जो ब्राह्मणोंको अनेकों प्रकारके दान देते हैं वे यमलोकमें सुखसे जाते हैं ॥६४॥ जो महात्मा पुरुष अच्छे प्रकारसे राँधाहुआ अन्न विशेषकर वेद पढे ब्राह्मणोंको परम प्रीतिसे देते हैं ॥६५॥ वे महात्मा पुरुष विचित्र रङ्गके विमानोंमें बैठकर यमलोकके उस महामार्गमें जाते हैं और उस समय उत्तम अप्सरायें और स्त्रियें उनकी सेवा करती हैं॥६६॥ जो पुरुष नित्य निष्कपट सत्य वचन बोलते हैं वे निर्मल मेघकी समान कान्तिवाले बैलजुते विमानोंमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं ॥६७॥ जो मनुष्य कपिला आदि गौका पवित्र दान विशेषरूपसे वेदवेत्ता ब्राह्मणको

च्छन्ति श्रोत्रियेभ्यो विशेषतः ॥ ६८ ॥ ते यान्त्यमलवर्णाभैर्विमानैर्वृषयोजितैः । वैवस्वतपुरं प्राप्य ह्यप्सरोभिर्निषेविताः ॥६९॥ उपानहौ च छत्रं च शयनान्यासनानि च । विप्रेभ्यो ये प्रयच्छन्ति वस्त्राण्याभरणानि च ॥ ७१ ॥ ते यान्त्यश्वैर्वृषैर्वापि कुञ्जरैरप्यलंकृताः । धर्मराजपुरं रम्यं सौवर्णच्छत्रशोभिताः ॥ ७१ ॥ ये च भक्ष्याणि दास्यन्ति भोज्यं पेयं तथैव च । स्निग्धान्नान्यपि विप्रेभ्यः श्रद्धया परया युताः ॥ ७२ ॥ ते यान्ति काञ्चनैर्यानैः सुखं वैवस्वतालयम् । वरस्त्रीभिर्यथाकामं सेव्यमानाः सहस्रशः ॥ ॥ ७३ ॥ ये च क्षीरं प्रयच्छन्ति घृतं दधि गुडं मधु । ब्राह्मणेभ्यः प्रयत्नेन श्रद्दधानाः सुसंस्कृताः ॥ ७४ ॥ चक्रवाकप्रयुक्तैस्तु यानै रुक्ममयैः शुभैः । यान्ति गन्धर्ववादित्रैः सेव्यमाना यमालयम् ॥ ७५ ॥ ये फलानि प्रयच्छन्ति पुष्पाणि सुर-

देते हैं ॥ ६८ ॥ वे पुरुष अप्सराओंसे सेवित निर्मल कान्तिवाले बैलजुड़े विमानोंमें बैठकर यमराजके लोकमें जाते हैं ॥ ६९ ॥ जो पुरुष ब्राह्मणोंको जूतेका जोड़ा, छत्र, शय्या, आसन, वस्त्र और गहने देते हैं ॥ ७० ॥ वे पुरुष गहनोंसे सजकर, सोनेके छत्रोंसे शोभायमान होकर, घोड़े पर या बैल पर अथवा हाथी पर सवार होकर धर्मराजके रमणीय नगरमें जाते हैं ॥ ७१ ॥ जो पुरुष परम श्रद्धाके साथ ब्राह्मणोंको भक्ष्य भोज्य और पीनेके घीवाले अन्न देते हैं ।७२। वे हजारों उत्तम स्त्रियोंसे इच्छानुसार सेवित होते हुए सुवर्णकी सवारियोंमें बैठकर सुखसे यमके नगरमें जाते हैं ॥ ७३ ॥ जो मनुष्य स्नानसे शुद्ध होकर श्रद्धाके साथ ध्यान देकर ब्राह्मणोंको दूध, घी, दही, गुड और शहद देते हैं ॥ ७४ ॥ वे मनुष्य चकवाकोंसे जुतेहुए सोनेके उत्तम विमानोंमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं और गन्धर्व बाजे बजाकर उनकी सेवा करते हैं ॥ ७५ ॥ जो ब्राह्मणोंको फल और

भीणि च । हंसयुक्तैर्विमानैस्तु यान्ति धर्मपुरं नराः ॥७६॥ ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो विचित्रान्नं घृताप्लुतम् । ते व्रजन्त्यमलाभ्राभै-र्विमानैर्वायुवेगिभिः । पुरं तत्प्रेतनाथस्य नानाजनसमाकुलम् ७७ पानीयं ये प्रयच्छन्ति सर्वभूतप्रजीवनम् । ते सुतृप्ताः सुखं यान्ति भवनैर्हंसचोदितैः ॥७८॥ ये तिलं तिलधेनुं वा घृतधेनुमथापि वा । श्रोत्रियेभ्यः प्रयच्छन्ति सौम्यभावसमन्विताः ॥ ७९ ॥ सूर्य-मण्डलसंकाशैर्यानैस्ते यांति निर्मलैः । गीयमानैस्तु गन्धर्वैर्वै-वस्वतपुरं नृप ॥ ८० ॥ तेषां वाप्यश्च कूपाश्च तटाकानि सरांसि च । दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च सजलाश्च जलाशयाः ॥ ८१ ॥ यानैस्ते यान्ति चन्द्राभैर्दिव्यघण्टानिनादितैः । चामरैस्ताल-

सुगन्धित फूल भेंट करते हैं वे हंसजुड़े विमानोंमें बैठकर यम-राजके पुरमें जाते हैं ॥ ७६ ॥ जो मनुष्य ब्राह्मणोंको घीसे भरे भाँति २ के अन्न अर्पण करते हैं वे वायुकी समान वेगवाले और निर्मल मेघकी समान कान्तिवाले विमानोंमें बैठकर अनेकों प्राणियोंसे भरे प्रेतनाथके पुरमें जाते हैं ॥ ७७ ॥ जो मनुष्य सब प्राणियोंको जीवन देनेवाले जलका दान ब्राह्मणोंको देते हैं वे अच्छे प्रकारसे तृप्त होकर हंसजुड़े विमानोंमें बैठकर सुखसे यम-लोकमें जाते हैं ॥ ७८ ॥ हे राजन् ! जो मनुष्य शान्तस्वभाव होकर वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको तिल, तिलधेनु या घृतधेनु दान करके देते हैं ॥७९॥ वे मनुष्य सूर्यमण्डलकी समान कान्तिमान् निर्मल विमानोंमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं, उस समय गन्धर्व गीत गाते हैं ॥८०॥ जो बावडी कुए, तालाब सरोवर, दीर्घिका(लंबी बावड़ी), पुष्करिणी (कमलवाली बावडी) और जलभरे जला-शय बनवाकर ईश्वरार्पण करते हैं ॥८१॥ वे मनुष्य महाकान्ति-मान् होकर दिव्य घण्टोंकी गुञ्जारवाले और चन्द्रमाकी समान कान्तिमान् विमानोंमें बैठकर नित्य तृप्त रहते हुए यमलोकमें जाते

वृन्तैश्च वीज्यमानाः महाप्रभाः नित्यतृप्ता महात्मानो गच्छन्ति यम-
सादनम् ॥ ८२ ॥ येषां देवगृहाणीह चित्राण्यायतनानि च ।
मनोहराणि कान्तानि दर्शनीयानि भांति च ॥ ८३ ॥ ते व्रज-
न्त्यमलाभ्राभैर्विमानैर्वायुवेगिभिः । तत्पुरं प्रेतनाथस्य नानाजन-
पदाकुलम् ॥ ८४ ॥ वैवस्वतं च पश्यन्ति सुखचित्तं सुखस्थितम् ।
यमेन पूजिता यान्ति देवसालोक्यतां ततः ॥ ८५ ॥ देवानुद्दिश्य
लोकेषु प्रपासु करकोद्धृतम् । शीतलं सलिलं रम्यं तृषितेभ्यो
दिशंति ये । ते तु तृप्तिं परां यान्ति प्राप्य सौख्यं महापथम् ॥८६॥
काष्ठपादुकदा यान्ति तदध्वानं सुखं नराः । सौवर्णमणिपीठे तु
पादं कृत्वा रथोत्तमे ॥ ८७ ॥ आरामान्वृक्षषण्डांश्च रोपयन्ति च
ये नराः । सम्वर्धयन्ति चाव्यग्रं फलपुष्पोपशोभितम् ॥ ८८ ॥

हैं और यमके दूत उन महाकान्तिमान् महात्मा पुरुषोंको चँवरों
से और ताडके पंखोंसे पवन डुलाते हैं ॥ ८२ ॥ जो मनुष्य इस
मनुष्यलोकमें विचित्र प्रकारसे मनोहर, सुन्दर और दर्शनीय देव-
मन्दिर बनवाते हैं ॥८३॥ वे निर्मल आकाशकी समान कान्ति
वाले और वायुकी समान वेगवाले विमानोंमें बैठकर अनेकों देशों
से भरे यमलोकमें जाते हैं ॥८४॥ और तहाँ प्रसन्न मनसे सुख
पूर्वक बैठे हुए यमराजके दर्शन करते हैं तथा यमराज उनका
सत्कार करते हैं और फिर वे देवलोकमें जाते हैं ॥ ८५ ॥ जो
मनुष्य देवताओंके उद्देशसे इस लोकमें पौ बनवाकर प्यासे मनुष्यों
को करुएसे शीतल और निर्मल जल पिलाते हैं वे मनुष्य परमतृप्ति
पाते हैं और यमलोकके महामार्गके सुखसे पार होजाते हैं ॥८६॥
जो मनुष्य लकडीकी पादुका (खडाऊँ) दान करते हैं वे उत्तम
रथमें बैठकर मणिजड़े सोनेके पटडे पर पैर रखते हुए सुखसे
चे यमलोकके मार्गमें जाते हैं ॥ ८७ ॥ जो मनुष्य ईश्वरकी
प्रसन्नताके लिये बगीचे बनाते हैं, वृक्षोंके झाड़े लगाते हैं और

वृत्तच्छायासु रम्यासु शीतलासु स्वलंकृताः । यान्ति ते वाहनैर्दिव्यैः पूज्यमाना मुहुर्मुहुः ॥ ८९ ॥ सेव्यमानाः सुरूपाभिरुत्तमाभिः प्रयत्नतः । स्त्रीभिः कनकवर्णाभिर्यथाकामं यथासुखम् ॥ ९० ॥ अश्वयानन्तु गोयानं हस्तियानमथापि वा । ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो विमानैः कनकोपमैः ॥ ९१ ॥ सुवर्णं रजतं वापि विद्रुमं मौक्तिकं तथा । ये प्रयच्छन्ति ते यान्ति विमानैः कनकोज्ज्वलैः॥९२॥भूमिदा यान्ति तं लोकं सर्वकामैः सुतर्पिताः। उदितादित्यसंकाशैर्विमानैर्वृषयोजितैः ॥९४॥ कन्यां ये च प्रयच्छन्ति विप्राय श्रोत्रियाय च । दिव्यकन्यावृता यान्ति विमानैस्ते यमालयम् ॥९४॥ सुगन्धागन्धसंयोगान्पुष्पाणि सुरभीणि च । प्रय-

शोभायमान बगीचोंको शान्तिपूर्वक जलसे बढाते हैं ॥ ८८ ॥ वे मनुष्य उत्तम शृङ्गारसे सजे हुए दिव्य वाहनोंमें बैठकर वारंवार सत्कार पाते हुए वृत्तोंकी रमणीय और शीतल छायामें होकर यमलोकमें जाते हैं ॥ ८९ ॥ और सुवर्णकी समान दमकती हुई कान्तिवाली सुन्दर स्त्रियें उनकी इच्छानुसार उद्योगके साथ सेवा करती हैं ॥ ९० ॥ जो मनुष्य ब्राह्मणोंको घोडागाडी, बैलगाडी, हाथी, रथ आदि देते है वे मनुष्य सोनेकी समान चमकते हुए विमानोंमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं ॥९१॥ जो मनुष्य ब्राह्मणों को सोना, चाँदी, मूँगा और मोतीका दान देते हैं वे सोनेकी समान चमकदार विमानोंमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं, और सुन्दर स्त्रियें सुखदायक रीतिसे उनकी सेवा करती हैं ॥ ९२ ॥ भूमिका दान करने वाले मनुष्य सब कामनाओंसे तृप्त होते हुए यमलोकमें जाते हैं, और वे सूर्यकी समान चमकते हुये बैलजुड़े विमानोंमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं ॥ ९३ ॥ जो मनुष्य वेद पढ़े ब्राह्मणोंको कन्याका दान देते हैं वे दिव्य कन्याओंसे घिर कर विमानोंमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं ॥ ९४ ॥ जो मनुष्य

च्छन्ति द्विजाग्रेभ्यो भक्त्या परमया युताः ॥९५॥ सुगन्धा सुष्ठु-
वेपाश्च सुप्रभाः स्रग्विभूपणाः। यान्ति धर्मपुरं यानैर्विचित्रैरप्य-
लंकृताः ॥ ९६ ॥ दीपदा यान्ति यानैश्च द्योतयन्तो दिशो दश।
आदित्यसदृशाकारैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ९७ ॥ गृहावसथ-
दातारो गृहैः काञ्चनवेदिकैः। व्रजन्ति बालसूर्याभैर्धर्मराजपुरं
नराः ॥ ९८ ॥ जलभाजनदातारः कुण्डिकाकरकप्रदाः। पूज्य-
माना वरस्त्रीभिर्यान्ति तृप्ता महागजैः ॥ ९९ ॥ पादाभ्यङ्गं शिरो-
ऽभ्यङ्गं पानं पादोदकं तथा। ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्ते यान्त्य-
श्वैर्यमालयम् ॥ १०० ॥ विश्रामयन्ति ये विप्रान् श्रान्तानध्वनि

परम भक्तिसे उत्तम ब्राह्मणोंको सुगंधित पदार्थ और सुगन्धित पुष्प देते हैं ॥ ९६ ॥ वे सुगन्धित पदार्थोंसे महकते हुए होकर, अच्छी पोशाक पहर, सुगन्धित मालाओंसे सजेहुए कान्तिमान् होकर तथा आभूपणोंसे सजकर विचित्र प्रकारके विमानोंमें बैठ धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥ ९६ ॥ ब्राह्मणोंको दीपकका दान देनेवाले अग्निकी समान दमकते हैं और सूर्यकी समान कान्ति वाले विमानोंसे दशों दिशाओंमें उजाला करते हुए यमलोकमें जाते हैं ॥ ९७ ॥ जो मनुष्य घरका तथा निवास स्थानका दान करते हैं वे सोनेकी चौंतरीवाले और बालसूर्यकी समान कान्ति वाले घरोंके साथ धर्मराजके नगरमें जाते हैं (अर्थात् घरका दान करने वालोंको यमलोकमें रहनेको अच्छे घर मिलते हैं) ॥९८॥ जलके पात्रका दान करने वाले तथा कूँडी और झारीका दान करनेवाले उत्तम स्त्रियोंसे पूजित और तृप्त होकर बड़े २ हाथियों पर चढेहुए यमलोकमें जाते हैं ॥ ९९ ॥ जो मनुष्य ब्राह्मणोंको चरणोंमें और शिरमें मलनेके लिये तेल देते हैं पीनेको और पैर धोनेके लिये जल देते हैं वे घोड़के ऊपर सवार होकर यमलोकमें जाते हैं ॥ १०० ॥ जो मनुष्य मार्गमेंसे थके और दुर्बल

कर्शितान् । चक्रवाकप्रयुक्तेन यान्ति यानेन तेऽपि च ॥ १०१ ॥ स्वागतेन च यो विप्रान्पूजयेदासनेन च । स गच्छति तदध्वानं सुखं परमनिर्वृतः ॥ १०२ ॥ नमो ब्रह्मण्यदेवेति यो मां दृष्ट्वाभिवादयेत् । व्रतीव प्रयतो नित्यं स सुखं तत् पदं व्रजेत् ॥ १०३ ॥ नमः सर्वसहाभ्यश्चेत्यभिख्याय दिने दिने । नमस्करोति नित्यं गां स सुखं याति तत्पथम् ॥ १०४ ॥ नमोऽस्तु विप्रदत्तायेत्येवं वादी दिने दिने । भूमिमाक्रमते प्रातः शयनादुत्थितश्च यः ॥ १०५ ॥ सर्वकामैः स तृप्तात्मा सर्वभूषणभूषितः । याति यानेन दिव्येन सुखं वैवस्वतालयम् ॥ १०६ ॥ अनन्तराशिनो ये तु दम्भानृतविवर्जिताः । तेऽपि सारसयुक्तेन यान्ति यानेन वै सुखम् ॥ १०७ ॥

ब्राह्मणोंको विश्राम देते हैं वे भी चक्रवाकसे जुड़ेहुए वाहनमें बैठकर यमलोकमें जाते हैं ॥ १०१ ॥ जो मनुष्य ब्राह्मणोंको स्वागत और आसन देकर पूजा करता है वह परम सुखी होकर सुखसे यमलोकके मार्गमें जाता है ॥ १०२ ॥ जो मनुष्य मुझे देखकर "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" इत्यादि श्लोकको पढ़कर प्रणाम करता है और नित्य व्रतधारीकी समान सावधान रहता है वह मनुष्य सुखसे यमलोकके मार्गमें जाता है ॥ १०३ ॥ जो मनुष्य प्रतिदिन "नमः सर्वसहाभ्यश्च" ऐसा कहकर नित्य गौको प्रणाम करते हैं वे मनुष्य सुखसे उस मार्गमें जाते हैं। १०४। जो मनुष्य नित्य प्रातःकालके समय शय्या परसे उठकर "नमोऽस्तु विप्रदत्ताय" कहकर भूमिपर चरण रखता है ॥ १०५ ॥ उसके मनकी सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं और सब प्रकारके आभूषणोंसे सजकर दिव्य विमानोंमें बैठकर सुखसे यमलोकमें जाता है ॥ १०६ । जो मनुष्य भृत्य आदि पोष्यवर्गको भोजन करानेके बाद भोजन करते हैं और दम्भसे तथा असत्यसे बचे रहते हैं वे मनुष्य भी सारस जुते वाहनोंमें बैठकर सुखसे यमलोकमें जाते

ये चाप्येकेन भुक्तेन दम्भानृतविवर्जिताः । हंसयुक्तैर्विमानैस्तु सुखं यान्ति यमालयम् ॥ १०८ ॥ चतुर्थेन च भुक्तेन वर्तन्ते ये जितेन्द्रियाः । यान्ति ते धर्मनगरं यानैर्बर्हिणयोजितैः ॥ १०९ ॥ तृतीयदिवसेनेह भुञ्जते ये जितेन्द्रियाः । तेऽपि हस्तिरथं यान्ति तत्पथं कनकोज्ज्वलाः ॥ ११० ॥ पष्ठान्नकालिको यस्तु वर्षमेकं तु वर्तते । कामक्रोधविनिर्मुक्तः शुचिर्नित्यं जितेन्द्रियः । स याति कुञ्जरस्थैस्तु जयशब्दरवैर्युतः ॥ १११ ॥ पक्षोपवासिनो यान्ति यानैः शार्दूलयोजितैः । धर्मराजपुरं रम्यं दिव्यस्त्रीगणसेवितम् ॥ ११२ ॥ ये च मासोपवासं वै कुर्वते संयतेन्द्रियाः । तेऽपि सूर्योदयप्रख्यैर्यान्ति यानैर्यमालयम् ॥११३॥ अग्निप्रवेशं यश्चापि

हैं ॥ १०७ ॥ जो मनुष्य एक समय भोजन करते हैं, दम्भ तथा असत्यसे बचे रहते हैं वे मनुष्य हंसजुड़े वाहनोंमें बैठकर सुखसे यमलोकमें जाते हैं ॥१०८॥ जो मनुष्य जितेन्द्रिय होकर चौथे समय अर्थात् एक दिन उपवास करके दूसरे दिन सायङ्कालको भोजन करते हैं वे मनुष्य मोरजुते वाहनोंमें बैठकर धर्मराजके नगर में जाते हैं ॥ १०९ ॥ जो मनुष्य जितेन्द्रिय होकर तीसरे दिन भोजन करते हैं वे भी सोनेके समान चमकते हुए हाथीके रथमें बैठकर यमलोकके मार्गमें जाते हैं ॥११०॥ जो एकवर्षतक काम क्रोधको त्यागकर नित्य पवित्र और जितेन्द्रिय होकर तीसरे दिन सायङ्कालको भोजन करते हैं वे मनुष्य हाथी पर बैठ यमलोक जाते हैं और उनके आस पास जयजय पुकारी जाती है॥१११॥ जो एक पखवाड़े उपवास करते हैं वे मनुष्य सिंहसे जुते वाहनों में बैठकर धर्मराजके रमणीय नगरमें जाते हैं और दिव्य स्त्रियों की मण्डली उनकी सेवा करती हैं ॥ ११२ ॥ जो इन्द्रियोंको वशमें रखकर एक महीने तक उपवास करते हैं वे मनुष्य भी सूर्योदयकी समान कान्तिवाले वाहनोंमें बैठकर यमलोकमें जाते

कुरुते मद्गतात्मना । स यात्यग्निप्रकाशेन विमानेन यमालयम् ॥ ११४
गोकृते स्त्रीकृते चैव हत्वा विप्रकृतेऽपि च । ते यान्त्यमरकन्याभिः सेव्यमाना रविप्रभाः ॥ ११५ ॥ ये च कुर्वन्ति मद्भक्तास्तीर्थयात्रां जितेन्द्रियाः । ते पन्थानं महात्मानो यानैर्यान्ति सुनिर्वृताः ११६
ये यजन्ति द्विजश्रेष्ठाः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः । हंससारससंयुक्तैर्यानैस्ते यांति तत्पथम् ॥११७॥ परपीडामकृत्वैव भृत्यान्बिभ्रति ये नराः । तत्पथं सुसुखं यान्ति विमानैः काञ्चनोज्ज्वलैः ॥११८॥
ये समाः सर्वभूतेषु जीवानामभयप्रदाः । क्रोधलोभविनिर्मुक्ता निगृहीतेन्द्रियास्तथा ॥ ११९ ॥ पूर्णचन्द्रप्रतीकाशैर्विमानैस्ते महा-

हैं ॥ ११३ ॥ जो मनुष्य (अन्तकालमें) मुझमें मनको लगा (प्राण त्यागकर) अग्निमें प्रवेश करता है वह अग्निकी समान दमकते हुये विमानमें बैठकर यमलोकमें जाता है ॥ ११४ ॥ जो गौके लिये, स्त्रीके लिये, और ब्राह्मणके लिये भी अपने आपे को अर्पण करते हैं वे मनुष्य सूर्यकी समान कान्तिमान् होकर देवकन्याओंसे सेवित हो यमलोकमें जाते हैं ॥ ११५ ॥ जो मेरे भक्त इन्द्रियोंको जीतकर तीर्थयात्रा करते हैं, वे महात्मा पुरुष भली प्रकार सुखी होकर वाहनोंमें बैठकर यमलोकके मार्गमें जाते हैं॥११६॥ जो द्विजश्रेष्ठ बहुतसी दक्षिणावाले यज्ञ करते हैं,वे हंस तथा सारसोंसे जुडी हुई सवारियोंमें बैठकर यमलोकके मार्गमें जाते हैं ॥ ११७ ॥ जो मनुष्य दूसरोंको पीडा दिये बिना ही अपने भृत्योंका पोषण करते हैं,वे मनुष्य सुवर्णकी समान उज्ज्वल विमानोंमें बैठ यमलोकके मार्गमें जाते हैं ॥ ११८ ॥ जो मनुष्य सब प्राणियोंके ऊपर समदृष्टि रखते हैं, जीवोंको अभय-दान देते हैं, क्रोध और लोभसे रहित हैं,इन्द्रियोंका निग्रह करते हैं ॥ ११९ ॥ वे मनुष्य महाकान्ति वाले होकर देवता तथा गन्धर्वोंसे सेवित हुए पूर्ण चन्द्रमाकी समान श्वेत विमानोंमें बैठ

प्रभाः। यांति वैवस्वतपुरं देवगन्धर्वसेविताः ॥ १२० ॥ पूजयन्ति नमस्यन्ति स्तुवन्ति च दिने दिने। धर्मराजपुरं यान्ति यानैस्तेऽर्कसमप्रभैः १२१ ॥ पूजितास्तत्र धर्मेण स्वयं माल्यादिभिः शुभैः। यान्त्येव धर्मलोकं वा रुद्रलोकमथापि वा ॥ १२२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि यमलोकवर्णने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

वैशम्पायन उवाच। श्रुत्वा यमपुराध्वानं जीवानां गमनं तथा। धर्मपुत्रः महृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥ देवदेवेश दैत्यघ्न ऋषिसंघैरभिष्टुत। भगवन् भवहन् श्रीमन् सहस्रादित्यसंनिभ २ सर्वसंभव धर्मज्ञ सर्वधर्मप्रवर्तक। सर्वदानफलं सौम्य कथयस्व ममाच्युत ॥ ३ ॥ दानं देयं कथं कृष्ण कीदृशाय द्विजाय वै।

कर यमलोकमें जाते हैं ॥ १२० ॥ जो मनुष्य एकाग्र भावसे मेरी अथवा भगवान् शंकरकी नित्य पूजा करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं, वे मनुष्य सूर्यकी समान कांतिवाले विमानोंमें बैठ कर धर्मराजके नगरमें जाते हैं ॥ १२१ ॥ तहाँ उनकी धर्मराज अपने आप पूजा करते हैं और वे पुरुष धर्मलोकमें अथवा रुद्रलोकमें जाते हैं ॥ १२२ ॥ सत्तानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९७ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि–जीव यमलोकके मार्गमें किसप्रकार जाते हैं यह सुन कर धर्मपुत्र मनमें प्रसन्न हुए और फिर केशवसे बूझने लगे कि–॥१॥ हे देवदेवेश ! हे दैत्यघ्न ! हे ऋषि समूहसे संस्तुत ! हे भगवन् ! हे संसार (केदुःख) को नष्ट करनेवाले ! हे श्रीमन् ! हे सहस्रादित्य समान ! हे सबके उत्पन्न करनेवाले ! हे धर्मज्ञ ! हे सर्वधर्मप्रवर्तक ! हे अच्युत ! हे सौम्य ! तुम मुझसे सब दानोंके फलोंको कहो ॥ २–३ ॥ हे कृष्ण ! दान किस प्रकार देना चाहिये ? कैसे ब्राह्मणको दान देना चाहिये ? कैसे

कीदृशं वा तपः कृत्वा तत्फलं कुत्र भुज्यते ॥४॥ एवमुक्तो हृषी-
केशो धर्मपुत्रेण धीमता । उवाच धर्मपुत्राय पुण्यान्धर्मान्महाद-
यान् ॥ ५ ॥ शृणुष्वावहितो राजन् पूतं पापघ्नमुत्तमम् । सर्वदान-
फलं सौम्य न श्राव्यं पापकर्मणाम् ॥६॥ यच्छ्रुत्वा पुरुषः स्त्री वा
नष्टपापः समाहितः । तत्क्षणात्पूततां याति पापकर्मरतोऽपि वा ॥७॥
एकाहमपि कौन्तेय भूमावुत्पादितं जलम् । सप्त तारयते पूर्वान्
वितृष्णा यत्र गौर्भवेत् ॥ ८ ॥ पानीयं परमं लोके जीवानां जीवनं
स्मृतम् । पानीयस्य प्रदानेन तृप्तिर्भवति पाण्डव । पानीयस्य गुणा
दिव्याः परलोके गुणावहाः ॥ ९ ॥ तत्र पुष्पोदकी नाम नदी
परमपावनी । कामान्ददाति राजेन्द्र तोयदानां यमालये ॥ १० ॥

तप करना चाहिये ? और उस तपका फल कहाँ भोगा जाता है ? ॥ ४ ॥ बुद्धिमान् धर्मपुत्रने इस प्रकार श्रीकृष्णसे बूझा, तब श्रीकृष्ण धर्मपुत्रसे महाफल देनेवाले पुण्यधर्म कहने लगे ॥५॥ कि–हे सौम्य हे राजन् ! पापका नाश करनेवाले दानोंके उत्तम फलोंको तुम ध्यान देकर सुनो पापियोंको दानके फल नहीं सुनाने चाहियें ॥ ६ ॥ जो स्त्री या पुरुष सावधान होकर दानके फलका श्रवण करता है, उसके पाप नष्ट होजाते हैं अथवा वह पापकर्ममें परायण रहनेवाला पुरुष भी उसी समय पवित्र होजाता है ॥ ७ ॥ हे कुन्तीके पुत्र ! जिसमें एक गौकी तृषा शांत हो इतनी भूमिमेंको खोदकर उसमें जल उत्पन्न कर एक दिन भी जलदान किया जाता है तो अपने सात पूर्वज तर जाते हैं ॥ ८ ॥ जलको जगत्में जीवोंका परम जीवन कहा है, हे पाण्डव! जलके दानसे तृप्ति होती है, जलके गुण दिव्य हैं और वे परलोकमें फल देते हैं ॥ ९ ॥ हे राजेन्द्र ! यमलोकमें परमपवित्र करनेवाली पुष्पोदकी नामकी एक नदी है, वह जलदान करनेवालोंकी सब कामनाओंको यमलोकमें पूर्ण करती है ॥१०॥ इस नदीका जल

शीतलं सलिलं ह्यत्र ह्यक्षय्यममृतोपमम् । शीततोयप्रदातॄणां भवेन्नित्यं सुखावहम् ॥ ११ ॥ ये चाप्यतं प्रदातारः पूयस्तेषां विधीयते ॥ १२ ॥ प्रणश्यत्यम्बुपानेन बुभुक्षा च युधिष्ठिर । तृषितस्य न चान्नेन पिपासाभिप्रणश्यति ॥ तस्मात्तोयं सदा देयं तृषितेभ्यो विजानता ॥ १३ ॥ अग्नेर्मूर्तिः क्षितेर्योनिरमृतस्य च संभवः । अतोऽम्भः सर्वभूतानां मूलमित्युच्यते बुधैः ॥ १४ ॥ अद्भिः सर्वाणि भूतानि जीवन्ति प्रभवन्ति च । तस्मात्सर्वेषु दानेषु तोयदानं विशिष्यते ॥ १५ ॥ सर्वदानतपोयज्ञैर्यत्प्राप्यं फलमुत्तमम् । तत्सर्वं तोयदानेन प्राप्यते नात्र संशयः ॥ १६ ॥ ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यस्त्वन्नदानं सुसंस्कृतम् । तैस्तु दत्ताः स्वयं प्राणा भवन्ति भरतर्षभ ॥ १७ ॥ अन्नाद्रक्तं च शुक्रञ्च अन्ने जीवः

शीतल है, अक्षय है, अमृतकी समान मधुर है इस लोकमें शीतल जल का दान देनेवालोंको वह जल सदा सुख देता है ॥ ११ ॥ परन्तु जो शीतल जलका दान नहीं देते हैं उनको सदा पीब दीजाती है ।१२। हे युधिष्ठिर ! जलके पिलानेसे मनुष्यकी भोजनकी इच्छा भी दूर होजाती है, परन्तु पिआसे मनुष्यकी पिआस अन्नसे शाँत नहीं होती है, अतएव धर्मको जानने वाले मनुष्य पिआसे मनुष्योंको सदा जल पिलावें ॥ १३ ॥ जलमेंसे अग्नि उत्पन्न होता है, पृथ्वी उत्पन्न होती है और अमृत उत्पन्न होता है, अत एव विद्वान् जलको सब भूतोंका मूल कहते हैं ॥ १४ ॥ जलसे सब प्राणी जीते हैं, जलमेंसे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये सब दानोंमें जलका दान उत्तम कहाजाता है ॥१५॥ सबप्रकारके दान, तप और यज्ञोंसे जो उत्तम फल प्राप्त होता है वह सब फल निःसन्देह जलके दानसे प्राप्त होजाता है ॥१६ ॥ हे भरतसत्तम ! जो सुन्दरतासे पकायेहुए अन्नका दान ब्राह्मणोंको देते हैं वे मानो स्वयं प्राणदान देते हैं ॥ १७ ॥ अन्नसे रक्त

प्रतिष्ठितः । इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च पुष्णन्त्यन्नेन नित्यशः॥अन्न-हीनानि सीदन्ति सर्वभूतानि पाण्डव॥१८॥ तेजो बलञ्च रूपञ्च सत्त्वं वीर्यं धृतिर्द्युतिः। ज्ञानं मेधा तथाऽयुश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्१९ देवमानवतिर्यक्षु सर्वलोकेषु सर्वदा। सर्वकालं हि सर्वेषां सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥ अन्नं प्रजापते रूपमन्नं प्रजननं स्मृतम् । सर्वभूतमयं चान्नं जीवश्चान्नमयः स्मृतः ॥ २१ ॥ अन्नेनाधिष्ठितः प्राण अपानो व्यान एव च। उदानश्च समानश्च धारयन्ति शरीरिणम् ॥ २२॥ शयनोत्थानगमनग्रहणाकर्षणानि च । सर्वसत्त्वकृतं कर्म चान्नादेव प्रवर्तते ॥ २३ ॥ चतुर्विधानि भूतानि जंगमानि स्थिराणि च । अन्नाद्भवन्ति राजेन्द्र सृष्टिरेषा प्रजापतेः२४ विद्यास्थानानि सर्वाणि सर्वयज्ञाश्च पावनाः। अन्नाद्यस्मात्प्रवर्तन्ते

और वीर्य बनता है, अन्नमें जीवकी स्थिति है, इन्द्रिय और बुद्धि नित्य अन्नसे पुष्ट होते हैं और हे पाण्डव! अन्न न मिलनेसे सब प्राणी दुःख पाते हैं ॥ १८ ॥ तेज, बल, रूप, सत्त्व, वीर्य, धैर्य, कान्ति, ज्ञान, मेधा, और आयु यह सब अन्नमें ही रहता है १९ देवता, मनुष्य, पक्षी, इसप्रकार सब लोक सर्वदा और सब कालमें अन्नके आधार पर रहते हैं ॥ २० ॥ अन्न प्रजापतिका रूप है, अन्नको ही वीर्यरूप कहा है, अन्न सकल भूतमय है और जीव भी अन्नमय कहलाता है ॥ २१ ॥ प्राण अपान व्यान उदान और समान ये पाँचों प्राण अन्नके आधारसे टिकेहुए हैं और वे शरीरधारीको धारण किये रहते हैं ॥ २२ ॥ सोना, उठना, जाना, ग्रहण करना और खेंचना सकल प्राणियोंके कियेहुए ये सब काम अन्नसे ही चलते हैं ॥ २३ ॥ हे राजेन्द्र! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार प्रकारके स्थावर तथा जङ्गम प्राणी तथा प्रजापतिकी यह सृष्टि अन्नसे हुई है ॥ २४ ॥ क्योंकि-विद्याके सब स्थान और पवित्र करनेवाले सब यज्ञ

तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥ २५ ॥ देवा रुद्रादयः सर्वे पितरोऽप्यग्नयस्तथा । यस्मादन्नेन तुष्यन्ति तस्मादन्नं विशिष्यते ॥२६॥ यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत् प्रभुः । तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥ २७ ॥ यस्मादन्नात्प्रवर्तन्ते धर्मार्थौ काम एव च । तस्मदन्नात्परं दानं नामुत्रेह च पाण्डव ॥ २८ ॥ यक्षरक्षोग्रहा नागा भूतान्यन्ये च दानवाः । तुष्यन्त्यन्नेन यस्मात्तु तस्मादन्नं परं भवेत् ॥ २९ ॥ परान्नमुपभुञ्जानो यत्कर्म कुरुते शुभम् । तच्छुभस्यैकभागस्तु कर्तुर्भवति भारत ॥ ३० ॥ अन्नदस्य त्रयो भागा भवन्ति पुरुषर्षभ । तस्मादन्नं प्रदातव्यं ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥ ३१ ॥ ब्राह्मणाय दरिद्राय योऽन्नं संवत्सरं नृप । श्रोत्रियाय प्रयच्छेद्वै पाकभेदविवर्जितः ॥ ३२ ॥ दम्भानृत-

---

अन्नसे ही प्रवृत्त होते हैं, इसलिये अन्नको उत्तम कहा है ।२५। रुद्र आदि सब देवता, पितर तथा अग्नि, क्योंकि–अन्नसे तृप्त होते हैं इसलिये अन्न उत्तम मानाजाता है ॥ २६ ॥ क्योंकि–हरएक कल्पमें प्रभुने अन्नसे ही सब प्रजाओंको रचा है, इसलिये अन्नसे बढ़कर न कोई दान हुआ है न होगा॥२७॥हे पाण्डव ! क्योंकि–धर्म, अर्थ, काम सब अन्नसे ही चलते हैं, इसलिये इस लोकमें तथा परलोकमें अन्नसे बढ़कर कोई दान नहीं है ॥२८॥ क्योंकि–यक्ष, राक्षस, ग्रह, नाग, अन्य प्राणी तथा दानव अन्नसे सन्तुष्ट होते हैं, इसलिये अन्न सर्वोपरि है ॥२९॥ हे भरतवंशी राजन् ! पराये अन्नको खानेवाला पुरुष जो उत्तम कर्म करता है उस शुभ कर्मका एक ही भाग उस कर्म करनेवालेको मिलता है और हे पुरुषसत्तम ! तीन भाग अन्न देनेवालेके होते हैं, इसलिये ब्राह्मणोंको विशेषकर अन्न देना चाहिये ॥३०–३१॥ हे राजन् ! जो मनुष्य दम्भ और असत्यको त्यागकर, मुझमें परमभक्ति रखकर रसोईमें भेद न रखता हुआ एक वर्ष तक दरिद्र और

विमुक्तस्तु परां भक्तिमुपागतः । स्वधर्मेणार्जितफलं तस्य पुण्य-
फलं शृणु ॥ ३३ ॥ शतवर्षसहस्राणि कामगः कामरूपधृक् ।
मोदतेऽमरलोकस्थः पूज्यमानोऽप्सरोगणैः॥ ततश्चापि च्युतः काला-
न्नरलोके द्विजो भवेत् ॥ ३४ ॥ अग्रभिक्षाञ्च यो दद्याद्दरिद्राय
द्विजातये । षण्मासान् वार्षिकं श्राद्धं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥३५॥
गोसहस्रप्रदानेन यत्पुण्यं समुदाहृतम् । तत्पुण्यफलमाप्नोति नरो
वै नात्र संशयः ॥ ३६ ॥ अथ संवत्सरं दद्यादग्रभिक्षामयाचते ।
प्रच्छाद्यैव स्वयं नीत्वा तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३७ ॥ कपिलानां
सहस्रैस्तु यद्देयं पुण्यमुच्यते । तत्सर्वमखिलं प्राप्य शक्रलोके
महीयते ॥ ३८ ॥ स शक्रभवने रम्ये वर्षकोटिशतं नृप । यथा-
कामं महातेजाः क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥ ३९ ॥ अन्नञ्च यस्तु

वेद जाननेवाले ब्राह्मणको अन्नका दान करता है उसको अपने धर्मसे जो पुण्यफल मिलता है उसको सुन ॥ ३२–३३ ॥ वह मनुष्य एक लाख वर्ष तक देवलोकमें रहता है चाहे तहाँ जा सकता है, इच्छानुसार रूप धारण करता है, अप्सराओंके मण्डल उसकी पूजा करते हैं वह स्वर्गमें आनन्द करता है और फिर समय पाकर स्वर्गमेंसे मनुष्यलोकमें आ ब्राह्मणका जन्म लेता है ॥ ३४ ॥ जो मनुष्य एक वर्ष तक अथवा छः महीने तक सबसे पहले दरिद्र ब्राह्मणको भिक्षा देता है, उसके पुण्यफलको सुनो ॥ ३५ ॥ हजार गौओंका दान करनेसे जो पुण्य कहा है, उस पुण्यका फल वह मनुष्य पाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥३६॥ जो मनुष्य एक वर्ष तक भिक्षाको ढकेहुए स्वयं लेजाकर याचना न करनेवाले ब्राह्मणको प्रथम भिक्षारूपसे देता है उसके पुण्यका फल सुनो॥३७॥सहस्रों कपिला गौओंके दानका जो पुण्य कहा है वह सब फल उसको मिलता है और वहइन्द्रलोकमें सत्कार पाता है॥३८॥ तथा हे राजन् ! वह महातेजस्वी मनुष्य इन्द्रके मनोहर

वै दद्याद् द्विजाय नियतव्रतः । दशवर्षाणि राजेन्द्र तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ४० ॥ कपिलाशतसहस्रस्य विधिदत्तस्य यत्फलम् । तत् पुण्यफलमासाद्य पुरन्दरपुरं व्रजेत् ॥ ४१ ॥ स शक्रभवने रम्ये कामरूपी यथासुखम् । शतकोटिसमा राजन् क्रीडतेऽमरपूजितः ४२ शक्रलोकादवतीर्णश्च इह लोके महाद्युतिः । चतुर्वेदी द्विजः श्रीमान् जायते राजपूजितः ॥४३॥ अध्वश्रान्ताय विप्राय क्षुधितायान्नकाङ्क्षिणे । देशकालाभियाताय दीयते पाण्डुनन्दन ॥ ४४ ॥ याचतेऽन्नं न दद्याद्यो विद्यमाने धनागमे । स लुब्धो नरकं याति कृमीणां कालसूत्रकम् ॥ ४५ ॥ स तत्र नरके घोरे लोभमोहवि-

---

मन्दिरमें एक हजार वर्ष तक अप्सराओंके गणोंके साथ इच्छानुसार रमण करता है ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य नियमानुसार व्रतका पालन करके ब्राह्मणको भोजनके लिये दश वर्ष तक अन्न देता है हे राजेन्द्र ! उस मनुष्यके पुण्यके फलको सुनो ॥ ४० ॥ एक लाख कपिला गौओंके विधिपूर्वक दान करनेका जो फल होता है, उतना ही फल पाकर वह इन्द्रपुरीमें जाता है ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! वहाँ इन्द्रके भवनमें सुखदायक रीतिसे इच्छानुसार रूप धारण करके एक अब्ज वर्षों तक रमण करता है और देवता उसकी पूजा करते हैं ॥ ४२ ॥ फिर वह महाकान्तिमान पुरुष इन्द्रलोकसे इस मनुष्यलोकमें उतर आता है और चारों वेदोंको जाननेवाला श्रीमान् ब्राह्मण होता है, राजाओंके यहाँ पूजा जाता है ॥४३॥ मार्गमें चलनेसे थके हुये, भूखे और अन्नकी चाहना वाले, देशकाल (मध्याह्नकाल) के अनुसार आये हुये मनुष्यको हे पाण्डव ! अन्न देना चाहिये ॥ ४४ ॥ धनकी आमदनी होते हुये भी जो मनुष्य याचकको अन्न नहीं देता है वह लोभी कीडों से भरे कालसूत्र नामक नरकमें पडता है ॥४५॥ उस घोर नरक में लोभ और मोहके कारणसे अचेत हुआ लोभी मनुष्य दश

चेतनः । दशवर्षसहस्राणि क्लिश्यते वेदनार्दितः ॥४६॥ तस्माच्च नरकान्मुक्तः कालेन महता हि सः । दरिद्रो मानुषे लोके चांडालेष्वपि जायते ॥ ४७ ॥ यस्तु पांसुलपादश्च दूराध्वश्रमकर्शितः । क्षुत्पिपासाश्रमश्रान्त आर्त्तः खिन्नगतिर्द्विजः ॥ ४८ ॥ पृच्छन्वै ह्यन्नदातारं गृहमभ्येत्य याचयेत् । तं पूजयेत्तु यत्नेन सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ तस्मिंस्तुष्टे नरश्रेष्ठ तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥४९॥ न तथा हविषा होमैर्न पुष्पैर्नानुलेपनैः । अग्नयः पार्थ तुष्यन्ति यथा ह्यतिथिपूजनात् ॥ ५० ॥ कपिलायान्तु दत्तायां विधिवज्ज्येष्ठपुष्करे । न तत्फलमवाप्नोति यत्फलं विप्रभोजनात् ॥५१॥ द्विजपादोदकक्लिन्ना यावत्तिष्ठति मेदिनी । तावत्पुष्करपत्रेण पिबन्ति पितरो जलम् ॥ ५२ ॥ देवमाल्यापनयनं द्विजोच्छिष्टापमार्जनम् । श्रान्तसंवाहनञ्चैव तथा पादावसेचनम् ॥ ५३ ॥ प्रतिश्रयप्रदानञ्च

हजार वर्ष तक वेदनाका क्लेश भोगता है ॥ ४६ ॥ चिरकाल पीछे उस नरकमेंसे छूटने पर वह इस मनुष्यलोकमें चाण्डालोंके घरमें भी दरिद्र होकर जन्म लेता है॥४७॥जिसके पैर धूलिमें भरे हों, जो बहुत दूर मार्गमें चलनेके परिश्रमसे दुबला होगया हो, भूख और प्यासके श्रमसे थकगया हो और बड़ी कठनाईसे चल सकता हो ऐसा ब्राह्मण ॥४८॥ बूझता२ अन्न देनेवालेके घर आकर अन्न माँगे तो उस अतिथिकी ध्यान देकर पूजा करे तो वह अतिथि स्वर्ग देता है, हे राजन्!उस अतिथिके प्रसन्न होने से सब देवता सन्तुष्ट होते हैं॥४९॥हे कुन्तीनन्दन ! अतिथिके पूजनसे अग्नि जैसे सन्तुष्ट होते हैं, तैसे घीका होम करनेसे तथा पुष्पोंसे और चन्दनसे सन्तुष्ट नहीं होते हैं ॥५०॥ ब्राह्मणको भोजन करानेसे जो फल मिलता है वह फल विधिपूर्वक प्रतिष्ठित पुष्कर तीर्थमें कपिला गौका दान देनेसे भी नहीं मिलता है ॥५१॥ पृथिवी जबतक ब्राह्मणके चरणके जलसे भीगी हुई रहती है तबतक पितर कमलके पत्तेसे

तथा शय्यासनस्य च । एकैकं पांडवश्रेष्ठ गोप्रदानाद्विशिष्यते ५४
पादोदकं पादघृतं दीपमन्नं प्रतिश्रयम् । ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यो
नोपसर्पन्ति ते यमम् ॥ ५५ ॥ विप्रातिथ्ये कृते राजन् भक्त्या
शुश्रूषितेऽपि च । देवाः शुश्रूषिताः सर्वे त्रयस्त्रिंशरिंदम ॥५६॥
अभ्यागतो ज्ञातपूर्वो ह्यज्ञातोऽतिथिरुच्यते।तयोः पूजां द्विजः कुर्या-
दिति पौराणिकी श्रुतिः ॥ ५७॥ पादाभ्यङ्गान्नपानैस्तु योऽतिथिं
पूजयेन्नरः । पूजितस्तेन राजेन्द्र भवामीह न संशयः ॥ ५८ ॥
शीघ्रं पापाद्विनिर्मुक्तो मया चानुग्रहीकृतः। विमानेनेन्दुकल्पेन मम
लोकं स गच्छति५९अभ्यागतं श्रांतमनुव्रजन्ति देवाश्च सर्वे पितरो-

---

जल पीते हैं॥५२॥देवताके ऊपरसे फूलोंको हटादेना, ब्राह्मणकी जूठनको हटा कर वह स्थान स्वच्छ करना, थके हुए ब्राह्मणके पैर दबाना और धोना॥ ५३ ॥ ब्राह्मणको आश्रय देना, शय्या और आसन देना, हे पाण्डवश्रेष्ठ ! यह एक २ गौका दान करनेसे भी विशेष हैं ॥५४॥ जो मनुष्य ब्राह्मणोंके चरण धोते हैं, उनके चरणोंमें घी लगाते हैं, दीपक अन्न और आश्रय देते हैं वे यमलोकमें नहीं जाते हैं ॥ ५५ ॥ हे शत्रुदमन राजन् ! भक्तिके साथ ब्राह्मणोंका अतिथिसत्कार कियाजाता है और ब्राह्मणोंकी सेवा कीजाती है तो तैंतीस देवता प्रसन्न होते हैं ५६ जो पहलेसे जाना हुआ हो वह अभ्यागत कहलाता है और जो जाना हुआ न हो वह अतिथि कहलाता है, द्विजोंको इन दोनोंकी पूजा करनी चाहिये, यह पुराणका वचन है ॥ ५७॥ जो मनुष्य अतिथिके पैरोंमें तेल मलता है, अन्न खिलाता है और जल पिलाता है, हे राजेन्द्र ! उसने निःसन्देह इस लोकमें मेरा पूजन किया है ॥ ५८ ॥ वह पुरुष मेरी कृपासे तुरन्त पापमेंसे छूटजाता है और चन्द्रमाकी समान श्वेत विमानमें बैठकर मेरे लोकमें जाता है ॥५९॥ जब थकाहुआ अभ्यागत आता है, उस समय उसके

ऽग्नयश्च । तस्मिन् द्विजे पूजिते पूजिताः स्युर्गते निराशाः पितरो व्रजन्ति ॥ ६० ॥ अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते । पितरस्तस्य नाश्नन्ति दशवर्षाणि पञ्च च ॥ ६१ ॥ वर्जितः पितृभिर्लुब्धः स देवैरग्निभिः सह । निरयं रौरवं गत्वा दशवर्षाणि पञ्च च । ततश्चापि च्युतः कालादिह चोच्छिष्टभुग्भवेत् ॥ ६२ ॥ वैश्वदेवान्तिके प्राप्तमतिथिं यो न पूजयेत् । चांडालत्वमवाप्नोति सद्य एव न संशयः ॥६३॥ निर्वासयति यो विप्रं देशकालागतं गृहात् । पतितस्तत्क्षणादेव जायते नात्र संशयः ॥६४॥ नरके रौरवे घोरे वर्षकोटिं स पच्यते । ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके नराधमः । श्वा वै द्वादशजन्मानि जायते क्षुत्पिपासितः ॥ ६५ ॥

पीछे २ सब देवता, पितर और अग्नि भी आते हैं, उस अभ्यागतकी पूजा करनेसे सब देवताओंकी पूजा होती है और उसके निराश जानेसे पितर भी निराश हुए लौटजाते हैं ॥६०॥ जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौटजाता है उसके पितर पन्द्रह वर्ष तक भोजन नहीं करते हैं ॥ ६१ ॥ लोभी पुरुषके पितर, देवता और अग्नि त्यागकर चले जाते हैं और वह पन्द्रह वर्षतक रौरव नरकमें पडा रहता है तथा समय पाकर उसमेंसे छूटने पर इस जगत्में जन्म लेकर जूठन खानेवाला होता है ॥६२॥ जो वैश्वदेवके अन्तमें आयेहुए अतिथिकी पूजा नहीं करता है, वह तुरन्त ही चाण्डालपना पाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६३ ॥ जो मनुष्य उत्तम स्थानमें और योग्य समय पर अपने घर आयेहुए ब्राह्मणोंको निकाल देता है वह निःसन्देह उसी समय पतित होजाता है ॥६४॥ फिर वह मनुष्य एक करोड वर्ष तक रौरव नरकमें रँधता है, फिर समय पाकर नरकमेंसे छूटता है तब मनुष्यलोकमें अधम मनुष्यका जन्म पाता है, फिर बारह जन्म तक कुत्ता होता है और भूखाप्यासा रहा करता है ६५ चाण्डाल भी अच्छे

चाण्डालोऽप्यतिथिः प्राप्तो देशकालेऽन्नकाङ्क्षया । अभ्युद्गम्यो गृहस्थेन पूजनीयश्च सर्वदा ॥ ६६ ॥ अनर्चयित्वा योऽश्नाति लोभमोहविचेतनः । स चाण्डालत्वमापन्नो दश जन्मानि पाण्डव ॥६७॥ निराशमतिथिं कृत्वा भुञ्जानो यः प्रहृष्टवान् । न जानाति किलात्मानं विष्ठाकूपे निपातितम् ॥ ६८ ॥ मोघं ध्रुवं प्रोर्णुते मोघमस्य तु पच्यते । मोघमन्नं सदाश्नाति योऽतिथिं न च पूजयेत् ॥६९ साङ्गोपाङ्गांस्तु यो वेदान् पठतीह दिने दिने । न चातिथिं पूजयति वृथा भवति स द्विजः ॥७०॥ पाकयज्ञमहायज्ञैः सोमसंस्थाभिरेव च । ये यजन्ति न चार्चन्ति गृहेष्वतिथिमागतम् ॥ ७१ ॥ तेषां यशोऽभिकामानां दत्तमिष्टं च यद्भवेत् । वृथा भवति तत्सर्वमाशया

प्रदेशमें और योग्य समयमें अतिथि बनकर अन्नकी इच्छासे आया होय तो गृहस्थको उसके सामने जाकर सदा उसकी पूजा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥ हे पाण्डव ! जो मनुष्य लोभवश या मोहवश आपेमें न रहकर अतिथिरूपसे आयेहुए चाण्डालका पूजन और सत्कार किये बिना भोजन करता है वह दश जन्म तक चाण्डालके घर जन्म लेता है ॥६७॥ जो मनुष्य अतिथिको निराश करके स्वयं अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ भोजन करता है वह यह नहीं जानता, कि–मेरा आत्मा विष्ठाके कुएमें पड़ाहुआ है ॥६८॥ अतिथिका सत्कार न करनेवाला मनुष्य अपने शरीर पर जो शाल दुशाले ओढ़ता है वह व्यर्थ है, उसका भोजन व्यर्थ है, और वह जो भोजन करता है वह भी व्यर्थ है ॥६९॥ जो ब्राह्मण प्रतिदिन अङ्गोंसहित वेदोंका पाठ करता है परन्तु अतिथिका पूजन नहीं करता उसका वेदपाठ वृथा है ॥ ७० ॥ जो मनुष्य पञ्च महायज्ञ करते हैं तथा सोम आदि महायज्ञ करते हैं, परन्तु घर आये अतिथिका पूजन सत्कार नहीं करते ॥७१॥ वे मनुष्य यश पानेके लिये जो दान करते हैं तथा यज्ञ करते हैं वह

हि तया हतम् ॥ ७२ ॥ देशं कालञ्च पात्रञ्च स्वशक्तिं च निरीक्ष्य च। अल्पं समं महद्वापि कुर्यादातिथ्यमात्मवान् ॥ ७३ ॥ सुमुखः सुप्रसन्नात्मा धीमानतिथिमागतम्। स्वागतेनासनेनाद्भिरन्नाद्येन च पूजयेत् ॥ ७४ ॥ हितः प्रियो वा द्वेष्यो वा मूर्खः पण्डित एव वा। प्राप्तो यो वैश्वदेवान्ते सोऽतिथिः स्वर्गसंक्रमः ॥ ७५ ॥ क्षुत्पिपासाश्रमार्ताय देशकालागताय च। सत्कृत्यान्नं प्रदातव्यं यज्ञस्य फलमिच्छता ॥७६॥ भोजयेदात्मनः श्रेष्ठान् विधिवद्धव्यकव्ययोः। अन्नं प्राणो मनुष्याणामन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता ॥ ७७ ॥ अन्नदः सर्वका-

---

सब अतिथिकी निराशासे नष्ट होकर वृथा जाता है ॥७२॥ इस लिये बुद्धिमान् मनुष्यको देश, काल, पात्र और अपनी शक्तिको देखकर थोड़ा, सामान्य वा विशेष सत्कार करना चाहिये॥७३॥ जब अपने घर अतिथि आवे उस समय बुद्धिमान् मनुष्य प्रसन्न मुखसे प्रसन्नचित्त होकर आगत स्वागतके साथ आसन देय और फिर जल और अन्न अर्पण करके सत्कार करे ॥७४॥ यदि अतिथि बलिवैश्वदेव हो चुकने पर आवे तो चाहे अपना हितकारी और प्यारा हो अथवा द्वेषपात्र हो,मूर्ख हो चाहे पण्डित हो, परन्तु वह स्वर्गमें लेजाता है ॥७५॥ यज्ञका फल चाहनेवाले मनुष्यको, भूख और प्याससे पीडा पातेहुये और देश तथा समय पर आये हुये अतिथिका सत्कार करके उसको भोजन कराना चाहिये ॥ ७६ ॥ यज्ञके कर्ममें तथा श्राद्धमें अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषों को विधिपूर्वक भोजन करावे, अन्न मनुष्योंका प्राण माना गया है, इसलिये अन्न देनेवाला प्राणदाता मानाजाता है, इसकारण कल्याण चाहनेवाला विशेषरूपसे अन्नका दान करे ॥ ७७ ॥ जो पुरुष अन्नका दान करता है उसकी सब कामनायें पूर्ण होती

मैस्तु सुवृत्तः सुष्ठ्वलंकृतः। पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजते७८
सेव्यमानो वरस्त्रीभिर्मम लोकं स गच्छति। क्रीडित्वा तु ततस्त-
स्मिन् वर्षकोटिं यथामरः॥ ७९॥ ततश्चापि च्युतः कालादिह
लोके महायशाः। वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत्८०
यथाश्रद्धन्तु यः कुर्यान्मनुष्येषु प्रजायते। महाधनपतिः श्रीमान
वेदवेदाङ्गपारगः। सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत्८१
सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद्वर्षमेकमकल्मषः। धर्मार्जितधनो भूत्वा पाक-
भेदविवर्जितः॥ ८२॥ देवानिव स्वयं विप्रानर्चयित्वा पितॄनपि।
विप्रानग्राशनाशी यस्तस्य पुण्यफलं शृणु॥ ८३॥ वर्षेणैकेन
यावन्ति पिण्डान्यश्नन्ति ये द्विजाः। तावद्वर्षाणि राजेन्द्र मम

हैं और, वह अच्छे प्रकार आभूषणोंसे सजकर पूर्णिमाके चंद्रमा की समान सफेद विमानमें शोभायमान मालूम होता है ॥७८॥ और सुन्दर स्त्रियोंसे सेवित होता हुआ मेरे लोकमें जाता है, तहाँ देवताओंकी समान एक करोडवर्ष तक विहार करता है ॥ ७९ ॥ फिर समय आने पर स्वर्गलोकसे गिरता है और मनुष्यलोकमें महायशस्वी, वेदशास्त्रके तत्त्वको जाननेवाला भोगवान् ब्राह्मणके रूपसे जन्म पाता है ८० जो पुरुष श्रद्धाके साथ अतिथिका पूजन करता है, वह पुरुष मनुष्योंमें महाधनवान्, श्रीमान्, वेदवेदाङ्गका पारगामी, सब शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाला और भोगी ब्राह्मण होता है ॥ ८१ ॥ जो पुरुष धर्मसे धन पाकर एक वर्ष तक सबका अतिथिसत्कार करता है और भोजनमें भेद नहीं रखता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ८२ ॥ जो पुरुष स्वयं ब्राह्मणोंका और पितरोंका देवताओंकी समान पूजन करता है और ब्राह्मणोंको भोजन करानेके बाद भोजन करता है उसके पुण्य-फलको सुनो८३ हे राजेन्द्र! ब्राह्मण एक वर्षमें जितने पिण्डोंका

लोके महीयते ॥ ८४ ॥ ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके महा-
यशाः । वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥ ८५ ॥
सर्वातिथ्यं तु यः कुर्याद्यथाश्राद्धं नरेश्वर । अकालनियमेनापि सत्य-
वादी जितेन्द्रियः ॥ ८६ ॥ सत्यसन्धो जितक्रोधः शाखाधर्मविव-
र्जितः । अधर्मभीरुर्धर्मिष्ठो मायामात्सर्यवर्जितः ॥ ८७ ॥
श्रद्दधानः शुचिर्नित्यं पाकभेदविवर्जितः । स विमानेन दिव्येन
दिव्यरूपी महायशाः ॥ ८८ ॥ पुरन्दरपुरं याति गीयमानोऽप्स-
रोगणैः । मन्वन्तरं तु तत्रैव क्रीडित्वा देवपूजितः । मानुष्यलोक-
मागम्य भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥ ८९ ॥ दशजन्मानि विमत्व

भोजन करता है वह उतने ही वर्षोंतक मेरे लोकमें पूजाजाता है ॥ ८४ ॥ तदनन्तर पुण्यका क्षय होनेके कारण उस लोकमेंसे मनुष्यलोकमें आ परमकीर्तिमान् और वेद शास्त्रके तत्त्वको जानने वाला भोगवान् ब्राह्मण होता है ॥ ८५ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष समयके नियमके बिना अर्थात् चाहे तिस समय श्रद्धाके अनुसार सबका अतिथिसत्कार करता है, सत्य बोलता है और इन्द्रियोंका निग्रह रखता है ॥ ८६ ॥ प्रतिज्ञाके अनुसार वर्ताव करता है, क्रोधको जीतता है, शाखाधर्मसे रहित, अधर्मसे डरनेवाला, धर्मात्मा, माया और मत्सरतासे रहित ॥ ८७ ॥ श्रद्धालु, पवित्र, और नित्य भोजनमें भेद न करनेवाला होता है वह महायशस्वी पुरुष दिव्य रूप धारण कर और दिव्य विमानमें बैठकर ।८८। इन्द्रके नगरमें जाता है, अप्सराएँ उसके गीत गाती हैं और देवता उसकी पूजा करते हैं, एक मन्वन्तर तक स्वर्गमें विहार करता है और फिर मनुष्यलोकमें भोगी ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥८९॥ दश जन्मतक ब्राह्मण होता है, राजा उसका सत्कार करता है और वह जहाँ २ जन्म लेता है तहाँ २ उसको पहले

प्राप्नुयाद्राजपूजितः। जातिस्मरश्च भवति यत्र यत्रोपजायते॥९०॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि जलदानादिफलप्रशंसनेऽष्टनवतितमोऽध्यायः॥ ९८॥

भगवानुवाच। अतः परं प्रवक्ष्यामि भूमिदानमनुत्तमम्॥१॥ यः प्रयच्छति विप्राय भूमिं रम्यां सदक्षिणाम्। श्रोत्रियाय दरिद्राय साग्निहोत्राय पाण्डव॥२॥ स सर्वकामतृप्तात्मा सर्वरत्नविभूषितः। सर्वपापविनिर्मुक्तो दीप्यमानोऽर्कवत्तदा॥३॥ बालसूर्यप्रकाशेन विचित्रध्वजशोभिना। याति यानेन दिव्येन मम लोकं महायशाः॥४॥ तत्र दिव्याङ्गनाभिस्तु सेव्यमानो यथासुखम्। कामगः कामरूपी च क्रीडत्यप्सरसां गणैः॥५॥ यावत्तिष्ठति लोकान्वै भूमिः कुरुकुलोद्वह। तावद्भूमिप्रदः काले मम लोके महीयते॥६॥ न हि भूमिप्रदानाद्वै दानमन्यद्विशिष्यते।

जन्मका स्मरण रहता है।९०। अट्ठानवेवाँ अध्याय समाप्त।९८।

भगवान्‌ने कहा, कि—हे पाण्डव! अब मैं अतिउत्तम भूमिदानके विषयमें कहता हूँ॥१॥ जो पुरुष वेदपढ़े अग्निहोत्री, निर्धन ब्राह्मणको दक्षिणाके साथ रमणीय भूमिका दान देता है॥२॥ उसके मनकी सब कामनाएँ पूर्ण होजाती हैं और वह सब रत्नोंसे सजकर सकल पातकोंसे रहित होकर, सदा सूर्यकी समान प्रकाशवान् होकर॥३॥ तथा बड़ाभारी यश पाकर, बाल-सूर्यकी समान कान्तिवाले दिव्य ध्वजासे शोभायमान विमानमें बैठकर मेरे लोकमें जाता है॥४॥ वहाँ दिव्य अङ्गनाएँ उसकी सुखदायक सेवा करती हैं, वह अपनी इच्छानुसार विहार करता है, इच्छानुसार रूप धारण करता है और अप्सराओंके गणोंके साथ क्रीडा करता है॥५॥ हे कुरुकुलको बढानेवाले राजन्! जब तक पृथिवी लोकोंको धारण करती है, तब तक पृथिवीका दान करनेवाला मेरे लोकमें सत्कार पाता है॥६॥ भूमिके दानसे बढ़

न चापि भूमिहरणात्पापमन्यद्विशिष्यते॥७॥दानान्यन्यानि हीयन्ते
कालेन कुरुपुङ्गव । भूमिदानस्य पुण्यस्य क्षयो नैवोपपद्यते ॥८॥
ब्राह्मणाय दरिद्राय भूमिं दत्त्वा तु यो नरः । न हिंसति नरव्याघ्र
तस्य पुण्यफलं शृणु ॥९॥ सप्तद्वीपसमुद्रान्ता रत्नसञ्चयसंकुला ।
सशैलवनदुर्गाढ्या तेन दत्ता मही भवेत् ॥१०॥ भूमिं दृष्ट्वा दीय-
मानां श्रोत्रियायाग्निहोत्रिणे । सर्वभूतानि मन्यन्ते मां ददातीति
हर्षवत् ॥ ११ ॥ सुवर्णमणिरत्नानि धनानि च वसूनि च । सर्व-
दानानि वै राजन् ददाति वसुधां ददत् ॥१२॥ सागरान् सरितः
शैलान् समानि विषमाणि च । सर्वगन्धरसांश्चैव ददाति वसुधां
ददत् ॥ १३ ॥ ओषधीः फलसम्पन्ना नानापुष्पसमन्विताः ।
कमलोत्पलषण्डांश्च ददाति वसुधां ददत् ॥ १४ ॥ धर्मं कामं

कर दूसरा दान नहीं है तथा भूमिको छीननेसे बढ़कर और कोई बड़ा पाप नहीं है ॥७॥ हे कुरुसत्तम ! दूसरे दान समय पाकर नष्ट होजाते हैं, परन्तु भूमिदानका पुण्य नष्ट नहीं होता है॥८॥ हे नरव्याघ्र ! जो पुरुष दरिद्र ब्राह्मणको भूमिका दान देता है, उसको जो पुण्यफल होता है उसको सुनो ॥ ९ ॥ उस पुरुषने मानो सात द्वीपोंवाली रत्नोंके ढेरसे भरी, पर्वत,वन और दुर्गम प्रदेशोंवाली समुद्र पर्यन्तकी भूमिका दान करदिया ॥ १० ॥ वेद पढ़े ब्राह्मणको पृथिवीका दान दिया जाता देखकर सब प्राणी प्रसन्न होकर यह समझते हैं,कि-हमारा दान कररहा है॥११॥ हे राजन् ! पृथिवीका दान देनेवाला पुरुष सुवर्ण, मणि, रत्न, धन और खानेमेंसे निकलेहुए पदार्थोंका दान देता है ॥ १२ ॥ और पृथिवीका दान देनेवाला पुरुष, समुद्र, नदी, पहाड, सपाट प्रदेश, ऊँचे नीचे प्रदेश, सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थ और सब प्रकारके रसोंका दान भी साथ ही करता है ॥ १३ ॥ पृथिवीका दान देनेवाला पुरुष, अनेकों प्रकारके पुष्प फलोंवाली

तथा चार्थं वेदान् यज्ञांस्तथैव च। स्वर्गमार्गमनिन्द्यैव ददाति वसुधां ददत् ॥१५॥ अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैर्ये यजन्ते सदक्षिणैः। न तत्फलं लभन्ते ते भूमिदानस्य यत्फलम् ॥१६॥ श्रोत्रियाय महीं दत्त्वा यो न हिंसति पाण्डव। तद्दानं कथयिष्यन्ति यावल्लोकाः प्रतिष्ठिताः। तावत्स्वर्गोपभोगानां भोक्तारः पाण्डुनन्दन॥१७॥ सस्यपूर्णां महीं यस्तु श्रोत्रियाय प्रयच्छति। पितरस्तस्य तृप्यन्ति यावदाभूतसम्प्लवम् ॥ १८ ॥ मम रुद्रस्य सवितुस्त्रिदशानां तथैव च। प्रीतये विद्धि राजेन्द्र भूमिर्दत्ता द्विजाय वै ॥ १९ ॥ तेन पुण्येन पूतात्मा दाता भूपेयुधिष्ठिर। मम सालोक्यमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ २० ॥ यत्किञ्चित्कुरुते पापं पुरुषो वृत्तिकर्शितः। स च गोकर्णमात्रेण भूमिदानेन शुद्ध्यति ॥ २१ ॥ मासोपवासं

औषधियोंका तथा कमलोंका और उत्पलोंका दान करता है १४ पृथिवीका दान देनेवाला मनुष्य काम, अर्थ,वेद, यज्ञ और स्वर्ग के मार्गका दान करता है ॥ १५ ॥ जो दक्षिणावाले अग्निष्टोम आदि यज्ञोंसे यजन करते हैं उनको भी भूमिदानकी समान फल नहीं मिलता ॥ १६ ॥ हे पाण्डव ! जो पुरुष वेदवेत्ता ब्राह्मण को भूमिका दान देता है और फिर उसको लेता नहीं है उसको लोग दान कहते हैं, हे पाण्डव ! जबतक लोक रहते हैं तबतक वह स्वर्गलोकमें रहकर भोग भोगता है ॥१७॥ जो मनुष्य वेद पढ़े ब्राह्मणको धान्यसे भरी भूमिका दान करता है उसके पितर जगत्के प्रलय होनेतक तृप्त रहते हैं ॥ १८ ॥ हे राजेंद्र ! मेरी, रुद्रकी, सूर्यकी और देवताओंकी प्रसन्नता पानेके लिये ब्राह्मण को भूमिदान देना चाहिये,यह तू जान ॥ १९ ॥ और हे युधिष्ठिर! उस पुण्यसे भूमिका दान देनेवाला पुरुष पवित्रात्मा होकर मेरे लोकमें आता है, इसमें विचारकी बात नहीं है ॥ २० ॥ पुरुष आजीविका कम होजानेसे जो पाप करता है वह गोकर्णकी

यत्पुण्यं कृच्छ्रे चान्द्रायणेऽपि च। भूमिगोकर्णमात्रेण तत्पुण्यन्तु विधीयते ॥ २२ ॥ सर्वतीर्थाभिषेके च यत्पुण्यं समुदाहृतम्। भूमिगोकर्णमात्रेण तत्पुण्यं तु विधीयते ॥२३॥ युधिष्ठिर उवाच। देवदेव नमस्तेऽस्तु वासुदेव सुरेश्वर। गोकर्णस्य प्रमाणं वै वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ २४ ॥ भगवानुवाच। शृणु गोकर्णमात्रस्य प्रमाणं पाण्डुनन्दन। त्रिंशद्दण्डप्रमाणेन प्रमितं सर्वतो दिशम्॥२५ प्रत्यक्प्रागपि राजेन्द्र तत्तथा दक्षिणोत्तरम्। गोकर्णं तद्विदः प्राहुः प्रमाणं धरणेर्नृप॥२६॥ सवृषं गोशतं यत्र सुखं तिष्ठत्ययन्त्रितम्। सवत्सं कुरुशार्दूल तच्च गोकर्णमुच्यते ॥२७॥ किंकरा मृत्युदण्डाश्च कुम्भीपाकाश्च दारुणाः। घोराश्च वारुणाः पाशा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥ २८ ॥ निरया रौरवाद्याश्च तथा वैतरिणी नदी। तीव्राश्च

समान भूमिका दान करनेसे छूटजाता है ॥२१॥ जो पुण्य एक महीनेके उपवाससे, कृच्छ्रव्रतसे और चांद्रायणसे भी नहीं मिलता वह पुण्य गोकर्णकी समान भूमिके दानसे मिलता है ॥ २२ ॥ जो पुण्य सब तीर्थोंमें स्नान करनेसे मिलता है वह पुण्य गोकर्ण की समान भूमिके दानसे मिलता है ॥ २३ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे देवदेव! हे वासुदेव! हे सुरेश्वर!गोकर्णका क्या प्रमाण है (कितना होता है) यह मुझे ठीक२ बतलाइये ॥ २४ ॥भगवान्ने कहा, कि-हे पाण्डुपुत्र!गोकर्णका प्रमाण सुनो, हे राजेन्द्र! पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों ओरकी तीस दण्डसमान भूमिको हे राजन्! विद्वान् गोकर्ण कहते हैं ॥२५-२६॥ अथवा हे कुरुसिंह! जितनी भूमिमें सौ गौएँ बैलों और बछड़ोंके साथ सुखसे रहसकें उतनी भूमिको गोकर्ण कहते हैं ॥ २७ ॥ भूमिका दान देनेवालेके पास यमके दूत, मृत्युके दण्ड, दारुण कुम्भीपाक और भयानक वरुणके पाश नहीं आते हैं ॥ २८ ॥ रौरव आदि नरक तथा वैतरणी नदी और तीव्र यमयातनाएँ

यातनाः कष्टा नोपसर्पन्ति भूमिदम् ॥२६॥ चित्रगुप्तः कलिः कालः कृतान्तो मृत्युरेव च । यमश्च भगवान् साक्षात्पूजयन्ति महीप्रदम् ३० रुद्रः प्रजापतिः शक्रः सुरा ऋषिगणास्तथा । अहञ्च प्रीतिमान्राजन् पूजयामो महीप्रदम् ॥ ३१ ॥ कृशभृत्यस्य कृशगोः कृशाश्वस्य कृतातिथेः । भूमिर्देया नरश्रेष्ठ स निधिः पारलौकिकः ॥ ३२ ॥ सीदमानकुटुम्बाय श्रोत्रियायाग्निहोत्रिणे । व्रतस्थाय दरिद्राय भूमिर्देया नराधिप ॥३३॥ यथा हि धात्री क्षीरेण पुत्रं वर्धयति स्वयम् । दातारमनुगृह्णाति दत्ता ह्येवं वसुन्धरा ॥ ३४ ॥ यथा बिभर्ति गौर्वत्सं सृजन्ती क्षीरमात्मनः । तथा सर्वगुणोपेता भूमिर्वहति भूमिदम् ॥ ३५ ॥ यथा बीजानि रोहन्ति जलसिक्तानि भूपते । तथा

पृथिवीका दान देनेवालेके पास नहीं आती हैं ॥ २६ ॥ चित्रगुप्त कलि, काल, कृतान्त, मृत्यु और भगवान् यम पृथिवीका दान देनेवालेकी साक्षात् पूजा करते हैं ॥ ३० ॥ रुद्र, प्रजापति, शक्र, देवता, ऋषि और स्वयं मैं हे राजन् ! प्रसन्न होकर भूमिका दान देनेवालेकी पूजा करते हैं ॥३१॥ हे नरश्रेष्ठ ! जिसका पोष्यवर्ग दुर्बल शरीरवाला हो, जिसकी गौ सूखेहुए शरीर वाली हो, जिसके घोड़े दुर्बल हों और जो अतिथिसत्कार करनेवाला हो उसको पृथिवीका दान देय क्योंकि-वह परलोक देनेवाला निधि कहलाता है ॥ ३२ ॥ हे राजन ! जिसका कुटुम्ब दुःखी रहता हो ऐसे अग्निहोत्री वेदवेत्ता ब्राह्मणको और व्रत करनेवाले दरिद्री ब्राह्मणको भूमिका दान देय ॥ ३३ ॥ जैसे धाई दूधसे अपने पुत्रको पालती है, ऐसेही दानमें दी हुई पृथिवी दाताके ऊपर अनुग्रह करती है ।३४। जैसे गौ दूध देकर अपने बछड़ेका पोषण करती है ऐसे ही सब गुणोंवाली भूमि पृथिवीका दान देने वालेको स्वर्गमें लेजाती है ।।३५।। हे राजन् ! जैसे जल सींचनेसे बीज उगता है, ऐसे ही भूमिका दान देनेसे दिन २ कामनाएँ

कामाः प्ररोहन्ति भूमिदस्य दिने दिने ॥ ३६ ॥ यथा तेजस्तु सूर्यस्य तमः सर्वं व्यपोहति। तथा पापं नरस्येह भूमिदानं व्यपोहति३७ दाता दशानुगृह्णाति यो हरेद्दश हन्ति च। अतीतान्यागतानीह कुलानि कुरुपुङ्गव ॥ ३८ ॥ आश्रुत्य भूमिदानन्तु दत्वा यो वा हरेत्पुनः । स वद्धो वारुणैः पाशैः क्षिप्यते पूयशोणिते ॥ ३९ ॥ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेत वसुन्धराम् । न तस्य नरकाद्धोराद्विद्यते निष्कृतिः कचित्॥४०॥ब्राह्मणस्य हृते क्षेत्रे हन्याद् द्वादश पूर्वजान् । स गच्छेत्कृमियोनिश्च न च मुच्येत जातु सः ॥ ४० ॥ दत्वा भूमिं द्विजेन्द्राय यस्तामेवोपजीवति । गवां शतसहस्रस्य हन्तुः स लभते फलम् ॥ ४२ ॥ सोऽधःशिरास्तु पापात्मा कुम्भीपाकेषु

फलीभूत होती हैं ॥ ३६ ॥ जैसे सूर्यका तेज सब अन्धकारका नाश करता है ऐसे ही भूमिदान मनुष्यके पापोंका नाश करता है ॥ ३७ ॥ हे कुरुकुलश्रेष्ठ! भूमिका दान करने वाला पुरुष दश पूर्वजोंका और दश आगेको होनेवाले वंशधरोंका उद्धार करता है और जो भूमिको छीनलेता है वह दशपूर्वजोंको और दश आगे होनेवाले वंशधरोंको नरकमें डालता है ॥ ३८ ॥ जो पुरुष भूमिके दानकी प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता है अथवा पृथिवीका दान देकर उसको फिर लौटालेता है उसको वरुणके पाशोंसे बाँधकर पीप और रुधिरसे भरे नरकमें डाला जाता है ॥ ३९ ॥ जो पुरुष अपनी दीहुई अथवा दूसरेकी दी हुई भूमिको लौटालेता है वह पुरुष घोर नरकमेंसे कभी भी नहीं निकलता है ॥ ४० ॥ जो पुरुष ब्राह्मणकी भूमिको हरलेता है वह अपने बारह पूर्वजोंको नरकमें डालता है और कीड़ेकी योनिमें जन्म पाता है तथा उसमेंसे कभी भी नहीं छूटता है ॥४१॥ जो पुरुष ब्राह्मणको भूमि देकर उस ही भूमिसे स्वयं आजीविका करता है उसको एक लाख गौओंकी हत्याका पाप लगता है॥४२॥

पच्यते । दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कुम्भीपाकाद्विनिःसृतः । इह लोके भवेत् स श्वाः शतजन्मनि पाण्डव ॥४३॥ दत्त्वा भूमिं द्विजेन्द्राणां यस्तामेवोपजीवति । स मूढो याति दुष्टात्मा नरकानेकविंशतिम् । नरकेभ्यो विनिर्मुक्तः शुनां योनिं स गच्छति ॥ ४४ ॥ हलकृष्टा मही देया सबीजा सस्यमालिनी । अथवा सोदका देया दरिद्राय द्विजातये ॥ ४५ ॥ एवं दत्ता मही राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना । सर्वान् कामानवाप्नोति मनसा चिन्तितानि च ॥४६॥ बहुभिर्वसुधा दत्ता दीयते च नराधिपैः । यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलम् ॥४७॥ यः प्रयच्छति कन्यां वै सुरूपां श्रोत्रियाय वै । स ब्रह्मदेयो राजेन्द्र तस्य पुण्यफलं शृणु । बलीवर्दसहस्राणां दत्तानां

और भूमिको हरनेवाला पापी पुरुष बलटेशिर देवताओंके एक हजार वर्षतक कुम्भीपाक नरकमें राँधाजाता है, हे पाण्डव ! वह कुम्भीपाक नरकमेंसे निकलकर इस लोकमें सौवार कुत्तेका जन्म पाता है ॥४३॥ जो पुरुष ब्राह्मणोंको भूमिका दान देकर उससे ही आजीविका करता है वह दुष्टात्मा मूढ पुरुष इक्कीसवार नरकमें पड़ता है, नरकमेंसे छूटने पर कुत्तेकी योनिमें जन्म पाता है ॥४४॥ हलसे जोती हुई, बीजवाली जिसमें अन्न उगा हो ऐसी भूमि अथवा जलाशय(कुआ तालाव आदि) वाली भूमि दरिद्र ब्राह्मणको देनी चाहिये ॥ ४५ ॥ हे राजन् ! मनमें प्रसन्न होकर इस प्रकार पृथिवीका दान दियाजाता है तो मनमें चिन्तवन की हुई सब कामनायें पूरी होजाती हैं ॥ ४६ ॥ बहुतसे राजाओंने पृथ्वीका दान दिया है, जबर जिसकी पृथ्वी होती है तबर उसके दानका फल मिलता है ॥ ४७ ॥ जो पुरुष वेद पढे ब्राह्मणको रूपवती कन्या दान देता है, हे राजन ! वह ब्रह्मदाय कहलाता है, इस लिये उसके पुण्य फलको सुनो ॥४८॥ हे राजन् ! जुएको उठा सकें ऐसे एक हजार बैलोंका दान देनेसे जो पुण्य फल मिलता

धुर्यवाहिनाम् । यत्पुण्यं लभते राजन् कन्यादानेन तत्फलम् ४९
गवां शतसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम् । तत्फलं समवाप्नोति
यः प्रयच्छति कन्यकाम् ॥५०॥ यावन्ति चैव रोमाणि कन्यायाः
कुरुपुङ्गव । तावद्वर्षसहस्राणि मम लोके महीयते ॥५१॥ ततश्चापि
च्युतः कालादिह लोके स जायते । षडङ्गविच्चतुर्वेदी सर्वलोकार्चितो
द्विजः ॥ ५० ॥ यः सुवर्णं दरिद्राय ब्राह्मणाय प्रयच्छति ।
श्रोत्रियाय सुवृत्ताय बहुपुत्राय पाण्डव ॥५३॥ स मुक्तः सर्वपापेभ्यो
बालसूर्यसमप्रभः । विमानं दिव्यमारूढः कामगः कामभोगवान् ५४
वर्षकोटिं महातेजा मम लोके महीयते । ततः कालावतीर्णश्च
सोऽस्मिल्लोके।हि जायते । वेदवेदाङ्गविद्विप्रः कोटीधनपतिर्भवेत् ५५

है वही फल कन्याके दानसे मिलता है ॥४९॥ जो पुरुष कन्याका दान देता है उसको विधिपूर्वक दी हुई एक लाख गौओंके दान का फल मिलता है ॥ ५० ॥ हे कुरुसत्तम ! कन्याके शरीरमें जितने रुएँ होते हैं, उतने हजार वर्षोंतक वह पुरुष मेरे लोकमें पूजा जाता है ॥ ५१ ॥ फिर समय पाकर पुण्यका क्षय होनेसे स्वर्गमेंसे गिर कर इस लोकमें छः अङ्गोंका जाननेवाला और सब लोग जिसकी पूजा करते हैं ऐसा चार वेदोंका जाननेवाला हो कर जन्म लेता है ॥ ५२ ॥ हे पाण्डव ! जो वेद पढे, सदाचारी और बहुतसे पुत्रोंवाले दरिद्र ब्राह्मणको सोनेका दान देता है।५३। वह सब पापोंसे छूटजाता है, प्रातःकालके सूर्यकी समान कांति वाला होता है, दिव्य विमानोंमें बैठकर इच्छानुसार फिरता है, मनमाने भोग भोगता है और वह महातेजस्वी पुरुष एक करोड वर्ष तक मेरे लोकोंमें सत्कार पाता है ॥५४॥ फिर समयानुसार पुण्यका क्षय होते ही वह इस लोकमें जन्म लेता है और वेद-वेदांगका जाननेवाला, करोडों रुपयोंका स्वामी ब्राह्मण होकर जन्म लेता है ॥ ५५ ॥ जो दरिद्र ब्राह्मणको तथा थोडी आजी-

यश्च रूप्यं प्रयच्छेद्धि दरिद्राय द्विजातये। कृशवृत्तेः कृशगवे स मुक्तः सर्वकिल्बिषैः ॥ ५६ ॥ पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता। कामरूपी यथाकामं स्वर्गलोके महीयते ॥ ५७ ॥ ततोऽवतीर्णः कालेन लोके चास्मिन्महायशाः। सर्वलोकार्चितः श्रीमान् राजा भवति वीर्यवान् ॥ ५८ ॥ तिलपर्वतकं यस्तु श्रोत्रियाय प्रयच्छति। विशेषेण दरिद्राय तस्यापि शृणु यत्फलम् ॥ ५९ ॥ पुण्यं वृषायुतोत्सर्गे यत्प्रोक्तं पाण्डुनन्दन। तत्पुण्यं समनुप्राप्य तत्क्षणाद्विरजा भवेत् ॥६०॥ यथा त्वचं भुजङ्गो वै त्यक्त्वा शुद्धतनुर्भवेत्। तथा तिलप्रदानाद्वै पापं त्यक्त्वा विशुद्ध्यति॥६१॥ तिलपण्डं प्रयुञ्जानो जाम्बूनदविभूषितम्। विमानं दिव्यमारूढः पितृलोके महीयते ६२ षष्टिं वर्षसहस्राणि कामरूपी महायशाः। तिलप्रदाता रमते पितृ-

वृत्तिका और दुर्बल गौवाले ब्राह्मणको चाँदीका दान देता है वह पुरुष सब पापोंसे मुक्त होजाता है ॥ ५६ ॥ इच्छानुसार रूप धारण करता है, पूर्ण चंद्रमाकी समान श्वेत रङ्गके विराजमान विमानमें बैठकर अपनी इच्छानुसार स्वर्गलोकमें पूजाजाता है।५७। फिर समय पाकर पुण्यका क्षय होते ही इस मनुष्यलोकमें जन्म लेता है और वह महायशस्वी सब लोकोंमें पूजा पानेवाला पराक्रमी राजा होता है ॥ ५८ ॥ जो पुरुष वेदवेत्ता दरिद्र ब्राह्मण को तिलोंके पर्वत (ढेरका) दान देता है उसको जो फल मिलता है उसको सुनो ॥ ५९ ॥ हे पाण्डुनन्दन ! दश हजार बैलोंका दान देनेसे जो फल कहा है, उस फलको पाकर उसी समय तिलके पर्वतका दान देनेवाला पापरहित होजाता है ॥ ६० ॥ जैसे साँप केंचुलीको त्यागकर शुद्ध शरीर होजाता है, तैसे ही तिलोंके दानसे मनुष्य पापरहित होकर शुद्ध होजाता है ॥६१॥ जो पुरुष तिलके ढेरका दान देता है वह सुवर्णसे शोभायमान दिव्य विमानोंमें बैठकर पितृलोकमें जाता है ॥ ६२ ॥ तिलका

लोके यथासुखम् ॥६३॥ यः प्रयच्छति विप्राय तिलधेनुं नराधिप ।
श्रोत्रियाय दरिद्राय शृणु तस्यापि यत्फलम् ॥६४॥ गोसहस्रप्रदानेन
यत्पुण्यं समुदाहृतम् । तत्पुण्यफलमाप्नोति तिलधेनुप्रदो नरः ॥६५॥
तिलानां कुडवैर्यस्तु तिलधेनुं प्रयच्छति । तावत् कोटिसमा राजन्
स्वर्गलोके महीयते ॥ ६६ ॥ अष्टादकतिलैः कृत्वा तिलधेनुं
नराधिप । द्वात्रिंशन्निष्कसंयुक्तं त्रिपुरे यः प्रयच्छति ॥ ६७ ॥
मद्भक्त्या मद्गतात्मा वै तस्य पुण्यफलं शृणु । कन्यादानसहस्रस्य
विधिदत्तस्य यत्फलम् । तत्पुण्यं समनुप्राप्तो मम लोके महीयते ६८
मम लोकावतीर्णश्च सोऽस्मिँल्लोकेभिजायते । ऋग्यजुःसामवेदानां

दान देनेवाला पुरुष साठ हजार वर्षतक महायशस्वी होकर और इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्ति पाकर सुखसे पितरोंके लोकमें रमण करता है ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! जो वेद पढ़े दरिद्र ब्राह्मणको तिलधेनुका दान देता है उसका फल सुनो ॥६४॥ एक हजार गौओंका दान देनेसे जो पुण्य कहा है उस पुण्यका फल तिलधेनुका दान करनेवालेको मिलता है ॥६५॥ जो पुरुष कई कुडव भर तिलोंकी तिलधेनुका दान करता है वह पुरुष हे राजन् ! जितने कुडव (एक तोल) तिलकी धेनु देता है उतने करोड वर्ष तक स्वर्गलोकमें पूजा जाता है ॥ ६६ ॥ हे राजन् ! अठारह आढ़क (तोल) तिलकी एक धेनु बनाकर, हे राजन् ! उसमें बत्तीस निष्क (सोनेके सिक्का) डालकर जो पुरुष त्रिपुर नामक नक्षत्रमें मेरी भक्तिके साथ मुझमें मन लगाकर ब्राह्मणको देता है, उसको जो पुण्यका फल मिलता है उसको सुनो ॥६७॥ विधिपूर्वक एक हजार कन्याओंका दान करनेवालेको जो फल मिलता है वही पुण्यफल उसको मिलता है और मेरे लोकमें पूजा पाता है ॥ ६८ ॥ फिर पुण्यकर्म पूरे होजाने पर मेरे लोकमेंसे इस लोकमें जन्म लेता है तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदका

पारगो ब्राह्मणर्षभः ॥ ६९ ॥ गां तु यस्तु दरिद्राय श्रोत्रियाय प्रयच्छति । प्रसन्नां क्षीरिणीं पुण्यां सवत्सां कांस्यदोहिनीम् ॥७०॥ यत्किञ्चिद् दुष्करं कर्म तस्य पूर्वकृतं नृप । तत्सर्वं तत्क्षणादेव विनश्यति न संशयः ॥ ७१ ॥ यानञ्च वृषसंयुक्तं दीप्यमानं स्वलंकृतम् । आरूढः कामगं दिव्यं गोलोकमधिगच्छति ॥ ७२ ॥ यावन्ति चैव रोमाणि तस्या गोस्तु नराधिप । तावद्वर्षसहस्राणि गवां लोके महीयते ॥७३॥ गोलोकादवतीर्णस्तु लोकेऽस्मिन्ब्राह्मणो भवेत् । सत्रयाजी वदान्यश्च सर्वराजभिरर्चितः॥७४॥ तिलं गावः सुवर्णं चाप्यन्नं कन्या वसुन्धरा । तारयन्तीह दत्तानि ब्राह्मणेभ्यो महाभुज ॥ ७५ ॥ ब्राह्मणं वृत्तसम्पन्नमाहिताग्निमलोलुपम् । तर्पयेद्विधिवद्राजन् स निधिः पारलौकिकः ॥ ७६ ॥ आहिताग्निं

पारङ्गत श्रेष्ठ ब्राह्मण होता है ॥ ६९ ॥ हे राजन् ! जो जो पुरुष वेदवेत्ता ब्राह्मणको दूध देती हुई, बछड़ेवाली और प्रसन्न रहनेवाली गौ, दूध दुहनेके लिये काँसीकी दोहनीके साथ देता है ॥७०॥ तो उसके पूर्वजन्ममें किया हुआ जो पापकर्म होता है वह सब तत्काल नष्ट होजाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥७१॥ फिर वह पुरुष बैलोंसे जुते हुये चमकदार, अच्छे प्रकार सजे हुये और इच्छानुसार चलनेवाले दिव्य रथमें बैठकर गोलोकमें जाता है ॥७२॥ हे राजन् ! उस गौके शरीरमें जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्षों तक गोलोकमें पूजा पाता है ॥७३॥ वह पुण्य पूरा होजाने पर गोलोकमेंसे इस मनुष्यलोकमें ब्राह्मणके घरमें जन्म लेता है यज्ञ करता है, उदार होता है और सब राजे उसकी पूजा करते हैं हे महाभुज राजन् ! तिल गौ, सोना, अन्न, कन्या और पृथ्वी इतने पदार्थ ब्राह्मणको दानमें दिये हों तो वह तारदेता है ॥७५॥ हे राजन् ! सदाचारवान्, अग्निहोत्री और इन्द्रियोंके विषयोंसे दूर रहनेवाले ब्राह्मणको विधिपूर्वक तृप्त करे, क्योंकि–वह परलोक

दरिद्रञ्च श्रोत्रियञ्च जितेन्द्रियम् । शूद्रान्नवर्जितं चैव द्विजं यत्नेन पूजयेत् ॥ ७७ ॥ आहिताग्निः सदा पात्रमग्निहोत्री च वेदवित् । पात्राणामपि तत्पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे ॥७८॥ यच्च वेदमयं पात्रं यच्च पात्रं तपोमयम् । असङ्कीर्णश्च यत्पात्रं तत्पात्रं तारयिष्यति ७६ नित्यस्वाध्यायनिरतास्त्वसङ्कीर्णेन्द्रियाश्च ये । पञ्चयज्ञपरा नित्यं पूजितास्तारयन्ति ते ॥ ८० ॥ ये क्षान्तिदान्ताः श्रुतिपूर्णकर्णा जितेन्द्रियाः प्राणिवधे निवृत्ताः । प्रतिग्रहे सङ्कुचिता गृहस्थास्ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः ॥८१॥ नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी वृषलान्नवर्जी । ऋतौ गच्छन् विधिवच्चापि जुह्वन् स ब्राह्मणस्तारयितुं समर्थः ॥८२॥ ब्राह्मणो यस्तु मद्भक्तो मद्यागी

देनेवाला भण्डार कहलाता है ॥ ७६ ॥ अग्निहोत्री दरिद्र, वेद पढ़ा और जितेन्द्रिय ब्राह्मण शूद्रका अन्न न खाता होय तो उसका यत्नसे पूजन करे ॥७७॥ अग्निहोत्र करनेवाला ब्राह्मण सदा पात्र गिना जाता है तथा वेदवेत्ता अग्निहोत्र ब्राह्मण सदा पात्र गिनाजाता है परन्तु जिसके पेटमें शूद्रके घरका आमान्न नहीं गया है वह पात्रोंका भी पात्र गिना जाता है ॥७८॥ जो वेदमय पात्र है, जो तपोमय पात्र है और जो किसीका भी भोजन न करनेवाला पात्र है वह पात्र तार देगा ॥७९॥ जो ब्राह्मण नित्य स्वाध्यायपरायण रहते हैं जो इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले हैं तथा नित्य पञ्चमहायज्ञ करते हैं उनकी पूजा की जाय तो वह तार देते हैं॥८०॥जो क्षमावान् और मनको वशमें रखनेवाले हैं,जिनके कान वेद मंत्रोंसे भरे हुए हैं और जो जितेन्द्रिय हैं,जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करते हैं और प्रतिग्रह करते हुए संकुचित होते हैं,ऐसे गृहस्थ ब्राह्मण तारसक्ते हैं ॥ ८१ ॥ नित्य तर्पण करनेवाला, नित्य यज्ञोपवीत बदलने वाला, स्वाध्यायशील, शूद्रका अन्न न खानेवाला, ऋतुकालमें ही स्त्रीसे समागम करनेवाला और विधि

मत्परायणः । मयि संन्यस्तकर्मा च स विप्रस्तारयेद्ध्रुवम् ॥८३॥
द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूहविभागवित् । अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स विप्रस्तारयिष्यति ॥ ८४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि भूमिगोतिलकन्यादानफलप्रतिपादने नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन उवाच । वासुदेवेन दानेषु कथितेषु यथाक्रमम् । अवितृप्तश्च धर्मेषु केशवं पुनरब्रवीत् ।१। देव धर्मामृतमिदं शृण्वतोऽपि परन्तप । न विद्यते सुरश्रेष्ठ मम तृप्तिर्हि माधव ॥ २ ॥ अनडुहस्सम्प्रदानस्य यत्फलन्तु विधीयते । तत्फलं कथयस्वेह तव भक्तस्य मेऽच्युत ॥३॥ यानि चान्यानि दानानि त्वया नोक्तानि कानिचित् ।

पूर्वक होम करनेवाला ब्राह्मण तारसकता है ॥ ८२ ॥ मेरा भक्त मेरे ऊपर प्रीति रखनेवाला, मेरी भक्तिमें तत्पर और मुझे कर्मफल अर्पण करनेवाला ब्राह्मण अवश्य तारता है ॥ ८३ ॥ जो ब्राह्मण "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" इस बारह अक्षरके मंत्रके तत्त्वको जानता है, सङ्कर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न इन चार व्यूहोंके विभागको जानता है, दिनके पाँच विभागसे उस समयके वेदोक्त कर्मोंको विना छिद्र (कमी) के करना जानता है वही ब्राह्मण है और वही तारता है । ८४ ॥ निन्यानवेवाँ अध्याय समाप्त ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि-श्रीकृष्णने क्रमसे दानोंकी बात कही तब उन दानधर्मोंको सुनकर तृप्ति न होनेसे युधिष्ठिरने केशवसे फिर बूझा ॥ १ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-हे परन्तप माधव ! हे सुखद ! हे देव ! आपसे धर्मरूप अमृतका श्रवण करते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥२॥ इसलिये हे अच्युत ! मुझ अपने भक्तको बैलके दानका जो फल होता हो वह सुनाइये ॥ ३ ॥ और हे सुरश्रेष्ठ ! और जो कुछ भी दानोंके विषयमें आपने मुझसे न

तान्याचक्ष्व सुरश्रेष्ठ तेषां चानुक्रमात्फलम् ॥ ४ ॥ भगवानुवाच । पवित्रत्वात्सुपुण्यत्वात्पावनत्वात्तथैव च । शृणु धर्मामृतं श्रेष्ठं दत्तस्यानडुहः फलम् ॥५॥ दशधेनुसमोऽनड्वानेकोऽपि कुरुपुङ्गव । मेदोमांसविपुष्टांगो नीरोगः कोपवर्जितः ॥६॥ युवा भद्रः सुशीलश्च सर्वदोषविवर्जितः । धुरं धारयति क्षिप्रं दत्तो विप्राय पाण्डव ॥७॥ स तेन पुण्यदानेन वर्षकोटिं युधिष्ठिर । यथाकामं महातेजा गवां लोके महीयते ॥ ८ ॥ यश्च दद्यादनुडुहौ द्वौ युक्तौ च धुरन्धरौ । सुवृत्ताय दरिद्राय श्रोत्रियाय विशेषतः । तस्य यत्पुण्यमाख्यातं तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥९॥ सहस्रगोप्रदानेन यत्प्रोक्तं फलमुत्तमम् । तत्पुण्यफलमाप्नोति याति लोकान्स मामकान् ॥ १० ॥ यावन्ति चैव रोमाणि तयोरनडुहोर्नृप । तावद्वर्षसहस्राणि मम लोके मही-

---

कहा हो वे दान और उनका फल मुझे सुनाइये ॥४॥ श्रीभगवान्ने कहा, कि-बैल पवित्र, उत्तम फल देनेवाला और पावन है, इसलिये बैलका दान देने पर जो धर्मरूप उत्तम फल होता है उसको सुनो ॥ ५ ॥ हे कुरुसत्तम ! एक बैल दश गौकी समान मानाजाता है, उसका शरीर मेद मांससे पुष्ट हो, नीरोगी हो और वह क्रोधी न हो ॥६॥ तरुण अवस्थाका, देखनेमें अच्छा, सुशील, सब प्रकारके दोषोंसे रहित और झट धुरेको धारण करलेनेवाला बैल हे पाण्डव ! ब्राह्मणको दिया होय ॥ ७ ॥ तो हे युधिष्ठिर ! उस दानका पवित्र दाता महातेजस्वी होकर इच्छानुसार गोलोकमें एक करोड़ वर्ष तक पूजाजाता है ॥ ८ ॥ जो पुरुष जुएको उठासकनेवाले दो बैलोंका जोड़ा वेदपढ़े सदाचारी गरीब ब्राह्मणको विशेषरूपसे दान करके देता है उसके पुण्यका जो फल कहा है उसको ॥ ९ ॥ एक हजार गौओंके दानका जो उत्तमफल कहा है वह फल उसको मिलता है और वह मेरे लोकोंमें जाता है ॥ १० ॥ और हे राजन् ! उन दोनों बैलोंके

यते ॥ ११ ॥ दरिद्रायैव दातव्यं न समृद्धाय पाण्डव । वर्षाणां हि तटाकेषु फलं नैव पयोधिषु ॥१२॥ यस्तु दद्यादनडुहं दरिद्राय द्विजातये । स तेन पुण्यदानेन पूतात्मा कुरुपुङ्गव ॥१३॥ विमानं दिव्यमारूढो दिव्यरूपी यथासुखम् । मम लोकेषु रमते यावदाभूतसंप्लवम् ॥ १४ ॥ गृहं दीपप्रभायुक्तं शय्यासनविभूषितम् । भाजनोपस्करैर्युक्तं धनधान्यैरलंकृतम् । दासीगोभूमिसंयुक्तमन्यूनं सर्वसाधनैः ॥ १५ ॥ ब्राह्मणाय दरिद्राय श्रोत्रियाय युधिष्ठिर । दद्यात्सदक्षिणं यस्तु तस्य पुण्यफलं शृणु ॥१६॥ देवाः पितृगणाश्चैव ह्यग्नयो ऋषयस्तथा। प्रयच्छन्ति प्रहृष्टा वै यानमादित्यसंनिभम् १७ तेन गच्छेच्छ्रिया युक्तो ब्रह्मलोकमनुत्तमम् । स्त्रीसहस्रावृते रम्ये भवने

शरीरमें जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्षोंतक वह मेरे लोकमें पूजा पाता है ॥ ११ ॥ हे पाण्डव ! गरीबको ही दान देय, धनवानको न देय वर्षाका फल तालावमें बरसनेसे होता है, समुद्रमें बरसनेसे नहीं होता ॥१२॥ जो पुरुष गरीब ब्राह्मणको बैलका दान देता है, उस पुण्यसे हे कुरुसत्तम ! दान देनेवाला पवित्रात्मा होता है ॥ १३ ॥ और वह दिव्य रूप धारण करता हुआ दिव्य विमानमें बैठकर सुखपूर्वक प्रलयपर्यन्त मेरे लोकमें रमण करता है ॥ १४ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो पुरुष दीपककी कान्तिसे युक्त, शय्या और विस्तरोंसे शोभायमान, पात्र और दूसरे पदार्थोंसे भरपूर, धन धान्यसे सुशोभित, दासी गौ और क्षेत्रवाला तथा सब प्रकारके साधनोंसे भरा घर वेदपढ़े गरीब ब्राह्मणको दक्षिणाके साथ देता है, उसके पुण्यफलको तुम सुनो ।१५।१६। देवता, पितर, अग्नि और ऋषि प्रसन्न होकर उसको सूर्यकी समान विमान देते हैं ॥१७॥ उस विमानमें बैठकर शोभायमान होता हुआ सबसे उत्तम ब्रह्मलोकमें जाता है और उस ब्रह्मलोकमें हजारों स्त्रियोंसे घिराहुआ सोनेके रमणीय भवनमें रहकर प्रलय

तत्र काञ्चने । मोदते ब्रह्मलोकस्थो यावदाभूतसम्प्लवम् ॥ १८ ॥ शय्यां प्रस्तरणोपेतां यः प्रयच्छति पाण्डव । अर्चयित्वा द्विजं भक्त्या वस्त्रमाल्यानुलेपनैः। भोजयित्वा विचित्रान्नं तस्य पुण्यफलं शृणु १९ धेनुदानस्य यत्पुण्यं विधिदत्तस्य पाण्डव । तत्पुण्यं समनुप्राप्य पितृलोके महीयते ॥२०॥ शिल्पमध्ययनं वापि विद्यां मन्त्रौषधीनि च । यः प्रयच्छति विप्राय तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २१ ॥आहिताग्निसहस्रस्य पूजितस्यैव यत्फलम् । तत्पुण्यफलमाप्नोति यस्तु शय्यां प्रयच्छति ॥२२॥ छन्दोभिः सम्प्रयुक्तेन विमानेन विराजता सप्तर्षिलोकान् व्रजति पूज्यते ब्रह्मवादिभिः ॥ २३ ॥ चतुर्युगानि वै त्रिंशत्क्रीडित्वा तत्र देववत् । इह मानुष्यके लोके विप्रो भवति वेदवित् ॥ २४ ॥ विश्रामयति यो विप्रं श्रान्तमध्वनि कर्शितम् ।

पर्यन्त आनन्दमें दिन बिताता है१८हे पाण्डव!जो पुरुष भक्तिके साथ ब्राह्मणका पूजन करके उसको चन्दन चढाता है, पुष्पमाला पहराता है, वस्त्र और गद्दे सहित शय्याका दान देता है तथा भाँति २ के अन्न जिमाता है उसको जो पुण्यफल प्राप्त होता है उसको सुनो ॥ १९ ॥ हे पाण्डव ! विधिसे दीहुई गौके दानका जो पुण्य होता है उस पुण्यको पाकर वह पुरुष पितृलोकमें पूजा जाता है॥ २० ॥ जो ब्राह्मणको शिल्प सिखाता है, वेद पढाता है, दूसरी विद्याएँ पढाता है, मंत्र सिखाता है तथा औषध देता है, उसको जो पुण्य होता है, उसका फल सुनो ॥ २१ ॥ एक हजार अग्निहोत्री ब्राह्मणोंके पूजनसे जो फल मिलता है वह फल उसको मिलता है, कि-जो शय्या देता है ॥ २२ ॥ वह वेदमंत्रके बलसे चलनेवाले सुन्दर विमानमें बैठकर सप्तर्षिलोकमें जाता है और तहाँ ब्रह्मर्षि उसकी पूजा करते है ॥ २३ ॥ तहाँ वह एकसौ बीस युगतक देवताकी समान क्रीडा करके फिर इस मनुष्यलोकमें वेदवेत्ता ब्राह्मण होजाता है ॥ २४ ॥ हे राजन् !

विनश्यति तदा पापं तस्य वर्षकृतं नृप ॥२५॥ अथ प्रक्षालयेत्पादौ तस्य तोयेन भक्तिमान् । दशवर्षकृतं पापं व्यपोहति न संशयः२६ घृतेन वाथ तैलेन पादौ तस्य तु पूजयेत् । तद्द्वादशसमाहृतं पापमाशु व्यपोहति ॥२७॥ धेनुकाञ्चनदानस्य यत्पुण्यं समुदाहृतम्। तत्पुण्यफलमाप्नोति यस्त्वेनं विप्रमर्चयेत् ॥ २८ ॥ स्वागतेन तु यो विप्रं पूजयेदासनेन च । प्रत्युत्थानेन वा राजन् स देवानां प्रियो भवेत् ॥२९॥ स्वागतेनाग्नयो राजन्नासनेन शतक्रतुः । प्रत्युत्थानेन पितरः प्रीतिं यान्त्यतिथिप्रियाः ॥ ३० ॥ अग्निशक्रपितॄणाञ्च तेषां प्रीत्या नराधिप। समावत्सरकृतं पापं तस्य सद्यो विनश्यति३१ यः प्रयच्छति विप्राय आसनं माल्यभूषितम् । स याति मणिचित्रेण

जो पुरुष मार्गमें चलनेसे थके और दुर्बल हुए ब्राह्मणको विश्राम देता है, उसका एकवर्षतक किया हुआ पाप नष्ट होजाता है ॥२५॥ और जो पुरुष भक्तिमान् होकर उस बटोहीके दोनों चरणोंको जलसे धोता है उसके दश वर्षके पाप नष्ट होजाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २६ ॥ जो बटोहीके चरणोंको घीसे अथवा तेलसे पूजता है उस मनुष्यका बारह वर्षका पाप तुरन्त नष्ट होजाता है ॥ २७ ॥ गौके और सोनेके दानका जो पुण्य कहा है, उस पुण्यका फल ऐसे ब्राह्मणका पूजन करनेवालेको मिलता है ॥ २८ ॥ जो स्वागत कर आसन देकर तथा आनेके समय अभ्युत्थान देकर ब्राह्मणका पूजन करता है वह देवताओंका प्यारा होता है ॥ २९ ॥ हे राजन् ! अतिथियोंके ऊपर प्रीति रखनेवाले अग्नि स्वागतसे प्रसन्न होते हैं, अतिथियोंको प्यार करनेवाला इन्द्र आसन देनेसे प्रसन्न होता है और पितर अभ्युत्थानसे प्रसन्न होते हैं ॥ ३० ॥ हे राजन् ! अग्नि, इन्द्र और पितरोंकी प्रसन्नतासे एक वर्षतक कियाहुआ पाप तुरन्त नष्ट होजाता ॥ ३१ ॥ जो ब्राह्मणको मालाओंसे विभूषित आसन

रथेनेन्द्रनिकेतनम् ॥३२॥ पुरन्दरासने तत्र दिव्यनारीविभूषितः। षष्टिं वर्षसहस्राणि क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥ ३३ ॥ वाहनं य प्रयच्छेत ब्राह्मणाय युधिष्ठिर। स याति रत्नचित्रेण वाहनेन सुरालयम् ॥३४॥ स तत्र कामं क्रीडित्वा सेव्यमानोऽप्सरोगणैः। इह राजा भवेद्राजन्नात्र कार्या विचारणा ॥३५॥ पादपं पल्लवाकीर्णं पुष्पितं फलितं तथा। गन्धमाल्यैरथाभ्यर्च्य वस्त्राभरणभूषितम् ॥ ३६ ॥ यः प्रयच्छति विप्राय श्रोत्रियाय सदक्षिणम्। भोजयित्वा यथाकामं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३७ ॥ जाम्बूनदविचित्रेण विमानेन विराजता। पुरन्दरपुरं याति जयशब्दरवैर्युतः ३८ तत्र शक्रपुरे रम्ये तस्य कल्पकपादपः। ददाति चेप्सितं सर्वं मनसा यद्यदिच्छति ॥ ३९ ॥ यावन्ति तस्य पत्राणि पुष्पाणि च

देता है वह मणियोंसे विचित्र रथमें बैठकर चन्द्रलोकको जाता है ॥ ३२ ॥ और तहाँ इन्द्रके आसन पर दिव्य स्त्रियोंसे शोभायमान हो अप्सराओंके गणोंके साथ साठ हजार वर्षतक क्रीडा करता है ॥ ३३ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य ब्राह्मणको वाहन देता है वह रत्नोंसे चित्रित वाहनमें बैठकर स्वर्गमें जाता है ३४ हे राजन् ! वह तहाँ अप्सराओंके झुण्डोंसे सेवित होताहुआ इच्छानुसार क्रीडा करके इसलोकमें आ राजा होता है, इसमें विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥ जो पत्ते और फलफूलोंसे भरे वृक्षको वस्त्रोंसे और गहनोंसे सजाकर तथा चंदन और फूलोंसे उसकी पूजा करके ॥ ३६ ॥ वेदवेत्ता ब्राह्मणको दक्षिणाके साथ दान करके देता है तथा उसको इच्छानुसार भोजन कराता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥३७॥ वृक्षका दान देनेवाला सुवर्णसे चित्रित विमानमें बैठकर जयजयकारके शब्दोंके साथ इन्द्रलोकमें जाता है ॥ ३८ ॥ और उस इन्द्रके रमणीय लोकमें वह अपने मनमें जो २ इच्छा करता है वे सब इच्छित पदार्थ कल्पवृक्ष उसको

फलानि च । तावद्वर्षसहस्राणि शक्रलोके महीयते ॥ ४० ॥ शक्रलोकादवतीर्णश्च मानुष्यं लोकमागतः । रथाश्वगजसम्पूर्णं पुरं राज्यञ्च चन्दयति ॥४१॥ स्थापयित्वा तु मद्भक्त्या यो मत्प्रतिकृतिं नरः । आलयं विधिवत्कृत्वा पूजाकर्म च कारयेत् । स्वयं वा पूजये-द्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ४२ ॥ अश्वमेधसहस्रस्य यत्पुण्यं समुदाहृतम् । तत्फलं समवाप्नोति मत्सालोक्यं प्रपद्यते । न जाने निर्गमं तस्य मम लोकाद् युधिष्ठिर ॥ ४३ ॥ देवालये विप्रगृहे गोवाटे चत्वरेऽपि वा । प्रज्वालयति यो दीपं तस्य पुण्यफलं शृणु४४ आरुह्य काञ्चनं यानं द्योतयन् सर्वतो दिशम् । गच्छेदादित्यलोकं स सेव्यमानः सुरोत्तमैः ॥ ४५ ॥ तत्र प्रकामं क्रीडित्वा वर्षकोटिं

देता है ॥ ३९ ॥ और दान किये हुए वृक्षके जितने पत्ते, फल और फूल होते हैं उतने ही हजार वर्षों तक वह स्वर्गलोकमें सत्कार पाता है ॥ ४० ॥ फिर पुण्यका क्षय होने पर स्वर्ग-लोकमेंसे मनुष्यलोकमें उतरता है और रथ, घोड़े तथा हाथियोंसे भरे नगर और राज्यको पाता है ॥४१॥ जो पुरुष मेरी भक्तिसे मेरी प्रतिमाकी स्थापना करता है उसका मन्दिर विधिपूर्वक बनवा कर उसकी पूजा करता है अथवा भक्तिके साथ अपने आप पूजा करता है, उसके पुण्यका फल सुनो॥४२॥हे युधिष्ठिर ! एक हजार अश्वमेध यज्ञका जो पुण्य कहा है उस पुण्यके फलको वह पाता है, मेरे लोकमें आता है और मेरे लोकमेंसे फिर मर्त्यलोकमें उतरता हो, यह मैं नहीं जानता॥४३॥जो पुरुष देवमन्दिरमें ब्राह्मण के घरमें, गौओंके बैठनेके स्थानमें अथवा चौराहेमें दीपक जलाता है उसके फलको सुनो॥४४॥दीपकका दान करने वाला पुरुष सोनेके विमानमें बैठकर सब दिशाओंको प्रकाशमान करता हुआ सूर्यलोकमें जाता है और मार्गमें उत्तम देवता उसकी सेवा करते हैं ॥४५॥ वह महातपस्वी पुरुष वहाँ एक करोड वर्षोंतक मनमाना विहार

महातपाः । इह लोके भवेद्विप्रो वेदवेदाङ्गपारगः ॥४६॥ देवालयेषु वा राजन् ब्राह्मणावसथेषु वा । चत्वरे वा चतुष्के वा रात्रौ वा यदि वा दिवा ॥ ४७ ॥ नानागन्धर्ववाद्यानि धर्मश्रावणिकानि च । यस्तु कारयते भक्त्या मद्गतेनान्तरात्मना ॥ ४८ ॥ तस्य देवा नरश्रेष्ठ पितरश्चापि हर्षिताः । सुप्रीताः सम्प्रयच्छन्ति विमानं कामगं शुभम् ॥ ४९ ॥ स च तेन विमानेन याति देवपुरं नरः । तत्र दिव्याप्सरोभिस्तु सेव्यमानः प्रमोदते ॥ ५० ॥ देवलोकावतीर्णस्तु सोऽस्मिल्लोके नराधिप । वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो भोगवान् ब्राह्मणो भवेत् ॥ ५१ ॥ चत्वरे वा सभायां वा विस्तीर्णे वा सभाङ्गणे । कृत्वाग्निकुण्डं विपुलं स्थण्डिलं वा युधिष्ठिर ॥५२॥ तत्राग्निं चतुरो मासाञ्ज्वालयेद्यस्तु भक्तिमान् । समाप्तेषु च मासेषु

करता है और फिर पुण्यक्षय होने पर इस मृत्युलोकमें वेद और वेदके अङ्गोंमें पारङ्गत ब्राह्मण होकर जन्म धारण करता है॥४६॥ हे राजन् ! जो पुरुष देवालयोंमें, ब्राह्मणके घरमें, खुले चौतरे पर या चौराहेमें रातके समय या दिनमें ॥ ४७ ॥ शुभमें मन लगा कर भक्तिके साथ भाँतिरके बाजे बजवाता है तथा धर्मके व्याख्यान सुनवाता है ॥४८॥ हे राजन् ! उस मनुष्यके ऊपर देवता और पितर प्रसन्न होते हैं तथा उसको सुखदायक और इच्छानुसार जानेवाला विमान देते हैं ॥ ४९ ॥ वह उस विमानमें बैठकर देवलोकमें जाता है, तहाँ दिव्य अप्सरायें उसकी सेवा करती हैं और वह आनन्दमें दिन बिताता है ॥ ५० ॥ और हे राजन् ! पुण्य पूरा होनेपर वह देवलोकसे उतरकर इसलोकमें वेदवेदाङ्गका जाननेवाला तथा ऐश्वर्यवान् ब्राह्मणका जन्म लेता है ॥ ५१ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो चौराहेमें, सभास्थानमें अथवा घरके विशाल आँगनमें अग्निका बड़ाभारी कुण्ड बनवाकर वा वेदी बनवा कर ॥ ५२ ॥ उसमें चार मासतक मेरी परम भक्तिके साथ अग्नि

पौष्यादिषु ततो द्विजान् ॥ ५३ ॥ भोजयेत्पायसं मिष्टं मद्गतेना-न्तरात्मना । दक्षिणाञ्च यथाशक्ति ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥५४॥ एवमग्निन्तु यः कुर्यान्नित्यमेवार्चयेत्तु माम् । तस्य पुण्यफलं यद्वै तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥ तेनाऽहं शङ्करश्चैव पितरो ह्यग्नय-स्तथा । यास्यामः परमां प्रीतिं नात्र कार्या विचारणा ॥ ५६ ॥ षष्टिं वर्षसहस्राणि षष्टिं वर्षशतानि च । सोऽस्मत्प्रीतिकरः श्रीमान् मम लोके महीयते ॥ ५७ ॥ मम लोकात्तीर्णश्च ह्यस्मिल्लोके महायशाः । वेदवेदाङ्गविद्विप्रो जायते राजपूजितः ॥ ५८ ॥ यः करोति नरश्रेष्ठ भरणं ब्राह्मणस्य तु । श्रोत्रियस्याभिजातस्य दरिद्रस्य विशेषतः । तस्य पुण्यफलं यद्वै तन्निबोध युधिष्ठिर५९ गवां कोटिप्रदानेन यत्पुण्यं समुदाहृतम् । तत्सर्वफलमाप्नोति वर्ष-

प्रज्वलित रखता है और पौष आदि महीने पूरे होजाने पर विप्रों को ॥ ५३ ॥ मुझमें मन लगाता हुआ दूधपाक (रबड़ी खीर आदि)का भोजन कराता है और शक्तिके अनुसार ब्राह्मणों को दक्षिणा देता है ॥५४॥ इस प्रकार जो पुरुष अग्निको जला-कर नित्य मेरी पूजा करता है उसको जो पुण्यफल मिलता है, हे युधिष्ठिर ! उसको सुनो५५ऐसा करनेसे मैं शिव, पितर और अग्नि बहुत ही प्रसन्न होते हैं, इसमें विचार करनेकी बात नहीं है ॥ ५६ ॥ और मुझे प्रसन्न करनेवाला वह पुरुष मेरे लोकमें छियासठ हजार वर्ष तक शोभायमान रहकर देवताओंसे पूजा पाता है ॥ ५७ ॥ वहाँ उसका पुण्य पूरा होजाने पर मेरे लोक मेंसे इस लोकमें उतर आता है और बड़ा यश पानेवाला, वेदवेदाङ्ग का ज्ञाता ब्राह्मण होता है तथा राजाओंमें सत्कार पाता है॥५८॥ हे राजन् ! जो पुरुष अच्छे कुलमें उत्पन्न हुये वेदको जाननेवाले गरीब ब्राह्मणका विशेषरूपसे पोषण करता है उसके पुण्यका जो फल है, हे युधिष्ठिर ! उसको सुनो ॥५९॥ हे पांडव ! एक करोड़

र्गौकेन पांडव ॥६०॥ काञ्चनेन विचित्रेण विमानेनार्कशोभिना । स याति मामकं लोकं दिव्यस्त्रीगणसेवितः ॥ ६० ॥ गीयमानो वरस्त्रीभिर्वर्षाणां कोटिविंशतिम् । क्रीडित्वा मामके तत्र सर्वदेवैरभिष्टुतः । मानुष्यमवतीर्णस्तु वेदविद् ब्राह्मणो भवेत्॥६२॥करकां कर्णिकां वापि महद्वा जलभाजनम् । यः प्रयच्छति विप्राय तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ६३ ॥ ब्रह्मकूर्चे तु यत्पीते फलं प्रोक्तं नराधिप । तत्पुण्यफलमाप्नोति जलभाजनदो नरः।सुतृप्तः सर्वसौगन्धः प्रहृष्टेन्द्रियमानसः ॥६४॥ हंससारसयुक्तेन विमानेन विराजता । स याति वारुणं लोकं दिव्यगन्धर्वसेवितम् ॥ ६५ ॥ पानीयं यः प्रयच्छेद्वै जीवानां जीवनं परम् । ग्रीष्मे च त्रिषु मासेषु तस्य पुण्य-

गौओंके दानसे जो फल कहा है वह सब फल एक वर्ष तक गरीब ब्राह्मणका पोषण करनेसे मिलता है॥६०॥और वह सूर्यकी समान दमकते हुये सुवर्णके विचित्र विमानमें बैठकर मेरे लोकमें जाता है और मार्गमें दिव्य स्त्रियें उसकी सेवा करती हैं ॥६१॥ तहाँ दिव्य स्त्रियें उसके गीत गाती हैं और बीस करोड वर्षोंतक मेरे लोकमें विहार करता है और तहाँ सब देवता उसकी स्तुति करते हैं, फिर वहाँका भोग पूरा होने पर मनुष्योंकी योनिमें वेदवेत्ता ब्राह्मण होकर जन्म लेता है ॥६२॥ जो ब्राह्मणको भारी, लुटिया अथवा बडा जलका पात्र देता है उसके फलको सुनो।६३। हे राजन् ! ब्रह्मकूर्च (पंचगव्य) को पीनेसे जो फल कहा है, वह फल जलके पात्रका दान देनेवालेको मिलताहै,वह नित्य परमतृप्त रहता है सब प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंसे भरपूर रहता है,उसकी इन्द्रियें और मन प्रसन्न रहते हैं ॥ ६४ ॥ और वह हंस तथा सारससे जुते सुन्दर विमानमें बैठकर जहाँ दिव्य गन्धर्व रहते हैं उस वरुणलोकमें जाता है ॥ ६५ ॥ जो मनुष्य गरमियोंके तीनों महीनोंमें जीवोंको परमजीवन देनेवाला जल देता है उसके सत्कर्म

फलं शृणु ॥ ६६ ॥ कपिलाकोटिदानस्य यत्पुण्यन्तु विधीयते । तत्पुण्यफलमाप्नोति पानीयं यः प्रयच्छति ॥६७॥ पूर्णचन्द्रप्रकाशेन विमानेन विराजता । स गच्छेदिन्द्रभवनं सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥ ६८ ॥ त्रिंशत्कोटियुगं तत्र देवगन्धर्वसेवितः । क्रीडित्वा मानुषे लोके चतुर्वेदी द्विजो भवेत् ॥ ६९ ॥ शिरोऽभ्यंगप्रदानेन तेजस्वी प्रियदर्शनः । सुभगो रूपवाञ्छूरः पंडितश्च भवेद् द्विजः७० वस्त्रदायी तु तेजस्वी सर्वत्र प्रियदर्शनः । सुभगो भवति श्रीमान् स्त्रीणां नित्यं मनोरमः ॥ ७१ ॥ उपानहौ च छत्रञ्च यो ददाति नरोत्तमः। स याति रथमुख्येन काञ्चनेन विराजता । शक्रलोकं महातेजाः सेव्यमानोऽप्सरोगणैः ॥७२॥ काष्ठपादुकदा यान्ति विमाने

का फल सुनो ॥ ६६ ॥ करोड कपिला गौओंके दानका जो फल कहा है, उस ही फलको वह भी पाता है जो जलका दान करता है ॥ ६७ ॥ और वह पूर्ण चन्द्रमाकी समान प्रकाशवान् तथा शोभायमान विमानमें बैठकर चन्द्रलोकमें जाता है और वहाँ अप्सरा उसकी सेवा करती हैं ॥ ६८ ॥ वहाँ देवताओंके तीस करोड युगों तक क्रीडा करता है, दिव्य गन्धर्व उसकी सेवा करते है और फिर मनुष्यलोकमें चारों वेदपढे ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥६९॥ शिरको मलनेके लिये तेलका दान देनेसे मनुष्य तेजस्वी, दर्शनीय सौभाग्यवान्, सुरूप, वीर और पंडित ब्राह्मण होता है ॥ ७० ॥ वस्त्रका दान देनेवाला मनुष्य तेजस्वी, सर्वत्र सुन्दर, सौभाग्यवान्, लक्ष्मीवान्, स्त्रियोंको सदा मनोहर लगने वाला उत्पन्न होता है ॥७१॥ जो श्रेष्ठ मनुष्य, जूते और छत्री का दान करता है वह महातेजस्वी मनुष्य सोनेके उत्तम तेजस्वी रथमें बैठकर इन्द्रके लोकमें जाता है और अप्सराओंके गण उसकी सेवा करते हैं, जो मनुष्य लकडीकी पादुका दान करते हैं वे वृक्षके बनायेहुए विमानमें बैठकर धर्मराजके रमणीय नगरमें

वृषैर्निर्मितैः । धर्मराजपुरं रम्यं सेव्यमानाः सुरोत्तमैः ॥ ७३ ॥ दन्तकाष्ठप्रदानेन प्रियवाक्यो भवेन्नरः । सुगन्धवदनः श्रीमान् मेधासौभाग्यसंयुतः ॥ ७४ ॥ क्षीरं दधि घृतं वापि गुडं मधुरसं तथा । ये प्रयच्छन्ति विप्रेभ्यः परां भक्तिमुपागताः ॥ ७५ ॥ ते वृषैरश्वयानैश्च श्वेतस्रग्दामभूषिताः । गीयमानाश्च गन्धर्वैर्यान्तीश्वरपुरं नराः ॥७६॥ तथा दिव्याप्सरोभिस्तु सेव्यमाना यथासुखम् । षष्टिवर्षसहस्राणि मोदन्ते देवसंन्निभाः ॥ ७७ ॥ ततः कालावतीर्णश्च जायन्ते त्विह मानवाः । प्रभूतधनधान्याश्च भोगवन्तो नरोत्तमाः ॥ ७८ ॥ ॥ वैशाखे मासि वैशाखे दिवसे पांडुनन्दन । वैवस्वतं समुद्दिश्य परां भक्तिमुपागताः ॥ ७९ ॥ अभ्यर्च्य विधिवद्विप्रांस्तिलान्गुडसमन्वितान् । ये प्रयच्छन्ति

जाते हैं और तहाँ उत्तम देवता उनकी सेवा करते हैं ॥ ७३ ॥ दतौनका दान करनेसे मनुष्य मधुरभाषी होता है, उसका मुख सुगन्धिवाला होता है, वह लक्ष्मीवान् होता है और बुद्धिमान् तथा सौभाग्यवान् होता है ॥७४॥ जो मनुष्य मेरी परमभक्ति करते हुये ब्राह्मणोंको दूध, दही, घी, गुड़ तथा शहदका दान देते हैं ७५ वे सफेद फूलोंकी मालाओंसे सजकर बैल तथा घोड़ेके वाहनमें बैठकर वैकुण्ठमें जाते हैं और गन्धर्व उनके गीत गाते हैं ॥७६॥ तहाँ दिव्य अप्सरायें सेवा करती हैं, उससे बड़ा सुख मालूम होता है और देवताओंकी समान होकर तहाँ साठ वर्षतक आनन्दमें रहते हैं ॥७७॥ फिर समयानुसार मनुष्यलोकमें जन्म लेकर बड़े धन धान्य और ऐश्वर्यवाले उत्तम मनुष्य होते हैं ॥ ७८ ॥ हे पाण्डव ! वैशाखके महीनेमें जिस दिन विशाखा नक्षत्र हो उस दिन मेरी परमभक्ति धारण करके सूर्यनारायणको प्रसन्न करनेके लिये ॥७९॥ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा करके जो उनको तिल और गुड़का दान देते हैं उनको जो फल मिलता है उसको

विप्रेभ्यस्तेषां पुण्यफलं शृणु ॥ ८० ॥ गोपदानेन यत्पुण्यं विधिवत्पाण्डुनन्दन । तत्पुण्यं समनुप्राप्तो यम लोके महीपते । ततश्चापि च्युतः कालादिह राजा भविष्यति ॥ ८१ ॥ तस्मिन्नेव दिने विप्रान्भोजयित्वा सुदक्षिणम् । तोयपूर्णानि दिव्यानि भाजनानि दिशन्ति ये ॥ ८२ ॥ ते यान्त्यादित्यवर्णाभैर्विमानैर्वरुणालयम् । तत्र दिव्याङ्गनाभिस्तु रमन्ते कामकामनाः ॥ ८३ ॥ ततोऽवतीर्णाः कालेन ते चास्मिन्मानुषे पुनः । भोगवन्तो द्विजश्रेष्ठा भविष्यन्ति न संशयः ॥८४॥ अनन्तराशी यश्चापि वर्तते व्रतवत्सदा । सत्यवाक्क्रोधरहितः शुचिः स्नानरतः सदा । स विमानेन दिव्येन याति शक्रपुरं नरः ॥ ८५ ॥ तत्र दिव्याप्सरोभिस्तु वर्षकोटिं महातपाः। क्रीडित्वा मानुषे लोके जायते वेद-

सुनो ॥ ८० ॥ हे पाण्डुनन्दन ! विधिपूर्वक गौका दान देनेसे जो फल मिलता है, वही फल उसको मिलता है और वह यमलोकमें आदर पाता है, यमलोकमेंसे समयानुसार गिरने पर मनुष्यलोकमें राजा होता है ।८१। जो मनुष्य वैशाखके विशाखा नक्षत्रवाले दिन ब्राह्मणोंको भोजन कराकर और दक्षिणा देकर जलसे भरे दिव्य पात्रका दान देते हैं ॥८२॥ वे मनुष्य सूर्यकी समान कान्तिवाले विमानमें बैठकर वरुणके लोकमें जाते हैं और तहाँ कामके अभिलाषी वे दिव्य स्त्रियोंके साथ आनन्द करते हैं ॥ ८३ ॥ तदनन्तर वे समय पाकर मनुष्यलोकमें जन्म लेते हैं और निःसन्देह भोगवाले उत्तम द्विज होते हैं ॥ ८४ ॥ जो मनुष्य अपने पोष्योंको भोजन कराकर भोजन करता है, सदा व्रत किया करता है, सत्य बोलता है क्रोधरहित होता है, स्नान आदिसे पवित्र रहता है,और सदा स्नान पर प्रीति रखता है वह मनुष्य दिव्य विमानमें बैठकर इन्द्रके लोकमें जाता है ॥ ८५ ॥ और वह महातपस्वी मनुष्य दिव्य अप्सराओंके साथ करोड वर्ष

विद् द्विजः ॥ ८६ ॥ एकभुक्तेन यश्चापि वर्षमेकं तु वर्तते । ब्रह्म चारी जितक्रोधः सत्यशौचसमन्वितः । स विमानेन दिव्येन याति शक्रपुरं नरः ॥ ८७ ॥ दशकोटिसहस्राणि क्रीडित्वाऽप्सरसां गणैः । इह मानुष्यके लोके वेदविद् ब्राह्मणो भवेत् ॥ ८८ ॥ चतुर्थकाले यो भुङ्क्ते ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः । वर्तते चैकवर्षं तु तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ८९ ॥ चित्रबर्हिणयुक्तेन विचित्रध्वज-शोभिना । याति यानेन दिव्येन स महेन्द्रपुरं नरः ॥ ९० ॥ अङ्गनाभिर्वरस्त्रीभिः सेव्यमानो यथासुखम् । ततो द्वादशकोटिं स समाः सम्यक् प्रमोदते ॥ ९१ ॥ शक्रलोकावतीर्णस्तु लोके चास्मिन्नराधिप । भवेद्वै ब्राह्मणो विद्वान्क्षमावान्वेदपारगः॥९२॥ षष्ठकाले तु योऽश्नाति वर्षमेकमकल्मषः । ब्रह्मचर्यव्रतैर्युक्तः शुचिः

तक क्रीडा करके मनुष्यलोकमें वेदवेत्ता ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ ८६ ॥ जो मनुष्य एक वर्षतक एक समय भोजन करता है, ब्रह्मचर्य पालता है, क्रोधको जीतता है, सत्य बोलता है, पवित्र रहता है,वह दिव्य विमानमें बैठकर इन्द्रलोकमें जाता है ॥८७॥ तहाँ अप्सराओंकी मण्डलीके साथ दश करोड वर्षतक विहार करके इस मर्त्यलोकमें वेदवेत्ता ब्राह्मण होता है ॥ ८८ ॥ जो ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय होकर एक वर्षतक चौथे समय भोजन करता है उसके सत्कर्मका फल सुनो ॥८९॥ वह मनुष्य विचित्र मोरोंसे जुते और विचित्र ध्वजासे शोभायमान दिव्य विमानमें बैठ कर महेन्द्रके लोकमें जाता है ॥९०॥ तहाँ सुन्दर हृष्ट पुष्ट स्त्रियें उसकी सेवा करती हैं,इससे उसको सुख होता है और तहाँ बारह करोड वर्ष तक अच्छे प्रकारसे आनन्द करता है ॥ ९१ ॥ फिर हे राजन् ! इन्द्रके लोकमेंसे इस मृत्युलोकमें आता है और विद्वान्, क्षमावान् तथा वेदका पारङ्गत ब्राह्मण होता है ॥९२॥ जो छठे समय अर्थात् तीसरे दिन सायङ्कालको एक साल तक

क्रोधविवर्जितः । तपोयुक्तस्य तस्याथ शृणुष्व फलमुत्तमम् ॥९३॥
अत्यादित्यप्रकाशेन विमानेनार्कसंनिभः । स याति मम लोकान्वै
दिव्यनारीनिषेवितः ॥ ९४ ॥ तत्र साध्यैर्मरुद्भिस्तु पूज्यमानो
यथासुखम् । पश्यन्नेव सदा मां तु क्रीडत्यप्सरसां गणैः ॥९५॥
पक्षोपवासं यश्चापि कुरुते मद्गतात्मना । समाप्ते तु व्रते तर्पयेच्छ्रोत्रियान्द्विजान् ॥ ॥ ९६ ॥ सोपि गच्छति दिव्येन विमानेन
महातपाः । द्योतयन्प्रभया व्योम मम लोकं प्रपद्यते । स तत्र मोदते
कामं कामरूपी यथासुखम् ॥ ९७ ॥ त्रिंशत्कोटिसमा राजन्
क्रीडित्वा तत्र देववत् । इह मानुष्यके लोके पूजनीयो द्विजो भवेत् ।
त्रयाणामपि वेदानां साङ्गानां पारगो भवेत् ॥ ९८ ॥ यश्च

भोजन करता है, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, भीतर और बाहरसे पवित्र रहता है तथा क्रोधको त्याग देता है उस तपस्वीको जो फल मिलता है उस उत्तम फलको सुनो ॥९३॥ वह सूर्यकी समान कान्तिमान् होजाता है और सूर्यसे भी अधिक कान्तिवाले विमानमें बैठकर मेरे लोकमें आता है और वहाँ दिव्य स्त्रियें उसकी सेवा करती हैं ॥ ९४ ॥ वहाँ साध्य और पवन उसकी सुखदायक सेवा करते हैं, वह सदा मेरा दर्शन किया करता है और अप्सराओंके गणोंके साथ क्रीडा करता है ॥ ९५ ॥ जो मुझमें मन लगाकर पन्द्रह दिन तक उपवास करता है और व्रत समाप्त होने पर वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको तृप्त करता है ॥ ९६ ॥ वह महातपस्वी पुरुष भी दिव्य विमानमें बैठकर अपनी कान्तिसे आकाशको प्रकाशित करता हुआ मेरे लोकमें जाता है और वहाँ इच्छानुसार रूप धारण करके पूर्ण सुख भोगता है ॥ ९७ ॥ हे राजन्! वहाँ देवताकी समान तीस करोड वर्ष तक क्रीडा करके फिर इस मृत्युलोकमें पूजनीय ब्राह्मणका जन्म पाकर तीनों वेदों का और उनके अङ्गोंका पारङ्गत होता है ॥ ९८ ॥ जो मनुष्य

मासोपवासं वै कुरुते मद्गतात्मना । जितेन्द्रियो जितक्रोधो जितधीः स्नानतत्परः ॥९९॥ समाप्ते नियमे तत्र भोजयित्वा द्विजोत्तमान् । दक्षिणां च ततो दद्यात्प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १०० ॥ स गच्छति महातेजा ब्रह्मलोकमनुत्तमम् । सिंहयुक्तेन यानेन दिव्यस्त्रीगण-सेवितः ॥ १०१ ॥ स तत्र ब्रह्मणो लोके दिव्यर्षिगणसेवितः । शतकोटिसमा राजन्यथाकामं प्रमोदते॥१०२॥ ततः कालावतीर्णश्च सोऽस्मिँल्लोके द्विजो भवेत्।षडङ्गविच्चतुर्वेदी त्रिंशज्जन्मान्यरोगवान् १० यस्त्यक्त्वा सर्वकर्माणि शुचिः क्रोधविवर्जितः । महाप्रस्थानमेकाग्रो याति मद्गतमानसः ॥१०४॥ स गच्छेदिन्द्रसदनं विमानेन महातपाः । महामणिविचित्रेण सौवर्णेन विराजता ॥१०५॥ शतकोटिसमास्तत्र

मुझमें मन लगाकर एक महीने तक उपवास करता है, जितेन्द्रिय, क्रोधजित्, बुद्धिको अपने वशमें रखनेवाला और स्नान करनेमें तत्पर रहता है॥९९॥तथा नियम समाप्त होने पर उत्तम ब्राह्मणको भोजन कराता है और फिर प्रसन्नमनसे ब्राह्मणोंको दक्षिणा देता है ॥ १०० ॥ वह मनुष्य महातेजस्वी होकर दिव्य स्त्रियोंके मण्डलसे सेवित होता हुआ सिंहसे जुते विमानमें बैठकर सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मलोकमें जाता है ॥१०१॥ उस ब्रह्मलोकमें दिव्य ऋषि उसकी सेवा करते हैं और हे राजन् ! अपनी इच्छानुसार सौ करोड वर्ष तक ब्रह्मलोकमें आनन्द करता है ॥ १०२ ॥ फिर समय पाकर पुण्यका क्षय होने पर इस मर्त्यलोकमें तीस जन्म तक छः अङ्गों सहित चारों वेदोंका जाननेवाला ब्राह्मण होता है और नीरोग रहता है ॥ १०३ ॥ जो मनुष्य क्रोधको त्यागकर, भीतर बाहरसे शुद्ध हो, सब कर्मोंको त्याग, मुझमें मनको एकाग्र करके महाप्रस्थान करता है॥१०४॥वह महातपस्वी मनुष्य बड़े २ मणियोंसे चित्रित सोनेके सुन्दर विमानमें बैठकर इन्द्रलोकमें जाता है।१०५।और वहाँ देवलोकमें एक अब्ज वर्ष तक रहता है,वहाँ देव-

सुराधिपतिपूजितः। नाकपृष्ठे निवसति दिव्यस्त्रीगणसेवितः १०६
शक्रलोकावतीर्णश्च मानुषेषूपजायते। राज्ञां राजा महातेजाः सर्व-
लोकार्चितः प्रभुः ॥१०७॥ प्रायोपवेशं यश्चापि कुरुते मद्गतात्मना।
नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्युक्त्वा मन्त्रं समाहितः। अन्तःस्वस्थो
जितक्रोधस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १०८ ॥ कामगः कामरूपी च
बालसूर्यसमप्रभः। स विमानेन दिव्येन याति लोकाननामयान् १०९
स्वर्गात्स्वर्गं महातेजा गत्वा चैव यथासुखम्। मम लोकेषु रमते
यावदाभूतसंप्लवम् ॥११०॥ अग्निप्रवेशं यश्चापि कुरुते मद्गतात्मना।
सोपि यानेन दिव्येन मम लोकं प्रपद्यते ॥१११॥ तत्र सर्वगुणोपेतः
पश्यन्नेव स मां सदा। त्रिंशत्कोटिसमा राजन्मोदते मम सन्निधौ।

रोज उसकी पूजा करते हैं तथा दिव्य स्त्रियें उसकी सेवा करती हैं १०६
फिर समय पाकर उस इन्द्रलोकमेंसे मृत्युलोकमें आ महातेजस्वी
राजा होता है तथा सब लोग उसकी पूजा करते हैं ॥ १०७ ॥
जो मनुष्य मुझमें मन लगाकर उपवास करता है और मनको
शान्त तथा क्रोधको जीतकर, सावधान हो "नमो ब्रह्मण्यदेवाय"
इस मंत्रका पाठ करता है, उस मनुष्यके पुण्यका फल सुनो १०८
वह मनुष्य जी चाहे तहाँ जासकता है, इच्छानुसार रूप धारण
करसकता है, बालसूर्यकी समान उसकी कान्ति होती है और
दिव्य विमानमें बैठकर सुखदायक लोकोंमें जाता है ॥ १०९ ॥
वह महातेजस्वी मनुष्य जो एक स्वर्गसे दूसरे स्वर्गमें जाता है
उससे उसको बडा सुख होता है तथा प्रलयकालतक मेरे लोकोंमें
आनन्द करता है ॥ ११० ॥ जो मनुष्य मुझमें मन लगाकर
अग्निमें प्रवेश करता है वह भी दिव्य विमानमें बैठकर मेरे लोकमें
जाता है॥१११॥और सर्वगुणसंपन्न हुआ वह मनुष्य मेरे लोकमें
सदा मेरा ही दर्शन किया करता है और हे राजन्! मेरे समीपमें
तीस करोड वर्षोंतक आनन्दमें रहता है, फिर समय आनेपर

ततोऽवतीर्णः कालेन वेदविद्व्राह्मणो भवेत् ॥ ११२ ॥ कर्पणं साधयन्यस्तु मां प्रपन्नः शुचिव्रतः । नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्येतन्मन्त्रमुदाहरन् ॥ ११३ ॥ बालसूर्यप्रकाशेन विमानेन विराजता । मम लोकं समासाद्य वर्षकोटिं प्रमोदते । मम लोकावतीर्णश्च सोस्मिँल्लोके नृपो भवेत् ॥ ११४ ॥ निवेशयति मन्मूर्त्यामात्मानं मद्गतः शुचिः । रुद्रदक्षिणमूर्त्यां वा चतुर्दश्यां विशेषतः ॥ ११५ ॥ सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव देवलोकैश्च पूजितः । गन्धर्वैर्भूतसङ्घैश्च गीयमानो महातपाः ॥११६॥ प्रविशेत्स महातेजा मां वा शङ्करमेव वा । न स्यात्पुनर्भवो राजन्नात्र कार्या विचारणा ॥ ११७ ॥ गोकृते स्त्रीकृते चैव गुरुविप्रकृतेऽपि वा । हन्यन्ते ये तु राजेन्द्र शक्रलोकं

इस लोकमें वेदवेत्ता ब्राह्मणका जन्म लेता है ॥ ११२ ॥ जो मनुष्य खेती करता हो, परन्तु मेरी शरणमें आजाय, पवित्र व्रतोंको करे और "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" इस मंत्रका जप करे ११३ वह मनुष्य उदय होते हुए सूर्यकी समान प्रकाशवान् सुन्दर विमानमें बैठकर मेरे लोकमें आता है और एक करोड वर्षतक आनन्दमें रहता है और फिर समय पाकर मेरे लोकमेंसे मनुष्यलोकमें आ राजाका जन्म पाता है ॥ ११४ ॥ जो मेरी मूर्त्तिमें मनको लगाता है, मेरा ध्यान करता है, पवित्र रहता है अथवा विशेपकर चौदसके दिन रुद्रमें अथवा दक्षिणामूर्त्तिमें मन लगाता है ॥ ११५ ॥ उसकी सिद्ध, ब्रह्मर्षि और सब देवलोक पूजा करते हैं और गन्धर्व तथा भूत नामके देवता उस महातपस्वीके गीत गाते हैं ॥ ११६ ॥ और वह महातेजस्वी मनुष्य मुझमें या शङ्करमें लय होजाता है और हे राजन् ! उसका फिर जन्म नहीं होता है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये ॥११७॥ जो मनुष्य गौके लिये, स्त्रीकी रक्षाके लिये, गुरुके लिये और ब्राह्मणके लिए प्राण देदेते हैं, हे राजन् ! वे मनुष्य इन्द्रलोकमें जाते हैं ११८

व्रजन्ति ते ॥ ११८ ॥ तत्र जाम्बूनदमये विमाने कामगामिनि । मन्वन्तरं प्रमोदन्ते दिव्यनारीनिषेविताः॥११९॥ आश्रुतस्य प्रदानेन दत्तस्य हरणेन च । जन्मप्रभृति यद्दत्तं तत्सर्वं तु विनश्यति १२० नाऽगोप्रदास्तत्र पयः पिबन्ति नाभूमिदा भूमिमथाश्नुवन्ति । यान्यान्कामान्ब्राह्मणेभ्यो ददाति तांस्तान्कामान्स्वर्गलोके च भुङ्क्ते १२१ यद्यदिष्टतमं द्रव्यं न्यायेनोपार्जितं च यत् । तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षय्यमिच्छता॥ १२२ ॥ अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च । अदत्त्वा काञ्चनं गां च दरिद्रो नाम जायते ॥ १२३ ॥ दानं यत्तत्फलं नैव श्रोत्रियाय न दीयते । श्रोत्रिया यत्र नाश्नन्ति न देवास्तत्र भुञ्जते ॥ १२४ ॥ श्रोत्रियेभ्यः परं नास्ति परमं दैवतं

और तहाँ इच्छानुसार जानेवाले सोनेके विमानमें एक मन्वन्तर तक आनन्द करते हैं और दिव्य स्त्रियें उनकी सेवा करती हैं ॥ ११९ ॥ जो वस्तु देनेकी प्रतिज्ञा की हो, वह वस्तु न देनेसे और दी हुई वस्तुको छीन लेनेसे जन्मकालसे लेकर जो कुछ वस्तु दान दी होती है सब नष्ट होजाती है ॥ १२० ॥ जो गौका दान नहीं देते उनको तहाँ गौका दूध पीनेको नहीं मिलता है, जो२ पदार्थ ब्राह्मणोंको दियेजाते हैं वे पदार्थ ही स्वर्गमें भोगनेको मिलते हैं॥१२१॥जो२ पदार्थ अपनेको प्यारे हों और जो पदार्थ न्यायसे पाये हों वे अक्षय पदार्थ,उनको पाना चाहनेवाला मनुष्य गुणवानोंको दान करके देय ॥ १२२ ॥ जो मनुष्य तीन रात उपवास नहीं करता है, तीर्थयात्रा नहीं करता है, सोनेका और गौका दान नहीं देता है वह दरिद्रीका जन्म पाता है१२३जो दान वेदवेत्ता ब्राह्मणको नहीं दिया जाता है उसका फल नहीं मिलता है,जहाँ श्रोत्रिय(वेदवेत्ता)ब्राह्मण भोजन नहीं करते हैं तहाँ देवता भोजन नहीं करते हैं१२४श्रोत्रिय ब्राह्मणसे बड़ा कोई देवता नहीं है तथा हे राजेन्द्र ! श्रोत्रियोंको भोजन करानेसे बढ़कर कोई दूसरी

महत् ॥ निधानं चापि राजेन्द्र नास्माच्छ्रोत्रियभोजनात् ॥ १२५ ॥
इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि वृषभ-
गृहशय्यासनादानादिप्रशंसने शततमोऽध्यायः १००॥

युधिष्ठिर उवाच । वियोगे शरीरस्य सेन्द्रियस्य विशांपतः । अन्तरा वर्तमानस्य गतिः प्राणस्य कीदृशी ॥ १ ॥ भगवानुवाच । शुभाशुभकृतं सर्वं प्राप्नोतीह फलं नरः । न तु सर्वस्य भूतस्य पञ्चत्वं विद्यते नृप ॥२॥ पञ्चत्वं पाण्डवश्रेष्ठ भूरिभूतिकरं नृणाम् । तेषां पञ्च महायज्ञान्ये कुर्वन्ति द्विजोत्तमाः ॥ ३ ॥ पञ्चत्वं पञ्चभिर्भूतैर्वियोगं संप्रचक्षते । न जायते न म्रियते पुरुषः शाश्वतः सदा ४ प्रायेण मरणं नाम पापिनामेव पाण्डव । येषां तु न गतिः पुण्या तेषां मरणमुच्यते ॥ ५ ॥ प्रायेणाकृतकृत्यस्तु मृत्योरुद्विजते जनः । कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥६॥ युधिष्ठिर उवाच।

विधि भी नहीं है ॥ १२५ ॥ सौवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०० ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे भगवन् ! इन्द्रियोंका और शरीरका विशेषरूपसे वियोग होजाने पर उसमें रहनेवाले प्राणकी क्या गति होती है ? ॥ १ ॥ भगवान्ने कहा, कि—हे राजन् ! मनुष्य शुभ अशुभ कर्मके फलको इस लोकमें पाता है, सकल प्राणी पाँचपनेको नहीं पाते हैं ॥२॥ हे पाण्डवश्रेष्ठ! पाँचपना मनुष्योंका परमकल्याण करनेवाला है, हे द्विजोत्तम ! जो पुरुष पञ्चमहायज्ञ करते हैं उनका कल्याण होता है ॥३॥ आत्माका पञ्चमहाभूतोंसे वियोग होता है उसको ही पञ्चत्व कहते हैं पुरुष न सदा जन्मता है न सदा मरता है, यह सनातनकालका है ॥ ४ ॥ हे पाण्डव! पापियोंका प्रायः मरण होता है, जिनकी सद्गति नहीं होती है उनका ही मरण हुआ कहलाता है ॥ ५ ॥ जो मनुष्य अधिक-तर पुण्यकर्म नहीं करता है वह मृत्युसे डरता है , परन्तु सत्कर्म करनेवाले मनुष्य प्यारे अतिथिकी समान मृत्युकी बाट देखते

पञ्च यज्ञाः कथं देव क्रियन्तेऽत्र द्विजातिभिः । तेषां नाम च देवेश वक्तुमर्हस्यशेषतः ॥ ७ ॥ श्रीभगवानुवाच । शृणु पञ्च महायज्ञान्कीर्त्यमानान्युधिष्ठिर । यैरेव ब्रह्मसालोक्यं लभ्यते गृहमेधिना ॥ ८ ऋभुयज्ञं ब्रह्मयज्ञं भूतयज्ञं च पाण्डव । नृयज्ञं पितृयज्ञं च पञ्च यज्ञान्प्रचक्षते ॥ ९ ॥ तर्पणं ऋभुयज्ञः स्यात्स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञकः । भूतयज्ञो बलिर्यज्ञो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् । पितॄनुद्दिश्य यत्कर्म पितृयज्ञः प्रकीर्तितः ॥ १० ॥ हुतं चाप्यहुतं चैव तथा प्रहुतमेव च । प्राशितं बलिदानं च पाकयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ११ ॥ वैश्वदेवादयो होमा हुतमित्युच्यते बुधैः । अहुतं च भवेद्दत्तं प्रहुतं ब्राह्मणाशितम् १२ प्राणाग्निहोत्रहोत्रं च प्राशितं विधिवद्विदुः । बलिकर्म च राजेन्द्र पाकयज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥ १३ ॥ केचित्पञ्च महायज्ञान्पाकयज्ञान्प्र-

हैं ॥६॥ युधिष्ठिरने कहा, कि हे देव ! ब्राह्मणोंको पञ्चमहायज्ञ किस प्रकार करने चाहियें ? हे देव ! उनके सब नाम भी बता देने चाहियें ॥ ७ ॥ श्रीभगवान्‌ने कहा, कि—हे युधिष्ठिर ! गृहस्थ जिन यज्ञोंसे ब्रह्माके लोकमें जाते हैं उन पञ्चमहायज्ञोंको कहता हूँ सुनो ॥ ८ ॥ हे पाण्डव ! ऋभुयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ इन पाँचोंको महायज्ञ कहते हैं ॥ ९ ॥ तर्पणको ऋभुयज्ञ कहते हैं, स्वाध्यायको ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, बलिदानको भूतयज्ञ कहते हैं और अतिथियोंके पूजनको मनुष्ययज्ञ कहते हैं तथा पितरोंके लिये जो यज्ञ किया जाता है उसको पितृयज्ञ कहते हैं ॥ १० ॥ हुत, अहुत, प्रहुत, प्राशित, और बलिदान इन पाँचको पाकयज्ञ कहते हैं ॥ ११ ॥ वैश्वदेव आदि होमोंको विद्वान् हुत कहते हैं ॥ १२ ॥ दानको अहुत कहते हैं, ब्राह्मणभोजनको प्रहुत कहते हैं, विधिके अनुसार प्राणाग्निमें किये हुए होमको विद्वान् प्राशित कहते हैं, देवताओंको जो बलि अर्पण किया जाता है उसको बलिकर्म कहते हैं हे राजेन्द्र ! ये पाँच पाकयज्ञ कहे

यज्ञते । अपरे ब्रह्मयज्ञादीन्महायज्ञविदो विदुः ॥ १४ ॥ सर्वं एते महायज्ञाः सर्वथा परिकीर्तिताः । बुभुक्षितान्ब्राह्मणांस्तु यथाशक्ति न हापयेत् ॥१५॥ अहन्यहनि ये त्वेतानकृत्वा भुञ्जते स्वयम् । केवलं मलमश्नन्ति ते नरा न च संशयः ॥ १६ ॥ तस्मात्स्नात्वा द्विजो विद्वान्कुर्यादेतान्दिने दिने । अतोऽन्यथा तु भुञ्जन्वै प्रायश्चित्ती भवेद् द्विजः॥१७॥ युधिष्ठिर उवाच । देवदेवेश दैत्यघ्न त्वद्भक्तस्य जनार्दन । वक्तुमर्हसि देवेश स्नानस्य च विधिं मम ॥ १८ ॥ भगवानुवाच । शृणु पाण्डव तत्सर्वं पवित्रं पापनाशनम् । स्नात्वा येन विधानेन मुच्यन्ते किल्बिषाद् द्विजाः ॥१९॥ मृदं च गोमयं चैव तिलं दर्भांस्तथैव च । पुष्पाण्यपि यथान्यायमादाय तु जलं व्रजेत् ॥ २० ॥ नद्यां स्नात्वा न च स्नायादन्यत्र द्विजसत्तम ।

हैं ॥ १३ ॥ महायज्ञके स्वरूपको जानने वाले कितने ही पाँच महायज्ञोंको पाकयज्ञ कहते हैं तो दूसरे ब्रह्मयज्ञादिको पाकयज्ञ कहते हैं ॥ १४ ॥ इन सबको सर्वथा महायज्ञ कहा है, भोजनके समय भूखे ब्राह्मणोंको शक्तिके अनुसार भोजन कराना चहिये १५ जो मनुष्य प्रतिदिन इन पंच महायज्ञोंको किये बिना भोजन करते हैं वे पुरुष केवल मलका भोजन करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है १६ इसलिये विद्वान् ब्राह्मणको चाहिये, कि-प्रतिदिन स्नान करके इन पञ्चमहायज्ञोंको करे, जो ब्राह्मण इन पञ्चमहायज्ञोंको किये बिना भोजन करता है वह प्रायश्चित्ती होता है ॥१७॥ युधिष्ठिरने बूझा कि-हे जनार्दन ! हे देवदेवेश ! हे दैत्यदलन ! अपने इस भक्तको स्नानकी विधि सुनाइये ॥ १८ ॥ श्रीभगवान्ने कहा, कि-हे पाण्डव ! पापका नाश करनेवाली उस सब पवित्र विधिको तू सुन, कि-जिस स्नानविधिसे स्नान करके विप्र पापसे मुक्त होजाता है ॥ १९ ॥ मृत्तिका, गोबर, तिल, कुशा और फूल यथोचित लेकर जलाशय पर स्नान करनेको जाय ॥ २० ॥

सति प्रभूते पयसि नाल्पे स्नायात्कदाचन ॥२१॥ गत्वोदकसमीपं
तु शुचौ देशे मनोरमे। ततो मृद्गोमयादीनि तत्र विप्रो विनिक्षिपेत् २२
बहिः प्रक्षाल्य पादौ च द्विराचम्य प्रयत्नतः। प्रदक्षिणं समावृत्य
नमस्कुर्यात्तु तज्जलम् ॥ २३ ॥ न च प्रक्षालयेद्विद्वांस्तीर्थमद्भिः
कदाचन। न च पादेन वा हन्याद्धस्तेनान्येन तज्जलम् ॥२४॥
सर्वदेवमया ह्यापो मन्मयाः पाण्डुनन्दन। तस्मात्तास्तु न हन्त-
व्यास्ताभिः प्रक्षालयेत्स्थलम् ॥२५॥ केवलं प्रथमं मज्जेन्नाङ्गानि
विमृशेद् बुधः। तत्तु तीर्थं समासाद्य कुर्यादाचमनं पुनः ॥ २६ ॥
गोकर्णाकृतिवत् कृत्वा करं त्रिः प्रपिबेज्जलम्। द्विस्तत्परिमृजेद्वक्त्रं
पादावभ्युक्ष्य चात्मनः। शीर्षण्यन्तु ततः प्राणान् सकृदेव तु
संस्पृशेत् ॥ २७ ॥ बाहू द्वौ च ततः स्पृष्ट्वा हृदयं नाभिमेव च।

हे द्विजवर! नदीमें स्नान करके फिर दूसरे जलाशयमें न न्हाय और बहुतसे जलवाला जलाशय मिलसके तो थोड़े जलवालेमें कभी स्नान न करे॥ २१॥ ब्राह्मण जलाशयके पास जाकर उसके मनोहर और पवित्र तटपर मृत्तिका और गौका गोबर रक्खे ॥२२॥ तीर्थके बाहर अपने दोनों चरणोंको धोकर सावधानीसे दो बार आचमन करे, फिर जलाशयकी प्रदक्षिणा करके उस जलाशयके जलको प्रणाम करे॥ २३ ॥ विद्वान् पुरुष कभी भी जलसे तीर्थको न धोवे तथा पैरसे अथवा हाथसे भी तीर्थके जलके ऊपर प्रहार न करे॥ २४ ॥ क्योंकि-हे पाण्डुपुत्र! जल सकल देवतारूप है और मेरा स्वरूप है, इसलिये जलका ताडन न करे, किन्तु जलसे जलाशयके स्थानको धोकर स्वच्छ करे ॥२५॥ विद्वान् पुरुष तीर्थमें जाकर पहले अपने अङ्गोंको जलमें न डुबोवे, किन्तु पहले आचमन करे ॥२६॥ हाथको गौके कानकी समान बनाकर तीन बार जल पिये, फिर दो बार अपने मुखको धोवे, तदनन्तर अपने पैरों पर जल डाले, फिर शिरकी सब इन्द्रियोंको

प्रत्यङ्गमुदकं स्पृष्ट्वा मूर्धानन्तु पुनः स्पृशेत् ॥ २८ ॥ आपः पुनन्त्वित्युक्त्वा च पुनराचमनं चरेत् । सोङ्कारव्याहृतीर्वाऽपि सदसस्पतिमित्यृचम् ॥ २९ ॥ आचम्य मृत्तिकाः पश्चात्त्रिधा कृत्वा समालभेत् । ऋचेदं विष्णुरित्यङ्गमुत्तमाधममध्यमम् । आलभ्य वारुणैः सूक्तैर्नमस्कृत्य जलं ततः ॥ ३० ॥ स्रवन्ती चेत्प्रतिस्रोते प्रत्यर्कं चान्यवारिषु । मज्जेदोमित्युदाहृत्य न च विक्षोभयेज्जलम् ३० गोमयश्च त्रिधा कृत्वा जले पूर्वं समालभेत् । सव्याहृतीकां सप्रणवां गायत्रीञ्च जपेत्पुनः ॥ ३२ ॥ पुनराचमनं कृत्वा मद्गतेनान्तरात्मना । आपो हिष्ठेति तिसृभिर्ऋग्भिः पूतेन वारिणा । तथा

जलसे एक बार ही स्पर्श करे ॥ २७ ॥ जलसे दोनों भुजाओंका स्पर्श करे, फिर हृदयका और नाभिका जलसे स्पर्श करे, इस प्रकार हरएक अङ्गका जलसे स्पर्श करके फिर मस्तकका स्पर्श करे ॥ २८ ॥ फिर "आपः पुनन्तु पृथिवीं" इस मंत्रको पढ़कर अथवा ॐकार और व्याहृतिके सहित "सदसस्पतिम्" इस ऋचाको पढ़कर फिर आचमन करे ॥ २९ ॥ आचमनके बाद मृत्तिकाके तीन भाग करके "इदं विष्णुः" इस ऋचाको पढ़कर शरीरके उत्तम, मध्यम और अङ्गों पर मृत्तिका लगावे, फिर वरुण देवताके सूक्त पढ़कर जलको प्रणाम करे ॥ ३० ॥ नदीमें स्नान करना होय तो जलके प्रवाहके सामने बैठकर स्नान करे और तालाव आदि जलाशयमें न्हाना होय तो सूर्यके सामने बैठकर स्नान करे, ॐकारका उच्चारण करके नदीमें गोता लगावे; परन्तु जलको घपोले नहीं ॥ ३१ ॥ फिर गोवरके तीन भाग करके (शरीरके उत्तम, मध्यम और अधम अङ्गोंमें लगावे) और फिर जल लेय तथा ओंकार तथा व्याहृतिके साथ गायत्रीका जप करे ॥ ३२ ॥ और मुझमें मन लगाकर फिर आचमन करे तदनन्तर "आपोहिष्ठा" इन तीनों ऋचाओंसे तथा "ततः

तरत्समन्दीभिः सिञ्चेत्सम्भिः क्रमात् ३३ गोमूक्तेनाश्वमूक्तेन शुद्ध-वर्गेण चात्मनः । वैष्णवैर्वारुणैः सूक्तैः सावित्रैरिन्द्रदैवतैः ॥३४॥ वामदेव्येन चात्मानमन्यैर्मन्मयसामभिः । स्थित्वाऽन्तःसलिले सूक्तं जपेद्वाघमर्षणम् ॥ ३५ ॥ सव्याहृतीकां सप्रणवां गायत्रीं वा ततो जपेत् । आश्वासमोक्षात्प्रणवं जपेद्वा मामनुस्मरन् ॥ ३६ ॥ उत्सृत्य तीर्थमासाद्य धौते शुक्ले च वाससी । शुद्धे चाच्छादयेत्कक्षे न कुर्यात्परिपाशके ॥ ३७ ॥ पाशेन बद्ध्वा कक्षे यत् कुरुते कर्म वैदिकम् । राक्षसा दानवा दैत्यास्तद्विलुम्पन्ति हर्षिताः । स्मात् सर्वप्रयत्नेन कक्षपाशं न धारयेत् ॥३८॥ ततः प्रक्षाल्य पादौ च हस्तौ चैव मृदा शनैः । आचम्य पुनराचामेत् पुनः सावित्रिया द्विजः ॥ ३९ ॥ प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि ध्यायन्वेदान्समाहितः ।

मन्दीभिः" इस चौथी ऋचासे क्रमसे पवित्र जलसे अपने शरीर पर मार्जन करे ॥ ३३ ॥ इसप्रकार शुद्ध होकर गोमूक्त, अश्व-सूक्त, विष्णुके सूक्त, वरुणके सूक्त, सावित्री सूक्त, इन्द्रके सूक्त ॥ ३४ ॥ वामदेवके सूक्त तथा दूसरे मेरे सामके मंत्रोंसे शरीर पर मार्जन करे, फिर जलमें खडा होकर अघमर्षण नामक सूक्तका पाठ करे ॥ ३५ ॥ अथवा प्रणव और व्याहृतीके साथ गायत्री मंत्रका जप करे अथवा प्राणायाम करके मेरा स्मरण करे और प्रणवका जप करे ॥ ३६ ॥ फिर तीर्थमेंसे बाहर निकलकर किनारे पर आ धोये हुए दो शुद्ध वस्त्र शरीर पर धारण करे, परन्तु वस्त्रको बगलमेंसे पाशकी समान न बाँधे ३७ जो मनुष्य अपनी दोनों बगलोंको वस्त्रसे बाँधकर वेदमें कहे कर्म करता है उसके वैदिक कर्मोंका राक्षस, दानव और दैत्य प्रसन्न होकर नाश करडालते हैं, इसलिये द्विजजातिवालेको सावधान रहकर काँखको वस्त्रसे नहीं बाँधना चाहिये ॥३८॥ फिर धीरे२ मृत्तिकासे हाथ पैर धोवे और गायत्री मंत्रको पढ़कर फिर आच-

जले जलगतः शुद्धः स्थले एव स्थलस्थितः। उभयत्र स्थितस्त-स्मादाचामेदात्मशुद्धये ॥४०॥ दर्भेषु दर्भपाणिः सन् प्राङ्मुखः सुसमाहितः। प्राणायामांस्ततः कुर्यान्मद्व्रतेनान्तरात्मना ॥ ४१ ॥ सहस्रकृत्वः सावित्रीं शतकृत्वस्तु वा जपेत् ॥ ४२ ॥ समाहितो जपेत्तस्मात्सावित्र्या चाभिमन्त्र्य च।मन्देहानां विनाशाय रक्षसां विक्षिपेज्जलम् ॥ ४३ ॥ उद्वर्गोसीत्यथाचान्तः प्रायश्चित्तजलं क्षिपेत् ॥ ४४ ॥ अथादाय सुपुष्पाणि तोयमञ्जलिना द्विजः। प्रक्षिप्य प्रतिसूर्यञ्च व्योममुद्रां प्रकल्पयेत् ॥ ४५ ॥ ततो द्वादश-कृत्वस्तु सूर्यस्यैकाक्षरं जपेत्। ततः षडक्षरादीनि षट्कृत्वः परि-वर्तयेत् ॥ ४६ ॥ प्रदक्षिणं परामृश्य मुद्रया स्वमुखान्तरे। ऊर्ध्व-

मन करे ॥३९॥ जल ही जलमें रहकर अथवा थलमें खड़ा होकर जहाँ भी हो तहाँ पूर्व या उत्तर दिशाकी ओरको मुख करके और मनको वशमें रखकर वेदोंका अध्ययन करे तथा आत्माकी शुद्धि के लिये आचमन करे ॥४०॥ संध्या करनेवालेको पूर्वमुख होकर कुशाके आसन पर बैठना चाहिये, मनको अच्छे प्रकारसे वशमें रक्खे और मुझमें मन लगाकर प्राणायाम करे ॥ ४१ ॥ फिर सावित्रीका आवाहन करके मंत्रका एकसौ अथवा एक हजार जप करे ॥४२॥ और फिर ध्यान रखकर सावित्रीसे तथा अन्य मंत्रोंसे जप करे और मन्देह नामके राक्षसोंका नाश करनेके लिये जलका अर्घ देय ॥ ४३ ॥ फिर "उद्वर्गोऽसि" इस मंत्रको पढ कर प्रायश्चित्तका जल दाहिने हाथमें लेकर बायें खभे पर डाले ॥ ४४ ॥ फिर दोनों हाथमें जल लेकर और उसमें फूल डालकर सूर्यको अर्घ देय और आकाशमुद्रा दिखावे ॥४५॥ तद-नन्तर सूर्यके अक्षरवाले मंत्रका बारह बार जप करे, फिर छःअक्षर वाले मंत्रका छः बार पाठ करे ॥ ४६ ॥ फिर आकाशमुद्राको दाहिनी ओरसे फिराकर अपने मुखके सामने लावे, फिर दोनों

बाहुस्ततो भूत्वा सूर्यमीक्षेत्समाहितः ॥ ४७ ॥ तन्मण्डलस्थं मां ध्यायेत्तेजोमूर्तिं चतुर्भुजम् । उदुत्यश्च जपेन्मंत्रं चित्रं तच्चक्षुरित्यपि ॥४८॥ सावित्रीञ्च यथाशक्ति जप्त्वा सूक्तं च मामकम् । मन्मयानि च सामानि पुरुषव्रतमेव च ॥ ४९ ॥ ततश्चालोकयेदर्कं हंसः शुचिषदित्यपि।प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कृत्य दिवाकरम् ५० ततस्तु तर्पयेदद्भिर्ब्रह्माणं मां च शङ्करम् । प्रजापतिश्च देवांश्च तथा देवमुनीनपि ॥५१॥ साङ्गानपि तथा वेदानितिहासान् क्रतूनपि । पुराणानि च सर्वाणि कुलान्यप्सरसां तथा ॥ ५२ ॥ ऋतून्सम्वत्सरं चैव कलाः काष्ठात्मकं तथा । भूतग्रामांश्च भूतानि सरितः सागरांस्तथा । शैलाञ्शैलस्थितान्देवानोषधीः सवनस्पतीः ॥५३॥ तर्पयेदुपवीती च प्रत्येकं तृप्यतामिति । अन्वारभ्य च सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ॥५४॥ निवीती तर्पयेद्विद्वानृषीन्मन्त्रकृत-

हाथ ऊँचे रख मनको नियममें रखकर सूर्यका दर्शन करे ॥४७॥ फिर सूर्यके मण्डलमें विद्यमान चार भुजावाले मुझ महातेजस्वी का ध्यान करे और "उदुत्यम्, चित्रम्, तच्चक्षुः" इन मंत्रोंका गायत्रीका और मेरे सूक्तोंका शक्तिके अनुसार जप करे, तदनंतर मेरे स्तुति करनेवाले सामवेदके मंत्र और पुरुषसूक्तका भी पाठ करे ॥ ४८-४९ ॥ फिर सूर्यका दर्शन करे "हंसः शुचिषद" इस मंत्रको पढ़कर सूर्यकी प्रदक्षिणा करे तथा नमस्कार करे।५०। फिर "ब्रह्मा तृप्यतां, विष्णुस्तृप्यताम्" ऐसा कहकर जलसे ब्रह्मा का, मेरा, शिवजीका, प्रजापतिका, देवताओंका, मुनियोंका।५१। वेदोंका, वेदके अङ्गोंका, इतिहासोंका, यज्ञोंका, सब पुराणोंका, अप्सराओंका,।।५२॥ऋतुओंका, सम्वत्सरका,कलाका, काष्ठाओं का प्राणियोंका, भूतोंका, नदियोंका, समुद्रोंका, शैलका, पर्वतों पर रहनेवाले देवताओंका, ओषधियोंका, वनस्पतियोंका ॥ ५३ ॥ हर एकका नाम लेकर "अमुकस्तृप्यताम्,, कहकर जलसे

स्तथा । मरीच्यादीनृषींश्चैव नारदाद्यान्समाहितः ॥५५॥ प्राचीनावीत्यथैतांस्तु तर्पयेद्देवताः पितॄन् । ततस्तु कव्यवाडग्निं सोमं वैवस्वतं तथा ॥ ५६ ॥ ततश्चार्यमणञ्चापि ह्यग्निष्वात्तांस्तथैव च । सोमपांश्चैव दर्भेषु सतिलैरेव वारिभिः । तृप्यतामिति पश्चात्तु स पितॄंस्तर्पयेत्ततः ॥ ५७ ॥ पितॄन्पितामहांश्चैव तथैव प्रपितामहान् । पितामहीस्तथा चापि तथैव प्रपितामहीः॥५८॥मातरं चात्मनश्चैव गुरुमाचार्यमेव चापितृमातृस्वसारौ च तथा मातामहीमपि॥५९ उपाध्यायान् सखीन् बन्धून् शिष्यर्त्विग्ज्ञातिबान्धवान् । प्रमीतानानृशंस्यार्थं तर्पयेत्तानमत्सरः ॥ ६० ॥ तर्पयित्वा तथाऽऽचम्य स्नानवस्त्रं प्रपीडयेत् । वृत्तिं भृत्यजनस्याहुः स्नानं पानं च

उपवीती होकर (बायें खभे पर जनेऊ रखकर) तर्पण करे ५४ फिर निवीती होकर (जनेऊको गलेमें लटका कर विद्वान् पुरुष दायाँ बायाँ दोनो हाथोंको इकट्ठे करके मंत्रद्रष्टा मरीचि आदि ऋषियोंका तथा नारद आदि ऋषियोंका सावधान होकर तर्पण करे ॥५५॥ फिर प्राचीनावीती होकर (जनेऊको दाहिने खभे पर रख कर) जल और तिलोंसे कव्यवाडनल, सोम, वैवस्वत, अर्यमा, अग्निष्वात्ता, सोमपा आदिका 'अमुकस्तृप्यताम्' कहकर पितृतीर्थसे (अंगूठा और प्रदेशनीके मूलसे) कुशाओंके द्वारा तर्पण करे ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ फिर अपने पिता, पितामह और प्रपितामहको जल देय, तदनन्तर पितामही और प्रपितामहीको जल देय ॥५८॥ फिर माताको, अपने गुरुको और आचार्यको जलदेय, फिर अपनी दादी बुआ, मौसी, नानी, ॥ ५९ ॥ उपाध्याय, मित्र, बन्धु, शिष्य, ऋत्विज जातिवाले, फिर अपने बान्धव (मामा मौसेरे भाई फुफेरे भाई) मरगए हों तो उनको दयाभावसे मत्सरको त्यागकर (सरल होकर) जलसे तृप्त करे ६० इसप्रकार देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करके आचमन

तद्विदः । अतर्पयित्वा तान्पूर्वं स्नानवस्त्रं न पीडयेत् । पीडयेच्च पुन मोहाद्देवाः सर्षिगणास्तथा ॥ ६१ ॥ तर्पयित्वा तथाचम्य स्नानवस्त्रं निपीडयेत् । पितरस्तु निराशास्ते शप्त्वा यान्ति यथागतम् ॥ ६२ ॥ प्रक्षाल्य तु मृदा पादावाचम्य प्रयतः पुनः । दर्भेषु दर्भपाणिः सन् स्वाध्यायं तु समारभेत् ॥ ६३ ॥ वेदमादौ समारभ्य ततो पर्यु परि क्रमात् । यदधीतेऽन्वहं शक्त्या तत्स्वाध्यायं प्रचक्षते ॥ ६४ ॥ ऋचो वापि यजूंषि सामगायमथापि च । इतिहासपुराणानि यथाशक्ति न हापयेत् ॥६५॥ उत्थाय तु नमस्कृत्य दिशो दिग्देवता अपि । ब्रह्माणं च ततस्त्वाग्निं पृथिवीमो-

करे, फिर स्नान करनेके वस्त्रोंको निचोडकर उस जलसे शेष बचेहुए अपने वंशके निर्वं।हुए स्त्री पुरुषोंका तथा आशा करने वाले सेवक वर्गका तर्पण करे विद्वान् कहते हैं, कि-स्नान करनेके वस्त्रके जलसे जो तर्पण कियाजाता है वह अपने गोत्रके मरेहुए निर्वंश पुरुष तथा सेवकवर्गकी तृप्ति, स्नान और पान माना जाता है ॥६१॥ मनुष्य पितरोंका तर्पण किये विना पहले अपने स्नानके वस्त्रको न निचोडे, यदि मूर्खता करके पहले वस्त्रको निचोडलेता है तो देवता, ऋषि और पितर निराश होकर शाप देतेहुए, जैसे आते हैं वैसे ही लौटजाते ॥ ६२ ॥ इस प्रकार तर्पण करनेके अनन्तर मट्टीसे दोनों पैर धोकर आचमन करे और सावधान होकर कुशासन पर बैठ हाथमें कुशा लेकर स्वाध्यायका आरम्भ (ब्रह्मयज्ञ) करे ॥६३॥ पहले वेदका स्वाध्याय करके फिर क्रमसे शक्तिके अनुसार वेदके अङ्गोंका अध्ययन करे इसको स्वाध्याय कहते हैं ॥ ६४ ॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद और और सामवेदका स्वाध्याय करे, फिर इतिहास और पुराणका यथाशक्ति स्वाध्याय करे ॥६५॥ फिर खडा होकर दिशाओंको और दिशाओंके देवताओंको प्रणाम करे, ब्रह्मा, अग्नि, पृथ्वी,

षधीस्तथा ॥ ६६ ॥ वाचं वाचस्पतिञ्चैव मां चैव सरितस्तथा । नमस्कृत्य तथाद्भिस्तु प्रणवादि च पूर्ववत्॥६७॥ ततो नमोऽद्भ्य इत्युक्त्वा नमस्कुर्याच्च तज्जलम् । घृणिः सूर्यस्तथादित्यस्तं प्रणम्य स्वमूर्धनि ॥ ६८ ॥ ततस्त्वालोकयन्नर्कं प्रणवेन समाहितः । ततो मामर्चयेत्पुष्पैर्मत्प्रियैरेव नित्यशः ॥ ६९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । त्वत्प्रियाणि प्रसूनानि त्वदधिष्ठानि माधव ! सर्वाण्याचक्ष्व देवेश त्वद्भक्तस्य ममाच्युत ॥ ७० ॥ भगवानुवाच । शृणुष्वावहितो राजन्पुष्पाणि प्रियकृन्ति मे । कुमुदं करवीरञ्च चणकं चम्पकं तथा ॥७१॥ मल्लिकाजातिपुष्पञ्च नन्द्यावर्तं च नन्दिकम् । पलाशपुष्पपत्राणि दूर्वाभृङ्गकमेव च ॥ ७२ ॥ वनमाला च राजेन्द्र मत्प्रियाणि विशेषतः । सर्वेषामपि पुष्पाणां सहस्रगुणमुत्पलम् ७३

औषध, वाणी, वाचस्पति, मन, तथा नदियोंको प्रणाम करे, फिर जल लेकर प्रणव आदिका पाठ करे ॥ ६६-६७ ॥ फिर "नमोऽद्भ्यः,, मंत्र पढकर जलदेवको पहलेकी समान प्रणाम करे, फिर दोनों हाथ जोड दयालु आदित्य सूर्यको अपने मस्तक पर लेकर प्रणाम करे, ॥६८॥ फिर मनको स्थिर कर ॐकारका उच्चारण करता हुआ सूर्यका दर्शन करे, फिर मेरे प्यारे फूलोंसे ही नित्य मेरा पूजन करे ॥६९॥ युधिष्ठिरने बूझा कि-हे माधव!हे देवेश! हे अच्युत!जो पुष्प आपको प्यारे हों और जिन पुष्पोंमें आपका वास हो वे पुष्प मुझ अपने भक्तको बताइये ॥ ७० ॥ भगवान् ने कहा, कि-हे राजन ! जो फूल मुझे प्यारे हैं, उन फूलोंके नाम तुम सावधान होकर सुनो,कुमुद,कनेर,चणक,चम्पा मालती, जुई, नन्द्यावर्त्त, नन्दिक, टेसूके फूल और पत्ते, दूब, भँगरा और वनमाला हे राजन् ! मुझे विशेषकर प्यारे हैं, परन्तु सब फूलों में उत्पन्न कमल हजार गुणा उत्तम है, उससे पद्म नामका कमल और पद्मसे सौ[पत्तोंवाला] कमल श्रेष्ठ है,उससे सहस्रदल पुण्डरीक

तस्मात्पद्मं तथा राजन्पद्मात्तु शतपत्रकम्। तस्मात्सहस्रपत्रन्तु पुण्डरीकं ततः परम् ॥ ७४ ॥ पुण्डरीकसहस्रात्तु तुलसी गुणतोऽधिका। वकपुष्पं ततस्तस्मात्सौवर्णन्तु ततोऽधिकम्। सौवर्णात्तु प्रसूनाच्च मत्प्रियं नास्ति पाण्डव॥७५॥पुष्पाभावे तुलस्यास्तु पत्रैर्मामर्चयेत्पुनः। पत्रालाभे तु शाखाभिः शाखालाभे शिफालवैः। शिफाभावे मृदा तत्र भक्तिमानर्चयेत माम् ॥ ७६ ॥ वर्जनीयानि पुष्पाणि शृणु राजन् समाहितः। किंकिणीं मुनिपुष्पञ्च धुर्धूरं पाटलं तथा ॥ ७७ ॥ तथातिमुक्तकञ्चैव पुन्नागं नक्तमालिकम्। यौथिकं चीरिकापुष्पं निगुण्डी लाङ्गली जपाः ॥ ७८ ॥ कर्णिकारं तथाशोकं शाल्मलीपुष्पमेव च। ककुभाः कोविदाराश्च वैभीतकमथापि च ॥ ७९ ॥ कुरण्टकप्रसूनञ्च कल्पकं कालकं तथा। अङ्कोलं गिरिकर्णी च नलान्येव च सर्वशः। एकपर्णानि चान्यानि

नामका कमल उत्तम है ॥७१-७४॥ और एक हजार पत्तोंवाले पुण्डरीकसे तुलसी अधिक गुणोंवाली है, वक पुष्प उससे भी अधिक गुणवान् है, गेंदा उससे भी अधिक गुणवाला है, हे पांडव! मुझे गेंदेसे अधिक प्यारा कोई फूल नहीं है ॥ ७५ ॥ यदि फूल न मिलें तो तुलसीदलोंसे मेरा पूजन करे, तुलसीपत्र न मिलें तो तुलसीकी शाखाओंसे मेरी पूजा करे और शाखा न मिलें तो तुलसीकी जड़से ही मेरी पूजा करे और जड़ भी न मिले तो भक्तिमान् पुरुष मृत्तिकासे मेरी पूजा करे ।७६॥ हे राजन्! अब जो फूल त्यागने योग्य हैं उन पुष्पोंके नाम तुम सावधान होकर सुनो किङ्किणी, मुनिपुष्प, धुर्धूर तथा पाटल॥७७॥ अतिमुक्त, पुन्नाग, मालकँगनीके फूल, यौथिक, चीरिका, निगुंडी लाङ्गली, गुड़हल॥७८॥ कनेर, अशोक तथा सैमलके फूल, अर्जुन, कचनार, बहेड़ा॥७९॥ अँकोहर, सफेद फूलकी विष्णुकान्ता और कालरङ्गके सब फूल तथा जिनमें एक ही पंखडी हो ऐसे सब फूलोंको त्याग देय।८०॥

सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥८०॥ अर्कपुष्पाणि वर्ज्यानि अर्कपत्रस्थितानि च। व्यावृताः पिचुमन्दानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ ८१ ॥ अन्यैस्तु शुक्लपत्रैस्तु गन्धवद्भिर्नराधिप । अवर्ज्यैस्तैर्यथालाभं मद्भक्तो मां समर्चयेत् ॥ ८२ ॥ युधिष्ठिर उवाच । कथन्त्वमर्चनीयोऽसि मूर्त्तयः कीदृशास्तु ते । वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथञ्वा पाञ्चरात्रिकाः ॥ ८३ ॥ भगवानुवाच । शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः । स्थण्डिले पद्मकं कृत्वा चाष्टपत्रं सकर्णिकम् ८४ अष्टाक्षरविधानेन अथवा द्वादशाक्षरैः। वैदिकैरथ मन्त्रैश्च मम सूक्तेन वा पुनः ॥ ८५ ॥ स्थापितं मां ततस्तस्मिन्नर्चयित्वा विचक्षणः। पुरुषं च ततः सत्यमच्युतञ्च युधिष्ठिर ॥ ८६ ॥ अनिरुद्धञ्च मां माहुर्वैखानसविदो जनाः। अन्ये त्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ॥८७। वासुदेवं च राजेन्द्र सङ्कर्षणमथापि वा। प्रद्युम्न-

आकके फूल और आकके पत्ते पर रक्खेहुए फूल भी न चढ़ावे तथा नीमके फूल ये सब ही फूल न चढ़ावे ।।८१।। परन्तु हे राजन् ! सफेद पंखडीके, सुगन्ध वाले और जो त्यागनेयोग्य नहीं हैं ऐसे फूल जितने भी मिलें उनसे मेरी भक्तिके साथ पूजा करे।।८२।। युधिष्ठिरने बूझा, कि-आपकी पूजा किस प्रकार करनी चाहिये? आपकी मूर्त्तियें कैसी हैं ? उनके विषयमें वैखानस क्या कहते हैं और पञ्चरात्रवाले क्या कहते हैं ? ॥ ८३ ॥ भगवान्ने कहा, कि-हे पाण्डव ! तुम मेरी पूजाके सब क्रमको सुनो, एकवेदीके ऊपर आठ दलका कमल लिखे, उसमें पंखिड़ियें बनावे ।।८४।। फिर उसमें मेरी स्थापना करके मेरा चतुर भक्त अष्टाक्षरकी विधिसे वा द्वादशाक्षरकी विधिसे, वेदके मंत्रोंसे अथवा मेरे पुरुष-सूक्तसे हे युधिष्ठिर ! मुझ सत्यस्वरूप अच्युत पुरुषका पूजन करे ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ वैखानस मुझे अनिरुद्ध कहते हैं और हे राजन् ! पञ्चरात्रको जाननेवाले पुरुष मुझे इसप्रकार जानते

ञ्चानिरुद्धञ्च चतुर्मूर्त्तिं प्रचक्षते ॥ ८८ ॥ एताश्चान्याश्च राजेन्द्र संज्ञाभेदेन मूर्त्तयः विद्ध्यनर्थान्तरा एवं मामेवं चार्चयेद्बुधः ८९ युधिष्ठिर उवाच । त्वद्भक्ताः कीदृशा देव कानि तेषां व्रतानि च । एतत्कथय देवेश त्वद्भक्तस्य ममाच्युत ॥ ९० ॥ भगवानुवाच । अनन्यदेवताभक्ता ये मद्भक्तजनप्रियाः । मामेव शरणं प्राप्ता मद्भक्तास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥९१॥ स्वर्ग्याण्यपि यशस्यानि मत्प्रियाणि विशेषतः । मद्भक्तः पाण्डवश्रेष्ठ व्रतानीमानि धारयेत् ॥ ९२ ॥ नान्यदाच्छादयेद्वस्त्रं मद्भक्तो जलतारणे । स्वस्थस्तु न दिवा स्वप्येन्मधुमांसानि वर्जयेत् ॥ ९३ ॥ प्रदक्षिणं व्रजेद्विप्रान् गामश्वत्थं हुताशनम् । न धावेत्पतिते वर्षे नाग्रभिक्षाञ्च लोपयेत् ९४

हैं ॥ ८७ ॥ हे राजन् ! वे मुझे वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार मूर्त्तियोंवाला कहते हैं ॥ ८८ ॥ हे राजेन्द्र ! मेरी ये तथा और भी भिन्न २ नामोंवाली बहुतसी मूर्त्तियें है, इन सब नामोंका अर्थ एक ही है और विद्वानको मेरी इसप्रकार ही पूजा करनी चाहिये ॥ ८९ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-हे देवेश! हे अच्युत ! आपके भक्त कैसे होते हैं ? और उनके व्रत कैसे होते हैं, यह मुझ अपने भक्तको सुनाइये ॥ ९० ॥ भगवानने कहा, कि-जो पुरुष दूसरोंके भक्त न हों, जिनको मेरे भक्त प्यारे हों और जो मेरी ही शरणमें आये हों, उनको मेरा भक्त कहा है ॥९१॥ और हे पाण्डवश्रेष्ठ ! स्वर्ग और यश देनेवाले होने पर भी जो व्रत मुझे विशेष प्यारे हैं, उन व्रतोंको जो करते हों उनको मेरे भक्त जानो ॥ ९२ ॥ मेरे भक्तको जलमें तैरते समय दूसरा वस्त्र नहीं धारण करना चाहिये,शरीर अच्छा होय तो दिनमें न सोवे और मदिरा तथा मांसको त्याग देय ॥९३॥ मार्गमें चलते समय ब्राह्मण, गौ, बडका वृक्ष और अग्नि मिले तो उसकी प्रदक्षिणा करे, वर्षा होती होय तो दौड़े नहीं, भिक्षा

मत्स्यञ्च लवणं नाद्यात्सौभाञ्जनकरञ्जनौ । ग्रासमुष्टिं गवे दद्या-
द्धान्याम्लं चैव वर्जयेत् ॥ ९५ ॥ तथा पर्युषितं चापि पक्वं पर-
गृहागतम् । अनिवेदितञ्च यद् द्रव्यं तत्प्रयत्नेन वर्जयेत् ॥ ९६ ॥
विभीतककरञ्जानां छायां दूरे विवर्जयेत् । विप्रदेवपरीवादान्न
वदेत्पीडितोऽपि सन् ॥ ९७ ॥ सात्त्विका राजसाश्चापि तामसा-
श्चापि पाण्डव । मामर्चयन्ति मद्भक्तास्तेषामीदृग्विधा गतिः ९८
तामसास्तिमिरं यान्ति राजसा रज एव तत् । सात्त्विकाः सत्त्व-
सम्पन्नाः सत्त्वमेव प्रयान्ति ते ९९ ये सिद्धाः सन्ति सांख्येन योग-
सत्त्वबलेन च । नभस्यादित्यचन्द्राभ्यां पश्यन्ति पदविस्तरम् १००
एकस्तम्भे नवद्वारे त्रिस्थूणे पञ्चसाक्षिके । एतस्मिन्देहनगरे राज-

(भोजन) के लिये पहले जो निमंत्रण आवे उसको स्वीकार करे (दूसरे अच्छे निमंत्रणके लोभमें न पड़े) ॥ ९४ ॥ प्रत्यक्ष लवण न खाय अर्थात् अन्य पदार्थमें मिला हुआ खाय, सौभांजन और करञ्जका भक्षण न करे, गौको नित्य ग्रासभर अन्न देय, खट्टी काँजी आदि न खाय ॥ ९५ ॥ जो पदार्थ बासी हो, पराये घरसे आया राँधा हुआ पदार्थ तथा जो पदार्थ ईश्वरको निवेदन न किया हो उस पदार्थको भी सावधान होकर त्याग देय ॥ ९६ ॥ बहेड़ेके वृक्षकी और करञ्जकी छायाको दूरसे ही त्यागदेय, स्वयं दुःखी हो तो भी ब्राह्मणकी और देवताकी निंदा न करे ॥ ९७ ॥ हे पाण्डव ! मेरे भक्त तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजस और तामस, मेरी पूजा करने पर उनकी नीचे लिखे अनुसार गति होती है ॥ ९८ ॥ तमोगुणी भक्त तमको प्राप्त होता है, रजोगुणी रजको प्राप्त होता है और सत्त्वगुणी सत्त्वगुणको प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥ जो पुरुष सांख्य (ज्ञान) के द्वारा तथा योग और सत्त्वगुणके बलसे सिद्ध होगये हैं वे आकाशमें आदित्य और चन्द्रमासे विस्तारवाले मेरे स्थानको देखते हैं ॥ १०० ॥ यह देह-

सस्तु सदा भवेत् ॥ १०१ ॥ उदिते सवितर्योऽथ क्रियायुक्तस्य धीमतः । चतुर्वेदविदश्चापि देहे षड् वृषलाः स्मृताः ॥ १०२ ॥ क्षत्रियाः सप्त विज्ञेया वैश्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः । नियताः पाण्डवश्रेष्ठ शूद्राणामेकविंशतिः ॥ १०३ ॥ कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहश्च मद एव च महामोहश्च इत्येते देहे षड् वृषलाः स्मृताः १०४ गर्वः स्तम्भो ह्यहंकार ईर्ष्या च द्रोह एव च । पारुष्यं क्रूरता चैव सप्तैते क्षत्रियाः स्मृताः ॥ १०५ ॥ तीक्ष्णता निकृतिर्माया शाठ्यं दम्भो ह्यनार्जवम् । पैशुन्यमनृतञ्चैव वैश्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः १०६ तृष्णा बुभुक्षा निद्रा च ह्यालस्यं चाघृणादयः । आधिश्चापि विषादश्च प्रमादो हीनसत्त्वता ॥१०७॥ भयं विक्लवता जाड्यं पापकं मन्युरेव च । आशा चाश्रद्धानत्वमनवस्थाप्ययन्त्रणम् ॥ १०८ ॥

रूप एक नगर है, इसमें एक खंभा है और नौ द्वार हैं, तीन धाँवली हैं, पाँच साक्षी हैं और उसमें रहनेवाला देही सदा रजोगुणी होता है ॥ १०१ ॥ सूर्योदयके बाद नित्यकर्म करता है, बुद्धिमान् होता है और चार वेदोंको जानता है तो भी ऐसे ब्राह्मणके शरीरमें छः वृषल निवास करते हैं ॥१०२॥ क्षत्रियोंके शरीरमें सात वृषल रहते हैं, वैश्योंके शरीरमें आठ वृषल रहते हैं और हे पाण्डवश्रेष्ठ! शूद्रोंके शरीरमें नित्य इक्कीस वृषल निवास करते हैं ॥१०३॥ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और महामोह ये छः वृषल (पाप) ब्राह्मणके शरीरमें रहते हैं ॥ १०४ ॥ गर्व, स्तंभ, अहङ्कार, ईर्षा, द्रोह, कठोरता और क्रूरता ये सात वृषल क्षत्रियोंके शरीरमें रहते हैं ॥१०५॥ तीक्ष्णता, कपट, माया, शठता, दंभ, कुटिलता, चुगलपना और असत्य ये आठ वृषल वैश्योंके शरीरमें रहते हैं ॥ १०६ ॥ तृष्णा, खानेकी इच्छा, निद्रा, आलस्य, निर्दयता आदि, मानसिक पीडा, विषाद, प्रमाद, अधीरता ॥१०७॥ भय, घबराहट, जडता, पाप, क्रोध आशा, अश्रद्धा, अनवस्था,

आशौचं मलिनत्वं च शूद्रा ह्येते प्रकीर्तिताः । यस्मिन्नेते न दृश्यन्ते स वै ब्राह्मण उच्यते ॥ १०९ ॥ येषु येषु हि भावेषु यत्कालं वर्तते द्विजः । तत्कालं वै स विज्ञेयो ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः॥११०॥ प्राणानायम्य यत्कालं येन मां चापि चिंतयेत् । तत्कालौ वै द्विजो ज्ञेयः शेषकालो ह्यथेतरः ॥ १११ ॥ तस्मात्तु सात्त्विको भूत्वा शुचिः क्रोधविवर्जितः । मापर्चयेत्तु सततं मत्प्रियत्वं यदीच्छति ११२ अलोलजिह्वः समुपस्थितो धृतिं निधाय चक्षुर्युगमात्रमेव तत्।मनश्च वाचञ्च निगृह्य चञ्चलम् भयान्निवृत्तो मम भक्त उच्यते ११३ ईदृशाध्यात्मिनो ये तु ब्राह्मणा नियतेन्द्रियाः।तेषां श्राद्धेषु तृप्यन्ति तेन तृप्ताः पितामहाः ॥११४॥ धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति

निरंकुशता ॥ १०८ ॥ अपवित्रता और मलिनता ये इकीस वृषल शूद्रमें रहते हैं, ये वृषल (पाप) जिसमें न दीखें वह ब्राह्मण कहलाता है ॥ १०९ ॥ जितने समय ब्राह्मण जिन२ पदार्थोंमें आसक्त रहै उतने समय उस ब्राह्मणको ज्ञानरहित जानो ११० ब्राह्मण जितने समय प्राणायाम करके मेरा चिन्तवन करे उतने समय उसको ब्राह्मण जानो तथा दूसरे समयमें ब्राह्मणसे अन्य जानो ॥ १११ ॥ इसलिए यदि मेरा प्यारा बनना चाहे तो वह ब्राह्मण सत्त्वगुणी, पवित्र और, क्रोधरहित होकर मेरा पूजन करे ॥११२॥ जिसकी जीभ चपल नहीं होती है,जो धीरज रखता है, चलते समय जो चार हाथतक दृष्टि डालकर चलता है,चंचल वाणी और मनको नियममें रखकर निर्भय रहता है वह मेरा भक्त कहलाता है ॥ ११३ ॥ ऐसे जो ब्राह्मण आत्मज्ञानी हों, जितेन्द्रिय हों उन ब्राह्मणोंको श्राद्धमें भोजन करानेसे पितामह आदि तृप्त होते हैं ॥११४॥ धर्मकी जय होती है, अधर्मकी जय नहीं होती, सत्यकी जय होती है,असत्यकी जय नहीं होती,क्षमा

नानृतम् । क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् ब्राह्मणो भवेत् ११५
इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि
पञ्चयज्ञादिनिरूपणे एकाधिकशततमोऽध्यायः॥१०१॥

वैशम्पायन उवाच । दानपुण्यफलं श्रुत्वा ततः पुण्यफलानि च । धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥१॥ या चैषा कपिला देव पूर्वमुत्पादिता विभो । होमधेनुः सदा पुण्या चतुर्वक्त्रेण माधव २ सा कथं ब्राह्मणेभ्यो हि देया कस्मिन्दिनेऽपि वा । कीदृशाय च विप्राय दातव्या पुण्यलक्षणा ॥ ३ ॥ कथिता कपिला प्रोक्ता स्वयमेव स्वयंभुवा । कर्त्ता देयाश्च ता देव श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः४ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तो हृषीकेशो धर्मपुत्रेण संसदि । अब्रवीत्कपिलासंख्यां तासां माहात्म्यमेव च ॥ ५ ॥ शृणु पाण्डव तत्त्वेन पवित्रं पावनं परम् । यच्छ्रुत्वा पापकर्मापि नरः पापा-

---

की जय होती है, क्रोधकी जय नहीं होती, क्षमावान् ब्राह्मण कहलाता है ॥११५॥ एक सौ एकवाँ अध्याय समाप्त ॥१०१॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–दानके पुण्यफलको सुनकर तथा तप के पुण्यफलोंको सुनकर धर्मके पुत्र धर्मराजका मन प्रसन्न हुआ और उन्होंने श्रीकृष्णसे फिर कहा, कि–॥१॥ हे देव! हे विभो! हे माधव ! जिसका दूध होमके काममें आता है ऐसी सदा पवित्र कपिला गौको पहले ब्रह्माजीने उत्पन्न किया था ॥ २ ॥ वह पवित्र लक्षणोंवाली कपिला गौ ब्राह्मणोंको किस प्रकार देय, कौनसे दिन देय और कैसे ब्राह्मणको देय ? ॥ ३ ॥ ब्रह्माने स्वयं कपिला गौकी कितनी संख्या कही है ? कपिलाका दान किसको करना चाहिए ? हे देव ! यह सब मैं यथार्थ रीतिसे सुनना चाहता हूँ ॥ ४ ॥ वैशम्पायनने कहा, कि–इस प्रकार धर्मपुत्रने सभामें श्रीकृष्णसे कहा, तब भगवान् श्रीकृष्णने कपिला गौकी संख्या तथा उनका महात्म्य कहा, कि–॥ ५ ॥ हे पाण्डव!

त्प्रमुच्यते ॥ ६ ॥ अग्निमध्योद्भवां दिव्यामग्निज्वालासमप्रभाम् । अग्निज्वालोज्ज्वलच्छृङ्गीं प्रदीप्ताङ्गारलोचनाम् ॥ ७ ॥ अग्निपुच्छामग्निखुरामग्निरोमप्रभान्विताम् । तामाग्नेयीमग्निजिह्वामग्निग्रीवां ज्वलत्प्रभाम् ॥ ८ ॥ भुञ्जते कपिलां ये तु शूद्रा लाभेन मोहिताः । पतितांस्तान् विजानीयाच्चाण्डालसदृशा हि ते ॥ ९ ॥ न तेषां ब्राह्मणः कश्चिद् गृहे कुर्यात्प्रतिग्रहम् । दूराच्च परिहर्तव्या महापातकिनोऽपि ते ॥ १० ॥ सावकालं हि ते सर्वैर्वर्जिताः पितृदैवतैः । ते सदा ह्यप्रतिग्राह्या ह्यसंभाष्याश्च पापिनः ॥ ११ ॥ पिबन्ति कपिलां यावत्तावत्तेषां पितामहाः । अमेध्यमुपभुञ्जन्ति भूम्यां वै श्वशृगालवत् ॥ १२ ॥ कपिलाया

तुम कपिलाके परम पावन करनेवाले पवित्र चरित्रको यथार्थ रूपसे सुनो, कि-जिसको सुनकर पापकर्म करनेवाला पुरुष भी पापसे मुक्त होजाता है ॥ ६ ॥ अग्निमेंसे उत्पन्न हुई, दिव्य अग्निकी ज्वालाकी समान कान्तिवाली, अग्निकी ज्वालाकी समान चमकदार सींगों वाली, दहकते हुए अङ्गारेकी समान नेत्रोंवाली, अग्निरूप पूँछवाली, अग्निकी समान खुरों वाली, अग्निकी समान तेजस्वी रुओंवाली, अग्निमेंसे उत्पन्न हुई, अग्निकी समान जीभवाली, अग्निकी समान कण्ठवाली, तमतमाती हुई कान्तिवाली ॥ ७-८ ॥ कपिला गौके दूधको जो शूद्र लोभसे मोहित होकर पीते हैं उनको पतित जानो, वे चाण्डालकी समान है ९ किसी भी ब्राह्मणको उनके घरसे प्रतिग्रह नहीं करना चाहिए, किन्तु उन महापातकियोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिए १० सब पितर और देवता भी उनको सदाके लिए त्याग देते हैं, वे पापी प्रतिग्रह करनेयोग्य तथा संभाषण करने योग्य भी नहीं हैं ॥ ११ ॥ शूद्र जबतक कपिला गौका दूध पीते हैं तबतक उनके पूर्व पुरुष पृथ्वी पर कुत्ते और गीदडकी समान

दधि क्षीरं घृतं तक्रमथापि वा । ये शूद्रा उपभुञ्जन्ति तेषां गति-
मिमां शृणु ॥ १३ कपिलोपजीवी शूद्रस्तु मृतो गच्छति रौरवम् ।
क्लिश्यते रौरवे घोरे वर्षकोटिशतं वसन् ॥ १४ ॥ ततश्चापि
च्युतः कालाच्छ्वानयोनिं स गच्छति । श्वयोन्याश्च परिभ्रष्टो
विष्ठायां जायते कृमिः ॥ १५ ॥ विष्ठाकूपेषु पापिष्ठो दुर्गन्धेषु सह-
स्रशः । तत्र तत्रोपजायेत नोत्तारं तत्र विन्दति ॥ १६ ॥ ब्राह्मण-
श्चैव यस्तेषां गृहे कुर्यात्प्रतिग्रहम् । ततः प्रभृति तस्यापि पितरः
स्युरमेध्यपाः ॥१७॥न तेन सार्धं संभाषेन्न चाप्येकासनं व्रजेत् ।
स नित्यं वर्जनीयो हि दूरात्तु ब्राह्मणाधमः । ॥ १८ ॥ यस्तेन
सह संभाषेदेकशय्यां व्रजेत वा । प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं स च तेन
विशुद्ध्यति ॥ १९ ॥ कपिलोपजीविनः शूद्राद्यः करोति प्रति-

अपवित्र वस्तुका भोजन करते हैं ॥ १२ ॥ जो शूद्र कपिला गौ
के दूध, दही, घी और छाछको काममें लाते हैं उनकी जो गति
होती है, उसको सुनो ॥१३॥जो शूद्र कपिला गौका दूध पीते हैं
वे मरणके बाद नरकमें जाते हैं और वहाँ घोर रौरव नरकमें
सैकड़ों करोड़ों वर्ष तक पीडा पाते हैं ॥ १४ ॥
वहाँसे समय पाकर छूटने पर कुत्तेकी योनिमें जन्म लेते हैं और
कुत्तेकी योनिसे छूटकर विष्ठाका कीड़ा होते हैं ॥ १५ ॥ वे महा-
पापी पुरुष विष्ठाके दुर्गन्धित कुओंमें हजारों बार जन्म लेते हैं
और वहाँसे उनका उद्धार नहीं होता ॥ १६ ॥ जो ब्राह्मण उन
शूद्रोंके घर प्रतिग्रह करता है, उस दिनसे उसके पितर भी अप-
वित्र वस्तुको पीते हैं॥१७॥उस ब्राह्मणके साथ बात चीत न करे,
उसके साथ एक आसन पर न बैठे, किन्तु वह अधम ब्राह्मण
सदा दूरसे ही त्यागनेयोग्य होता है ॥ १८ ॥ जो ब्राह्मण उसके
साथ संभाषण करते हैं अथवा उसके साथ एक शय्या पर सोते
हैं वे प्रजापत्य नामका कृच्छ्रव्रत करनेसे शुद्ध होते हैं ॥ १९ ॥

ग्रहम् । प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य विप्रस्यैतन्न संशयः ॥ २० ॥ ब्रह्मकूर्चं प्रकुर्वीत चान्द्रायणमथापि वा । मुच्यते किल्बिषात्तस्मादेतेन ब्राह्मणो हि सः ॥ २१ ॥ कपिला ह्यग्निहोत्रार्थे विप्रार्थे वा स्वयंभुवा । सर्वं तेजः समुद्धृत्य निर्मिता ब्रह्मणा पुरा ॥ २२ ॥ पवित्रञ्च पवित्राणां मङ्गलानाञ्च मंगलम् । पुण्यानां परमं पुण्यं कपिला पाण्डुनन्दन ॥ २३ ॥ तपसां तप एवाग्र्यं व्रतानामुत्तमं व्रतम् । दानानां परमं दानं निदानं ह्येतदक्षयम् ॥ २४ ॥ पृथिव्यां यानि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च । पवित्राणि च रम्याणि सर्वलोकेषु पाण्डव ॥ २५ ॥ एभ्यस्तेजः समुद्धृत्य ब्रह्मणा लोककर्तृणा । लोकनिस्तारणायैव निर्मिताः कपिलाः स्वयम् ॥२६॥ सर्वतेजोमयी ह्येषा कपिला पाण्डुनन्दन । सदामृतमयी मेध्या शुचिः पावनमुत्तमम् ॥ २७ ॥ क्षीरेण कपिलायास्तु दध्ना वा

कपिला गौका दूध पीनेवाले शूद्रसे जो ब्राह्मण प्रतिग्रह लेता है, उस ब्राह्मणको निःसन्देह प्रायश्चित्त लगता है ॥ २० ॥ ब्राह्मण यदि ब्रह्मकूर्चको पीता है अथवा चांद्रायण व्रत करता है तो इस पापसे छूटता है ॥२१॥ पहले स्वयंभू ब्रह्माने अग्निहोत्रके लिये तथा ब्राह्मणके लिये सब तेजका संग्रह करके कपिला गौको उत्पन्न किया है ॥२२॥ हे पाण्डुपुत्र ! कपिला गौ पवित्र पदार्थोंमें पवित्र है, मङ्गल पदार्थोंमें मङ्गल है और पुण्योंमें परमपुण्यरूप है ॥२३॥ कपिला गौ तपोंमें श्रेष्ठ तप है, व्रतोंमें उत्तम व्रतरूप है, दानोंमें परमदान है और यह अविनाशी पुण्यरूप है ॥ २४ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! पृथिवी पर जितने पवित्र तीर्थ और मन्दिर हैं तथा सब लोकोंमें पवित्र और रम्य तीर्थ हैं ॥ २५ ॥ उनमेंके तेजको लेकर लोकोंको रचनेवाले ब्रह्माने स्वयं लोकोंके उद्धारके लिये कपिला गौको उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥ हे पाण्डुके पुत्र ! कपिला गौ सकल तेजःस्वरूप है, सदा अमृतस्वरूप और पवित्र

सघृतेन वा। होतव्यान्यग्निहोत्राणि सायं प्रातर्द्विजातिभिः ।२८। कपिलाया घृतेनापि दध्ना क्षीरेण वा पुनः। जुह्वते येऽग्निहोत्राणि ब्राह्मणा विधिवत्प्रभो ॥ २९ ॥ पूजयन्त्यतिथींश्चैव परां भक्तिमुपागताः। शूद्रान्नाद्विरता नित्यं दम्भानृतविवर्जिताः ।३०। ते यान्त्यादित्यसंकाशैर्विमानैर्द्विजसत्तमाः। सूर्यमण्डलमध्येन ब्रह्मलोकमनुत्तमम् ॥ ३१ ॥ ब्रह्मणो भवने दिव्ये कामगाः कामरूपिणः। ब्रह्मणा पूज्यमानास्तु मोदन्ते कल्पमक्षयम् ॥ ३२ ॥ एवं हि कपिला राजन् पुण्या मन्त्रामृतारणिः। आदावेवाग्निमध्ये तु मैत्रेयी ब्रह्मनिर्मिता ॥ ३३ ॥ शृंगाग्रे कपिलायास्तु सर्वतीर्थानि पाण्डव। ब्रह्मणो हि नियोगेन निवसन्ति दिने दिने ३४

है, शुचि, उत्तम और पवित्र करनेवाली है ॥ २७ ॥ द्विजातियोंको चाहिये, कि-सायङ्काल और प्रभातकालमें कपिला गौके दूध, दही अथवा घीका अग्निहोत्रमें होम करे ॥ २८ ॥ हे प्रभो ! जो ब्राह्मण विधिपूर्वक कपिला गौके दूध, दही और घीका अग्निमें होम करते हैं ॥ २९ ॥ और परमभक्तिसे अतिथियोंकी पूजा करते हैं, शूद्रोंका अन्न नहीं खाते, नित्य दम्भ और असत्यसे बचे रहते हैं ॥ ३० ॥ वे उत्तम ब्राह्मण सूर्यकी समान विमानोंमें बैठ सूर्यमण्डलके मध्यभागमें होकर अति उत्तम ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥ ३१ ॥ और वहाँ ब्रह्माके दिव्य लोकमें इच्छानुसार रूप धारण करके इच्छानुसार विचरते हैं, ब्रह्मा उनकी पूजा करता है और वे एक कल्प तक ब्रह्मलोकमें आनन्द करते हैं ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! इसप्रकारकी कपिला गौ पुण्यरूप, मंत्ररूप, अमृतरूप और अरणिरूप है, वह पहले अग्निमें रहती थी और ब्रह्माने उसको इस पृथ्वी पर रचा है ३३ हे पाण्डव ! कपिला गौके सींगके अग्रभागमें ब्रह्माकी आज्ञासे सब तीर्थ नित्य निवास करते हैं ॥ ३४ ॥ इसलिये जो मनुष्य

प्रातरुत्थाय यो मर्त्यः कपिलाशृंगमस्तकात् । पश्च्युतामम्बुधारां वै शिरसा प्रयतः शुचिः ॥ ३५ ॥ स तेन पुण्यतीर्थेन सहसा हतकिल्विषः । जन्मत्रयकृतं पापं प्रदहत्यग्निवत्तृणम् ॥ ३६ ॥ मूत्रेण कपिलायास्तु यश्च प्राणानुपस्पृशेत् । स्नानेन तेन पुण्येन नष्टपापः स मानवः । त्रिंशद्वर्षकृतात्पापान्मुच्यते नात्र संशयः ॥३७॥ प्रातरुत्थाय यो भक्त्या प्रयच्छेद् तृणमुष्टिकम् । तस्य नश्यति तत्पापं त्रिंशद्रात्रकृतं नृप ॥ ३८ ॥ प्रातरुत्थाय यद्भक्त्या कुर्याद्यस्मात्प्रदक्षिणम् । प्रदक्षिणीकृता तेन पृथिवी नात्र संशयः ॥ ३९ ॥ प्रदक्षिणेन चैकेन श्रद्धायुक्तेन पाण्डव । दशरात्रकृतं पापं यस्य तन्नश्यति ध्रुवम् ॥ ४० ॥ कपिलापञ्चगव्येन यः स्नायात्तु शुचि-

प्रातःकालके समय उठकर स्नानसे शुद्ध हो नियम लेकर कपिला गौके सींगोंके ऊपरसे तथा उसके शिरपरसे नीचे गिरती हुई जलकी धाराको अपने मस्तक पर धारण करता है ॥३५॥ उस मनुष्यके पाप उस तीर्थके जलसे एकसाथ नष्ट होजाते हैं और उसके तीन जन्मोंमें कियेहुए पाप भी ऐसे जलजाते हैं जैसे अग्निमें तिनुके जलते हैं ॥ ३६ ॥ जो पुरुष कपिला गौका मूत्र अपनी इन्द्रियोंसे लगाता है तथा उससे स्नान करता है, उस मनुष्यके पाप उस पुण्यकर्मसे नष्ट होजाते हैं और वह मनुष्य तीस वर्षमें किये हुये पापोंसे मुक्त होजाता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ३७ ॥ हे राजन् ! जो मनुष्य प्रातःकालके समय उठकर भक्तिके साथ कपिला गौको एक मुट्ठी घास देता है, उसके तीस रात्रिमें कियेहुए पाप नष्ट होते हैं ॥ ३८ ॥ जो मनुष्य प्रभातमें उठकर भक्तिसे कपिला गौकी प्रदक्षिणा करता है, उसने निःसन्देह पृथिवीकी प्रदक्षिणा करली, ऐसा जानो ॥ ३९ ॥ हे पाण्डव ! श्रद्धाके साथ एक प्रदक्षिणा करनेसे पुरुषका दश रात्रिमें कियाहुआ पाप अवश्य नष्ट होजाता है ॥४०॥ हे पाण्डव !

नरः । स गङ्गाद्येषु तीर्थेषु स्नातो भवति पाण्डव ॥ ४१ ॥ तेन स्नानेन तस्यापि श्रद्धायुक्तस्य पार्थिव । दशरात्रकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ॥ ४२ ॥ दृष्ट्वा तु कपिलां भक्त्या श्रुत्वा हुंकारनिःस्वनम् । व्यपोहति नरः पापमहोरात्रकृतं नृप ॥ ४३ ॥ यत्र वा तत्र वा चाङ्गे कपिलां यः स्पृशेच्छुचिः । सम्वत्सरकृतं पापं विनाशयति पाण्डव ॥ ४४ ॥ गोसहस्रं तु यो दद्यादेकां च कपिलां नरः । समं तस्य फलं प्राह ब्रह्मा लोकपितामहः ॥४५॥ यस्त्वेवं कपिलां हन्यान्नरः कश्चित्प्रमादतः । गोसहस्रं हतं तेन भवेन्नात्र विचारणा ॥ ४६ ॥ यश्चैकां कपिलां दद्याच्छ्रोत्रियायाहिताग्नये। गवां शतसहस्रन्तु दत्तं भवति पाण्डव ॥ ४७ ॥ दश

जो पुरुष कपिला गौके पञ्चगव्यसे स्नान करके शुद्ध होता है उसको गङ्गादि तीर्थमें स्नान करनेका फल मिलता है ॥ ४१ ॥ और हे राजन् ! उस स्नानके करनेसे श्रद्धालु मनुष्यके दश रात्रिमें कियेहुए पाप उसी क्षण नष्ट होजाते हैं ॥४२॥ हे राजन् ! जो पुरुष कपिला गौको भक्तिके साथ देखकर उसके हुङ्कार शब्दको सुनता है उसका एक दिन और रात्रिमें कियाहुआ पाप नष्ट होजाता है ॥४३॥ हे पाण्डव ! जो मनुष्य कपिला गौके किसी भी अङ्गका स्पर्श करता है तो वह पवित्र होजाता है और उसके एक वर्षके कियेहुए पापका नाश होजाता है ॥४४॥ एक मनुष्य एक हजार गौका दान करे और एक कपिला गौका दान, तो इन दोनोंका फल एकसमान है, ऐसा लोकपितामह ब्रह्मा कहते हैं ४५ कोई भी मनुष्य प्रमादसे कपिला गौका वध करता है तो उसको एक हजार गौके मारनेका पाप लगता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥४६॥ हे पाण्डव ! जो मनुष्य वेद पढेहुए अग्निहोत्री विप्रको एक कपिला गौ देता है उसको एक हजार गौके दानका फल मिलता है ॥ ४७ ॥ ब्रह्माने स्वयं दश प्रकारकी कपिला कही हैं,

वै कपिलाः प्रोक्ताः स्वयमेव स्वयंभुवा । यो दद्याच्छ्रोत्रियेभ्यो वै स्वर्गं गच्छति तच्छृणु ॥ ४८ ॥ प्रथमा स्वर्णकपिला द्वितीया गौरपिंगला । तृतीया रक्तपिंगाक्षी चतुर्थी गलपिंगला ॥ ४९ ॥ पञ्चमी बभ्रुवर्णाभा षष्ठी च श्वेतपिंगला । सप्तमी रक्तपिंगाक्षी त्वष्टमी खुरपिंगला ॥ ५० ॥ नवमी पाटला ज्ञेया दशमी पुच्छपिंगला । दशैताः कपिलाः प्रोक्तास्तारयन्ति नरान्सदा ॥५१॥ मंगल्याश्च पवित्राश्च सर्वपापप्रणाशनाः । एवमेव ह्यनड्वाहो दश प्रोक्ता नरेश्वर ॥ ५२ ॥ ब्राह्मणो वाहयेत्तांस्तु नान्यो वर्णः कथञ्चन । न वाहयेच्च कपिलां क्षेत्रे वाऽध्वनि वा द्विजः ॥ ५३ ॥ वाहयेद्धुङ्कृतेनैव शाखया वा सपत्रया । न दण्डेन न वा यष्ट्या न पाशेन न वा पुनः ॥ ५४ ॥ न क्षुत्तृष्णाश्रमश्रान्तान्वाहयेद्विक-

---

उन गौओंका जो वेदवेत्ता ब्राह्मणको दान करके देता है वह स्वर्गमें जाता है, इसको सुनो ॥४८॥ पहली स्वर्णपिङ्गाक्षी, दूसरी गौरपिङ्गला, तीसरी रक्तपिङ्गाक्षी और चौथी गलपिङ्गला है॥४९॥ पाँचवीं बभ्रुवर्णकी, छठी श्वेतपिङ्गला, सातवीं रक्तपिङ्गाक्षी और आठवीं खुरपिङ्गला है, ॥ ५० ॥ नवमीं पाटला और दशवीं पुच्छपिङ्गला कही है,ये दश कपिला गौएँ सदा मनुष्योंको तारती हैं ॥ ५१ ॥ यह कपिला गौ माङ्गलिक, पवित्र और सब पापोंका नाश करनेवाली हैं, हे राजन्! ऐसे ही दश प्रकारके बैल भी कहे हैं ॥ ५२ ॥ इन बैलोंको ब्राह्मण ही सवारीमें जोड़े, दूसरा वर्ण कभी न जोड़े, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कपिला गौको भी न जोड़े तथा मार्गमें जानेके लिये वाहनोंमें भी न जोड़े॥५३॥ दश प्रकारके बैलोंको हुङ्कार करके हाँके अथवा पत्तोंवाली शाखा से मार कर हाँके, दण्ड मारकर न हाँके, लकडीसे और छोटी लकडीसे भी न हाँके ॥ ५४ ॥ भूख, प्यास और परिश्रमसे घबड़ाये हुए तथा इन्द्रियोंसे रहित अन्धे बहरे आदि बैलोंको

लेन्द्रियान्। अतृप्तेषु न भुञ्जीयात्पिबेत्पीतेषु चोदकम्॥५५॥शुश्रूषो-र्मातरश्चैताः पितरस्ते प्रकीर्तिताः । अह्नां पूर्वत्र भागे च धुर्याणां वाहनं स्मृतम् ॥५६॥ विश्रामेन्मध्यमे भागे भागे चान्ते यथासुखम् । यत्र च त्वरया कृत्यं संशयो यत्र वाऽध्वनि । वाहयेत्तत्र धुर्यांस्तु न स पापेन लिप्यते ॥ ५७॥ भ्रूणहत्यासमं पापं तस्य स्यात्पाण्डु-नन्दन । अन्यथा वाहयन्राजन् निरयं याति रौरवम् ॥ ५८ ॥ रुधिरं पातयेत्तेषां यस्तु मोहान्नराधिप । तेन पापेन पापात्मा नरकं यात्यसंशयम् ॥ ५९ ॥ नरकेषु च सर्वेषु समाः स्थित्वा शतं शतम् । इह मानुष्यके लोके बलीवर्दो भविष्यति ॥ ६० ॥ तस्मात्तु मुक्तिमन्विच्छन्दद्यात्तु कपिलां नरः ॥ ६१ ॥ कपिलां

भी वाहनमें न जोड़े. बैल भूखे हों तो आप भी न खाय, किन्तु पानी भी उनको पिलाकर ही पिये ॥ ५५ ॥ सेवा करनेवाले पुरुषकी कपिला गौ माता और बैल पितारूप हैं, दिनके पहले भागमें बैलोंको जुएमें जोतना कहा है ॥ ५६ ॥ दुपहर होजाने पर उनको विश्राम देय और अन्तके समयमें अपनी इच्छानुसार वर्त्ताव करे जहाँ शीघ्रतासे काम करना हो और जहाँ मार्गमें भय हो तहाँ बैलोंको गाडीमें जोतकर उनसे गाडी खिचवावे, ऐसा करनेसे कर्त्ताको पाप नहीं लगता है ॥ ५७ ॥ परन्तु हे पाण्डु-पुत्र राजन् ! सुखके समयमें भी यदि मनुष्य बैलोंको गाडीमें जोडता है तो उसको गर्भहत्याका पाप लगता है और वह रौरव नरकमें पडता है ॥ ५८ ॥ हे राजन् ! जो मनुष्य मूर्खतासे उनके शरीरमें रुधिर निकालता है तो उस पापसे वह पाप करनेवाला मनुष्य नरकमें जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५९ ॥ वह पापी पुरुष हरएक नरकमें सौ २ वर्षतक रहता है और फिर इस लोकमें बैलका जन्म पाता है॥६०॥ऐसे पापसे छूटना चाहनेवाला मनुष्य कपिला गौका दान देय ॥६१॥ जो शूद्र लोभसे मोहित

वाहयेद्यस्तु वृषलो लोभमोहितः । तेन देवास्त्रयस्त्रिंशत् पितरश्चापि वाहिताः ॥ ६२ ॥ स देवैः पितृभिर्नित्यं वध्यमानस्तु दुर्मतिः । नरकान्नरकं घोरं गच्छेदामजयं नृप ॥ ॥६३ ॥ ब्रह्मा रुद्रस्तथाऽग्निश्च कपिलानां गतिं गताः । तस्मात्ते न निहन्तव्याः पूज्याश्चैव न संशयः । निःश्वसन्ति यदा श्रान्तास्तदा हन्युश्च तत्कुलम् ६४ यावन्ति तेषां रोमाणि तावद्वर्षशतं नृप । नरकेषूपपच्यन्ते तत्र तद्वाहका नराः ॥ ६५ ॥ कपिला सर्वयज्ञेषु दक्षिणार्थं विधीयते । तस्मात्तद्दक्षिणा देया यज्ञेष्वेव द्विजातिभिः ॥ ६६ ॥ होमार्थं चाग्निहोत्रस्य यां प्रयच्छेत्प्रयत्नतः । श्रोत्रियाय दरिद्राय श्रान्ताया-यामिततेजसे । तेन दानेन पूतात्मा मम लोके महीयते ॥ ६७ ॥

होकर कपिला गौको सवारीमें जोडता है वह तैंतीस देवताओंको और पितरोंको भी सवारीमें जोडता है ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! उस दुष्टबुद्धि पुरुषको देवता और पितर नित्य मार देते है और वह प्रलय तक एक घोर नरकमेंसे दूसरे घोर नरकमें जाता है ॥ ६३ ॥ ब्रह्मा, रुद्र और अग्नि भी कपिलाकी शरणमें गए हैं, इसलिये कपिला गौको मारे नहीं, किन्तु, वह निःसन्देह पूजन करने योग्य है, कपिला गौ थककर जिस समय श्वास लेती है,उस समय वह अपनेको मारनेवालेके कुलका नाश करती है६४ हे राजन् ! कपिला गौके शरीर पर जितने रोम हैं उतने ही सौ वर्षों तक,उसको गाडीमें जोड कर सवारी करनेवाले नरकमें पडते हैं६५सब यज्ञोंमें दक्षिणा देनेके लिये कपिला गौ कही है, इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको यज्ञोंमें कपिला गौको दान देना चाहिये ६६ जो मनुष्य अग्निहोत्रके होमके लिये उद्योग करके वेदपढ़े हुए, गरीब, परिश्रम पायेहुए और अपार ब्रह्मतेजवाले ब्राह्मणको कपिला गौ दानमें देता है वह उस दानसे पवित्र हो मेरे लोकमें आकर पूजा जाता है ॥ ६७ ॥ हे युधिष्ठिर ! कपिलाके अङ्गमें

यावन्ति चैव रोमाणि कपिलांगे युधिष्ठिर । तावद्वर्षसहस्राणि स्वर्गलोके महीयते ॥ ६८ ॥ सुवर्णखुरशृंगीं च कपिलां यः प्रयच्छति । विषुवे चायने चापि सोऽश्वमेधफलं लभेत् । तेनाश्वमेधतुल्येन मम लोकं स गच्छति ॥ ६९ ॥ स्वर्णशृङ्गीं रूप्यखुरां सवत्सां कांस्यदोहिनीम् । वस्त्रैरलंकृतां पुण्यां गन्धैर्माल्यैश्च शोभिताम् ॥ ७० ॥ पवित्रं हि पवित्राणां सुवर्णमिति मे मतिः । तस्मात्सुवर्णाभरणा दातव्या साग्निहोत्रिणे ॥ ७१ ॥ एवं दत्त्वा तु राजेन्द्र सप्तपूर्वान्परानपि । तारयिष्यति राजेन्द्र नात्र कार्या विचारणा ॥ ७२ ॥अग्निष्टोमसहस्रस्य वाजपेयं च तत्समम् । वाजपेयसहस्रस्य अश्वमेधं च तत्समम् । अश्वमेधसहस्रस्य राजसूयश्च तत्समम् ॥ ७३ ॥ कपिलानां सहस्रेण विधिदत्तेन पाण्डव ।

जितने रोम हैं उतने हजार वर्षों तक वह स्वर्गलोकमें पूजाजाता है ॥६८॥ जो मनुष्य सोनेसे मढ़े सींग और खुरोंवाली कपिला गौका दान मेष और तुलकी संक्रान्तिमें तथा उत्तरायणमें करता है वह अश्वमेधके फलको पाता है और अश्वमेधके फलसे मेरे लोकमें आता है ॥ ६९ ॥ सोनेके सींग और चाँदीके खुरोंवाली बछडा और काँसीकी दोहनीके सहित, वस्त्रोंसे सजी, पुष्ट, चन्दन और फूलमालासे शोभायमान ॥ ७० ॥ कपिला गौको सोनेके गहनोंसे सजाकर अग्निहोत्री ब्राह्मणको दान करके देय, क्योंकि–सोना सब पदार्थोंमें उत्तम है ऐसा मेरा मत है ॥७१॥ हे राजेन्द्र ! इसप्रकार कपिला गौका दान करके मनुष्य अपने सात पूर्व पुरुषोंको और सात आगेको होनेवाले वंशधरोंको निःसन्देह तार देता है ॥ ७२ ॥ एक हजार अग्निष्टोम यज्ञकी समान एक वाजपेय यज्ञ कहलाता है, एक हजार वाजपेय यज्ञकी समान एक अश्वमेध मानाजाता है और एक हजार अश्वमेधोंकी समान एक राजसूय यज्ञ कहलाता है ॥ ७३ ॥ और हे पाण्डव ! शास्त्रमें

राजसूयफलं प्राप्य मम लोके महीयते। न तस्य पुनरावृत्तिर्विद्यते कुरुपुंगव ॥७४॥ प्रयच्छते यः कपिलां सवत्सां कांस्यदोहिनीम्। सुवर्णखुरशृंगाग्रां सर्वालङ्कारशोभिताम् ॥ ७५ ॥ तैस्तैर्गुणैः कामदुघा च भूत्वा नरं प्रदातारमुपैति सा गौः। स्वकर्मभिश्चाप्यनुबध्यमानं तीव्रान्धकारे नरके पतन्तम्। महार्णवे नौरिव वायुनीता दत्ता हि गौस्तारयते मनुष्यम् ॥ ७६ ॥ पुत्रांश्च पौत्रांश्च कुलं च सर्वमासप्तमं तारयते यथावत्। यावन्मनुष्यान्पृथिवी बिभर्ति तावत्प्रदातारमृतं परत्र ॥ ७७ ॥ यथौषधं मन्त्रकृतं नरस्य प्रयुक्तमात्रं विनिहन्ति रोगान्। तथैव दत्ता कपिला सुपात्रे। पापं नरस्याशु निहन्ति सर्वम् ॥७८॥ यथैव दृष्ट्वा भुजगा सुपर्णं नश्यन्ति

कहीहुई विधिके अनुसार एक हजार कपिला गौओंका दान देनेसे राजसूय यज्ञका फल पाकर मेरे लोकमें पूजाजाता है और हे कुरुश्रेष्ठ! उसका फिर जन्म नहीं होता है ॥७४॥ जो मनुष्य बछडा और काँसीकी दोहनी सहित, सोनेके खुर और सींगों वाली सकल गहनोंसे सजी हुई कपिला गौका दान देता है ७५ कामना पूरी करनेवाली कपिला गौ जुदे २ रूपोंसे उस दाताके पास पहुँचकर उसकी कामनाएँ पूरी करती है,तथा अपने कर्मके कारण सर्वथा अज्ञान बनेहुए तथा अत्यन्त गाढ़ अन्धकारवाले नरकमें गिरनेको तयारहुए मनुष्यको ऐसे तार देती है,जैसे महासागरमें वायुकी चलाई हुई नौका तारती है ॥७६॥ पुत्र,पौत्र और सब कुलको सातवें पुरुष तक बराबर तारदेती है, जब तक पृथ्वी मनुष्योंको धारण करती है तब तक कपिला गौ दाताको परलोकमें धारण करती है ॥७७॥ और जैसे विचार कर रोगीको दीहुई औषध मनुष्यके रोगका नाश करती है,तैसे ही सुपात्रको दी हुई कपिला गौ मनुष्यके सब पापोंका तुरंत नाश करदेती है ७८ जैसे सर्प गरुड़को देखते ही भयभीत होकर लाचार हुए दूरसे

दूराद्विवशा भयार्त्ताः । तथैव दृष्ट्वा कपिलाप्रदानान्नश्यन्ति पापानि नरस्य शीघ्रम् ॥ ७९ ॥ यथा त्वचं वै भुजगो विहाय पुनर्नवं रूपमुपैति पुण्यम् । तथैव मुक्तः पुरुषः स्वपापैर्विराजते वै कपिलाप्रदानात् ॥ ८० ॥ यथान्धकारं भवने विलग्नं दीप्तो हि निर्यातयति प्रदीपः । तथा नरः पापमपि प्रलीनं निष्कासयेद्वै कपिलाप्रदानात् ॥ ८१ ॥ यावंति रोमाणि भवंति तस्या वत्सान्वितायाश्च शरीरजानि । तावत्प्रदाता युगवर्षकोटिं स ब्रह्मलोके रमते मनुष्यः ॥८२॥ यस्याहिताग्नेरतिथिप्रियस्य शूद्रान्नदूरस्य जितेन्द्रियस्य । सत्यव्रतस्याध्ययनान्वितस्य दत्ता हि गौस्तारयते परत्र ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि कपिलादानप्रशंसने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०२॥

वैशम्पायन उवाच । एवं श्रुत्वा परं पुण्यं कपिलादानमुत्तमम् ।

ही भागजाते हैं तैसे ही कपिला गौका दान देनेसे मनुष्योंके पाप तुरन्त नष्ट होजातेहैं॥७९॥जैसे साँप केंचुली छोडकर फिर नया स्वरूप धारण करता है तैसे ही मनुष्य कपिला गौके दानसे अपने पापोंसे छूटकर शोभायमान होता है ॥ ८० ॥ दीपकका प्रकाश होनेसे जैसे घरमेंका अन्धेरा दूर होजाता है, तैसे ही कपिला गौके दानसे मनुष्यका पाप नष्ट होकर दाताके शरीरमेंसे बाहर निकल जाता है ॥ ८१ ॥ बछड़े सहित कपिला गौके शरीरमें जितने भी रोम होते हैं उतने युगोंतक दाता पुरुष ब्रह्मलोकमें आनन्द करता है ॥ ८२ ॥ जो विप्र अग्निहोत्री हो, अतिथियों से प्रेम करता हो शूद्रके अन्नको न लेता हो,जितेन्द्रिय हो,सत्यवादी हो और वेदाध्ययन करनेवाला हो उसको दी हुई गौ दाता को परलोकमें तारती है॥८३॥एक सौ दोवाँ अध्याय समाप्त॥१०२॥

वैशम्पायन कहते हैं,कि-इस प्रकार कपिला गौके परमपुण्यकारक उत्तम दानके वर्णनको सुनकर धर्मपुत्रका मन प्रसन्न हुआ

धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा केशवं पुनरब्रवीत् ॥१॥ देवदेवेश कपिला यदा विप्राय दीयते । कथं सर्वेषु चाङ्गेषु तस्यास्तिष्ठन्ति देवताः ॥२॥ याश्चैताः कपिलाः प्रोक्ता दश चैव त्वया मम । तासां कति सुरश्रेष्ठ कपिलाः पुण्यलक्षणाः ॥ ३ ॥ कथं वानुगृहीतास्ताः सुरैः पितृगणैरपि । केन युक्ताश्च वर्णेन श्रोतुं कौतूहलं हि मे । वैशम्पायन उवाच । युधिष्ठिरेणैवमुक्तः केशवः सत्यवाक् तदा । गुह्यानां परमं गुह्यं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥ शृणु राजन् पवित्रं वै रहस्यं धर्ममुत्तमम् । ग्रहणीयं सत्यमिदं न श्राव्यं हेतुवादिभिः ॥ ६ ॥ यदा वत्सस्य पादौ द्वौ प्रसवे शिरसा सह । दृश्येते दानकालं तत्प्राहुर्मुनिसत्तमाः ॥ ७ ॥ अन्तरिक्षगतो वत्सो यावद्भूमिं न यास्यति । गौस्तावत्पृथिवी ज्ञेया तस्माद्देया तु तादृशी ॥ ८ ॥

उन्होंने केशवसे फिर बूझा, कि–हे देव! जब ब्राह्मणोंको कपिला गौ दीजाती है तब उसके सब शरीरमें देवता किस प्रकार रहते हैं ? ॥ २ ॥ और आपने मुझे दश प्रकारकी कपिला गौ बताई है उनमें हे सुरश्रेष्ठ कितनी कपिला श्रेष्ठ हैं ॥ ३ ॥ देवताओंने और पितरोंके गणोंने उसके ऊपर किस प्रकार अनुग्रह किया है ? तथा उस कपिला गौका वर्ण कैसा है ? यह सुननेको मुझे कुतूहल होरहा है ॥ ४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि–युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे ऐसा प्रश्न किया तब सत्यवादी श्रीकृष्ण गुप्तसे भी परम गुप्त कथा कहने लगे, कि–॥ ५ ॥ हे राजन्! पवित्र और रहस्यरूप इस उत्तम धर्मको तुम सुनो यह सत्य बात ग्रहण करने योग्य है, परन्तु यह कुतर्कियोंको सुनानेकी नहीं है ॥ ६ ॥ जब कपिला गौके बच्चा होय तब बछड़ेके मस्तकके साथ दोनों चरण बाहर दीखे, उस समयको श्रेष्ठ मुनि दानका समय कहते हैं॥७॥ जिस समय बछड़ा अधर हो, पृथिवी पर गिरा न हो उस समय गौको पृथिवी जानो और इसलिए उसका दान करदो ॥ ८ ॥

यावन्ति धेन्वा रोमाणि सवत्सायाः युधिष्ठिर । यावत्यः सिकता-
श्चापि गर्भोदकपरिप्लुताः । तावद्वर्षसहस्राणि दाता स्वर्गे महीे-
यते ॥९॥ सुवर्णाभरणां कृत्वा सवत्सां कपिलां तिलैः । भाच्छाद्य
तां तु दद्याद्वै सर्वरत्नैरलंकृताम् ॥ १० ॥ ससमुद्रा नदी तेन स-
शैलवनकानना । चतुरन्ता भवेद्दत्ता नात्र कार्या विचारणा ११
पृथिवीदानतुल्येन तेन दानेन मानवः । संसारसागरोत्तीर्णो याति
लोकं प्रजापतेः ॥ १२ ॥ ब्रह्महा भ्रूणहा गोघ्नो यदि वा गुरु-
तल्पगः । महापातकयुक्तोऽपि एतद्दानेन शुद्ध्यति ॥ १३ ॥ इदं
पठति यः पुण्यं कपिलादानमुत्तमम् । प्रातरुत्थाय भक्त्या तस्य
पुण्यफलं शृणु ॥१४॥ मनसा कर्मणा वाचा मतिपूर्वं युधिष्ठिर ।

हे युधिष्ठिर!बछडे सहित गौके शरीरमें जितने रोम होते हैं और
और जितने धूलिके कण उस गर्भके जलसे भीगते हैं, उतने
हजार वर्षोंतक गौका दान करनेवाला मनुष्य स्वर्गमें आदर पाता
है ॥ ९ ॥ कपिला गौको उसके बछडेके सहित सोनेके गहनोंसे
सजाकर तथा सकल रत्नोंसे शोभायमान करके और तिलोंसे
ढककर दानमें देता है तो ॥ १० ॥ मानो उस मनुष्यने नदी,
समुद्र, पर्वत, वन,अरण्य आदिसे युक्त चारों दिशावाली पृथिवी
का दान कर दिया ऐसा माना जाता है,इसमें सन्देह नहीं करना
चाहिये ॥ ११ ॥ पृथिवीके दानकी समान कपिला गौके दानसे
मनुष्य संसारसागरके पार होकर प्रजापतिके लोकमें जाता
है ॥ १२ ॥ मनुष्य ब्रह्महत्यारा हो, गर्भहत्यारा हो,गोहन्ता हो
अथवा गुरुपत्नीके साथ गमन करनेवाला हो, इसप्रकार महा-
पातकसे युक्त हो तो भी कपिला गौके दानसे शुद्ध होजाता है।१३।
जो मनुष्य प्रातःकालके समय उठकर इस पवित्र कपिलाके दानके
उत्तम माहात्म्यको भक्तिके साथ सुनता है उसके पुण्य फलको
सुनो ॥१४॥ हे युधिष्ठिर ! इस अध्यायका पाठ करनेसे समझ

पापं रात्रिकृतं हन्यादस्याध्यायस्य पाठकः ॥ १५ ॥ इदमावर्त्तमानस्तु श्राद्धे यस्तर्पयेद्द्विजान्। तस्याप्यमृतमश्नन्ति पितरोऽत्यन्तहर्षिताः ॥ १६ ॥ यश्चेदं शृणुयाद्भक्त्या मद्गतेनान्तरात्मना। तस्य रात्रिकृतं सर्वं पापमाशु प्रणश्यति ॥१७॥ अतः परं विशेषन्तु कपिलानां ब्रवीमि ते। याश्चैताः कपिलाः प्रोक्ता दश राजन्मया तव। तासां चतस्रः प्रवराः पुण्याः पापविनाशनाः॥१८॥ सुवर्णकपिला पुण्यास्तथा रक्ताक्षपिंगला। पिंगलाक्षी च या गौश्च स्यात्पिंगलपिंगला ॥ १९ ॥ एताश्चतस्रः प्रवराः पवित्राः पापनाशनाः। नमस्कृता वा दृष्टा वा घ्नन्ति पापं नरस्य तु ।२०। यस्यैताः कपिलाः सन्ति गृहे पापप्रणाशनाः। तत्र श्रीर्विजयः कीर्तिः

कर मनसे, कर्मसे और वाणीसे रात्रिमें जो पाप किया होता है उसका नाश होजाता है ॥१५॥ जो मनुष्य श्राद्धमें इस अध्यायका पाठ करता है और विप्रोंको तर्पण कराता है, उसके पितर बड़ा हर्ष पाकर अमृतका भोजन करते है ॥ १६ ॥ जो मनुष्य मुझमें मन लगाकर भक्तिसे इस अध्यायको सुनता है, उसका एक रात्रिमें कियाहुआ सब पाप नष्ट होजाता है १७ अब आगे भी मैं तुम्हें कपिलाके विषयमें विशेष बात सुनाता हूँ, हे राजन् ! मैंने तुम्हें जो दश प्रकारकी कपिला बताई हैं, उनमेंसे चार कपिला श्रेष्ठ, पुण्य देनेवालीं और पापका नाश करनेवालीं हैं ॥ १८ ॥ जो कपिला सुवर्ण-कपिला है, जो कपिला लाल आँखवाली और पिङ्गल रङ्गकी है, जो कपिला पिङ्गली आँख वाली है और जो अत्यन्त पिङ्गल रङ्गकी है, ये चारों पुण्यदायक हैं ॥१९॥ ये चारों कपिला गौ श्रेष्ठ, पवित्र और पापोंका नाश करनेवाली हैं;इन चारों कपिला गौओंको प्रणाम करनेसे अथवा इनका दर्शन करनेसे मनुष्यके पापका नाश होजाता है ॥ २० ॥ हे युधिष्ठिर ! जिसके घरमें पापका नाश करनेवालीं ये चारों

स्फीता नित्यं युधिष्ठिर॥२१॥ एतासां प्रीतिमायाति क्षीरेण तु वृषध्वजः
दध्ना च त्रिदशाः सर्वे घृतेन तु हुताशनः ॥२२॥ पितरः पितामहा-
श्चैव तथैव प्रपितामहाः। सकृद्दत्तेन तृप्यंति वर्षकोटिं युधिष्ठिर॥२३॥
कपिलायाः घृतं क्षीरं दधि पायसमेव वा। श्रोत्रियेभ्यः सकृद्दत्त्वा
नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ २३ ॥ उपवासं तु यः कृत्वाऽप्यहोरात्रं
जितेन्द्रियः। कपिलापञ्चगव्यन्तु पीत्वा चन्द्रायणात् परम् २५
सौम्ये मुहूर्ते तत्प्राश्य शुद्धात्मा शुद्धमानसः। क्रोधानृतविनि-
र्मुक्तो मद्गतेनान्तरात्मना ॥ २६ ॥ कपिलापञ्चगव्येन समन्त्रेण
पृथक् पृथक्। यो मत्प्रतिकृतिं वापि शङ्कराकृतिमेव वा। स्नापये-
द्विपुरे यस्तु सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥२७॥ स मुक्तपापः शुद्धात्मा

कपिला हैं, उसके यहाँ लक्ष्मी, विजय और उत्तमकीर्त्तिका नित्य
निवास होता है ॥२१॥ इस कपिला गौके दूधसे शङ्कर प्रसन्न
होते हैं, दहीसे सब देवता प्रसन्न होते हैं और घीसे अग्नि
प्रसन्न होता है ॥ २२ ॥ हे युधिष्ठिर! पिता, पितामह और
प्रपितामह ये पितर एक बार भी कपिला गौका दूध, दही और
घी देनेसे एक करोड वर्ष तकको सन्तुष्ट होजाते हैं ॥ २३ ॥
मनुष्य वेद पढ़ेहुए ब्राह्मणोंको एक बार भी कपिला गौका घी,
दूध, दही और दूधपाक देनेसे सकल पापोंसे मुक्त होजाता है२४
जो मनुष्य इन्द्रियोंको वशमें रखकर एकदिन और एक रात्रिका
उपवास करता है तथा चान्द्रायणके प्रतिनिधिरूप कपिला गौका
पञ्चगव्य पीकर ॥ २५ ॥ उत्तम मुहूर्त्तमें मनको शुद्ध कर क्रोध
और असत्यको त्यागताहुआ मुझमें मन लगा शुद्धात्मा होकर
उसको पीता है ॥ २६ ॥ मेरी मूर्तिको अथवा शिवकी मूर्त्तिको
वेदके मंत्र पढ़कर कपिलाके पञ्चगव्यसे मेष और तुलाकी
संक्रान्तिके समय स्नान कराता है वह अश्वमेधके फलको पाता
है ॥ २७ ॥ उसके पाप नष्ट होजाते हैं, वह शुद्ध हो आकाशमें

यानेनांबरशोभिना । मम लोकं व्रजेन्मुक्तो रुद्रलोकमथापि वा २८
ब्रह्मणा तु पुरा सृष्टा कपिला काञ्चनप्रभा । अग्निकुण्डात्परैर्मन्त्रैर्होमधेनुर्महाप्रभा ॥ २९ ॥ सृष्टमात्रां तु तां दृष्ट्वा देवा रुद्रादयो दिवि । । सिद्धा ब्रह्मर्षयश्चैव वेदाः सांगाः सहाध्वरैः ॥ ३० ॥ सागराः सरितश्चैव पर्वताः सवलाहकाः । गन्धर्वाप्सरसो यक्षाः पन्नगाश्चाप्युपस्थिताः ॥ ३१ ॥ सर्वे विस्मयमापन्ना शिखिमध्ये महाप्रभाम् । मन्त्रैश्च विविधैस्तां तु तुष्टुवुस्तामनेकशः॥३२॥ कृताञ्जलिपुटाः सर्वे नातिशृङ्गीं त्रिलोचनाम् । मूर्ध्ना प्रणम्य तां भूमौ सवत्साममृतारणिम् ॥ ३३ ॥ ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे चतुर्वक्त्रं पितामहम् । आज्ञापय महादेव किं ते कुर्मः कथं विभो ३४
एवमुक्तः सुरैः सर्वैर्ब्रह्मा वचनमब्रवीत् । भवन्तोऽप्यनुगृह्णन्तु दोग्ध्री

शोभायमान विमानमें बैठकर मेरे लोकमें अथवा शिवके लोकमें जाता है ॥ २८ ॥ पहले ब्रह्माने उत्तम वेदके मंत्र पढकर सुवर्णकी समान महाकान्तिवाली कपिला गौको अग्निके कुण्डमेंसे उत्पन्न किया था ॥ २९ ॥ उसको उत्पन्न हुई देखते ही स्वर्गमें रहनेवाले रुद्रादि देवता, सिद्ध ब्रह्मर्षि, वेद उसके अङ्ग, यज्ञ ३० समुद्र, नदी, पर्वत, मेघ गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष और सर्प भी तहाँ आगए ॥३१॥ तथा अग्निमें खडी हुई महाकान्तिवाली कपिलाको देखकर सब आश्चर्यमें होगए और अनेकों प्रकारके मंत्रोंसे उसकी अनेकों प्रकारसे स्तुति करनेलगे ॥३२॥ फिर सब देवता दोनों हाथ जोडकर छोटे सींग और तीन नेत्रोंवाली बछडेके सहित भूमि पर खडीहुई, अमृतकी अरणीकी समान कपिला गौको शिरसे प्रणाम करके ॥ ३३ ॥ चार मुखवाले ब्रह्माजीसे हाथ जोडकर कहनेलगे, कि-हे महादेव ! हे विभो ! आज्ञा दीजियें, कि-आपका कौनसा काम किस रीतिसे करें ॥ ३४ ॥ सब देवताओंने ऐसा कहा, तब ब्रह्माजी बोले, कि-तुम भी इस

मेनां पयस्विनीम् ।३५॥ होमधेनुरियं ज्ञेया ह्यग्नीन्सन्तर्पयिष्यति ।
अग्निस्तर्पितः सर्वान्भवतस्तर्पयिष्यति ॥ ३६ ॥ भीताः क्षीरा-
मृतेनास्या जातवीर्यपराक्रमाः । जयिष्यथ यथाकामं दानवान् सर्व
एव तु ॥३७॥ जातवीर्यबलैर्युक्ता सत्त्ववन्तो जितेंद्रियाः । असं-
ख्येयबलाः सर्वे पालयिष्यथ वै प्रजाः ॥ ३८ ॥ पालिताश्च
प्रजाः सर्वा भवद्भिरिह धर्मतः । पूजयिष्यन्ति वो नित्यं यज्ञैर्वि-
विधदक्षिणैः ॥ ३९ ॥ एवमुक्ताः सुराः सर्वे ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
ततः संहृष्टवदना कपिलायै वरं ददुः ॥ ४० ॥ देवता ऊचुः ।
यस्माल्लोकहितायास्य ब्रह्मणा त्वं विनिर्मिता । तस्मात्पूता पवित्रा
च भव पापप्रणोदिनी ॥ ४१ ॥ ये त्वां दृष्ट्वा नमस्यन्ति स्पृष्ट्वा
चापि करैर्नराः । तेषां त्वत्कृतं पापं तद्भक्तानां प्रणश्यति ॥४२॥

दुधेर गौके ऊपर अनुग्रह करो ॥३५॥ इसको होमधेनु अर्थात् होमके काममें उपयोगी जानो, यह गौ अग्निको तृप्त करेगी और अग्नि तृप्त होकर तुम सबको तृप्त करेगा ॥ ३६ ॥ तुम इस कपिला गौके दूधरूप अमृतसे प्रसन्न वीर्यवान् तथा पराक्रमी बनो तब तुम सब दानवोंको इच्छानुसार जीतलोगे ॥ ३७ ॥ स्वाभाविक वीर्य और बलवाले तथा सत्त्ववान्, जितेन्द्रिय और अपार बलवान् हुए तुम सब प्रजाका पालन करोगे ॥ ३८ ॥ इस लोकमें तुम सब प्रजाओंका धर्मसे पालन करोगे, तब वे अनेकों प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंसे नित्य तुम्हारा पूजन करेंगे ॥ ३९ ॥ इसप्रकार परमेष्ठी ब्रह्माने सब देवताओंसे कहा, तब देवताओंके मुखोंपर हर्ष मालूम होनेलगा और उन्होंने कपिलागौको यह वर दिया कि-॥४०॥ ब्रह्माने तुझे जो लोकके हितके लिये उत्पन्न किया है, इसलिये तू पवित्र, शुद्ध और पापका नाश करनेवाली हो ॥ ४१ ॥ जो मनुष्य तुझे देखकर प्रणाम करेंगे अथवा तेरे ऊपर हाथ फेरेंगे, उन तेरे भक्तोंका एक

अकामकृतमज्ञानमदृष्टं यच्च पातकम् । त्वां दृष्ट्वा ये नमस्यन्ति नराः सर्वसहेति च । तेषां तद्विलयं याति तमः सूर्योदये यथा ४३ भगवानुवाच । इत्युक्त्वास्यै वरं दत्त्वा प्रययुस्ते यथागतम् । लोक-निस्तारणार्थाय सा च लोकांश्चचार ह ॥ ४४ ॥ तस्यामेव समुद्भूता ह्येताश्च कपिलानव । विचरन्ति महीमेनां लोकानुग्रह-कारणात् । तस्मात्तु कपिला देया परत्र हितमिच्छता ॥ ४५ ॥ यदा च दीयते राजन् कपिला ह्यग्निहोत्रिणे । तदा च शृङ्गयोस्तस्या विष्णुरिन्द्रश्च तिष्ठतः ॥४६॥ चन्द्रवज्रधरौ चापि तिष्ठतः शृङ्गमूलयोः शृंगमध्ये तथा ब्रह्मा ललाटे गोवृषध्वजः ॥ ४७ ॥ कर्णयोरश्विनौ देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ । दन्तेषु मरुतो देवा जिह्वायां वाक्

वर्षका कियाहुआ पाप नष्ट होजायगा ॥ ४२ ॥ हे सर्वसहा ! जो मनुष्य तुझे देखकर प्रणाम करेंगे उन मनुष्योंके विना इच्छाके कियेहुए पाप, अनजानमें कियेहुए पाप और न देखेहुए पाप ऐसे नष्ट होजायँगे जैसे सूर्यका उदय होनेपर अन्धकार नष्ट होजाता है ॥ ४३ ॥ भगवान्ने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! ऐसा कह, कपिला गौको वरदान देकर वे सब जैसे आये थे वैसे ही अपने स्थानोंको लौटगए और कपिला गौ लोगोंका उद्धार करनेके लिये सब लोकोंमें फिरनेलगी ॥४४॥ उस आदि कपिलामेंसे नौ कपिला गौ उत्पन्न हुई हैं और वे लोकोंके ऊपर अनुग्रह करनेको इस पृथिवी पर विच-रती हैं इसलिये परलोकमें हित चाहनेवाले मनुष्यको कपिला गौका दान देना चाहिये ॥४५॥ हे राजन् ! जिस समय अग्निहोत्री ब्राह्मणको कपिला गौका दान दियाजाता है, उस समय कपिला गौके सींगोंके ऊपर विष्णु और इन्द्र निवास करते हैं ॥ ४६ ॥ दोनों सींगोंकी दोनों जड़ोंमें चन्द्र और इन्द्र बसते हैं, सींगोंके मध्य-भागमें ब्रह्मा रहते हैं, ललाटमें शङ्कर रहते हैं, कानोंमें अश्विनी-कुमार रहते हैं, दोनों नेत्रोंमें चन्द्रमा और सूर्य रहते हैं, दाँतोंमें

सरस्वती ॥४८॥ रोमकूपेषु मुनयश्चर्मण्येव प्रजापतिः । निःश्वासेषु स्थिता वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः ॥ ४९ ॥ नासापुटे स्थिता गन्धाः पुष्पाणि सुरभीणि च । अधरे वसवः सर्वे मुखे चाग्निः प्रतिष्ठितः ॥५०॥ साध्या देवाः स्थिताः कक्षे ग्रीवायां पार्वती स्थिता । पृष्ठे च नक्षत्रगणाः ककुद्देशे नभस्स्थलम् ॥ ५१ ॥ अपाने सर्वतीर्थानि गोमूत्रे जाह्नवी स्वयम् । इष्टतुष्टमया लक्ष्मीर्गोमये वसती तदा ॥ ५२ ॥ नासिकायां सदा देवी ज्येष्ठा वसति भाविनि । श्रोणीतटास्थाः पितरो रमा लाङ्गूलमाश्रिता ॥ ५३ ॥ पार्श्वयोरुभयोः सर्वे विश्वेदेवाः प्रतिष्ठिताः।तिष्ठत्युरसि तासां तु प्रीतः शक्तिधरो गुहः ॥५४॥ जानुजङ्घोरुदेशेषु पञ्च तिष्ठन्ति वायवः । खुरमध्येषु गन्धर्वाः खुराग्रेषु च पन्नगाः ॥ ५५ ॥ चत्वारः सागराः पूर्णास्तस्या एव पयो-

पवनदेव रहते हैं, जिह्वामें सरस्वती देवी रहती हैं ॥ ४७–४८ ॥ उसके रोमकूपोंमें मुनि रहते हैं, चर्ममें प्रजापति रहते हैं, श्वासोंमें छः अङ्गोंके सहित तथा पद और क्रमके साथ चारों वेद रहते हैं ॥ ४९ ॥ नासिकाके दोनो नथोड़ोंमें सुगन्धित पदार्थ तथा सुगन्धित पुष्प रहते हैं, ओठमें सब वसु रहते हैं मुखमें अग्नि रहता है ॥ ५० ॥ उसकी कोखमें साध्य देवता रहते हैं, कण्ठमें पार्वती रहती हैं, पीठमें नक्षत्र रहते हैं और ककुद्‌में, पीठपरके ऊँचे भागमें) आकाश रहता है ॥ ५१ ॥ अपानमें सब तीर्थ रहते हैं, गोमूत्रमें स्वयं गङ्गा रहती है, इष्ट और सन्तुष्ट हुई लक्ष्मी देवी उसके गोबरमें सदा निवास करती है ॥ ५२ ॥ ज्येष्ठादेवी सदा उसकी नाकमें रहती हैं, पितर उसके नितम्बमें रहते हैं और रमादेवी उसकी पूँछमें रहती है ॥ ५३ ॥ उसके दोनो करवटोंमें सब विश्वदेवता रहते है, कपिलाओंके वक्षःस्थलमें शक्तिधारी स्वामिकार्त्तिकेय प्रसन्न होकर रहते हैं ॥५४॥ जानु, जंघा और साँथलोंमें पाँच वायु रहते हैं, खुरियोंमें गन्धर्व रहते हैं, खुरियोंके

धराः । रतिर्मेधा क्षमा स्वाहा श्रद्धा शान्तिर्धृतिः स्मृतिः ॥ ५६ ॥ कीर्तिर्दीप्तिः क्रिया कान्तिस्तुष्टिःपुष्टिश्च सन्ततिः । दिशश्च प्रदिशश्चैव सेवन्ते कपिलां सदा॥ ५७ ॥ देवाः पितृगणाश्चापि गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ लोका द्वीपार्णवाश्चैव गङ्गाद्याः सरितस्तथा ॥५८॥ देवाः पितृगणाश्चापि वेदाः साङ्गाः सहाध्वरैः । वेदोक्तैर्विविधैर्मन्त्रैः स्तुवन्ति हृषितास्तथा ॥ ५९ ॥ विद्याधराश्च ये सिद्धा भूतास्तारागणास्तथा । पुष्पवृष्टिं च वर्षन्ति प्रनृत्यन्ति च हर्षिताः ॥ ६० ॥ ब्रह्मणोत्पादिता देवी वह्निकुण्डान्महाप्रभा । नमस्ते कपिले पुण्ये सर्वदेवैर्नमस्कृते ॥ ६१ ॥ कपिलेऽथ महासत्वे सर्वतीर्थमये शुभे । दातारं स्वजनोपेतं ब्रह्मलोकं नय स्वयम् ॥ ६२ ॥ अहो रत्नमिदं पुण्यं सर्वदुःखघ्नमुत्तमम् । अहो धर्मार्जितं शुद्धमिदमग्र्यं महाधनम् ।

अग्रभागोंमें सर्प रहते हैं ॥ ५५ ॥ चार समुद्र उसके चार स्तन हैं, रति, मेधा, क्षमा, स्वाहा, श्रद्धा, शान्ति धृति, स्मृति ॥५६॥ कीर्ति, दीप्ति, क्रिया, कांति, तुष्टि, पुष्टि, संतुष्टि दिशा और कोने ये सब सदा कपिलाकी सेवा करते हैं॥५७॥ देवता, पितर, गंधर्व, अप्सरा, स्वर्ग आदि लोक, द्वीप, समुद्र, गङ्गा आदि नदियें ॥५८॥ देवता, पितर, अङ्गोंके सहित वेद और यज्ञ ये सब प्रसन्न होकर वेदके अनेकों मंत्रोसे कपिला गौकी स्तुति करते हैं ॥ ५९ ॥ विद्याधर, सिद्ध भूत और तारागण भी हर्षमें भर कर पुष्पोंकी वर्षा और नृत्य करते हैं ॥ ६० ॥ और सब देवता आकशमें खड़े होकर नित्य कपिला गौकी इसप्रकार स्तुति करते हैं कि— हे कपिले देवी ! तुझे ब्रह्मोने अग्निके कुण्डमेंसे उत्पन्न किया है, तू महाकान्ति वाली है, हे कपिले ! तुझे प्रणाम करते हैं, हे पुण्यमूर्त्ति ! तुझे सब देवता प्रणाप करते हैं॥६१॥हे कपिला! तू बडी बलवान् है, सकल तीर्थरूप और शुभ है, तू मुझ दाताको मेरे मनुष्योंके सहित ब्रह्मलोकमें लेजा ॥ ६२ ॥ आहा ! यह

इत्याकाशस्थितास्ते तु सर्वे देवा जपन्ति च॥६३॥तस्याः प्रतिग्रहीता च भुङ्क्ते यावद् द्विजोत्तमः। तावद्देवगणाः सर्वे कपिलामर्चयन्ति च। स्वर्णशृङ्गीं रूप्यखुरां गन्धैः पुष्पैः सुपूजिताम्॥६४वस्त्राभ्यामहताभ्यां तु यावत्तिष्ठत्यलङ्कृता। तावत्प्रदिच्छेत्कपिला मन्त्रपूता सुसंस्कृता भूतलवासिनः सर्वान्ब्रह्मलोकं नयेत्स्वयम् ॥ ६५ ॥ भूरश्वः कनकं गावो रूप्यमश्वं तिला यवाः। दीयमानानि विप्राय प्रहृष्यन्ति दिने दिने ॥६६॥ अथ त्वश्रोत्रियेभ्यो वै तानि दत्तानि पाण्डव। तथा निन्दन्त्यथात्मानमशुभं किं तु नः कृतं ॥ ६७ ॥ अहो रक्षः-पिशाचैश्च लुप्यमानाः समन्ततः। यास्यामो निरयं शीघ्रमिति शोचन्ति तानि वै ॥ ६८ ॥ एतान्यपि द्विजेभ्यो वै श्रोत्रियेभ्यो

रत्नरूप, पुण्यरूप, सब दुःखोंका नाश करनेवाली, उत्तम, धर्मसे प्राप्त कीहुई, शुद्ध, श्रेष्ठ और महाधनरूप है, इसप्रकार आकाशमें खड़ेहुए सब देवता तेरा पूजन करते हैं ॥ ६३ ॥ कपिला गौका दान लेनेवाला उत्तम ब्राह्मण जबतक कपिला गौका दूध पीता है तबतक सब देवता सोनेके सींगवाली, चांदीके खुरों वाली गन्ध और फूलोंसे पूजित कपिलाका पूजन करते हैं, ॥ ६४ ॥ जबतक कपिला गौको न फाड़े हुए दो वस्त्र उढ़ाकर सजाया जाता है और उसका पूजन किया जाता है तब तक मंत्रसे पवित्र हुई, उत्तम संस्कारवाली कपिला गौ पृथिवी पर रहनेवाले सब मनुष्योंको जो चाहिये सो देती है और ब्रह्मलोकमें लेजाती है ॥ ६५ ॥ पृथिवी, घोड़ा, सोना, गौ, तिल और जौ ये पदार्थ सदा ब्राह्मणको देनेसे वे प्रसन्न होते हैं ॥ ६६ ॥ परन्तु हे पाण्डव ! वे पदार्थ यदि वेद न पढे ब्राह्मणको दिये जायँ तो वे पदार्थ अपनी निन्दा करके कहते हैं, कि-न जाने हमने क्या पाप किया होगा ? ॥ ६७ ॥ अरे ! राक्षस और पिशाच हमारा चारों ओरसे नाश कर डालेंगे और हम तुरन्त

विशेषतः । दीयमानानि वर्धन्ते दातारं तारयन्ति च ॥ ६९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । देवदेवेश दैत्यघ्न कालः को हव्यकव्ययोः । के तत्र पूजामर्हन्ति वर्जनीयाश्च के द्विजाः ॥ ७० ॥ भगवानुवाच । दैवं पूर्वाह्णिकं ज्ञेयं पैतृकं चापराह्णिकम् । कालहीनं च यद्दानं तद्दानं राक्षसं विदुः ॥ ७१ ॥ अवघुष्टं च यद्भुक्तमनृतेन च भारत । परामृष्टं शुना वाऽपि तद्भागं राक्षसं विदुः ॥७२॥ यावन्तः पतिता विप्रा जडोन्मत्तादयोपि च । दैवे च पित्र्ये ते विप्रा राजन्नार्हन्ति सत्क्रियाम् ॥७३॥ क्लीबः सङ्गी च कुष्ठी च राजयक्ष्मान्वितश्च यः । अपस्मारी च यश्चापि पित्र्ये नार्हति सत्कृतिम् ॥७४॥ चिकित्सका

नरकमें जा पड़ेंगे, इस प्रकार वे पदार्थ शोक करते हैं ॥ ६८ ॥ परन्तु ये पदार्थ भी यदि विशेषकर विद्वान् ब्राह्मणोंको दियेजायँ तो वे वृद्धि पाते हैं और दाताको तार देते हैं ॥६९॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे देवदेवेश ! हे दैत्यघ्न ! यज्ञके बलि हव्य और पितरों के श्राद्धरूप कव्यका समय कौनसा है, उसमें कैसे ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये और कैसे ब्राह्मणोंको त्याग देना चाहिये ? ॥७०॥ भगवान्ने कहा, कि-देवकर्म दिनके पहले भागमें(मध्याह्नसे पहले) करने चाहियें और पितृकर्म दिनके पिछले भागमें(मध्याह्नके बाद) करने चाहियें, जो दान समयके विना कियाजाता है, वह राक्षस कहलाता है ॥ ७१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! जो अन्न दूसरोंको सुनाकर दियाजाता है, जो मिथ्या बोलकर भोजन कियाजाता है तथा जिस अन्नको कुत्ता छू गया हो, उस अन्नको विद्वान् राक्षसका भाग जानते हैं ॥ ७२ ॥ जो ब्राह्मण पतित होगये हों, मूर्ख हों, उन्मत्त आदि हों, हे राजन् ! वे देवताओंके और पितरों के काममें सत्कारके योग्य नहीं गिनेजाते हैं ॥ ७३ ॥ नपुंसक, हीनाङ्ग, कोढ़ी और जिसको राजयक्ष्मा (असाध्य क्षय रोग) होरहा हो तथा जिसको फेफड़ेका रोग हो इनका पितृकार्यमें

देवलका मिथ्यानियमधारिणः । सोमविक्रयिणश्चापि श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥ ७५ ॥ एकोद्दिष्टे च ये नान्नं भुञ्जते विधिवद्द्विजाः । चान्द्रायणमकृत्वा ते पुनर्नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥ ७६ ॥ गायका नर्तकाश्चैव प्लवका वादकास्तथा । कथका योधिकाश्चैव श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥७७॥ अनग्नयश्च ये विप्राः शवनिर्यातकाश्च ये । स्तेनाश्चापि विकर्मस्था राजन्नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥७८॥ अपरिज्ञातपूर्वाश्च गणपुत्राश्च ये द्विजाः । पुत्रिकापुत्रकाश्चापि श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥ ७९ ॥ रणकर्ता च यो विप्रो यश्च वाणिज्यको द्विजः । प्राणिविक्रयवृत्तिश्च श्राद्धे नार्हन्ति सत्कृतिम् ॥८०॥ चीर्णव्रतगुणैर्युक्ता नित्यं स्वाध्यायतत्पराः । सवित्रीज्ञा

(और देवकार्यमें) सत्कार न करे ॥७४॥ वैद्य, पुजारी, मिथ्या नियमोंको धारण करनेवाले तथा सोमवल्ली बेचनेवाले ब्राह्मण श्राद्धमें सत्कारके योग्य नहीं होते ॥७५॥ जो ब्राह्मण एकोद्दिष्ट श्राद्धमें अर्थात् एकादशाहमें प्रेतान्नका विधिसे भोजन करते हैं, और पीछेसे चान्द्रायण व्रत नहीं करते हैं वे ब्राह्मण श्राद्धमें जिमाने के योग्य नहीं हैं ॥ ७६ ॥ गवैये नाटकमें बननेवाले, कूदनेका खेल करनेवाले, बाजा बजानेवाले, कत्थक, सिपाहीगीरी करने वाले ब्राह्मण सत्कारके योग्य नहीं हैं ॥७७॥ जो ब्राह्मण अग्नि होत्रसे रहित हैं, मुरदे उठानेवाले, चोर और नीचकर्म करनेवाले हों वे ब्राह्मण हे राजन् ! श्राद्धमें सत्कारके योग्य नहीं हैं ॥७८॥ जो ब्राह्मण जाने हुए न हों, जो ब्राह्मण दूसरोंके दत्तक (गोद) लिए हों तथा जो ब्राह्मण नानाके यहाँ पुत्र बनकर रहते हों वे श्राद्धमें सत्कारके योग्य नहीं होते ॥७९॥ जो ब्राह्मण युद्धमें लड़ने वाले हों, जो व्यापार करते हों और जो कबूतर आदि प्राणियों को बेचनेका व्यापार करते हों वे ब्राह्मण श्राद्धमें सत्कारके योग्य नहीं होते ॥ ८० ॥ जो पुरुष व्रत करनेवाले, गुणवान्, नित्य

क्रियावन्तस्ते श्राद्धे सत्कृतिक्षमाः ॥८१॥ श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्तं दधि घृतं तथा । दर्भाः सुमनसः क्षेत्रं तत्काले श्राद्धदो भवेत्॥८२ चारित्रनिरता राजन्कृशा ये कृशवृत्तयः । अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेभ्यो दत्तं महत्फलम् ॥८३॥ तपस्विनश्च ये विप्रास्तथा भैक्षचराश्च ये । अर्थिनः केचिदिच्छन्ति तेषां दत्तं महत्फलम्॥८४॥एवं धर्मभृतां श्रेष्ठ ज्ञात्वा सर्वात्मना तदा। श्रोत्रियाय दरिद्राय प्रयच्छानुपकारिणे ॥८५॥ दानं यत्ते प्रियं किंचिच्छ्रोत्रियाणां च यत्प्रियम् । तत्प्रयच्छस्व धर्मज्ञ यदीच्छसि तदक्षयम्॥८६॥निरयं ये च गच्छन्ति तच्छृणुष्व युधिष्ठिर॥८७॥गुर्वर्थं वा भयार्थं वा नोचेदन्यत्र पाण्डव । वदन्ति येऽनृतं विप्रास्ते वै निरयगामिनः ॥८८॥ परदारापहर्तारः

स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले हैं,गायत्रीको जाननेवाले और वेदोक्त कर्म करनेवाले हैं वे श्राद्धमें सत्कारके योग्य हैं ॥ ८१ ॥ जिस समय ब्राह्मण मिले, श्राद्धका समय हो, दही, घी, कुशा फूल और योग्य स्थान मिले उस समय श्राद्ध करे ॥ ८२ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष चरित्रवान् होकर दुर्बल,थोडी आजीविकावाले ब्राह्मण हों वे यदि याचना करनेको आवें तो उनको देनेसे बडा फल होता है ॥ ८३ ॥ जो ब्राह्मण तपस्वी हों, भिक्षा माँगनेवाले हों वे यदि याचना करनेकी इच्छासे आवें तो उनको देनेसे महाफल होता है ॥ ८४ ॥ हे धर्मज्ञानोंमें श्रेष्ठ ! इन सब बातोंको मनमें पूरी २ समझकर वेदपढे, निर्धन और उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको दान दे ॥ ८५ ॥ हे धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! जो कोई दान तुझे प्यारा हो और वेदवेत्ता ब्रह्मणोंको भी जो दान प्यारा हो ऐसा दान, यदि अक्षय करना चाहता हो तो दे ॥ ८६ ॥ हे पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर ! अब जो नरकमें जाते हैं उनकी बात तुम सुनो ॥ ८७ ॥ गुरुके सिवाय अथवा अपने प्राणोंके भयके सिवाय और अवसरों पर जो ब्राह्मण असत्य बोलता है वह नरक

परदाराभिमर्शकाः । परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥८९॥
सूचकाः सन्धिभेत्तारः परद्रव्योपजीविनः । वर्णाश्रमाणां ये बाह्याः
पाषण्डाश्चैव पापिनः । उपासते च तानेव ते सर्वे नरकालयाः ९१
वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः । वेदानां लेखकाश्चैव ते
वै निरयगामिनः ॥ ९२ ॥ रसविक्रयिणो राजन्विषविक्रयिणश्च
ते । क्षीरविक्रयिणश्चापि ते वै निरयगामिनः ॥ ९३ ॥ चाण्डाले-
भ्यश्च ये क्षीरं प्रयच्छन्ति नराधमाः । अर्थार्थमथवा स्नेहात्ते वै
निरयगामिनः ॥ ९४ ॥ पशूनां दमकाश्चैव तथा नासानु-
वेधकाः । पुंस्त्वहिंसाकराश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ ९५ ॥
अदातारः समर्था ये द्रव्याणां लोभकारणात् । दीनानन्धान्न

में पड़ना है॥८८॥जो परस्त्रीको लेकर भागजाते हैं, परस्त्री साथके व्यभिचार करते हैं तथा जो परस्त्रियोंको दूसरोंके साथ मिला देते हैं वे नरकमें पड़ते हैं ॥ ८९ ॥ चुगलखोर, घरकी भीत तोड़नेवाले चोर (कूपल लगानेवाले) पराये धनसे आजीविका करनेवाले तथा मित्रोंके कियेहुए उपकारको न जाननेवाले पुरुष नरकमें पड़ते हैं ॥ ९० ॥ जो वर्ण और आश्रमसे बाहर होगए हों, पाखण्डी हों, पापी हों और जो ऊपर कहे वर्गोंकी सेवा करनेवाले हों वे नरकमें पड़ते हैं ॥९१॥ रुपया लेकर वेद पढ़ाने वाले, वेदमें दोष लगानेवाले और वेदको लिखने वाले भी नरकमें पड़ते हैं ॥ ९२ ॥ हे राजन्! रस बेचनेवाले, विष बेचने वाले और दूध बेचने भी नरकमें पड़ते हैं॥९३॥ जो नीच मनुष्य चाण्डालोंको भी धनके लिये अथवा प्रेमवश दूध देते हैं वे नरकमें पड़ते हैं ॥९४॥ जो पशुओंको कैद करके वशमें रखते हैं, जो पशुओं की नाक बींधते हैं और जो पशुओंको वधिया करते हैं वे नरकमें पड़ते हैं ॥ ९५ ॥ जो दान देनेकी शक्ति रखते हुए भी धनके लोभके कारणसे दान नहीं देते हैं तथा दीनोंके ऊपर और अन्धों

पश्यन्ति ते वै निरयगामिनः ॥ ९६ ॥ क्षान्तान्दान्तान्कृशान्प्राज्ञान्दीर्घकालं सहोषितान् । त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥ ९७ ॥ बालानामपि वृद्धानां श्रान्तानां चापि ये नराः । अदत्त्वाऽश्नन्ति मृष्टान्नं ते वै निरयगामिनः ॥ ९८ ॥ एते पूर्वर्षिभिः प्रोक्ता नरा निरयगामिनः । ये स्वर्गं समनुप्राप्तास्ताञ्शृणुष्व युधिष्ठिर ९९ दानेन तपसा चैव सत्येन च दमेन च । ये धर्ममनुवर्तंते ते नराः स्वर्गगामिनः॥१००॥शुश्रूषयाऽप्युपाध्यायाच्छ्रु तमादाय पाण्डव । ये प्रतिग्रहनिस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १०१ ॥ मधुमांसासवेभ्यस्तु निवृत्ता व्रतवत्तु ये । परदारनिवृत्ता ये ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १०२ ॥ मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति च ये नराः। भ्रातृणामपि सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १०३ ॥ ये तु

के ऊपर दयादृष्टि नहीं करते हैं वे नरकमें पडते हैं ॥ ९६ ॥ चिर काल तक अपने साथ रहने वाले, क्षमावान जितेन्द्रिय, आजीविका शून्य बुद्धिमान पुरुषोंको जो त्यागदेते हैं तथा अपनेको कृतकृत्य मानते हैं वे नरकमें पडते हैं ।९७। जो बालकोंको, बूढोंको और थकेहुओंको दिये विना आपही मिष्टान्न खालेते हैं वे नरकमें पडते हैं ९८ ये मनुष्य नरकमें गिरनेवाले हैं, यह बात पुरातन ऋषियोंने कही है, हे युधिष्ठिर ! अब जो स्वर्गमें जाते हैं, उनके विषयमें सुनो ॥ ९९ ॥ जो दान देकर, तप करके, सत्य बोलकर और इन्द्रियोंको जीतकर धर्माचरण करते हैं वे स्वर्गमें जाते हैं ।१००। हे पांडव ! जो मनुष्य उपाध्यायकी सेवा करके उनसे शास्त्र पढते हैं और जिनका दान लेने पर स्नेह नहीं होता है वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ १०१ ॥ जो पुरुष मदिरा, मांस तथा आसव(घटिया मद्य) को त्यागकर व्रतधारीकेसा वर्त्ताव करता है और परस्त्रीसे बचा रहता है वह स्वर्गमें जाता है ॥१०२॥ जो मनुष्य माताकी और पिताकी सेवा करते हैं तथा भाइयोंकी भी स्नेहके साथ सेवा करते

भोजनकाले तु निर्यातश्चातिथिप्रियाः। द्वाररोधं न कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १०४ ॥ वैवाहिकं तु कन्यानां दरिद्राणां च ये नराः। कारयन्ति च कुर्वन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१०५॥ रसानामथ बीजानामोषधीनां तथैव च। दातारः श्रद्धयोपेतास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥१०६॥क्षेमाक्षेमं च मार्गेषु समानि विषमाणि च। अर्थिनां ये च वदयन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः १०७ पर्वद्वये चतुर्दश्यामष्टम्यां संध्ययोर्द्वयोः। आर्द्रायां जन्मनक्षत्रे विषुवे श्रवणेऽथवा॥ ये ग्राम्यधर्मविरतास्ते नराः स्वर्गगामिनः १०८ हव्यकव्यविधानं च नरकस्वर्गगामिनौ।धर्माधर्मौ च कथितौ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि१०९

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि कपिलाख्याने त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

है वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ १०३ ॥ जो पुरुष भोजनके समय घरमेंसे बाहर निकलकर अतिथिका सत्कार करते हैं, अतिथिके ऊपर प्रीति रखते हैं और अपनेद्वारको बन्द नहीं करते हैं वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ १०४ ॥ जो निर्धन मनुष्योंकी कन्याओंके विवाह करदेते हैं अथवा स्वयं विवाह लेते हैं वे स्वर्गमें जाते हैं ॥१०५॥ जो दाता पुरुष श्रद्धासे दूध आदि रसोंका दान करते हैं, बीजोंका दान करते हैं तथा औषधोंका दान करते हैं वे स्वर्गमें जाते हैं॥१०६॥ जो मनुष्य मार्गमें बूझनेवाले बटोहियोंको मङ्गल और अमङ्गलके समाचार देते हैं,अच्छी सड़क और खराब सड़क बता देते हैं वे स्वर्ग में जाते हैं।।१०७।।जो अमावस्या और पूर्णिमाके दिन तथा चौदस और अष्टमीके दिन प्रातःकालके समय और सायङ्कालके समय आर्द्रा नक्षत्रमें,अपने जन्म नक्षत्रके दिन, विषुव योग और श्रवण में स्त्रीसङ्ग नहीं करते हैं वे स्वर्गमें जाते हैं ॥ १०८ ॥ हव्यकी विधि, और कव्यकी विधि, स्वर्ग तथा नरकमें जानेवाले पुरुष, धर्म और अधर्म यह सब तुम्हें सुना दिया, बताओ अब क्या सुनना चाहते हो ? ॥१०९॥ एकसौ तीनवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०३ ॥

युधिष्ठिर उवाच । इदं मे तत्त्वतो देव वक्तुमर्हस्यशेषतः । हिंसा-
मकृत्वा यो मर्त्यो ब्रह्महत्यामवाप्नुयात् ॥ १ ॥ भगवानुवाच ।
ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थं वृत्तिकर्शितम् । ब्रूयान्नास्तीति यः
पश्चात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ २ ॥ मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचा-
नस्य भारत । वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ३ ॥
आश्रमे वाऽऽलये वापि ग्रामे वा नगरेऽपि वा । अग्निं यः प्रक्षि-
पेत्क्रुद्धस्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ४ ॥ गोकुलस्य तृषार्तस्य जलान्ते
वसुधाधिप । उत्पादयति यो विघ्नं तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ५ ॥
यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक्शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् । दूषयत्यनभि-
ज्ञाय तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ६ ॥ चक्षुषा वापि हीनस्य पङ्गोर्वाऽपि
जडस्य वा । हरेद्वै यस्तु सर्वस्वं तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ७ ॥ गुरुं

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे देव! मनुष्य विप्रकी हत्या विना किये ही ब्रह्महत्याके पापसे कैसे लिप्त होजाता है ? यह सब बात मुझे ठीक२ बताइये ॥१॥ भगवान्ने कहा, कि-जो पुरुष आजीविका-शून्य विप्रको स्वयं भिक्षाके लिए बुलाकर पीछे उससे कहता है, कि-मैं भिक्षा नहीं दूँगा, वह ब्रह्महत्यारा कहलाता है ॥ २ ॥ और हे भरतवंशी राजन्! जो विप्र मध्यस्थ रहता हो और संपूर्ण वेदोंका पढ़ा हुआ हो उसकी आजीविकाको जो दुष्टबुद्धि पुरुष छीन लेता है उसको ब्रह्महत्यारा कहते हैं ॥३॥ जो क्रोधमें भर आश्रममें, घरमें, ग्राममें वा नगरमें आग लगाता है उसको ब्रह्म हत्यारा कहते हैं ॥ ४ ॥ हे राजन्! जो मनुष्य गौओंकी टोली को और प्यासेको जलके समीपमें दिक करता है उसको लोग ब्रह्मघातकी कहते हैं ॥ ५ ॥ जो मनुष्य वेदको तथा मुनियोंके रचेहुए शास्त्रोंको समझे विना दोष लगाता है, उसको ब्रह्म-हत्यारा कहते हैं ॥ ६ ॥ जो अन्धेका, लँगड़ेका अथवा मूर्ख मनुष्यका सब धन हरलेता है उसको ब्रह्महत्यारा कहते हैं ॥७॥

त्वंकृत्य हुंकृत्य अतिक्रम्य च शासनम् । वर्त्तते यस्तु मूढात्मा तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ८ ॥ क्रोधाद्वा यदि वा द्वेषाद्वाक्कुप्रस्तर्जितोपि वा । ऋतौ स्त्रियं वा नोपैयात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ९ ॥ यात्रसारो भवेद्दीनस्तन्नाशे यस्य दुःस्थितिः । तत्सर्वस्वं हरेद्यो वै तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ १० ॥ युधिष्ठिर उवाच । सर्वपापविदानानां यत्तु दानं विशिष्यते । अभोज्यान्नाश्च ये विप्रास्तांश्चैवहि सुरोत्तम ॥ ११ ॥ भगवानुवाच । अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ब्रह्मपुरस्सराः । अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति ॥ १२ ॥ अन्नमूर्जस्करं लोके अन्नात्प्राणाः प्रतिष्ठिताः । अभोज्यान्नान्यथा राजन्वक्ष्यमाणान्निबोध मे ॥ १३ ॥ दीक्षितस्य कदर्यस्य

जो मूढात्मा मनुष्य गुरुको तू कहकर पुकारता है, उनके सामने हुं कहता है, उनकी आज्ञाको नहीं मानता है, उसको ब्रह्महत्यारा कहते हैं ॥ ८ ॥ जो मनुष्य क्रोधसे अथवा द्वेषसे अथवा स्त्रीके निन्दा या तिरस्कार करनेके कारणसे ऋतुकालमें स्त्रीके पास नहीं जाता है, उसको ब्रह्महत्यारा कहते हैं ॥ ९ ॥ जो पुरुष दुःखकी दशामें आपड़ेहुए मनुष्यका सर्वस्व हरलेता है और इस कारणसे उस दीन पुरुषकी दुर्दशा होजाती है, उसको ब्रह्महत्यारा कहते हैं ॥१०॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे देववर्य कृष्ण ! सब दानोंमें जो श्रेष्ठ दान हो उसको बताइये तथा जिन ब्राह्मणोंका अन्न खानेके योग्य न हो उनको भी बताइये ॥११॥ भगवान्‌ने कहा, कि—ब्रह्मादि देवता अन्नकी ही प्रशंसा करते हैं, अन्नदानकी समान दूसरा दान नहीं है और होगा भी नहीं १२ अन्न जगत्‌में बल देनेवाला है, अन्नमें ही प्राण रहते हैं, हे राजन् ! अब मैं तुमसे न खानेयोग्य अन्नके विषयमें कहता हूँ, उसको तुम मुझसे सुनो ॥ १३ ॥ यज्ञमें दीक्षा लेनेवालेका, कायरका, क्रोधीका, पापीका, शाप पायेहुएका, नपुंसकका

क्रुद्धस्य निकृतस्य च । अभिशप्तस्य षण्ढस्य पाकभेदकरस्य च ॥१४॥ चिकित्सकस्य दूतस्य तथा चोच्छिष्टभोजिनः । उग्रान्नं सूतकान्नं च शूद्रोच्छेषणमेव च ॥१५॥ द्विषदन्नं न भोक्तव्यं पतितान्नं च यच्छ्रुतम् । तथा च पिशुनस्यान्नं यज्ञविक्रयिणस्तथा १६ शैलूषं तन्तुवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च । अम्बष्ठकनिषादानां रङ्गावतरकस्य च ॥१७॥ सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा । सूनानां शौण्डिकानां च वैद्यस्य रजकस्य च ॥ १८ ॥ स्त्रीजितस्य नृशंसस्य तथा माहिषिकस्य च । अनिर्दशानां प्रेतानां गणिकानां तथैव च ॥ १९ ॥ वन्दिनो द्यूतकर्तुश्च तथा द्यूतविदामपि । परिवित्तस्य यच्चान्नं परिवेत्तुस्तथैव च ॥ २० ॥ यश्चाग्रदिधिषुर्विप्रो

भोजनमें भेद करने वालेका ॥ १४ ॥ वैद्यका, दूतका, जूठन खाने वालेका, क्षत्रियसे शूद्रामें उत्पन्न हुए मनुष्यका, सूतकीका, शूद्रके खानेसे बचाहुआ ॥ १५ ॥ शत्रुका अन्न, पतितका अन्न, चकरवा हुआ अन्न, चुगलखोरका अन्न और यज्ञका फल बेचनेवालेका अन्न न खाय ॥ १६ ॥ नटका अन्न, जुलाहेका अन्न, कृतघ्नका अन्न, ब्राह्मणसे वनैनीमें उत्पन्न हुए मनुष्यका, निषादका और नाटकमें बननेवालेका ॥ १७ ॥ सुनारका, बाँसफोड़का, शस्त्र बेचनेवालेका, गाडीवानोंका, मद्य बेचनेवालोंका, वैद्यका, धोबीका ॥ १८ ॥ स्त्रीके वशमें रहनेवालेका, क्रूरका, भैंसें चरानेवालेका, जिनको मरेहुए दश दिन न हुए हों ऐसे प्रेतोंका और वेश्याओंका ॥ १९ ॥ कैदीका, जुआ खेलनेवालेका तथा जुएको जाननेवालोंका भी, बड़े भाईका विवाह न होनेपर ही विवाह करलेने वाले छोटे भाईका और कुआरा रहनेवाले बड़े भाईका अन्न, बडी बहिनके अविवाहित होतेहुए छोटी बहिनके साथ विवाह करलेनेवालेका, बड़े भाईकी विधवा स्त्रीके साथ व्यभिचार करनेवालेका तथा राजाका अन्न

दिधिषूपपतिस्तथा । तयोरप्युभयोरन्नं राज्ञां चापि विवर्जयेत् २१
राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् । आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मविकृन्तिनः ॥ २२ ॥ गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकीर्तितम् । पूयं चिकित्सकस्यान्नं शुक्लं तु वृषलीपतेः २३
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् । तेषां त्वगस्थिरोमाणि भुङ्क्ते योऽन्नं तु भक्षयेत् ॥२४॥ अमत्यान्नमथैतेषां भुक्त्वा तु त्र्यहं क्षिपेत् । मत्या भुक्त्वा सकृद्वाऽपि प्राजापत्यं चरेद् द्विजः॥२५॥दानानां च फलं यद्वै शृणु पाण्डव तत्त्वतः । जलदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः ॥ २६ ॥ तिलदश्च प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् । भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः ॥ २७ ॥ गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ।

न खाय ॥ २०-२१ ॥ राजाका अन्न तेजका नाश करता है, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजका नाश करता है, सुनारका अन्न आयुका नाश करता है, मोचीका अन्न यशका नाश करता है, गणका (भण्डारेका) अन्न और वेश्याका अन्न लोकमें निन्दित कहा है, वैद्यका अन्न पीव और व्यभिचारिणीके पतिका अन्न वीर्य कहाता है ॥ २३ ॥ ब्याजखोरका अन्न विष्ठा कहा है, इसलिये उसको त्याग देय, जो मनुष्य इनका अन्न खाता है वह इनके चमड़े हड्डी और रोमोंको खाता है ॥२४॥ इसलिये इनका अन्न अनजानमें खाया हो तो तीन दिनतक उपवास करे और जान बूझकर एकबार भी खाया होय तो ब्राह्मणको प्राजापत्यका व्रत करना चाहिये ॥ २५ ॥ हे पाण्डव ! अब तुम दानोंके फलको ठीक२ सुनो, जलका दान करनेवाला तृप्ति पाता है, अन्न देनेवाला अक्षय सुख पाता है ॥ २६ ॥ तिल देनेवाला इच्छित सन्तान पाता है, दीपक देनेवाला उत्तम नेत्र पाता है, भूमि देनेवाला भूमि पाता है और सुवर्णका दान देनेवाला चिरायु पाता है ॥ २७ ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः ॥ २८ ॥ अनडुहः श्रियं जुष्टां गोदो गोलोकमश्नुते । यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ॥ २९ ॥ धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसाम्यताम् । सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ॥ ३० ॥ हिरण्यभूगवाश्वाजवस्त्रशय्यासनादिषु । योऽर्चितः प्रतिगृह्णाति दद्यादुचितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं च विपर्यये ॥ ३१ ॥ अनृतं न वदेद्विद्वांस्तपस्तप्त्वा न विस्मयेत् । नार्तोऽप्यभिभवेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ ३२ ॥ यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् । आयुर्विप्रावमानेन दानं तु परिकीर्तनात् ॥ ३३ ॥ एकः प्रजायते

घरका दान करनेवाला उत्तम प्रकारके घर पाता है, चाँदीका देने वाला उत्तम रूप पाता है, वस्त्र देनेवाला चन्द्रलोकमें जाता है और घोडा देनेवाला अश्विनीकुमारके लोकमें जाता है ॥ २८ ॥ बैल देनेवाला सेवा करनेवाली लक्ष्मीको पाता है, गौका दान करने वाला गोलोकमें जाता है, वाहन और शय्याका दान करनेवाला स्त्री पाता है और अभय देनेवाला ऐश्वर्य पाता है ॥२९॥ धान्य देनेवाला नित्य सुख पाता है, वेदका पुस्तक देनेवाला अथवा वेद पढ़ानेवाला पुरुष परब्रह्मको पाता है, क्योंकि–सब दानोंमें वेदका दान श्रेष्ठ कहलाता है ॥ ३० ॥ जो पुरुष सोना, पृथ्वी, गौ, बकरा, वस्त्र, शय्या और आसन आदि योग्य ब्राह्मणको पूजन करके देता है और जो पुरुष पूजा पाकर उस पदार्थको लेता है वे दोनों स्वर्गमें जाते हैं, परन्तु विपरीत दान देने और लेनेवाले दोनों नरकमें जाते हैं ॥३१॥ विद्वान् मनुष्यको मिथ्या नहीं बोलना चाहिये, तप करके गर्व न करे, अपने आप दुःख पाने पर भी ब्राह्मणोंका अपमान न करे और दान देकर कहे नहीं ॥३२॥ मिथ्या बोलनेसे यज्ञका फल नहीं मिलता है, गर्व करनेसे तपका फल नहीं मिलता है, ब्राह्मणका अपमान करनेसे

जन्तुरेक एव प्रमीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकश्चाप्नोति दुष्कृतम् ॥ ३४ ॥ मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुवर्त्तते ॥ ३५ ॥ अनागतानि कार्याणि कर्तुं गणयते मनः । शारीरकं समुद्दिश्य स्मयते नूनमन्तकः ३६ तस्माद्धर्मसहायस्तु धर्मं संचिनुयात्सदा । धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ३७ ॥ येषां तडागानि बहूदकानि सभाश्च कूपाश्च शुभाः प्रपाश्च । अन्नप्रदानं मधुरा च वाणी यमस्य ते निर्विषया भवन्ति ॥ ३८ ॥ चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥१०४॥

युधिष्ठिर उवाच । अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः । किं लक्षणोऽसौ भवति तन्मे ब्रूहि जनार्दन ॥१॥ भगवानुवाच । शृणु

आयुका नाश होता है ॥ ३३ ॥ प्राणी अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्यका फल भोगता है और अकेला ही पापका फल भोगता है ॥३४॥ मरण पायेहुए इसलिये ही काठ और मट्टीके ढलेकी समान शरीरको बान्धव, पृथिवी पर डालकर पीठ फेरकर चलेजाते हैं, उस समय धर्म ही प्राणीके पीछे२ जाता है॥३५॥मन न आयेहुए कामोंको गिना करता है और काल नाशवान् शरीरको देखकर गर्वमें होजाता है ॥ ३६ ॥ इसलिए मनुष्य सदा धर्मकी सहायताके लिए धर्मका संग्रह करे, क्योंकि-धर्मकी सहायतासे जीव दुस्तर अज्ञानान्धकार के पार होजाता है ॥३७॥ जिन्होंने बहुतसे जलसे भरे तालाब बनवाए हैं, सभास्थान (धर्मशालायें), सुन्दर कुए और पानी पिलानेके स्थान बनवाए हैं, जो अन्न देते हैं और मधुर वाणी बोलते हैं, उनको यमका दर्शन नहीं होता है ॥ ३८ ॥ एकसौ चारवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०४ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे जनार्दन ! विद्वान् धर्मको अनेकों प्रकारका और अनेकों द्वार वाला कहते हैं, उसमें धर्मका

राजन्समासेन धर्मशौचविधिक्रमम् । अहिंसाशौचमक्रोधमानृशंस्यं दमः शमः । आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ॥ २ ॥ ब्रह्मचर्यं तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम् । मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम् ॥ ३ ॥ बाल्ये विद्यां निषेवेत यौवने दारसंग्रहम् । वार्धके मौनमातिष्ठेत्सर्वदा धर्ममाचरेत् ॥४॥ ब्राह्मणान्नावमन्येत गुरून्परिवेदन्न च । यतीनामनुकूलः स्यादेष धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥ यतिर्गुरुर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः । पतिरेव गुरुः स्त्रीणां सर्वेषां पार्थिवो गुरुः ॥६॥ यद्गृहस्थार्जितं पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोपि वा । निर्दहिष्यति तत्सर्वमेकरात्रोषितो यतिः ॥ ७ ॥ दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा ज्ञानिनोऽज्ञानिनोपि वा ।

लक्षण क्या है वह मुझे बताइए ॥ १ ॥ भगवान्ने कहा, कि—हे राजन् ! तुम धर्म और शौचकी विधिको क्रमसे सुनो, हे राजेन्द्र ! अहिंसा, शौच (भीतरी और बाहरी शुद्धि), अक्रोध (क्षमा), दया, दम, शम और सरलता, यह धर्मका निश्चित स्वरूप है ॥ २ ॥ ब्रह्मचर्य, तप, क्षमा, मदिरा और मांसका त्याग, मर्यादामें रहना और शान्ति ये शौचके लक्षण हैं ॥३॥ बालकपनमें विद्या पढ़ना, जवानीमें स्त्रीके साथ विवाह करना और बुढ़ापेमें मुनिका आचरण करना (मौन रहना) इसप्रकार सर्वदा धर्मका आचरण करना चाहिए॥४॥ब्राह्मणोंका अपमान न करे, गुरुओंकी निन्दा न करे,संन्यासियोंके अनुकूल रहे, यह सनातन धर्म है ॥ ५ ॥ संन्यासी ब्राह्मणोंका गुरु है, ब्राह्मण चारों वर्णोंका गुरु है, पति अपनी स्त्रीका गुरु है और राजा सबका गुरु है ॥ ६ ॥ गृहस्थ जानकर या अनजानमें जो पाप करता है,उस सब पापको एक रात्रिके वाससे संन्यासी भस्म करदेता है ॥ ७ ॥ संन्यासी दुर्वृत्त हों या सदाचारी हों, ज्ञानी हों वा अज्ञानी, परन्तु परलोकमें हित चाहनेवाले गृहस्थोंको

गृहस्थैर्यतयः पूज्याः परत्र हितकांक्षिभिः ॥८॥ एकदण्डी त्रिदण्डी वा शिखी वा मुण्डितोपि वा । काषायदण्डधारोपि यतिः पूज्यो न संशयः ॥ ९ ॥ अपूजितो गृहस्थैर्वा तथा चाप्यवमानितः । यतिर्वाऽप्यतिथिर्वापि नरके पातयिष्यतः ॥१०॥ तस्मात्तु यत्नतः पूज्या मद्भक्ता मत्परायणाः । मयि संन्यस्तकर्माणः परत्र हित-कांक्षिभिः ॥ ११ ॥ प्रहरेन्न द्विजान् विप्रो गां न हन्यात्कदाचन । भ्रूणहत्यासमं चैव उभयं यो निषेवते ॥१२॥ नाग्निं मुखेनोपधमेन्न च पादौ प्रतापयेत् । नाधः कुर्यात्कदाचित्तु न पृष्ठं परितापयेत् १३ नान्तरा गमनं कुर्यान्न चामेध्यं विनिक्षिपेत् । उच्छिष्टो न स्पृशे-दग्निमाशौचस्थो न जातुचित् ॥ १४ ॥ श्वचण्डालादिभिः स्पृष्टो

उनका सत्कार करना चाहिए ॥ ८ ॥ एक दण्डधारी हो, तीन दण्डधारण करनेवाला हो, शिखावाला हो अथवा मुण्डी हो, अथवा भगवा वस्त्र धारण करनेवाला हो, चाहे जैसा संन्यासी हो उसकी पूजा करनी चाहिए ॥९॥ जो गृहस्थ अपने घर आए हुए संन्यासी की अथवा अतिथिकी पूजा नहीं करते हैं अथवा उनका अपमान करते हैं तो वे उन गृहस्थोंको नरकमें डालदेते हैं ॥ १० ॥ इसलिए मेरे भक्त, मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही सब कर्म समर्पण करनेवाले संन्यासियोंकी, परलोकमें हित चाहनेवाले गृहस्थोंको यत्नसे पूजा करनी चाहिए ॥११॥ द्विज ब्राह्मणके ऊपर प्रहार न करे तथा गौको भी कभी न मारे, ये दोनों काम भ्रूणहत्याकी समान हैं ॥१२॥ मुखसे अग्निको न फूंके, पैरों के तलुओंको अग्नि पर न तपावे, अग्निको पैरके नीचे न दबावे तथा अपनी पीठको भी अग्निसे न तपावे ॥१३॥ दो जगह अग्नि हों तो उनके मध्यमेंको न निकले, अग्निमें अपवित्र पदार्थ न डाले, जूठे मुख अग्निको न छुए तथा सूतकीको भी अग्निका स्पर्श कभी नहीं करना चाहिये ॥१४॥ कुत्ते चाण्डाल आदिसे स्पर्श होगया

नाङ्गमग्नौ प्रतापयेत् । सर्वदेवमयो वह्निस्तस्माच्छुद्धः सदा स्पृशेत् १५
मासमूत्रपुरीषस्तु न स्पृशेद्वह्निमात्मवान् । यावत्तु धारयेद्वेगं तावद-
प्रयतो भवेत् ॥१६॥ पचनाग्निं न गृह्णीयात्परवेश्मनि जातुचित् ।
तस्मिन्पक्वेन चान्नेन यत्कर्म कुरुते शुभम् ॥१७॥ तस्यैव तच्छुभ-
स्यार्धमग्निदस्य भवेन्नृप। तस्माद्गृहगतं वह्निं प्रकुर्यादविनाशितम् १८
प्रमादाद्यदि वाऽज्ञानात्तस्य नाशो भविष्यति । गृह्णीयात्तु मथित्वा
वा श्रोत्रियागारतोपि वा ॥१९॥ युधिष्ठिर उवाच । कीदृशाः साधवो
विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् । कीदृशेभ्यो हि दातव्यं तन्मे ब्रूहि
जनार्दन ॥ २० ॥ भगवानुवाच । अक्रोधनाः सत्यपरा धर्मनित्या
जितेन्द्रियाः । तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥२१॥

हो तब भी अग्निमें न तापे और उसको अधिक तेज भी न करे (चाहे अपने आप बुझजाय), अग्नि सर्वदेवतारूप है, इसलिये पुरुष शुद्ध होकर अग्निका स्पर्श करे ॥ १५ ॥ मल मूत्रका वेग होरहा हो तो समझदार मनुष्य अग्निका स्पर्श न करे, मनुष्य जबतक मल मूत्रके वेगको धारण करता है तबतक अपवित्र रहता है ॥ १६ ॥ हे राजन् ! भोजन बनानेके लिये दूसरेके घरसे अग्नि कभी न लावे, क्योंकि—दूसरेके घरकी अग्निसे राँधेहुए अन्नसे जो शुभकर्म कियाजाता है उस कर्मका आधा फल अग्नि देनेवाले को मिलता है, इसलिये अपने घरमें अग्नि प्रज्वलित रक्खे १७।१८ प्रमादसे अथवा अज्ञानसे अग्नि शान्त होजाय तो अरणीको मथकर अग्नि बनावे अथवा वेदपढे ब्राह्मणके घरसे लावे ॥१९॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे कृष्ण ! जिन ब्राह्मणोंको दान देनेमे महाफल मिलता है वे ब्राह्मण कैसे हैं और तुम मुझसे कैसे ब्राह्मणोंको दान देना कहते हो ? ॥ २० ॥ भगवान्ने कहा, कि—जो ब्राह्मण क्रोधरहित, सत्यवादी, सदा धर्मका पालन करने वाले और जितेन्द्रिय हों उनको साधु जानो, ऐसोंको दान देनेसे

अमानिनः सर्वसहा दृष्टार्था विजितेन्द्रियाः। सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ २२ ॥ अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः । स्वधर्मनिरता ये तु तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥ २३ ॥ साङ्गांश्च चतुरो वेदान्योधीयेत दिने दिने । शूद्रान्नं यस्य नो देहे तत्पात्रमृषयो विदुः ॥ २४ ॥ प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः । तारयेत्तत्कुलं सर्वमेकोपीह युधिष्ठिर ॥ २५ ॥ गामश्वमन्नं वित्तं वा तद्विधे प्रतिपादयेत् । निशम्य तु गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसंमतम् । दूरादाहृत्य सत्कृत्य तं प्रयत्नेन पूजयेत् ॥ २६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । धर्माधर्मविधिस्त्वेवं भीष्मेण संप्रभाषितम् । भीष्मवाक्यात्सारभूतं वद धर्मं सुरेश्वर ॥ २७ ॥ भगवानुवाच । अन्नेन

महाफल मिलता है ॥ २१ ॥ जो ब्राह्मण निरभिमान, सबको सहनेवाले, शास्त्रके सब अर्थोंको जानेहुए, जितेन्द्रिय, सब प्राणियोंका हित चाहनेवाले और सबोंके साथ मित्रता रखनेवाले हों उनको दान देनेसे महाफल मिलता है ॥ २२ ॥ जो ब्राह्मण निर्लोभ पवित्र, विद्यापढे लज्जाशील, सत्यवादी और अपने धर्ममें तत्पर हों उनको दान देनेसे महाफल होता है ॥ २३ ॥ जो ब्राह्मण प्रतिदिन अङ्गोंसहित चारों वेदोंका पाठ करता है और जिसके पेटमें शूद्रका अन्न नहीं पडा है उसको ऋषि पात्र जानते हैं ॥ २४ ॥ हे युधिष्ठिर ! बुद्धिमान् और शास्त्रपढा सदाचारी और शीलवान् एक ब्राह्मण भी कुलको तार देता है २५ इसलिये ऐसे ब्राह्मणको गौ, घोडा, अन्न और धन देय, कोई गुणवान् और सत्पुरुषोंका मान्य ब्राह्मण सुननेमें आवे तो उसको दूसरेसे भी बुलवाकर सत्कार करके उसकी प्रयत्नसे पूजा करे ॥ २६ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–भीष्मने धर्मकी और अधर्मकी विधि कही है, उन भीष्मके वाक्योंमेंसे हे सुरेश्वर ! साररूप धर्म कहिये ॥२७॥ भगवान्‌ने कहा, कि–स्थावर जङ्गम

धार्यते सर्वं जगदेतच्चराचरम् । अन्नात्प्रभवति प्राणः प्रत्यक्षं नास्ति संशयः ॥ २८ ॥ कलत्रं पीडयित्वा तु देशे काले च शक्तितः । दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥ २९ ॥ विप्रमध्वपरिश्रान्तं बालं वृद्धमथापि वा। अर्चयेद् गुरुवत्प्रीतो गृहस्थो गृहमागतम् ॥ ३० ॥ क्रोधमुत्पतितं हित्वा सुशीलो वीतमत्सरः । अर्चयेदतिथिं प्रीतः परत्र हितभूतये ॥ ३१ ॥ अतिथिं नावमन्येत नानृतां गिरमीरयेत् । न पृच्छेद्गोत्रचरणं नाधीतं वा कदाचन ३२ चण्डालो वा श्वपाको वा काले यः कश्चिदागतः । अन्नेन पूजनीयः स्यात्परत्र हितमिच्छता ॥३३॥ पिधाय तु गृहद्वारं भुङ्क्ते योऽन्नं प्रहृष्टवान् । स्वर्गद्वारपिधानं वै कृतं तेन युधिष्ठिर ॥३४॥ पितृन्दे-

---

सब जगत् अन्नके आधारपर टिकाहुआ है, अन्नसे प्रत्यक्षरूपमें प्राणोंकी उत्पत्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २८ ॥ अपना कल्याण चाहनेवाला पुरुष, (कुरुक्षेत्र आदि) देश और (संक्रान्ति आदि) कालको देखकर अपनी स्त्रीतकको कष्ट देकर (उसको थोडा अन्न देकर) भी भिक्षुकको अन्न देय ॥ २९ ॥ ब्राह्मण बालक हो चाहे बूढा हो, मार्गमें चलनेसे थकगया हो और वह अपने घर आजाय तो गृहस्थ प्रसन्न होकर उसकी गुरुकी समान पूजा करे ॥ ३० ॥ मनुष्य क्रोध और मत्सरताको त्यागकर परलोकमें हित और कल्याण चाहनेके लिये सुशीलताके साथ प्रसन्न होकर अतिथिकी पूजा करे ॥ ३१ ॥ गृहस्थ कभी भी अतिथिका अपमान न करे, झूठा वचन न बोले, उसका गोत्र और प्रवर न बूझे तथा उससे विद्या भी कभी न बूझे ॥ ३२ ॥ भोजनके समान चाण्डाल या श्वपाक अथवा चाहे कोई भी आवे तो परलोकमें हित चाहनेवाला उसको अन्न देकर सत्कार करे ॥ ३३ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो मनुष्य अपने घरका द्वार बन्द करके भोजन करता है और इससे प्रसन्न होता है वह अपने

वान्नृपीन्विप्रानतिथींश्च निराश्रयान् । यो नरः प्रीणयत्यन्नैस्तस्य पुण्यफलं महत् ॥३५॥ कृत्वा तु पापं बहुशो यो दद्यादन्नमर्थिने । ब्राह्मणाय विशेषेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥ अन्नदः प्राणदो लोके प्राणदः सर्वदो भवेत् । तस्मादन्नं विशेषेण दातव्यं भूतिमिच्छता॥३७॥अन्नं ह्यमृतमित्याहुरन्नं प्रजननं स्मृतम् । अन्नप्रणाशे सीदन्ति शरीरे पञ्च धातवः॥३८॥ बलं बलवतो नश्येदन्नहीनस्य देहिनः । तस्मादन्नं विशेषेण श्रद्धयाऽश्रद्धयापि वा ॥३९॥ आदत्ते हि रसं सर्वमादित्यः स्वगभस्तिभिः । वायुस्तस्मात्समादाय रसं मेघेषु धारयेत् ॥ ४० ॥ तत्तु मेघगतं भूमौ शक्रो वर्षति तादृशम् । तेन दिग्धा भवेद्देवी मही प्रीता च भारत ॥४१॥ तस्यां सस्यानि

लिये स्वर्गका द्वार बन्द करता है ॥ ३४ ॥ जो मनुष्य पितर, देवता, ऋषि, निराधार ब्राह्मण और अतिथियोंको अन्नसे प्रसन्न करता है, उसको पुण्यका बडा फल मिलता है ॥ ३५ ॥ जिस मनुष्यने बडाभारी पाप किया हो वह याचक ब्राह्मणको अन्नका दान देता है तो सब पापोंसे छूटजाता है ॥ ३६ ॥ जगत्में अन्न देनेवाला प्राणदाता कहलाता है और प्राणदाता सब कुछ देने वाला कहलाता है, इसलिये कल्याण चाहनेवालेको विशेष रूपसे अन्न देना चाहिये ॥३७॥ अन्नको अमृत कहते हैं तथा अन्नको प्रजा उत्पन्न करनेवाला कहा है. अन्न न खानेसे शरीरमेंके पाँच (महाभूतों) का नाश होजाता है ॥३८॥ बलवान् पुरुष भी अन्नका त्याग करदेय तो उसके बलका नाश होजाता है, इस लिये श्रद्धासे या अश्रद्धासे अन्न देना चाहिये ॥३९॥ सूर्य अपनी किरणोंसे पृथिवीमेंसे रसको खेंचलेता है और वायु सूर्यमेंसे उस रसको लेकर मेघमें पहुँचा देता है ॥ ४० ॥ फिर मेघमेंके उस जलको इन्द्र पृथिवी पर वरसाता है, हे भरतवंशी राजन् ! उस जलसे पृथिवी देवी भीगती है और प्रसन्न होती है ॥ ४१ ॥

रोहन्ति यैर्जीवन्त्यखिलाः प्रजाः । मांसमेदोस्थिमज्जानां संभवस्तेभ्य एव हि ॥४२॥ एवं सूर्यश्च पवनो मेघः शक्रस्तथैव च । एक एव स्थितो राशिर्यतो भूतानि जज्ञिरे ॥ ४३ ॥ भवनानि च दिव्यानि दिवि तेषां महात्मनाम् । नानासंस्थानि भूतानि नानाभूमिगतानि च ॥४४॥ चन्द्रमण्डलशुभ्राणि किङ्किणीजालवन्ति च । तरुणादित्यवर्णानि स्थावराणि चराणि च ॥४५॥ अनेकशतसङ्ख्यानि सान्तर्जलवनानि च । तत्र पुष्पफलोपेताः कामदाः सुरपादपाः ॥४६॥ वाप्यो वहुसभाः कूपा दीर्घिकाश्च सहस्रशः । भक्ष्यभोज्यमयाः शैला वासांस्याभरणानि च ॥ ४७ ॥ क्षीरं स्रवन्त्यः सरितस्तथा चैवान्नपर्वताः । घोषवन्ति च यानानि युक्तान्यथ सहस्रशः ॥४८॥

पृथिवीपर अन्न उगता है, अन्नसे सब प्रजा जीवित रहती हैं और उस प्रजामेंसे मांस, मेदा, हड्डी और मज्जाकी उत्पत्ति होती है ॥ ४२ ॥ इसप्रकार आकाशमें सूर्य, पवन, मेघ और इन्द्र एक समूहरूपसे रहते हैं और उनसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ४३ ॥ उन महात्मा पुरुषोंके आकाशमें दिव्य भवन हैं, उन भवनोंके आकार अनेकों प्रकारके हैं, उनमें अनेकों प्रकारके भूमियोंसे गएहुए प्राणी रहते हैं ॥ ४४ ॥ वे चन्द्रमाके मण्डलकी समान स्वेत रङ्गके हैं उनमें सोनेके घूँघरूओंवाले परदे हैं, वे उदय होतेहुए सूर्यकी समान कान्तिवाले हैं, तहाँ स्थावर और जङ्गम दोनों रूप हैं ॥ ४५ ॥ तहाँ हजारों और लाखों जलके तालाव तथा वन हैं, तहाँ फूलफलोंसे भरे और कामनाएँ पूरी करनेवाले देववृक्ष हैं ॥ ४६ ॥ हजारों वावडी सभास्थान, कुए और नहरें हैं, भक्ष्य और भोज्यरूप पदार्थोंके पहाड लगेहुए हैं, उत्तम वस्त्र, उत्तम आभूषण हैं ॥ ४७ ॥ और दूधकी नदियें हैं अन्नके पहाड हैं, घरघराहट करनेवाले हजारों वाहन हैं ॥४८॥

प्रासादप्रवराः शुभ्राः शय्याश्च कनकोज्ज्वलाः । अन्नदास्तत्र तिष्ठंति तस्मादन्नप्रदो भवेत् ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि अन्नदानप्रशंसने पंचाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

युधिष्ठिर उवाच । अन्नदानफलं श्रुत्वा प्रीतोस्मि मधुसूदन । भोजनस्य विधिं वक्तुं देवदेव त्वमर्हसि ॥ १ ॥ भगवानुवाच । भोजनस्य द्विजातीनां विधानं शृणु पाण्डव ! स्नातः शुचिः शुचौ देशे निर्जने हुतपावकः ॥ २ ॥ मण्डलं कारयित्वा च चतुरस्रं द्विजोत्तमः । क्षत्रियश्चेत्ततो वृत्तं वैश्योऽर्धेन्दुसमाकृतिम् ॥ ३ ॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जीयात्प्राङ्मुखश्चासने शुचौ । पादाभ्यां धरणीं स्पृष्ट्वा पादेनैकेन वा पुनः॥४॥नैकवासास्तु भुञ्जीयान्न चान्तर्धाय

उत्तम महल और सोनेके चमकते हुए तथा श्वेत रङ्गके पलङ्ग हैं, अन्नका दान देनेवाले पुरुष ऐसे लोकोंमें रहते हैं,इसलिये अन्नका दान देना चाहिये ॥ ४६ ॥ एक सौ पाँचवाँ अध्याय समाप्त १०५

युधिष्ठिरने बूझा कि–हे मधुसूदन ! मैं अन्नदानका फल सुन कर प्रसन्न हुआ हूँ, हे देवदेव ! अब आप भोजनकी विधि बताइये ॥ १ ॥ भगवान्‌ने कहा, कि–हे पाण्डव ! द्विजोंके भोजनकी विधि सुनिये, द्विजवर्णका पुरुष स्नान करके पवित्र होय, फिर अग्निमें होम करे, तदनन्तर मनुष्योंसे शून्य पवित्र एकान्त स्थानमें ॥ २ ॥ ब्राह्मण जलसे चौखूँटा मण्डल बनावे, क्षत्रिय गोल मण्डल बनावे और वैश्य अर्धचन्द्राकार मण्डल बनावे ॥ ३ ॥ फिर भोजन करनेवाला पैर धोकर पूर्व दिशाको मुख करके पवित्र आसन पर बैठ भोजन करे (भोजनके समय) दोनों पैरोंसे पृथिवीका स्पर्श करके (पलोथी मारकर) अथवा एक पैरसे पृथिवीका स्पर्श करके (एक पैर खडा रखकर) और एक पैर पृथिवीसे लगाकर भोजन करे ॥ ४ ॥ द्विज एक

वा द्विजः । न भिन्नपात्रे भुञ्जीत पर्णपृष्ठे तथैव च ॥ ५ ॥ अन्नं पूर्वं नमस्कुर्यात्प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।नान्यदालोकयेदन्नान्न जुगुप्सेत तत्पराः ॥६॥ जुगुप्सितं च यच्चान्नं राक्षसा एव भुञ्जते । पाणिना जलमुद्धृत्य कुर्यादन्नं प्रदक्षिणम् ॥७॥ अपेयं तद्विजानीयात्पीत्वा चान्द्रायणं चरेत् । परिवेषजलादन्यत्पेयमेव तु मन्त्रवत् ॥ ८ ॥ पञ्च प्राणाहुतीः कुर्यात्समन्त्रं तु पृथक्पृथक् ॥ ९ ॥ यथा रसं न जानाति जिह्वा प्राणाहुतौ नृप । तथा समाहितः कुर्यात्प्राणाहुतिमतन्द्रितः ॥ १० ॥ विदित्वाऽन्नमथान्नादं पञ्च प्राणांश्च पाण्डव । यः कुर्यादाहुतीः पञ्च तेनेष्टाः पञ्च वायवः ॥ ११ ॥ अतोऽन्यथा तु भुञ्जानो ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः । तेनान्नेनासुरान्प्रेतान्राक्षसांस्त-

---

वस्त्र पहर कर भोजन न करे, वस्त्र ओढ़कर भोजन न करे, फूटे पात्रमें न खाय तथा उलटी पत्तल पर भोजन न करे ॥ ५ ॥ भोजन करनेवाला मनको प्रसन्न रखकर पहले अन्नको प्रणाम करे, अन्नके सिवाय दूसरे पदार्थको न देखे और भोजन करते समय अन्नकी निन्दा न करे (भोजनमें स्वाद नहीं है ऐसा न कहे), यदि अन्नकी निन्दा कीजाती है तो उसको राक्षस खाते हैं, भोजन करनेवाला हाथमें जल लेकर उस जलसे अन्नकी प्रदक्षिणा करे७उस जलको पीने योग्य न समझे यदि उस जलको पीलेय तो चान्द्रायण व्रत करे,परोसनेके जलके सिवाय और जलको मंत्र पढ़कर पिये८फिर मंत्र पढकर पाँचों प्राणोंको अलग२ पाँच आहुतियें देय॥९॥हे राजन् ! प्राणाहुति देते समय,जिस प्रकार जीभ अन्नके रसको न जानने पावे उस प्रकार मनको वशमें रखकर और आलस्यरहित होकर प्राणाहुति देय ॥ १० ॥ हे राजन् ! जो पुरुष अन्नको, अन्न देनेवालेको तथा पाँच प्राणोंको यथार्थ रीतिसे जानकर पाँच आहुति देता है, समझलो,कि–उसने पाँच वायुका यजन करदिया ॥ ११ ॥ परन्तु जो मूर्ख ब्राह्मण इसके

परिवेषयेत् ॥ १२ ॥ चतुरङ्गुलमात्रं तु पिण्डं ग्रासं तु संस्मृतः । वक्त्राधिकं तु यत्पिण्डमात्मोच्छिष्टं तदुच्यते ॥ १३ ॥ पिण्डावशिष्टमन्यच्च वक्त्रान्निःसृतमेव च । अभोज्यं तद्विजानीयाद्भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१४॥ स्वमुच्छिष्टं तु यो भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते मुक्तभोजनम् । चान्द्रायणं चरेत्कृच्छ्रं प्राजापत्यमथापि वा ॥१५॥ स्त्रीपात्रभुङ्नरः पापः स्त्रीणामुच्छिष्टभुक्तथा । तथा सह च यो भुङ्क्ते स भुङ्क्ते मद्यमेव हि । न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः १६ पिबतः पतिते तोये भोजने मुखनिःसृते । अभोज्यं तद्विजानीयाद्भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७ ॥ पीतशेषं तु यत्तोयं न पेयं पाण्डुनन्दन । पिबेद्यदि हि तन्मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥१८॥

विरुद्ध भोजन करता है वह उस अन्नसे असुर प्रेत और राक्षसों को तृप्त करता है॥१२॥ मुखके अनुकूल एकर गोलाकार ग्रास लेवे, मुखसे बडा पिण्ड होता है तो वह ग्रास अपना उच्छिष्ट कहलाता है ॥१३॥ यदि ग्रासोंमेंसे शेष रहजाय या अन्न मुखमेंसे निकल पड़े तो उसको खानेके अयोग्य जाने, उसको खाने पर चान्द्रायण व्रत करे, ॥१४॥ जो मनुष्य अपना उच्छिष्ट खाता है और और जो मनुष्य भोजन करतेर उठकर हाथ धो डालता है और फिर भोजन करनेको बैठजाता है, उसको चान्द्रायण व्रत, कृच्छ्र व्रत अथवा प्राजापत्य व्रत करना चाहिये ॥ १५ ॥ जो मनुष्य स्त्रीके भोजन किये हुए पात्रमें भोजन करता है, जो स्त्रीकी जूठन खाता है, स्त्रीके साथ एक पात्रमें भोजन करता है वह मानो मद्यको भोजन करता है ॥१६॥ जल पीतेमें जो जल नीचे गिरता है और भोजन करतेमें जो अन्न मुखमेंसे नीचे गिरता है, इन दोनोंको न खाने योग्य जानो, उसको खाकर चान्द्रायण व्रत करे ॥ १७ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! जल पीतेमें जो जल बाकी रहजाय उसको न पिये; यदि अज्ञानवश उसको पीले तो द्विज को चान्द्रा-

पानीयानि पिबेद्येन तत्पात्रं द्विजसत्तमः । अनुच्छिष्टं भवेत्ता-
वद्यावद्भूमौ न निक्षिपेत् ॥ १६ ॥ मौनी वाऽप्यथवा भूमौ नाव-
लोक्य दिशस्तथा । भुञ्जीत विधिवद्विप्रो न चोच्छिष्टं प्रदापयेत् २०
सदा चात्यशनं नाद्यान्नातिहीनं च कर्हिचित् । यथाऽन्नेन व्यथा
न स्यात्तथा भुञ्जीत नित्यशः ॥ २१ ॥ उदक्यामपि चण्डालं
श्वानं सूकरमेव वा । भुञ्जानो यदि वा पश्येत्तदन्नं च परित्यजेत्
भुञ्जानो ह्यत्यजन्मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ २२ ॥ केशकीटो-
पपन्नं च मुखमारुतवीजितम् । अभोज्यं तद्विजानीयाद्भुक्त्वा
चान्द्रायणं चरेत् ॥ २३ ॥ उत्थाय च पुनः स्पृष्टं पादस्पृष्टं च
लङ्घितम् । अन्नं तद्राक्षसं विद्यात्तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २४ ॥

यण व्रत करना चाहिये ॥१८॥ उत्तम ब्राह्मण जिस पात्रसे जल पीता है वह पात्र जबतक भूमि पर नहीं रक्खाजाता है तबतक वह उच्छिष्ट नहीं माना जाता है ॥ १६ ॥ ब्राह्मण मौन रहकर दिशाओंकी ओरको तथा पृथिवीकी ओरको न देखता हुआ विधिके अनुसार भोजन करे और अपना उच्छिष्ट किसीको भी न देय ॥ २० ॥ अधिक भोजन कभी न करे तथा अधपेटा भोजन भी न करे, किन्तु नित्य ऐसा भोजन करे, कि जिसमें कष्ट न होय ॥ २१ ॥ भोजन करनेवाला भोजन करते समय रजस्वला स्त्री, चाण्डाल, कुत्ता अथवा सुअर दीखजाय तो उस भोजनको त्याग देय, यदि ब्राह्मण मोहवश न त्यागे तो चान्द्रायण करे २२। जिस अन्नमें बाल पड़ा हो, जिस अन्नमें कीड़े पड़गये हों, जिसको मुखसे फूक मारकर ठण्डा किया गया हो, उसको खानेके योग्य न समझे और यदि खालेय तो चान्द्रायण व्रत करे ॥ २३ ॥ भोजन करनेके बाद उठकर जिसको छूलिया हो, जो पैरसे छू गया हो, और जिसको उल्लङ्घन कियागया हो, उस अन्नको राक्षसी जाने और इसीलिये उसको त्याग देय ॥२४॥ जो विप

राक्षसोच्छिष्टभुग्विप्रः सप्त पूर्वान्परानपि । नरके रौरवे घोरे स पितॄन्पातयिष्यति ॥ २५ ॥ तस्मिन्नाचमनं कुर्याद्यस्मिन्पात्रे स भुक्तवान् । यद्युत्तिष्ठत्यनाचान्तो भुक्तवानासनात्ततः । स्नानं सद्यः प्रकुर्वीत सोन्यथाऽप्रयतो भवेत् ॥ २६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । तृणमुष्टिविधानञ्च तृणमाहात्म्यमेव च । इक्षोः सोमसमुद्भूतिं वक्तुमर्हसि मानद ॥२७॥ भगवानुवाच । पितरो वृषभा ज्ञेया गावो लोकस्य मातरः । तासां तु पूजया राजन्पूजिताः पितृदेवताः ॥२८॥ सभा प्रपा गृहाश्चापि देवतायतनानि च । शुद्धयन्ति शकृता यासां किं भूतमधिकं ततः ॥ २९ ॥ ग्रासमुष्टिं परगवे दद्यात्संवत्सरं तु यः । अकृत्वा स्वयमाहारं प्राप्नुयात्सार्वकालिकम् ॥ ३० ॥ गावो मे मातरः सर्वाः पितरश्चैव गोवृषाः । ग्रासमुष्टिं मया दत्तं प्रति-

---

राक्षसके जूठे किये हुए अन्नको खाता है वह अपने सात बीते हुए और सात आगेको होनेवाले वंशधरोंको रौरव नरकमें डालता है ॥ २५ ॥ भोजन करनेके बाद, जिस पात्रमें भोजन किया हो उस पात्रमें आचमन करे, यदि आचमन (कुल्ला) किये विना भोजन करनेवाला आसन परसे उठ बैठे तो तुरन्त स्नान करे, नहीं तो अपवित्र होजाता है ॥२६॥ युधिष्ठिरने कहा, कि हे मान देनेवाले कृष्ण तृणका पूला डालनेका विधान, तृणका माहात्म्य और चन्द्रमामेंसे इक्षुर (गन्ना) कैसे उत्पन्न होता है; यह बताइये॥२७॥भगवान्ने कहा, कि—पितरोंको वृषभ जाने और गौओंको लोकोंकी माता जाने, हे राजन् ! उनकी पूजा करनेसे पितरोंकी पूजा होती है ॥ २८ ॥ जिनके गोबरसे सभा, पौशाला, घर और देवमन्दिर शुद्ध होते हैं, उन गौओंसे बढ़कर और कौनसा प्राणी होगा ? ॥ २९ ॥ जो मनुष्य अपने भोजन करनेसे पहले एक वर्ष तक नित्य दूसरेकी गौको घासका पूला डालता है उसको सदा उसका पुण्यफल मिलता है ॥ ३० ॥(उस समय इस ३१वें

गृह्णीत मातरः ॥ ३१ ॥ इत्युक्त्वाऽनेन मन्त्रेण गायत्र्या वा समाहितः । अभिमन्त्र्य ग्रासमुष्टिं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३२ ॥ यत्कृतं दुष्कृतं तेन ज्ञानतोऽज्ञानतोपि वा । तस्य नश्यति तत्सर्वं दुःस्वप्नं च विनश्यति ॥ ३३ ॥ तिलाः पवित्राः पापघ्ना नारायणसमुद्भवाः । तिलाञ्श्राद्धे प्रशंसन्ति दानञ्चेदनुत्तमम् ॥ ३४ ॥ तिलान्दद्यात्तिलान्भक्षयात्तिलान्प्रातरुपस्पृशेत् । तिलं तिलमिति ब्रूयात्तिलाः पापहरा हि ते ॥ ३५ ॥ क्रीत्वा प्रतिगृहीत्वा वा न विक्रेया द्विजातिभिः । भोजनाभ्यञ्जनादानाद्योऽन्यत्तु कुरुते तिलैः । कृमिर्भूत्वा श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ३६ ॥ तिलान्न पीडयेद्विप्रो यन्त्रचक्रे स्वयं नृप । पीडयन् हि द्विजो मोहान्नरकं

श्लोकको पढे, जिसका अर्थ यह है, कि–) सब गौएँ मेरी माता हैं और सब वृषभ मेरे पिता हैं, हे गोमाताओं ! मेरे दिए घासके पूलेको ग्रहण करो ॥ ३१ ॥ यह मंत्र पढकर अथवा गायत्रीमंत्र को पढ उस घासके पूलेको पवित्र करके मनको स्थिरकर गौको खिलावे, इसके पुण्यको सुनो ॥३२॥ उसके जानकर या अनजानमें किये हुए सब पापका नाश होजाता है और उसको खोटे स्वप्न नहीं दीखते हैं ॥ ३३ ॥ तिल पवित्र हैं, पापका नाशक और नारायणसे उत्पन्न हुआ है, तिलकी श्राद्धमें प्रशंसा की है और तिलका दान बड़ा उत्तम माना जाता है ॥३४॥ तिलका दान देय, तिल खाय,प्रातःकालके समय तिल शरीरसे मले और तिल तिल ऐसा कहे, क्योंकि-तिल पापोंका नाश करते हैं।३५।विप्र तिल खरीद कर या दानमें लेकर फिर उनको वेचे नहीं,जो भोजन करना, शरीर पर मलना और दान करना इन तीन कामोंके सिवाय और रीतिसे तिलोंको काममें लाता है वह कीड़ा होकर अपने पितरों के सहित कुत्तेकी विष्ठामें डूबता है।३६।हे राजन् ! ब्राह्मण तिलों को घानीमें डालकर पेले नहीं,जो विप्र मोहवश तिलोंको कोल्हूमें

याति रौरवम् ॥२७॥ इक्षुवंशोद्भवः सोमः सोमवंशोद्भवा द्विजाः।
इक्षुदण्डसहस्राणामेकैकेन युधिष्ठिर। ब्रह्महत्यामवाप्नोति द्विजश्चे-
यन्त्रपीडकः। तस्मान्न पीडयेदिक्षु यन्त्रचक्रे द्विजोत्तमः॥२९॥
इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि
तिलमाहात्म्ये षडधिकशततमोऽध्यायः॥ १०६॥
युधिष्ठिर उवाच। समुच्चयं च धर्माणां भोज्याभोज्यं तथैव च।
श्रुतं मया त्वत्प्रसादादापद्धर्मं ब्रवीहि मे॥ १॥ भगवानुवाच।
दुर्भिक्षे राष्ट्रसंबाधेऽप्याशौचे मृतसूतके। ग्रीष्मकालेऽध्वनि तथा नियमो
येन लुप्यते॥ २॥ दूराध्वगमनात्खिन्नो द्विजालाभेऽथ शूद्रतः।
अकृतान्नं तु यत्किंचिद् गृह्णीयादात्मवृत्तये॥३॥ आतुरो दुःखितो
वाऽपि तथार्तो वा बुभुक्षितः। भुक्त्वान्नमविधिना विप्रः प्रायश्चित्ता-

डालकर पेलता है वह रौरव नरकमें पड़ता है॥२७॥ चन्द्रमा ईखके वंशमेंसे उत्पन्न हुआ है और ब्राह्मण चन्द्रमाके वंशमेंसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ब्राह्मणको ईख नहीं पेलनी चाहिये, जो ब्राह्मण ईखको पेलता है वह अपना नाश करता है॥ २८॥ हे युधिष्ठिर! ईखके हजारोंमेंसे एक २ गन्नेको कोल्हूमें पेलनेसे ब्राह्मणको ब्रह्महत्या लगती है, इसलिये ब्राह्मणको कोल्हूमें ईख नहीं पेलनी चाहिये॥ २९॥ एकसौ छठवाँ अध्याय समाप्त॥ १०६॥

युधिष्ठिरने पूछा, कि-हे कृष्ण! धर्मोंका संग्रह भोज्य तथा अभोज्य पदार्थ, इन बातोंको मैंने आपकी कृपासे सुनलिया, अब मुझे आपत्तिकालके धर्म सुनाइये॥ १॥ भगवान्‌ने कहा, कि-दुष्काल पड़रहा हो, राज्यके ऊपर आपत्ति आई हो, मृतसूतक हो, गरमीके दिन हों और इससे मार्गमें नियम नहीं बनता हो, दूरका मार्ग चलनेसे थकगया हो और उस समय ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य जातिका कोई मनुष्य न मिले तो अपने निर्वाहके लिये शूद्रसे कुछ कच्चा अन्न लेलेय॥ २॥ ३॥ ब्राह्मण आतुर,

यते न च ॥ ४ ॥ निमन्त्रितस्तु यो विप्रो विधिवद्दव्यकव्ययोः।
मांसादीन्यपि भुञ्जानः प्रायश्चित्तीयते न च ॥ ५ ॥ अष्टौ
तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं घृतं पयः। हविर्ब्राह्मणकाम्या च
गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ६ ॥ अशक्तो विधिवत्कर्तुं प्रायश्चित्तानि यो
नरः। विदुषां वचनेनापि दानेनापि विशुद्ध्यति ॥ ७ ॥ अनृता-
वृतुकाले वा दिवा रात्रौ तथाऽपि वा। प्रोषितस्तु स्त्रियं गच्छे-
त्प्रायश्चित्तीयते न च ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर उवाच। प्रशस्याः कीदृशा
विप्रा निन्द्याश्चापि सुरेश्वर। अष्टकायांश्च कः कालस्तन्मे कथय
सुव्रत ॥ ९ ॥ भगवानुवाच। सत्यसन्धं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाद्वेपति
भास्करः। एष मे मण्डलं भित्त्वा याति ब्रह्म सनातनम् ॥ १० ॥

दुःखी, रोगसे पीडित और बुभुक्षित होनेके समय विधिको त्याग
कर भोजन करता है तो भी उसको प्रायश्चित्त नहीं लगता है ॥४॥
जिस ब्राह्मणको यज्ञमें वा श्राद्धमें निमन्त्रण दियागया हो और
ब्राह्मण वहाँ मांस आदि खालेय तो भी प्रायश्चित्त नहीं लगता
है (यह आपद्धर्म है) ॥ ५ ॥ जल, कन्द, घी, दूध, हविष्य,
ब्राह्मणकी इच्छा, गुरुका वचन और औषध इनसे व्रत (नियम)
भङ्ग नहीं होता है ॥ ६ ॥ जो मनुष्य विधिपूर्वक प्रायश्चित्त न
करसकता हो, वह ब्राह्मणोंके वचनसे तथा दान देकर भी शुद्ध
होसकता है ॥ ७ ॥ परदेशसे आया हुआ मनुष्य ऋतुकालमें
अथवा ऋतुकालसे अन्य समयमें, दिनमें तथा रातमें भी स्त्रीके
साथ समागम करनेसे प्रायश्चित्ती नहीं होता है ॥ ८ ॥ युधि-
ष्ठिरने बूझा, कि-हे सुरेश्वर! कैसे ब्राह्मण प्रशंसाके योग्य होते
हैं और कैसे ब्राह्मण निन्दाके पात्र मानेजाते हैं तथा अष्टका
श्राद्धका कौनसा समय है? हे सुव्रत! यह मुझे बताइये ॥ ९ ॥
भगवान्ने कहा, कि-सूर्य सत्यप्रतिज्ञावाले ब्राह्मणको देखकर
अपने स्थान पर काँप उठता है, कि-यह मेरे मण्डलको भेदकर

कुलीनः कर्मकृद्वैद्यस्तथा चाप्यानृशंस्यवान् । श्रीमानृजुः सत्यवादी पात्राः सर्वे इमे द्विजाः ॥ ११ ॥ एते चाग्रासनस्थास्ते भुञ्जानाः प्रथमं द्विजाः । तस्यां पङ्क्त्यां तु ये चान्ये तान्पुनन्त्येव दर्शनात् ॥१२॥ मद्भक्ता ये द्विजश्रेष्ठा मद्भक्ता मत्परायणाः । तान्पङ्क्तिपावनान्विद्धि पूज्यांश्चैव विशेषतः ॥ १३ ॥ निन्द्याञ्शृणु द्विजान्राजन्नपि वा वेदपारगान् । ब्राह्मणाञ्छद्मना लोके चरतः पापकारिणः ॥ १४ ॥ अनग्निरनधीयानः प्रतिग्रहरुचिस्तु यः । यतस्ततस्तु भुञ्जानस्तं विद्याद्व्रह्मदूषकम् ॥१५॥ मृतसूतकपुष्टाङ्गो यश्च शूद्रान्नभुग्द्विजः । अहं चापि न जानामि गतिं तस्य नराधिप ॥ १६ ॥ शूद्रान्नरसपुष्टाङ्गोऽप्यधीयानो हि नित्यशः । जपतो

सनातन ब्रह्ममें जापहुँचेगा ॥ १० ॥ कुलीन, वेदोक्त कर्म करने वाले, वेदविद्याको पढ़े हुए, दयालु, श्रीमान्, सरल और सत्यवादी ये सब ब्राह्मण पात्र मानेजाते हैं ॥ ११ ॥ ये ब्राह्मण आगेके स्थानमें बैठकर सबसे पहले भोजन करते हैं और पंक्ति में जो दूसरे ब्राह्मण बैठे होते हैं,उनको दर्शन देकर पवित्र करते हैं ॥१२॥ जो श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे भक्त हों मेरे ऊपर प्रीति रखते हों, उनको पंक्तिपावन और विशेषकर पूजनीय जानो ॥ १३ ॥ हे राजन् ! अब तुम मुझसे वेदके पारङ्गत होने पर भी निन्दनीय, ब्राह्मणोंको सुनो जो ब्राह्मण जगत्में कपटसे व्यवहार करते हैं और पापकर्म करनेवाले हैं, उनको निन्दाका पात्र जानो ॥ १४ ॥ जो अग्निहोत्री न हो, वेदाध्ययन न करता हो, जो दान लेनेको ललचाता हो तथा चाहे तहाँ भोजन करता हो उसको निन्दाका पात्रमानो ॥ १५ ॥ जिस ब्राह्मणका शरीर मृतसूतकका अन्न खाकर पुष्ट हुआ हो, जिसकी आजीविका शूद्रसे हो, उसकी क्या गति होती है, इस बातको मैं भी नहीं जानता ॥ १६ ॥ नित्य शूद्रका अन्न खानेसे जिसका शरीर

जुह्वतो वाऽपि गतिरूर्ध्वं न विद्यते ॥१७॥ आहिताग्निश्च यो विप्रः शूद्रान्नान्न निवर्तते । पञ्च तस्य प्रणश्यन्ति आत्मा ब्रह्म त्रयोऽग्नयः ॥ १८ ॥ शूद्रप्रेषणकर्तुश्च ब्राह्मणस्य विशेषतः । भूमावन्नं प्रदातव्यं श्वशृगालसमो हि सः ॥ १९ ॥ प्रेतभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः । अनुगच्छेन्नीयमानं त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥२०॥ त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम् । प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ २१ ॥ अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजोत्तमाः । पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं ते प्राप्नुवन्ति हि ॥ २२ ॥ न तेषामशुभं किञ्चित्पापं वा शुभकर्मणाम् । जलावगाहनादेव सद्यः शौचं विधीयते ॥ २३ ॥ शूद्रवेश्मनि विप्रेण क्षीरं वा यदि वा दधि । निवृत्तेन न भोक्तव्यं विद्धि शूद्रान्नमेव

पुष्ट हुआ हो, वह यदि वेदका अध्ययन करनेवाला हो,जप करता हो अथवा होम करता हो तो भी उच्च गति नहीं पाता है ७जो ब्राह्मण अग्निहोत्री हो, परंतु शूद्रके अन्नसे न बचता हो तो उसका आत्मा, वेदाध्ययन और तीनों अग्नियें इन पाँचोंका नाश हो जाता है ॥ १८ शूद्रकी सेवा करनेवाले ब्राह्मणको विशेषकर भूमिमें अन्न देय, क्योंकि-वह कुत्ते और गीदडकी समान है१९ जो मूर्ख ब्राह्मण मरेहुए शूद्रके प्रेतके पीछे २ जाता है उसको तीन रातका सूतक लगता है २० ॥ वह ब्राह्मण तीन रात बीत जाने पर समुद्रमें मिलनेवाली नदी पर जाकर सौ प्राणायाम करके घीका प्राशन करने पर शुद्ध होता है ॥ २१ ॥ जो श्रेष्ठ ब्राह्मण अनाथ ब्राह्मणके शवको उठाकर श्मशानमें लेजाते हैं उनको हर एक पग पर अश्वमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ २२ ॥ उन शुभ कर्म करनेवालोंको जरा भी पाप नहीं लगता है; वे जलमें स्नान करनेसे तुरंत शुद्ध होजाते हैं ॥ २३ ॥ संसारसे विरक्त हुए ब्राह्मणको शूद्रके घर दूध, दही और घी भी नहीं खाना

तत् ॥ २४ ॥ विप्राणां भोक्तुकामानामत्यन्तं चान्नकाङ्क्षिणाम् ।
यो विघ्नं कुरुते मर्त्यस्ततो नान्योऽस्ति पापकृत् ॥ २५ ॥ सर्वे च
वेदाः सह षड्भिरङ्गैः सांख्यं पुराणञ्च कुले च जन्म। नैतानि सर्वाणि
गतिर्भवन्ति शीलव्यपेतस्य नृप द्विजस्य ॥ २६ ॥ ग्रहोपरागे विषुवे-
ऽयनान्ते पित्र्ये मघासु स्वसुते च जाते । गयेषु पिण्डेषु च पाण्डु-
पुत्र दत्तं भवेन्निष्कसहस्रतुल्यम् ॥२७॥ वैशाखमासस्य तु या तृतीया
ऽनवद्यासौ कार्त्तिकशुक्लपक्षे । नभस्य मासस्य च कृष्णपक्षे त्रयो-
दशी पञ्चदशी च माघे ॥ २८ ॥ उपप्लवे चन्द्रमसो रवेश्च श्राद्धस्य
कालो ह्ययनद्वये च। पानीयमप्यत्र तिलैर्विमिश्रं दद्यात्पितृभ्यः प्रयतो
मनुष्यः ।श्राद्धं कृतं तेन समा सहस्रं रहस्यमेतत्पितरो वदन्ति ॥२९॥

चाहिये, क्योंकि-वह शूद्रके अन्नकी समान ही है ॥ २४ ॥ भोजनकी और अन्नकी अत्यन्त इच्छावाले ब्राह्मणोंके भोजनमें जो मनुष्य विघ्न डालता है, उससे अधिक पापी दूसरा कोई नहीं है ॥ २५ ॥ हे राजन् ! चारों वेद, उनके छहों अङ्ग और सांख्य पुराण आदिका अध्ययन तथा उत्तम कुलमें जन्म ये सब शीलहीन ब्राह्मणको परलोकमें गति नहीं देते हैं ॥ २६ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! ग्रहणके समय, विषुवयोगमें, उत्तरायण और दक्षिणायनके अंतिमभागमें पितृकर्ममें, मघा नक्षत्रमें, पुत्रका जन्म होनेपर और गयामें पिण्ड देते समय जो दान दिया जाता है वह एक हजार सुवर्णमुद्राकी समान होता है ॥२७॥ वैशाख मासकी तीज, कार्त्तिकके शुक्लपक्षकी तीज, भादोंके कृष्णपक्षकी तेरस, माघमासकी पूर्णिमा ॥ २८ ॥ चन्द्रमा और सूर्यका ग्रहण, उत्तरायण और दक्षिणायनके आरम्भके दिन यह श्राद्धका समय है, इन दिनोंमें मनुष्य सावधान होकर पितरोंको तिलोंसे मिलाहुआ जल देता है तो मानो उसने सौ वर्षतक श्राद्ध कर दिया, यह गुप्त बात पितर कहते हैं ॥ २९ ॥ जो मनुष्य स्नेहके

यस्त्वेकपंक्त्यां विषमं ददाति स्नेहाद्भयाद्वा यदि वाऽर्थहेतोः। क्रूरं दुराचारमनात्मवन्तं ब्रह्मघ्नमेनं कवयो वदन्ति ॥ ३० ॥ धनानि येषां विपुलानि सन्ति नित्यं रमंते परलोकमूढाः। तेषामयं शत्रुवरघ्न लोको नान्यत्सुखं देहसुखे रतानाम् ॥ ३१ ॥ ये चैव मुक्तास्तपसि प्रयुक्ताः स्वाध्यायशीला जरयंति देहम्। जितेंद्रिया भूतहिते निविष्टास्तेषामसौ चापि परश्च लोकः ॥ ३२ ॥ ये चैव विद्यां न तपो न दानं न चापि मूढाः प्रजने यतंते। न चापि गच्छंति सुखानि भोगांस्तेषामयं चापि परश्च नास्ति ॥ ३३ ॥ युधिष्ठिर उवाच। नारायण पुराणेश लोकावास नमोऽस्तु ते। श्रोतुमिच्छामि कात्स्न्र्येन

कारण, भयके कारण अथवा धनके लिये एक पंक्तिमें बैठेहुए पुरुषोंमें अन्न परोसनेमें भेद करता है उस क्रूर, दुराचारी और मनको वशमें न रखनेवाले मनुष्यको विद्वान् ब्रह्महत्यारा कहते हैं ॥ ३० ॥ जिन मनुष्योंके पास बहुतसा धन है और जो पर-लोकके विषयमें कुछ भी नहीं जानते,किन्तु नित्य स्त्रियोंके साथ विलास किया करते हैं, हे बड़े २ शत्रुओंको मारनेवाले राजन्! उनके इस लोकमें ही जन्म मरण हुआ करते हैं, शरीरके सुखमें गलतान रहने वाले उन मनुष्योंको दूसरा (पारलौकिक) सुख नहीं मिलता है ॥ ३१ ॥ जो संसारके विषयोंमें आसक्त नहीं होते, तपस्या करते हैं. सदा वेदका स्वाध्याय करते हैं, इसप्रकार शरीरको दुर्बल करदेते हैं, जितेन्द्रिय रहतेहुए प्राणियोंके हितमें चित्त लगाते हैं, उनको इसलोकमें और परलोकमें भी सुख मिलता है ॥ ३२ ॥ परन्तु जो मूढ मनुष्य आत्मविद्याका अध्ययन नहीं करते, तप नहीं करते, दान नहीं करते, धर्मके अनुसार विवाह करके सन्तान उत्पन्न करनेका उद्योग नहीं करते ऐसे मनुष्योंको इस लोकमें भी सुख और भोग नहीं मिलते तथा परलोकमें भी सुख और भोग नहीं मिलते ॥ ३३ ॥ युधि-

धर्मसारसमुच्चयम् ॥ ३४ ॥ भगवानुवाच । धर्मसारं महाप्राज्ञ मनुना प्रोक्तमादितः । प्रवक्ष्यामि मनुप्रोक्तं पौराणं श्रुतिसंहितम् ॥ ३५ ॥ अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः । दृष्टमात्रात्पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत तान्सदा ॥ ३६ ॥ गौरेकस्यैव दातव्या न बहूनां युधिष्ठिर । सा गौर्विक्रयमापन्ना दहत्यासप्तमं कुलम् ॥ ३७ ॥ बहूनां न प्रदातव्या गौर्वस्त्रं शयनं स्त्रियः । तादृग्भूतं तु तद्दानं दातारं नोपतिष्ठति ॥३८॥ आक्रम्य ब्राह्मणैर्भुक्तमनार्याणां च वेश्मनि । गोभिश्च पुण्यं तत्तेषां राजसूयाद्विशिष्यते ॥ ३९ ॥ मा ददातीति यो ब्रूयाद् ब्राह्मणेषु च गोषु च । तिर्यग्योनिशतं गत्वा चण्डालेषू-

ष्ठिरने कहा, कि–हे नारायण ! हे पुराणेश ! हे लोकनिवास ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ और आपसे धर्मका सारसंग्रह पूर्णरीतिसे सुनना चाहता हूँ ॥ ३४ ॥ भगवान्ने कहा, कि–हे महाबुद्धिमान् ! मनुने सृष्टिके आरम्भमें धर्मका सार कहा है, उस मनुके कहेहुए वेदसंगत प्राचीनोंके धर्मको कहूँगा ॥ ३५ ॥ चयन याग, कपिला गौ, यज्ञ करनेवाला, राजा, संन्यासी और महासागर ये सब दर्शन करनेसे ही मनुष्योंको तृप्त करदेते हैं, इसलिये इनका सदा दर्शन करना चाहिये ॥३६॥ हे युधिष्ठिर! एकको ही गौका दान देय, बहुतसोंको न देय, गौको बेच देनेपर वह कुलके सात पुरुषोंको भस्म करदेती है ॥ ३७ ॥ गौ, वस्त्र, शय्या और स्त्रियें दान करके बहुतसोंको न देय, किन्तु एकको ही देय, क्योंकि–बहुतसोंको दियाहुआ यह दान दाताको नहीं पहुँचता है ॥ ३८ ॥ अनार्य (नीच) के घरमें पहुँचकर ब्राह्मण और [illegible] बलात्कारसे उसके पदार्थोंको खाते हैं तो अनार्योंको राजसूय यज्ञसे भी अधिक पुण्यफल मिलता है ॥ ३९ ॥ जो मनुष्य ऐसा कहता है, कि-" ब्राह्मणोंको और गौओंको अन्न न दो" वह मनुष्य सैंकडो पक्षियोंकी योनियोंमें जन्म लेकर फिर

पजायते ॥ ४० ॥ ब्राह्मणस्वं च यद्देवं दरिद्रस्यैव यद्धनम् । गुरोश्चापि हृतं राजन्स्वर्गस्थानपि पातयेत् ॥ ४१ ॥ धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः । द्वितीयं धर्मशास्त्राणि तृतीयं लोकसंग्रहः ॥४२॥ आसमुद्राच्च यत्पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात् । हिमाद्रिविन्ध्ययोर्मध्यमार्यावर्तं प्रचक्षते ॥ ४३ ॥ सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तद्देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥ ४४ ॥ यस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः । वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ ४५ ॥ कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनयः । एते ब्रह्मर्षिदेशास्तु ब्रह्मावर्तादनन्तराः ॥ ४६ ॥ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं चरित्रं च गृह्णीयुः पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ ४७ ॥ हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विशसनादपि ।

चण्डालोंमें जन्म पाता है ॥ ४० ॥ ब्राह्मणका धन, देवताका धन, दरिद्रका धन और गुरुका धन यदि छीन लियाजाय तो हे राजन् ! वह स्वर्गवासियोंको भी गिरादेता है ॥ ४१ ॥ धर्मको जानना चाहनेवालोंके लिये वेद मुख्य प्रमाण है, दूसरा प्रमाण धर्मशास्त्र और तीसरा प्रमाण लोकाचार है ॥४२॥ पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तकके देशको तथा हिमालय और विन्ध्याचलके मध्यके देशको आर्यावर्त्त कहते हैं ॥ ४३ ॥ देवताओंकी नदी सरस्वती तथा गण्डकी इन दोनोंके मध्यमें देवताओंके बनायेहुए देशको ब्रह्मावर्त्त कहते हैं ॥ ४४ ॥ देशमें चारों वर्णोंका और वर्णसङ्करोंका जो आचार (रहनसहन) परम्परासे चलाआता हो वह सदाचार कहलाता है ॥ ४५ ॥ कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन यह ब्रह्मर्षि देश कहलाता है और यह ब्रह्मावर्त्तसे मिला हुआ ही है ॥ ४६ ॥ इस देशमें जन्म लेनेवाले ब्राह्मणसे भूमण्डल परके सब मनुष्योंको अपना२ चरित्र सीखना चाहिये ४७ हिमालय और विन्ध्याचलके मध्यका तथा सरस्वती नदीके पूर्वकी

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ ४८ ॥ कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः । स ज्ञेयो याज्ञिको देशो म्लेच्छदेशस्ततः परम् ॥ ४९ ॥ एतान्विज्ञाय देशांस्तु संश्रयेरन्द्विजातयः । शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः ॥ ५० ॥ आचारः प्रथमो धर्मो ह्यहिंसा सत्यमेव च । दानं चैव यथाशक्ति नियमाश्च यमैः सह ॥५१॥ वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ ५२ ॥ गर्भहोमैर्जातकर्म नामचौलोपनायनैः । स्वाध्यायैस्तद्व्रतैश्चैव विवाहस्नानकव्रतैः । महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ ५३ ॥ धर्मार्थौ यदि न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा । क्रिया तस्मिन्न कर्तव्या शुभं

ओरका देश तथा प्रयागसे पश्चिमकी ओरका देश मध्यदेश कहा गया है ॥ ४८ ॥ जिस देशमें स्वाभाविक रीतिसे काला हिरन घूमता है उस देशको यज्ञ करनेका देश जानो और इससे अन्य देशको म्लेच्छ देश समझो ॥४९॥ ब्राह्मण इन देशोंको जानकर इनमें निवास करें और यदि शूद्रकी आजीविका न चलती हो तो वह चाहे जिस देशमें निवास करे ॥ ५० ॥ आचार, अहिंसा, सत्य यथाशक्ति दान, यमोंके साथ नियम यह मुख्य धर्म है ५१ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गर्भाधानसे लेकर शरीरके सोलह संस्कार पवित्र वैदिककर्मोंसे करें, क्योंकि-ये संस्कार इस लोकमें और परलोकमें पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५२ ॥ गर्भाधानकी होमविधिसे, जातकर्मसे, नामकरणसे, चूडाकर्मसे, उपनयन संस्कारसे, वेदका स्वाध्याय करनेसे, स्वाध्यायके लिये वेदका व्रत करनेसे, विवाह संस्कारसे, स्नातकके व्रतोंसे, पंचमहायज्ञोंके करनेसे तथा ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके करनेसे यह शरीर परब्रह्मकी प्राप्तिके योग्य होजाता है ॥ ५३ ॥ यदि धर्म और अर्थका लाभ न होता हो अथवा विद्याके अनुकूल सेवा भी न होती हो तो ऊसर पृथ्वी

बीजमिवोषरे ॥ ५४ ॥ लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽध्यात्मिकमेव वा । यस्माज्ज्ञानमिदं प्राप्तं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ५५ ॥ सव्येन सव्यं संगृह्य दक्षिणेन तु दक्षिणम् । न कुर्यादेकहस्तेन गुरोः पादाभिवादनम् ॥५६॥ निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि । अध्यापयति चैवैनं स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ ५७ ॥ कृत्वोपनयनं वेदान्योऽध्यापयति नित्यशः । सकल्पान्सरहस्यांश्च स चोपाध्याय उच्यते ॥ ५८ ॥ साङ्गांश्च वेदानध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च । विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते ॥५९॥ उपाध्यायाद्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । पितुः शतगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ ६० ॥ एतेषामपि सर्वेषां गरीयाञ्ज्ञानदो गुरुः । गुरोः परतरं किंचिन्न भूतं न भविष्यति ॥६१॥ तस्मात्तेषां वशे

में उत्तम बीज बोनेकी समान उस मनुष्यको विद्या न पढावे ॥ ५४ ॥ जिससे लौकिक, वैदिक या आत्माका ज्ञान पाया हो उसको पहले प्रणाम करे ॥५५॥ अपने बायें हाथसे गुरुके बायें चरणका स्पर्श करे और दाहिने हाथसे दाहिने चरणका स्पर्श करे, परन्तु एक हाथसे गुरुके चरणोंमें प्रणाम न करे ॥ ५६ ॥ जो पुरुष विधिपूर्वक गर्भाधान आदि संस्कार कराता है और इस बालकको वेद पढ़ाता है वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है ॥५७॥ जो ब्राह्मण उपनयन संस्कार कराकर नित्य कल्पसूत्र और उपनिषदोंके साथ वेद पढ़ाता है वह उपाध्याय कहलाता है ॥ ५८ ॥ जो अङ्गोंके सहित वेदोंको पढ़ाता है, व्रतोंका उपदेश देता है और वेदके मंत्रोंके अर्थोंको समझाता है वह आचार्य कहलाता है ॥ ५९ ॥ उपाध्यायसे आचार्य दशगुणा श्रेष्ठ है, आचार्यसे पिता सौगुणा उत्तम है और पितासे माता अपने गौरवके कारण सौगुणी उत्तम है ॥ ६० ॥ इन सबोंमें ज्ञान देनेवाला गुरु श्रेष्ठ है, गुरुसे श्रेष्ठ न कोई हुआ है और न कोई होगा ॥ ६१ ॥ इसलिये गुरुओंके

तिष्ठेच्छुश्रूषापरमो भवेत् । अवमानाद्धि तेषां तु नरकं स्यान्न संशयः ॥ ६२ ॥ हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् । रूपद्रविणहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥६३॥ शपता यत्कृतं पुण्यं शप्यमानं तु गच्छति।शप्यमानस्य यत्पापं शपन्तमनुगच्छति६४ नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् । द्वेषं दंभं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं विवर्जयेत् ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वण्या-
पद्धर्मादिकथने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

युधिष्ठिर उवाच। स्वभक्तस्य हृषीकेश धर्माधर्ममजानतः । धर्मं पुण्यतमं देव पृच्छतः कथयस्व मे ॥ १ ॥ भगवानुवाच । यदेतदग्निहोत्रं वै सृष्टं वर्णत्रयस्य तु । मन्त्रवद्धुतं सम्यग्विधिना

वशमें रहे और उनकी सेवा करे, गुरुओंका अपमान करनेसे अवश्य ही नरक मिलता है ॥ ६२ ॥ हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग, मूर्ख, बुढ़ा, कुरूप, निर्धन और नीच जातिका, इनका तिरस्कार न करे ॥ ६३ ॥ जिसका तिरस्कार कियाजाता है उसके पास तिरस्कार करनेवालेका पुण्य चलाजाता है और जिसका तिरस्कार किया होता है उसका पाप तिरस्कार करनेवालके पास आजाता है ॥६४॥ नास्तिकपना, वेदकी निन्दा, देवताओंकी निन्दा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और तीक्ष्णताको त्यागदेना चाहिये ६५ एकसौ सातवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०७ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि हे भगवन् हृषीकेश ! धर्म और अधर्म को न जाननेके कारण मैं आपका भक्त आपसे महापुण्यदायक धर्मको बूझता हूँ, आप वह मुझे बताइये ॥ १ ॥ भगवान्‌ने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! तीनों वर्णोंके लिये अग्निहोत्रको उत्पन्न किया गया है, उसमें मंत्र पढ़कर उचित रीतिसे होम किया जाता है तथा विधिपूर्वक अग्निकी उपासना कीजाती है तो अग्निहोत्र

चाप्युपासितम् । आहिताग्निं नयत्यूर्ध्वं सपत्नीकं सबान्धवम् ॥२॥
युधिष्ठिर उवाच । कथं तद्ब्राह्मणैर्देव होतव्यं क्षत्रियैः कथम् ।
वैश्यैर्वा देवदेवेश कथं वा सुहुतम्भवेत् ॥ ३ ॥ कस्मिन् काले
कथं कस्य ह्याधेयोऽग्निः सुरोत्तम । आहितस्य कथं वाऽपि सम्य-
गाचरणं भवेत् ॥ ४ ॥ कत्यग्नयः किमात्मानः स्थानं किं कस्य
वा विभो । कतरस्मिन् हुते स्थानं कं व्रजेदाग्निहोत्रिकः ॥ ५ ॥
अग्निहोत्रनिमित्तञ्च किमुत्पन्नं पुराऽनघ । कथमेवाऽथ हूयन्ते
प्रीयन्ते च सुराः कथम् ॥ ६ ॥ विधिवन्मन्त्रवत्कृत्वा पूजिता-
स्त्वग्नयः कथम् । कां गतिं वदतां श्रेष्ठ नयन्ति ह्यग्निहोत्रिणः॥७॥
दुर्हुताश्चापि भगवन्नविज्ञातास्त्रयोऽग्नयः । किमाहिताग्नेः कुर्वन्ति
दुश्चीर्णा वाऽपि केशव ॥ ८ ॥ उत्सन्नाग्निस्तु पापात्मा कां योनिं

अग्निहोत्रीको उसकी स्त्री और कुटुम्बियोंके सहित स्वर्गमें लेजाता है ॥ २ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे देवदेवेश ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको अग्निमें होम किसप्रकार करना चाहिये और होम ठीक २ होगया, यह कैसे जानाजाय? ॥ ३ ॥ हे श्रेष्ठ देव ! किस समय कौन अग्निहोत्र लेय, अग्निहोत्रमें किसप्रकार होम करे? अग्निहोत्री ब्राह्मणका उत्तम आचरण कैसा होता है ।४। हे विभो ! अग्नि कितने हैं? अग्निका स्वरूप कैसा है? कौनसे अग्निका कहाँ स्थान है? किस अग्निमें होम करनेसे अग्निहोत्री किस लोकमें जाता है? ॥ ५ ॥ हे निर्दोष परमात्मन् ! पहले अग्निहोत्र किसप्रकार उत्पन्न हुआ है? अग्निहोत्रमें होम किस प्रकार कियाजाता है और देवता किसप्रकार प्रसन्न होते हैं ।६। अग्नियोंका विधिपूर्वक मंत्रोंसे किसप्रकार पूजन करे, हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! अग्निहोत्री किस गतिको पाता है? ॥ ७ ॥ हे केशव ! हे भगवन् ! तीनों अग्नियोंको जाने बिना उनमें दुष्टतासे होम किया हो अथवा उनकी अनुचित रीतिसे उपासना करने पर

देव गच्छति । एतदर्थं समासेन भक्त्या ह्युपगतस्य मे । वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ सर्वाधिक नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥ भगवानुवाच । शृणु राजन् महापुण्यमिदं धर्मामृतं परम् । यत्तु तारयते युक्तान् ब्राह्मणानग्निहोत्रिणः ॥ १० ॥ ब्रह्मत्वेनासृजं लोकानहमादौ महाद्युते । सृष्टोऽग्निर्मुखतः पूर्वं लोकानां हितकाम्यया ॥ ११ ॥ यस्मादग्रे स भूतानां सर्वेषां निर्मितो मया । तस्मादग्नीत्यभिहितः पुराणज्ञैर्मनीषिभिः ॥ १२ ॥ यस्मात्तु सर्वकृत्येषु पूर्वमग्नौ प्रदीयते । आहुतिर्दीप्यमानाय तस्मादग्नीति कथ्यते ॥ १३ ॥ यस्माच्च तु नयत्यग्र्यां गतिं विप्रान् सुपूजितः । तस्माच्च नयनाद्राजन्देवेष्वग्नीति कथ्यते ॥१४॥ तस्माच्च दुर्हुतः सोऽपफलं भक्षयितुं क्षणात् ।

अग्निहोत्रीका क्या होता है ? ॥ ८ ॥ जो पापी पुरुष विवादके अग्निको त्यागदेता है, हे देव ! उसकी क्या गति होती है ? यह मुझे संक्षेपमें सुनाइये, मैंने भक्तिसे आपकी शरण ली है, हे सर्वज्ञ ! हे सर्वाधिक ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥९॥ भगवान्ने कहा, कि-हे राजन् ! महापुण्यदायक और परमधर्मरूप इस अमृतको सुनो, कि-जो अग्निहोत्री ब्राह्मणोंको तारदेता है ॥ १० ॥ हे महाकान्तिमान् राजन् ! मैंने पहले सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्मारूपसे सब लोकोंको उत्पन्न किया था और फिर उन लोकोंका हित करनेकी इच्छासे अपने मुखमेंसे अग्निको रचा था ॥ ११ ॥ मैंने सब प्राणियोंसे पहले अग्निको उत्पन्न किया है, इसलिये पुराणोंके ज्ञाता उसको अग्नि कहते हैं ॥१२॥ और सब कर्मोंमें दीप्यमान अग्निको पहले आहुति दीजाती है इसलिये भी वह अग्नि कहलाता है ॥ १३ ॥ और हे राजन् ! अग्निकी अच्छे प्रकारसे पूजा कीजाती है तो वह द्विजोंको उत्तम गतिमें लेजाता है, इसलिये वह देवताओंमें अग्नि कहलाता है ॥ १४ ॥ हे राजन् ! अग्निमें विधिको त्यागकर होम कियाजाता है तो वह यजमानको एक

यजत्यानं नरश्रेष्ठ क्रव्यादोऽग्निस्ततः स्मृतः ॥ १५ ॥ सर्वभूतात्मको राजन् देवानामेष वै मुखम् । प्रथमं मन्मुखात्सृष्टो लोकार्थे पचनः प्रभुः ॥ १६ ॥ सृष्टमात्रो जगत्सर्वमत्तुमैच्छत्पुरा खलु । ततः प्रशमितः सोऽग्निरुपास्यैव मया पुरा ॥ १७ ॥ स ततोपासनात्सोऽयमौपासन इति स्मृतः ॥ १८ ॥ आहुतिः सर्वमाख्याति तस्मिन् वसति सोऽनलः । आवसथ्य इति ख्यातस्तेनासौ ब्रह्मवादिभिः॥१९ तस्मात्पञ्च महायज्ञा वर्त्तन्ते यस्य धर्मतः । सोमपण्डलमध्येन गतिस्तस्य द्विजन्मनः ॥२०॥ ते च सप्तर्षयः सिद्धाः संयतेन्द्रियबुद्धयः । गता ह्यमरसायुज्यं ते ह्यग्न्यर्चनतत्पराः ॥ २१ ॥ अपरे चावसथ्यञ्च पचनाग्निं प्रचक्षते । तस्मिन् पञ्च महायज्ञा वैश्वदेवश्च वर्त्तते ॥२२॥ स्थालीपाकञ्च गार्हञ्च सर्वे चास्मिन् प्रति-

क्षणमें ही भक्षण करनेको समर्थ होजाता है, इसलिये अग्निको क्रव्याद कहते हैं॥१५॥ हे राजन्! यह अग्नि सकल भूतरूप है, देवताओंका मुख है और मैंने लोकोंके लिये पहले अपने मुखमेंसे उत्पन्न किया है, वह अग्नि समर्थ है और अन्नको पचानेवाला है, इसलिये पवन कहलाता है ॥ १६ ॥ मैंने पहले अग्निको ज्यों ही उत्पन्न किया, कि—वह लोकोंको खाना चाहनेलगा, तब मैंने उसकी उपासना करके उसको शान्त किया था ॥ १७ ॥ उसकी नित्य उपासना कीजाती है, इसलिये औपासन कहलाता है ॥ १८ ॥ घरमेंके औपासन अग्निमें नित्य हवन कियाजाता है उस अग्निको विद्वान् आवसथ्य अग्नि कहते हैं ॥ १९ ॥ जो द्विज जातिका मनुष्य उस अग्निमें धर्मके अनुसार पञ्चमहायज्ञ करता है वह चन्द्रमण्डलके मध्यमें होकर परलोकमें जाता है२० सिद्ध और इन्द्रियोंको तथा बुद्धिको वशमें रखनेवाले सप्तर्षि अग्निकी पूजा करनेमें तत्पर रहते थे,इसलिये देवलोकमें गए थे२१ दूसरे आवसथ्याग्निको पञ्चाग्नि कहते हैं, क्योंकि—उसमें पञ्च

ष्ठिताः । गृह्यकर्मवहो यस्मात्तस्माद् गृहपतिस्तु सः ॥ २३ ॥ औपासनं चावसथ्यं सभ्यं पचनपावकम् । आहुर्ब्रह्मविदः केचिन्मतमेतन्ममापि च ॥२४॥ अग्निहोत्रप्रकारं च शृणु राजन् समाहितः । त्रयाणां गुणनामानां वन्हीनामुच्यते मया ॥२५॥ गृहाणां हि पतित्वं हि गृहपत्यमिति स्मृतम् । गृहपत्यन्तु यस्यासीत्तस्माद् गार्हपत्यता ॥ २६ ॥ यजमानन्तु यस्मात्तु दक्षिणां तु गतिं नयेत् । दक्षिणाग्निं तमाहुस्ते दक्षिणायतनं द्विजाः ॥२७॥ आहुतिः सर्वमाख्याति हव्यं वै वहनं स्मृतम् । सर्वहव्यवहो वन्हिर्गतश्चाहवनीयताम् ॥ २८ ॥ यं चावसथ्यं जुहुयान्मूलाग्निं विधिवद् द्विजः । आवसथ्यं तु तं चाग्निं पचनाग्निं प्रचक्षते ॥२९॥ तेषां तु भागतो वन्हिः सभ्य इत्यभिधीयते । आवसथ्यस्तु यो वन्हि प्रथमः स

महायज्ञ हैं और वैश्वदेव हैं ॥ २२ ॥ तथा घरका स्थालीपाक भी उसमें होता है, इसप्रकार इस अग्निमें सब यज्ञ रहते हैं यह अग्नि घरके कामोंमें उपयोगी होनेसे गृहपति कहलाता है ॥२३॥ कितने ही वेदवेत्ता उसको औपासन, आवसथ्य सभ्य और पचन नामका अग्नि कहते हैं और मेरा भी यही मत है ॥२४॥ हे राजन् ! अब तुम सावधान होकर अग्निहोत्रका प्रकार सुनो, मैं पहले तुम्हें तीनों अग्नियोंके नाम बताता हूँ ॥ २५ ॥ गृहोंका पतिपना गृहपत्य कहलाता है और जो अग्नि गृहपति है उसको ही शास्त्रमें गार्हपत्य नामसे कहा है ॥२६॥ जो अग्नि यजमानको दक्षिण मार्गसे स्वर्गमें लेजाता है, उस अग्निको ब्राह्मण दक्षिणाग्नि कहते हैं ॥२७॥ सब आहुतियें अग्निमें दीजाती हैं और वह हव्यको लेता है, अग्नि सब हवियोंको पहुँचाता है, इसलिये आहवनीय कहलाता है ॥२८॥ ब्राह्मण विधिसे जिस आवसथ्य नामक मूल अग्निमें होम करता है उस अग्निको आवसथ्य और पचनाग्नि भी कहते हैं ॥ २९ ॥ इसके सिवाय उन अग्नियोंकी

प्रजापतिः ॥ ३० ॥ ब्रह्मा च गार्हपत्योऽग्निस्तस्मिन्नेव हि सोऽभवत् । दक्षिणाग्निस्त्वयं रुद्रः क्रोधात्मा चण्ड एव सः ॥ ३१ ॥ अहमाहवनीयोऽग्निराहोमाद्यस्य वै मुखे । सभ्योऽग्निः पञ्चमो यस्तु स्कन्द एव नराधिप ॥ ३२ ॥ पृथिवी गार्हपत्योऽग्निरन्तरिक्षञ्च दक्षिणः । स्वर्गमाहवनीयोऽग्निरेवमग्नित्रयं स्मृतम् ॥ ३३ ॥ वृत्तश्च गार्हपत्योऽग्निर्यस्माद्वृत्ता च मेदिनी । अर्धचन्द्राकृतिस्तं वै दक्षिणाग्निस्तथा भवेत् ॥ ३४ ॥ चतुरश्रं ततः स्वर्गं निर्मलं तु निरामयम् । तस्मादाहवनीयोऽग्निश्चतुरश्रो भवेन्नृप ॥ ३५ ॥ जुहुयाद्गार्हपत्यं यो भुवं जयति स द्विजः । जुहोति दक्षिणं यस्तु स जयत्यन्तरिक्षकम् ॥ ३६ ॥ पृथिवीमन्तरिक्षञ्च दिवं ऋपि-

सभामें रहनेवाला और एक अग्नि है उसको सभ्य कहते हैं, आवसथ्य नामका पहला अग्नि प्रजापतिरूप है ॥३०॥ गार्हपत्य अग्नि ब्रह्माका स्वरूप है, क्योंकि-उस अग्निमें ब्रह्माका वास है, दक्षिणाग्नि रुद्ररूप है, क्योंकि-वह क्रोधरूप और प्रचण्ड है ॥३१॥ मैं आहवनीय अग्नि हूँ और होमके आरम्भसे अन्त तक मेरे मुखमें होम कियाजाता है, हे राजन्! पाँचवाँ अग्नि सभ्य अग्निहै और वह स्वामिकार्त्तिकेयरूप है३२पृथिवी गार्हपत्य अग्निरूप है अन्तरिक्ष दक्षिणाग्नि रूप है और आहवनीय अग्नि स्वर्गरूप है,इसप्रकार शास्त्रमें तीन अग्नियें कही हैं॥३३॥गार्हपत्य अग्नि गोलाकार है, क्योंकि पृथिवी गोल हैदक्षिणाग्नि आधे चन्द्रमाके आकारका है ॥ ३४ ॥ और स्वर्ग चार कोनेवाला निर्मल तथा पीड़ारहित है, इसलिये हे राजन्! आहवनीय अग्नि भी चौखूँटा है ॥ ३५ ॥ जो गार्हपत्य अग्निमें होम करता है वह पृथिवीको जीतता है, जो दक्षिणाग्निमें होम करता है वह अन्तरिक्षको जीतता है ॥ ३६ ॥ जो भक्तिके साथ आहवनीय अग्निमें होम करता है वह पृथिवीका, अन्तरिक्षका और स्वर्गका

गणैः सह । जयत्याहवनीयं यो जुहुयाद्भक्तिमान्नरः ॥ ३७ ॥
आभिमुख्येन होमस्तु यस्य यज्ञेषु वर्तते । तेनाप्याहवनीयत्वं गतो वह्निर्महाद्युतिः ॥ ३८ ॥ आदौ यागश्चाग्निहोत्रेषु यज्ञार्था यत्र सर्वशः। यस्मात्तस्मात्प्रवर्तन्ते ततो ह्याहवनीयता ॥ ३९ ॥ यस्त्वावसथ्यं जुहुयान्मूलाग्निं विधिवद् द्विजः । स तु सप्तर्षिलोकेषु सपत्नीकः प्रमोदते ॥४०॥ इष्टो भवति सर्वाग्नेरग्निहोत्रं च तद्भवेत् । त्राणाद्धि यजमानस्य ह्यग्निहोत्रमिति स्मृतम् ॥ ४१ ॥ द्वौ इत्येषु विपादो वै विपादो दुःखमुच्यते । दुःखं तापत्रयं प्रोक्तं तापं हि नरकं विदुः॥४२
आध्यात्मिकं चाधिदैवमाधिभौतिकमेव च । एतत्तापत्रयं प्रोक्तमात्मवद्भिर्नराधिप ॥४३॥ यस्माद्धि त्रायते दुःखाद्यजमानं हुतोऽनलः।

ऋषियोंके साथ विजय करता है ॥ ३७ ॥ क्योंकि-यज्ञोंमें मुख्य करके अग्निमें ही होम कियाजाता है, इसलिये वह महाकान्ति वाला अग्नि आहवनीय कहलाता है ॥ ३८ ॥ अग्निहोत्रमें तथा दूसरे यज्ञोंमें आरम्भमे ही जो अग्निमें ही हवन कियाजाता है, इसलिये उस अग्निको आहवनीय अग्नि कहते हैं ॥३९॥ जो मनुष्य सब अग्नियोंके मूलरूप आवसथ्य अग्निमें विधिपूर्वक होम करता है, वह अपनी पत्नीके सहित सप्तर्षियोंके लोकमें आनन्द करता है ॥ ४० ॥ और वह पुरुष सब अग्नियोंका प्यारा होजाता है तथा आवसथ्य अग्निमें जो होम कियाजाता है वह अग्निहोत्रकी समान है, अग्निका यजन यजमानकी रक्षा करता है, इसलिये अग्निहोत्र कहलाता है ॥ ४१ ॥ द्वौ शब्द यज्ञका तथा विपादका वाचक है और विपाद दुःखका नाम है, दुःखका अर्थ है-तीन प्रकारके ताप और तापको विद्वान् नरक जानते हैं ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! आत्मवेत्ता आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीन प्रकारके ताप कहते हैं ॥४३॥ अग्निमें होम करनेसे अग्नि यजमानकी दुःखसे रक्षा करता है,

तस्मात्तु विधिवत्प्रोक्तमग्निहोत्रमिति श्रुतौ ॥ ४४ ॥ तदग्निहोत्रं सृष्टं वै ब्रह्मणा लोककर्तृणा। वेदाश्चाप्यग्निहोत्रं तु जज्ञिरे स्वयमेव तु ॥ ४५ ॥ अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्। रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफलं धनम् ॥ ४६ ॥ त्रिवेदमन्त्रसंयोगादग्निहोत्रं प्रवर्तते। ऋग्यजुःसामभिः पुण्यैः स्थाप्यते सूत्रसंयुतैः ॥४७॥ वसन्ते ब्राह्मणस्याद्याधेयो योऽग्निर्नराधिप। वसन्तो ब्राह्मणो ज्ञेयो वेदयोनिः स उच्यते ॥ ४८ ॥ अग्न्याधेयं तु येनाथ वसन्ते क्रियतेऽनघ। तस्य श्रीर्ब्रह्मवृद्धिश्च ब्राह्मणस्य विवर्धते ॥४९॥ क्षत्रियस्याग्निराधेयो ग्रीष्मे श्रेष्ठः स वै नृप। येनाधानन्तु वै ग्रीष्मे क्रियते तस्य वर्धते। श्रीः प्रजाः पशवश्चैव वित्तं

इसलिये वेदमें उस कर्मको, अग्निहोत्रको जगत्‌को रचनेवाले ब्रह्माने पहले उत्पन्न किया है, यह अग्निहोत्र तथा वेद स्वयम्भू है और अपने आप ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ४५ ॥ वेद पढनेका फल अग्निहोत्र है अर्थात् वेद पढकर अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये, शास्त्राभ्यासका फल शील और सदाचारका पालन है, स्त्रीका फल रति और पुत्र है, धनका फल दान और उसका उपभोग करना है ॥४६॥ पवित्र ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन तीनों वेदोंके मंत्र तथा सूत्र अग्निहोत्रका प्रतिपादन करते हैं, उन तीनों वेदोंका और सूत्रोंका अग्निहोत्रसे सम्बन्ध है ॥ ४७ ॥ हे राजन्! ब्राह्मण वसन्त ऋतुरूप है, और वेदकी योनि (उत्पत्तिस्थान) रूप है, इसलिये ब्राह्मणको वसन्तमें अग्निका आधान करना चाहिये ॥ ४८ ॥ हे निर्दोष राजन्! जो ब्राह्मण वसन्तमें अग्निका आधान करता है उस ब्राह्मणकी लक्ष्मी और ब्रह्मतेज बढते हैं ॥ ४९ ॥ हे राजन्! क्षत्रियको ग्रीष्म ऋतुमें अग्निका आधान लेना चाहिये, क्योंकि–क्षत्रिय ग्रीष्मस्वरूप है, जो क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतुमें अग्निका आधान लेता

तेजो बलं यशः ॥ ५० ॥ शरदर्तौ तु वैश्यस्य ह्याधानीयो हुताशनः । शरद्वात्रं स्वयं वैश्यो वैश्ययोनिः स उच्यते ५१ शरद्याधानमेवं तौ क्रियते येन पाण्डव । तस्यापि श्रीः प्रजायुश्च पशवोऽर्थश्च वर्धते ॥ ५२ ॥ पशवः सर्व एवैते त्रिभिः सर्वैरलंकृताः । अग्निहोत्रा ह्यवर्तन्ते तैरेव ध्रियते जगत् ॥ ५३ ॥ ग्राम्यारण्याश्च पशवो वृक्षाश्चैव तृणानि च । फलान्योषधयश्चापि अग्निहोत्रकृते हविः ५४ रसाः स्नेहास्तथा गन्धा रत्नानि मणयस्तथा । काञ्चनानि च लोहानि ह्यग्निहोत्रकृतेऽभवन् ॥ ५५ ॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रञ्च तत्सर्वमग्निहोत्रकृते कृतम् ५६ छन्दः शिक्षा च कल्पश्च तथा व्याकरणानि च । शास्त्रं ज्योतिर्निरुक्तञ्चाप्यग्निहोत्रकृते कृतम् ॥ ५७ । इतिहासपुराणञ्च गाथाश्चोपनिषत्तथा । आथ-

है, उसकी लक्ष्मी, प्रजा, पशु, धन, तेज, बल और यश बढ़ते हैं ॥ ५० ॥ वैश्य स्वयं शरदृतु रूप है, इसलिये शरदृतुमें अग्निका आधान लेय, क्योंकि–उस अग्निको वैश्ययोनि कहते हैं ॥ ५१ ॥ हे पाण्डुके पुत्र ! जो शरदृतुमें अग्निका आधान लेता है, उसकी भी लक्ष्मी, प्रजा, आयु, पशु और धन बढ़ते हैं ॥ ५२ ॥ पृथिवी परके ये सब पशु तीन अग्नियोंसे शोभायमान मालूम होते हैं और तीन अग्नियोंसे अग्निहोत्र कियाजाता है, तथा उससे ही इस जगत्की वृद्धि होती है ॥ ५३ ॥ ग्रामके और वनके पशु, वृक्ष तृण, फल और ओषधियें अग्निहोत्रके ही लिये हैं ॥ ५४ ॥ दूध आदि रस, घी आदि स्नेह, चन्दन आदि गन्ध, मणि, सुवर्ण और लोहा, ये सब अग्निहोत्रके लिये हैं ॥ ५५ ॥ आयुर्वेद, धनुर्वेद, मीमांसा न्याय और धर्मशास्त्र ये सब अग्निहोत्रके ज्ञानके लिये रचेगए हैं ॥ ५६ ॥ छन्द, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिःशास्त्र और निरुक्त ये अग्निहोत्रके लिये रचेगए हैं ॥ ५७ ॥ इतिहास, पुराण, गाथा, उपनिषद् और

वेणानि कर्माणि चाग्निहोत्रकृते कृतम् ॥५८॥ यच्चैतस्यां पृथिव्यां वै किंचिदस्ति चराचरम्। तत्सर्वमग्निहोत्रस्य कृते सृष्टं स्वयंभुवा॥५९ अग्निहोत्रस्य दर्शस्य पूर्णमासस्य चाप्यथ। पूर्वेष्टिपशुबन्धानां सोमपानक्रियावताम् ॥ ६० ॥ तिथिनक्षत्रयोगानां मुहूर्तकरणात्मकम्। कालस्य वेदनार्थन्तु ज्योतिर्ज्ञानं पुरानघ। ६१ ॥ ऋग्यजुःसाममन्त्राणां श्लोकतत्त्वार्थचिन्तनात्। प्रत्यापत्तिविकल्पानां छन्दोज्ञानं प्रकल्पितम् ॥ ६२ ॥ वर्णाक्षरपदार्थानां सन्धिलिङ्गं प्रकीर्तितम्। नामधातुविवेकार्थं पुरा व्याकरणं स्मृतम् ॥ ६३ ॥ यूपवेद्यध्वरार्थन्तु प्रोक्षणश्रवणाय तु। यज्ञदैवतयोगार्थं शिक्षाज्ञानं प्रकल्पितम् ॥ ६४ ॥ यज्ञपात्रपवित्रार्थं द्रव्यसंभारणाय च। सर्वयज्ञविकल्पाय पुराकल्पं प्रकीर्तितम् ॥६५॥ नामधातुविकल्पानां

अथर्ववेदके कर्म अग्निहोत्रके लिये रचेगये हैं ॥५८॥ इस पृथिवी पर जो कुछ भी स्थावर या जङ्गम है वह सब ब्रह्माने अग्निहोत्रके कर्मके ही लिये रचा है ॥ ५९ ॥ और अग्निहोत्र, अमावस्या और पूर्णिमाकी इष्टियें, पशुबन्धेष्टि, और सोमयागकी क्रिया करनेवालोंका सोमयागका तथा तिथि, नक्षत्र, योग, करण और मुहूर्त्तवाला काल जाननेके लिये पहले ब्रह्माने हे निर्दोष राजन्! ज्योतिःशास्त्रको रचा है ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्र और छन्दोंको जाननेके लिये तथा उनके अर्थोंका रहस्य जाननेके लिये छन्दःशास्त्र रचा है ॥६२॥ वर्ण, अक्षर और पदोंकी सन्धि तथा लिङ्ग (जाति) जाननेके लिये तथा नाम और धातुके विवेकके लिये पहले व्याकरणको रचा है ॥ ६३ ॥ यज्ञस्तम्भ यज्ञकी वेदी और यज्ञके स्वरूपका ज्ञान होनेके लिये, प्रोक्षण क्रियाके लिये, यज्ञके देवताका विचार करने के लिये शिक्षा नामक अङ्गकी रचना कीगई है ॥ ६४ ॥ यज्ञके पात्रोंको पवित्र करनेके लिये, यज्ञके पदार्थोंका संग्रह करनेके लिये

तत्त्वार्थनियमाय च । सर्ववेदनिरुक्तानां निरुक्तमृषिभिः कृतम् ६६
वेदार्थं पृथिवी सृष्टा संभारार्थं तथैव च । इध्मार्थमथ यूपार्थं ब्रह्मा
चक्रे वनस्पतिम् ॥ ६७ ॥ ग्राम्यारण्याश्च पशवो जायन्ते यज्ञ-
कारणात् । मन्त्राणां विनियोगं च प्रोक्षितं श्रपणं तथा ॥६८॥
अनुयाजप्रयाजाश्च मरुतां शंसिनस्तथा । औद्गात्रं चैव साम्नां वै
प्रतिप्रस्थानमेव च ॥ ६९ ॥ विष्णुक्रमाणां क्रमणं दक्षिणावभृथं
तथा । त्रिकालमर्चनं चैव स्थानेपूपहृतं तथा ॥ ७० ॥ देवता-
ग्रहणं मोक्षं हविषां श्रपणं तथा । नावबुध्यन्ति ये विप्रा निन्दन्ति
च पशोर्वधम् । ते यान्ति नरकं घोरं रौरवं तमसावृतम् ॥ ७१ ॥
शतवर्षसहस्राणि तत्र स्थित्वा नराधमाः । कृमिभिर्भक्ष्यमाणाश्च

तथा सब यज्ञोंकी विकल्पविधिके लिये पहले ब्रह्माने कल्पसूत्रकी रचना की है ॥ ६५ ॥ नामधातुका स्वरूप जाननेके लिये तथा उसके तत्त्व अर्थके नियमोंके लिये और वेदोंके सब शब्दोंका अर्थ जाननेके लिये ऋषियोंने निरुक्त रचा है ॥ ६६ ॥ ब्रह्माने वेदोंके लिये तथा सामग्रीके लिये पृथिवीको रचा और यज्ञके काष्ठोंके लिये तथा यज्ञके स्तम्भोंके लिये वनस्पति रची ॥६७॥ ग्रामके तथा अरण्यके पशुओंको यज्ञके लिये रचा है, मन्त्रोंका कर्मोंमें विनियोग अर्थात् अमुक मन्त्रसे अमुक कर्म करना चाहिये यह नियम, मोक्षण, श्रपण (चरुका पकाना), अनुयाज,प्रयाज मरुत् देवताके स्तोत्र, सामके उद्गाताका कर्म,प्रतिप्रस्थाताका कर्म, विष्णुक्रमका क्रमण, दक्षिण अवभृथ स्नान, त्रिकाल देवपूजन, कर्मोंका उपसंहार, देवताओंके मन्त्र, मोक्ष, हविको पकाना, इन सब बातोंको जो ब्राह्मण नहीं जानते और यज्ञमें पशुवधकी निन्दा करते हैं वे अन्धकारसे भरेहुए रौरव नरकमें पड़ते हैं ॥ ६८–७१ ॥ और उस नरकमें वे नीच पुरुष एक लाख वरसों तक रहते हैं और वहाँ पीव और लोहूसे भरेहुए नरकमें

तिष्ठेयुः पूयशोणिते ॥ ७२ ॥ वृक्षा यूपत्वमिच्छन्ति पशुत्वं पशवस्तथा । तृणानीच्छन्ति बर्हिष्ट्वमोषध्यश्च हविष्यताम् । सोमत्वं च लताः सर्वा वेदित्वं च वसुन्धरा ॥ ७३ ॥ यस्मात्पशुत्वमिच्छन्ति पशवः स्वर्गलिप्सया । तस्मात्पशुवधे हिंसा नास्ति यज्ञेषु पांडव ७४ यूपास्तन्मन्त्रसंस्कारैर्दर्भाश्च पशवस्तथा । यजमानेन सहिताः स्वर्गं यान्ति नरेश्वर ॥ ७५ ॥ यावत्कालं हि यज्वा वै स्वर्गलोके महीयते । तावत्कालं प्रमोदन्ते पशवो ह्यध्वरे हताः ॥ ७६ ॥ अहिंसा वैदिकं कर्म ब्रह्मकर्मेति तत्कृतम् । वेदोक्तं ये न कुर्वन्ते हिंसाबुद्ध्या क्रतून् द्विजाः । सद्यः शूद्रत्वमायान्ति प्रेत्य चाण्डालतामपि ॥ ७७ ॥ गावो यज्ञार्थमुत्पन्ना दक्षिणार्थं तथैव च । सुवर्णं रजतं चैव पात्रकुम्भार्थमेव च ॥७८॥ दर्भाः संस्तरणार्थन्तु रक्षसां

कीडोंका भक्षण करते हैं ॥ ७२ ॥ वृक्ष यूप (यज्ञस्तम्भ) बननेकी इच्छा करते हैं, पशु यज्ञके पशु बनना चाहते हैं तृण कुशा बनना चाहते हैं, ओषधियें (अन्न) हवि (यज्ञका बलि) बनना चाहती हैं सब लताएँ सोम बनना चाहती हैं और पृथिवी वेदी बनना चाहती है॥७३॥ हे पाण्डुपुत्र ! पशु स्वर्ग पानेकी इच्छासे यज्ञीय पशु होना चाहते हैं, इसलिये यज्ञमें पशुओंके वधसे हिंसा नहीं होती है ॥७४॥ हे राजन् ! यज्ञस्तम्भ, कुशा और पशु अपने २ मन्त्रोंके संस्कारोंसे संस्कारवाले होकर यजमानके साथ स्वर्गमें जाते हैं ॥ ७५ ॥ यजमान जबतक स्वर्गलोकमें आनन्द करता है तब तक यज्ञमें वध कियेजानेवाले पशु भी आनन्द करते हैं ७६ वैदिक कर्म अहिंसारूप है और उसको ब्रह्मकर्मरूपसे रचागया है, जो द्विजजातिके पुरुष वेदोक्त कर्ममें हिंसा समझकर वैदिक कर्म नहीं करते हैं वे तुरन्त शूद्रपनेको प्राप्त होजाते हैं और मरकर चाण्डाल होते हैं॥७७॥गौ यज्ञके लिये तथा दक्षिणा देनेके लिये उत्पन्न हुई है,सुवर्ण और चाँदी यज्ञके पात्रोंके लिये और कलश

रक्षणाय च । पूजनार्थं द्विजाः सृष्टास्तारका दिवि देवताः ॥७९॥
क्षत्रियाः रक्षणार्थन्तु वैश्या वार्तानिमित्ततः । शुश्रूषार्थं त्रयाणां
वै शूद्राः सृष्टाः स्वयंभुवा ॥ ८० ॥ एवमेतज्जगत्सर्वमग्निहोत्रकृते
कृतम् । नावबुध्यन्ति ये चैव नरास्तु तमसा वृताः ॥ ८१ ॥ ते
यान्ति नरकं घोरं रौरवं नाम विश्रुतम् । रौरवाद्विप्रमुक्तास्तु कृमि-
योनिं व्रजन्ति ते ॥ ८२ ॥ यथोक्तमग्निहोत्राणां शुश्रूषन्ति च ये
द्विजाः । तैर्दत्तं सहुतं चेष्टं दत्तमध्यापितं भवेत् ॥ ८३ ॥ एवमि-
ष्टश्च पूर्तश्च यद्विप्रैः क्रियते नृप । तत्सर्वं सम्यगाहृत्य चादित्ये
स्थापयाम्यहम् ॥ ८४ ॥ मया स्थापितमादित्ये लोकस्य सुकृतं हि
तत् । धारयेद्यत्सहस्रांशुः सुकृतं ह्यग्निहोत्रिणाम् ॥ ८५ ॥ याव-

---

बनानेके लिये उत्पन्न हुए हैं७८कुशा यज्ञ कर्ममें संस्तरण(फैलाने)के लिये तथा राक्षसोंसे रक्षा करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं, पूजनके लिये ब्राह्मणोंको, आकाशके ताराओंको और स्वर्गके देवताओंको उत्पन्न किया है ॥ ७९ ॥ (जगत्की) रक्षा करनेके लिये क्षत्रियोंको, खेती बाडी व्यापार आदिके लिये वैश्योंको और तीनों वर्णोंकी सेवाके लिये शूद्रोंको ब्रह्माने उत्पन्न किया है८० इसप्रकार अग्निहोत्रके लिये सब जगत्को उत्पन्न किया है, जो अज्ञानी पुरुष इस बातको नहीं जानते वे रौरव नामसे प्रसिद्ध घोर नरकमें पडते हैं तथा रौरव नरकमेंसे छूटने पर वे कीडेकी जातिमें जन्म लेते हैं८१॥८२जो ब्राह्मण शास्त्रमें लिखे अनुसार अग्निहोत्र की सेवा करते हैं समझो कि-उन्होंने दान किया है,होम किया है और शिष्योंको वेद पढ़ाया है ॥८३॥ हे राजन् ! जो ब्राह्मण यज्ञ करते हैं और बावडी कुए खुदाते हैं, उन सबोंके पुण्यको बराबर लेकर मैं सूर्यमें स्थापन करता हूँ ॥८४॥ मैं प्राणियोंका पुण्यकर्म सूर्यमें स्थापन करता हूँ और सूर्य अग्निहोत्रियोंके सुकृत को धारण करता है॥८५॥अग्निहोत्री भूमण्डल पर जहांतक रहते

त्काल तु तिष्ठन्ति लोके चाप्यग्निहोत्रिणः। तावदेव हि पुण्येन दीप्यते रविरम्बरे ॥ ८६ ॥ स्वर्गे स्वर्ग गतानान्तु वीर्याद्भवति वीर्यवान्। तत्र ते ह्युपभुञ्जन्ति ह्यग्निहोत्रस्य तत्फलम्। समानरूपा देवानां तिष्ठन्त्याभूतसंप्लवम् ॥ ८७ ॥ वृथाग्निना च ये केचिद्दह्यन्ते ह्यग्निहोत्रिणः। न तेऽग्निहोत्रिणां लोके मनसापि व्रजन्ति वै ॥ ८८ ॥ वीरघ्नास्तु दुराचारा दरिद्रास्तु नराधमाः। विकला व्याधिताश्चापि जायन्ते शूद्रयोनिषु ॥ ८९ ॥ तस्मादप्रोषितैर्नित्यमग्निहोत्रं द्विजातिभिः। होतव्यं विधिवद्राजन्नूर्ध्वामिच्छन्ति ये गतिम् ॥९०॥ आत्मवन्नावमन्तव्यमग्निहोत्रं युधिष्ठिर। न त्याज्यं क्षणमप्येतदग्निहोत्रं युधिष्ठिर ॥९१॥ वृद्धत्वे ऽग्निहोत्रं ये गृह्णन्ति विधिवद् द्विजाः। शूद्रान्नाद्विरता दान्ताः संयतेन्द्रियबुद्धयः॥९२॥

हैं तहाँ तक सूर्य उनके पुण्यसे आकाशमें प्रकाशित होता है ८६ स्वर्गमें गए हुए वीर्यसे सूर्य स्वर्गमें वीर्यवान् होता है, अग्निहोत्री स्वर्ग में जा अग्निहोत्रके कर्मका फल भोगते हैं और प्राणियोंके प्रलय तक देवताओंकी समान होकर स्वर्ग में रहते हैं ॥ ८७ ॥ जो अग्निहोत्री लौकिक अग्निसे जलते हैं वे मनसे भी अग्निहोत्रियोंके लोकमें नहीं जाते ॥ ८८ ॥ अग्निहोत्रका भङ्ग करनेवाले पुरुष दुराचारी, दरिद्र, मनुष्यजातिमें अधम, पागल और रोगी होकर शूद्रजातिमें जन्म लेते हैं ॥ ८९ ॥ इसलिये हे राजन्! ऊँचे जानेकी गति चाहनेवाले, जो प्रवास न करते हों ऐसे द्विजोंको नित्य विधिपूर्वक अग्निहोत्रमें होम करना चाहिये ९० हे युधिष्ठिर! जैसे कोई अपने आत्माका अपमान नहीं करता है तैसे ही अग्निहोत्रका अपमान नहीं करना चाहिये, तथा अग्निहोत्रका एक क्षणको भी त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ९१ ॥ जो द्विज वृद्धावस्थामें भी विधिपूर्वक अग्निहोत्र लेते हैं, शूद्रका अन्न नहीं खाते हैं, इन्द्रियोंको और बुद्धिको नियममें रखते हैं ९२

पञ्चयज्ञपरा नित्यं लोभक्रोधविवर्जिताः । द्विकालमतिथींश्च पूज-
यन्ति च भक्तितः ॥९३ ॥तेऽपि सूर्योदयप्रख्यैर्विमानैर्वायुवेगिभिः ।
मम लोके प्रमोदन्ते दृष्ट्वा मां च युधिष्ठिर ॥ ९४ ॥ मन्वन्तरं च
तत्रैकं मोदित्वा द्विजसत्तमाः । इह मानुष्यके लोके जायन्ते द्विज-
सत्तमाः ॥९५॥ बालाहिताग्नयो ये च शूद्रान्नाद्विरताः सदा ।
क्रोधलोभविनिर्मुक्ताः प्रातःस्नानपरायणाः । यथोक्तमग्नि-
होत्रं वै जुह्वते विजितेन्द्रियाः ॥ ९६ ॥ अतिथेयाः सदा सौम्या
द्विकालं मत्परायणाः । ते यान्त्यपुनरावृत्तिं भित्त्वा चादित्यमंड-
लम् ॥ ९७ ॥ मम लोकं सपत्नीका यानैः सूर्योदयप्रभैः । तत्र
बालार्कसंकाशाः कामगाः कामरूपिणः ॥ ९८ ॥ ऐश्वर्यगुण-

नित्य पञ्च महायज्ञ करते हैं, क्रोध और लोभसे बचे रहते हैं, प्रातःकाल और सायङ्कालके समय भक्तिके साथ अतिथियोंका सत्कार करते हैं ॥९३॥ वे पुरुष सूर्यकी समान प्रकाशमान और वायुकी समान वेगवाले विमानोंमें बैठकर मेरे लोकमें आते हैं और हे युधिष्ठिर! मेरा दर्शन करके प्रसन्न होते हैं ॥ ९४ ॥ वहाँ वे श्रेष्ठ द्विज एक मन्वन्तर तक आनन्दमें रहते हैं और फिर इस मनुष्यलोकमें उत्तम ब्राह्मणका जन्म पाते हैं ॥ ९५ ॥ जो छोटी अवस्थामें ही अग्निहोत्र लेते हैं, कभी शूद्रोंका अन्न लेते ही नहीं, क्रोध और लोभसे बचे रहते हैं, नित्य प्रातःकालके समय स्नान करते हैं नित्य विधिपूर्वक अग्निहोत्रमें होम करते हैं ॥ ९६ ॥ अतिथियोंका सत्कार करनेवाले और शान्तस्वभाव होकर प्रातःकाल और सायङ्कालके समय मेरी भक्ति करते हैं वे पुरुष मरणके अनन्तर सूर्यके मण्डलको भेदकर मेरे लोकमें जाते हैं और वहाँसे फिर लौटकर नहीं आते ९७ अपनी स्त्रीके सहित सूर्योदयकी समान कान्तिवाले विमानोंमें बैठकर वे मेरे लोकमें आते हैं, वहाँ बालसूर्यकी समान चमकने लगते हैं, इच्छानुसार विचरते

सम्पन्नाः क्रीडन्ति च यथासुखम् । इत्येषामाहिताग्नीनां विभूतिः पाण्डुनन्दन ॥९९॥ श्रुतिं केचिन्निन्दमानाः श्रुतिं दूष्यंत्य-बुद्धयः । प्रमाणं न च कुर्वन्ति ये यान्तीहापि दुर्गतिम् ॥१००॥ प्रमाणमितिहासं च वेदान्कुर्वंति ये द्विजाः । ते यान्त्यमरसायुज्यं नित्यमास्तिक्यबुद्धयः ॥ १०१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि अग्निहोत्रवर्णनेऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

युधिष्ठिर उवाच । चक्रायुध नमस्तेऽस्तु देवेश गरुडध्वज । चान्द्रायणविधिं पुण्यमाख्याहि भगवन्मम ॥ १ ॥ भगवानुवाच । शृणु पाण्डव तत्त्वेन सर्वपापप्रणाशनम् । पापिनो येन शुद्ध्यन्ति तत्ते वक्ष्यामि सर्वशः ॥ २ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा

हैं और इच्छानुसार रूप धारण करते हैं ॥ ९८ ॥ तथा ऐश्वर्यके गुणोंसे युक्त होकर सुखदायक रीतिसे विहार करते हैं, हे पांडुनन्दन! यह अग्निहोत्रियोंकी विभूति तुम्हें सुनादी ॥ ९९ ॥ कितने ही मूर्ख वेदकी निन्दा करते हैं, कितने ही वेदमें दोष लगाते हैं और वेदको प्रमाणरूप नहीं मानते, उनकी इस लोकमें ही दुर्गति होती है ॥ १०० ॥ परन्तु जो द्विज इतिहासको और वेदोंको प्रमाणरूप मानते हैं तथा उनके ऊपर सदा आस्तिक-बुद्धि रखते हैं वे देवताओंके लोकमें जाते हैं ॥ १०१ ॥ एक सौ आठवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०८ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे चक्रधारी देवेश! हे गरुडध्वज भगवन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, अब आप मुझे चान्द्रायणकी पुण्य-कारक विधि सुनाइये ॥ १ ॥ भगवान्ने कहा, कि-हे पाण्डव! सब पापोंका नाश करने वाले चान्द्रायणकी विधिको तुम ठीक २ सुनो, मैं तुम्हें पूरी २ सुनाता हूँ, उसको सुननेसे पापी शुद्ध होजाते हैं ॥ २ ॥ व्रत करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य,

चरितव्रतः । यथावत्क्रतुकामो वै तस्यैवं प्रथमा क्रिया ॥ ३ ॥ शोधयेत्तु शरीरं स्वं पञ्चगव्येन यन्त्रितः । सशिरः कृष्णपक्षस्य ततः कुर्वीत वापनम् ॥४॥ शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा मौञ्जीं बध्नीत मेखलाम् । पालाशदण्डमादाय ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥५॥ कृतो-पवासः पूर्वन्तु शुक्लप्रतिपदि द्विजः । नदीसंगमतीर्थेषु शुचौ देशे गृहेऽपि वा ॥ ६ ॥ आघारावाज्यभागौ च प्रणवं व्याहृतीस्तथा । वारुणं चैव पञ्चैव हुत्वा सर्वान्यथाक्रमम् ॥७॥ सत्याय विष्णवे चेति ब्रह्मर्षिभ्योऽथ ब्रह्मणे। विश्वेभ्यो हि च देवेभ्यः सप्रजापतये तथा ॥ ८ ॥ षड्चरुका जुहुयात्पश्चात् प्रायश्चित्ताहुतिं द्विजः । अतः समापयेदग्निं शान्तिं कृत्वाथ पौष्टिकीम् ॥ ९ ॥ प्रणम्य चाग्निं सोमं च भस्म दिग्ध्वा यथाविधि । नदीं गत्वा विशुद्धात्मा सोमाय

इनमेंसे जिस किसीको भी यथार्थ चान्द्रायण व्रत करनेकी इच्छा हो उसके लिये पहले क्रिया है ॥ ३ ॥ व्रत करनेवाला मन और इन्द्रियोंको नियममें रखकर पञ्चगव्यके प्राशनसे अपने शरीरको शुद्ध करे, फिर कृष्णपक्षमें शिरका मुण्डन करवावे ॥ ४ ॥ न्हाकर पवित्र हो स्वेत वस्त्र पहरकर, कमरमें मूँजकी मेखला बाँध हाथमें ढाकका दण्ड लेकर ब्रह्मचारीका व्रत पालन करे ५ फिर ब्राह्मण शुक्लपक्षकी पड़वाके दिन उपवास करे और नदीके सङ्गम पर पवित्र स्थानमें अथवा घरमें एक वेदी बनावे उसको गोवरसे लीपे और उसके ऊपर अग्निको स्थापन करे ॥ ६ ॥ फिर अग्निमें क्रमसे आघार, आज्यभाग, प्रणव, व्याहृति और वरुणका, इसप्रकार पाँच होम करे ॥ ७ ॥ फिर द्विज सत्यदेव, विष्णुदेव, ब्रह्मर्षि, ब्रह्मा, विश्वदेवता और प्रजापति, इन छः देवताओंको आहुति देय, फिर शान्ति पौष्टिक कर्म करके अग्निको पूर्णाहुति देय ॥ ८ ॥ ९ ॥ और अग्निको तथा सोमको प्रणाम करके विधिपूर्वक शरीर पर भस्म लगावे, फिर नदीके

वरुणाय च । आदित्याय नमस्कृत्वा ततः स्नायात्समाहितः १०
उत्तीर्योदकमाचम्य चासीनः पूर्वतोमुखः । प्राणायामं ततः कृत्वा पवित्रैरभिषेचनम् ॥ ११ ॥ आचान्तस्त्वभिवीक्षेत ऊर्ध्वबाहुर्दिवाकरम् । कृताञ्जलिपुटः स्थित्वा कुर्याच्चैव प्रदक्षिणम् ॥ १२ ॥ नारायणं वा रुद्रम्वा ब्रह्माणमथवापि वा । वारुणं मंत्रसूक्तं वा प्राग्भोजनमथापि वा ॥ १३ ॥ वीरघ्नमृषभं वापि तथा चाप्यघमर्षणम् । गायत्रीं मम देवीं वा सावित्रीं वा जपेत्ततः । शतं वाष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् ॥ १४ ॥ ततो मध्याह्नकाले वै पायसं यावकं हि वा । पाचयित्वा प्रयत्नेन प्रयतः सुसमाहितः ॥ १५ ॥ पात्रं तु सुसमादाय सौवर्णं राजतं तु वा । ताम्रं वा मृण्मयं वापि औदुम्बरमथापि वा ॥ १६ ॥ वृक्षाणां यज्ञियानां तु पर्णैरार्द्रैरकु-

ऊपर जाकर शुद्धचित्त पुरुष चन्द्रमा, वरुण और सूर्यको प्रणाम कर मनको नियममें रखकर नदीमें स्नान करे ॥ १० ॥ फिर नदीसे बाहर निकल पूर्वको मुख करके बैठे, आचमन करके प्राणायाम करे और कुशाओंसे अपने शरीरके ऊपर प्रोक्षण करे ॥ ११ ॥ फिर आचमन कर दोनों भुजाएँ ऊँची करके सूर्यका दर्शन करे और फिर दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो नारायण रुद्र, और ब्रह्माकी प्रदक्षिणा करे, फिर भोजन लेनेसे पहले वरुणदेवके मंत्रका ॥ १२ ॥ वीरघ्न मंत्रका अथवा ऋषभ नामके मंत्रका पाठ करे, फिर अघमर्षण करके मेरा या देवी गायत्रीके मंत्रका अथवा सावित्रीमंत्रका, सौ या एक सौ आठ अथवा सहस्र जप करे ॥ १३ ॥ १४ ॥ फिर मध्याह्नमें दूधपाक अथवा जौकी लहपसी सावधान हो, इन्द्रियोंको वशमें रखकर उद्योगसे बनावे ॥ १५ ॥ यदि ऐसा न करना हो तो सोनेका, चाँदीका, ताँबेका, मट्टीका अथवा गूलडका पात्र लेकर ॥ १६ ॥ अथवा यज्ञके लिये बतायेहुए वृक्षोंमेंके किसी एक वृक्षके जो

हितैः । पुटकेन तु गुप्तेन चरेद्भैक्षं समाहितः ॥१७॥ ब्राह्मणानां गृहाण्येव तु सप्तानां नापरं व्रजेत् । गोदोहमात्रं तिष्ठेत्तु वाग्यतः संयतेन्द्रियः ॥ १८ ॥ न हसेन्न च वीक्षेत नाभिभाषेत वा स्त्रियम् ॥ १९ ॥ दृष्ट्वा मूत्रं पुरीषं वा चाण्डालं वा रजस्वलाम् । पतितं च तथा श्वानमादित्यमवलोकयेत् ॥२०॥ यो हि पादुकमारुह्य सर्वदा प्रचरेद् द्विजः । तं दृष्ट्वा पापकर्माणमादित्यमवलोकयेत् २१ ततस्त्वावसथं प्राप्तो भिक्षां निक्षिप्य भूतले । प्रक्षाल्य पादावाजान्वोर्हस्तावाकूर्परं पुनः । आचम्य वारिणा तेन वह्निं विप्रांश्च पूजयेत्॥२२॥ पञ्च सप्ताथवा कुर्याद्भागान्भैक्षस्य तस्य वै । तेषामन्यतमं पिण्डमादित्याय निवेदयेत् ॥ २३ ॥ ब्रह्मणे चाग्नये चैव सोमाय

खराब न हुए हों ऐसे हरे पत्तोंका एक दोना बनावे और उसको छुपाए हुए सावधान चित्तसे सात ब्राह्मणोंके घरसे भिक्षा माँगे, अधिक घरोंसे न माँगे, भिक्षा माँगतेमें मौन रहे, इन्द्रियोंको नियममें रक्खे और गौको दुहनेमें जितना समय लगता है उतनी देर खड़ा रहे॥१७-१८॥भिक्षा माँगनेवाला हँसे नहीं इधर उधरको देखे नहीं और स्त्रीके साथ बातें न करे ॥१९॥ जाते समय मार्ग में मल, मूत्र, चाण्डाल, रजस्वला, पतित और कुत्ता दीखजाय तो सूर्यका दर्शन करे ॥ २० ॥ जो ब्राह्मण जूतियें पैरकर नित्य फिरता है, उस पाप करनेवालेको देखकर सूर्यका दर्शन करे ॥ २१ ॥ फिर अपने घर आकर भिक्षाका पात्र भूमि पर रखदेय, दोनों पैरोंको घुटनों तक जलसे धोडाले और हाथोंको भी कोनियों तक धोवे, फिर जलसे आचमन करे और अग्निका तथा ब्राह्मणोंका पूजन करे ॥ २२ ॥ फिर उस भिक्षाके पाँच अथवा सात भाग करे और उसमेंसे एक पिण्ड सूर्यको निवेदन करे ॥ २३ ॥ एक पिण्ड ब्रह्माको, एक पिण्ड अग्निको, एक पिण्ड सोमको, एक पिण्ड वरुणको और एक पिण्ड विश्वे-

वरुणाय च । विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो दद्यादन्नं यथाक्रमम् ॥२४॥ अवशिष्टमथैकं तु वक्त्रमात्रं प्रकल्पयेत् ॥ २५ ॥ अंगुल्यग्रे स्थितं पिण्डं गायत्र्या चाभिमंत्रयेत् । अङ्गुलीभिस्त्रिभिः पिण्डं प्राश्नीयत्प्राङ्मुखः शुचिः ॥ २६ ॥ यथा च वर्धते सोमो ह्रसते च यथा पुनः। तथा पिण्डाश्च वर्धन्ते ह्रसन्ते च दिने दिने ॥२७॥ त्रिकालं स्नानमस्योक्तं द्विकालमथवा सकृत् । ब्रह्मचारी सदा चापि न च वस्त्रं प्रपीडयेत् ॥ २८ ॥ स्थाने न दिवसं तिष्ठेद्रात्रौ वीरासनं व्रजेत् । भवेत्स्थण्डिलशायी वाऽप्यथवा वृक्षमूलिकः २९ वल्कलं यदि वा क्षौमं शाणं कार्पासिकं तथा । आच्छादनं भवेत्तस्य वस्त्रार्थं पाण्डुनन्दन ॥ ३० ॥ एवं चान्द्रायणे पूर्णे मासस्यान्ते प्रयत्नवान् । ब्राह्मणान्भोजयेद्भक्त्या दद्याच्चैव च दक्षिणाम् ।३१।

देवताओंको इसप्रकार क्रमसे अन्नके पिण्ड देय ॥ २४ ॥ फिर बाकी रहे हुए एक पिण्डको ऐसा करलेय, कि-मुखमें आजाय २५ फिर पवित्र होकर पूर्वदिशाकी ओरको मुख करके बैठे, उस पिण्डको तीन अंगुलियोंके ऊपर लेकर गायत्री मंत्रसे उसका अभिमंत्रण करे और फिर तीन ही अंगुलियोंसे उस पिण्डको खाय ॥२६॥ जैसे शुक्लपक्षमें चन्द्रमा बढता है और कृष्णपक्षमें जैसे चन्द्रमाका क्षय होता है तैसे ही प्रतिदिन पिण्डको बढाया और घटायाजाता है ॥२७॥ चान्द्रायण व्रत करने वालेके लिये तीन समय, दो समय अथवा एक समय स्नान करना कहा है ॥ २८ ॥ दिनमें एक जगह न बैठारहे, रातमें वीरासनसे खडारहे, यदि सोना हो तो खुले स्थानमें चौंतरे पर सोवे अथवा वृक्षकी जडके पास सोवे ॥ २९ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! वह वल्कल वस्त्र, अलसीके वस्त्र, सनके वस्त्र अथवा रुईके वस्त्रोंसे शरीरको ढके ॥३०॥ इसप्रकार उद्योग करके एकमास बाद जब चान्द्रायण व्रत पूरा होजाय तब भक्तिके साथ ब्राह्मणोंको भोजन करावे और

चान्द्रायणेन चीर्णेन यत्कृतं तेन दुष्कृतम् । तत्सर्वं तत्क्षणादेव भस्मीभवति काष्ठवत् ॥३२॥ ब्रह्महत्या च गोहत्या सुवर्णस्तैन्यमेव च । भ्रूणहत्या सुरापानं गुरोर्दाररव्यतिक्रमः॥३३॥ एवमन्यानि पापानि पातकीयानि यानि च । चान्द्रायणेन नश्यन्ति वायुना पांसवो यथा ॥३४॥ अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमाविकमेव च । मृतसूतकयोश्चान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥३५॥ उपपातकिनश्चान्नं पतितान्नं तथैव च । शूद्रस्योच्छेषणं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥३६॥ आकाशस्थं तु हस्तस्थमधः स्रस्तं तथैव च । परहस्तस्थितं चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥३७॥ अथाग्रे दिधिषोरन्नं दिधिषूपपतेस्तथा । परिवेत्तुस्तथा चान्नं परिवित्तान्नमेव च ।३८।

उनको दक्षिणा देय ॥ ३१ ॥ जो कुछ पाप किया होता है वह सब चान्द्रायण व्रतको करनेसे काठकी समान तत्काल जलकर राख होजाता है ॥ ३२ ॥ ब्रह्महत्या, गोहत्या, सोनेकी चोरी, बालहत्या, मद्यपान, गुरुकी स्त्रीके साथ गमन ॥ ३३ ॥ इनके सिवाय और भी जो पाप होते हैं वे चान्द्रायणसे ऐसे नष्ट होजाते हैं जैसे वायुसे धूलि उडजाती है ॥ ३४ ॥ जिसको व्याहे हुए दश दिन न हुए हों ऐसी गौका दूध, ऊँटनीका दूध, भेडका दूध, मृतसूतक और वृद्धिसूतकका अन्न खाकर चान्द्रायण व्रत करे ॥ ३५ ॥ उपपातकीका अन्न, पतितका अन्न और शूद्रकी जूठन खानेमें आजाय तो चान्द्रायण व्रत करे ।३६। आकाशमेंके अर्थात् वृक्षादि पर लटकते हुए फलोंको, हाथ पर धरेहुए अन्नको, भूमिपर पड़ेहुए अन्नको तथा दूसरेके हाथमेंके अन्नको खालेने पर चान्द्रायण व्रत करे ॥ ३७ ॥ बडी बहिनके क्वारी रहनेपर पहले विवाहीगई छोटी बहनका अन्न, भाईकी विधवा स्त्रीके साथ धर्मसे नियोग करके पीछे उसके साथ कामनासे व्यवहार करनेवालेका अन्न, बड़े भाईके अविवाहित होतेहुए विवाह

कुण्डान्नं गोलकान्नं च देवलान्नं तथैव च । तथा पुरोहितस्यान्नं भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥३९॥ सुरासवं विषं सर्पिर्लाक्षा लवणमेव च । तैलं चापि च विक्रीणन् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ ४० ॥ एकोद्दिष्टं तु यो भुंक्ते जनमध्यगतोऽपि यः । भिन्नभाण्डेषु यो भुङ्क्ते द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ ४१ ॥ यो भुंक्तेऽनुपनीतेन यो भुङ्क्ते च स्त्रिया सह । कन्यया सह यो भुङ्क्ते द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥४२॥ उच्छिष्टं स्थापयेद्विप्रो यो मोहाद्वा जनांतरे । दद्याद्वा यदि वा मोहाद् द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥ ४३ ॥ तुम्बकोशातकं चैव पलाण्डुं गृञ्जनं तथा । छत्राकं लशुनञ्चैव भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ ४४ ॥ द्विजः पर्युषितं चान्नं पक्वं परगृहागतम् । विपक्वं

करलेनेवाले छोटे भाईका अन्न और क्वारा रहेहुए बड़े भाईका अन्न ॥३८॥ कुण्ड (पतिकी जीवित दशामें व्यभिचारसे उत्पन्न किये हुए पुत्र) का अन्न, गोलक (विधवासे उत्पन्न हुए) का अन्न, पुजारीका अन्न और पुरोहितका अन्न खालेय तो चान्द्रायण करे ॥ ३९ ॥ मदिरा, आसव, विष, घी, लाख, लवण और तेल बेचनेवाला ब्राह्मण चान्द्रायण करे ॥ ४० ॥ जो द्विज सपिण्डीकरणका भोजन करता है, जो द्विज बड़ेभारी भण्डारेमें भोजन करता है, जो द्विज फूटेहुए पात्रमें भोजन करता है, उसको चान्द्रायण व्रत करना चाहिये ॥ ४१ ॥ जो पुरुष जनेऊ न हुए बालकके साथ बैठकर भोजन करे, जो पुरुष स्त्रीके साथ एक पात्रमें भोजन करे, जो कन्याके साथ भोजन करे उस द्विजको चान्द्रायण व्रत करना चाहिये ॥ ४२ ॥ जो ब्राह्मण मूर्खतासे अपनी जूठन दूसरे भोजनके साथ मिला देता है अथवा अपनी जूठन मोहसे दूसरेको देता है उसको चान्द्रायण व्रत करना चाहिये ॥ ४३ ॥ तुम्बा, बालपड़ा अन्न, शलजम, गाजर, काठका फूल और लहसुन खाकर चान्द्रायण व्रत

च तथा मांसं भुक्त्वा चांद्रायणं चरेत् ॥४५॥ उदक्यया शुना वापि चाण्डालैर्वा द्विजोत्तमः । दृष्टमन्नं तु भुञ्जानो द्विजश्चान्द्रायणं चरेत् ॥४६॥ एतत्पुरा विशुद्ध्यर्थमृषिभिश्चरितं व्रतम् । पावनं सर्वभूतानां पुण्यं पाण्डवचोदितम् ॥ ४७ ॥ एतेन वसवो रुद्राश्चादित्याश्च दिवं गताः । एतदद्य परं गुह्यं पवित्रं पापनाशनम् ॥४८ यथोक्तमेतद्यः कुर्याद् द्विजः पापप्रणाशनम् । स दिवं याति पूतात्मा निर्मलादित्यसंनिभः ॥४९॥ ॥ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि चान्द्रायणवर्णने नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

वैशम्पायन उवाच । केशवेनैवमुक्ते तु चान्द्रायणविधिक्रमे । अपृच्छत्पुनरन्यांश्च धर्मान्धर्मात्मजो नृप ॥१॥ युधिष्ठिर उवाच । सर्व भूतपते श्रीमन् सर्वभूतनमस्कृत । सर्वभूतहितं धर्मं सर्वज्ञ

करे ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण, बासी अन्न, दूसरेके घरसे आयाहुआ राँधा वा बिना राँधा अन्न और मांस खाकर चान्द्रायण व्रत करे ॥ ४५ ॥ रजस्वला स्त्रीका, कुत्तेका और चाण्डालोंका देखा हुआ अन्न खाकर ब्राह्मणवर्णका मनुष्य चान्द्रायण व्रत करे४६ हे पाण्डुपुत्र । पहले ऋषियोंने शुद्धताके लिये यह व्रत किया था, यह व्रत सब प्राणियोंको पवित्र करनेवाला और पुण्यरूप है ४७ इस व्रतको करनेसे वसु, रुद्र और आदित्य स्वर्गमें गए थे, जो द्विज परमगुप्त, पवित्र और पापोंका नाश करनेवाले इस चान्द्रायणव्रतको करता है वह पवित्रात्मा तथा निर्मल सूर्यकी समान तेजस्वी होकर स्वर्गमें जाता है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ एकसौ नौवाँ अध्याय समाप्त ॥ १०९ ॥ ॥ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजा जनमेजय ! इसप्रकार श्रीकृष्णने चान्द्रायणकी विधि कह सुनाई, तब धर्मपुत्र दूसरे धर्म बूझनेलगे ॥ १ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे सर्वभूतपति !

कथयस्व नः ॥ २ ॥ भगवानुवाच । यद्व दरिद्रजनस्यापि स्वर्ग्यं सुखकरं भवेत् । सर्वपापप्रशमनं तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥ ३ ॥ कार्तिकाद्यास्तु ये मासा द्वादशैव प्रकीर्तिताः । तेष्वेकभुक्तनियमः सर्वेषामुच्यते मया ॥४॥ कार्तिके यस्तु वै मासे नन्दायां संयतेद्रियः एकभुक्तेन मद्भक्तो मासमेकं तु वर्तते ॥५॥ जलं वा न पिबेन्मासे नांतरं भोजनात्परम् । आदित्यरूपं मां नित्यमर्चयन् सुसमाहितः ६ व्रतान्ते भोजयेद्विप्रान् दक्षिणां संप्रदाय च । क्रोधलोभविनिर्मुक्तस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ७ ॥ विधिवत्कपिलादाने यत्पुण्यं समुदाहृतम् । तत्पुण्यं समनुप्राप्य सूर्यलोके महीयते । ततश्चापि च्युतः कालात्पुरुषेष्वजायते ॥८॥ मार्गशीर्षं तु यो मासमेकभुक्तेन

हे श्रीमान् ! हे सब प्राणियोंके प्रणाम करने योग्य ! हे सर्वज्ञ ! मुझे सब प्राणियोंका हितकारी धर्म सुनाइये ॥ २ ॥ भगवान्ने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! जो व्रत दरिद्र मनुष्योंको भी स्वर्ग और सुख देनेवाला है तथा सब पापोंका नाश करनेवाला है, उसको सुनो ॥ ३ ॥ कार्त्तिक आदि बारह महीने कहे हैं, उनमें सबोंमें सबोंको एक समय भोजन करना चाहिये, इस विषयमें अब मैं कहता हूँ ॥ ४ ॥ जो मनुष्य इन्द्रियोंको नियममें रखकर कार्त्तिक की नन्दा (पड़वा, छठ और एकादशी) तिथियोंमें एक महीने तक एकसमय भोजन करता है वह मेरा भक्त होता है ॥ ५ ॥ अथवा वह एक मासतक भोजन करके फिर बीच २ में जल नहीं पीता है और मनको अच्छे प्रकारसे स्थिर करके आदित्यरूप मेरा नित्य पूजन करता है ॥६॥ व्रत पूरा होने पर ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, दक्षिणा देता है, लोभ और क्रोधसे बचा रहता है, उसके पुण्यका फल सुनो ॥ ७ ॥ कपिला गौको विधिपूर्वक दान देनेसे जो फल कहा है, उस पुण्यफलको पाकर वह सूर्यके लोकमें पूजा जाता है, समय आने पर वहाँसे मर्त्यलोकमें आता

वर्तते । कामं क्रोधं च लोभं च परित्यज्य यथाविधि ॥९॥ स्नात्वा चादित्यरूपं मामर्चयेन्नियतेन्द्रियः । जपेच्चैव च गायत्रीं मामिकां वाग्यतेन्द्रियः ॥१०॥ मासे परिसमाप्ते तु भोजयित्वा द्विजाञ्छुचिः । तानर्चयति मद्भक्त्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ११ ॥ अग्निहोत्रे कृते पुण्यमाहिताग्नेस्तु यद्भवेत् । तत्पुण्यं फलमासाद्य यानेनांऽबरशोभिना । सह सप्तर्षिलोकेषु यथाकामं यथासुखम् ॥ १२ ॥ ततश्चापि च्युतः कालाद्धरिवर्षेषु जायते । तत्र सकामं क्रीडित्वा राजा पश्चाद्भविष्यति ॥ १३ ॥ पौषमासं क्षिपेदेवमेकभुक्तेन यो नरः । अर्चयन्नेव मां नित्यं मद्गतेनान्तरात्मना ॥१४॥ अहिंसा-

---

है तो पुरुषार्थी मनुष्यका जन्म पाता है ॥ ८ ॥ जो पुरुष काम, क्रोध और लोभको त्यागकर शास्त्रकी आज्ञानुसार मार्गशीर्षके महीनेमें एक समय भोजन करता है ॥ ९ ॥ तथा प्रातःकालके समय स्नान करके इन्द्रियोंको वशमें रख आदित्यरूप मेरा पूजन करता है, वाणी और इन्द्रियोंको नियममें रखकर गायत्री देवी का जप करता है ॥ १० ॥ इसप्रकार एक महीने तक एक समय भोजन करता हुआ गायत्रीका जप करके महीना समाप्त होने पर वह पवित्र पुरुष ब्राह्मणोंको भोजन कराता है और मेरे ऊपर भक्ति रखकर उन ब्राह्मणोंका पूजन करता है उसके पुण्यफल को सुनो॥११॥ अग्निहोत्र करनेसे अग्निहोत्रीको जो पुण्य होता है उस पुण्यका फल पाकर आकाशमें शोभायमान विमानके द्वारा सप्तर्षियोंके लोकमें जाता है और वहाँ अपनी इच्छानुसार सुख पाता हुआ वर्ताव करता है ॥ १२ ॥ फिर समयानुसार पुण्य क्षीण होने पर वहाँसे आकर हरिवर्षमें जन्म लेता है,वहाँ इच्छा-नुसार क्रीडा करके पीछेसे राजा होता है ॥ १३ ॥ जो मनुष्य पूसके महीने भर एकभुक्त व्रत करता है और मुझमें मन लगाकर नित्य मेरा ही पूजन करता है ॥१४॥ अहिंसा, सत्य आदि धर्मको

सत्यसहितः क्रोधहर्षविवर्जितः ॥ एवं युक्तस्य राजेन्द्र शृणु यत्फलमुत्तमम् ॥ १५ ॥ विप्रातिथ्यसहस्रेषु यत्पुण्यं समुदाहृतम् । तत्पुण्यं समनुप्राप्य शक्रलोके महीयते ॥ १६ ॥ अवतीर्णस्ततः कालादिलावर्षेषु जायते । तत्र स्थित्वा चिरं कालमस्मिन्विप्रो भविष्यति ॥ १७ ॥ माघमासं सदा यस्तु वर्त्तते चैकभुक्ततः । मदर्चनपरो भूत्वा दंभक्रोधविवर्जितः । गायत्रीमपि सावित्रीं सन्ध्यायां तु जपेद्बुधः ॥ १८ ॥ दत्त्वा तु दक्षिणामन्ते भोजयित्वा द्विजानपि । नमस्करोति तान्भक्त्या मद्गतेनान्तरात्मना । त्रिकालस्नानयुक्तस्य तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १९ ॥ नीलकण्ठप्रयुक्तेन यानेनाम्बरशोभिना । पितृलोकं व्रजेच्छ्रीमान्सेव्यमानोऽप्सरोगणैः २० तत्र प्रकामं क्रीडित्वा भद्राश्वेषूपजायते । ततश्च्युतश्चतुर्वेदी विप्रो

धारण करता है, क्रोध और हर्षका त्याग करता है, हे राजेन्द्र ! ऐसे पुरुषको उत्तम फल मिलता है उसको सुनो ॥ १५ ॥ एक हजार ब्राह्मणोंका अतिथिसत्कार करनेसे जो पुण्य होता है उस पुण्यको पाकर वह इन्द्रके लोकमें पूजा जाता है ॥ १६ ॥ फिर समय आने पर तहाँसे लौटकर इलावर्षमें जन्म लेता है और तहाँ बहुत समय तक रहकर इसलोकमें ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ १७ ॥ जो पुरुष माघ महीने भर एक समय भोजन करता है, मेरा पूजन करता है, दम्भ और क्रोधको त्यागदेता है तथा सन्ध्याके समय मेरे गायत्री मंत्रका जप करता है ॥ १८ ॥ व्रत पूरा होनेपर ब्राह्मणोंको भोजन कराकर दक्षिणा देता है और मुझमें मन लगाकर भक्तिके साथ उन ब्राह्मणोंको प्रणाम करता है तथा दिनमें तीन समय स्नान करता है, उसके पुण्यका फल सुनो१९वह पुरुष शिवके भेजेहुए आकाशकी समान शोभायमान विमानमें बैठकर पितृलोकमें जाता है और तहाँ अप्सराओंके मण्डल उस श्रीमान्की सेवा करते हैं ॥ २० ॥ तहाँ जी भर

भवति भूतले ॥ २१ ॥ यश्चरेत्फाल्गुनं मासमेकभुक्तो जितेन्द्रियः। नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्येतन्मन्त्रं जपेत्सदा ॥ २२ ॥ पायसं भोजयेद्विप्रान् व्रतान्ते संयतेन्द्रियः। मदर्चनपरोऽक्रोधस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २३ ॥ विमानं सारसैर्युक्तमारूढः कामगामि च । नक्षत्रलोके रमते नक्षत्रसदृशाकृतिः ॥ २४ ॥ ततश्चापि च्युतः कालात् केतुमालेषु जायते । तत्र प्रकामं क्रीडित्वा मानुषेषु मुनिर्भवेत् २५ चैत्रमासन्तु यो राजन्नेकभुक्तेन वर्त्तते । ब्रह्मचारी च मद्भक्तस्या तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २६ ॥ यदग्निहोत्रिणः पुण्यं यदुक्तं व्रतचारिणः । तत्पुण्यफलमासाद्य ब्रह्मलोके महीयते । ततोऽवतीर्णो

कर विहार करता है और फिर भद्राश्वखण्डमें जन्म लेता है तहाँसे समयानुसार गिरकर पृथिवीपर चारों वेदोंका जाननेवाला ब्राह्मण होता है ॥ २१ ॥ जो पुरुष इन्द्रियोंको वशमें रखकर फागनके महीने भर एक समय भोजन करता है, सदा "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" मंत्रका जप करता है ॥ २१ ॥ और, व्रत समाप्त होनेपर इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्राह्मणोंको क्षीरपाक जिमाता है, नित्य मेरा पूजन करता है और क्रोधका त्याग करता है, उसका पुण्यफल सुनो ॥ २३ ॥ वह पुरुष इच्छानुसार फिरनेवाले और सारसोंसे जुते विमानमें बैठकर नक्षत्रलोकमें जाता है और नक्षत्रकी समान तेजस्वी होकर विहार करता है ॥२४॥ कितने ही समय बाद तहाँसे च्युत होकर केतुमाल नामके देशमें जन्म लेता है, तहाँ अच्छे प्रकारसे विहार करके मनुष्यलोकमें मुनिका जन्म पाता है ॥ २५ ॥ हे राजन् ! जो पुरुष चैतके महीनेमें एक समय भोजन करता है, ब्रह्मचर्य व्रतको पालता है और मेरे ऊपर भक्ति रखता है उसके पुण्यका फल सुनो ।२६। जो पुण्य अग्निहोत्रीको होता है और जो पुण्य शास्त्रमें लिखी रीतिसे व्रत करनेवालेको होता है, उस पुण्यके फलको पाकर

जायेत वर्षे रमणके पुनः । भुक्त्वा कामांस्ततस्तस्मिन्निह राजा भविष्यति ॥ २८ ॥ वैशाखे यस्तु मासे वै ह्येकभुक्तेन वर्त्तते । द्विजमग्रासने कृत्वा भुञ्जन् भूमौ च वाग्यतः ॥२६॥ नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यर्चयित्वा दिवाकरम् । व्रतान्ते भोजयेद्विप्रांस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ३० ॥ फलं यद्विधिवत्प्रोक्तमग्निष्टोमातिरात्रयोः । तत्पुण्यफलमासाद्य देवलोके महीयते ॥ ३१ ॥ ततो हैमवते वर्षे जायते कालपर्ययात् । तत्र प्रकामं क्रीडित्वा विप्रः पश्चाद्भविष्यति ॥३२॥ ज्येष्ठमासं तु यो विप्रो ह्येकभुक्तेन वर्तते। विप्रमग्रासने कृत्वा भूमौ भुञ्जन् यथाविधि ॥ ३३ ॥ नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्युच्चरन् मां समाहितः । दम्भानृतविनिर्मुक्तस्तस्य पुण्य-

---

वह चन्द्रलोकमें पूजा पाता है ॥ २७ ॥ वहाँसे गिरकर रमणक खण्डमें जन्म लेता है,तहाँ कामनाओंको भोग कर फिर मनुष्य-लोकमें राजा होता है ॥२८॥ जो वैशाखके महीने भर एकभुक्त व्रत करता है और ब्राह्मणको पहले भोजन कराकर वाणीको नियममें रखताहुआ भूमिमें मण्डल करके उसके ऊपर भोजन करता है ॥२६॥ तथा नित्य "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" इस मंत्रको बोलकर सूर्यका पूजन करता है और व्रत समाप्त होने पर ब्राह्मणोंको जिमाता है, उसके पुण्यके फलको सुनो ॥३०॥ जो फल विधिके अनुसार कियेहुए अग्निष्टोमका और अतिरात्रका मिलता है उस पुण्यफलको पाकर वह देवलोकमें देवताओंसे पूजाजाता है ॥ ३१ ॥ फिर समय पलटने पर हैमवत नामक खण्डमें जन्म लेता है, तहाँ अच्छे प्रकारसे क्रीड़ा करके फिर इस लोकमें ब्राह्मणके घर जन्म लेता है ॥ ३२ ॥ जो ब्राह्मण एकभुक्त रहकर जेठके महीनेको विताता है, विधिपूर्वक भूमिपर मण्डल बनाकर भोजन करता है और ब्राह्मणको अपनेसे भोजन कराता है ॥ ३३ ॥ "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" इस मंत्रका उच्चारण

फलं शृणु ॥ ३४ ॥ चीर्णे चान्द्रायणे सम्यग्यत्पुण्यं समुदाहृतम्।
तत्पुण्यफलमासाद्य देवलोके महीयते ॥ ३५ ॥ अथोत्तरकुरौ वर्षे
जायते निर्गतस्ततः । ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके द्विजो
भवेत् ॥ ३६ ॥ आषाढमासं यो राजन्नेकभुक्तेन वर्तते । ब्रह्म-
चारी जितक्रोधो मदर्चनपरायणः ॥ ३७ ॥ विप्रमग्रासने कृत्वा
भूमौ भुञ्जञ्जितेन्द्रियः। कृत्वा त्रिषवणं स्नानमष्टाक्षरविधानतः। ३८
व्रतान्ते भोजयेद्विद्वान्पायसेन युधिष्ठिर । गुडोदनेन राजेन्द्र तस्य
पुण्यफलं शृणु ॥३९॥ कपिलाशतदानस्य यत्पुण्यं पाण्डुनन्दन।
तत्पुण्यफलमासाद्य देवलोके महीयते ॥ ४० ॥ ततोऽवतीर्णः
काले तु शाकद्वीपे तु जायते । ततश्चापि च्युतः कालादिह विप्रो

कर मनको स्थिर करके मुझे प्रणाम करता है दम्भ और असत्यसे बचा रहता है, उसके पुण्यफलको सुनो ॥ ३४ ॥ अच्छे प्रकारसे चान्द्रायण करने पर जो फल मिलता है, उस पुण्यफलको पाकर वह देवलोकमें पूजा जाता है ॥३५॥ फिर उत्तरकुरु नामके खण्डमें जन्म लेता है और तहाँ कितने ही समय तक रहकर तहाँसे लौटने पर इस लोकमें ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ ३६ ॥ हे राजन ! जो पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन करके क्रोधको जीतता हुआ आषाढके महीने भर एक समय भोजन करता है, मेरी पूजामें लगा रहता है ॥ ३७ ॥ ब्राह्मणको पहले भोजन कराकर स्वयं भूमिपर मण्डल बना उसके ऊपर भोजन करता है और इन्द्रियोंको वशमें रखकर तीन समय स्नान करता है तथा अष्टाक्षर मंत्रसे मेरा ध्यान करता है ॥ ३८ ॥ और हे युधिष्ठिर! व्रत समाप्त होने पर ब्राह्मणोंको क्षीरपाक और गुड़भात खिलाता है, हे राजेन्द्र ! उसके पुण्यफलको सुनो ॥ ३९ ॥ हे पांडुपुत्र! सौ कपिला गौओंका दान देनेसे जो पुण्यफल मिलता है उस पुण्यफलको पाकर वह देवलोकमें पूजा जाता है ॥ ४० ॥ फिर

भविष्यति ॥ ४१ ॥ श्रावणं यः क्षिपेन्मासमेकभुक्तेन वर्तते । नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्युक्त्वा मामर्चयेत्सदा। विप्रमग्रासने कृत्वा भूमौ भुञ्जन्यथाविधि ॥ ४२ ॥ पायसेनार्चयेद्विप्राञ्जितक्रोधो जितेन्द्रियः । लोभमोहविनिर्मुक्तस्तस्य पुण्यफलं शृणु॥४३॥ कपिलादानस्य यत्पुण्यं विधिदत्तस्य पांडव । तत्पुण्यं समनुप्राप्य शक्रलोके महीयते ॥ ४४ ॥ ततश्चापि च्युतः कालात्कुशद्वीपे प्रजायते । तत्र प्रकामं क्रीडित्वा विप्रो भवति मानुषे ॥ ४५ ॥ यस्तु भाद्रपदं मासमेकभुक्तेन वर्तते । ब्रह्मचारी जितक्रोधः सत्यसंधो जितेन्द्रियः ॥ ४६ ॥ विप्रमग्रासने कृत्वा पाकभेदविवर्जितः । नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्युक्त्वाऽस्य चरणौ स्पृशेत् ॥४७॥ तिलानपि घृतं

समय पाकर शाकद्वीपमें जन्म लेता है और समयानुसार वहाँसे लौटकर इस लोकमें ब्राह्मण होता है ॥४१॥ जो पुरुष श्रावणके महीनेमें एक समय भोजन करके विताता है और 'नमो ब्रह्मण्यदेवाय' इस मंत्रको पढ़कर सदा मेरा पूजन करता है तथा शास्त्रकी विधिसे ब्राह्मणको पहले भोजन कराकर स्वयं भूमिपर मंडल बनाकर उसके ऊपर भोजन करता है ॥ ४२ ॥ ब्राह्मणोंको क्षीरपाकका भोजन कराता है, स्वयं क्रोधको त्याग कर इन्द्रियोंको जीतता है और लोभसे तथा मोहसे बचा रहता है, उसके पुण्यफलको सुनो ॥ ४३ ॥ हे पाण्डुपुत्र ! विधिपूर्वक दी हुई कपिला गौके दानका जो फल होता है, उसके पुण्यफलको पाकर इन्द्रलोकमें पूजा जाता है४४फिर वहाँसे गिरकर समयानुसार कुशद्वीपमें जन्म लेता है और वहाँ अच्छे प्रकार क्रीड़ा करके मनुष्यलोकमें ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥४५॥ जो पुरुष भादोंके महीने भर एक समय भोजन करता हुआ ब्रह्मचर्यका पालन करता है, क्रोधको जीत सत्य प्रतिज्ञाका पालन करता है, इन्द्रियोंको वशमें रखता है ॥ ४६ ॥ पहले ब्राह्मणको भोजन कराकर पीछे आप

चापि व्रतान्ते दक्षिणां ददत् । मद्भक्तस्य नरश्रेष्ठ तस्य पुण्यफलं शृणु ॥४८॥ यत्फलं विधिवत्प्रोक्तं राजसूयाश्वमेधयोः । तत्पुण्यफलमासाद्य शक्रलोके महीयते ॥ ४९ ॥ ततश्चापि च्युतः कालाज्जायते धनदालये । तत्र प्रकामं क्रीडित्वा राजा भवति मानुषे ५० यश्चाप्याश्वयुजं मासमेकभुक्तेन वर्तते । मद्गायत्रीं जपेद्भक्त्या मद्गतेनान्तरात्मना । द्विसन्ध्यं वा त्रिसन्ध्यं वा शतमष्टोत्तरं तु वा ५१ विप्रमग्रासने कृत्वा संयतेंद्रियमानसः । व्रतान्ते भोजयेद्विप्रांस्तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ ५२ ॥ अश्वमेधस्य यत्पुण्यं विधिवत्पाण्डुनन्दन । तत्पुण्यफलमासाद्य मम लोके महीयते ॥५३॥ ततश्चापि

भोजन करता है, भोजनमें भेद नहीं रखता, "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" मंत्रको बोलताहुआ ब्राह्मणके चरण छूता है ॥४७॥ व्रत समाप्त होने पर मेरा भक्त तिल या घी अथवा दक्षिणा देता है हे राजन् ! उसके पुण्यफलको सुनो ॥ ४८ ॥ विधिपूर्वक राजसूय और अश्वमेधके यज्ञका जो फल कहा है, उसके पुण्यफलको पाकर वह इन्द्रलोकमें पूजा जाता है ॥ ४९ ॥ फिर समय आने पर उस लोकसे च्युत होकर कुवेरके लोकमें जन्म लेता है, तहाँ अच्छे प्रकारसे क्रीड़ा करके मनुष्यलोकमें राजा होता है ॥ ५० ॥ जो मनुष्य आश्विनमासमें एक समय भोजन करता है, मुझमें मन लगाकर भक्तिके साथ मेरी गायत्रीका जप करता है, प्रातः सायङ्कालमें अथवा तीनों समय एक सौ आठ गायत्रीका जप करता है ॥ ५१ ॥ पहले ब्राह्मणको भोजन कराकर पीछे आप भोजन करता है, इन्द्रियोंको और मनको नियममें रखता है और व्रत पूरा होने पर ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, उसके पुण्यफल को सुनो ॥ ५२ ॥ हे पांडुके पुत्र ! अश्वमेधका जो पुण्यफल कहा है, उस फलको पाकर वह मेरे लोकमें आदर पाता है ५३ फिर समय आने पर तहाँसे गिरकर श्वेतद्वीपमें जन्म लेता है

च्युतः कालाच्छ्वेतद्वीपे प्रजायते। तत्र भुक्त्वा च भोगांश्च, ततो विप्रवरो भवेत् ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि एकभुक्तव्रताचरणफले दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

युधिष्ठिर उवाच। एवं सम्वत्सरं पूर्णमेकभुक्तेन यः क्षिपेत्। तस्य पुण्यफलं यद्वै तन्ममाचक्ष्व केशव ॥ १ ॥ भगवानुवाच। शृणु पांडव तत्त्वं मे वचनं पुण्यमुत्तमम्। यदकृत्वाऽथवा कृत्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ २ ॥ एकभुक्तेन वर्तेत नरः सम्वत्सरं तु यः। ब्रह्मचारी जितक्रोधो ह्यधःशायी जितेन्द्रियः ॥३॥ शुचिश्च स्नातो ह्यव्यग्रः सत्यवागनसूयकः। अर्चयन्नेव तु मां नित्यं मद्गतेनान्तरात्मना। सन्ध्ययोस्तु जपेन्नित्यं मद्गायत्रीं समाहितः ॥४॥ नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यसकृन्मां प्रणम्य च। विप्रमग्रासने कृत्वा

और वहाँके भोग भोगनेके बाद मनुष्यलोकमें श्रेष्ठ ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥५४॥ एक सौ दशवाँ अध्याय समाप्त ॥११०॥

युधिष्ठिरने कहा, कि—हे केशव ! ऊपर लिखे अनुसार एक वर्ष तक जो एक समयके भोजनका व्रत करता है, उसके पुण्यका फल मुझे बताइये ॥ १ ॥ भगवान्‌ने कहा, कि—हे पांडव ! मेरे तत्त्वरूप उत्तम और पुण्यदायक वचनको सुनो, जिसके अनुसार वर्त्ताव करनेसे मनुष्य पापसे मुक्त होजाता है और वैसा वर्त्ताव न करनेसे पापका भागी होता है ॥२॥ जो मनुष्य एक वर्ष तक एक समय भोजन करता है, ब्रह्मचारी, क्रोधशून्य और जितेन्द्रिय होकर पृथिवी पर शयन करता है ॥ ३ ॥ स्नान करके पवित्र रहता है, मनको शान्त रखता है, सत्य बोलता है, किसीसे भी ईर्षा नहीं करता है, मुझमें मन लगाकर नित्य मेरी ही सेवा करता है, मनको सावधान रखकर प्रातःकाल और सायङ्कालके समय नित्य मेरी गायत्रीका जप करता है ॥४॥ "नमो ब्रह्मण्यदेवाय"

श्रावकं भैक्षमेव वा ॥ ५ ॥ भुक्त्वा तु वाग्यतो भूमावाचान्तस्य द्विजन्मनः। नमोऽस्तु वासुदेवायेत्युक्त्वा तु चरणौ स्पृशेत् ॥ ६॥ मासे मासे समाप्ते तु भोजयित्वा द्विजान् शुचीन्। सम्वत्सरे ततः पूर्णे दद्यात्तु व्रतदक्षिणाम् ॥ ७ ॥ नवनीतमयीं गां वा तिलधेनुमथापि वा। विप्रहस्तच्युतैस्तोयैः सहिरण्यैः समुक्षितः। तस्य पुण्यफलं राजन् कथ्यमानं मया शृणु ॥ ८ ॥ दशजन्मकृतं पापं ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा। तद्विनश्यति तस्याशु नात्र कार्या विचारणा ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच। सर्वेषामुपवासानां यच्छ्रेयः सुमहत्फलम्। यच्च निःश्रेयसं लोके तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ १० ॥ भगवानुवाच। शृणु राजन्यथापूर्वं मयाभीष्टं तु मोदते। तथा ते

इस मंत्रसे नित्य मुझे प्रणाम करता है, पहले ब्राह्मणको भोजन कराकर पीछे जौकी लपसी अथवा भिक्षामें पायेहुए अन्नका भोजन करता है, भोजनके समय वाणीको नियममें रखता है, फिर भोजन करके जिसने आचमन करलिया है ऐसे ब्राह्मणके दोनों चरणोंको "नमोऽस्तु वासुदेवाय" कहकर छूता है ।५-६। हरएक महीना समाप्त होने पर पवित्र ब्राह्मणोंको भोजन कराता है, इसप्रकार एक वर्ष तक एक समय भोजन करके व्रत समाप्त होने पर व्रतकी दक्षिणा देता है ॥७॥ माखनकी अथवा तिलोंकी बनाई हुई धेनुका दान देता है, ब्राह्मणके हाथमेंसे नीचे गिरेहुए सुवर्ण सहित जलको अपने शरीर पर छिड़कता है, हे राजन् ! उस पुरुषके पुण्यफलको कहता हूँ, सुनो ॥ ८ ॥ दश जन्म तक जानकर या अनजानमें जो कुछ पाप किया होता है, वह पाप निःसन्देह नष्ट होजाता है ॥ ९ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-हे कृष्ण ! सकल उपवासोंमें जो कल्याणकारी और महाफल देनेवाला हो तथा जगत्में परम निःश्रेयसरूप हो वह आप मुझे बताइये ॥ १० ॥ भगवान्ने कहा, कि-हे राजा युधिष्ठिर ! जिस

कथयिष्यामि मद्भक्ताय युधिष्ठिर ॥ ११ ॥ यस्तु भक्त्या शुचि-
र्भूत्वा पञ्चम्यां मे नराधिप । उपवासव्रतं कुर्यात् त्रिकालं चार्च-
यंस्तु माम् । सर्वक्रतुफलं लब्ध्वा मम लोके महीयते ॥ १२ ॥
युधिष्ठिर उवाच । भगवन् देवदेवेश पञ्चमी नाम का तव । तामहं
श्रोतुमिच्छामि कथयस्व ममानघ ॥ १३ ॥ भगवानुवाच । पर्व-
द्वयं च द्वादश्यां श्रवणं च नराधिप । मत्पञ्चमीति विख्याता
मत्प्रिया च विशेषतः ॥ १४ ॥ तस्मात्तु ब्राह्मणश्रेष्ठैर्मन्निवेशित-
बुद्धिभिः । उपवासस्तु कर्तव्यो मत्प्रियार्थं विशेषतः ॥ १५ ॥
द्वादश्यामेव वा कुर्यादुपवासमशक्नुवन् ।तेनाहं परमां प्रीतिं यास्यामि
नरपुङ्गव ॥ १६ ॥ अहोरात्रेण द्वादश्यां मार्गशीर्षेण केशवम् ।
उपोष्य पूजयेद्यो मां सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥ १७ ॥ द्वादश्यां

व्रतको करनेसे मैं प्रसन्न होता हूँ वह व्रत मैं तुम अपने भक्तको
बताता हूँ, तुम क्रमसे सुनो ॥११॥ हे राजन् ! जो पुरुष भक्तिके
साथ स्नान करके पवित्र हो मेरी पञ्चमीके दिन उपवास करता
है और तीन समय मेरा पूजन करता है, वह सब यज्ञोंका फल
पाकर मेरे लोकमें सत्कार पाता है ॥ १२ ॥ युधिष्ठिरने बूझा,
कि-हे देवदेवेश ! हे निर्दोष केशव ! आपकी पञ्चमीका क्या नाम
है, मैं उसको सुनना चाहता हूँ, आप मुझे सुनाइये ॥ १३ ॥
भगवान्ने कहा, कि-हे राजन् ! दोनों पर्व और श्रवणनक्षत्रयुक्त
द्वादशी मेरी पञ्चमी कहलाती है और वह मुझे बहुत ही प्यारी
है ॥ १४ ॥ इसलिये उत्तम ब्राह्मण मुझमें मन लगाकर मेरी
प्रीतिके लिये विशेष रूपसे उपवास करे ॥ १५ ॥ और किसी
प्रकारकी शक्ति न होय तो द्वादशीके दिन ही एक उपवास करे,
ऐसा करनेसे हे राजन् ! मैं परम प्रसन्न होता हूँ ॥ १६ ॥ जो
मनुष्य मार्गशीर्ष महीनेकी द्वादशीके दिन रात्रिमें उपवास करके
मुझ केशवकी पूजा करता है उसको अश्वमेध यज्ञका फल मिलता

पुष्यमासे तु नाम्ना नारायणं तु माम् । उपोष्य पूजयेद्यो मां वाजिमेधफलं लभेत् ॥ १८ ॥ द्वादश्यां माघमासे तु मामुपोष्य तु माधवम् । पूजयेद्यः समाप्नोति राजसूयफलं नृप ॥१९॥ द्वादश्यां फाल्गुने मासि गोविंदाख्यमुपोष्य माम् । पूजयेद्यः समाप्नोति अति-रात्रफलं नृप ॥ २० ॥ द्वादश्यां मासि चैत्रे तु मां विष्णुं समु-पोष्य यः । पूजयंस्तदवाप्नोति पौंडरीकस्य यत्फलम् ॥ २१ ॥ द्वादश्यां मासि वैशाखे मधुसूदनसंज्ञितम् । उपोष्य पूजयेद्यो मां सोऽग्निष्टोमस्य पांडव ॥ २२ ॥ द्वादश्यां ज्येष्ठमासे तु मामुपोष्य त्रिविक्रमम् । अर्चयेद्यः समाप्नोति गवां मेधफलं नृप ॥ २३ ॥ आषाढे वामनाख्यं मां द्वादश्यां समुपोष्य यः । नरमेधस्य स फलं

है ॥ १७ ॥ जो मनुष्य पौषमासमें द्वादशीके दिन उपवास करके मुझ नारायणकी पूजा करता है वह अश्वमेधके यज्ञका फल पाता है ॥१८॥ जो मनुष्य माघमासकी द्वादशीके दिन उपवास करके मुझ माधव नामधारीका पूजन करता है, उसको हे राजन् ! राजसूय यज्ञका फल मिलता है ॥१९॥ जो मनुष्य फाल्गुनमासकी द्वादशीके दिन उपवास करके मुझ गोविन्दनामधारीकी पूजा करता है, उसको हे राजन् ! अतिरात्र यज्ञका फल मिलता है२० जो मनुष्य चैत्रमासकी द्वादशीके दिन उपवास करके विष्णुनाम-धारी मेरी पूजा करता है, उसको पुण्डरीक यज्ञका फल मिलता है ॥ २१ ॥ जो मनुष्य वैशाखमें द्वादशीके दिन उपवास करके मुझ मधुसूदन नामवाले भगवानकी पूजा करता है, उसको हे पांडव ! अग्निष्टोमका फल मिलता है॥२२॥जो मनुष्य जेठके महीनेकी द्वादशीके दिन उपवास करके मुझ त्रिविक्रम नामवालेका पूजन करता है, उसको हे राजन ! गोमेधका फल मिलता है २३ जो आषाढके महीनेमें द्वादशीके दिन उपवास करके वामन नाम-धारी मुझ भगवान्का पूजन करता है, हे भरतसत्तम राजन् !

माप्नोति भरतर्षभ ॥ २४ ॥ द्वादश्यां श्रावणे मासि श्रीधराख्यमुपोष्य माम् । पूजयेद्यः समाप्नोति पञ्चयज्ञफलं नृप ॥ २५ ॥ मासे भाद्रपदे यो मां हृषीकेशाख्यमर्चयेत् । उपोष्य स समाप्नोति सौत्रामणिफलं नृप ॥ २६ ॥ द्वादश्यामाश्वयुङ्मासे पद्मनाभमुपोष्य माम् । अर्चयेद्यः समाप्नोति गोसहस्रफलं नृप ॥ २७ ॥ द्वादश्यां कार्तिके मासि मां दामोदरसंज्ञितम् । उपोष्य पूजयेद्यस्तु सर्वक्रतुफलं नृप ॥ २८ ॥ केवलेनोपवासेन द्वादश्यां पाण्डुनन्दन । यत्फलं पूर्वमुद्दिष्टं तस्यार्धं लभते नृप ॥ २९ ॥ श्रावणेऽप्येवमेवं मामर्चयेद्भक्तिमान्नरः । मम सालोक्यमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ ३० ॥ मासे मासे समभ्यर्च्य क्रमशो मामतन्द्रितः । पूर्णे

उसको नरमेध यज्ञका फल मिलता है ॥ २४ ॥ हे राजन् ! जो श्रावणकी द्वादशीके दिन उपवास करके श्रीधर नामवाले मेरा पूजन करता है, उसको हे राजन् ! पञ्चमहायज्ञोंका फल मिलता है ॥ २५ ॥ जो भादोंके महीनेमें द्वादशीके दिनमें तथा रातमें उपवास करके मुझ हृषीकेश नामधारीका पूजन करता है उसको हे राजन् ! सौत्रामणि यज्ञका फल मिलता है ॥ २६ ॥ जो आश्विनमासकी द्वादशीके दिन उपवास करके मुझ पद्मनाभकी पूजा करता है, उसको हे राजन् ! एक हजार गौओंके दानका फल मिलता है ।२७। हे राजन् ! जो कार्तिक मासकी द्वादशीके दिन उपवास करके मुझ दामोदरकी पूजा करता है, उसको हे राजन् ! सब यज्ञोंका फल मिलता है ॥ २८ ॥ हे पांडुपुत्र राजा युधिष्ठिर ! द्वादशीके दिन केवल उपवास करे तो जो फल पहले कहा है उसका आधा फल मिलता है ॥ २९ ॥ जो मनुष्य भक्तिमान् होकर श्रावणके महीनेमें भी इसप्रकार मेरी पूजा करता है तो निःसन्देह मेरे लोकमें आता है ॥ ३० ॥ मनुष्य आलस्यको त्यागकर हरएक महीने क्रमसे मेरी पूजा करता

संवत्सरे कुर्यात्पुनः संवत्सरं तु माम् ॥ ३१ ॥ एवं द्वादशवर्षं यो मद्भक्तो मत्परायणः। अविघ्नमर्चयानस्तु मम सायुज्यमाप्नुयात् ३२ अर्चयेत्प्रीतिमान् यो मां द्वादश्यां वेदसंहिताम्। स पूर्वोक्तफलं राजँल्लभते नात्र संशयः ॥ ३३ ॥ गन्धं पुष्पं फलं तोयं पत्रं वा मूलमेव वा। द्वादश्यां मम यो दद्यात्तत्समो नास्ति मत्प्रियः ३४ एतेन विधिना सर्वे देवाः शक्रपुरोगमाः। मद्भक्ता नरशार्दूल स्वर्गलोकं तु भुञ्जते ॥ ३५ ॥ वैशम्पायन उवाच। एवं वदति देवेशे केशवे पाण्डुनन्दनः। कृताञ्जलिः स्तोत्रमिदं भक्त्या धर्मात्मजोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥ सर्वलोकेश देवेश हृषीकेश नमोऽस्तु ते। सहस्रशिरसे नित्यं सहस्राक्ष नमोऽस्तु ते ॥ ३७ ॥ त्रयीमय त्रयी-

है और वर्ष पूरा होजाने पर फिर दूसरे वर्षमें भी मेरी पूजा करता है ॥ ३१ ॥ इसप्रकार जो मेरा भक्त मुझमें मन लगाकर बारह वर्षतक निर्विघ्न मेरी पूजा करता है वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है ॥ ३२ ॥ हे राजन्! जो मनुष्य वेदकी संहिताकी और मेरी द्वादशीके दिन प्रीतिसे पूजा करता है वह निःसन्देह पहले कहेहुए फलको पाता है ॥ ३३ ॥ जो द्वादशीके दिन चन्दन, फूल, फल, जल, पत्र अथवा मूल मुझे अर्पण करता है, उसके समान मुझे दूसरा और कोई भी प्यारा नहीं है ॥३४॥ हे राजन्! मेरे भक्त इन्द्रादि सब देवता ऊपर कही हुई विधिसे व्रत करके स्वर्गसुखको भोगरहे हैं ॥३५॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-देवदेव केशवके ऐसा कहनेपर राजा पांडुके पुत्र धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर दोनों हाथ जोडकर भक्तिके साथ यह स्तोत्र कहनेलगे ॥ ३६ ॥ हे सब लोकोंके ईश्वर! हे देवेश! हे हृषीकेश! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, हे हजार मस्तकोंवाले! हे हजार नेत्रोंवाले! आपको मेरा नित्य प्रणाम हो ॥३७॥ हे वेदमय! हे वेदनाथ! हे वेदस्तुत! मैं आपको वार २ नमस्कार करता हूँ, हे यज्ञस्वरूप!

नाथ त्रयीस्तुत नमो नमः । यज्ञात्मन् यज्ञसंभूत यज्ञनाथ नमो नमः ॥ ३८ ॥ चतुर्मूर्ते चतुर्बाहो चतुर्व्यूह नमो नमः । लोकात्मँल्लोककृन्नाथ लोकावास नमो नमः ॥ ३९ ॥ सृष्टिसंहारकर्त्रे ते नरसिंह नमो नमः । भक्तप्रिय नमस्तेऽस्तु कृष्ण नाथ नमो नमः ४४ लोकप्रिय नमस्तेऽस्तु भक्तवत्सल ते नमः । ब्रह्मावास नमस्तेऽस्तु ब्रह्मनाथ नमोनमः ॥ ४१ ॥ रुद्ररूप नमस्तेऽस्तु रुद्रकर्मरताय ते । पञ्चयज्ञ नमस्तेऽस्तु सर्वयज्ञ नमो नमः ॥४२॥ कृष्णप्रिय नमस्तेऽस्तु कृष्णनाथ नमो नमः । योगिप्रिय नमस्तेऽस्तु योगिनाथ नमो नमः ॥ ४३ ॥ हयवक्त्र नमस्तेऽस्तु चक्रपाणे नमो नमः । पञ्च-

---

हे यज्ञोद्भव ! हे यज्ञनाथ ! मेरा वार वार नमस्कार हो ॥३८॥ हे चार मूर्त्तिधारी ! हे चार भुजाओंवाले ! हे चार व्यूहवाले ! आपको वार २ नमस्कार करता हूँ, हे लोकस्वरूप ! हे लोकोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे नाथ ! हे तीनों लोकोंमें निवास करनेवाले ! आपको मैं वारम्वार नमस्कार करता हूँ ॥ ३९ ॥ हे सृष्टिसंहारकर्त्ता ! हे नृसिंह ! आपको वारम्वार नमस्कार करता हूँ, हे भक्तप्रिय ! आपको मेरा नमस्कार है, हे कृष्ण ! हे नाथ ! मैं वार २ प्रणाम करता हूँ ॥ ४० ॥ हे लोकप्रिय ! मैं मैं आपको नमस्कार करता हूँ, हे भक्तवत्सल ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, हे ब्रह्मावास ! आपको नमस्कार है, हे ब्रह्मनाथ ! आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥ हे भद्ररूप ! तुम्हें नमस्कार है, हे रुद्र कर्म करनेवालों पर प्रीति करनेवाले ! आपको प्रणाम है, पञ्चयज्ञरूप आपको प्रणाम करता हूँ, हे सर्वयज्ञ ! आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ४२ ॥ हे कृष्णप्रिय ! आपको नमस्कार है, हे कृष्णनाथ ! आपको वारम्वार नमस्कार है, हे योगिप्रिय ! आपको नमस्कार है, हे योगिनाथ ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥४३॥ हे हयग्रीव ! आपको प्रणाम है, हे चक्रपाणे ! आपको

भूत नमस्तेऽस्तु पञ्चायुध नमो नमः ॥ ४४ ॥ वैशम्पायन उवाच ।
भक्तिगद्गदया वाचा स्तुवत्येवं युधिष्ठिरे । गृहीत्वा केशवो हस्ते
प्रीतात्मा तं न्यवारयत् ॥ ४५ ॥ निवार्य च पुनर्वाचा भक्तिनम्रं
युधिष्ठिरम् । वक्तुमेव नरश्रेष्ठ धर्मपुत्रं प्रचक्रमे ॥ ४६ ॥ भगवा-
नुवाच । अन्यवत् किमिदं राजन् मां स्तौषि नरपुङ्गव । तिष्ठ पृच्छ
यथापूर्वं धर्मपुत्र युधिष्ठिर ॥ ४७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । भगवंस्त्वत्-
प्रसादात्तु धर्मं स्मृत्वा पुनः पुनः । न शान्तिरस्ति मे देव नृत्य-
तीव च मे मनः ॥ ४८ ॥ इदं च धर्मसर्वस्वं वक्तुमर्हसि माधव ।
कृष्णपक्षेषु द्वादश्यामर्चनीयः कथं भवेत् ॥ ४९ ॥ भगवानुवाच ।
शृणु राजन्यथा पूर्वं तत्सर्वं कथयामि ते । परमं कृष्णद्वादश्यामर्च-

नमस्कार है, हे पञ्चभूतस्वरूप ! आपको प्रणाम है, हे पाँच आयुध
वाले ! आपको वारम्वार प्रणाम है ॥ ४४ ॥ वैशम्पायन कहते
हैं, कि–राजा युधिष्ठिर इसप्रकार भक्तिभावसे प्रेमसे गद्गदहोती
हुई वाणीसे केशवकी स्तुति करनेलगे, उस समय केशवने प्रसन्न
हो युधिष्ठिरका हाथ पकड कर उनको रोका ॥ ४५ ॥ और
हे नरश्रेष्ठ ! फिर भक्तिसे नम्रहुए धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरसे कहने
लगे, ॥ ४६ ॥ भगवानने कहा, कि–हे नरश्रेष्ठ राजन् ! तुम
भेदभाव रखनेवाले मनुष्यकी समान मेरी यह स्तुति क्यों कररहे
हो ? बहुत होलिया, हे धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! पहलेकी समान ही
मुझसे प्रश्न बूझो ॥ ४७ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे भगवन् !
हे देव ! आपकी कृपासे वारम्वार धर्मका स्मरण करता हूँ तो
मुझे शान्ति नहीं मिलती और मेरा मन नाचनेसा लगता है ४८
हे माधव ! कृष्णपक्षकी द्वादशीके दिन आपकी पूजा किसप्रकार
करे ? यह धर्मकी कथा मुझे सुनाइये ॥ ४९ ॥ भगवान्ने कहा,
कि–हे राजन् ! पहलेकी समान सब कथा तुम्हें सुनाता हूँ,
सुनो कृष्णपक्षकी द्वादशीके दिन मेरे पूजनका बडा फल होता

नीयां फलं मम ॥ ५० ॥ एकादश्यामुपोष्याथ द्वादश्यामर्चयेत्तु
माम् । विप्रानपि यथालाभं पूजयेद्भक्तिमान्नरः ॥ ५१ ॥ स
गच्छेद् दक्षिणामूर्तिं मां वा नात्र विचारणा । चन्द्रसालोक्यम-
थवा ग्रहनक्षत्रपूजितः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि एकादशी-
द्वादशीव्रतफलकथने एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

वैशम्पायन उवाच । केशवेनैवमाख्याते धर्मपुत्रः पुनः पुनः ।
पप्रच्छ दानकालस्य विशेषं च विधिं नृप ॥ १ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
देव किं फलमाख्यातं विषुवेष्वमरेश्वर । सूर्येन्दूपप्लवे चैव वक्तु-
मर्हसि तत्फलम् ॥ २ ॥ भगवानुवाच । शृणुष्व राजन् विषुवे
सोमार्कग्रहणेषु च । व्यतीपातेऽयने चैव दानं स्यादक्षयं फलम् ३

है ॥ ५० ॥ उसकी विधि यह है, कि-एकादशीके दिन उपवास करके द्वादशीके दिन मेरी पूजा करे, फिर भक्तिमान् मनुष्य जितने मिलें उतने ब्राह्मणोंकी पूजा करे ॥ ५१ ॥ इसप्रकार मेरी पूजा करनेवाला मनुष्य दक्षिणामूर्तिके पास जाता है अथवा मेरे पास आता है अथवा चन्द्रलोकमें जाता है और वहाँ ग्रह नक्षत्र उसकी पूजा करते हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ५२ ॥ एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १११ ॥ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजा जनमेजय ! श्रीकृष्णके ऐसा कहने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर वारम्वार दानका समय और विशेषता बूझने लगे॥१॥युधिष्ठिरने कहा, कि-हे देव ! हे देवदेव ! विषुव योगसे (मेष और तुलाराशी पर सूर्यके होने पर) और सूर्य तथा चन्द्रमाके ग्रहणके समय दान देनेसे क्या फल होता है, वह मुझे बताइये ॥ २ ॥ भगवान्‌ने कहा, कि-हे राजन् ! विषुवमें, सूर्य और चन्द्रमाके ग्रहणमें, व्यतीपात योगमें, उत्तरायणमें और दक्षिणायनमें दान दिया जाता है तो उसका अक्षय फल होता

राजन्नयनयोर्मध्ये विपुवं संप्रचक्षते । समे रात्रिदिने तत्र संध्यायां विपुवे नृप । ब्रह्माहं शङ्करश्चापि तिष्ठाम सहिताः सकृत् । क्रिया-करणकार्याणामेकीभावत्वकारणात् ॥ ५ ॥ अस्माकमेकी भूतानां निष्कलं परमं पदम् । तन्मुहूर्तं परमं पुण्यं राजन् विपुवसंज्ञितम् ॥ ६ ॥ तदेवाक्षरं ब्रह्म परं ब्रह्मेति कीर्त्तितम् । तस्मिन् मुहूर्ते सर्वे तु चिन्तयन्ति परं पदम् ॥ ७ ॥ देवाश्च वसवो रुद्राः पितरश्चाश्विनौ तथा । साध्याश्च विश्वे गन्धर्वाः सिद्धा ब्रह्मर्षयस्तथा ॥ ८ ॥ सोमा-दयो ग्रहाश्चैव सरितः सागरास्तथा । मरुतोऽप्सरसो नागा यक्ष-राक्षसगुह्यकाः ॥ ९ ॥ एते चान्ये च राजेन्द्र विपुवे संयतेन्द्रियाः । सोपवासाः प्रयत्नेन भवन्ति ध्यानतत्पराः ॥ १० ॥ अन्नं गाव-स्तिलान्भूमिं कन्यादानं तथैव च । गृहमायतनं धान्यं वाहनं शयनं

है ॥ ३ ॥ हे राजन् ! उत्तरायण और दक्षिणायनके मध्यभागमें विपुव नामक पर्व आता है ऐसा विद्वान् कहते हैं और उस पर्वमें रात दिन एक बराबर होते हैं, उस विपुव योगमें सन्ध्याके समय ४ ब्रह्मा, मैं और शङ्कर उत्पत्ति पालन और प्रलयके कामका विचार करनेके लिये इकट्ठे होकर रहते हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! हम जिस मुहूर्त्तमें इकट्ठे होजाते हैं उस मुहूर्त्तको विपुव कहते हैं और वह परमपुण्यदायक मुहूर्त्त है तथा हमारा कलारहित परम पद कहलाता है ॥ ६ ॥ और उस मुहूर्त्तको अक्षरब्रह्म तथा पर-ब्रह्म कहते हैं उस मुहूर्त्तमें सब परमपदका चिन्तवन करते हैं ७ देवता, वसु, रुद्र, पितर, अश्विनीकुमार, साध्यदेव, विश्वेदेव, गन्धर्व, सिद्ध, ब्रह्मर्षि, ॥ ८ ॥ सोम आदि ग्रह, नदी, समुद्र, मरुत्देव, अप्सरा, नाग, यक्ष, राक्षस गुह्यक ॥ ९ ॥ ये तथा दूसरे देवता विपुव नामके समयमें इन्द्रियोंको वशमें करके साव-धानीसे परब्रह्मके ध्यानमें लगे रहते हैं ॥ १० ॥ हे युधिष्ठिर ! अन्न, गौ, तिल, भूमि कन्या, घर, विश्राम स्थान, धान्य, वाहन,

तथा ॥ ११ ॥ यच्चान्यच्च यथा प्रोक्तं तत्प्रयच्छ युधिष्ठिर । दीयते त्रिपुरेष्वेवं श्रोत्रियेभ्यो विशेषतः ॥ १२ ॥ तस्य दानस्य कौंतेय क्षयं नैवोपपद्यते । वर्धतेऽहरहः पुण्यं तद्दानं कोटिसंमितम् १३ त्रिपुरे स्नपनं यत्तु मम कुर्याद्धरस्य वा । अर्चनां च यथान्यायं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १४ ॥ दशजन्मकृतं पापं तस्य सद्यो प्रणश्यति । दशानामश्वमेधानामिष्टानां लभते फलम् ॥ १५ ॥ विमानं दिव्यमारूढः कामरूपी यथासुखम् । स याति मामकं लोकं रुद्रलोकमथापि वा ॥ १६ ॥ तत्रस्थैर्देवगन्धर्वैर्गीयमानो यथा सुखम् । दिव्यवर्षसहस्राणि कोटिमेकं तु मोदते ॥ १७ ॥ ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके द्विजोत्तमः । चतुर्णामपि वेदानां पारगो ब्रह्मविद्भवेत् ॥ १८ ॥ चन्द्रसूर्यग्रहे व्योम्नि मम वा शङ्क-

शय्या तथा ॥ ११ ॥ और जो कुछ मैंने कहा है, उसका हे युधिष्ठिर ! तुम दान करो, त्रिपुर योगमें विशेषकर वेद शास्त्रपढ़े ब्राह्मणोंको जो दान दियाजाता है ॥ १२ ॥ उस दानका हे कुन्तीनन्दन ! नाश नहीं होता है, किन्तु उससे प्रतिदिन पुण्य बढता है और त्रिपुरमें विद्वान्को दियाहुआ दान कोटिगुणा फल देता है ॥ १३ ॥ जो मनुष्य त्रिपुर योगमें मुझे और शङ्करको स्नान कराता है तथा विधिविधानसे मेरी और शङ्करकी पूजा करता है, उसके पुण्यके फलको सुनो ॥ १४ ॥ उसके दश जन्मोंमें कियेहुए पाप तुरन्त नष्ट होजाते हैं और दश अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है॥१५॥वह दिव्य विमानमें बैठ इच्छानुसार रूप धारण करके सुखसे मेरे या रुद्रके लोकमें जाता है ॥१६॥ तहाँ रहनेवाले देवता और गन्धर्व उसको सुख देनेवाले गीत गाते हैं और वह देवताओंके एक करोड तथा हजार वर्षोंतक स्वर्गमें आनन्द भोगता है ॥ १७ ॥ फिर पुण्यका क्षय होने पर समयानुसार उस लोकमेंसे इस लोकमें आकर चारों वेदोंके पारङ्गत

रस्य वा । गायत्रीं माधिकीं वाऽपि जपेद्यः शङ्करस्य वा ॥१६॥
शंखतूर्यस्वनैश्चैव कांस्यघण्टास्वनैरपि । कारयेत्तु ध्वनिं भक्त्या
तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २० ॥ गान्धर्वैर्होमजप्यैस्तु जप्तैरुत्कृष्ट-
नामभिः । दुर्बलोऽपि भवेद्राहुः सोमश्च बलवान् भवेत् ॥ २१ ॥
सूर्येन्दूपप्लवे चैव श्रोत्रियेभ्यः प्रदीयते । तत्सहस्रगुणं भूत्वा दाता-
रमुपतिष्ठति ॥ २२ ॥ महापातकयुक्तोऽपि यद्यपि स्यान्नरोत्तमः।
निष्पापस्तत्क्षणादेव तेन दानेन जायते ॥२३॥ चन्द्रसूर्यप्रकाशेन
विमानेन विराजता । याति सोमपुरं रम्यं सेव्यमानोऽप्सरोगणैः॥२४
यावन्नक्षत्राणि तिष्ठन्ति गगने शशिना सह । तावत्कालं स राजेन्द्र
सोमलोके महीयते ॥ २५ ॥ ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके बुध-

श्रेष्ठ वेदवेत्ता ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ १८ ॥ चन्द्रमा और
सूर्यका आकाशमें ग्रहण होनेके समय जो मनुष्य मेरी अथवा
शङ्करकी गायत्रीका जप करता है ॥ १६ ॥ तथा भक्तिके साथ
शङ्खकी या नरसिंहेकी ध्वनि करता है तथा झाँझ और घंटेका
शब्द करता है उसको जो पुण्यफल मिलता है, उसको सुनो २०
भजन गानेसे, होम करनेसे, जप करनेसे और उत्तम नामोंका
कीर्त्तन करनेसे राहु दुर्बल और चन्द्रमा बलवान् होजाता है।२१।
चन्द्र तथा सूर्यके ग्रहणके समय वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको जो दान
दियाजाता है वह सहस्रगुणा होकर दाताको मिलता है ॥२२॥
हे नरोत्तम! मनुष्य महापातकी होय तो भी उस दानसे तत्काल
पापशून्य होजाता है ॥ २३ ॥ फिर चन्द्रमा और सूर्यकी समान
प्रकाशमान रमणीय विमानमें बैठकर चन्द्रलोकमें जाता है और
अप्सरा उसकी सेवा करती हैं ॥ २४ ॥ और हे राजेन्द्र ! जहाँ
तक नक्षत्र आकाशमें चन्द्रमाके साथ रहते हैं वह मनुष्य तहाँतक
सोमलोकमें रहकर पूजाजाता है ॥ २५ ॥ फिर समय आनेपर
तहाँसे भ्रष्ट होकर इस लोकमें वेद और वेदाङ्गोंका जाननेवाला

ष्ठिर । वेदवेदाङ्गविद्विप्रः कोटीधनपतिर्भवेत् ॥ २६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । भगवंस्तव गायत्री जप्यते च कथं विभो । किम्वा तस्य फलं देव ममाचक्ष्व सुरेश्वर ॥ २७ ॥ भगवानुवाच । द्वादश्यां विषुवे चैव चन्द्रसूर्यग्रहे तथा । अयने श्रवणे चैव व्यतीपाते तथैव च ॥२८॥ अश्वत्थदर्शने चैव तथा मद्दर्शनेऽपि च । जप्या तु मम गायत्री ह्यथवाष्टाक्षरन्नृप । अर्जितं दुष्कृतं तस्य नाशयेन्नात्र संशयः ॥ २९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अश्वत्थदर्शनं चैव किं त्वद्दर्शनसंमितम् । एतत्कथय मे देव परं कौतूहलं हि मे ॥ ३० ॥ भगवानुवाच । अहमश्वत्थरूपेण पालयामि जगत्त्रयम् । अश्वत्थो न स्थितो यत्र नाऽहं तत्र प्रतिष्ठितः ॥ ३१ ॥ यत्राऽहं संस्थितो राजन्नश्वत्थश्चापि तिष्ठति । यस्त्वेनमर्चयेद्भक्त्या स मां साक्षा-

तथा करोड़पति ब्राह्मण होता है ॥ २६ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि–हे सुरेश्वर ! हे देव ! हे भगवन् ! आपकी गायत्रीका जप किसप्रकार करे और उसका क्या फल होता है ? यह मुझे सुनाइये ॥ २७ ॥ भगवान्ने कहा, कि–द्वादशीके दिन विषुव योगमें, चन्द्रमा और सूर्यके ग्रहणमें, उत्तरायण और दक्षिणायनमें, श्रवण नक्षत्रमें, व्यतीपातमें ॥२८॥ पीपलका दर्शन करते समय तथा मेरा दर्शन करते समय हे राजन ! जो मेरी गायत्रीका अथवा अष्टाक्षर मंत्रका जप करता है निःसन्देह उसको लगे हुए पापोंका नाश होजाता है ॥ २९ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–पीपलका दर्शन आपके दर्शनकी समान मानाजाता है, इसका क्या कारण है ? हे देव ! यह बात मुझे बताइये, क्योंकि–इसको सुननेके लिये मुझे बड़ा ही कुतूहल होरहा है ॥ ३० ॥ भगवान्ने कहा, कि–मैं अश्वत्थ रूपसे तीनों लोकोंका पालन करता हूँ जहाँ पीपल नहीं है वहाँ मेरा वास भी नहीं है ॥३१॥ और हे राजन्! जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ अश्वत्थ भी रहता है, जो मनुष्य भक्तिके

त्समर्चति ॥ ३२ ॥ यस्त्वेनं प्रहरेत्कोपान्मामेव प्रहरेत्तु सः ।
तस्मात्प्रदक्षिणं कुर्यान्न छिन्द्यादेनमन्वहम् ॥३३॥ व्रतस्य पारणं
तीर्थमार्जवं तीर्थमुच्यते । देवशुश्रूषणं तीर्थं गुरुशुश्रूषणन्तथा ३४
पितृशुश्रूषणं तीर्थं मातृशुश्रूषणन्तथा । दाराणां तोषणं तीर्थं गार्ह-
स्थ्यं तीर्थमुच्यते ॥ ३५ ॥ आतिथेयः परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनात-
नम् । ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं त्रेताग्निस्तीर्थमुच्यते ॥ ३६ ॥ मूलं धर्मन्तु
विज्ञाय मनस्तत्रावधार्यताम् । गच्छ तीर्थानि कौन्तेय धर्मो धर्मेण
वर्धते ॥ ३७ ॥ द्विविधं तीर्थमित्याहुः स्थावरं जङ्गमन्तथा । स्थाव-
राज्जङ्गमं तीर्थं ततो ज्ञानपरिग्रहः ॥ ३८ ॥ कर्मणापि विशुद्धस्य
पुरुषस्येह भारत । हृदये सर्वतीर्थानि तीर्थभूतः स उच्यते ॥३९॥

साथ पीपलकी पूजा करता है वह साक्षात् मेरी ही पूजा करता है ॥ ३२ ॥ जो कोप करके पीपलके ऊपर प्रहार करता है वह मेरे ऊपर ही प्रहार करता है, इसलिये नित्य पीपलकी प्रदक्षिणा करे, कोप न करे ॥३३॥ व्रतका पारण तीर्थ कहलाता है,सरलता तीर्थ कहलाती है,देवताओंकी सेवा तीर्थ कहलाती है,गुरुकी सेवा तीर्थ कहलाती है ॥ ३४ ॥ पिताकी सेवा तीर्थ है, माताकी सेवा और अपनी स्त्रीको सन्तुष्ट रखना भी तीर्थ ही है, गृहस्थाश्रम भी तीर्थ कहलाता है ॥३५॥ अतिथिसत्कार परमतीर्थ कहलाता है, वेद सनातन तीर्थ कहलाता है, ब्रह्मचर्य परमतीर्थ कहलाता है, तीनों अग्नियें तीर्थ कहलाती हैं ॥ ३६ ॥ इन सबका मूल धर्म है, ऐसा जानकर इनमें मन लगाओ, हे कुन्तीनन्दन ! तुम तीर्थोंमें जाओ, धर्मसे धर्मकी वृद्धि होती है ॥ ३७ ॥ विद्वान् शास्त्रमें दो प्रकारके तीर्थ कहते हैं, एक स्थावर और दूसरे जङ्गम तीर्थ हैं, स्थावर तीर्थसे जङ्गम तीर्थ श्रेष्ठ है क्योंकि-उससे ज्ञानका लाभ होता है ॥३८॥हे भरतवंशी राजन् ! इस लोकमें धर्माचरणसे शुद्ध हुए मनुष्यके हृदयमें सब तीर्थ वास

गुरुतीर्थं परं ज्ञानमतस्तीर्थं न विद्यते । ज्ञानतीर्थं परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम्॥४०॥क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव । क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ४१ ॥ मानितोऽमानितो वाऽपि पूजितोऽपूजितोऽपि वा । आक्रुष्टस्तर्जितो वाऽपि क्षमावांस्तीर्थमुच्यते॥४२॥क्षमा यशः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा दमः । क्षमाऽहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः॥४३॥क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमयैव धृतं जगत् । क्षमावान् ब्राह्मणो देवः क्षमावान् ब्राह्मणो वरः॥४४ क्षमावान् प्राप्नुयात्स्वर्गं क्षमावानाप्नुयाद्यशः । क्षमावान् प्राप्नुयान्मोक्षं तस्मात्साधुः स उच्यते ॥४५॥ आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्थमात्मा तीर्थं सर्वतीर्थप्रधानम् । आत्मा यज्ञः सततं मन्यते

करते हैं,इसकारण वह तीर्थरूप कहलाता है ॥३९॥ गुरुतीर्थ परम ज्ञान है और उससे श्रेष्ठ दूसरा तीर्थ नहीं है,ज्ञानतीर्थ उत्तम तीर्थ कहलाता है तथा वेदरूप तीर्थ भी सनातन तीर्थ कहलाता है ४० हे पाण्डुपुत्र ! सब तीर्थोंमें क्षमा परम तीर्थ है; क्षमावानोंको इस लोकमें सुख मिलता है और परलोकमें भी सुख मिलता है।४१। सन्मान करो,चाहे अपमान करो, पूजा करो,चाहे तिरस्कार करो, निन्दा करो, चाहे ललकारो तो भी जो क्षमाशील रहता है वह तीर्थ कहलाता है ॥ ४२ ॥ क्षमा यश है, क्षमा दान है,क्षमा यज्ञ है, क्षमा दम है, क्षमा अहिंसा है, क्षमा धर्म है क्षमा इन्द्रियोंका निग्रह है ॥ ४३ ॥ क्षमा दया है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा ही इस जगत्को धारण किये हुए है, क्षमावान् ब्राह्मण देवता कहलाता है, क्षमावान् ब्राह्मण उत्तम है ॥ ४४ ॥ क्षमावान् स्वर्ग पाता है, क्षमावान् यश पाता है और क्षमावान् मोक्ष पाता है, इसलिये क्षमावान् साधु कहलाता है ॥ ४५ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! आत्मा एक नदीरूप और पवित्र तीर्थरूप है, आत्मा सब तीर्थोंमें प्रधान तीर्थ है, आत्माको नित्य यज्ञरूप माना है,

वैं स्वर्गो मोक्षः सर्वमात्मन्यधीनम् ॥ ४६ ॥ आचारनैर्मल्यमुपागतेन सत्यक्षमानिस्तुलशीतलेन । ज्ञानाम्बुना स्नाति हि नित्यमेवं किन्तस्य भूयः सलिलेन तीर्थम् ॥ ४७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । भगवन् सर्वपापघ्नं प्रायश्चित्तमदुष्करम् । त्वद्भक्तस्य सुरश्रेष्ठ मम त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४८ ॥ भगवानुवाच । रहस्यमिदमत्यर्थमश्राव्यं पापकर्मणाम् । अधार्मिकाणामश्राव्यं प्रायश्चित्तं ब्रवीमि ते ॥ ४९ ॥ पावनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा मद्गतेनान्तरात्मना । नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यभिवादनमाचरेत् ॥ ५० ॥ प्रदक्षिणञ्च यः कुर्यात्पुनरष्टाक्षरेण तु । तेन तुष्टेन विप्रेण तत्पापं क्षपयाम्यहम् ॥५१॥ पोत्रकृष्टां वराहस्य मृत्तिकां शिरसा वहन् । प्राणायामशतं कृत्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥५२॥ दक्षिणावर्त्तशंखाद्वा कपिलाशृङ्गतोऽपि वा ।

स्वर्ग और मोक्ष ये आत्माके अधीन हैं ॥४६॥ आचारसे निर्मल हुए, सत्य तथा क्षमासे अनुपम रूपसे शीतल हुए ज्ञानरूप जलसे जो मनुष्य नित्य स्नान करता है उस पुरुषको फिर जलके तीर्थका क्या प्रयोजन है? ॥४७॥ युधिष्ठिरने कहा, कि भगवन्! हे देवश्रेष्ठ! सब पापोंका नाश करनेवाला और जो सुखसे होसके ऐसा प्रायश्चित्त मुझ अपने भक्तको बताइये ॥ ४८ ॥ भगवान्ने कहा, कि—जो प्रायश्चित्त पापकर्म करनेवालोंके न सुननेयोग्य और अत्यन्त गुप्त हैं तथा अधर्मियोंके भी सुननेके अयोग्य है, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥४९॥ पवित्र ब्राह्मणको देख मुझमें मन लगाकर "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" को बोलता हुआ प्रणाम करे ॥ ५० ॥ और फिर अष्टाक्षर मंत्र बोलकर जो प्रदक्षिणा करता है, उससे ब्राह्मण सन्तुष्ट होता है और मैं उसके पापोंका नाश करदेता हूँ ॥ ५१ ॥ जो वाराहकी उखाड़ीहुई मृत्तिकाको मस्तक पर धारण करता है और सौ प्राणायाम करता है वह पापसे मुक्त होजाता है ॥ ५२ ॥ जो सूर्यग्रहणके समय मेरे मन्दिरके

प्राक्स्रोतसं नदीं गत्वा ममायतनसन्निधौ ॥५३॥ सलिलेन तु यः स्नायात्सकृदेव रविग्रहे। तस्य यत्सञ्चितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति ५४ मस्तकान्निःसृतैस्तोयैः कपिलाया युधिष्ठिर । गोमूत्रेणापि यः स्नायाद्रोहिण्यां मम वा दिने । विप्रपादच्युतैर्वापि तोयैः पापं प्रणश्यति ॥ ५५ ॥ नमस्येद्यस्तु मद्भक्त्या शिशुमारं प्रजापतिम् । चतुर्दशाङ्गसंयुक्तं तस्य पापं प्रणश्यति ॥ ५६ ॥ ततश्चतुर्दशाङ्गानि शृणु तस्य युधिष्ठिर । शिरो धर्मो हनुर्ब्रह्मा वृषावुत्तरदक्षिणौ ५७ हृदयन्तु भवेद्विष्णुरंसौ स्यातां तथाश्विनौ । अत्रिर्मध्यं भवेद्राजंल्लिङ्गं सम्वत्सरं भवेत् ॥ ५८ ॥ मित्रावरुणकौ पादावूरुद्वन्द्वं हुताशनः । ततः पश्चाद्भवेदिन्द्रस्ततः पश्चात्प्रजापतिः ॥ ५९ ॥ अभयञ्च ततः पश्चात्स एव ध्रुवसंज्ञिकः । एतान्यङ्गानि सर्वाणि

सामने प्राचीन सरस्वती नदी पर जाकर दक्षिणावर्त्त शङ्खसे अथवा कपिला गौके सींगके ऊपर उस नदीके जलको उछालकर एक वारमें ही स्नान करता है उसका सञ्चय कियाहुआ पाप तत्काल नष्ट होजाता है ॥ ५३–५४ ॥ हे युधिष्ठिर ! कपिला गौके सींगपरसे नीचे गिरतेहुए जलसे अथवा उस कपिला गौके मूत्रसे जो मनुष्य रोहिणी नक्षत्रमें अथवा मेरे (एकादशीके) दिन स्नान करता है अथवा ब्राह्मणके चरणमेंसे नीचे गिरेहुए जलसे जो स्नान करता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥५५॥ जो मनुष्य मेरी भक्तिसे चौदह अङ्गवाले शिशुमार प्रजापतिको नमस्कार करता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ५६ ॥ हे युधिष्ठिर ! अब तुम उस शिशुमार नामक प्रजापतिके चौदह अङ्गोंको सुनो धर्म उसका मस्तक है,ब्रह्मा उसके ओठ हैं, दो वृक्ष उत्तर तथा दक्षिण हैं ॥ ५७ ॥ विष्णु हृदय है, अश्विनीकुमार उसके दो खभे हैं, अत्रि मध्यभाग है, हे राजन् ! सम्वत्सर उसका लिङ्ग है ॥५८॥ मित्रावरुण उसके दो चरण हैं, अग्नि उसकी साँथलें हैं ॥ ५९ ॥

शिशुमारप्रजापतेः ॥ ६० ॥ पिबेत्तु पञ्चगव्यं यः पौर्णमास्यामुपोष्य तु । तस्य नश्यति तत्पापं यत्पापं पूर्वसञ्चितम् ॥ ६१ ॥ तथैव ब्रह्मकूर्चन्तु समन्त्रन्तु पृथक्पृथक् । मासि मासि पिबेद्यस्तु तस्य पापं प्रणश्यति ॥ ६२ ॥ पात्रञ्च ब्रह्मकूर्चञ्च शृणु तत्र च भारत । पलाशं पद्मपत्रञ्च ताम्रं वाऽथ हिरण्मयम् । सादयित्वा तु गृह्णीयात्तत्तु पात्रमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥ गायत्र्या गृह्णते मूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् । आप्यायस्वेति च क्षीरं दधि क्राव्णेति वै दधि ६४ तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यन्देवस्य त्वा कुशोदकम् । आपो हिष्ठेत्यृचा गृह्य यवचूर्णं यथाविधि ॥ ६५ ॥ ब्रह्मणे च यथा हुत्वा समिद्धे च हुताशने । आलोड्य प्रणवेनैव निर्मथ्य प्रणवेन तु ६६

उसके पृष्ठभागमें इन्द्र हैं, उसके बाद प्रजापति हैं, उसके बाद अभय है और उसका ही नाम ध्रुव है, ये सब शिशुमार प्रजापतिके अङ्ग हैं ॥ ६० ॥ जो मनुष्य पूर्णिमाके दिन उपवास करके पञ्चगव्य पीता है, उसके पहले जन्ममें सञ्चय कियेहुए पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ६१ ॥ तथा जो मनुष्य हरएक महीने मंत्र पढ़कर ब्रह्मकूर्चको पीता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ६२ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! अब तुम पात्र और ब्रह्मकूर्चको सुनो—ढाकके या कमलके पत्तोंके अथवा ताँबेके या सोनेके पात्रको पात्र कहा है, उस पात्रसे ही ब्रह्मकूर्चको पिये ६३ गायत्री मंत्र पढ़कर गौका मूत्र लेय, 'गन्धद्वारां' इत्यादि मंत्रको पढ़कर गौका गोबर लेय, 'आप्यायस्व' इत्यादि मंत्रको पढ़कर गौका दूध लेय, 'दधिक्राव्णो' इस मन्त्रको बोलकर दही लेय ॥ ६४ ॥ 'तेजोऽसि शुक्रम्' इस मन्त्रको बोलकर घी लेय, 'देवस्य त्वा' इस मन्त्रको पढ़कर कुशजल लेय, इसको ब्रह्मकूर्च कहते हैं (और इसको पीनेसे पापका नाश होता है) 'आपोहिष्ठा' इस मन्त्रको पढ़कर जौका आटा यथाविधि लेय ६५ और घीके साथ मिलाकर जलते हुए अग्निमें विधिपूर्वक ब्रह्माको

तथा ॥ ११ ॥ यच्चान्यच्च मया प्रोक्तं तत्प्रयच्छ युधिष्ठिर । दीयते विषुवेष्वेवं श्रोत्रियेभ्यो विशेषतः ॥ १२ ॥ तस्य दानस्य कौंतेय क्षयं नैवोपपद्यते । वर्धतेऽहरहः पुण्यं तद्दानं कोटिसंमितम् १३ विषुवे स्नपनं यत्तु मम कुर्याद्धरस्य वा । अर्चनां च यथान्यायं तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १४ ॥ दशजन्मकृतं पापं तस्य सद्यो प्रणश्यति । दशानामश्वमेधानामिष्टानां लभते फलम् ॥ १५ ॥ विमानं दिव्यमारूढः कामरूपी यथासुखम् । स याति मामकं लोकं रुद्रलोकमथापि वा ॥ १६ ॥ तत्रस्थैर्देवगन्धर्वैर्गीयमानो यथा सुखम् । दिव्यवर्षसहस्राणि कोटिमेकं तु मोदते ॥ १७ ॥ ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके द्विजोत्तमः । चतुर्णामपि वेदानां पारगो ब्रह्मविद्भवेत् ॥ १८ ॥ चन्द्रसूर्यग्रहे व्योम्नि मम वा शङ्कर-

शय्या तथा ॥ ११ ॥ और जो कुछ मैंने कहा है, उसका हे युधिष्ठिर ! तुम दान करो; विषुव योगमें विशेषकर वेद शास्त्रपढ़े ब्राह्मणोंको जो दान दियाजाता है ॥ १२ ॥ उस दानका हे कुन्तीनन्दन ! नाश नहीं होता है, किन्तु उससे प्रतिदिन पुण्य बढ़ता है और विषुवमें विद्वान्को दियाहुआ दान कोटिगुणा फल देता है ॥ १३ ॥ जो मनुष्य विषुव योगमें मुझे और शङ्करको स्नान कराता है तथा विधिविधानसे मेरी और शङ्करकी पूजा करता है, उसके पुण्यके फलको सुनो ॥ १४ ॥ उसके दश जन्मोंमें कियेहुए पाप तुरन्त नष्ट होजाते हैं और दश अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है ॥ १५ ॥ वह दिव्य विमानमें बैठ इच्छानुसार रूप धारण करके सुखसे मेरे या रुद्रके लोकमें जाता है ॥ १६ ॥ तहाँ रहनेवाले देवता और गन्धर्व उसको सुख देनेवाले गीत गाते हैं और वह देवताओंके एक करोड तथा हजार वर्षोंतक स्वर्गमें आनन्द भोगता है ॥ १७ ॥ फिर पुण्यका क्षय होने पर समयानुसार उस लोकमेंसे इस लोकमें आकर चारों वेदोंके पारङ्गत

रस्य वा । गायत्रीं मामिकां वाऽपि जपेद्यः शङ्करस्य वा ॥१९॥
शंखतूर्यस्वनैश्चैव कांस्यघण्टास्वनैरपि । कारयेत्तु ध्वनिं भक्त्या
तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ २० ॥ गान्धर्वैर्होमजप्यैस्तु जप्तैरुत्कृष्ट-
नामभिः । दुर्बलोऽपि भवेद्राहुः सोमश्च बलवान् भवेत् ॥ २१ ॥
सूर्येन्दूपप्लवे चैव श्रोत्रियेभ्यः प्रदीयते । तत्सहस्रगुणं भूत्वा दाता-
रमुपतिष्ठति ॥ २२ ॥ महापातकयुक्तोऽपि यद्यपि स्यान्नरोत्तमः।
निष्पापस्तत्क्षणादेव तेन दानेन जायते ॥२३॥ चन्द्रसूर्यप्रकाशेन
विमानेन विराजता । याति सोमपुरं रम्यं सेव्यमानोऽप्सरोगणैः॥२४
यावद्दक्षाणि तिष्ठन्ति गगने शशिना सह । तावत्कालं स राजेन्द्र
सोमलोके महीयते ॥ २५ ॥ ततश्चापि च्युतः कालादिह लोके युधि-

श्रेष्ठ वेदवेत्ता ब्राह्मणका जन्म पाता है ॥ १८ ॥ चन्द्रमा और
सूर्यका आकाशमें ग्रहण होनेके समय जो मनुष्य मेरी अथवा
शङ्करकी गायत्रीका जप करता है ॥ १९ ॥ तथा भक्तिके साथ
शङ्खकी या नरसिंहेकी ध्वनि करता है तथा झाँझ और घंटेका
शब्द करता है उसको जो पुण्यफल मिलता है, उसको सुनो २०
भजन गानेसे, होम करनेसे, जप करनेसे और उत्तम नामोंका
कीर्त्तन करनेसे राहु दुर्बल और चन्द्रमा बलवान् होजाता है ।२१।
चन्द्र तथा सूर्यके ग्रहणके समय वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको जो दान
दियाजाता है वह सहस्रगुणा होकर दाताको मिलता है ॥२२॥
हे नरोत्तम ! मनुष्य महापातकी होय तो भी उस दानसे तत्काल
पापशून्य होजाता है ॥ २३ ॥ फिर चन्द्रमा और सूर्यकी समान
प्रकाशमान रमणीय विमानमें बैठकर चन्द्रलोकमें जाता है और
अप्सरा उसकी सेवा करती हैं ॥ २४ ॥ और हे राजेन्द्र ! जहाँ
तक नक्षत्र आकाशमें चन्द्रमाके साथ रहते हैं वह मनुष्य तहाँतक
सोमलोकमें रहकर पूजाजाता है ॥ २५ ॥ फिर समय आनेपर
तहाँसे भ्रष्ट होकर इस लोकमें वेद और वेदाङ्गोंका जाननेवाला

ष्ठिर । वेदवेदाङ्गविद्विप्रः कोटीधनपतिर्भवेत् ॥ २६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । भगवंस्तव गायत्री जप्यते च कथं विभो । किम्वा तस्य फलं देव समाचक्ष्व सुरेश्वर ॥ २७ ॥ भगवानुवाच । द्वादश्यां विषुवे चैव चन्द्रसूर्यग्रहे तथा । अयने श्रवणे चैव व्यतीपाते तथैव च ॥२८॥ अश्वत्थदर्शने चैव तथा मद्दर्शनेऽपि च । जप्त्वा तु मम गायत्री चाथवाष्टाक्षरन्नृप । अर्जितं दुष्कृतं तस्य नाशयेन्नात्र संशयः ॥ २९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अश्वत्थदर्शनं चैव किं त्वद्दर्शनसंमितम् । एतत्कथय मे देव परं कौतूहलं हि मे ॥ ३० ॥ भगवानुवाच । अहमश्वत्थरूपेण पालयामि जगत्त्रयम् । अश्वत्थो न स्थितो यत्र नाऽहं तत्र प्रतिष्ठितः ॥ ३१ ॥ यत्राऽहं संस्थितो राजन्नश्वत्थश्चापि तिष्ठति । यस्त्वेनमर्चयेद्भक्त्या स मां साक्षा-

तथा करोड़पति ब्राह्मण होता है ॥ २६ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-हे सुरेश्वर ! हे देव ! हे भगवन् ! आपकी गायत्रीका जप किसप्रकार करे और उसका क्या फल होता है ? यह मुझे सुनाइये ॥ २७ ॥ भगवान्ने कहा, कि-द्वादशीके दिन विषुव योगमें, चन्द्रमा और सूर्यके ग्रहणमें, उत्तरायण और दक्षिणायनमें, श्रवण नक्षत्रमें, व्यतीपातमें ॥२८॥ पीपलका दर्शन करते समय तथा मेरा दर्शन करते समय हे राजन् ! जो मेरी गायत्रीका अथवा अष्टाक्षर मंत्रका जप करता है निःसन्देह उसको लगे हुए पापोंका नाश होजाता है ॥ २९ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-पीपलका दर्शन आपके दर्शनकी समान मानाजाता है, इसका क्या कारण है ? हे देव ! यह बात मुझे बताइये, क्योंकि-इसको सुननेके लिये मुझे बडा ही कुतूहल होरहा है ॥ ३० ॥ भगवान्ने कहा, कि-मैं अश्वत्थ रूपसे तीनों लोकोंका पालन करता हूँ जहाँ पीपल नहीं है वहाँ मेरा वास भी नहीं है ॥३१॥ और हे राजन्! जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ अश्वत्थ भी रहता है, जो मनुष्य भक्तिके

त्समर्चति ॥ ३२ ॥ यस्त्वेनं प्रहरेत्कोपान्मामेव प्रहरेत्तु सः ।
तस्मात्प्रदक्षिणं कुर्यान्न छिन्द्यादेनमन्वहम् ॥३३॥ व्रतस्य पारणं
तीर्थमार्जवं तीर्थमुच्यते । देवशुश्रूषणं तीर्थं गुरुशुश्रूषणन्तथा ३४
पितृशुश्रूषणं तीर्थं मातृशुश्रूषणन्तथा । दाराणां तोषणं तीर्थं गार्ह-
स्थ्यं तीर्थमुच्यते ॥ ३५ ॥ आतिथेयः परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनात-
नम् । ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं त्रेताग्निस्तीर्थमुच्यते ॥ ३६ ॥ मूलं धर्मन्तु
विज्ञाय मनस्तत्रावधार्यताम् । गच्छ तीर्थानि कौन्तेय धर्मो धर्मेण
वर्धते ॥ ३७ ॥ द्विविधं तीर्थमित्याहुः स्थावरं जङ्गमन्तथा । स्थाव-
राज्जङ्गमं तीर्थं ततो ज्ञानपरिग्रहः ॥ ३८ ॥ कर्मणापि विशुद्धस्य
पुरुषस्येह भारत । हृदये सर्वतीर्थानि तीर्थभूतः स उच्यते ॥३९॥

साथ पीपलकी पूजा करता है वह साक्षात् मेरी ही पूजा करता है ॥ ३२ ॥ जो कोप करके पीपलके ऊपर प्रहार करता है वह मेरे ऊपर ही प्रहार करता है, इसलिये नित्य पीपलकी प्रदक्षिणा करे, कोप न करे ॥३३॥ व्रतका पारण तीर्थ कहलाता है,सरलता तीर्थ कहलाती है,देवताओंकी सेवा तीर्थ कहलाती है,गुरुकी सेवा तीर्थ कहलाती है ॥ ३४ ॥ पिताकी सेवा तीर्थ है, माताकी सेवा और अपनी स्त्रीको सन्तुष्ट रखना भी तीर्थ ही है, गृहस्थाश्रम भी तीर्थ कहलाता है ॥३५॥ अतिथिसत्कार परमतीर्थ कहलाता है, वेद सनातन तीर्थ कहलाता है, ब्रह्मचर्य परमतीर्थ कहलाता है, तीनों अग्नियें तीर्थ कहलाती हैं ॥ ३६ ॥ इन सबका मूल धर्म है, ऐसा जानकर इनमें मन लगाओ, हे कुन्तीनन्दन ! तुम तीर्थोंमें जाओ, धर्मसे धर्मकी वृद्धि होती है ॥ ३७ ॥ विद्वान् शास्त्रमें दो प्रकारके तीर्थ कहते हैं, एक स्थावर और दूसरे जङ्गम तीर्थ हैं, स्थावर तीर्थसे जङ्गम तीर्थ श्रेष्ठ है क्योंकि-उससे ज्ञानका लाभ होता है ॥३८॥हे भरतवंशी राजन् ! इस लोकमें धर्माचरणसे शुद्ध हुए मनुष्यके हृदयमें सब तीर्थ वास

गुरुतीर्थं परं ज्ञानमतस्तीर्थं न विद्यते । ज्ञानतीर्थं परं तीर्थं ब्रह्मतीर्थं सनातनम्॥४०॥क्षमा तु परमं तीर्थं सर्वतीर्थेषु पाण्डव । क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम् ॥ ४१ ॥ मानितोऽमानितो वाऽपि पूजितोऽपूजितोऽपि वा । आक्रुष्टस्तर्जितो वाऽपि क्षमावांस्तीर्थमुच्यते॥४२॥क्षमा यशः क्षमा दानं क्षमा यज्ञः क्षमा दमः । क्षमाऽहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः॥४३क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमयैव धृतं जगत् । क्षमावान् ब्राह्मणो देवः क्षमावान् ब्राह्मणो वरः॥४४ क्षमावान् प्राप्नुयात्स्वर्गं क्षमावानाप्नुयाद्यशः । क्षमावान् प्राप्नुयान्मोक्षं तस्मात्साधुः स उच्यते ॥४५॥ आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्थमात्मा तीर्थं सर्वतीर्थप्रधानम् । आत्मा यज्ञः सततं मन्यते

करते हैं,इसकारण वह तीर्थरूप कहलाता है ॥३६॥ गुरुतीर्थ परम ज्ञान है और उससे श्रेष्ठ दूसरा तीर्थ नहीं है,ज्ञानतीर्थ उत्तम तीर्थ कहलाता है तथा वेदरूप तीर्थ भी सनातन तीर्थ कहलाता है ४० हे पाण्डुपुत्र ! सब तीर्थोंमें क्षमा परम तीर्थ है, क्षमावानोंको इस लोकमें सुख मिलता है और परलोकमें भी सुख मिलता है ।४१। सन्मान करो,चाहे अपमान करो, पूजा करो,चाहे तिरस्कार करो, निन्दा करो, चाहे ललकारो तो भी जो क्षमाशील रहता है वह तीर्थ कहलाता है ॥ ४२ ॥ क्षमा यश है, क्षमा दान है,क्षमा यज्ञ है, क्षमा दम है, क्षमा अहिंसा है, क्षमा धर्म है, क्षमा इन्द्रियोंका निग्रह है ॥ ४३ ॥ क्षमा दया है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा ही इस जगत्को धारण कियेहुए है, क्षमावान् ब्राह्मण देवता कहलाता है, क्षमावान् ब्राह्मण उत्तम है ॥ ४४ ॥ क्षमावान् स्वर्ग पाता है, क्षमावान् यश पाता है और क्षमावान् मोक्ष पाता है, इसलिये क्षमावान् साधु कहलाता है ॥ ४५ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! आत्मा एक नदीरूप और पवित्र तीर्थरूप है, आत्मा सब तीर्थोंमें प्रधान तीर्थ है, आत्माको नित्य यज्ञरूप माना है,

वै स्वर्गो मोक्षः सर्वमात्मन्यधीनम् ॥ ४६ ॥ आचारनैर्मल्यमुपागतेन सत्यक्षमानिस्तुलशीतलेन । ज्ञानाम्बुना स्नाति हि नित्यमेवं किन्तस्य भूयः सलिलेन तीर्थम् ॥ ४७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । भगवन् सर्वपापघ्नं प्रायश्चित्तमदुष्करम् । त्वद्भक्तस्य सुरश्रेष्ठ मम त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४८ ॥ भगवानुवाच । रहस्यमिदमत्यर्थमश्राव्यं पापकर्मणाम् । अधार्मिकाणामश्राव्यं प्रायश्चित्तं ब्रवीमि ते ॥ ४९ ॥ पावनं ब्राह्मणं दृष्ट्वा मद्गतेनान्तरात्मना । नमो ब्रह्मण्यदेवायेत्यभिवादनमाचरेत् ॥ ५० ॥ प्रदक्षिणञ्च यः कुर्यात्पुनरष्टाक्षरेण तु । तेन तुष्टेन विप्रेण तत्पापं क्षपयाम्यहम् ॥५१॥ पोत्रकृष्टां वराहस्य मृत्तिकां शिरसा वहन् । प्राणायामशतं कृत्वा नरः पापैः प्रमुच्यते ॥५२॥ दक्षिणावर्त्तशंखाद्वा कपिलाशृङ्गतोऽपि वा ।

स्वर्ग और मोक्ष ये आत्माके अधीन हैं ॥४६॥ आचारसे निर्मल हुए, सत्य तथा क्षमासे अनुपम रूपसे शीतल हुए ज्ञानरूप जलसे जो मनुष्य नित्य स्नान करता है उस पुरुषको फिर जलके तीर्थका क्या प्रयोजन है? ॥४७॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-भगवन्! हे देवश्रेष्ठ! सब पापोंका नाश करनेवाला और जो सुखसे होसके ऐसा प्रायश्चित्त मुझ अपने भक्तको बताइये ॥ ४८ ॥ भगवान्ने कहा, कि—जो प्रायश्चित्त पापकर्म करनेवालोंके न सुननेयोग्य और अत्यन्त गुप्त है तथा अधर्मियोंके भी सुननेके अयोग्य है, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ ॥४९॥ पवित्र ब्राह्मणको देख मुझमें मन लगाकर "नमो ब्रह्मण्यदेवाय" को बोलता हुआ प्रणाम करे ॥ ५० ॥ और फिर अष्टाक्षर मंत्र बोलकर जो प्रदक्षिणा करता है, उससे ब्राह्मण सन्तुष्ट होता है और मैं उसके पापोंका नाश करदेता हूँ ॥ ५१ ॥ जो वाराहकी उखाड़ीहुई मृत्तिकाको मस्तक पर धारण करता है और सौ प्राणाम करता है वह पापसे मुक्त होजाता है ॥ ५२ ॥ जो सूर्यग्रहणके समय मेरे मन्दिरके

प्राक्स्रोतसं नदीं गत्वा ममायतनसन्निधौ ॥५३॥ सलिलेन तु यः स्नायात्सकृदेव रविग्रहे।तस्य यत्सञ्चितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति५४ मस्तकान्निःसृतैस्तोयैः कपिलाया युधिष्ठिर । गोमूत्रेणापि यः स्नायाद्रोहिण्यां मम वा दिने । विप्रपादच्युतैर्वापि तोयैः पापं प्रणश्यति ॥ ५५ ॥ नमस्येद्यस्तु मद्भक्त्या शिशुमारं प्रजापतिम् । चतुर्दशाङ्गसंयुक्तं तस्य पापं प्रणश्यति ॥ ५६ ॥ ततश्चतुर्दशाङ्गानि शृणु तस्य युधिष्ठिर । शिरो धर्मो हनुर्ब्रह्मा वृषावुत्तरदक्षिणौ५७ हृदयन्तु भवेद्विष्णुरंसौ स्यातां तथाश्विनौ । अत्रिर्मध्यं भवेद्राजंल्लिङ्गं सम्वत्सरं भवेत् ॥ ५८ ॥ मित्रावरुणकौ पादावूरुद्वन्द्वं हुताशनः । ततः पश्चाद्भवेदिन्द्रस्ततः पश्चात्प्रजापतिः ॥ ५९ ॥ अभयञ्च ततः पश्चात्स एव ध्रुवसंज्ञिकः । एतान्यङ्गानि सर्वाणि

सामने प्राचीन सरस्वती नदी पर जाकर दक्षिणावर्त्त शङ्खसे अथवा कपिला गौके सींगके ऊपर उस नदीके जलको उछालकर एक बारमें ही स्नान करता है उसका सञ्चय कियाहुआ पाप तत्काल नष्ट होजाता है ॥ ५३-५४ ॥ हे युधिष्ठिर ! कपिला गौके सींगपरसे नीचे गिरतेहुए जलसे अथवा उस कपिला गौके मूत्रसे जो मनुष्य रोहिणी नक्षत्रमें अथवा मेरे (एकादशीके) दिन स्नान करता है अथवा ब्राह्मणके चरणमेंसे नीचे गिरेहुए जलसे जो स्नान करता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥५५॥ जो मनुष्य मेरी भक्तिसे चौदह अङ्गवाले शिशुमार प्रजापतिको नमस्कार करता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ५६ ॥ हे युधिष्ठिर ! अब तुम उस शिशुमार नामक प्रजापतिके चौदह अङ्गोंको सुनो, धर्म उसका मस्तक है,ब्रह्मा उसके ओठ हैं, दो वृक्ष उत्तर तथा दक्षिण हैं ॥ ५७ ॥ विष्णु हृदय है, अश्विनीकुमार उसके दो खभे हैं, अत्रि मध्यभाग है, हे राजन् ! सम्वत्सर उसका लिङ्ग है ॥५८॥ मित्रावरुण उसके दो चरण हैं, अग्नि उसकी साँथलें हैं ॥ ५९ ॥

शिशुमारप्रजापतेः ॥ ६० ॥ पिबेत्तु पञ्चगव्यं यः पौर्णमास्यामुपोष्य तु । तस्य नश्यति तत्पापं यत्पापं पूर्वसञ्चितम् ॥ ६१ ॥ तथैव ब्रह्मकूर्चन्तु समन्त्रन्तु पृथक्पृथक् । मासि मासि पिबेद्यस्तु तस्य पापं प्रणश्यति ॥ ६२ ॥ पात्रञ्च ब्रह्मकूर्चञ्च शृणु तत्र च भारत । पलाशं पद्मपत्रञ्च ताम्रं वाऽथ हिरण्मयम् । सादयित्वा तु गृह्णीयात्तत्तु पात्रमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥ गायत्र्या गृह्यते मूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् । आप्यायस्वेति च क्षीरं दधि क्राव्णेति वै दधि ६४ तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यन्देवस्य त्वा कुशोदकम् । आपो हिष्ठेत्यृचा गृह्य यवचूर्णं यथाविधि ॥ ६५ ॥ ब्रह्मणे च यथा हुत्वा समिद्धे च हुताशने । आलोड्य प्रणवेनैव निर्मथ्य प्रणवेन तु ६६

उसके पृष्ठभागमें इन्द्र हैं, उसके बाद प्रजापति हैं, उसके बाद अभय है और उसका ही नाम ध्रुव है, ये सब शिशुमार प्रजापतिके अङ्ग हैं ॥ ६० ॥ जो मनुष्य पूर्णिमाके दिन उपवास करके पञ्चगव्य पीता है, उसके पहले जन्ममें सञ्चय कियेहुए पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ६१ ॥ तथा जो मनुष्य हरएक महीने मंत्र पढ़कर ब्रह्मकूर्चको पीता है उसके पाप नष्ट होजाते हैं ॥ ६२ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! अब तुम पात्र और ब्रह्मकूर्चको सुनो-ढाकके या कमलके पत्तोंके अथवा ताँबेके या सोनेके पात्रको पात्र कहा है, उस पात्रसे ही ब्रह्मकूर्चको पिये ६३ गायत्री मंत्र पढ़कर गौका मूत्र लेय, 'गन्धद्वारां' इत्यादि मंत्रको पढकर गौका गोबर लेय, 'आप्यायस्व' इत्यादि मंत्रको पढकर गौका दूध लेय, 'दधिक्राव्णो' इस मन्त्रको बोलकर दही लेय ॥ ६४ ॥ 'तेजोऽसि शुक्रम्' इस मन्त्रको बोलकर घी लेय, 'देवस्य त्वा' इस मन्त्रको पढकर कुशजल लेय, इसको ब्रह्मकूर्च कहते हैं (और इसको पीनेसे पापका नाश होता है) 'आपोहिष्ठा' इस मन्त्रको पढकर जौका आटा यथाविधि लेय ६५ और घीके साथ मिलाकर जलते हुए अग्निमें विधिपूर्वक ब्रह्माको

उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेत्तु प्रणवेन तु । महतोऽपि स पापेन त्वचेवा-
हिर्विमुच्यते ॥ ६७ ॥ भद्रन्न इति यः पादमपठन्नृक्संहितां नरः ।
अन्तर्जले वाऽभ्यादित्ये तस्य पापं प्रणश्यति ॥ ६८ ॥ मम सूक्त
ञ्जपेद्यस्तु नित्यमप्यद्गतमानसः । न पापेन स लिप्येत पद्मपत्रमि-
वाम्भसा ॥ ६९ ॥
इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि पञ्चगव्य-
विधिनिरूपणे द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११२॥

युधिष्ठिर उवाच । कीदृशा ब्राह्मणाः पुण्या भावशुद्धाः सुरे-
श्वर । यत्कर्म सफलं नेति कथयस्व ममानघ ॥ १ ॥ भगवानु-
वाच ! शृणु पाण्डव तत्सर्वं ब्राह्मणानां यथाक्रमम् । सफलं

उसकी आहुति देय, फिर ॐ का उच्चारण करके जौके आटेको
जलमें घोलदेय, फिर प्रणवका उच्चारण करके उसको मथे ६६
प्रणवका उच्चारण करके उसको हाथमें लेय और प्रणवका
उच्चारण करके ही पीलेय, ऐसा करने पर पुरुष महापापसे ऐसे
मुक्त होजाता है, जैसे साँप केंचलीसे मुक्त होजाता है ॥ ६७ ॥
जो मनुष्य जलमें बैठकर अथवा सूर्यके सामनेको दृष्टि करके
"भद्रं नः" इस ऋचाके एक चरणका अथवा ऋग्वेदकी संहिताका
पाठ करता है ॥ ६८ ॥ अथवा नित्य मुझमें मनको पिरोकर
मेरे सूक्त (पुरुषसूक्त) का पाठ करता है वह इसप्रकार पापसे
लिप्त नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता है ६९
एकसौ बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११२ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे सुरेश्वर ! कैसे ब्राह्मणोंको शुद्ध
अन्तःकरणवाला और पवित्र जानना चाहिये ? और कियाहुआ
कर्म सफल क्यों नहीं होता है ? हे निर्दोष ! यह मुझे बताइये ? १
भगवान्‌ने कहा, कि—हे पाण्डुनन्दन ! ब्राह्मणोंका कर्म किसप्रकार
सफल होता है और किसप्रकार निष्फल होता है, यह सब मैं

निष्फलञ्चैव तेषां कर्म ब्रवीमि ते ॥ २ ॥ त्रिदण्डधारणं मौनं जटाधारणमुण्डनम् । वल्कलाजिनसंवासो व्रतचर्याभिषेचनम् ३ अग्निहोत्रं गृहे वासः स्वाध्यायं दारसत्क्रिया । सर्वाण्येतानि वै मिथ्या यदि भावो न निर्मलः। अग्निहोत्रं वृथा राजन्वृथा वेदास्तथैव च । शीलेन देवास्तुष्यन्ति श्रुतयश्च प्रमाणम् ॥ ५ ॥ क्षान्तं दान्तं जितक्रोधं जितात्मानं जितेन्द्रियम् । तमग्र्यं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा इति स्मृताः ॥ ६ ॥ अग्निहोत्रव्रतपरान्स्वाध्यायनिरताञ्शुचीन् । उपवासरतान्दान्तांस्तान्देवा ब्राह्मणा विदुः॥७॥ न जात्या पूजितो राजन्गुणाः कल्याणकारकाः । चण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ८ ॥ मनःशौचं कर्म शौचं कुल-

तुम्हें क्रमसे सुनाता हूँ ॥ २ ॥ तीन दण्डको धारण करना, मौन व्रत धारण करना, शिर पर जटा रखना या मुण्डन करादेना, वल्कल वस्त्र पहरना, मृगचर्म ओढना, व्रत रखना, तीन समय स्नान करना॥३॥ अग्निहोत्रमें होम करना, गृहस्थाश्रमको पालना, वेदोंका स्वाध्याय करना, स्त्रियोंका सत्कार करना, यह सब धर्म कर्म यदि अन्तःकरण शुद्ध न हो तो निष्फल होता है ॥ ४ ॥ हे राजन ! (अन्तःकरण शुद्ध नहीं है तो) अग्निहोत्र वृथा है और उसका वेद पढना भी वृथा है, देवता आचारसे सन्तुष्ट होते हैं, इसमें वेदका प्रमाण है ॥ ५ ॥ क्षमावान्, जितेन्द्रिय, क्रोधरहित, मनको जीतनेवाले और इन्द्रियोंको नियममें रखनेवाले ब्राह्मणको मैं श्रेष्ठ मानता हूँ, दूसरे शूद्र हैं, यह समझे रहो ।६। अग्निहोत्रमें लगे रहनेवाले, व्रत करनेमें तत्पर, स्वाध्यायशील, भीतर बाहरसे शुद्ध, उपवासके प्रेमी और जितेन्द्रिय पुरुषको देवता ब्राह्मण मानते हैं॥७॥ हे राजन् ! मनुष्य जन्मसे पूजनीय नहीं होता है, किन्तु गुण उसका कल्याण करनेवाले हैं, चांडाल भी यदि सदाचारी हो तो देवता उसको ब्राह्मणकी समान प्यार

शौचं च भारत। शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम्॥९॥
पञ्चस्वेतेषु शौचेषु हृदि शौचं विशिष्यते। हृदयस्य च शौचेन
स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः॥ १०॥ अग्निहोत्रपरिभ्रष्टः प्रसक्तः क्रय-
विक्रये। वर्णसङ्करकर्त्ता च ब्राह्मणो वृषलैः समः॥ ११॥
यस्य वेदश्रुतिर्नष्टा कर्षकश्चापि यो द्विजः। विकर्मसेवी कौन्तेय
स वै वृषल उच्यते॥१२॥ वृषो हि धर्मो विज्ञेयस्तस्य यः कुरुते
लयम्। वृषलं तं विदुर्देवा निकृष्टं श्वपचादपि॥ १३॥ स्तुति-
भिर्ब्रह्मगीताभिर्यः शूद्रं स्तौति मानवः। न तु मां स्तौति पापात्मा
स तु चण्डालवत् समः॥ १४॥ श्वदृतौ तु यथा क्षीरं ब्रह्म वै
वृषले तथा। दुष्टतामेति तत्सर्वं शुना लीढं हविर्यथा॥ १५॥

करते हैं॥ ८॥ हे भरतवंशी राजन्! मनकी पवित्रता, कर्मकी पवित्रता, कुलकी पवित्रता, शरीरकी पवित्रता और वाणीकी पवित्रता यह पाँच प्रकारकी पवित्रता कही है॥ ९॥ इस पाँच प्रकारकी पवित्रतामें हृदयकी पवित्रता (मनकी शुद्धि) बढते ही, मनुष्य उस हृदयकी पवित्रतासे स्वर्गमें जाता है॥१०॥ जिस ब्राह्मणने अग्निहोत्रको त्यागदिया हो, जो रस आदिका व्यापार करनेलगा हो, और वर्णोंमें घोलमेल करने वाला हो, उस ब्राह्मणको शूद्रकी समान जानो॥ ११॥ हे कुन्तीनन्दन! जो वेदकी श्रुतियोंको भूलगया हो, जो खेतीका काम करता हो वह नीचकर्म करता है और वृषल है॥ १२॥ वृष शब्दका अर्थ धर्म है, जो मनुष्य उस धर्मका नाश करता है उसको देवता वृषल और श्वपच (चांडाल) से भी अधम जानते हैं॥१३॥ जो पापी मनुष्य वेदोक्त मंत्रोंसे शूद्रकी स्तुति करता है, परन्तु मेरी (भगवान्‌की) स्तुति नहीं करता है उसको चाण्डालकी समान जानो॥ १४॥ कुत्तेकी खालमें भराहुआ दूध जैसे अपवित्र होजाता है, जैसे कुत्तेका चाटाहुआ हवि अपवित्र होजाता है ऐसे

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ १६ ॥ यान्युक्तानि मया सम्यग्विद्या-स्थानानि भारत । उत्पन्नानि पवित्राणि भुवनार्थं तथैव च १७ तस्मात्तानि न शूद्रस्य स्प्रष्टव्यानि युधिष्ठिर । सर्वं च शूद्रसंस्पृ-ष्टमपवित्रं न संशयः ॥१८॥ लोके त्रीण्यपवित्राणि पञ्चामेध्यानि भारत । श्वा च शूद्रः श्वपाकश्च अपवित्राणि पाण्डव ॥ १९ ॥ गायकः कुक्कुटो यूपो उदक्या वृषलीपतिः । पञ्चैते स्युरमेध्याश्च स्प्रष्टव्या न कदाचन । स्पृष्ट्वैतानष्ट वै विप्रः सचैलो जलमावि-शेत् ॥२०॥ मद्भक्ताञ्शूद्रसामान्यादवमन्यन्ति ये नराः । नरके-ष्वेव तिष्ठन्ति वर्षकोटिं नराधमाः ॥ २१ ॥ चण्डालमपि मद्भक्तं नावमन्येत बुद्धिमान् । अवमानात्पतन्त्येव नरके रौरवे नराः २२

हो शूद्रमें वेद अपवित्र हो जाता है ॥ १५ ॥ चार वेद, वेदके छः अङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण ये चौदह विद्याके स्थान हैं ॥ १६ ॥ हे भरतवंशी राजन ! मैंने जो विद्याके चौदह पवित्र स्थान कहे हैं वे तीनों लोकोंके कल्याणके लिये उत्पन्न हुए हैं ॥ १७ ॥ इसलिये हे युधिष्ठिर ! शूद्रको उनका स्पर्श भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि शूद्रके स्पर्शसे ये सब वस्तु अपवित्र (यज्ञके अनुपयोगी) होती हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १८ ॥ हे भारत ! तीन वस्तु अपवित्र हैं और पाँच वस्तु अमेध्य हैं हे पाण्डव ! कुत्ता, शूद्र, श्वपाक ये तीन अपवित्र (यज्ञदूषक) हैं ॥ १९ ॥ गायक, मुरग, यूप रजस्वला स्त्री और वेश्याका पति ये पाँच अमेध्य हैं, इनको कभी न छुए, ब्राह्मण इन आठका स्पर्श करके वस्त्रोंसहित जलमें घुसकर स्नान करे ॥ २० ॥ जो मनुष्य मेरे भक्तोंको शूद्रकी समान मानकर अपमान करते हैं वे नीच पुरुष करोड वर्ष तक नरकमें निवास करते हैं ॥२१॥ बुद्धिमान् मनुष्यको मेरे भक्त चण्डालका भी अपमान नहीं करना

मम भक्तस्य भक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका मम । तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषतः ॥ २३ ॥ कीटपक्षिमृगाणां च मयि संन्यस्तचेतसाम् । ऊर्ध्वामेव गतिं विद्धि किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम् २४ पत्रं वाऽप्यथवा पुष्पं फलं वाप्यप एव वा । ददाति मम शूद्रो यच्छिरसा धारयामि तत् ॥ २५ ॥ विप्रानेवार्चयेद्भक्त्या शूद्रप्रायांश्च मत्प्रियान् । तेषां तेनैव रूपेण पूजां गृह्णामि भारत २६ वेदोक्तेनैव मार्गेण सर्वभूतहृदि स्थितम् । मामर्चयन्ति ये विप्रा मत्सायुज्यं व्रजन्ति ते ॥ २७ ॥ मद्भक्तानां हितायैव प्रादुर्भावः कृतो मया । प्रादुर्भावकृता काचिदर्चनीया युधिष्ठिर ॥२८॥ आसामन्यतमां मूर्तिं यो मद्भक्त्या समर्चति । तेनैव परितुष्टोऽहं भवि-

---

चाहिये, उनका अपमान करनेसे मनुष्य रौरव नरकमें पड़ते हैं २२ जो मेरे भक्तोंके भक्त हैं, उनके ऊपर मेरा बड़ा प्रेम है, इसलिये मेरे भक्तोंके भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा करनी चाहिये ॥२३॥ कीट, पक्षी और पशु भी मुझमें अनन्यभावसे चित्त लगादें तो उनको भी ऊर्ध्वगति (स्वर्गकी प्राप्ति होना) जानो, फिर ज्ञानी मनुष्योंकी तो बात ही क्या है?॥२४॥शूद्र मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा जल इनमेंसे कुछ भी अर्पण करता है तो मैं उसको शिर पर धारण करता हूँ ॥ २५ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! शूद्रप्राय होने पर भी जो ब्राह्मण मुझे प्यारे हों उनकी भक्तिसे पूजा करनी चाहिये, मैं उनके उस स्वरूपसे ही ग्रहण करता हूँ ॥ २६ ॥ जो ब्राह्मण वेदमें लिखी विधिसे सकल प्राणियोंके हृदयोंमें रहनेवाले मेरी पूजा करते हैं वे मेरी सायुज्य गतिको पाजाते है (मेरे पास पहुँचजाते हैं) ॥ २७ ॥ हे राजन् ! मैंने अपने भक्तोंके हितके लिये ही अवतार लिया है, इसलिये मेरी हरएक प्रकट हुई मूर्त्तिकी पूजा करनी चाहिये । २८ ॥ जो मनुष्य भक्तिके साथ मेरी इन प्रकट मूर्त्तियोंमेंसे किसी एक

ष्यामि न संशयः ॥२९॥ मृदा च मणिरत्नैश्च ताम्रेण रजतेन च । कृत्वा प्रतिकृतिं कुर्यादर्चनां काञ्चनेन वा । पुण्यं दशगुणं विद्यादेतेषामुत्तरोत्तरम् ॥ ३० ॥ जपकामो भवेद्राजा विद्याकामो द्विजोत्तमः । वैश्यो वा धनकामस्तु शूद्रः सुखफलप्रियः । सर्वकामाः स्त्रियो वाऽपि सर्वान् कामानवाप्नुयुः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

युधिष्ठिर उवाच । कीदृशानां तु शूद्राणां नानुगृह्णासि चार्चनम् । उद्विग्नस्तत्र कस्माद्धि तन्मे ब्रूहि सुरेश्वर ॥१॥ भगवानुवाच। अव्रतेनाप्यभक्तेन स्पृष्टां शूद्रेण चार्चनाम् । तां वर्जयामि राजेन्द्र श्वपाकविहितामिव ॥ २ ॥ नन्वहं शङ्करश्चापि गावो विप्रास्तथैव

मूर्त्तिकी पूजा करता है उससे ही मैं सन्तुष्ट होजाता हूँ, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २९ ॥ मेरी मृत्तिकाकी, मणिकी, रत्नकी, ताँबेकी, चाँदीकी अथवा सोनेकी मूर्त्ति बनावे, इन मूर्त्तियोंमेंसे उत्तरोत्तर (अगलीसे अगलीकी) पूजा करनेसे दशगुणा पुण्य जाने ॥ ३० ॥ राजा विजयकी इच्छा करता हो, ब्राह्मण विद्याकी कामना करता हो, वैश्य धनकी इच्छा करता हो, शूद्र सुखरूप फलसे प्रेम करता हो और स्त्रियें सब प्रकारकी कामनायें करती हों तो मेरी मूर्त्तिकी पूजा करनेसे इनकी सब कामनायें पूरी होती हैं ॥ ३१ ॥ एक सौ तेरहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा, कि—हे सुरेश्वर ! तुम कैसे शूद्रोंके पूजनको स्वीकार नहीं करते हो तथा आप किस बातसे उद्विग्न होते हैं यह मुझे बताइये ॥ १ ॥ भगवान्ने कहा, कि—हे राजेन्द्र ! जो शूद्र मेरा भक्त नहीं है, व्रतधारी नहीं है, उसकी कीहुई पूजाको मैं चाण्डालकी कीहुई पूजाकी समान मानता हूँ और उसको त्याग देता हूँ ॥ २ ॥ हे युधिष्ठिर ! मैं, शिव, गौ, ब्राह्मण और पीपल ये

च । अश्वत्थोऽपररूपं हि त्रयमेतद्युधिष्ठिर ॥३॥ एतत्त्रयं हि मद्भक्तो नावमन्येत कर्हिचित् । अवमानितमेतत्त दहत्यासप्तमं कुलम् ४ अश्वत्थो ब्राह्मणा गावो मन्मयास्तारयन्ति हि । तस्मादेतत्प्रयत्नेन त्रयं पूजय पांडव ॥ ५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । ब्राह्मणेनैव देहेन कथं शूद्रत्वमाप्नुयात् । ब्रह्म वा नश्यति कथं वक्तुं देव त्वमर्हसि६ भगवानुवाच । कूपस्नानं तु यो विप्रः कुर्याद् द्वादशवार्षिकम् । स तेनैव शरीरेण शूद्रत्वं यात्यसंशयम् ॥ ७ ॥ यस्तु राजाश्रयेणैव जीवेद् द्वादशवार्षिकम् । स शूद्रत्वं व्रजेद्विप्रो वेदानां पारगोपि सन्८ पत्तने नगरे वाऽपि यो द्वादशसमा वसेत् । स शूद्रत्वं व्रजेद्विप्रो नात्र कार्या विचारणा ॥ ९ ॥ उत्पादयति यः पुत्रं शूद्रायां काममोहितः । तस्य कायगतं ब्रह्म सद्य एव विनश्यति ॥ १० ॥ यः

त्रिदेवरूप हैं ॥ ३ ॥ मेरे भक्तको इनका अपमान कभी नहीं करना चाहिये इनका अपमान कियाजाय है तो ये सातवीं पीढी तकके कुलको भस्म करडालते हैं ॥ ४ ॥ हे पाण्डव ! पीपल, ब्राह्मण और गौ ये मेरा रूप हैं और मनुष्योंको तार देते हैं इस लिये तुम इन तीनोंका उद्योग करके पूजन करो ॥ ५ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि-मनुष्य ब्राह्मणके शरीरमें शूद्र कैसे होजाता है? और ब्राह्मणपना कैसे नष्ट होजाता है, यह बात हे देव ! मुझे समझा दीजिये ॥ ६ ॥ भगवान्ने कहा, कि-जो ब्राह्मण बारह वर्षतक कूपके जलसे स्नान करता है वह निःसन्देह उस ही शरीरसे शूद्र होजाता है ॥ ७ ॥ जो मनुष्य राजाका आश्रय लेकर बारह वर्षतक आजीविका करता है वह ब्राह्मण वेदका पारङ्गत होने पर भी शूद्रभावको प्राप्त होजाता है ॥ ८ ॥ जो ब्राह्मण पत्तन (कसबे) में अथवा नगरमें बारह वर्षतक रहता है वह निःसन्देह शूद्र होजाता है ॥ ९ ॥ जो ब्राह्मण कामसे मोहित होकर शूद्रजातिकी स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करता है उसकी कायामेंका

सोमलतिकां विप्रः केवलं भक्षयेद्वृथा । तस्य कायगतं ब्रह्म सद्य एव विनश्यति ॥११॥ मैथुनं कुरुते यस्तु जिह्वायां ब्राह्मणो नृप । तस्य कायगतं ब्रह्म सद्य एव विनश्यति ॥ १२ ॥ विप्रत्वं दुर्लभं प्राप्य दुर्यागैरेवमादिभिः । विनाशयन्ति ये तत्तु तान्शोचामि युधिष्ठिर ॥ १३ ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मत्प्रियो यो युधिष्ठिर । जातिभ्रंशकरं कर्म न कुर्यादीदृशं द्विजः ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि जातिभ्रंशकथने चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११४॥

युधिष्ठिर उवाच । देशान्तरगते विप्रे संयुक्ते कालधर्मणा। शरीरनाशे संप्राप्ते कथं प्रेतत्वकल्पना ॥ १ ॥ भगवानुवाच । श्रूयतामाहिताग्नेस्तु तथा भूतस्य संस्क्रिया । पालाशवृन्दैः प्रतिमा कर्तव्या

ब्राह्मणपना तुरन्त नष्ट होजाता है ॥ १० ॥ जो ब्राह्मण वृथा (यज्ञ विना) सोमवल्लीका रस पीता है उसकी कायामेंका ब्राह्मणपना तुरन्त नष्ट होजाता है॥११॥हे राजन ! जो ब्राह्मण स्त्रीके साथ जीभसे मैथुन करता है उसकी कायामेंका ब्राह्मणपना तुरन्त नष्ट होजाता है ॥ १२ ॥ हे युधिष्ठिर ! जो ब्राह्मण दुर्लभ ब्राह्मणपनेको पाकर ऊपर कहेहुए दुष्ट मार्गोंसे उसका नाश कर डालते हैं, उन ब्राह्मणोंके लिये मैं शोक करता हूँ ॥१३॥ इसलिये हे युधिष्ठिर ! जिस ब्राह्मणवर्णके पुरुषको मैं प्यारा होऊँ उसको जातिका नाश करनेवाला ऐसा काम कभी नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥ एकसौ चौदहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११४ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे कृष्ण ! कोई ब्राह्मण परदेशको गया हो और तहाँ वह काल पाकर मर जाय और उसके शरीरका नाश होजाय तो उसके पुत्रादिको उसके प्रेतकी कल्पना किसप्रकार करनी चाहिये ॥१॥ भगवानने कहा, कि-अग्निहोत्री ब्राह्मण परदेशमें मरजाय तो शास्त्रमें लिखे अनुसार उसके शरीरकी

कल्पचोदिता ॥ २ ॥ त्रीणि षष्टिशतान्याहुरस्थीन्यस्य युधिष्ठिर । तेषां विकल्पना कार्या यथा शास्त्रं विनिश्चितम् ॥ ३ ॥ अशीत्यर्धं शिरसि च ग्रीवायां दश एव च । बाह्वोश्चापि शतं दद्यादंगुलीषु पुनर्दश ॥ ४ ॥ उरसि त्रिशतं दद्याज्जठरे वाऽपि विंशतिम् । वृषणे द्वादशार्धं तु शिश्ने चाष्टार्धमेव च ॥ ५ ॥ दद्यात्तु शतमूर्वोस्तु षष्ट्यर्धं जानुजङ्घयोः । दश दद्याच्चरणयोरेषा प्रेतस्य निष्कृतिः ॥ ६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । विशेषतीर्थं सर्वेषामशक्तानामनुग्रहात् । भक्तानां तारणार्थं तु वक्तुमर्हसि धर्मतः ॥ ७ ॥ भगवानुवाच । पावनं सर्वतीर्थानां सत्यं गायन्ति सामगाः । सत्यस्य वचनं तीर्थमहिंसा तीर्थमुच्यते ॥८॥ तपस्तीर्थं दया तीर्थं

प्रतिमा ढाकके काठकी बनावे ॥ २ ॥ हे युधिष्ठिर ! मनुष्यके शरीरमें तीनसौ साठ हड्डियें हैं, ऐसा कहते हैं, उन हड्डियोंकी शास्त्रके अनुसार ढाककी पतली लकडियोंसे कल्पना करे ॥३॥ मस्तकके स्थानमें ढाककी चालीस शलाका लगावे, दोनों भुजाओंमें सौ लगावे, अंगुलियोंके स्थानमें दश लगावे ॥ ४ ॥ छातीके स्थानमें तीन सौ शलाका रक्खे, पेटके स्थान पर बीस शलाका रक्खे, वृषणकी जगह छः, लिङ्गकी जगह चार ॥ ५ ॥ दोनों साँथलोंकी जगह सौ, घुटने और जाँघोंके स्थानमें तीस २ और दोनों चरणोंके स्थानमें दश शलाका रक्खे, इसप्रकार प्रेतकी कल्पना करके उसका संस्कार करे ॥ ६ ॥ युधिष्ठिरने बूझा, कि—हे कृष्ण ! तीर्थयात्रा करनेमें असमर्थ भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करके तथा उनको तारनेके लिये धर्मानुसार कोई विशेषतीर्थ बताइये ॥ ७ ॥ भगवान्‌ने कहा, कि—सामवेदका गान करनेवाले सत्यको सब तीर्थोंका पवित्र करनेवाला कहते हैं, सत्य बोलना तीर्थ है और अहिंसा भी तीर्थ कहलाता है ॥ ८ ॥ हे युधिष्ठिर ! तप तीर्थ है, दया तीर्थ है, शील तीर्थ है, थोड़ेमें सन्तोष करना

शीलन्तीर्थं युधिष्ठिर ! अल्पसन्तोषकं तीर्थं नारी तीर्थं पति-
व्रता ॥ ९ ॥ सन्तुष्टो ब्राह्मणस्तीर्थं ज्ञानं वा तीर्थमुच्यते । मद्भक्ता
सततं तीर्थं शङ्करस्य विशेषतः ॥ १० ॥ यतयस्तीर्थमित्येवं विद्वां-
सस्तीर्थमुच्यते । शरण्यपुरुषस्तीर्थमभयं तीर्थमुच्यते ॥ ११ ॥
त्रैलोक्येऽस्मिन्निरुद्विग्नो न बिभेमि कुतश्चन । न दिवा यदि वा
रात्रावुद्वेगः शूद्रकुलनात् ॥ १२ ॥ न भयं देवदैत्येभ्यो रक्षोभ्य-
श्चैव मे नृप । शूद्रवक्त्राच्च्युतं ब्रह्म भयं तु मम सर्वदा ॥ १३ ॥
तस्मात्सप्रणवं शूद्रो मन्नामापि न कीर्तयेत् । प्रणवं हि परं लोके
ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥१४॥ द्विजशुश्रूषणं धर्मः शूद्राणां भक्तितो
मयि । तेन गच्छन्ति ते स्वर्गं चिन्तयन्तो हि मां सदा ॥ १५ ॥
द्विजशुश्रूषया शूद्रः परं श्रेयोऽधिगच्छति । द्विजशुश्रूषणादन्यन्नास्ति

तीर्थ है, पतिव्रता स्त्री तीर्थ है ॥ ९ ॥ सन्तोषी ब्राह्मण तीर्थ है,
ज्ञान तीर्थ है, मेरा भक्त तथा शङ्करका भक्त भी विशेष कर नित्य-
तीर्थ है ॥१०॥ संन्यासी तीर्थ हैं, विद्वान् ब्राह्मण तीर्थ कहलाते
हैं, शरणागतका रक्षक तीर्थ है, अभयदान तीर्थ है ॥ ११ ॥ मैं
तीनों लोकोंमें उद्वेगरहित हूँ और दिनमें तथा रातमें किसीसे भी
नहीं डरता हूँ; परन्तु शूद्रके कियेहुए वेदके उच्चारणसे डरता
हूँ ॥१२॥ हे राजन् ! मुझे देवताओंसे, दैत्योंसे और राक्षसोंसे
भय नहीं है, किन्तु शूद्रके मुखमेंसे जो वेदका उच्चारण होता है
उससे मुझे सदा भय रहता है ॥ १३ ॥ इसलिये शूद्र ॐकारके
साथ मेरा नाम भी उच्चारण न करे, वेदको जाननेवाले जगत्में
ॐको परम वेद जानते हैं ॥ १४ ॥ (शूद्र) मुझमें भक्ति रख
कर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा करे, यह शूद्रोंका परम
धर्म है, शूद्र द्विजोंकी सेवा करनेसे तथा सदा मेरा चिन्तवन
करनेसे स्वर्गमें जाते हैं ॥१५॥ शूद्र द्विजवर्णकी सेवासे परमश्रेय
पाता है; द्विजोंकी सेवाके सिवाय और किसी उपायसे शूद्रोंका

शूद्रस्य निष्कृतिः ॥ १६ ॥ रागो द्वेषश्च मोहश्च पारुष्यं चानृशंसता । शाठ्यं च दीर्घवैरित्वमतिमानमनार्जवम् ॥ १७ ॥ अनृतं चापवादं च पैशुन्यमतिलोभता। हिंसा स्तेयं मृषावादो वञ्चनाक्षेपलोभता ॥ १८ ॥ अबुद्धिता च नास्तिक्यं भयमालस्यमेव च । अशौचं चाकृतज्ञत्वं दम्भता स्तंभ एव च । निकृतिश्चाप्यविज्ञानं जातके शूद्रमाविशेत् १६ सृष्ट्वा पितामहः शूद्रमभिभूतं तु तामसैः । द्विजशुश्रूषणं धर्मं शूद्राणां तु प्रयुक्तवान् । नश्यन्ति तामसा भावाः शूद्रस्य द्विजभक्तितः ॥ २० ॥ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्त्युपहृतं मूर्ध्ना गृह्णामि शूद्रतः ॥२१॥ अग्रजो वाऽपि यः कश्चित्सर्वपापसमन्वितः । यदि मां सततं ध्यायेत्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २२ ॥ विद्याविनयसंपन्ना ब्राह्मणा वेदपारगाः । मयि भक्तिं न कुर्वन्ति चाण्डालसदृशा हि

उद्धार नहीं है ॥१६॥ राग, द्वेष, मोह, कठोरता, क्रूरता, शठता, चिरकाल तक वैरभाव, महाअभिमान, अकलड़पना ॥१७॥ असत्य बोलना, निन्दा करना, चुगली खाना, अतिलोभीपना, हिंसा, चोरी, मिथ्या बोलना, धोखा देना, रोष, लोभीपना ॥ १८ ॥ मूर्खता, नास्तिकता, भय, आलस्य, अपवित्रता, कृतघ्नता, दम्भीपना, स्तम्भपना (अपनी बातको पकड़े रहना), कपटता, बुद्धिहीनता, इतनी बातें शूद्रके उत्पन्न होते ही उसमें प्रवेश करजाती हैं ॥१६॥ पितामह ब्रह्माने शूद्रको उत्पन्न करके, तामस भावोंसे दबेहुए शूद्रोंके लिये द्विजवर्णकी सेवारूप धर्म उत्पन्न किया और द्विजोंकी भक्ति करनेसे शूद्रोंके तामस भाव नष्ट होजाते हैं ।२०। जो शूद्र भक्तिके साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल तथा जल अर्पण करता है उसको मैं शिरपर लेता हूँ ॥ २१ ॥ कोई भी ब्राह्मण सकल पापोंसे युक्त होने पर भी नित्य मेरा ध्यान करता है तो वह सब पापोंसे छूटजाता है ॥ २२ ॥ विद्या तथा विनयसे युक्त

ते ॥ २३ ॥ वृथा दानं वृथा तप्तं वृथा चेष्टं वृथा हुतम् । वृथाऽऽतिथ्यं च तत्तस्य यो न भक्तो मम द्विजः ॥ २४ ॥ यत्कृतञ्च हुतञ्चापि यदिष्टं दत्तमेव च । असक्तिमत्कृतं सर्वं राक्षसा एव भुञ्जते ॥ २५ ॥ स्थावरे जङ्गमे वापि सर्वभूतेषु पाण्डव । समत्वेन यदा कुर्यान्मद्भक्तो मित्रशत्रुषु ॥ २६ ॥ आनृशंस्यमहिंसा च यथा सत्यन्तथार्जवम् । अद्रोहश्चैव भूतानां मद्गतानां व्रतं नृप २७ नम इत्येव यो ब्रूयान्मद्भक्तं श्रद्धयान्वितः । तस्याऽक्षयाऽभवँल्लोकाः श्वपाकस्यापि पार्थिव ॥२८॥ किं पुनर्ये यजन्ते मां सदारं विधिपूर्वकम् । मद्भक्ता मद्गतप्राणाः कथयन्तश्च मां सदा ॥ २९ ॥ बहुवर्षसहस्राणि तपस्तपति यो नरः । नासौ पदमवाप्नोति मद्भ-

वेदके पारगामी ब्राह्मण भी यदि मेरी भक्ति नहीं करते हैं तो उनको चाण्डालकी समान जानो ॥२३॥ जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य मेरा भक्त नहीं है उसका दियाहुआ दान वृथा है, उसका तप करना वृथा है, उसका कियाहुआ यज्ञ वृथा है, उसका होम करना और अतिथि सत्कार करना भी वृथा है ॥२४॥ भक्तिके विना जो कर्म कियाजाता है, जो होम कियाजाता है, जो यज्ञ कियाजाता है, जो दान कियाजाता है, उस सबको राक्षस ही खाजाते हैं।॥२५॥ हे पाण्डुनन्दन ! मेरे भक्तको स्थावरमें, जङ्गममें सब प्राणियोंमें तथा मित्र और शत्रुमें समानभावसे वर्त्ताव करना चाहिये॥२६॥ हे राजन् ! दया, अहिंसा, सत्य, सरलता और प्राणियोंसे द्रोह न करना यह मेरे भक्तोंका व्रत है ॥२७॥ हे राजन् ! जो पुरुष श्रद्धासे मेरे भक्तको नमस्कार करता है, वह चाण्डाल हो तो भी उसको अक्षय लोक मिलते हैं, ॥ २८ ॥ तो फिर जो पुरुष मेरे भक्त हों, मुझमें इन्द्रियें लगाये हुए हों और सदा मेरा कीर्त्तन करते हों वे यदि मेरा लक्ष्मीके सहित विधिपूर्वक पूजन करते हैं तो उनको परलोक क्यों नहीं मिलेगा ? ॥ २९ ॥ मेरे भक्तोंको

क्तैर्यदवाप्यते ॥३०॥ मामेव तस्माद्राजेन्द्र ध्यायन्नित्यमतन्द्रितः। अवाप्स्यसि ततः सिद्धिं द्रक्ष्यस्येव परं पदम् ॥ ३१ ॥ अपार्थकं प्रभाषन्तः शूद्रा भागवता इति । न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ॥ ३२ ॥ द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूहविभागवित् । अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स वै भागवतः स्मृतः ॥ ३३ ॥ ऋग्वेदेनैव होता च यजुषाऽध्वर्युरेव च । सामवेदेन चोद्गाता पुण्येनाभिष्टुवन्ति माम् ॥३४॥ अथर्वशिरसा चैव नित्यमाथर्वणा द्विजाः । स्तुवन्ति सततं ये मां ते वै भागवताः स्मृताः ॥३५॥ वेदाधीनाः सदा यज्ञा यज्ञाधीनास्तु देवताः । देवताः ब्राह्मणाधीनास्तस्माद्विप्रास्तु देवताः ॥ ३६ ॥ अनाश्रित्योच्छ्रयं नास्ति मुख्यमाश्रय-

जो पद मिलता है वह पद हजारों वर्ष तक तप करनेवालोंको भी नहीं मिलता है ॥ ३० ॥ इसलिए हे राजेन्द्र ! नित्य सावधान होकर जो मेरा ही ध्यान करता है उसको सिद्धि मिलती है तथा परमपदका दर्शन होता है ॥ ३१ ॥ जो निरर्थक बकते रहें उनको वैष्णव मत समझो, परन्तु भगवान्के भक्तोंको शूद्र न समझो, उनको ब्राह्मण जानो ॥३२॥ जो मनुष्य 'नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मंत्रके तत्त्वको जानता है, सङ्कर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न इन चार व्यूहोंकी मूर्त्तियोंके विभागको जानता है, दिनके पाँचकालके कर्मको यथार्थ रीतिसे करनेवाला है तथा उनके छिद्रोंको जानता है,उसको उत्तम वैष्णव जानो ॥३३॥ होता बनकर ऋग्वेद मेरी स्तुति करता है,अध्वर्यु बनकर यजुर्वेद मेरी स्तुति करता है, उद्गाता बनकर पवित्र सामवेद मेरी स्तुति करता है ॥ ३४ ॥ तथा अथर्ववेदके ज्ञाता ब्राह्मण अथर्ववेदसे नित्य मेरी स्तुति करते हैं,उनको वैष्णव जानो ।३५। यज्ञ सदा वेदके अधीन हैं, देवता यज्ञके अधीन हैं,देवता विप्रोंके अधीन हैं, इसलिए ब्राह्मण देवता हैं ॥३६॥ आश्रय लिए बिना

माश्रयेत् । रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः ॥ ३७ ॥
ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाहं कंचिदुपाश्रितः । ममाश्रयो न कश्चित्तु
सर्वेषामाश्रयो ह्यहम् ॥ ३८ ॥ एवमेतन्मया प्रोक्तं रहस्यमिदमु-
त्तमम् । धर्मप्रियस्य ते नित्यं राजन्नेवं समाचर ॥ ३९ ॥ इदं
पवित्रमाख्यानं पुण्यं वेदेन संमितम् । यः पठेन्मामकं धर्ममहन्य-
हनि पाण्डव ॥ ४० ॥ धर्मोपि वर्धते तस्य बुद्धिश्चापि प्रसीदति ।
पापक्षयमुपेत्यैवं कल्याणं च विवर्धते ॥ ४१ ॥ एतत्पुण्यं पवित्रं
च पापनाशनमुत्तमम् । श्रोतव्यं श्रद्धया युक्तैः श्रोत्रियैश्च विशे-
षतः ॥ ४२ ॥ श्रावयेद्यस्त्विदं भक्त्या प्रयतोथ शृणोति वा । स
गच्छेन्मम सायुज्यं नात्र कार्या विचारणा ॥४३॥ यश्चेमं श्राव-

उन्नति नहीं होती, इसलिए मुख्य पुरुषका आश्रय लेना चाहिए, देवताओंने रुद्रका आश्रय लिया है, रुद्रने ब्रह्माका आश्रय लिया है ॥३७॥ और ब्रह्माने मेरा आश्रय लिया है, परन्तु हे राजन्! मैंने किसीका भी आश्रय नहीं लिया है, मेरा कोई आश्रय नहीं है, परन्तु मैं सबका आश्रय हूँ ॥ ३८ ॥ इस प्रकार धर्मसे प्रेम करनेवाले तुम्हें मैंने सब रहस्य सुनादिया, हे राजन् ! तुम नित्य इसके अनुसार ही वर्त्ताव करो ॥ ३९ ॥ यह पवित्र आख्यान वेदके समान पवित्र है, हे पाण्डुनन्दन ! जो पुरुष प्रतिदिन मेरे धर्मका पाठ करता है ॥ ४० ॥ उसका धर्म भी बढ़ता है, बुद्धि भी निर्मल होती है, पापका क्षय होता है और कल्याणकी वृद्धि होती है ॥ ४१ ॥ यह पवित्र और पुण्यरूप वैष्णवधर्मपर्व पापका नाश करता है और उत्तम है, वेदवेत्ता ब्राह्मणोंको विशेष कर श्रद्धाके साथ इसका श्रवण करना चाहिए ॥४२॥ जो पुरुष इस पर्वको सुनाता है और जो पुरुष सावधान होकर भक्तिके साथ सुनता है वह निःसन्देह मेरे सायुज्यको पाता है ॥ ४३ ॥ मेरा भक्त और मुझमें परायण रहनेवाला जो श्राद्धमें यह वैष्णव-

येच्छूद्रे मद्भक्तो मत्परायणः । पितरस्तस्य तृप्यन्ति यावदाभूतसंप्लवम् ॥ ४४ ॥ वैशम्पायन उवाच । श्रुत्वा भागवतान्धर्मान् साक्षाद्विष्णोर्जगद्गुरोः । प्रहृष्टमनसो भूत्वा चिन्तयन्तोद्भुताः कथाः ॥ ४५ ॥ ऋषयः पाण्डवाश्चैव प्रणेमुस्तं जनार्दनम् । पूजयामास गोविन्दं धर्मपुत्रः पुनः पुनः ॥ ४६ ॥ देवा ब्रह्मर्षयः सिद्धा गन्धर्वाप्सरसस्तथा । ऋषयश्च महात्मानो गुह्यका भुजगास्तथा ॥ ४७ ॥ बालखिल्या महात्मानो योगिनस्तत्त्वदर्शिनः । तथा भागवताश्चापि पञ्चकालमुपासकाः ॥ ४८ ॥ कौतूहलसमायुक्ता भगवद्भक्तिमागताः । श्रुत्वा तु परमं पुण्यं वैष्णवं धर्मशासनम् ॥४९॥ विमुक्तपापाः पूतास्ते संवृत्तास्तत्क्षणेन तु । प्रणम्य शिरसा विष्णुं प्रतिनन्द्य च ताः कथाः ॥ ५० ॥ द्रष्टारो द्वारकायां वै वयं सर्वे जगद्गुरुम् । इति प्रहृष्टमनसो ययुर्देवगणैः सह ।

धर्म दूसरोंको सुनाता है, उसके पितर जगत्के प्रलय तक तृप्त रहते हैं ॥ ४४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—ऋषि और पाण्डव जगत्के साक्षात् विष्णुकी अद्भुत कथायें सुनकर तथा वैष्णवोंके धर्मको सुनकर मनमें बड़े ही प्रसन्न हुए और जनार्दन भगवान्के चरणोंमें पड़गए तथा धर्मपुत्र युधिष्ठिरने वारम्वार गोविन्दकी पूजा की ॥ ४५–४६ ॥ देवता, ब्रह्मर्षि, सिद्ध, गन्धर्व, अप्सरा, ऋषि, महात्मा, गुह्यक, सर्प ॥ ४७ ॥ महात्मा बालखिल्य, योगी, तत्त्ववेत्ता, पाँचों समय विष्णुकी उपासना करनेवाले वैष्णव ॥४८॥ इन सबोंमें इस परम पवित्र वैष्णवधर्मका उपदेश सुनकर बड़े ही आश्चर्यसे भगवान्की भक्ति उत्पन्न होगई ॥ ४९ ॥ उसी समय उनके पाप नष्ट होगए और वे उसी समय पवित्र होगए, विष्णु भगवान्को प्रणाम करके उनकी कही हुई अनेकों कथाओंकी सराहनाकी ॥५०॥ फिर मनमें बहुत ही प्रसन्न हुए सब ऋषि देवगणोंके सहित हम सब जगत्के गुरुका द्वारकामें फिर दर्शन

सर्वे ऋषिगणा राजन्ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥ ५१ ॥ गतेषु तेषु सर्वेषु केशवः केशिहा हरिः । सस्मार दारुकं राजन्स च सात्यकिना सह । समीपस्थोऽभवत्सूनो याहि देवेति चाब्रवीत् ॥५२॥ ततो विषण्णवदनाः पाण्डवाः पुरुषोत्तमम् । अञ्जलिं मूर्ध्नि संधाय नेत्रैरश्रुपरिप्लुतैः । पिबन्तः सततं कृष्णं नोचुरार्ततरास्तदा ॥ ५३ ॥ कृष्णोपि भगवान्देवः पृथामामन्त्र्य चार्तवत् । धृतराष्ट्रं च गान्धारीं विदुरं द्रौपदीं तथा ॥ ५४ ॥ कृष्णद्वैपायनं व्यासमृषीनन्यांश्च मन्त्रिणः । सुभद्रामात्मजयुतामुत्तरां स्पृश्य पाणिना । निर्गत्य वेश्मनस्तस्मादारुरोह तदा रथम् ॥ ५५ ॥ वाजिभिः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकैः । युक्तं तु ध्वजभूतेन पतगेन्द्रेण धीमता ॥५६॥ अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधि-

---

करेंगे, ऐसा कहकर अपने२ निवास स्थानको चलेगए ॥ ५१ ॥ उन सबोंके चलेजाने पर केशी दैत्यका नाश करनेवाले भगवान् हरिने हे राजन ! सात्यकीको और दारुक नामके सारथीको याद किया, उस समय सारथी दारुक पास ही बैठा था, उसने उत्तर दिया, कि-हे देव ! चलिए ॥५२॥ यह सुनकर पाण्डवोंके मुख उदास होगए, दोनों हाथ जोड़ आँसुओंसे भरी हुई आँखोंसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ओरको वारम्बार देखने लगे, परन्तु उस समय गला भर आनेके कारण कुछ बोल नहीं सके।५३।भगवान् श्रीकृष्ण भी रोतेहुएसे होगए और फिर उन्होंने कुन्ती, धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर, द्रौपदी ।५४॥ कृष्ण द्वैपायनव्यास, सकलऋषि तथा अन्य मन्त्रियोंकी जानेके लिए आज्ञा ली, फिर सुभद्राके तथा पुत्र सहित उत्तराके ऊपर हाथ फेरकर उनको आशीर्वाद दिया और पाण्डवोंके महलमेंसे वाहर निकल आये तथा शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और वलाहक नामके घोडोंसे जुतेहुए और बुद्धिमान् पक्षिराज गरुड़की ध्वजावाले रथमें सवार होगए॥ ५५ ॥ ५६॥

ष्ठिरः । अपास्य चाशु यन्तारं दारुकं सूतसत्तमम् । अभीषून्प्रति-
जग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा ॥ ५७ ॥ उपारुह्यार्जुनश्चापि चामर-
व्यजनं शुभम् । रुक्मदण्डं बृहन्मूर्ध्नि दुधावाभिप्रदक्षिणम् ॥५८॥
तथैव भीमसेनोपि रथमारुह्य वीर्यवान् । छत्रं शतशलाकं च दिव्य-
माल्योपशोभितम् ॥ ५९ ॥ वैदूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषि-
तम् । दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वनः ॥ ६० ॥ उपारुह्य
रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते । नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जना-
र्दनम् ॥ ६१ ॥ भीमसेनोऽर्जुनश्चैव यमावप्यरिसूदनौ । पृष्ठतो-
ऽनुययुः कृष्णं मा शब्द इति हर्षिताः ॥६२॥ त्रियोजने व्यतीते
तु परिष्वज्य च पांडवान् । विसृज्य कृष्णस्तान्सर्वान्प्रणतान्द्वारकां
ययौ ॥ ६३ ॥ तथा प्रणम्य गोविन्दं तदाप्रभृति पाण्डवाः ।

तदनन्तर कुरुदेशके स्वामी राजा युधिष्ठिर, सारथियोंमें श्रेष्ठ दारुक नामक सारथीको उसकी बैठक परसे हटाकर तुरन्त उसके स्थान पर बैठगए और उन्होंने स्वयं घोड़ोंकी रासें हाथमें लेलीं ॥ ५७ ॥ अर्जुन भी रथके एक भागमें श्रीकृष्णजीके पास खड़ा होकर सोनेकी दण्डीवाले उत्तम चँवरको हाथमेंले श्रीकृष्णके ऊपर पवन डुलानेलगा ॥ ५८ ॥ ऐसे ही वीर्यवान् भीमसेनने भी रथके ऊपर चढ़कर सौ शलाकावाले, दिव्य पुष्पोंसे शोभायमान, वैदूर्यमणिके दण्डेवाले और सोनेकी शलाकाओं वाले छत्रको शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णके शिरपर लगादिया ॥५९ ॥ ६०॥ नकुल और सहदेव भी रथके दोनों ओर खड़े होगए और श्वेत रङ्गके चँवर तथा पंखेसे श्रीकृष्णकी हवा करनेलगे ॥ ६१ ॥ इस प्रकार युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा शत्रुओंका संहार करने वाले नकुल और सहदेव आनन्दमें भरकर श्रीकृष्णके पीछे २ गए और कहनेलगे, कि—आप जायँ नहीं (अभी यहाँ ही रहिये) ६२ तीन योजन (१२ कोस तक) श्रीकृष्णके साथ २ गए, फिर श्रीकृष्णने पाण्डवोंको हृदयसे लगा कर विदा करदिया और

कपिलाद्यानि दानानि ददुर्धर्मपरायणाः ॥ ६४ ॥ मधुसूदन-वाक्यानि स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः । मनसा पूजयामासुर्हृदय-स्थानि पाण्डवाः ॥६५॥ युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा हृदि कृत्वा जनार्दनम् । तद्भक्तस्तन्मना युक्तस्तद्याजी तत्परोऽभवत् ॥ ६६ ॥ एव-मुक्तं पुरा वृत्तं वैष्णवं धर्मशासनम् । मया ते कथितं राजन्पवित्रं पापनाशनम् ॥६७॥ तच्छृणुष्व महाराज विष्णुप्रोक्तं कुरूद्वह । तेन गच्छसि नान्येन तद्विष्णो परमं पदम् ॥ ६८ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासक्यां आश्व-मेधिकपर्वणि वैष्णवधर्मपर्वणि श्रीकृष्णप्रस्थाने पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥११५॥

स्वयं द्वारकाकी ओरको चले गए ॥ ६३ ॥ धर्ममें तत्पर पाण्डव भी उस दिनसे गोविन्दको प्रणाम करके कपिला गौ आदिका दान करनेलगे ॥६४॥ तथा पाण्डव मधुसूदन कृष्णके वचनोंको बारंबार याद करके अपने मनमें उनके वचनोंकी सराहना करते हुए उत्तम मानने लगे ॥ ६५ ॥ धर्मात्मा और श्रीकृष्णके भक्त राजा युधिष्ठिर भी मनमें जनार्दनका स्मरण करने लगे और उनमें परायण होकर उनका ही भजन करनेलगे॥६६॥ हे राजन् ! इसप्रकार प्राचीन वैष्णवधर्मपर्व जो पवित्र और पापोंका नाश करने वाला है, मैंने तुम्हें सुनादिया ॥६७॥ हे महाराज ! हे कुरुकुलमें उत्पन्न हुए जनमेजय ! इस विष्णुके कहेहुए पर्वको तुम सुनो, इस पर्वको सुननेसे तुम विष्णुलोक पाजाओगे, दूसरेके सुननेसे नहीं ॥ ६८ ॥ एक सौ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ॥ ११५ ॥

इति श्रीमहाभारतके आश्वमेधिकपर्वका मुरादाबाद-निवासी भोलानाथात्मज ऋषिकुमार रामस्वरूपशर्मा-कृत भाषानुवाद समाप्त.

आश्वमेधिकपर्व समाप्त ।